

08660c

080600

साचित्र आयुर्वेद

080600



वर्ष ४]

20

गुरुकुल-पत्रिका,
हरिद्वार कांगड़ी.

कलकत्ता, सितम्बर, १९५१

[अंक



वैद्यरत्न पण्डित शिव शर्मा

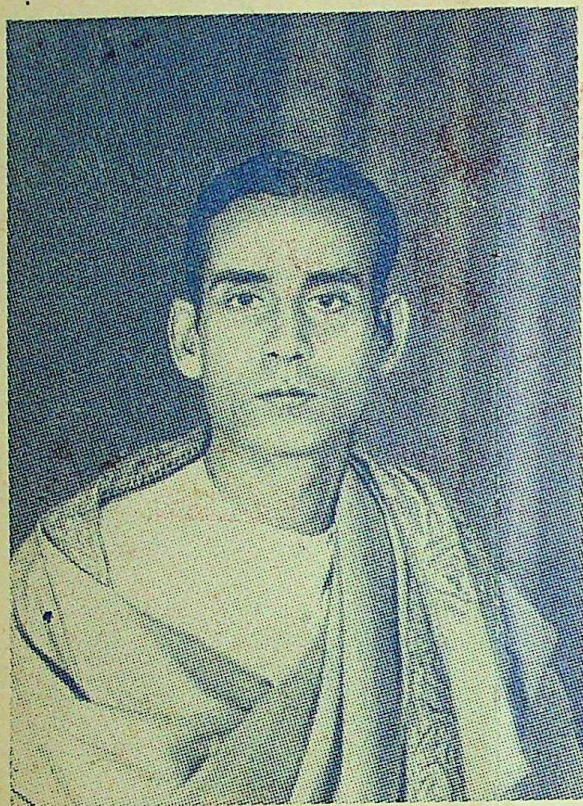


080600

कराधगण्य महा-

वैद्यरत्न पण्डित शिः
रथियों में हैं। आयुर्वेदशास्त्र एवं भारतीय दर्शन के साथ ही आधुनिक विज्ञान के भी आप धुरन्धर पण्डित हैं। गत ११ और १२ अगस्त को गाजियाबाद में आप की अध्यक्षता में अखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन सम्पन्न हुआ। उस में पढ़ा गया आप का विद्वत्तापूर्ण अध्यक्षीय भाषण हम 'साचित्र आयुर्वेद' में क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। अपने प्रत्येक पाठक से उस को ध्यान-पूर्वक पढ़ने का हम अनुरोध करते हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः



कविराज श्रीकृष्णपद भट्टाचार्य
(झाँसी) की
सम्मति और शुभकामना

‘सचित्र आयुर्वेद’ की चतुर्थ-
वर्षीय प्रथम संख्या के आवरणपृष्ठ
पर अंकित चित्र में एक बालक का
सिंह के साथ युद्ध दिखलाया
गया है। सम्पादक जी ने अपने

सम्पादकीय में इस बालक को भारत-निर्माता भरत के रूप में देखा है। परन्तु मुझे ठीक जँचा नहीं। आयुर्वेद के इतिहास-लेखक वैदिक युग, आर्ष युग और ऐतिहासिक युग लिखने के बाद पुनर्भ्युदय या पुनर्जन्म युग भी लिख रहे हैं। विंशशतक ई० में आयुर्वेद का पुनर्जन्म हुआ है। इस बालक आयुर्वेद को हैट, कोट, पट, बूट आदि पहना कर आंग्ल गुट में शामिल करने के लिए इस शतक में आयुर्वेदिक मेडिकल कालेजों की स्थापना हुई थी। पर, बालक भी बड़ा जबर्दस्त निकला। पहले ब्रिटिश सिंह का सामना किया और अब हिन्दुस्तानी सिंह का सामना कर रहा है। भरत ने खेला होगा, परन्तु आयुर्वेदरूपी भरत पर तो सिंह बकायदा हमला कर रहा है। परन्तु विजय बालक की ही होगी क्योंकि उसका संचित कर्मफल तगड़ा है।

वर्तमान भारत के सर्वश्रेष्ठ आयुर्वेदीय मासिक पत्र ‘सचित्र आयुर्वेद’ का यह अंक आदर्श अंक है। आवरणपृष्ठ की चित्रकल्पना बहुत सुन्दर है। इस बालक को जीवित तथा अपने प्राचीन संस्कारों से विभूषित रखने के लिए “श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०” की प्रचेष्टाओं का हम स्वागत करते हैं। ‘सचित्र आयुर्वेद’ का यह नव वर्ष जययुक्त होकर पुनर्जन्मप्राप्त बालक को पुनः प्राचीन अष्ट संस्कारों से सुपुष्ट बनावे और विदेशी संस्कारों से उसकी रक्षा करे यही कामना है।

झाँसी

२५-७-५१.

क० श्रीकृष्णपद भट्टाचार्य

अशोकारिष्ट के गुण-धर्म

वैद्यनाथ अशोकारिष्ट का सेवन कर लाभ उठानेवाली हजारों महिलाओं के अनुभव का सारांश

“वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” गत ३३ वर्षों से हिन्दुस्तान के कोने-कोने में विक्रि रहा है। यह प्रति वर्ष हजारों मन विक्रता है जिससे लाखों स्त्रियाँ रोगमुक्त होकर यौवन और सौन्दर्य लाभ करती हैं। आयुर्वेद में अशोक से बनी औषधों को स्त्रियों के लिए अमृततुल्य बताया है। इन सभी में अशोकारिष्ट सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त प्रसिद्ध महौषध है। “वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” में प्रमाणिक शुद्ध अशोक-छाल दिया जाता है और सभी औषधें उचित मात्रा में देकर पूर्णतया शास्त्रीय विधि से योग्य और अनुभवी वैद्यों की देखरेख में प्रस्तुत किया जाता है। “वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” का सेवन कर लाभ उठानेवाली महिलाओं ने हजारों प्रशंसा-पत्र भवन के पास भेजे हैं जिनसे पता चलता है कि यह महौषध वास्तव में उनके लिए अमृत-तुल्य ही सिद्ध हुई है। उन पत्रों में इसके द्वारा जिन गुणों के होने की चर्चा हुई है उनका सारांश नीचे दिया जाता है :—

- १—गर्भाशय पर इसका चमत्कार पूर्ण बलकारी असर हुआ। गर्भाशय की शिथिलता से होनेवाले अत्यन्त रोग में इसका प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ।
- २—गर्भाशय सम्बन्धी अन्य भी सभी रोगों पर यह लाभप्रद सिद्ध हुआ।
- ३—बहुत सी ऐसी स्त्रियों ने “वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” को सेवन किया, जिन्हें सदा गर्भस्त्राव या गर्भपात हो जाया करता था। इसके सेवन से उनका यह रोग दूर हो गया और उन्हें स्वस्थ तथा सुन्दर सन्तान की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।
- ४—उग्र से उग्र रक्तप्रदर में भी इसका प्रयोग रामबाण साबित हुआ।
- ५—जिन स्त्रियों को मासिक धर्म होने के समय बहुत भयङ्कर रूप से दर्द होता था उन्हें भी इसके प्रयोग से निश्चित रूप से लाभ हुआ।
- ६—प्रदर, रक्तार्श आदि रोगों द्वारा नष्ट हुए रक्त की क्षतिपूर्ति इसने बहुत जल्दी कर दी। शरीर का खून बढ़ाकर देह को लाल कर दिया। रक्तातिसार में भी बहुत लाभ किया।
- ७—लाखों निरोग स्त्रियों ने “वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” का सेवन करके स्वास्थ्य साधन तथा सौन्दर्य-वर्द्धन में अभूतपूर्ण सफलता प्राप्त की है।
- ८—अतिसार, संग्रहणी, अग्निमांश आदि रोगों में इसके सेवन से अत्यन्त लाभ हुआ।
- ९—पाचनग्रन्थियों को शुद्ध बनाकर अग्निवर्द्धन में इससे बड़ा लाभ हुआ।
- १०—विटामिन ‘बी’ की कमी से होनेवाले रोग इसके प्रयोग से बहुत जल्दी नष्ट हुए। इस विटामिन की कमी से होनेवाले उदर-शूल, बदहजमी, सुस्ती, चिड़चिड़ापन, सिर दर्द, चकर आना, जीभ लाल हो जाना, मुँह में छाले पड़ना, शरीर में धब्बे निकलना, मस्तिष्क की दुबलता, निद्रा की कमी, हाथ-पैर तथा कमर के दर्द आदि को “वैद्यनाथ अशोकारिष्ट” ने आराम किया।

मूल्य—६० तोला ३), ४० तोला २।), ३० तोला १।।=), २० तोला १।)

वैद्यनाथ लौह-मण्डूर

आयुर्वेद शास्त्र में लोह मिश्रित दवाओं का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि लौह भस्म से बनी हुई दवा खून बढ़ाने में और अग्नि-वृद्धि में अद्वितीय होती है। मण्डूर भी लोहे का मूल है। इसकी सुबह-शाम या राँगानुसार एक-एक खुराक मधु, गोमूत्र या मट्ठा (छाछ) के साथ लेनी चाहिये। बच्चों को चौथाई मात्रा में देनी चाहिये। लौह भस्म की अपेक्षा मण्डूर भस्म की मात्रा अधिक होती है।

अम्लपित्तान्तक लौह—अम्लपित्त, पित्तजन्य शूल, यकृत शूल, पेशाब की जलन और पेट दर्द में लाभदायक है। कीमत—१ तोला २(=), आठ आना भर १), चार आना भर ॥(=)॥

कालमेघनवायस—जीर्ण ज्वर और मलेरिया ज्वर के बाद की कमजोरी, पाण्डु और यकृत-प्लीहा-वृद्धि को नष्ट करता है। कीमत—१ तोला १॥(=), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)॥

चन्दनादि लौह—जीर्ण ज्वर और मन्द ज्वर की शतशः अनुभूत औषध है। कीमत—१ तोला १॥(=), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)॥

चन्द्रामृत लौह—सब तरह की खाँसी की प्रसिद्ध दवा है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)

तारा मण्डूर—भोजन पचने के समय जोरों से दर्द होना, पाण्डु, कामला, मन्दाग्नि, शोथ, ग्रहणी, गुल्म आदि रोग इसके सेवन से नष्ट होते हैं। कीमत—१ तोला ॥(=), आठ आना भर ॥), चार आना भर ॥)॥

धात्री लौह—अम्लपित्त रोग की सुप्रसिद्ध महौषध है। कीमत—१ तोला १॥(=), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)॥

नवायस लौह—रक्ताल्पता (Anemia) की खास दवा है। यकृत और बाल-रोगों की श्रेष्ठ दवा है। कीमत—१ तोला १॥(=), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)॥

नवायस मण्डूर—खून बढ़ाने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)

प्रदरान्तक लौह—इसके प्रयोग से सम्पूर्ण प्रदर रोग निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। कीमत—१ तोला १(=), आठ आना भर ॥), चार आना भर ॥(=)॥

प्रदरादि लौह—रक्त प्रदर, खूनी बवासीर, रक्तपित्त आदि में इसके सेवन से लाभ होता है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥(=), चार आना भर ॥(=)

पुनर्नवादि मण्डूर—शोथ रोग (सूजन) की सबसे श्रेष्ठ दवा है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥१-), चार आना भर ॥३)

मंडूर वटक—कामला, पाण्डु, शोथ और उदर-विकारों में विशेष लाभदायक है। कीमत—१ तोला ॥१), आठ आना भर ॥३), चार आना भर ॥१)

यकृत प्लीहारि लौह—जिगर और तिल्ली के विकारों में विशेष लाभकारी है। कीमत—१ तोला १॥२-), आठ आना भर १॥२-), चार आना भर ॥३॥)

यकृदरि लौह—जिगर (Liver) के विकारों में विशेष लाभदायक है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥३), चार आना भर ॥२-)

रोहितक लौह—बढ़ी हुई तिल्ली, लिवर, पाण्डुरोग, शोथ और जीर्णज्वर में अच्छा फायदा करता है। इसके सेवन से खून भी बढ़ता है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥१-), चार आना भर ॥३)

*विषमज्वरान्तक लौह (पुटपक)—मलेरिया, कालाज्वर आदि कठिन ज्वर में विशेष लाभदायक है। कीमत—१ तोला २०), चार आना भर ५-), दो आना भर २॥१-), एक आना भर १॥१-)

विषमज्वरान्तक लौह—सब प्रकार के विषम ज्वर, प्लीहा, गुल्म आदि रोगों को दूर कर अग्नि को दीपन कर शरीर को पुष्ट बनाता है। कीमत—१ तोला ४॥१), आठ आना भर २॥१-), चार आना भर १॥३)

शोथारि लौह—शरीर के किसी भाग में सूजन हो, तो इससे लाभ होता है। कीमत—१ तोला २॥२-), आठ आना भर १॥), चार आना भर ॥२-॥)

शोथारि मण्डूर—शोथ रोग में सभी वैद्यों द्वारा व्यवहृत होता है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥१-), चार आना भर ॥१-)

सप्तामृत लौह—सम्पूर्ण नेत्र-रोगों में लाभ करता है। कीमत—१ तोला २॥२-), आठ आना भर १॥), चार आना भर ॥२-॥)

* सर्वज्वरहर लौह (बृहत्)—यह सब प्रकार के ज्वरों की अच्छी दवा है। खास करके जीर्ण-ज्वर और रक्ताल्पता में बहुत फायदेमन्द है। कीमत—१ तोला ३२), चार आना भर ८-), दो आना भर ४-), एक आना भर २-)

सर्वज्वर हर लौह—गुण बृहत् के समान ; कुछ न्यून। कीमत—१ तोला २॥१), आठ आना भर १॥१-), चार आना भर ॥३)

	१ तो. ८ आ. ४ आ.		१ तो. ८ आ. ४ आ.
अग्निमुख लौह (मन्दाग्नि)	२॥२- १॥ ॥२-॥	ज्यूषणादि मण्डूर (पाण्डु)	१॥२- ॥३- ॥३-॥
अष्टादशांग लौह (पाण्डु)	१ ॥१- १-	पिप्पल्यादि लौह (खाँसी)	२२- १२- ॥१-॥
काश्यहर लौह (कुशता)	१॥३- १ ॥१॥	वरुणाद्य लौह (मूत्रकृच्छ्र)	१ ॥१- १-
गुडूच्यादि लौह (वात-रक्त)	॥१- ॥३-॥ १॥	विडङ्गादि लौह (कृमि)	॥१- ॥३-॥ १॥
ताप्यादि लौह (पाण्डु)	१॥३ ॥३- ॥	यक्ष्मारि लौह (राजयक्ष्मा)	३ १॥१- ॥१-॥
त्रिफला मण्डूर (पाण्डु)	१॥१ ॥१- ॥३)	रक्तपित्तान्तक लौह (रक्तपित्त)	२॥२- १॥ ॥२-॥

* इस चिह्नवाली दवाएँ स्वर्णघटित हैं।

आरोग्य-प्रकाश

(६ वां संस्करण)

(आरोग्य-स्वच्छता और चिकित्सापर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ)

भारत प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिङ्ग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्ष में बड़ी मेहनत से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके ८ संस्करणों में ६८००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं, और ६ वां संस्करण में १५ हजार फिर छाप गया है। इसीसे इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है।

मूल्य १।।।), डाक खर्च ॥=)

सिद्धयोगसंग्रह

(तीसरा संस्करण)

आयुर्वेदोद्धारक आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य वाचस्पति वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य द्वारा लिखित यह ग्रन्थरत्न है। इसमें जितने प्रयोग लिखे गये हैं, वे सब श्रीयुक्त आचार्य जी के अनेक बार के अनुभव-सिद्ध हैं। इस पुस्तक में यह विशेषता है कि रोगाधिकार के अनुसार ही दवाओं के प्रयोग लिखे गये हैं, जिससे सर्वसाधारण जन भी इस पुस्तक के द्वारा सफलतापूर्वक चिकित्सा कार्य कर सकते हैं। वैद्यों के लिए तो बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ है।

मूल्य — २।।।)

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर

आयुर्वेद सारसंग्रह

(दूसरा संस्करण)

हिन्दी में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की कमी थी, जिनमें एकत्र रोग-विचार के साथ चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान, पथ्या-पथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में दिया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में 'आयुर्वेद-साहित्य' की इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनाई जानेवाली प्रायः सभी दवाओं की निर्माणविधि तथा उनके गुण-धर्म और प्रयोगविधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है।

मूल्य — ७)

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

ले० वैद्य रणजित राय

वाइसप्रिन्सिपल आयुर्वेदिक म० वि० सूरत

आधुनिक मूलतत्त्वों के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वों का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए। इस विषय में यथा-स्थान विद्वान लेखक ने अपना मत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयों का आधारभूत है। अतः उसका अध्यापन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है।

मूल्य — ६)

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर

पदार्थविज्ञान

ले० वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य,
प्रिन्सिपल, अ० शि० आयुर्वेदीय कालेज बेगूसराय

इस ग्रन्थ में प्रमाणों का तुलनात्मक विवेचन, स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोगप्रतीकारार्थ-उपयोग में आनेवाले पदार्थों का विवेचन करते हुए आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी-प्रकृति और उससे उद्भूत तत्त्वों की ज्ञान-बीज की गयी है। साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि पूर्वजन्म कृत पापों का परिणाम भोगने के लिए किस प्रकार सगुण-आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का फल भोगता है। मूल्य—३॥)

यूनानी सिद्धयोगसंग्रह

यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरत फायदा करने वाले तथा सस्ते होते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सक भी यूनानी दवा से लाभ उठावें, इसलिये एक अनुभवी चिकित्सक से यह ग्रन्थ सरल हिन्दी भाषा में लिखवाया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण दोनों के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य—२॥

उपचार-पद्धति

(चतुर्थ संस्करण)

सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकड़ों रुपये प्रति वर्ष बच सकते हैं, यदि उन्हें उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान भी हो जाय। इसी लक्ष्य को सन्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन हमने किया है। इसमें रोगियों की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य—॥३॥)

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : भाँसी : नागपुर

मानसरोग-विज्ञान

(ले० डा० बालकृष्णजी अमरजी पाठक)

आज के युग में जब कि काम, क्रोध आदि तथा मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरि-स्थिनिया, मानसिक अस्थिरता आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह से त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देती है। अनुभवी लेखक की मँजी हुई लेखनी और तीक्ष्ण तर्कों ने प्रस्तुत पुस्तक के विषयों पर उपयुक्त सामग्री का सुन्दर और अधिकारपूर्ण रूप से सम्पादन किया है। हमारा विश्वास है कि वैद्य समाज, आयुर्वेद के शिक्षक और विद्यार्थी तथा साथ ही साथ सर्वसाधारण जनता के लिए भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगा। मूल्य—१॥)

त्रिदोषतत्त्व-विमर्श

ले० वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात पित्त-कफ प्रधान हैं, इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष तत्त्व और पञ्च महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए पुस्तक बहुत उपादेय है। मूल्य—२॥३॥)

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य

किशोर-बालकों को हस्तमैथुन-रूपी सर्वस्व नाशकारी व्याधि से बचाने के लिए सफल उद्योग किया गया है। मूल्य—॥३॥)

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : भाँसी : नागपुर

सम्पादक मंडल

निर्देशक—आ० म० म० पं० भागीरथ स्वामी

प्रधान सम्पादक—पं० रामनारायण शर्मा वैद्य शास्त्री

सहायक सम्पादक—पं० सभाकान्त झा आयुर्वेद शास्त्री

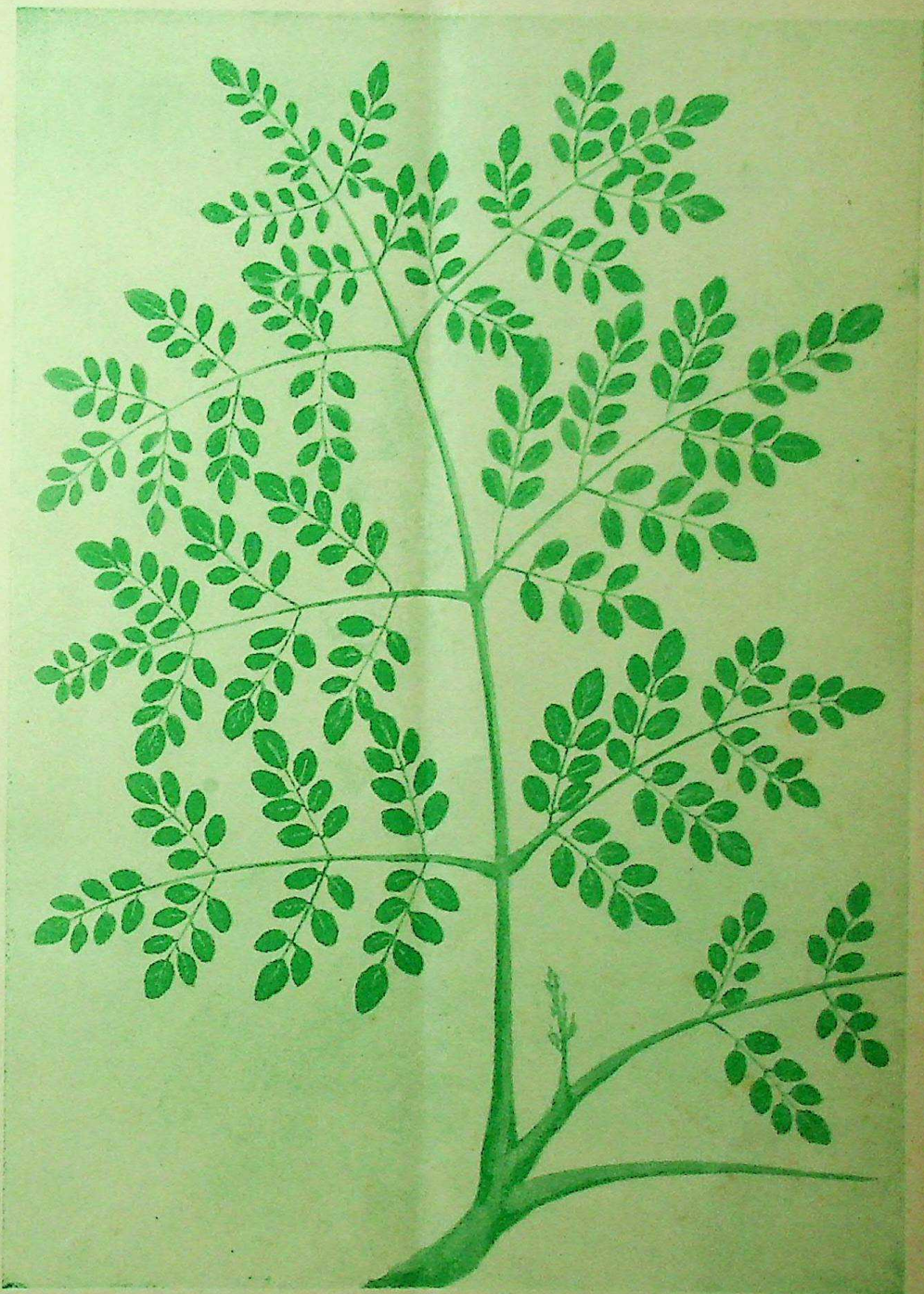
विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
राष्ट्र के तरुणों का आह्वान	... सम्पादकीय	... १६१
दोषों के स्थान	... वैद्य रणजित राय	... १६४
समन्वय सम्बन्धी दृष्टिकोण	... राजवैद्य पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	... १६८
आयुर्वेदीय चिकित्सा के व्यापक सिद्धान्त	... वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य	... १६९
निदान चिकित्सा हस्तामलक	... वद्य रणजित राय	... १७७
मूषिक विष	... वैद्य कृष्णप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य, बी० ए०	... १८५
स्नायुक (गिनीवम) एवं वनस्पति०	... वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य	... १९१
वैद्यरत्न पण्डित शिव शर्मा का भाषण १९३
अशोकारिष्ट	... वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री, स० सम्पादक	... २०१
शेभांजन	... वैद्य अवनीश मिश्र आयुर्वेदाचार्य	... २०४
सुपारी	... श्रीयुत भानु देसाई	... २०९
बरसात में रहन-सहन कैसा हो ?	... वैद्य रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार	... २१५
वैद्यक समन्वय की रूप-रेखा	... आयुर्वेदाचार्य श्री पं० रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी वैद्य	... ११२
समन्वयग्रह का प्रकोपक लक्षण	... वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेदशास्त्राचार्य	... २२१
एक गम्भीर प्रश्न	... वैद्य रवीन्द्र शास्त्री	... २२५
आयुर्वेद जगत् २२७

वार्षिक मूल्य ४)

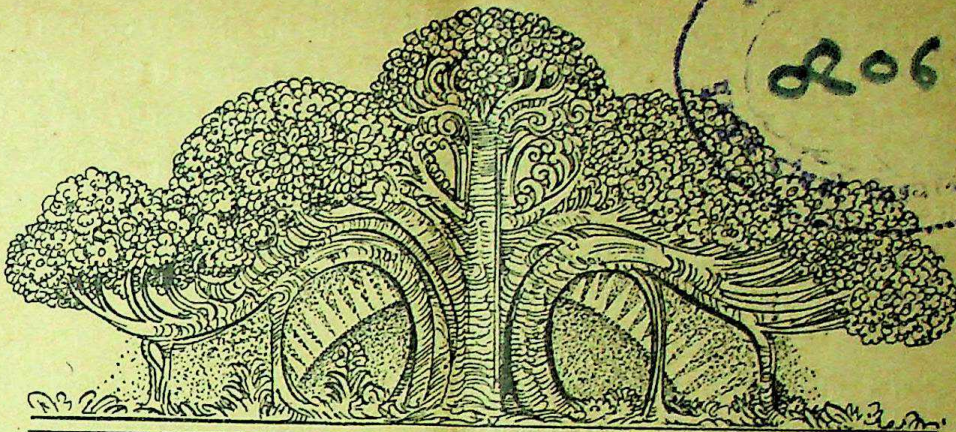
एक प्रति ।=)

सचित्र आयुर्वेद



शोभाञ्जन

इसके विस्तृत विवरण के लिए देखें पृष्ठ २०४



साचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ४

कलकत्ता, सितम्बर, १९५१

अङ्क ३

राष्ट्र के तरुणों का आह्वान

अपने तरुणों के प्रति आज राष्ट्र का आह्वान है कि वे अपने पूर्व-पुरुषों के साहित्य, विज्ञान और कला के सत्य को पहचानें और उसको संसार के सामने उपस्थित करें। उपयोगिता की दृष्टि से सबसे पहले आयुर्वेद की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। साहित्य, विज्ञान और कला का उत्कृष्ट समन्वय हमें आयुर्वेद में मिलता है। विज्ञान के अतिरिक्त केवल साहित्य या कला की दृष्टि रखनेवालों को भी आयुर्वेदीय वाङ्मय बहुत रोचक लगेगा यह हम बिना किसी हिचक के कह सकते हैं। सूक्ष्मतम दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ स्थूल शारीरिक या भौतिक घटनाओं का समन्वय किस कुशलता के साथ आयुर्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने उपस्थित किया है वह पंडितों के छात्रों के लिये भी अध्ययन करने योग्य वस्तु है। केवल इतिहास की दृष्टि से भी अन्वेषकों को आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्रभूत सामग्री मिलेगी जो कि कितनी ही ऐतिहासिक धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकती है। उदाहरण के लिये 'साचित्र आयुर्वेद' के एक विगत अङ्क में वैद्य रणजितराय ने चरक के आधार पर यह प्रश्न विचारार्थ उपस्थित किया है कि क्या आर्यों का आदि निवास स्थान हिमालय पर्वत था? प्राचीन काल के भारतीयों के जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र हमें आयुर्वेद में मिलता है क्योंकि आयुर्वेद सम्पूर्ण जीवन का शास्त्र है। विशेषतया स्वस्थवृत्त या सद्बृत्त के प्रकरणों में प्राचीन भारत की जीवन-कला का स्पष्ट सर्वाङ्ग चित्र हमें मिलता है।

x

x

x

चिकित्सा शास्त्र के छात्रों के लिये चिकित्सा शास्त्र का इतिहास विशेष महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में निष्णात युवकों के लिये इस दृष्टि से आयुर्वेद अनुसन्धान का विषय है। संसार की अन्य चिकित्सा प्रणालियों से बहुत पहले ही अत्यन्त समुन्नत होनेवाले आयुर्वेद की क्या उपेक्षा की जा सकती है? फिर ऐसी स्थिति में जब कि डा० श्री धीरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे प्रथम श्रेणी के आधुनिक चिकित्सा-विशारद युक्तिपूर्वक कह रहे हैं कि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के कितने ही आधुनिकतम

अन्वेषण भी आयुर्वेद के लिये पुराने हैं? क्या यह सत्य है? यदि हाँ, तो कहाँ तक सत्य है? या आयुर्वेद की महत्ता इससे भी आगे तक है? यानी कल जो अन्वेषण होनेवाले हैं वे भी आयुर्वेद के लिये नवीन नहीं होंगे? इन सभी प्रश्नों का समाधान तरुणवर्ग को करना है और तरुण तो वे ही हैं जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान को सीमित नहीं मान लिया है, बल्कि जो नित्य नवीन ज्ञान की खोज में दुर्गम पथों पर चलने को तैयार हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र ने ज्ञान-विज्ञान की सीमा तो नहीं प्राप्त कर ली है। उसमें नित्य सुधार हो रहा है। उसमें और अधिक सुधार या उसका रूपान्तर यदि आयुर्वेद कर सकता है तो आयुर्वेद से यह सहायता हमारे तरुणों को प्राप्त करनी चाहिये।

पुराना होने के कारण ही गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त असत्य नहीं हो गया है। वह जितना सत्य सर आइजक न्यूटन के समय में था उतना ही सत्य आज भी है और शायद अनन्त काल तक इतना ही सत्य बना रहेगा। आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त भी इसी प्रकार केवल प्राचीन होने के नाम पर असत्य नहीं कहे जा सकते। प्रतिभाशाली न्यूटन ने केवल अपनी बुद्धि के बल पर जिस सत्य को आविष्कृत किया था उसे आज के सूक्ष्म से सूक्ष्म और विशाल से विशाल यन्त्रों के बल पर भी असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। आज उसी के आधार पर विज्ञान की इमारत बढ़ती चली जा रही है; ऐसे ही आधारभूत सिद्धान्त आयुर्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने अपने प्रतिभानेत्रों से आविष्कृत किये थे। उस छद्म नींव पर आज हम चाहे जितना ऊँचा प्रासाद खड़ा कर सकते हैं। उन ऋषियों ने वे आविष्कार किन साधनों से किये इस छानबीन में पढ़ने की विशेष आवश्यकता नहीं। पहले तो हमें उनके सत्य को पहचान कर उनका उपयोग कर लेना है। महापुरुषों की सिद्धि उपकरणों में नहीं, उनके सत्त्व में हुआ करती है। आयुर्वेदीय वाङ्मय का सृजन करने वाले ऐसे ही महासत्त्व थे।

भारत के प्रतिभाशाली द्वात्रिंशों को आयुर्वेद के अध्ययन की ओर अग्रसर होना चाहिए। इसी देश में आरोग्यशास्त्र के अध्ययन को सदा से सन्मानपूर्ण स्थान दिया गया है। प्राचीन भारत में बड़े-बड़े ऋषि और सम्राट् आयुर्वेदज्ञ होते थे। इस देश ने जीवन के शास्त्र आयुर्वेद को इतना गौरव देकर अपनी धर्मप्राणता ही प्रकट की है। इसीलिये इस देश में ऐसे महापुरुषों ने आयुर्वेद को समृद्ध किया जिन्हें कि सहस्रों वर्षों से यहाँ की कोटि-कोटि जनता अवतार एवं पैगम्बर का पद प्रदान कर रही है। यहाँ तक कि यदि आयुर्वेद को सर्वश्रेष्ठ शास्त्र या सब शास्त्रों का सार भी कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। आत्मज्ञान आयुर्वेद से ही तो होगा। पिण्डज्ञान से ही तो ब्रह्माण्डज्ञान होगा। जिसने अपने ज्ञान को ही न जाना उसने भूगोल और खगोल को जानकर भी क्या जाना? हे भारत के युवकगण, यदि तुम्हें अभ्युदय और कल्याण की कामना है तो तुम आरोग्य की साधना के लिये आयुर्वेद का अध्ययन करो।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी महाराज के शब्दों में तो आज भगवान् धन्वन्तरि और भगवान् आत्रेय के सूत्रों की तो बात ही छोड़िये, टीका ग्रन्थों का भी अर्थ लगानेवाले आयुर्वेदज्ञों की दिन-पर-दिन कमी होती जा रही है। इस निराशा के वातावरण को सुयोग्य तरुण ही आगे बढ़कर छिन्न-भिन्न कर सकते हैं। नवीन शिक्षा पद्धति ने गुरुमुख से पढ़ने की परम्परा को नष्ट करके आयुर्वेद की धारा के प्रवाह में बाधा डाली है। नवीन स्नातकों को न आधुनिक का ही पूर्ण ज्ञान हो पाता है, न प्राचीन का ही। सत्य एक होने पर भी उसका भिन्न पद्धतियों से व्याख्यान होने से साधारण लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। यही दोष नवीन शिक्षा-पद्धति में है जिस पर कई विद्वानों ने 'सचित्र आयुर्वेद' में काफी चर्चा की है। छात्र भ्रम में पड़ जाते हैं कि आयुर्वेद का कथन सत्य है या नवीन विज्ञान का। इस असंगति को दूर करने के लिये हमें समन्वय पद्धति के स्वतन्त्र पाठ्यग्रन्थ बनाकर उसी ढंग के अध्यापक तैयार करने चाहिये। एक ही विषय को पढ़ाने के

लिये दोनों पद्धतियों के अलग-अलग पाठ्यग्रन्थ और अलग-अलग अध्यापक नहीं होने चाहिये। दोनों मतों का समन्वय करके छात्रों को पढ़ाने से वे भ्रम में नहीं पड़ेंगे। परन्तु समन्वय की भी अनावश्यक दूँसठाँस नहीं होनी चाहिये। नवीन विज्ञान के आवश्यक अंश ही अपने ग्रन्थों में लिये जायँ और इस संगति से कि वे जरा भी विजातीय न मालूम पड़ें। प्रथम अपनी वस्तु का पूर्णज्ञान हो पश्चात् वर्तमान विज्ञान का सहारा लिया जाय।

x

x

x

किन्तु समन्वय एक असाधारण प्रतिभा का काम है। आधुनिक विज्ञान और आयुर्वेद दोनों का ही तत्त्वदर्शी ज्ञान जिसे होगा, वही तो मन्थन करके एक नवीन पद्धति हमें प्रदान करेगा। इसके लिये हमें चरक, सुश्रुत या चारभट्ट जैसे ही एक प्रतिभावन्त की आवश्यकता है। ऐसा ही कोई प्रतिभावन्त आयुर्वेद का यथार्थ मूल्य आधुनिक संसार के सामने रख सकेगा। जब तक कोई ऐसा महासत्त्व हमारे मध्य अवतरित नहीं होता, तब तक 'अकरणात् मन्दकरणं श्रेयः' के अनुसार हम लोगों को ही यथाशक्ति, यथामति प्रयत्नशील रहना है। देवगण भी थकने तक प्रयत्न करनेवाले की ही सहायता करते हैं। ईश्वर करे, आयुर्वेद का पुनरुत्थान करने में पूर्णतया समर्थ कोई प्रतिभा सम्पन्न शीघ्र ही हमारे मध्य अविर्भूत हो।

x

x

x

राजनैतिक दृष्टि से हम आज चार वर्षों से स्वतन्त्र हैं परन्तु मानसिक स्वतन्त्रता की मज्जिल से अभी हम बहुत दूर हैं। आज भी हम पाश्चात्य जगत् के ही निर्णयों पर पाश्चात्य विद्वान् यदि हमारे ज्ञान-विज्ञान को निकृष्ट कह देते हैं तो हम उसे निकृष्ट मान लेते हैं और वे ही यदि उसी को श्रेष्ठ कह देते हैं तो हम उसे श्रेष्ठ मान लेते हैं। यही मानसिक परतन्त्रता है। इससे मुक्त करने के लिये आज राष्ट्र की ओर से तर्कों का आह्वान है।

शेषांश]

दोषों के स्थान

[पृष्ठ १६७ का

यद्यपि प्राणादि भेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यति; यथा—'स्थानं प्राणस्य शीर्षोरःकण्ठ (कर्ण) जिह्वास्यनासिकाः (च० चि० २८।६), इत्यादि; तथापीदं वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयम्; यतोऽत्र प्रायो वातविकारा भवन्ति, भूताश्च दुर्जयाः; अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति ॥

—अर्थात्, आगे प्राण आदि पाँच-पाँच भेदोंवाले वातादि दोषों के स्थानों का निर्देश होगा ही। तथापि यहाँ जो स्थान-निर्देश हुआ है, उसका आशय यह है कि, प्रायः वात रोग इन्हीं स्थानों पर होते हैं (यथा, व्यवहार में रोगी

वात-चक्षुः कमर या पैर टूटने की शिकायत करते आते हैं, कफ के कारण छाती में ही रोग विशेष होते हैं—इत्यादि)। पुनश्च—इन स्थानों पर तत्तद्दोषजन्य रोग हों तो वे कष्ट-साध्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इन स्थानों पर (विशेषतया एक-एक प्रधान स्थान पर) उस-उस दोष पर विजय-लाभ कर लिया जाय तो अन्यत्र स्थित सर्वरोग स्वयं शान्त हो जाते हैं^१।

—वैद्य रणजितराय

१—शरीर - क्रिया - विज्ञान—वैद्यनाथ प्रकाशन के विभिन्न प्रकरणों से।

दोषों के स्थान

वैद्य रणजितराय

प्रायः विद्यार्थी वात-पित्त-कफ के स्थानों के विषय में घोटाला करते हैं। कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में आये लेखों में भी इस विषय की अस्पष्टता देखी जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि शास्त्रों में दोषों के स्थानों का निर्देश अनेक प्रकार से हुआ है। प्रायः विद्यार्थी का ध्यान ऐसे एक-दो स्थलों पर ही जाने से वह अन्य स्थान-निर्देशों के विषय में अनभिज्ञ रहता है, जिससे दोषों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान भी हो नहीं पाता। इस बात को लक्ष्य में रखकर नीचे शास्त्र के आधार पर दोषों के स्थान-सम्बन्धी सभी उल्लेखों का एकत्र निर्देश किया जाता है।

१—सत्य स्थिति यह है कि : दोष प्राकृत तथा विकृत (सम-विषम) दोनों दशाओं में सर्वशरीरगत—शरीर के प्रत्येक स्थूल तथा सूक्ष्म अवयव में स्थित—एवं सर्वस्रोतश्चर होते हैं। दोनों दशाओं में उनको क्रिया शरीर के सब अवयवों तथा स्रोतों पर होती है। देखिये—

सर्वशरीरचरास्तु वात-पित्त-श्लेष्मणः सर्वस्मिन् शरीरे
कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति ॥ —च० सू० २०।६

वात-पित्त-श्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतां-
स्ययनभूतानि ॥ च० वि० ५।५

वात-पित्त-कफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ॥

च० चि० २८।५६

रचना तथा क्रिया की दृष्टि से शरीर के सूक्ष्मतम अवयव किंवा इकाई-भूत प्रत्येक कोष^१ में वात-पित्त-कफ

१—शरीरावायवस्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात् अतिसौक्ष्म्यात् अतीन्द्रियत्वाच्च ; तेषां संयोग-विभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च—च० शा० ७।१७ ; दूष्यास्तु शरीरावायवा अणुशः परस्परमेलकेन विभ-ज्यमाना असंख्येया भवन्ति—च० सू० २०।३ पर चक्रपाणि ;

रहते तथा समावस्था में अपनी प्राकृत क्रियाएँ करते हैं। कफ स्वयं पोषक सामग्री-रूप होने से उनका पोषण करता है। पित्त (आधुनिकों के एन्जाइम^१, अन्तःस्राव^२ तथा इनसे भिन्न जातीय द्रव्य—याकृत पित्त^३ तथा लवणाम्ल^४) उनमें पाक अर्थात् रासायनिक क्रिया^५ द्वारा रूपान्तर का कार्य करता है। वात इन दोनों का प्रेरण, यथाकाल उद्दीपन-अवसादन तथा ज्ञान और चेष्टा का संपादन करता है। ये कर्म इनके संपूर्ण नहीं किन्तु प्रमुख कर्म हैं। शेष कर्म विस्तार से संहिताओं किंवा क्रियाशरीर के ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं। ये दोष जब विषम—क्षीण या वृद्ध—होते हैं तो इनकी ये उक्तानुक्त क्रियाएँ मन्द या अधिक हो जाती हैं। परिणामतया, वात के प्रकोप से कोषों की क्षीणता, पित्त के प्रकोप से भी पाक होकर कृशता तथा कफ के प्रकोप से उनकी अतिवृद्धि होती है। ये कर्म भी उदाहरणभूत हैं।

वात-पित्त-कफ के जो उक्तानुक्त सम-विषम कर्म कोषों में होते हैं वे ही उनके समुदाय-भूत स्थूल अवयवों में होते हैं। यह बात और है कि किसी अवयव में किसी दोष की क्रिया अन्य अवयवों की अपेक्षया अधिक होती है।

सर्व एव त्ववयवाः परमाणुभेदेन अतिसौक्ष्म्यात् असंख्येया भवन्ति । तेषां संयोगे परमाणूनां कर्मप्रेरितो वायुः कारणम् —अ० सं० शा० ५ ।—इन स्थलों में आये शरीर-परमाणु किंवा शरीराणु का अर्थ कोष (cell) माना जाता है।

१—Enzyme. २—Hormones—हॉर्मोन्स ।

३—Bile—बाइल ।

४—Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड ;

H cl—एच सी एल ।

५—Chemical action—केमिकल एक्शन ।

वात-पित्त-कफ सम और विषम दोनों अवस्थाओं में सर्वस्रोतश्चर होते हैं। सिराओं का वर्णन करते हुए सुश्रुत^१ ने सर्व सिराओं को सम और विषम दोनों प्रकार के दोषों तथा रक्त का वहन करनेवाली एवं तदनुसार प्राकृत-वैकृत उभयविध कर्म करनेवाली कहकर उन्हें सर्ववह कहा है। यह बात इस प्रकरण में स्मरण की जा सकती है।

समावस्था में सम दोषों और रक्त का वहन करते हुए स्रोत दोषों की सम क्रिया के हेतु होते हैं। दोष और रक्त क्षीण हुए तो इनसे बने ये स्रोत स्वयं क्षीण होते हैं तथा इनके बाह्य दोषों के कर्म भी मन्दता को प्राप्त होते हैं।

दोष प्रकुपित—वृद्धि को प्राप्त—हों तो स्रोतों पर दोष-भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। यथा, वात स्रोतों के कोषों को कृश करता है जिससे उनका विवर अल्प होकर बाह्य द्रव्य का वहन सम्यक् नहीं होता। इसी प्रकार प्रकुपित वात स्रोतों से स्तम्भ उत्पन्न करके भी स्रोतो-भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न करता है। यथा, प्राणवह स्रोतों के स्तम्भ से शूल इत्यादि। पित्त की वृद्धि से स्रोतों में पाक (सूजन^२) होने से उनका विवर अल्प हो जाता है। कफ की वृद्धिवश कोषों के शरीर की सब दिशाओं में तथा संख्या में वृद्धि होने से भी स्रोतों के विवर की न्यूनता होती है। इस प्रकार वात-पित्त-कफ की वृद्धि से स्रोतों के विवर की—उसके व्यास की—न्यूनता होने से बाह्य द्रव्यों का वहन योग्य प्रमाण और वेग में नहीं होता। इसे उनका अवरोध कहा जाता है। दोषों के प्रकोप-वश कहे ये कर्म भी उदाहरणभूत समझने चाहिए। शेष विकारों का निर्देश शास्त्र में देखा जा सकता है।

२—इस प्रकार वस्तुस्थित्या दोष सूक्ष्म-स्थूल-सर्वशरीरा-व्यवगत एवं सर्वस्रोतोगत होते हुए भी उनके विशिष्ट स्थान संहिताओं में बताये जाते हैं। यथा—कभी-कभी दोषों का एक-एक स्थान बताया जाता है—

१—देखिये सु० शा० ७

२—Inflammation—इन्फ्लेमेशन।

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्व संश्रयाः ॥

—अ० ह० सू० १।७

अर्थात् सर्वशरीरगत भी वात-पित्त-कफ के शरीर में अपने-अपने विशेष स्थान हैं। कफ विशेषतः शरीर के ऊर्ध्वभाग में, पित्त मध्यभाग में और वात अधोभाग में रहता है। इस बात को विशद करते हुए चरक ने कहा है :

वात-पित्त-कफा नृणां वस्ति हन्मूर्धसंश्रयाः।

तस्मात् तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः ॥

—च० चि० २६।२६१

इसी विषय में सु० नि० १।८ पर गयदास द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर-वचन का भी उल्लेख किया जा सकता है।

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीनां सर्वेषां मूलमिष्यते।

जितेऽत्र जायते तेषां कृत्स्ननाशो यथा रुहाम् ॥

अर्थात् दोषों का जो एक-एक स्थान कहा गया है उसका आशय यह है कि : प्रकोपावस्था के पूर्व उस-उस स्थान पर उस-उस दोष का संचय होता है। अपरंच, तत्-तत् संशोधन द्वारा इस स्थान से उस दोष को निकाल दिया जाय तो दोष प्रसृत होकर अन्यत्र रोगोत्पत्ति नहीं कर पाता, किंवा प्रसृत होकर रोग को उत्पन्न कर चुका हो तो भी इस उपाय से ही उसकी शान्ति होती है। इस दृष्टि से जैसा कि सुविदित है तत्-तत् दोष के स्थान निश्चोक्त हैं :

समासेन पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य ॥ सु० सू० २१।६

तत्र समासेन आमाशयः श्लेष्मणः स्थानम् ॥

—सु० सू० २१।६

तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम् ॥ —च० सू० २०।८

तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् ॥

च० सू० २०।८

तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः ॥ सु० सू० २१।६

आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः ॥

सु० नि० १।६

अर्थात्—पक्वाशय और आमाशय का मध्यस्थान किंवा

ग्रहणी पित्त का, आमाशय और उर श्लेष्मा का तथा पक्वा-शय (कटि और गुद) वात का विशेष स्थान है। निकट होने से बस्ति द्वारा पक्वाशय से वात का, विरेचन द्वारा ग्रहणी से पित्त का तथा वमन द्वारा आमाशय और उर (प्राणवह स्रोतों) से कफ का संशोधन किया जाता है। ये संशोधन तत्तद् रोग में दोषापहरण द्वारा उत्पन्न रोग की निवृत्ति के लिए तथा तत्-तत् मास में ऋतु-स्वभाववश प्रकुपित हुए दोष रोगोत्पत्ति न कर पाएँ इस हेतु किये जाते हैं।

मूल स्थान से तत्-तत् संशोधन द्वारा दोष का उच्छेद होकर शरीर में कहीं भी हुए रोग की इस प्रकार शान्ति को लक्ष्य में रख कर पित्त के विषय में कहा गया है :—

विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति। तत्राऽवजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोहे केवलमग्नि-गृहं शीतं भवति तद्वत् ॥

—च० सू० २०।१६

—विरेचन कुपित पित्त के जय का सर्वोत्तम उपाय है। वह पित्त के संचय के मूल स्थान आमाशय और ग्रहणी में प्रविष्ट हो उसका उच्छेद कर देता है। मूल के नष्ट होने से शरीर में अन्यत्र स्थित पित्त-विकार स्वयं शान्त होते हैं। जैसे, अग्नि बुझ जाय तो अग्निगृह (जेन्ताक नामक स्वेद-विधि में गरम किया गया घर) स्वयं ठंडा हो जाता है।

पित्त के अग्नि गुण-प्रधान होने से इस प्रकरण में युक्ति-पूर्वक अग्नि की ही उपमा दी गयी है।

वमन द्वारा कफ के संशोधन को लक्ष्य में रखकर चरक ने कहा है :—

वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एव आमाशयमनुप्रविश्य उरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलम् ऊर्ध्वम् उत्क्षिपति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिम्

आपद्यन्ते। यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवपट्टिकादीनि अनभिष्यन्दमानानि अम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥

—च० सू० २०।१६

अर्थात्—वमन श्लेष्मा के जय का सर्वोत्तम उपाय है। वह श्लेष्मा के उद्गम स्थान आमाशय और उरः स्थल में प्रविष्ट हो प्रकुपित श्लेष्मा का पूर्ण उच्छेद कर देता है। इन स्थानों पर श्लेष्मा का मूलोच्छेद होने से पोषण न मिलने से शरीर में अन्यत्र स्थित श्लेष्मिक रोगों की स्वयं शान्ति हो जाती है। जैसे, क्यारी का बन्वन दूट जाय और शालि, यव और पट्टिक (साठी चावल) को पानी मिलना बन्द हो जाय तो वे स्वयं सूख जाते हैं।

इस प्रकरण में, कफ के पोषक स्वभाव के कारण उसका भिन्न ही उपमान जल रखा है।

आगे इसी प्रकरण में वात को लक्ष्य में रख कर कहा है :—

तत्राऽऽस्थापनानुवासनं खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमुपयान्ति। यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥

—च० वि० २०।१३

आस्थापना और अनुवासन बस्तियाँ वायु के जय का सर्वोत्तम उपाय हैं। बस्ति सीधी वायु के संचय के मूल स्थान पक्वाशय में प्रविष्ट होकर वात के मूल का सम्पूर्णतया उच्छेद कर देती है।

इस स्थल पर यदि बस्ति द्वारा वायु पर विजय लाभ कर लिया जाय तो शरीर में अन्यत्र स्थित वात विकार वायु की पुष्टि न मिलने से स्वयं शान्त हो जाते हैं; जैसे वनस्पति का मूल कट जाय तो उसके काण्ड, शाखा, अंकुर, फूल, फल, पत्ते आदि का प्रयत्न के बिना ही निश्चित नाश होता है।

३—इस प्रकार सर्वाङ्ग तथा एक-एक मुख्य स्थान के

अतिरिक्त प्रत्येक दोष के पाँच-पाँच भेद कह कर प्रत्येक भेद का एक-एक स्थान कहा है। प्रत्येक भेद का एक-एक स्थान बताने का आशय संहिताकारों ने स्पष्ट बताया है कि उस-उस दोष की प्राकृत क्रिया उस-उस स्थान पर सविशेष लक्षित होती है। देखिये, सुश्रुत ने दोषों के पाँच-पाँच स्थानों का निर्देश कर उपसंहार करते हुए कहा है :—

एतानि खलु दोषाणां स्थानानि अव्यापन्नानाम् ॥

सू० सू० २१।७

एतानि स्थानानि प्रायेण प्रकृति स्थानामेव दोषाणां भवन्तीत्याह-एतानीत्यादि। अव्यापन्नानाम् अकुपितानाम् ॥

—उहन्

लघुवाग्भट ने भी कहा है :

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्।

व्यापिनामपि जानीयात् ॥ अ० ह० सू० १२।१८

अर्थात् सर्वाङ्ग में व्याप्त भी इन दोषों के जो ये पाँच-पाँच स्थान कहे हैं, वे इस बात के सूचक हैं कि दोष अविकृत (अकुपित) हो तो उनकी क्रिया प्रधानत्वेन इन स्थानों पर देखी जाती है। ये स्थान सुविदित हैं। यहाँ विस्तार-भय से उनका उल्लेख नहीं किया जाता।

४—दोषों के स्थानों के इस त्रिविध निर्देश के अतिरिक्त अन्य भी प्रकार से दोषों के स्थान बताये जाते हैं। तीसरे प्रकार में कहा है कि दोषों की प्राकृत क्रियाएँ इन पाँच-पाँच स्थानों पर सविशेष दृष्टिगोचर होती हैं। चौथे प्रकार से जो दोषों का स्थान-निर्देश हुआ है वह उनके विकारों को दृष्टि में रखकर किया गया है। अर्थात् जैसे दोषों की प्राकृत क्रिया शरीर के सूक्ष्म-स्थूल अवयवमात्र में विद्यमान होने पर भी पाँच-पाँच स्थानों पर विशेष रूप से देखी जाती है वैसे प्रकुपितावस्था में भी दोषजन्य विकृति का प्रभाव सूक्ष्म-स्थूल अवयवमात्र पर होता है। तथापि तत्-तत् दोष का प्रकोप होने पर उसके विकार के लक्षण तत्-तत् अवयव में विशेषतया देखे जाते हैं। निदान में सुगमता हो इस हेतु

संहिताकारों ने उनका निर्देश किया है। इस स्थान-निर्देश पर प्रायः पूर्ण ध्यान नहीं दिया जाता। अतः पहले चक्र का मूल वचन सम्पूर्ण देकर पीछे चक्रपाणि की टीका के आधार पर उसका स्पष्टीकरण दिया जाता है।—

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थान-विभाग उपदेक्ष्यते तद्यथा—वस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादौ अस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि। तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् ॥

च० सू० २०।८

—शरीर में तीनों दोषों का स्थान-निर्देश करते हैं। वस्ति, गुद (उत्तर और अधर), कटि, जाँघ, पैर, अस्थि और पक्वाशय—ये वात के स्थान हैं। इनमें भी पक्वाशय वात का प्रमुख स्थान है।

स्वेदो रसो लसीका रुधिरम् आमाशयश्च पित्तस्थानानि तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् ॥ च० सू० २०।८

पित्तस्थानेष्वामाशय इति आमाशयाधोभागः ॥

—चक्रपाणि

—स्वेद, रस, लसीका, रक्त और आमाशय का अधो-भाग पित्त का विशिष्ट स्थान है।

उरः शिरो ग्रीवा पर्वाणि आमाशयो मेदश्च श्लेष्म-स्थानानि। तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्म स्थानम् ॥

च० सू० २०।८

श्लेष्मस्थानेष्वामाशय आमाशयोऽर्ध्वभागः ॥

—चक्रपाणि

—उर (छाती), शिर, ग्रीवा, पर्व (सन्धियाँ), आमाशय का ऊर्ध्व भाग और मेद—ये श्लेष्मा के स्थान हैं। इनमें भी उर श्लेष्मा का विशिष्ट स्थान है।

जिस अध्याय में ये वचन आये हैं उसमें अथ से इति तक रोगों की ही बात है। नाम भी महारोगाध्याय है। इसीसे कल्पना की जा सकती है कि दोषों का यह स्थान-निर्देश उनके द्वारा होनेवाले रोग किन स्थानों पर सविशेष होते हैं। चक्रपाणि ने टीका में यह बात स्पष्ट ही लिखी है। देखिये— [शेष पृष्ठ १६३ पर]

समन्वय सम्बन्धी दृष्टिकोण

राजवैद्य पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, आयुर्वेद-वृहस्पति

सरकार के सामने यह कठिनाई है कि इस देश की प्राचीन आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली को देशवासी चाहते हैं और वह अपने गुणों से इस योग्य भी है कि देश में उसका व्यापक प्रचार किया जाय। इधर दो सौ वर्षों से देश में एलोपैथी का पूरा प्रचार है, उसके कालेज, औपघालय, अस्पताल, सेनीटोरियम, अनुसन्धान-शालाएँ हैं, उन्हें जल्दी तोड़ते भी नहीं बनता। इसके सिवाय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण भी सरकार को वह परिस्थिति बनाये रखना अभीष्ट दिखता है। फिर देश में चार-पाँच करोड़ अभी मुसलमान हैं उनका रख यूनानी की ओर है इसलिये कुछ काम यूनानी का भी जारी रखना सरकार को आवश्यक मालूम पड़ता है। अब तो होमियोपैथीवाले भी सरकार से मान्यता चाहते हैं और उसके लिये आमरण अनशन कर सरकार पर जोर-जबरदस्ती करना भी उन्होंने आरम्भ कर दिया है। ऐसी दशा में आयुर्वेद को उसके न्यायानुमोदित अधिकार देने का साहस सरकार में नहीं है। अतएव वह चाहती है कि किसी तरह सब चिकित्सा पद्धतियों का समन्वय होकर एक ही पद्धति हो सके तो सरकार को भी उसे चलाने में सुविधा हो। बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश की सरकार समन्वय के लिये प्रयत्नशील हैं। अतएव उत्तर प्रदेशीय सरकार भी इसके लिये कोई रास्ता निकालना चाहती है। उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री माननीय चन्द्रभानु गुप्त आयुर्वेद के पक्ष में हैं उन्होंने कुछ किया भी है; परन्तु अभी जो कुछ हुआ है वह पर्वत के सामने राई है, समुद्र के सामने विन्दु है, अभी दाल में नमक के समान भी आयुर्वेद का भाग नहीं आया है। इस सम्बन्ध में आपने उत्तर प्रदेशीय विश्वविद्यालयों से सम्मति मांगी थी। किन्तु इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतवादियों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। अतएव मतभेद भी है। लखनऊ विश्वविद्यालय एक एलोपैथी कालेज चला रहा है और आयुर्वेद का भी एक कालेज सरकारी प्रेरणा से उसे खोलना पड़ा है, अतएव वह स्पष्ट आयुर्वेद के विरुद्ध नहीं जा सकता। उसके अनुभवी विशेषज्ञों ने मत प्रकट किया है कि आयुर्वेदिक प्रणाली चिकित्सा विज्ञान की जननी है; और एलोपैथी उसी की कन्या होने के कारण दोनों का एकीकरण सम्भाव्य है।

इसके विपरीत अगर विश्वविद्यालय के विशेषज्ञों ने इस प्रयास को अवांछनीय बतलाया है। चोपड़ा कमेटी की राय के अनुसार माननीय गुप्त ने चाहा था कि लखनऊ और अगर विश्वविद्यालय अपने एलोपैथी के कालेजों में एलोपैथी के पाठ्यक्रम के साथ आयुर्वेद को भी अनिवार्य विषय बनावें। परन्तु दोनों विश्वविद्यालयों ने इसका विरोध किया है।

हम भी चाहते हैं कि समन्वय हो; परन्तु जब एलोपैथी कालेज में एलोपैथी के साथ आयुर्वेद के पाठ्यक्रम पर डाक्टर भड़कते हैं तब यह समन्वय होगा किस प्रकार? एलोपैथी आयुर्वेद की कन्या होते हुए भी आयुर्वेदिक आचार-विचार और व्यवहार को भूल गयी है। अतएव उसे आरम्भ से संशोधन पूर्वक आयुर्वेदिक तत्त्वज्ञान की शिक्षा देनी पड़ेगी। जब तक सिद्धान्त में साम्य न हो तब तक समत्व कोई अर्थ नहीं रखता। एलोपैथी को पहले त्रिदोष सिद्धान्त को अपनाना होगा और यह समझना होगा कि पञ्चमहाभूत सिद्धान्त के द्वारा ही यथार्थ में पदार्थ और द्रव्यविज्ञान का तत्त्व हाथ लग सकता है। अतएव इसे गम्भीरता पूर्वक समझकर अपनाना होगा। षड्रस, रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव और आयुर्वेदोक्त पदार्थों के २० गुणों का अनुशीलन किये बिना द्रव्य विज्ञान का रहस्य पूरा हाथ न लगेगा। अतएव आधुनिक विज्ञान के साथ भारतीय सूक्ष्म विज्ञान को समझना भी आवश्यक है। एलोपैथी केवल निदान विपरीत चिकित्सा है और होमियोपैथी निदान समचिकित्सा होते हुए भी विपर्यस्तार्थकारी चिकित्सा है। उन सबों को पूर्ण चिकित्सा पद्धति बनाने के लिये उन्हें आयुर्वेद के छह चिकित्सा के विज्ञानोपाय समझना चाहिये। यह तभी होगा जब आयुर्वेद की पूरी शिक्षा देने के बाद अन्य चिकित्सा प्रणाली की शिक्षा दी जाय और समन्वय का प्रयत्न किया जाय। लखनऊ विश्वविद्यालय की यह राय भ्रामक है कि देशी शरीर रचनाशास्त्र बिल्कुल गलत है। यथार्थ में वह संक्षिप्त है और उसकी व्याख्या अपेक्षित है। उसका यह कहना भी ठीक नहीं है कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के कई अंग उसमें नहीं हैं। वह हैं; परन्तु त्रिदोष वर्गीकरण के अनुसार उनका समावेश भिन्न-भिन्न स्थानों में हो गया है। इस विषय में अनुसन्धान द्वारा उनका संकलन करना पड़ेगा।

आयुर्वेदीय चिकित्सा के व्यापक सिद्धान्त तथा क्रियात्मक स्वरूप

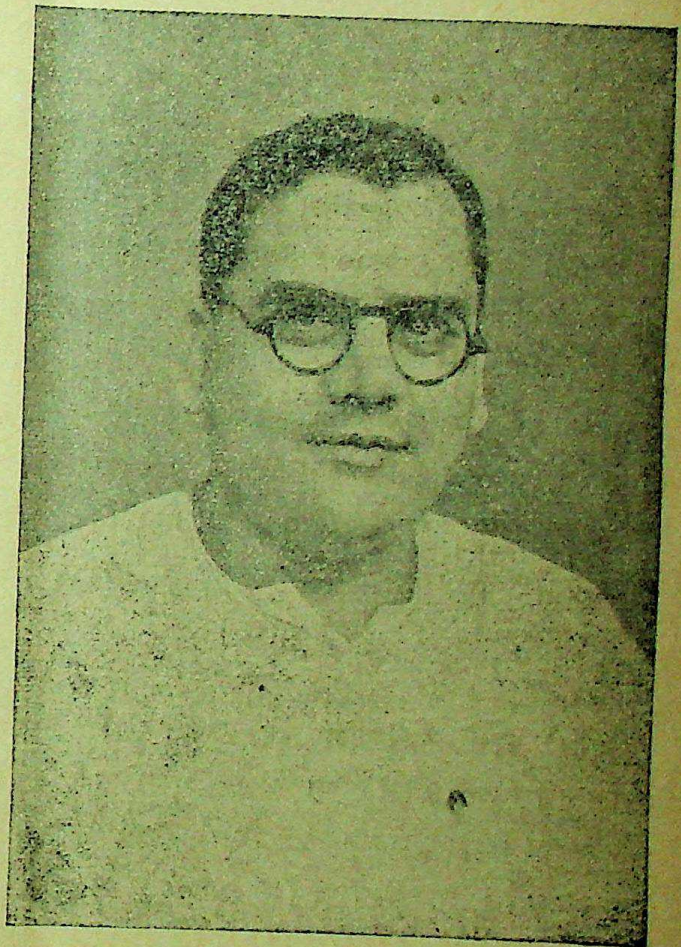
वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

सिद्धान्तों की महत्ता और उसकी व्यापकता उसके क्रियात्मक स्वरूप पर ही निर्भर है। इसीसे हमारे आचार्यों ने 'सिद्धान्त' की परिभाषा में स्पष्ट रूप से कहा है—“सिद्धान्तो नाम स यः परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिरत्र साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः।”

—च० वि० ८-३७

अर्थात् सिद्धान्त उस निर्णय को कहते हैं जिसे परीक्षकों ने बहुत प्रकार से परीक्षा करके तथा हेतुओं (Reasonings) से सिद्ध करके स्थिर किया हो। तात्पर्य यह कि काल्पनिक तथा व्यावहारिक जितनी परीक्षाएँ हैं उन सभी परीक्षाओं द्वारा परीक्षा करके हेतुओं (Reasonings) के आधार पर जो निर्णय स्थिर किया जाता है उसे सिद्धान्त कहते हैं। अतः ऐसे सिद्धान्त व्यापक और व्यावहारिक दोनों ही होते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा के सिद्धान्त ऐसे ही व्यापक एवं व्यावहारिक हैं; यही इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

आयुर्वेद (आयुषोवेदः) आयु का वेद है। 'वेद' शब्द (विद्-ज्ञाने, लाभे, विचारणे, सत्तायां) विद् धातु से बना हुआ है। जो ज्ञान, लाभ, विचार एवं सत्ता; इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः जिस शास्त्र में आयु के ज्ञान, लाभ, विचार तथा उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में वर्णन हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयु—शरीर (पाँचभौतिक) इन्द्रिय, सत्व (मन) और आत्मा के संयोग का नाम है। अर्थात् शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म संयोग स्वरूप आयु है। तात्पर्य यह कि इनमें से किसी एक के



लेखक

वियोग होने पर आयु का अस्तित्व नहीं रह सकता।

चिकित्सा शब्द—कित्-रोगापनयने (भ्वादि० पर० सक० सेट्) धातु से बना हुआ है और रोग शब्द “रुज्-व्याधौ” अथवा धातु वैषम्यजाते से घञ् प्रत्यय लगाने पर बनता है। इस प्रकार यह निष्कर्ष होता है कि रोग या

व्याधि के अपनयन (दूर करनेवाले) विधि (उपाय) को ही चिकित्सा कहते हैं। अमर सिंह ने भी कहा है— 'चिकित्सा रक् प्रतिक्रिया।' भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के "या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते" अथवा— "याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्।" इन वाक्यों से भी इसीका समर्थन होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के सिद्धान्त शरीर-इन्द्रिय-मन तथा आत्मा के संयोग स्वरूप पुरुष की सर्वतोभावेन समीक्षा कर निर्णीत किये गये हैं। यही कारण है कि अति पुरातन काल में निर्णीत सिद्धान्त भी आज नवीनतम है और कालातीत दोष से वञ्चित है। त्रिकालज महर्षियों के त्रिकालावाधित सिद्धान्त आज भी मानव कल्याण करने में नवीनतम आविष्कारों से अनाहत है और देश के आबाल वृद्ध का शाश्वत रूप से उपकार कर रहा है।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है— "सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभाव संसिद्ध लक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च। न हि नाभूत कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धिसन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुखदुःखं सद्रव्य हेतुलक्षणमपरापरयोगात्।"

—च० सू० ३०-२५

जिसकी उत्पत्ति नहीं होती वह अनादि कहलाता है और जो अनादि होता है वह अनन्त भी होता है अर्थात् उसका कभी नाश भी नहीं होता। अतः वह नित्य होता है। आयुर्वेद नित्य है। आयुर्वेद के नित्य होने से उसके सिद्धान्त भी नित्य ही होंगे। आचार्य ने हमारा ध्यान इस तथ्य पर भी आकृष्ट किया है कि जिस प्रकार आयु और बुद्धि का प्रवाह सदा अक्षुण्ण रहा है उसी प्रकार ये सुख-दुःख तथा उनके हेतु, लक्षण एवं औषध द्रव्य भी सदा से चले आ रहे हैं। तात्पर्य यह कि आयु और आयु के वेद का प्रवाह जिस प्रकार अनवरत जारी रहा है उसी प्रकार सुख-दुःख उनके कारण तथा लक्षण एवं उनके

दूर करने के उपाय का चिन्तन भी अनवरत जारी रहा है। हमारे आचार्य त्रिकाल दर्शने अतः उन्होंने चिकित्सा सम्बन्धी जो सिद्धान्त निर्णय किये वे त्रिकाल में अक्षुण्ण बने रहने की दृष्टि से किये।

चिकित्सा के स्वरूप का निर्णय करने के लिये हमारे आचार्यों ने सर्वप्रथम चिकित्स्य पुरुष का निरूपण किया है। क्योंकि आयुर्वेद, चिकित्सा की व्यवस्था रोग की दृष्टि से न कर रोगी की दृष्टि से करता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा की यही विशेषता है कि वह चिकित्सक का सर्वप्रथम ध्यान इस तथ्य पर आकृष्ट करता है कि चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की जाती है। यहाँ तक कि जब कभी वे औषध द्रव्यों की जानकारी का भी उपदेश करते हैं तो कहते हैं कि—

"योगमासां तु यो विद्यादेशकालोपपादिताम्।

पुरुषं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिषगुत्तमः॥"

—च० सू० १-१२४

चिकित्स्य पुरुष का निरूपण

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतन्निदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम्।
वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं संप्रकाशितः॥

—च० सू० १

तथा च—

"पञ्च महाभूत शरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्।"

—सुश्रुत सू० १

अर्थात्—सत्त्व (मन), शरीर (पाञ्चभौतिक सेन्द्रिय) और आत्मा ; इन तीनों के त्रिदण्ड (तिपाये) के समान संयोग से यह लोक (पुरुष-चिकित्स्य पुरुष) ठहरा हुआ है। चिकित्सा के सभी विषय इसीमें प्रतिष्ठित है। इसीको कर्म पुरुष (पुमान्) कहते हैं जो चिकित्सा का अधिकार माना गया है। इस आयुर्वेद का प्रकाश भी उसीके लिए हुआ है।

पञ्च महाभूत और शरीर (आत्मा) के समवाय

आयुर्वेदीय चिकित्साके व्यापक सिद्धान्त तथा क्रियात्मक स्वरूप

१७१

पुरुष (कर्म पुरुष) कहते हैं। उसीमें चिकित्सा की क्रिया होती है। क्योंकि वही चिकित्सा का अधिष्ठान अर्थात् चिकित्स्य पुरुष है।

—सुश्रुत

चिकित्स्य पुरुष के निरूपण कर लेने पर चिकित्सक के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस सत्त्वात्म-शरीर समवाय स्वरूप पुरुष के अन्दर व्याधियों के आश्रय कौन हैं। इसे स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने कहा है—

“शरीरं सत्त्वसंज्ञञ्च व्याधीनामाश्रयो मतः ।”

अर्थात्—इस कर्म पुरुष (चिकित्स्य पुरुष) के घटक शरीर और मन ही व्याधि के आश्रय हैं। आत्मा तो निर्विकार है, अतः उसे रोग नहीं होता।

“निर्विकारः परस्त्वात्मा ॥” —च० सू० १

सत्त्वात्मशरीरसंयोग रूप इस चिकित्स्य पुरुष की चिकित्सा के लिये व्याध्याश्रय शरीर और मन की जानकारी परमावश्यक है। शरीर क्या है? इसकी रचना किस प्रकार हुई है? इसके प्रकृत कर्म या व्यापार क्या हैं? ये प्रकृत व्यापार किस प्रकार अवाधरूप से चलते रहते हैं? तथा इनमें किसी प्रकार की विकृति-क्यों आती है? और इन विकृतियों के क्या प्रतिकार है? इत्यादि बातों की जानकारी अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त मन की रचना, स्थिति और उसके स्वरूप का ज्ञान भी परमावश्यक है। मन इस शरीर में किस प्रकार रहता है और इसका शरीर के विविध अवयवों तथा उन अवयवों के व्यापारों से क्या सम्बन्ध है? ये शरीर अवयव मन की सहायता बिना स्वयं कुछ कर सकती है या नहीं? इनका व्यापार स्वतन्त्र है या मन के अधीन है? मन किस प्रकार विकृत होता है? और मन के विकृति का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है? शरीर और मानस व्याधियों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? शरीर और मानस व्याधियों का निर्णय किस प्रकार

किया जा सकता है और इनके प्रतिकार में क्या विशेषता है? इत्यादि बातों का विवेचन करना परमावश्यक है। इसीसे हमारे आचार्यों ने चिकित्सा के ज्ञानार्थ सर्वप्रथम शरीर और मन के उपर्युक्त सभी विषयों की शिक्षा लेने का उपदेश किया है और कहा है कि—

“सर्वदा सर्वथा सर्वं शरीरं वेद यो भिषक् ।
आयुर्वेदं स कात्स्न्येन वेद लोक सुखप्रदम् ॥”

—च० शा० ६

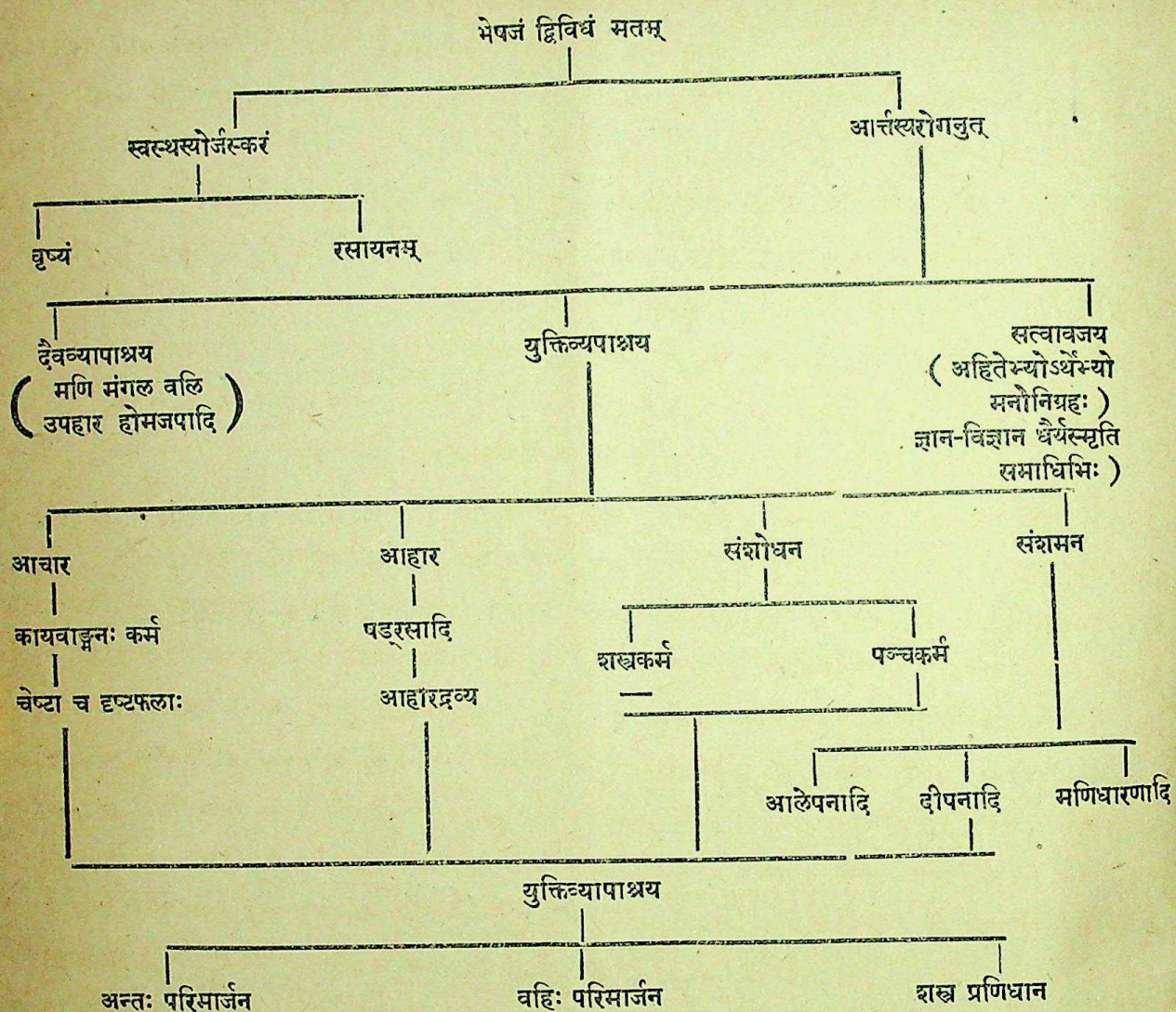
अर्थात् जो चिकित्सक सर्वदा सब प्रकार से सम्पूर्ण शरीर को जानता है, वही संसार में सुख को देने वाले आयुर्वेद को सम्पूर्णतया जानता है। और भी कहा है—

“ज्ञान बुद्धि प्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥”

—चरक

अर्थात्—जो तत्त्वज्ञानी चिकित्सक ज्ञानबुद्धिरूप दीपक को लेकर रोगी की अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं करता, वह रोगों की चिकित्सा में सफल नहीं हो सकता। अतः चिकित्सा के जिज्ञासुओं को प्रथम शरीर और मन के रचना तथा उसके विविध प्रकृत व्यापारों तथा विकृतियों की जानकारी परमावश्यक है। शरीर की प्रकृत रचना तथा व्यापार इस लेख का प्रतिपाद्य विषय नहीं होने से उसका यहां संकेत कर देना ही पर्याप्त है। अस्तु।

चिकित्स्य पुरुष के निरूपण के पश्चात् चिकित्सा के सामान्य स्वरूप का कुछ विवेचन आवश्यक हो जाता है। हमारे आचार्यों ने रोगापनयन रूप तथा धातुसाम्य क्रिया स्वरूप उक्त चिकित्सा को उनके कर्मों तथा कर्मफलों के अनुसार सर्व प्रथम दो भागों में विभक्त किया है। यथा—



१—स्वस्थस्योर्जस्कर चिकित्सा को प्रतिषेधात्मक चिकित्सा (Prophylactic treatment), स्वास्थ्य विधान, स्वस्थवृत्त (Hygiene) भी कहते हैं। इस विधान में दो प्रकार के कार्य होते हैं। (१) शरीर को इस प्रकार बनाये रखना जिससे उसकी प्रकृति रक्षणी (Immunity) तथा जीवनी शक्ति (Vitality) अक्षुण्ण बनी रहे और उसके प्रकृत कार्य (Normal functions) अनवरत अबाधरूप से चलते रहें। यह कार्य स्वस्थ आहार विहार के अनुसरण से होता है। स्वस्थ आहार-विहार स्वास्थ्य प्रद होने से हमें सर्वदा आरोग्य प्रदान करता है और भावि रोगों से बचने की हम में क्षमता उत्पन्न करता है। यह कार्य हमें रसायन सेवन से सम्पन्न होता है। शरीर धातुओं के

लाभ का उपाय ही रसायन है। कहा भी है :—“लामो पायो हि शस्त्रानां रसादीनां रसायनम्।” अर्थात् हमारे शरीर के जो प्रशस्त (साम्यावस्था में स्थित) रस प्रभृति धातुयें हैं उनके लाभ (पुष्टि) के उपाय को ही ‘रसायन’ कहते हैं। इन उपायों से शरीरधातुओं की पुष्टि होती है जिनका फल हमें दीर्घायु के रूप में प्राप्त होता है। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में ऐसे अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं कि अमुक ऋषि ने अमुक रसायन के सेवन से दीर्घजीवन लाभ किया। जैसे—

“यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा ।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसायन विधिः पुरा ॥
न जरा न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च ।

जग्मूर्वर्ष सहस्राणि रसायन पराः पुरा ॥”

—चरक चि० १

इस प्रकार के अनेक रसायन के फलों का वर्णन संहिता ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं।

(२) दूसरे स्वस्थोर्जस्कर विधान को ‘वृष्य विधान’ कहते हैं। इस विधान में मनुष्य के पुंस्त्व शक्ति को परिपुष्ट एवं परिवृद्ध करने के उपाय वर्णित हैं। संसार को समृद्ध करने के लिये प्रजनन कार्य का अबाध रूप से चलते रहना भी आवश्यक है। यह कार्य मानव समाज में शुक्र और शोणित के ऋतु काल में शुद्ध गर्भाशय में संयोग से होता है। इसके लिये शास्त्रों में अलग विधान है। उक्त शुक्र और शोणित (रज) पुरुष तथा स्त्री के प्रजननेन्द्रिय द्वारा उक्त गर्भाशय में पहुंचता है। इनका निर्माण पुरुष और स्त्री के प्रजननावयवों में एक विशिष्ट स्थान पर होता है। जिस स्थान पर ये पुंबीज तथा स्त्री बीज निर्मित होते हैं उनका भी पोषण हमारे आहार रस से ही होता है। यदि उनका उपयुक्त रूप से पोषण न हो तो ये अवयव पोषण के अभाव में उक्त वीर्य तथा रज को बनाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। अतः उनका उपयुक्त पोषण होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रजननार्थ जब पुरुष और स्त्री मिथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं तब उनके परस्पर सम्पर्क में आने से काम प्रवृत्ति होती है और उस कामोत्तेजना से सम्पूर्ण शरीर से पोषक वीर्य रक्त द्वारा परिवाहित होकर उक्त प्रजननावयवों में प्राप्त होता है और उनका पुंबीज एवं स्त्री बीज के साथ मिल कर प्रजननेन्द्रिय द्वारा उपर्युक्त गर्भाशय मुख में क्षरण होता है। अतः इस पोषक शुक्र क्षय की पूर्ति करना भी आवश्यक होता है। साथ ही इस तथ्य पर भी ध्यान रखना चाहिये कि स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्पर्क मात्र से ही स्रुत कर्म सम्पन्न नहीं हो जाता। इस सम्पर्क में कामुकता एवं प्रहर्ष का होना भी परमावश्यक है। इस वृष्य विधान में उक्त तीनों प्रकार के कर्मों का वर्णन रहता है। अर्थात्—शुक्र-वर्धक, कामोत्तेजक तथा शुक्रोत्तक आहार और औषधों का

वर्णन इस विधान में होता है। मानव समाज में सन्तान हीन होना मनुष्य के लिये अति अपमानजनक माना गया है। शास्त्रकारों ने सन्तान हीन की निम्न प्रकार भर्त्सना की है:—

“अच्छाश्वचैकशाखश्च निष्फलश्च यथा दुमः।

अनिष्ट गन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातु सन्निभः।

निशप्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्यः पुरुषाकृतिः ॥”—च.चि.

अतः मानव समाज में मनुष्य का सन्तानवान् होना भी परमावश्यक है। इस वृष्य (वाजीकरण) विधान में मनुष्य को सन्तानवान् बनाने का विधान है। इस प्रकार स्वस्थोर्जस्कर चिकित्सा के (१) रसायन और (२) वृष्य (वाजीकरण) का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। इसका विस्तृत वर्णन पुनः यथा स्थान किया जायगा।

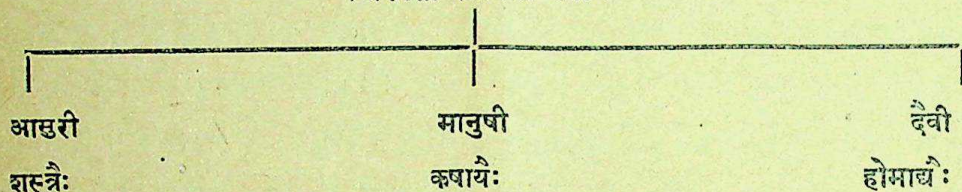
चिकित्सा का दूसरा विभाग आर्तनुत् है। इसे रोग निवारक, रोग प्रशमक, तथा रोगोन्मूलनात्मक चिकित्सा (Curative treatment) भी कहते हैं। यह चिकित्सा पुनः तीन विभागों में विभक्त किया गया है। (१) दैव व्यापाश्रय चिकित्सा, (२) सत्त्वावजय चिकित्सा और (३) युक्ति व्यापाश्रय चिकित्सा। इनमें दैव व्यापाश्रय चिकित्सा वह है जिसमें मणि, मंगल, बलि, उपहार, मंत्र, होम, जप आदि विधानों से रोग को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। ज्ञान-विज्ञान, धी, धैर्य, समाधि के द्वारा मन पर नियन्त्रण करने और अहित अर्थों से उसे बचाये रखने के विधान को सत्त्वावजय चिकित्सा कहते हैं। इस विधि पर आज-कल पाश्चात्य देशों में पर्याप्त अनुसन्धान हो रहा है। इसे मनोवैज्ञानिक चिकित्सा (Psycho-therapy) कहते हैं। (३) युक्ति व्यापाश्रय चिकित्सा वह है जिसमें आहार, औषध एवं अन्य बाह्य तथा आभ्यन्तरिक प्रयोगों द्वारा रोग शमन का उपाय किया जाय। इसको आत्रेय सम्प्रदाय वाले चिकित्सकों ने तीन प्रधान विभागों में विभक्त किया है जैसे—(१) अन्तः परिमार्जन, (२) बाहिःपरिमार्जन और (३) शस्त्र

प्रणिधान। धन्वन्तरि सम्प्रदाय वालों ने इसे चार भागों में विभक्त किया है। जैसे (१) आचार (Regiminal treatment) (२) आहार (Dietatic treatment) (३) संशोधन (Aliminative treatment) और (४) संशमन चिकित्सा (Palliative treatment)। इन दोनों सम्प्रदायों के विभागों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। केवल दृष्टिकोण

मात्र का भेद है। जो ऊपर के टेबुल से स्पष्ट हो जाता है।

पुनः उक्त सभी चिकित्सा विधानों को उनके कार्यों की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त किया गया था ऐसा प्रतीत होता है। जैसे—

चिकित्सा त्रिविधा मता।



(क्रमेणान्त्या सुपुजिता)।

यह विभाजन बौद्ध कालीन मालूम होता है। क्योंकि उस समय चिर-फाड़ (शस्त्र कर्म) के कार्य को निन्दित समझा जाता था।

चिकित्सा के सामान्य स्वरूप का दिग्दर्शन कर अब मैं पाठकों का ध्यान चिकित्सा के द्वितीय विवेच्य विषय पर आकृष्ट करता हूँ। वह है—

(२) व्याधि

यह शब्द (वि + आ + धा + कि विशेषेण आधीयते अभिनिवेश्यते प्रतिकाराय मनोऽनेनेति व्याधिः, बन्धने— 'शब्दस्तोम') बन्धन के अर्थ में व्यवहृत होता है। बन्धन में जब मनुष्य आ जाता है तब यह नाना प्रकार के दुःखों से घिर जाता है। इसी से चक्रपाणि ने इसका अर्थ करते हुए कहा है “विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः”। सुश्रुत में दुःख के संयोग को अर्थात् जब कभी पुरुष को दुःख का संयोग होता है तो उसे व्याधि कहते हैं। “तदुःख संयोगो व्याधय इति” (सुश्रुत सू० १)। योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जली ने दुःख को प्रतिकूल वेदना (तत्र प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्) कहा है। व्याधि का दूसरा नाम 'रोग' है। रोग शब्द 'रज्' धातु में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। 'रज्' धातु कष्टोत्पादन के अर्थ में आता है। इस

प्रकार व्याधि, दुःख, प्रतिकूल वेदना, और रोग ये सब पर्याय वाची हैं। इन्हें विकार, आमय, गद, आतंक, ज्वर और यक्ष्मा भी कहते हैं।

‘तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्को यक्ष्मा ज्वरो विकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्’ (चरक)। ‘आतंकः कृच्छ्रजीवने’ से आतंक शब्द रोग वाचक होता है। शरीर और मन को अन्यथा करने से विकार शब्द रोगवाचक होता है। गद शब्द भी रोग वाची है। शरीर और मनस्तापी होने से ज्वर भी रोग के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

आयुर्वेद में रोग की परिभाषा करते समय कहा है— “रोगस्तु दोष वैषम्यः” अर्थात् दोष वैषम्य (दोषों की विषमावस्था) ही रोग है। दोषों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कहा है—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्चतम एव च॥”

—च० सू० १-५७

अर्थात्—वायु, पित्त और कफ शरीर के दोष हैं और रज तथा तम मन के दोष हैं। ये वात, पित्त, कफ शरीर को दूषित करते रहने से दोष कहलाते हैं। इसी प्रकार रज और तम भी मन को दूषित करने से मानस दोष कहलाते

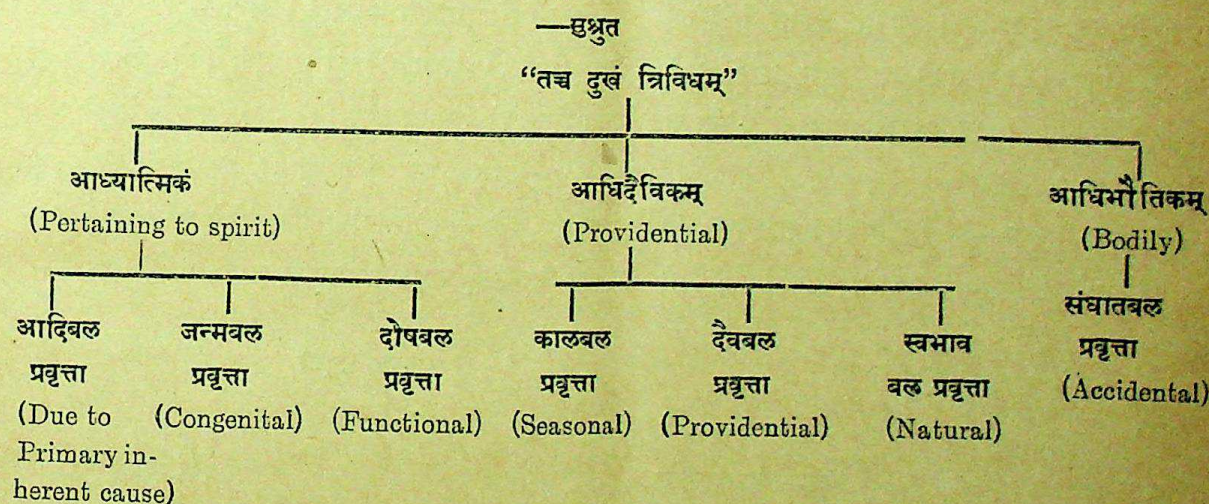
हैं। जब ये वात, पित्त, कफ अपनी समावस्था में अर्थात् प्रकृत रूप में रहते हैं तो शरीर को धारण करने से धातु कहलाते हैं और शरीर उस स्थिति में स्वस्थ या रोग रहित रहता है। कहा भी है “साम्यं प्रकृतिरुच्यते” अर्थात् दोषों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। स्वस्थ पुरुष के लक्षण में भी ‘सम दोषः’ कहा है। इसी प्रकार मानस दोष रज और तम भी जब साम्यावस्था में रहते हैं तो मन स्वस्थ एवं प्रकृत रूप में रहता है। चिकित्सा की परिभाषा में भी कहा गया है कि धातुओं को साम्यावस्था में लाने के उपाय ही चिकित्सा है। अतः धातु तथा दोषों की विषमावस्था का नाम रोग या व्याधि है।

व्याधि की सम्प्राप्ति

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।

यत्र संगः स्ववैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

अर्थात्—वात-पित्त-कफ ये शारीरिक दोष प्रकुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में जब परिभ्रमण करते रहते (दौड़ते रहते) हैं और जब जहाँ पर अपने वैगुण्यों के कारण उनका संग अर्थात् उनके परिभ्रमण में रुकावट हो जाती है तब वहाँ पर वे व्याधि उत्पन्न कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्याहार-विहार के कारण उक्त दोष जब अपनी प्रकृत अवस्था को छोड़ कर विकृत अवस्था में हो जाते हैं अर्थात् प्रकुपित हो जाते हैं तो वे उन्मार्ग गामी हो जाते हैं (क्योंकि ‘कोपस्तून्मार्ग गामिता’ ऐसा कहा है।) इस प्रकार ये उन्मार्ग गामी दोष सम्पूर्ण शरीर में दौड़ने लगते हैं। ऐसी अवस्था में जहाँ पर उनके अनुकूल परिस्थिति होती है वहाँ पर वे प्रसृत दोष अपने वैगुण्य से स्थान सम्बन्धी होकर व्यक्त हो व्याधि का रूप धारण कर लेते हैं। ये रोग या दुःख तीन प्रकार के होते हैं।



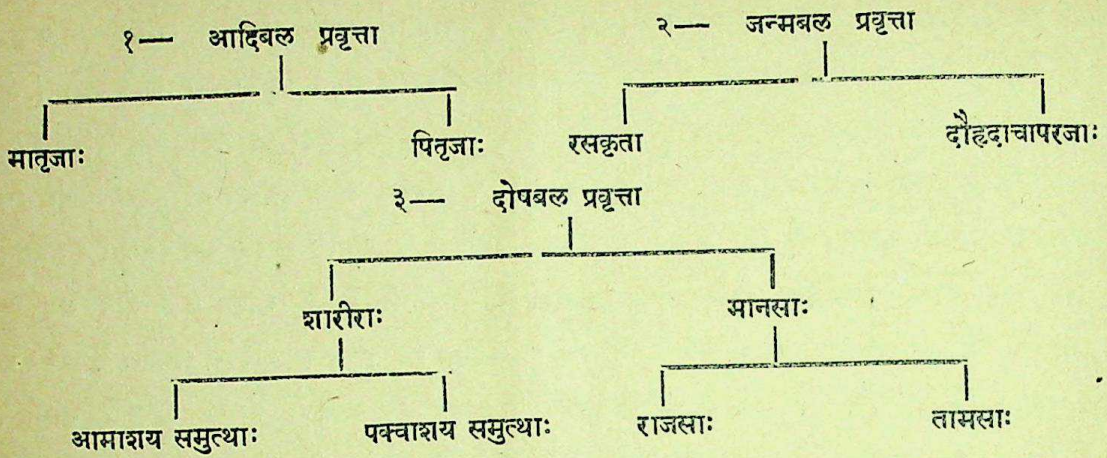
इस प्रकार आध्यात्मिक रोग तीन प्रकार के हुए (१) आदिबल प्रवृत्ता, (२) जन्मबल प्रवृत्ता और (३) दोष-प्रवृत्ता। ये तीनों पुनः दो दो प्रकार के होते हैं।

१—आदिबल प्रवृत्ता (Hereditary) जो शुक्रशोणित के विकार से उत्पन्न होने वाले कुष्ठार्शः प्रभृति हैं वे मातृज और पितृज के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

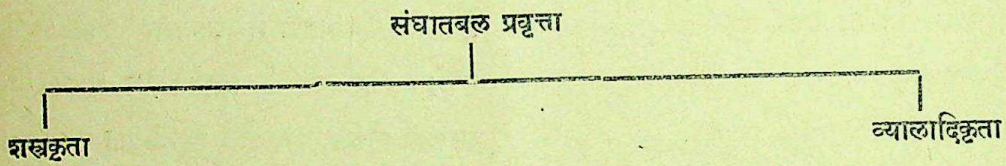
२—जन्मबल प्रवृत्ता (Congenital) जो माता-पिता के अपचार से पंगु तथा जाल्यन्ध प्रभृति होते हैं वे भी दो प्रकार

के हैं। जैसे—(१) रसकृता और (२) दौहदापचारकृता।

३—दोष बल प्रवृत्ता (Functional) भी शरीर और मानस के भेद से दो प्रकार के होते हैं। जो शरीर दोषों से उत्पन्न होते हैं वे शारीर व्याधि कहलाते हैं। पुनः ये भी (१) आमाशय समुत्था और (२) पक्वाशय समुत्था के भेद से दो प्रकारों में विभक्त हो जाते हैं। जो मानस दोषों से उत्पन्न होते हैं वे मानस व्याधि कहलाते हैं। ये भी पुनः (१) राजस और (२) तामस करके दो भागों में विभक्त हो जाते हैं।



४—संघात बल प्रवृत्ता (Accidental) आगन्तु व्याधियाँ हैं। ये भी पुनः दो प्रकारों में विभक्त हो जाते हैं।

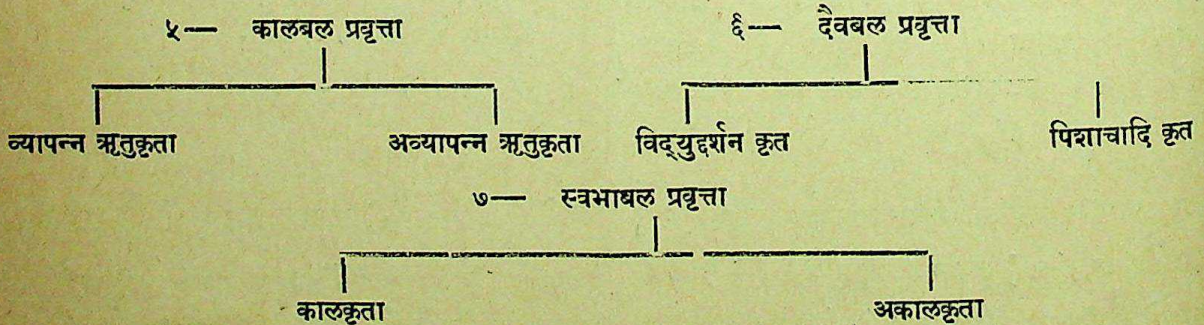


५—काल बल प्रवृत्ता—भी पुनः दो प्रकारों में विभक्त हो जाते हैं जैसे—(१) व्यापन्न ऋतु कृता और (२) अव्यापन्न ऋतु कृता। ये ऋतु कृत शीतोष्णवर्षा प्रभृति के कारण हुआ करते हैं।

६—दैवबल प्रवृत्ता—वे हैं जो देवता प्रभृति के अभिद्रोह एवं अथर्वकृत उपसर्गों के कारण होते हैं। ये भी

दो प्रकारों में विभक्त किये गये हैं। यथा—(१) विद्युद्दर्शन कृत और (२) पिशाचादि कृत। पुनः ये दो प्रकार के हो जाते हैं—(१) संसर्गज और (२) आकस्मिक के भेद से।

७—स्वभाव बल प्रवृत्ता भी दो प्रकारों में विभक्त हो जाते हैं जैसे—(१) कालकृत और (२) अकालकृत। भूख-प्यास-जरा-मृत्यु प्रभृति स्वाभाविक व्याधियाँ हैं। यथा—



इस प्रकार उपर्युक्त सातों प्रकारों में सभी व्याधियों का अन्तर्भाव हो जाता है। इन सात प्रकारों में प्रथम दो प्रकार जन्म के पहले के विकारों के कारण होते हैं अर्थात्

प्राग् जन्मज हैं (Antenatal), शेष पाँच जन्मोत्तर में होने से जन्मोत्तर कालीन (Postnatal) कहलाते हैं। आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने भी इस प्रकार का वर्गीकरण किया है।

(क्रमशः)

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते

१४—छात्रोपयोगी निदान चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

श्वास और हिक्का

आरम्भक दोष

श्वास और हिक्का दोनोंके कारण और दोष समान हैं। इसके आरम्भक दोष कफ और वात हैं। उनके भी उत्पत्ति-स्थान आमाशय आदि पित्त स्थान हैं।

संप्राप्ति

अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ वात प्राणवह स्रोतों में प्रविष्ट हो कुपित^२ होता है और कफ को भी कुपित कर उन स्रोतों को अवरुद्ध करके पाँच-पाँच हिक्काओं और श्वासों को उत्पन्न करता है^३।

१—देखिये च० चि० १७, सु० उ० ५०-५१; माधव-निदान; अ० ह० नि० ४। (हिक्का का पर्याय हिध्मा है)।

२—वायु के कोप (रोगजनन क्षमता) से होनेवाले जो विकार शास्त्र में परिगणित हैं, उनमें स्तम्भ अर्थात् संकोच-विकास के नाश (Spasm-स्पैज़म) का यहाँ ग्रहण है। अंग्रेजी में स्वतन्त्र मांस सूत्रों के स्तम्भ को 'स्पैज़म' तथा हाथ-पैर आदि की ऐच्छिक पेशियों के स्तम्भ को 'कॉन्ट्रैक्शन' (Contraction) कहते हैं।

३—कुपित दोष एक ही होनेपर भी उससे उत्पन्न रोग भिन्न-भिन्न होनेके अनेक कारणों में एक स्थानसंश्रय है। देखिये :

त एवाऽपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।

रूजावर्ण समुत्थान स्थान संस्थान नामभिः ॥

स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः।

स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥

—च० सु० १८।४२, ४५

निदान

धूलि, धूम (विभिन्न कारखानों के या बीड़ी आदि के धूम, तथा रासायनिक द्रव्यों-सोमल आदि-के बाष्प), वात, अग्नि, शीतस्थान, शीतशय्या या आसन, शीतजल, व्यायाम (श्रम), भारवहन, ग्रामधर्म (मैथुन), (अति), चलना, विष्टम्भी अन्न, रुक्ष अन्न, विषमाशन (स्वस्थवृत्तों के नियमोंके विपरीत भोजन), अध्यशन (एकवार भोजन

स्थान-भेद वश एक ही दोष से उत्पन्न रोगों की भिन्नता का उत्तम उदाहरण श्वास और हिक्का है। वात के प्रकोप से अपस्तम्भ (श्वासपथ) तथा उसकी शाखाओं के स्वतन्त्र मांस सूत्रों का स्तम्भ हो तो श्वास होता है, जब कि इसी कुपित वात के कारण महाप्राचीरा पेशी का स्तम्भ हो तो हिक्का होती है। इसी प्रकार तत्-तत् अवयव के मांस सूत्रों का स्तम्भवश अन्यान्य विकार होते हैं।

च० चि० १७।८८ तथा आगे श्वास के चिकित्सा-भेदार्थ दो भेद—कफाधिक एवं वाताधिक-वृत्ता कर कफाधिक की संप्राप्ति यह कही गयी है :

एते हि कफसंलब्ध गति प्राणप्रकोपजाः ॥

—च० चि० १७।१२०

अर्थात् सम श्वासक्रिया का कारणभूत प्राणवायु कफ से अवरुद्ध हो जाता है—कण्ठ मार्ग से निकल नहीं पाता। परिणामतया, उसकी वृद्धि होकर प्रकोप होता है, जिससे श्वास रोग होता है। सत्य यह है कि 'प्राणवायु का प्रकोप' श्वासमात्र की संप्राप्ति है। आयुर्वेदीय किंवा इतर वाङ्मय में प्राणवायु का अर्थ नासिका से बाहर निकलने वाला वायु-नव्यों का कार्बन डाइ ऑक्साइड ही है। (प्रमाण-संग्रह के लिए देखिये—शरीर-क्रिया-विज्ञान, बैद्यनाथ प्रकाशन,

करके उसके पचने के पूर्व पुनः कुछ खा लेना), आमदोष, आनाह (कब्ज), रुक्षता, अपतर्पण, अनशन, दौर्बल्य, मर्मपर आघात, द्वन्द्व, अति वमन-विरेचनादि संशोधन, अतिसार, ज्वर, वमन, प्रयिश्चाय, उरःक्षत, क्षय, रक्तपित्त, उदावर्त, विसूचिका, अलसक, पाण्डुरोग, विष, ये कारण वात को कुपित करके पूर्व प्रकार से श्वास और हिकका को उत्पन्न करते हैं ।

माष, तिलतैल, मिष्टान्न, विष्टम्भी अन्न, विदाही, गुरु भोजन, जलचर तथा आनूपों का मांस, दधि, दूध, अभिष्यन्दी अन्न, अन्य कफप्रकोपक आहार, विविध चिन्तन तथा कण्ठ और उर पर आघात या पीडन (दबाव) इनसे मुख्यतः कफका प्रकोप होकर श्वास और हिकका उत्पन्न होते हैं ।

कास में वृद्धि होकर भी श्वास होता है ।

हिककाके पूर्वरूप

कण्ठ और छाती में गुरुत्व, अरति, मुख की कषायता, कुक्षिका आटोप (वेदना-सहित आध्मान) ।

श्वासके पूर्वरूप

आनाह; पार्श्वशूल, हृदयपीडन (हृदय तथा छाती पर दबाव प्रतीत होना), प्राणों की व्याकुलता (घबराहट) ।

हिकका में कफयुक्त वायु से प्राणवह, उदकवह तथा अन्न-वह छोट अवरुद्ध होते हैं ।

हिकका तथा श्वासके भेद

महती, गम्भीरा, यमला, या व्यपेता, क्षुद्रा और अन्नजा ये पाँच हिकका के भेद हैं ।

अ० १८) । नव्य मत से भी कार्बन डाइ ऑक्साइड द्वारा श्वास-क्रिया तथा रक्तानुधावन के मस्तिष्क गत केन्द्रों को निरन्तर उद्दीपन (Stimulation-स्टिम्युलेशन) मिलता रहने से ही ये दो क्रियाएँ सम्यक् होती हैं । किसी कारण—यथा श्वास में मांस सूत्रों के सम्भवश-शरीर में यह वायु अधिक हो जाय तो उक्त केन्द्र सविशेष उद्दीप्त होकर श्वास क्रिया की दर में वृद्धि हो जाती है । इसी विकार को श्वास कहते हैं ।

महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, क्षुद्रश्वास और तमकश्वास ये श्वास के पाँच भेद हैं । तमक के ही दो भेद हैं : प्रतमक और संतमक ।

श्वासों के पृथक् लक्षण

महाश्वास—इसमें रोगी वायु की सवेग ऊर्ध्वगति के कारण, बाँधे गये मस्त साँड के समान, निरन्तर दीर्घ^१ और अति शब्द सहित^२ श्वास लेता है । श्वास के समय शरीर, विशेषतः छाती^३, आन्दोलित होती है । नाक से विशिष्ट शब्द होता है । श्वास-क्रिया के जानो दो भेद हो जाते हैं (प्रश्वास-उच्छ्वास पृथक्-पृथक् होते हैं) । इन कारणों से रोगी की श्वास-क्रिया दूर से ही दृष्टिगोचर होती है । इस स्थिति के कारण वह घबराया हुआ और दीन होता है । उसके मल, मूत्र, अधोवायु और ऊर्ध्ववायु अवरुद्ध होकर आनाह होता है । वाणी मन्द तथा कण्ठ शुष्क होता है । आँखें फिर जाती हैं । मुख तथा नेत्र शोथयुक्त एवं विकृत हो जाते हैं । कान, शङ्ख, शिर और पार्श्वों में तीव्र शूल होता है । चेतना तथा इन्द्रियों की शक्ति लुप्त हो जाती है ।

महाश्वास असाध्य है । इसमें शीघ्र मृत्यु होती है । (अन्य शब्दों में यह मृत्यु के समय होता है) ।

ऊर्ध्वश्वास—इसमें श्वास छोड़ने की (ऊपर ले जाने की) क्रिया दीर्घ (लम्बी) होती है, परन्तु लेने की संक्षिप्त । इसी से इसे ऊर्ध्व श्वास कहा है । छोटों के मुख (विवर) श्लेष्मा से आवृत तथा वायु से पीडित होते हैं । आँखें ऊपर चढ़ जाती हैं । रोगी घबराया-घबराया (बेचैन) चारों ओर देखता है^४ : मूर्च्छा और वेदना से पीडित होता है ।

१—Deep—डीप ; गहरा ।

२—Harsh sound—हार्श साउन्ड ।

३—Accessory muscles—एक्सेसरी मसल्स ; सामान्यतया श्वासक्रिया में जिनका उपयोग नहीं होता ; दीर्घ श्वास में ही जो काम में आती हैं, उन पेशियों का यहाँ ग्रहण है ।

४—Airthunger—एयरहंगर; इस स्थितिको कहते हैं ।

उसका मुख शुष्क होता है। वह रोता है। उसकी वाणी क्षीण हो जाती है। हृदय, वस्ति और शिर ये मर्म खिंचते हैं। रोगी को अन्धकार दिखाई दे या चेष्टाएँ नष्ट हो जायँ तो यह असाध्य होता है।

छिन्नश्वास—इसमें श्वास क्रिया विच्छिन्न (विच्छेद-विराम से युक्त) हो जाती है—रोगी बीच-बीच में श्वास छोड़ने के बाद कुछ देर रुक कर श्वास लेता है, परन्तु श्वास पूर्ण तथा ले नहीं सकता अथवा सर्वथा नहीं ले सकता। वह आनाह, स्वेद और मूर्च्छायुक्त होता है। उसकी वस्ति पर दाह होता है। उसकी आँखें फिर जाती हैं। वह अत्यन्त क्षीण होता है। उसकी एक आँख लाल होती है। मुख अत्यन्त शुष्क तथा वर्ण नष्ट होता है। वह प्रलाप करता है। हृदय वस्ति और शिर में छेदनवत् पीड़ा होती है। यह शीघ्र मारक है^१।

क्षुद्रश्वास—रुक्ष भोजन, अति भोजन, श्रम इन कारणों से कोष्ठगत वायु ऊर्ध्वगति करके क्षुद्र श्वास को उत्पन्न करता है। इसमें बहुत व्यथा तथा हैरानी नहीं होती। यह स्वयं शान्त भी हो जाता है। यह साध्य है^२।

तमक श्वास—श्वास नाम से यही प्रसिद्ध है। इसमें वायु प्रतिलोम होकर प्राण वह^३ आदि स्रोतों में प्रविष्ट होता है। तथा कफ को भी स्थान अष्ट कर देता है। परिणाम-तया, श्वास का अति तीव्र वेग होता है—प्राण का गमना-गमन अवरुद्ध हो जाता है; छाती स्तब्ध हो जाती है। वायु से अवरुद्ध हुए कफ के कारण गले में घुर्घुर ध्वनि तथा पीनस होता है। ग्रीवा और शिरका ग्रहण एवं अति तृषा, स्वेद और हल्लास होता है। श्वास क्रिया अति शब्द युक्त होती

है। खाँसते-खाँसते रोगी को अन्धकार-सा दिखाई देता है। इसी के कारण इसका नाम तमक है। जब तक कफ कूटता नहीं कास और श्वास का वेग अटकता नहीं। कफ निकलने के बाद ही क्षणिक शान्ति होती है। वेग के समय रोगी लेट नहीं सकता—उसे निद्रा नहीं आती। बैठने से ठीक रहता है। बोलना अशक्य होता है। कण्ठ में कण्ठ होती है। उष्ण वस्तुओं पर प्रीति होती है। अन्न पर रुचि नहीं होती। वेग एक समय में अनेक बार होता है। मेघ, वृष्टि, शीतकाल, पूर्वी वायु तथा कफ प्रकोपक आहार-विहार से यह बढ़ता है^१।

तमक याप्य है। नया हो तो साध्य भी है।

तमक के भेद—तमक में यदि ज्वर और मूर्च्छा हो तो उसे प्रतमक कहा जाता है। यह उदावर्त, धूलि, अजीर्ण

१—श्वास का अंग्रेजी नाम Asthma—अस्थमा प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तविक अस्थमा वही माना जाता है, जिसमें प्राण वह स्रोतों का स्तम्भ होता है। इसी से उसका संप्राप्ति-सूचक पर्याय—Spasmodic Asthma—स्पैज्मॉडिक अस्थमा—से व्यपदेश अधिक तर होता है। कास जन्य श्वास को अस्थमा न कहकर Bronchitis ब्रॉन्काइटिस ही कहते हैं। ईओसिनोफिल (Eosinophil) नामक क्षत्र (श्वेत) कणों की वृद्धि (ईओसिनोफिलिया-Eosinophilia) से होनेवाले श्वास को भी अस्थमा न कहकर (ईओसिनोफिलिया या ट्रापिकल (Tropical) ईओसिनोफिलिया कहते हैं। सोमल इसकी एकमात्र औषध कही जाती है। माना जाता है कि सर्गारम्भ से अब तक सोमल (या हरताल, या मनःशिला, जो सोमल के ही सामास है) के कल्पों से तथा-कथित श्वास से पीड़ित जो रोगी स्वस्थ हुए, वे वास्तव में ईओसिनोफिलिया से ही पीड़ित थे, श्वास से नहीं। (इस विषयक का विशेष विचार 'श्वास रोग और सोमल' लेख में—सचित्र आयुर्वेद, मार्च १९५१, पृ० ७८५-८ पर देखिये)। एक अन्य श्वासकृच्छ्र होता है जो पुरुष-विशेष में प्रोटीन-विशेष के विरोध (Allergy-एलर्जी) के कारण होता है। यह विकार भी अब 'अस्थमा' की कोटि से निकल गया है। आधुनिकों के किये श्वास कृच्छ्र के अन्य कारणों से हृदय—दौर्बल्य स्मरणीय है।

१—इसकी तुलना Cheyne-Stokes Respiration—चेइन स्टोक्स रेस्पिरेशन से की जाती है। इनके लक्षणों के लिए देखिये नन्य क्रिया शारीर के ग्रन्थ।

२—श्रम या अत्यशनादि जन्य क्षणिक वात प्रकोप से होने वाली 'हाँफ' को ही क्षुद्रश्वास कहते हैं।

३—अपस्तम्भ तथा उसकी शाखाएँ।

तथा वेगावरोध से होता है। इसमें पित्त का कोप विशेष होता है। अन्धकार से इसकी वृद्धि होती है। इसी में रोगी को अन्धकार विशेष दिखाई दे तो उसे संतमक कहते हैं।

दोष—क्षुद्र श्वास वाताधिक, तमक कफाधिक, छिन्न कफ वाताधिक होते हैं।

साध्यासाध्यता—क्षुद्र श्वास साध्य, तमक कष्टसाध्य एवं शेष तीन तथा दुर्बल को हुआ तमक असाध्य होते हैं।

हिक्राओं के लक्षण

महाहिका—यह तत्काल प्राण लेनेवाली है। इसमें पुरुष का मांस, बल, प्राण (उत्साह) और तेज क्षीण हो गये होते हैं। कफ सहित वात रोगी के कण्ठ में प्रविष्ट हो बार-बार, एक साथ एक, दो या तीन बार हिक्री उत्पन्न करता है। मर्म (हृदय, वस्ति और शिर) जानो पीड़ित हो जाते हैं। सारा शरीर हिल उठता है। ऊष्मा न्यून हो जाता है। संज्ञानाश, शरीर का स्तम्भ, स्मृतिनाश और अन्नपान के मार्गों का अवरोध होता है। नेत्र अश्रुयुक्त, शङ्ख स्तब्ध, तथा भ्रू (भौं) च्युत होते हैं। रोगी प्रलाप करता है।

गम्भीरा—यह भी तत्काल प्राणहर है। हिका नाभि या पकाशय से उठती मालूम होती है। शरीर सारा हिल उठता है तथा झुक जाता है। उच्छ्वास की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। छाती जर्जर, दोनों पार्श्व स्तब्ध और शूलयुक्त, शरीर क्षीण, मन दीन और ओष्ठ शुष्क होते हैं। इसमें अनेक प्रकार के उपद्रव होते हैं।

व्यपेता या यमला—इसमें कुछ-कुछ देर ठहर कर दो-दो वेग एक साथ होते हैं। अतः इसे यमला कहते हैं। भोजन जब पच जाय या पचने को हो तब इसके वेग (दौरे) होते हैं। अतः इसे परिणामवती भी कहा जाता है। इसमें आध्मान, अति तृष्णा, शिर और ग्रीवा का कम्प, प्रलाप,

विनाम^१, मुख में श्लोष, चैतन्याभाव, वमन, अतिसार, नेत्र फिरना और जृम्भा—ये लक्षण होते हैं।

क्षुद्रा—श्रम के कारण कोष्ठगत वात कण्ठ में आकर अल्पवेगयुक्त इस हिका को उत्पन्न करता है। श्रम से इसकी वृद्धि तथा खाने से^२ शान्ति होती है। इसमें विशेष व्यथा नहीं होती। यह साध्य है।

अन्नजा—एकदम अत्यधिक खानपान के कारण पीड़ित हुए कोष्ठगत वायु के कारण यह होती है। अति मादक मद्य से भी होती है। अथवा—भोजनोत्तर अतिश्रम, रोप आदि के कारण कोष्ठगत वायु के ऊर्ध्वगमन से भी यह होती है। इसमें विशेष कष्ट नहीं होता। खाने या पीने से शान्त हो जाती है^३।

साध्यासाध्यता

दोषों का संचय अत्यधिक हो; अनशन के कारण या रोगों के कारण पुरुष क्षीण हो गया हो, वृद्ध हो; अति ग्रामधर्मासक्त हो तो हिका तत्काल मारक होती है। यमला में प्रलाप, वेदना, तृष्णा और मूर्च्छा हो तो वह असाध्य होती है। रोगी अक्षीण, अदीन, स्थिर धातुओं और इन्द्रियों वाला हो तभी यमला साध्य होती है। शेष तीनों प्रायः असाध्य होती है।

श्वासो यकृति^४

दोषों के प्रकोप के अतिरिक्त कई रोगों के उपद्रव रूप में भी श्वास रोग होता है। यथा, राजयन्मा आदि में। इन रोगों में यकृद्विद्रधि^५ स्मरणीय है। यकृत् में हुई

१—आगे को कमर झुक जाना; Drooping attitude—डूँपिंग एटिट्यूड। पृष्ठवंश की यद्मा से हुए विनाम (Kyphosis—कायफोसिस) से यह भिन्न है।

२,३—प्रायः थोड़ी-थोड़ी देर पीछे जल के घूँट उतार कर हिका का सफल उपचार किया भी जाता है।

४—देखिये सु० नि० ६, २२, च० सू० १७, १०१।

५—Hepatic abscess हिपेटिक एब्सर्सेस। आयुर्विज्ञान ने यकृद्विद्रधिका प्रमुख कारण एण्टामीबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba Hystolytica) नामक जीवाणु कहा है।

१—Subnormal—सबनॉर्मल।

विद्रधि के स्पर्शाक्षम^१ होने से श्वास क्रिया में उसका पीडन सद्य नहीं होता। परिणामतया, श्वसन पूर्ण न होने के कारण प्राण वायु पूर्णतया बाहर न निकलने से उसकी वृद्धि और प्रकोप होकर श्वास होता है। झीहा की विद्रधि से इसी प्रकार उच्छ्वास^२ का अवरोध होता है।

व्यवहार में देखा गया है कि यकृत की विद्रधि से हिक्का भी होती है^३।

श्वासकी चिकित्सा

जैसा कि प्रारम्भ में कह आये हैं, प्राचीनों ने हिक्का तथा श्वास का निदान और चिकित्सा समान कहे हैं। आधुनिक दृष्टि से कहना हो तो प्रकुपित कफ-वात का महा-प्राचीरा पेशी (श्वास पटल) में स्थान संश्रय होकर उसकी कार्य-विकृति हो तो हिक्का तथा प्राणवह स्रोतों का स्तम्भ या पूरण हो तो श्वास होता है। यों आयुर्वेद में दोनों का स्थान भी एक ही कहा है। श्वासपटल^४ और प्राणवह स्रोत दोनों श्वसन (श्वास क्रिया) के प्रमुख अवयव हैं। अतः स्थान की एकता मानना भी बहुत दूषित नहीं है।

यह अन्य अनेक रोगों के अतिरिक्त प्रवाहिका विशेष (Amoebic dysentery अमीबिक डिसेण्ट्री) का कारण है। आयुर्वेद में इसका कारण मधुमेह तथा तत्-तत् कारणों से दोषों एवं रक्त का प्रकोप कहा है। इस विषय का सविस्तर उल्लेख सचित्र आयुर्वेद, अगस्त १९४६ (यकृत अङ्क) के पृ० ११८—२२ में देखिये।

१—Tender—टेण्डर।

२—निकलने वाला वायु।

३—हिक्का का कारण महाप्राचीरा पेशी में शोथ का संक्रमण है। कभी-कभी इस पेशी में छिद्र भी हो जाता है।

४—कोई महाराष्ट्रीय लेखक 'डायो फ्राम' (महा-प्राचीरा) के लिये इस शब्द का व्यवहार करते हैं। इसमें संज्ञा शब्दोचित स्वारस्य तो है ही, इस पेशी की क्रिया (श्वास) का तथा इसके (उदर के) छप्पर के सदृश आकार का भी बोध इससे होता है।—(पटलं छदिः—अमरकोष, द्वितीय काण्ड, पुरवर्ग, श्लोक १४ में पटल और छदिष् ये दो छप्पर या छत के पर्याय कहे हैं)।

कई बार श्वास कृच्छ्र उदरगत वृद्ध वात के श्वासपटल पर साक्षात् पीडन (दबाव) से भी होता है।

श्वास तथा हिक्का में प्रथम यह विचार करना पड़ता है कि रोगी तथा रोग वात प्रधान है या कफ प्रधान। जैसे, मधुर, सपिच्छ (तन्नुमान्) और मधु सदृश प्रमेह^१ का रोगी उपस्थित होने पर प्रथम विचार किया जाता है कि यह अपतर्पण^२ आदि कारणों से प्रकुपित हुए वात से उत्पन्न हुआ कि, संतर्पणादि कारणों से प्रकुपित हुए कफ से। दोष विचार का प्रयोजन यह है कि, प्रथम तो मधुर प्रमेह यदि कफजन्य हो—इक्षुमेह या शीतमेह हो—तो वह साध्य होता है^३। परन्तु वह वातज हो—क्षौद्रमेह (मधुमेह)^४ हो तो असाध्य होता है^५। दोष विचार का अन्य प्रयोजन दोष भेद के अनुसार चिकित्सा—भेद भी है। रोगी के कफ, मेद आदि क्षीण हों, वह रुक्ष, दुर्बल और वाताधिक हो, अपतर्पणादि वात-प्रकोपक कारणों का इतिहास हो तो रोग का आरम्भक (उत्पादक) दोष वात समझा जाता है।

१—Diabetes mellitus—डायो बिटीज मेलीटस।

२—Malnutrition—माल-न्यूट्रीशन।

३—यह मधुर, गुरु (कफकारक) भोजनों के अति मात्र सेवन से—यथा, मिष्टान्न, अधिक मात्रा में खा लेने से होता है। एक-दो दिन लङ्घन करने से या कालक्रम से स्वयं चला जाता है। मूत्र परीक्षा में प्रारम्भ में शर्करा दिखाई देती है, फिर नहीं। इसे अंग्रेजी में Nutritional Diabetes—न्यूट्रीशनल डायो बिटीज कहते हैं। एलोपैथी में भी इसे साध्य कहा है। कफज मधुर प्रमेहों—इक्षुमेह और शीतमेह—में नव्यमतानुसार भेद विचार्य है।

४—मधु और क्षौद्र (क्षुद्रा=मधुमक्षिका, उनका बनाया) पर्याय हैं। परन्तु चरक ने जिसे मधुमेह कहा है, सुश्रुत उसे क्षौद्रमेह कहता है। सुश्रुत प्रमेहमात्र की उस अवस्था को मधुमेह कहता है, जिसमें प्रमेह पिढकाएँ (Carbuncles—कार्बंकलस) निकल कर वह आसाध्य कोटि में पहुँच जाता है। सो दोनों में नाम-कृत भेद है, विवरण में नहीं।

५—यह मधुमेह नव्यमतानुसार मुख्यतः अनेन्याशय (Pancreas—पैन क्रियास) की विकृति से होता है।

परन्तु रोगी के कफ, मेद आदि धातु पुष्ट हों, रोगी स्निग्ध, बलवान् और कफाधिक हो एवं संतर्पणादि कफ-प्रकोपक आहार-विहार का इतिहास हो तो रोग का आरम्भक कफ है ऐसा समझा जाता है। श्वास और हिक्का में भी दोनों दोषों का विचार इसी पद्धति से करे। पित्त का अनुबन्ध होकर प्रतमक श्वास हो तो उसका भी निर्णय करे^१।

सामान्यतः हिक्का और श्वास दोनों रोगों में प्रथम स्रोतों में लीन और ग्रथित (चिपटे हुए) श्लेष्मा को विलीन—शिथिल—द्रवीभूत^२—करने के लिए स्निग्ध और लवण द्रव्यों से नाड़ी, प्रस्तर तथा संकर स्वेद करे^३। पश्चात् भात, दही, घी, माँसरस आदि कफ-वर्द्धक आहार कराके कफ की वृद्धि करे। अनन्तर वमन करावे।

१—श्वास और हिक्का में कफ वात की कारणता एवं दोनों रोगों में तत्-तत् दोष के प्राधान्य सम्बन्धी चरक के निम्न श्लोक सुन्दर; सरल और स्मरणीय हैं:

यदा स्रोतांसि संख्य, मास्तः कफ पूर्वकः।

विष्वग्गजति संख्यस्तदा श्वासान् करोति सः॥

चि० चि० १७।४५

स्रोतांसीति^१ प्रकृतत्वात् प्राणोदक वाहीनि। विष्वक्

सर्वतः॥

—चक्रपाणि

हिक्का श्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः।

कफाधिकस्तथैवेको रूक्षो बह्वनिलोऽपरः॥

—च० चि० १७।८८

२—Liquify—लिक्विफाई।

३—स्वेदोपयुक्त द्रव्यों से भरे पात्र में नलिका (नाड़ी)

लगा उससे स्वेद लेना (Steam-Bath—स्टीम बाथ) नाड़ी स्वेद कहाता है। ईंट, लवण आदि गरम कर उन्हें वस्त्र में रख कर उनसे स्वेदन (सेक) संकर स्वेद कहा जाता है। तथा खाट पर गरम धान्य आदि बिछा, ऊपर चादर डालकर उसपर रोगी को सुलाना प्रस्तर-स्वेद कहाता है। विस्तार के लिए देखिए—सू० चि० अ० ३२, च० सू० अ० १४, अ० सं० सू० अ० २६, अ० ह० सू० अ० १७ तथा काश्यप संहिता सू० अ० २३, तथा संक्षेप के लिए वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत द्रव्यगुणविज्ञान, उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड (परिभाषा खण्ड) पृ० १४०।४२।

वमन वात प्रकोपक न हो इस निमित्त पिप्पली, सैन्धव और मधु भी डाले। वमन से कफ की शुद्धि हो जाने से रोगी को स्वास्थ्य (सुख) अनुभव होता है; स्रोतों की विशुद्धि के कारण (प्राण) वायु की भी गति अप्रतिहत (अवरोध रहित) हो जाती है। (परिणाम तथा उसका प्रकोप और श्वास शान्त होता है।) वमन में दोष पूर्ण न निकला हो तो विभिन्न धूम दे।

वमनार्थ मदनफल-पिप्पली (मदनफल के बीज, जो कवच के अन्दर एक पिण्ड के रूप में रहते हैं) चतुर्थांश सैन्धव मिला १/२ तोला मात्रा में जल के अनुपान से दी जाती है। अधिक अच्छा प्रकार यह है। एक फल का चूर्ण २॥ तोले जल में एक बगटा भिंगो, पत्थर के खरल में घोट, कपड़े से छान उसमें मधु और सैन्धव मिला खाली पेट पिला दें। एक घण्टे में इससे एक-दो अच्छे वमन होते हैं। कभी-कभी वमन के पश्चात् विरेचन भी होते हैं^१।

बालकों के ज्वर-सहित या ज्वर-रहित कास-श्वास में^२ भी उक्तयोग वयोऽनुरूप एक से दो बाल (१ बल या बाल=

१—देखिये, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत द्रव्यगुण विज्ञान, उत्तरार्ध, द्वितीय खण्ड, पृ० २३४।

२—ज्वर-सहित कास-श्वास को अंग्रेजी में Broncho-pneumonia—ब्रॉन्को-न्यूमोनिया कहते हैं। यह बालकों और वृद्धों में होता है। हमारी ओर बच्चों के कास-श्वास के कारणानुसार निम्न भेद लोक-प्रसिद्ध हैं—

(क) डुमकी—इसमें पेट 'डुम' (स्तब्ध, आटोपयुक्त, आध्मात और अ-मृदु) होता है। विबन्ध और आध्मात (वायु की अप्रवृत्ति) इसके कारण हैं।

(ख) हुपेटा—इसमें श्वास निरन्तर रहता है। 'हुपेटा' या (गुजराती में 'स' के स्थान पर प्रायः 'ह' उच्चरित होने से) हुपड़ा छाज (संस्कृत शूर्प) के नाम हैं। निकटवर्ती तालाब से खेतों में पानी देना हो तो ग्राम-निर्मित साधन-विशेष का प्रयोग होता है। इसमें नीचे की ओर पानी उलीचने के लिये छाज लगा रहता है। जैसे यह छाज निरन्तर चलता रहता है, वैसे ही जिस श्वास में बच्चे की छाती अविराम चलती रहे उसे हुपेटा कहते हैं।

२ रक्ती) मात्रामें दें, किंवा कङ्कट^१ आधेसे एक वाल स्वतन्त्र अथवा तुल्यभाग सौभाग्य (फुलाया हुआ टङ्कण) के साथ दें। यह वमन, विरेचन किंवा वमन-विरेचन दोनों कराके कफ, मल और वात की शुद्धि कर रोगको शान्त करता है^२।

(ग) हगरी—इसमें बच्चा हगता ही रहता है।

(घ) करमी—यह 'करम' (कृमि) के कारण होता है।

(ङ) पाँखिया—इसमें पाँखों (पाँख, पसली) की पाँख (पक्षियों के पंखों) के समान गति होती है। इसके लिये उत्तम उपमा धौंकनी की है। हिन्दी में इसे 'पसली चलना' कहते हैं।

(च) ऊँघरी—इसमें बच्चा ऊँघता (सोता) ही रहता है। (यह प्रायः कृमि के कारण होता है)। सोये बच्चे के शिर पर ठण्डे जल की धारा छोड़ने से बच्चा तत्काल जाग जाता है। अपतन्त्रक और अपस्मार के वेगों में भी इस प्रकार धारा छोड़ना एवं मुख पर बलपूर्वक जल के छौंटे देना उपयोगी है। कभी-कभी अजीर्ण, परिकार्तिका आदि विकारों के वश दो-एक दिन बालक निद्रा लाभ यथायोग्य न किया हो तो भी वह स्वस्थ होने पर विशेष सोता है, यह स्मरण रखें। कभी अहिफेनादि भी निद्रा के कारण हो सकते हैं)।

(छ) ओकरी—इसमें बच्चा उलटी ही करता रहता है। (गुजराती में 'ओकवुं' का अर्थ वमन करना होता है)।

सब रोगों में जिसमें छाती के लक्षण अधिक हों उसे ससर्णा (प्राणवह चोतों में होनेवाले शब्द विशेष की अनुकृति-सण-सण-से यह संज्ञा रची गयी है) तथा जिसमें उदर के विकार (आध्मान, विबन्ध) अधिक हों उसे वराध कहते हैं। सबका एक नाम वावरी है।

१—उसारे रेवन्द; गुजराती में रेवञ्जीनो शीरो। यह हलका (अल्पमूल्य का) तथा अल्पगुण और कुछ मूल्यवान् पर अच्छा गुणवान् दो प्रकार का मिलता है। पिछले का उपयोग प्रशस्त है। इस ओर गुजरात में नडियाद के वैद्य जगन्नागजी की 'वराध की दवा' बच्चों के ज्वर-रहित या ज्वर-सहित श्वास-कास में घर-घर में प्रचलित है। यह भी वमन, विरेचन या दोनों करा के कफादि के शोधन द्वारा तत्काल स्वस्थता लाती है। इसमें प्रधान द्रव्य जयपाल कहा जाता है।

२—वमन के पूर्व स्नेहन तथा कफ वृद्धि न करने से,

रोगी यदि पित्त या दाह से पीडित, अति रक्तवान् या अति स्वेदयुक्त हो, क्षीण धातु और क्षीण बलवाला हो, रुक्ष, गर्भिणी या पित्तप्रकृति हो तो उक्त स्वेदन न करावे। परन्तु छाती तथा गले पर अल्पकाल के लिये स्निग्ध और शर्करायुक्त उत्कारिका^१ और उपनाह^२ स्वेद करे। उत्कारिका में तिल, अलसी, माप, गोधूम आदि वातहर द्रव्य और उनमें स्नेह क्षीर और अम्ल द्रव्य डाले।

श्वास में वात का अति प्रकोप हो तो रसोन आदि वातहर, नातिशीतोष्ण अभ्यङ्ग करे। उदावर्त और आध्मान में हिंगु, पीलु, विड (नवसादर) तथा अम्लवेतस से युक्त अनुलोमन (वात-मल प्रवर्तक) अन्न दे। मल ग्रथित हो, अधोवात की प्रवृत्ति न हो तो स्वादिष्ट विरेचन (मधुयष्ट्यादि चूर्ण), अभया आदि योग्य विरेचनों के साथ चित्रकादि वटी, रसोनादि वटी, हिंग्वटक इत्यादि वातानुलोमन कल्प देने से गुण होता है। द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण (हींग २ तो०, बचा ४ तो०, विडलवण या नौसादर ६ तो०, शुण्ठी ८ तो०, जीरा १० तो०, हरीतकी १२ तो०, पुष्करमूल १४ तो०, कुष्ठ १६ तो०), १॥ माशा की मात्रा में वाताधिक श्वास, अपतन्त्रक, अग्निमान्द्य, अपस्मार, हृदय तथा छाती में शूल आदि में उत्तम है^३। विबन्ध विशेष हो तो विरेचक

विशेषतया अपतर्पणादि पीडित पुरुषों (भिक्षु आदि) में रक्तपीवन (कफ के साथ रक्त पड़ना—Haemoptysis—हीमोप्टिसिस) किंवा रक्तवमन (आमाशय से रक्त आना—Haematemesia—हीमेटेमिसिस) होना सम्भव है। रक्तपीवन और उरःक्षत का परिणाम यक्ष्मा भी होना असम्भव नहीं।

१, २—उपनाह के लिये अंग्रेजी पुल्टिस शब्द प्रसिद्ध है। उत्कारिका उसीका भेद है। इसमें द्रव्य लपसी के समान कुछ शिथिल रखे जाते हैं।

३—हिंगु, बचा आदि के कारण तथा मल प्रवर्तक होने से द्विरुत्तर हिंग्वादि चूर्ण अपतन्त्रक और अपस्मार में उपयोगी है; विशेषतः पुष्करमूल और कुष्ठ के कारण श्वास में एवं विड, हरीतकी आदि के कारण याकृत पित्त का शोधक और शुण्ठी इत्यादि दीपन-पाचन द्रव्यों के कारण अग्निमान्द्य अजीर्ण आदि विकारों में उपयुक्त है।

योगों के साथ इसका उपयोग करे। सामान्यतया श्वास मात्र में अधोभागहरण (विरेचन) पर सदा ध्यान रखें। मल या वात की प्रवृत्ति से रोगी स्वास्थ्य (राहत) अनुभव करता है।

वात प्रधान, दुर्बल श्वास रोगियों का दशमूल आदि वातहर द्रव्यों तथा मांस रस से वृंहण करे। आहार में उभय प्रकार के रोगियों को कण्टकारी, कर्कट शृंगी^१ चित्रक, त्रिकटु, हिंगु, सौवर्चल, विड, पुष्करमूल, यवक्षार, भार्गी, वासा आदि से साधित, धृत्युक्त यूप का विधान प्राचीनों ने किया है। कण्टकारी की पोटली बनाकर उसके साथ मुद्रयूष की कल्पना कई प्रतिष्ठित वैद्य इन दिनों भी कराते हैं। संक्षेप में—

यत्किञ्चित् कफवातघ्नम् उष्णं वातानुलोमनम्।

भैषज्यमन्नं पानं च हितं तत् श्वासहिक्किनाम्॥

—च० चि० १७।१४७

—जो भी औषध, आहार या अनुपान कफ-वातघ्न^२

१—बाजार में सामान्यतया मिलनेवाली कर्कटशृंगी (काकड़ा-सींग) हरड़ की कोमल पत्तियों में एक प्रकार का कीड़ा लगने से बननेवाला कीटगृह (कीड़े का घर) होता है। यह वास्तविक कर्कटशृंगी नहीं। वास्तविक कर्कटशृंगी कक्कर नाम से हिमालय की तराइयों में प्रसिद्ध वृक्ष के पत्रों या पत्रवृन्तों पर कीट-विशेष द्वारा बनाये हुए शृंग के समान अन्दर से खाली और आम के कच्चे पत्तों के तुल्य गन्धवाले गृह का नाम है। (कक्कर कर्कट का ही अपभ्रंश है)। यह एक से तीन इञ्च लम्बी, आध से एक इञ्च चौड़ी, लाल-भूरे रंग की, भीतर से पोली और भंगुर होती है। इसीका व्यवहार कर्कटशृंगी नाम से करना चाहिये। देखिये द्रव्य-गुण विज्ञान, उत्तरार्ध, द्वितीय खण्ड, पृ० १५३-५४ तथा २०२।

२—कफघ्न, वातघ्न या पित्तघ्न उन द्रव्यों को कहना चाहिये जो अपने तत्तद्दोष विरोधी गुणों के कारण दोष को

उष्ण और वातानुलोमन हो वह श्वास और हिका में हितकारी है^३। जैसे बहता हुआ जल मार्गवरोध के कारण उछलता है वैसे कफ से मार्गवरोध के कारण वायु भी कुपित होता है और कास, श्वास और हिका के वेग उत्पन्न करता है। अतः उसके मार्ग को इन रोगों में सदा शुद्ध रखे।

कण्टकारी का कल्क एक आसले—जितना अर्धभाग हिंगु के साथ मधु के अनुपान से लेने से तीन दिन में श्वास नष्ट होता है, ऐसा सुश्रुत ने कहा है^२। टीकाकार ने भी इसे सिद्धतम योग कहा है। सांप्रत वैद्य बृहती-लवण नाम से कण्टकारी का खबहु उपयोग करते हैं। सांप्रत वैद्यों द्वारा कण्टकारी के यूप में उपयोग का उल्लेख ऊपर कर ही आये हैं^३। कफ को द्रवित कर निकालने में सुप्रचलित सौभाग्य की अपेक्षया बृहती-लवण अधिक उत्तम प्रतीत होता है।

(क्रमशः)

शरीर में ही नष्ट कर दें—उनका शमन करें। कफहर, वातहर तथा पित्तहर द्रव्य उन्हें समझना चाहिये जो तत्तद् मार्ग से कफादि का निर्हरण करें—उनका संशोधन करें। इस प्रकार ये कफहर आदि संज्ञाएँ क्रमशः नव्यों के Expectorant—एक्सपेक्टोरेंट, Carminative—कर्मिनेटिव तथा Cholagogue—कॉलेगॉग का पर्याय कही जा सकती हैं।

१—संहिताओं में उपर्युक्त तथा अन्य इन गुणोंवाले द्रव्यों से साधित अनेक धृतों का उपदेश किया गया है।

२—देखिये सु० उ० ५१-५५।

३—कण्टकारी (बृहती) कफहर होने के सिवाय मूत्रल भी है। पाश्चात्य चिकित्सा में, कतिपय द्रव्य जो मूत्रमार्ग से बाहर निकलने चाहिये वे न निकलें तो प्रसृत हो श्वास उत्पन्न करनेवाले कहे गये हैं। सो कफहर, वातघ्न (दशमूल का एक अङ्ग) एवं मूत्रल होने से कण्टकारी की श्वास पर क्रिया स्पष्ट देखी जा सकती है।

मूषिक-विष

(Rat-bitepoison)

वैद्य कृष्णप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य बी. ए.

हमारा ख्याल है कि संसार में समस्त विषैले प्राणियों से जितनी हानि मनुष्यों की होती है, उससे कई गुना बढ़कर हानि चूहों से होती है। अन्य विषैले प्राणी तो केवल शारीरिक हानि ही करते हैं, किन्तु चूहा शारीरिक भयंकर हानि के साथ ही साथ आर्थिक हानि भी पहुँचाता है। रूई के गोदाम में आग लगा देना (ये कभी-कभी जलते हुए तिनकों को रूई के गोदाम में ले जाते हैं), घर के कपड़े वगैरह सामानों को तहस-नहस कर देना, मकानों की नींव में छेदकर उन्हें कमजोर बना देना, पक्के तालाबों में छेदकर पानी को बहा देना आदि कई प्रकार की आर्थिक हानि चूहों द्वारा अज्ञात रूप में होती है।

अस्तु, हमें यहाँ पर उनके विषजन्य शारीरिक हानि की विवेचना करनी है।

प्लेग रुपी जनसंहारक भयंकर रोग, जिसमें अन्य विषधर प्राणियों के विष की अपेक्षा कोटि गुणा अधिक जन-संहार होता है। इन्हीं चूहों की कृपा से सर्वत्र प्लेग फैलता है। अपने प्लेग शोषक निबन्ध में हम विस्तारपूर्वक लिखेंगे। प्लेग के अतिरिक्त कौन-कौन से भयंकर विकार मूषिक विष से होते हैं, केवल उनकी ही विवेचना इस लेख में की जावेगी।

संसार में जो कतिपय रोग मनुष्यों में देखे जाते हैं, उनका कारण परम्परा का पता लगाने पर मालूम होगा कि विप्रकृत कारणों में से सब से महत्त्व का कारण मूषिक विष ही है। सर्पादि विषैले जीव तो केवल काटकर या डंक मार कर ही अपने विष को शरीर में प्रवेशित करते हैं, किन्तु चूहा पाँच प्रकार से विष को मनुष्यादि प्राणियों के शरीरों में फैलाता है।

“शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नखस्तथा ।
दंष्ट्राभिर्वा क्षिपन्तीह मूषिका पंचधा विषम् ॥”
अर्थात् चूहों के दाँतों में, नखों में, वीर्य में, मल और मूत्र में विष होता है। शरीर के जिस स्थान पर ये दाँतों से काटते हैं या नखों से कुंठते हैं, वहाँ से उनका विष शरीर के अन्दर प्रविष्ट हो रक्त को विकृत कर देता है। चूहों का वीर्य, मल या मूत्र में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से लग जाने पर भी उनका विष शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। कहा भी है—

“शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्र घृष्टः स्पृशन्तिवा ।
नख दन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति ॥”

—सुश्रुत

सुश्रुताचार्यजी का कथन है कि प्रत्यक्ष इनके शुक्रादिक शरीर पर लग जाने से तो विष का विस्तार शरीर में होता ही है। किन्तु इनका विष इतना प्रखर और जाज्वल्य होता है कि यदि घर की किसी भी वस्तु में उनका वीर्यादि लग जाय और उस वस्तु का स्पर्श हमारे शरीर से हो जाय तो बस उनका विष शरीर में प्रविष्ट हो रक्त को दूषित कर देता है।

भला अब बताइये कि हम चूहों के विष से कैसे अपनी रक्षा कर सकते हैं? ऐसा शायद ही कोई घर हो जहाँ चूहों का साम्राज्य न हो। इनका परिवार भी दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि करते ही जाता है।

घरेलू चूहा वर्ष में कोई ८ बार बच्चे देता है, एक बार में लगभग १० बच्चे जनता है। इस हिसाब से चूहे का एक जोड़ा वर्षभर में ८० चूहों को पैदा करता है। और

प्रत्येक चूहा जब ३ या ४ मास का हो जाता है, तब बच्चे पैदा करने में समर्थ हो जाता है।

इस प्रकार एक जोड़े से इनकी पैदाइश का हिसाब लगाने पर मालूम होगा कि ३ वर्ष में ४०६८०६४६० इतनी इनकी औलाद घर में बढ़ जाती है। तब भला हम इनके विष से कैसे सुरक्षित रह सकते हैं।

यही कारण है कि हमारे प्रतिशत २५ से भी अधिक भाई-बहन रक्त दूषित जन्य रोगों में फँसे हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

रक्त दूषित जन्य रोगों का विस्तारपूर्वक विवेचना करना कुछ सरल कार्य नहीं है। एक बड़ा भारी पोथा इस पर रचा जा सकता है। संक्षेपमें यहां इतना ही दर्शाये देते हैं कि शरीर में गाँठें पड़ जाना, हाथ-पैरों में सूजन, शरीर में दर्द पड़ जाना, कर्णिका या कमलगट्टा के आकार की गाँठें प्रायः गले में या बगल में या रगों में होना, संधियों में पीड़ा, सूँझा, अंग का स्तम्भन, ज्वर, अरुचि, दुर्बलता, श्वास, वमन, रोमहर्षण, शरीर का पीलापन, बधिरता, मुख या नाक से रक्तस्राव, मूसे के समान शरीर में लम्बी-लम्बी ग्रन्थियाँ होना, अग्निमांद्य, दाद, खाज, चकत्ते, फुंसियाँ, सिध्म (बनरफ) आदि १८ प्रकार के कुछ, मुख, जीभ, होठ, हाथ-पैर आदि का फटना, मसूरिका, विसर्प एवं अनेक प्रकार के चर्मरोग, नेत्ररोग आदि रक्त के दूषित होने से उत्पन्न हो जाते हैं।

सुश्रुताचार्यजी ने १८ प्रकार के चूहों की गणना एवं उनके पृथक्-पृथक् लक्षणादि का उल्लेख किया है। विस्तार-भय से हम यहाँ नहीं लिखते किन्तु, खेद के साथ इतना जरूर कहेंगे कि आजकल बड़े-बड़े विषों के प्रतिकारार्थ जितना शोध लगाया जाता है तथा उनके विषय में जितना कुछ लिखा और पढ़ा जाता है, उसका शतांश भी शोध या लिखा-पढ़ी मूषिक-विष के बारे में नहीं होती है। कारण क्या है?

कारण यही मालूम होता है कि या तो हम मूषिक-विष

के अयंकर परिणामों से अनभिज्ञ हैं। अथवा हम घुल-घुल कर मरना पसंद करते हैं वनिस्वत तड़ाक-फड़ाक मरने के।

सर्पादि जन्य विष या अन्य विष मनुष्य को तुरन्त ही काल के गाल में भोंक देते हैं तथा मूषिक विष अपना वही कार्य धीरे-धीरे करता है। इसी से हम उसकी अवहेलना या दुर्लक्ष्य करते हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने इसके विषय में जितना कुछ लिखा है, उससे अधिक आज तक नहीं लिखा गया है। अस्तु,

मूषिक दंश प्रणाली—चूहा क्रूर सर्प या बावले कुत्ते के जैसा दौड़कर नहीं काटता, वह तो अपना दंश-कार्य बड़ी युक्ति के साथ करता है। जब हम घोर निद्रा की अवस्था में होते हैं, तब चूहा धीरे से शरीर के किसी भाग में विशेषतः हाथ-पैर की उँगली के पास आकर प्रथम सूँघता और फूँक मारता है। उसकी फूँक या मुख की लार के स्पर्श से हमारे शरीर का वह भाग बधिर हो जाता है, फिर वह वहाँ पर चाटता है। सूँघने, फूँकने, चाटने के पश्चात् ही वह काटता है। इतनी क्रियाएँ हो जाने पर भी हम जागृत नहीं होते। यदि नींद कच्ची हुई तो जाग भी जाते हैं, और देखने लगते हैं कि किसने काटा।

काटनेवाला तो अपना कार्यकर तुरन्त रफू-चकर हो जाता है। हम देखते हैं कि दंश स्थान में थोड़ा रक्त आ गया है।

ध्यान रहे, चूहे का दंश विशेष गहरा नहीं होता, किन्तु रक्त में विष के मिश्रण के लायक काफी गहरा होता है। इसके दंश की पीड़ा कुछ नहीं के बराबर ही होती है। हम ख्याल कर लेते हैं कि किसी चिऊँटे ने काटा होगा, उसकी उपेक्षाकर फिर चादर तानकर सो जाते हैं।

मूषिक विष का कार्य :—शरीर के अन्दर रक्त मार्ग से प्रवेश हुआ यह विषरूप-से अपना कार्य करता है। किसी-किसी चूहे का विष दो सप्ताह के अन्दर ही अपने कार्य को बाहर प्रगट करने लग जाता है, किसी-किसी का तो सप्ताह के पश्चात्।

जहरीले चूहे के काटने पर (जैसे सर्प विषैले नहीं होते तैसे ही सब चूहे विषैले नहीं होते, किन्तु उक्त प्रकार से काटने वाले चूहे प्रायः विषैले ही होते हैं) दंशस्थान से फ्रीका रक्त स्राव होता है, शरीर पर चक्राकार मंडल उठते हैं, ज्वर आता है, अरुचि, रोम हर्ष, दाह, मूर्च्छा, शरीर पर सूजन, शरीर का रंग बदलना, क्लेद, बधिरता, सिर में भारीपन, मुख से लार का स्राव होना, रक्त की वमन आदि लक्षण होते हैं। वाग्भट्टाचार्य जी कहते हैं कि—मनुष्य के अंग पर जहां चूहे का वीर्य गिरता है या स्पर्श होता है, उस स्थान का रक्त दूषित होकर फ्रीका-सा हो जाता है तथा वहाँ पर ग्रन्थि, सडान, चकत्ते होते हैं। फिर उसे भ्रम आने लगते हैं, शीतज्वर, अरुचि, अत्यन्त वेदना, ग्लानि, कंप, हड्डीतनसी वेदना, रोमांच, रक्तस्राव, मूर्च्छा, तथा वमन (के) में चूहे के बारीक-बारीक बच्चे से कफ में सने हुये कफ में निकलते हैं। प्यास बार-बार खूब लगती है। ये विकार कई दिनों तक जारी रहते हैं। चूहे का विष सर्वशरीर व्यापी एवं कष्ट साध्य होने से बार-बार कुपित होता रहता है। जब-जब कुपित होता है, तब-तब उक्त लक्षणों में उग्रता आती है।

मूर्च्छा, शोथ, विवर्णता, लसीका या लालास्राव, बधिरता ज्वर, सिर भारी होना, रक्त की वमन इन लक्षणों से जानना चाहिये कि विष असाध्य कोटि का है।

तथा :—

शूनवस्ति विवर्णोष्ठमाख्याभैर्ग्रन्थिभिश्चितम् ।

छुच्छुन्दर सगन्धं च वर्जयेदासुदूषितम् ॥

—वाग्भट

जिस रोगी का वस्ति प्रदेश सूज गया हो, ओष्ठ (होठ) का वर्ण बदल गया हो (होठ बिलकुल काले पड़ गये हों) जिसके शरीर पर लम्बी २ चूहों जैसी ग्रन्थियाँ निकली हों, और जिसके शरीर से छुच्छुन्दर की गंध जैसी गंध आने लगी हो, ऐसा रोगी असाध्य होता है।

लक्षणों के विषय में विशेष द्रष्टव्य यह है कि दंश स्थान

में शीघ्र ही सूजन आती है, तथा वह भाग प्रायः लालवर्ण का हो जाता है। सूजन में पीड़ा भी होती है। शरीर में दाह, घबराहट (बेचैनी) होती है।

चूहे के विष के ये तीव्र लक्षण प्रायः मास-दो मास में स्वयं ही शान्त हो जाते हैं, किन्तु शोथ प्रायः जैसे की तैसी ही बनी रहती है। कुछ काल बाद वह सूजन कड़ी पड़ जाती है। मृषिक विष की विलक्षणता यही है कि रोगी को कुछ समय के लिये ऐसा मालूम होता है कि शरीर में कोई विकार नहीं है ; किन्तु कुछ दिनों बाद ही उक्त तीव्र लक्षणों से वह व्याकुल हो जाता है। यह क्रम कई वर्षों तक जारी रहता है।

आधुनिक शोध से केवल इतना ही पता लगा है कि रोगी के रक्त में जो मृषिक विष जंतु होते हैं, उनका आकार प्रकार उपदंश (Syphilis) के जंतु जैसा ही होता है। जो जल्दी नष्ट होना नहीं जानते। अतः उपदंश जैसा ही यह मृषिक विष विकार चिरस्थायी होता है। तथा उपदंश की ही चिकित्सा इस पर उत्तम लाभप्रद होती है। किन्तु यह शोध हमारे लिये नवीन नहीं है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने अपने स्वानुभव से इसी प्रकार की चिकित्सा विधि का आदेश दिया है। हमारे आर्य वैद्यक में इस पर वमन, विरेचन रक्तमोक्षण आदि की विधि दर्शाते हुए सिद्धौषधियों में से मल्ल सिंदूर, उपदंशसूर्य, मल्ल भस्म, गंधक रसायन आदि में उन्हीं औषधियों की उपयुक्तता बतलाई गई है जो उपदंश पर भी लाभप्रद होती हैं।

दोषों की प्रधानता :—मृषिक विषका चिकित्सा क्रम जानने के पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि इसमें किस दोष की प्रधानता हुआ करती है। वाग्भट जी का कथन है कि जहरीले चूहे प्रायः कफ प्रधान हुआ करते हैं।

अर्थात् इनका विष भी प्रायः कफ प्रधान हुआ करता है, इसीसे कफ के संचय और कोप के समय अर्थात् हेमन्त और वसन्त ऋतु में (वर्षा से वसन्त तक कारण के अनुसार) मृषिकविष का कोप (जोर) अधिकता से होता है। लिखा भी है :—

मूषिकानां विषं प्रायः कुप्यत्यध्रेषु निर्हृतम् । —सुश्रुत और—

यथा यथं वा कालेषु दोषाणां वृद्धि हेतुषु । —वाग्भट अर्थात् शरीर में व्याप्त हुआ चूहे का विष बदली के दिनों में प्रायः कुपित होता है, अथवा दोषों की वृद्धि के हेतु के अनुकूल यथायोग्य समय में इसका कोप होता है ।

मूषिकविष एक प्रकार का दूषी विष है, जो कारण पाकर बीच बीच में जोशीला हो उठता है । इसके विशेष कारण इस प्रकार हैं ।

प्राग्वाताजीर्ण शीताभ्र दिवास्वप्नहिताशनैः ।

दुष्टं दूषयते धातूनतोदूषीविषं स्मृतम् ॥

अर्थात् पूर्व दिशा की हवा के लगने से, अजीर्ण से, शीतकाल या सरदी लगने से, दिन में सोने एवं अहित भोजन करने से तथा वर्षा के दिनों में विष कुपित होकर रक्तादि धातुओं को दूषित करता है । अतएव शरीर में स्थित होकर काल पाकर कुपित होनेवाले विष को दूषी विष कहते हैं ।

यद्यपि मूषिक विष साधारण रूप से कफ प्रधान होता है परन्तु विशेषतः मूषकों की जाती भेद के कारण या देश काल, प्रकृति, आहार-विहारदि के अन्तर से इसमें अन्यान्य दोषोंका उद्भेद एवं प्रधानत्व होना बहुत संभव है । तथा उपद्रव भी उनमें से प्रधान दोष के अनुसार ही होते हैं ।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं । विषैले मूषिक प्रायः श्लैष्मिक होते हैं किन्तु इन जहरीले चूहों में भी कई जाति के चूहे अन्य दोषों को भी कुपित करने वाले होते हैं ।

अरूणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान् ।

महा कृष्णेन पित्तं च श्वेतेन कफ एव च ॥

महता कपिलेनासृक् कपोतेन चतुष्टयम् ।

अर्थात् अरुण या लालवर्ण वाले मूषकविष से रक्त में वायु का दोष होकर कुपित होता है तथा वात सम्बन्धि विकारों को करता है । अत्यन्त कालेवर्ण वाले मूषिकविष से रक्त में पित्त दोष को दुष्टी होकर पित्तजन्य विकारों की

प्रधानता रहती है । श्वेत वर्ण वाले चूहे के जहर से रक्त में कफ का प्रकोप होकर कफोत्पन्न विकारों की प्रबलता होती है । महाकपिल वर्ण पीतयुक्त श्वेत वर्ण के चूहों का विष रक्त को विशेष प्रकुपित करने वाला होता है । कपोत वर्ण अर्थात् धूसर वर्ण वाले चूहों के जहर से रक्त सहित तीनों दोषों का कोप होता है । अतएव जहाँ जैसे विष से जिस दोष का प्रकोप हो तथा जैसे उपद्रव हो तदनुसार ही चिकित्सा करनी चाहिये ।

चिकित्सा

इस विषय में “वैद्य कल्पतरु” में एक बार प्रकाशित हुआ था कि चूहे के विष का निदान निश्चित किये बाद भी उपचार में कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं ।

मूषिक विष के लक्षण वातरक्तरोग से मिलते जुलते से होते हैं । वातरक्त में जिस प्रकार शरीर पर चक्र के आकार उठ आते हैं, ऐसे ही चक्राकार मंडल मूषिक विष में भी होते हैं । विसर्प और उपदंश में भी ये ही लक्षण होते हैं ।

अतः सन्देह होता है कि ये विकार मूषिक विषजन्य ही हैं या वात रक्त के हैं या विसर्प के हैं, या उपदंश के हैं ।

दंश के स्थान का शोथ रक्त वात के शोथ जैसा होता है । इस रोग से ग्रस्त रोगी जब अस्पताल में डाक्टर के सामने जाता है, तब वे सूजन पर टिचर आयोडीन लगाकर उसे विदा कर देते हैं । रोगी चूहे के काटने की शिकायत भी करे तो उसकी शिकायत की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता ।

वे तो अपनी परिपाटी के अनुसार चाहे जिस कारण से शोथ हो, टिचर आयोडीन लगाकर छुट्टी पा जाते हैं, चाहे उधर रोगी की पीड़ा घटे या बढे उसकी उन्हें कोई परवाह नहीं ।

हमारी मान्यता है कि टिचर आयोडीन मूषिकविष जन्य शोथ पर कदापि लाभकारी नहीं हैं, प्रत्युत हानिकारक है ।

कई केस इस प्रकार बिगड़ जाने पर डाक्टर लोग ऐसे अभिप्राय पर आ जाते हैं कि रोगी के हाथ-पाँव काट

डालने चाहिए और तदनुसार रोगी के हाथ पाँव व्यर्थ ही में काटे जाते हैं। रोगी भी समझ लेता है कि खैर हाथ पाँव कटने पर प्राण तो बचेंगे। किन्तु यह सौदा उसे बड़ा संहंगा पड़ जाता है। मूषिक विष सर्व शरीर में व्याप्त हो जाने के कारण वह शरीर के दूसरे भागों में बड़े जोश के साथ उभर कर, रोगी के अमूल्य प्राणों को हरण कर लेता है। अस्तु—

मूषिक विष के केस में स्थानिक उपचार के रूप में दशांग लेप का उपयोग विशेष लाभकारी पाया गया है। दशांग लेप की दवा निम्न लिखित है—

सिरस की छाल, मुलेठी, तगर, लाल चन्दन, इलायची, जटामांसी, हल्दी, दाह हल्दी, कुठ और सुगन्धवाला। सब द्रव्य समभाग लेकर महीन चूर्ण कर मूषिक विष जन्य शोथ पर हम गुलाब जल में बाँट कर लगाते हैं। घृत के साथ लगाने पर शीघ्र ही लाल सूजन अदृश्य होकर, जलन और पीड़ा भी दूर हो जाती है।

खाने के लिये रोगी को शार्ङ्गधरोक्त महायोगराज गुग्गुलु का सेवन पाटला मूल की छाल के क्वाथ के साथ दोनों समय कराना चाहिये। किन्तु असाध्य-अवस्था में कोई भी इलाज कारगर नहीं होता। इस विषय में लेखक ने अपना अनुभव वैद्यक कल्पतरु में प्रकाशित कराया था, वही अविकल रूप से यहां पाठकों के लाभार्थ उद्धृत किया जाता है।

लगभग १ वर्ष के पहिले सूरत के एक जैनी गृहस्थ को यही मूषिक विष जन्य विकार हुआ था, सारे शरीर का रक्त बिगड़ गया था, तथा शरीर में अतिशय पीड़ा थी। कई प्रकार के इलाज करने से तथा विकार भी बहुत पुराना हो जाने से रोग कुछ दब-सा गया था।

तथापि शरीर पर विवर्णता बधिरतादि लक्षण स्पष्ट दिखलाई देते थे। इस से हमने ख्याल किया कि उसके शरीर में प्रविष्ट हुआ मूषिक विष नष्ट नहीं हुआ है। किन्तु रोगी कहता था रोग बिलकुल दूर हो गया है। खैर, हमने कहा ठीक है। थोड़े ही दिनों बाद उन्हें अकस्मात् ठोकर

लग गई। पैर में भयंकर शोथ हो गई। पुनः हमारी उनसे मुलाकात हुई। स्थिति असाध्य देखकर हमारे प्रथम किये निदान का पूरा विश्वास हुआ। वहीं के एक डाक्टर उस पर बार-बार चीर-फाड़ (आपरेशन) करते थे। पट्टियाँ बाँधते थे, तथा कारबोलिक आईल और आयडोफार्म मुक्तहस्त से बर्ते जाते थे। किन्तु डाक्टर साहब को लेशमात्र भी श्रांति न थी की रोगी के शरीर में चूहे का विष है।

चूहे के विष की ओर डाक्टरों का बहुत ही कम ध्यान जाता है, अतः उस विष से रोगी के शरीर का रक्त कितना बिगड़ जाता है, तथा उसका पश्चात् अंसर (After effects) कहाँ तक गुप्त रहता है। यह बात उपचारक के ध्यान में नहीं आती। अन्त में उक्त रोगी कई दिनों तक असाध्य दुःख दायक अवस्था में रहकर परलोक सिंघार गया। अस्तु।

चिकित्सक एवं रोगी को भी यह भलीभाँति स्मरण में रखना चाहिये कि औषधि प्रयोग से शारीरिक विष के लक्षण दूर हो जाने पर भी चूहे का विष समूल नष्ट हो गया ऐसा कदापि नहीं समझ लेना चाहिये।

महायोगराज गुग्गुलु का सेवन, पाटला (पाड़ या पहाड़ मूल) की जड़ की छाल के क्वाथ के साथ अथवा मंजिष्ठादि क्वाथ के साथ कराते ही रहना चाहिये तथा खान-पान में विशेष सावधानी रखनी चाहिये। खटाई, मिर्च, गरमपदार्थ एवं उत्तेजक पदार्थों से सख्त परहेज रखना आवश्यक है।

मूषिक विष प्रतिकारार्थ अन्यान्य योग

सर्व साधारण के लाभार्थ हम यहां पर और भी उत्तमोत्तम प्रयोग प्रकाशित किये देते हैं, जो मूषिक विष के संहार में अक्सीर हैं।

(१) अंकोल की जड़ की छाल को बकरी के मूत्र के साथ पीसकर यथायोग्य प्रमाण में, नित्य दो बार खिलाने से तथा इसी का लेप करने से शीघ्र ही सर्व प्रकार के चूहों का विष नष्ट हो जाता है।

(२) शुद्ध हरताल, कमल के फूल, और शुद्ध मैनसिल सम-भाग लेकर चूर्ण कर, फिर उसमें तुलसी के रस की

लगभग २१ भावनायें देकर शीशी में भर रखें। मात्रा २-४ रत्ती तक, तुलसी पत्र स्वरस और शहद के साथ दिन में दो बार चटाना चाहिये। इससे चूहे का भयंकर विष शमन हो जाता है।

- (३) मूषाकर्णी बूटी का प्रयोग—मूसाकानी लता जाति की प्रायः चौमासे में होती है, इसकी लम्बाई १ से ३ फीट तक घनी शाखाओं से युक्त भूमी पर फैली हुई होती है। पत्ते चूहे के कान के आकार वाले बीच में किंचित कमानदार गोलाई लिये हुये श्वेत (श्वेत) रोमावली युक्त हरे रंग के होते हैं।

मुसाकानी बूटी को लाकर उसके काढ़े से दंशस्थान को धोकर वही काढ़ा पिलाना चाहिये। इसके पत्ते का भी लेप दंशस्थान पर किया जाता है। दंशस्थान के पक जाने पर मूसाकानी बूटी के क्वाथ से व्रण धोवें तथा उसके पत्ते घृत में पकाकर मरहम-सा बना कर लगाना चाहिये तथा मुसाकानी की पत्ती ६ मासे और कालीमिर्च ५ नग एकत्र घोटकर दोनों वक्त पिलावें।

- (४) सिरस के बीजों को आक के दूध में ३ बार भावनायें देकर इसमें छोटी पीपल का चूर्ण मिला खूब घोंट कर चने जैसी गोलियाँ बनावें। प्रातः-सायं १-१ गोली जल के साथ सेवन किया करें।

अथवा आपामार्ग के कोमल तुरों (पत्तों) का रस शहद मिला प्रातः-सायं पिलावें।

- (५) श्वेत पुनर्नवा की जड़ और त्रिफला समभाग एकत्र महीन चूर्णकर रखें। प्रातः-सायं १ से २ माशे की मात्रा में शहद के साथ सेवन करने से कुछ दिनों में लाभ अवश्य होता है।

वाह्य प्रयोगार्थ निम्नलिखित औषधियों लाभदायक हैं

- (१) सिरस बीज, करंज बीज और नीमपत्र इन तीनों को गोमूत्र में पीस लेप करना चाहिये।

- (२) मजीठ, धमासा, हल्दी, सेंधा नमक इन्हें पानी में पीस कर लेप करें। अथवा केवल मजीठ और धमासे का लेप भी फायदा करता है। अथवा हाथी की लीद का प्रलेप भी लाभदायक होता है।

- (३) चित्रक मूल के चूर्ण के साथ पकाकर सिद्ध किये हुए तिल तैल को रोगी के तालुपर ऊस्तरे से बारीक चिा देकर मर्दन करने से विशेष लाभ होता है।

- (४) नाग दमन पत्र के क्वाथ से धोना उसी की लुगदी लगाते रहने से भी लाभ होता है। अथवा राई को सिरका में पीस कर लेप किया करें। पुटासियम पर मैगनेट का लेप लाभदायक है। अथवा जहाँ चूहे ने दंश किया हो उस स्थान पर घीका शीघ्र ही लेप कर देने से भी लाभ होता है।

- (५) नारियल के फल के छीलके को १६ तोले जल में पीस कर लेप कर देने से मूषिक विष इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे अम्ल कांजी इमली की खटाई को दू कर देती है।

कहा है—

आढ कार्ध वसु भाग पेषितं।

नारिकेल फल वल्कलोदकम्॥

आखु संभव विषं विनाशयेत्।

तिन्तिडीकमिव साम्लकांजिकम्॥

—वैद्य मनोरमा

स्नायुक (गिनीवर्म) एवं वनस्पति का चमत्कार

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह रसायनाचार्य

यह रोग भारतवर्ष में केवल एक विशेष भाग में ही होता है और विशेषतः वर्षाऋतु ही में इसका श्रीगणेश होता है। यह जलजात रोग है। वर्षा के आरम्भ में ही रोगियों पर यह आक्रमण करता है और शरीर में धीरे-धीरे यह बढ़ता रहता है। जब यह उचित लम्बाई का हो जाता है तब यह शरीर से बाहर निकलने का यत्न करता है, और तब ही मनुष्य के शरीर में विशेष लक्षण पैदा होते हैं। आरम्भ में घबराहट, बेचैनी और सारे बदन में कण्डु होने लगती है, बदन लाल हो जाता है और उदर के सब लक्षण पैदा होते हैं। रोगी बहुत घबरा जाता है एवं शीत और कम्प का अनुभव होता है। किसी-किसी को वमन भी होता है। इन लक्षणों के शान्त होने पर स्थान विशेष पर एक छाला सा पैदा होता है, छाले के फटने पर श्वेत अंकुर सा दिखाई देता है और वह बाहर आने का यत्न करता है, इस समय चतुर चिकित्सक गीले धागे से बान्ध कर या हाथ की अंगुलियों से पकड़ कर खींचे और दूसरे हाथ से स्थान विशेष को सरसराता रहे तो यह आसानी से बाहर निकल आता है। यह भंगुर है इस लिये जोर लगाने की कोशिश न करे अन्यथा टूट जाने से यह बड़ा भयंकर कष्टप्रद हो जाता है। यदि कदाचित् यह सारा न निकले तो गीले कपड़े में उसे लपेट कर उसी स्थान पर गीली पट्टी से बाँध देना चाहिये और पट्टी को सदा गीला रखना चाहिये।

यह कृमि कभी-कभी स्थान विशेष के शिर, धमनी, नाड़ी आदि के अन्दर फँस जाता है और उसमें लिपट जाता है इसलिये ज्यादा खेंचने की कभी कोशिश न करे अन्यथा टूट जाने पर यह शिरा, धमनी आदि के साथ बल्य बनाकर स्थान को खज्ज या पंगु बना देता है। यह कभी-कभी २ चर्म के नीचे

मांस के उपरीभाग में आ जाता है तो इसको स्थानीय अवसादक औषधि के प्रयोग से चीर कर निकाल देते हैं।

यह कृमि शरीर में सर्वत्र होता है यहाँ तक कि जिह्वा जैसे कोमल अंग में और स्त्री पुरुषों के गुच्छांग में भी निकलते हुए देखा गया है। एक बार एक रोगी के वृषणों में फँस कर लिपट जाने से भयंकर शोथ और वेदना हो गई, अनेक उपचार करने के बाद शान्ति हुई और यह अपने आप ही वृषण के चर्म को भेदन करके बाहर निकल आया और धीरे-धीरे खींच कर निकाल दिया गया।

यह कृमि शरीर में एक से अधिक और एक दर्जन तक पाये गये हैं और गत वर्ष एक ही रोगी को अनेक बार कष्ट पाते हुए देखा गया है।

यह रोग जलज है, यह पूर्व में ही बताया जा चुका है। इसलिये इस रोग के संक्रमण से बचने के लिये जल की शुद्धि परमावश्यक है। जिन स्थानों में जल शोधन की व्यवस्था है, वहाँ पर यह रोग बहुत कम हो गया है। जैन धर्मावलम्बी और रामस्नेही साधुओं में यह रोग बहुत कम पाया जाता है क्योंकि इनके धर्म में जल शोधन की बड़ी कठोर व्यवस्था है। प्राचीनों ने भी “वस्त्र पूतं पिबेज्जलम्।” इस सिद्धान्त को बड़ा महत्व दिया था। पर आज इस सूत्र की अवहेलना होने से राजस्थान के लाखों लोगों को यह दुष्ट रोग कष्ट दे रहा है। इसके अनेक प्रकार के उपचार यहाँ प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभी तक कोई सिद्धयोग प्राप्त नहीं हुआ। राजस्थान और मालवा के अनेक भागों में अनेक प्रकार की चिकित्सायें प्रचलित हैं। उनका सार यह है कि तीक्ष्ण-उष्ण और रक्षक प्रकृतिवाले द्रव्यों के उपनाह किये जाते हैं। इसमें नीम, आक, धतूरा आदि विशेष रूप से काम में

लाये जाते हैं। गोमूत्र में हल्दी मिलाकर गरम-गरम टकोर करने से अच्छा लाभ होता है, खाने के लिये कच्चा चौकिया छहागा तीन माशा से एक तोला तक अढ़ाई तोला गुड़ में मिला कर निगलने लायक गोलियां बना कर अम्ल तक्र से निगलवा दें और दिन भर पानी और अन्न न दें, चाहे रोगी को कितना ही कष्ट हो, सायंकाल तक्र के साथ चावल खिलायें। ऐसा एक ही बार करने से यह रोग जन्मभर के लिये छूट जाता है। ऐसा अनुभव स्वर्गीय ठाकुर भूर सिंह साहब मलसीसर वालों का था और उन्होंने हजारों रोगियों को इस प्रयोग से लाभ पहुँचाया था। इस निबन्ध का लेखक भी उदयपुर निवासी है और इस दुष्ट रोग से उसने छै मास तक कष्ट पाया था। एक दिन एक कबीरपन्थी साधु ने कृष्णशुक्तिभस्म खिलाने का आयोजन किया, उससे आज तक फिर यह रोग मुझे नहीं हुआ। मैंने इस भस्म का इधर अनेक रोगियों को प्रयोग कराया है और लाभ भी हुआ है, किन्तु मैं अभी इसके प्रभाव को पूर्ण रूप से स्थिर कर नहीं सका तथापि पाठकों से यह निवेदन है कि इस प्रयोग को व्यवहार में लाकर इसके प्रभाव का अनुभव कर प्रकाशन करें।

प्रयोग करने की विधि इस प्रकार है कि जलशुक्ति एक सेर किसी नदी से संग्रह कर लें और उसे धो और सुखाकर, एक हांडी में भर कर, उसका मुँह बन्द कर के सूखने पर गजपुट में फूँक दें। इस विधान से एक ही पुट में अन्तर्धूम कृष्ण भस्म तैयार हो जावेगी। फिर पुट को खोल कर कृष्ण वर्ण की शुक्तियों को निकाल कर बारीक पीस कर एक शीशी में भर कर रख लें। और रोगी को मृदु विरेचन देकर शरीर शुद्धि कर के इस भस्म का सेवन इस प्रकार करावे।

प्रातःकाल एक तोला भस्म एक सेर भैंस के दही में मिला कर पिला दें और दिन भर रोगी को अन्नजल बिलकुल न दें। यदि रोगी सेर भर दही एक बार में न पी सके तो जितना ले सकता हो उसमें यह एक तोला शुक्ति

भस्म मिला कर पिला दें और वाकी में थोड़ा-थोड़ा कर के कई बार में पिला दें और सायंकाल में रोमी को भूख लगने पर गेहूँ की दलिया अच्छा घी मिला हुआ खाने को दें। तीन दिन तक यह प्रयोग करें इस प्रयोग से शरीरस्थ स्नायुक रोग के सब बीजकण नष्ट हो जाते हैं। यह स्मरण रहे कि शुक्ति की यह भस्म क्षारमय है इस लिये रोगी को कुछ दिन तक तीक्ष्ण-ऊष्ण और अम्ल पदार्थों से परहेज रखना चाहिये।

हींग और हींग मिश्रित औषधियां भी इसमें लाभ करती हैं। निम्नलिखित प्रयोग एक स्वामी जी बना कर देहातों में वितरण करते हैं उससे उपकार होने की भी सूचनायें मिली हैं। इस योग में अशुद्ध हीराहींग, एलुआ काली मिर्च, डीकामाली (हिंगु पत्री) और लहसुन इन पाँचों द्रव्यों को समान भाग लेकर और लहसुन के रस में पीस कर मटर के बराबर गोलियां बना लें। पूर्ण वयस्क को दो गोली प्रातः और दो गोली शाम को शीतल जल से दें। ध्यान रहे यह गोली मृदु रेचक है, इसलिये रोगी के कोष्ठ की शक्ति देख कर मात्रा का निर्णय करें। एक रेचन प्रतिदिन शुद्ध हो जाना आवश्यक है। एक सप्ताह तक निरन्तर इस योग का सेवन करावे। यह योग शामक और अवरोधक है इसलिये यह औषध स्नायुक रोग के पीडित व्यक्तियों को भी दिया जा सकता है और जिनको यह रोग नहीं हुआ है उन्हें भी अवरोधन के लिये दिया जा सकता है यह Curative and preventive दोनों प्रभाव रखता है।

मुझे अभी कुछ समय पूर्व इस रोग के अनुसन्धान के सिलसिले में यह ज्ञात हुआ कि इस प्रान्त के राजा-महाराजा एक वनस्पति का प्रयोग करते थे, वह वनस्पति अभी मुझे प्राप्त नहीं हुई किन्तु आशा है कि वह शीघ्र ही वर्षान्त में प्राप्त हो सकेगी। इस वनस्पति के विषय में यह ख्याति है कि—

एताल बाजा बाजिया पेटाल आई जान
राजा रुखड़ी पहचान जिसके डोरके दो पान
(शेष पृष्ठ २०० पर)

नि० भा० आ० महासम्मेलन के विशेषाधिवेशन (गाजियाबाद) के सभापति

आयुर्वेदशिरोमणि वैद्यरत्न पं० शिव शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

का

भाषण

“यह बात ध्यान देने योग्य है कि “वैज्ञानिक” मार्ग को ही एक मात्र सत्य का मार्ग समझनेवाला व्यक्ति कभी भी कोई बड़ा वैज्ञानिक नहीं होता किन्तु मध्यम या अधम श्रेणी का वैज्ञानिक होता है। जितनी अधिक विद्या की प्राप्ति होगी, सदा उतना ही अधिक विनय उसका परिणाम होगा। जिज्ञासु जिस प्रकाश के घेरे में खड़ा है वह जितना विशाल होता चला जायगा उतना ही उस प्रकाश केन्द्र से बाहर के अन्धकार का क्षेत्र भी बड़ा प्रतीत होगा। जो ज्ञात है वह विशालअज्ञात के समक्ष अणुमात्र है। जो विद्वान अपनी दृष्टि के परिमितत्व को पहचानता है वह कैसे कह सकता है कि केवल वह अकेला ही अपने साथियों का पथप्रदर्शन करने की योग्यता रखता है। वह ऐसा कभी नहीं कहता प्रत्युत अपने साथी यात्रियों का जो दूसरे मार्ग के अनुयायी हैं स्वागत करता है।”

—डा० केनेथ वाकर (डायप्रोसिस आफ मैन)।

मित्रवृन्द,

यह महत्त्वपूर्ण अधिवेशन विशेषतया हमारी उन कठिन समस्याओं पर विचार करने के लिये बुलाया गया है जो न केवल सुलभता ही नहीं, क्रमशः अधिकाधिक उलभता भी जा रही है।

सरकार आयुर्वेद का भविष्य उन्हीं डाक्टरों के हाथों में सौंपने जा रही है, जिन्होंने अपने जीवन में कभी भी अपनी आयुर्वेदानभिज्ञता अथवा आयुर्वेद विरोध को छिपाने का प्रयत्न भी नहीं किया।

सरकारी आयुर्वेदिक विद्यालय अपने ऐलोपैथिक स्वामियों के नीचे अधोगति को प्राप्त होते जा रहे हैं। ऐसे डाक्टरों के वहिष्कार का कार्य जिन्होंने आयुर्वेद का गम्भीर अध्ययन करके इसके प्रति श्रद्धा प्रगट की समाप्तप्राय हो चुका है। आयुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाले जो भी अधिकार उत्तरदायित्व अथवा मंत्रणा के पद थे उनपर से शनैः शनैः एक-एक करके यह विद्वान अलग कर दिये गए हैं और उनके स्थान सर्वथा भिन्न श्रेणी के व्यक्तियों से भरे जा रहे हैं।

केन्द्रीय सरकार की चिकित्सा सम्बन्धी नीति में एक नवीन तत्त्व का जन्म हुआ है। वह है गुस्सा, जो कि ब्रिटिश राज्य में भी, जब कि आयुर्वेद प्रचार से उनके देशकी आठ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की औषधों की आय खतरे में पड़ती थी, हमारे विरुद्ध प्रयुक्त नहीं की गई, और आयुर्वेद का विरोध (चोरी से न करके) खुला किया गया। इस प्रकार आयुर्वेद प्रचार बाधक आदेश भिन्न-भिन्न राज्यों में गुप्त पत्रों द्वारा भेजे जा रहे हैं और इस कार्य से होने वाली हानियों का स्पष्टीकरण और उन पत्रों में लिखे गये असत्यों का खण्डन करने का अवसर जनसाधारण और चिकित्सक सम्प्रदाय को नहीं मिलता। कभी-कभी इन पत्रों में अन्यायपूर्ण दबाव भी डाले जाते हैं परन्तु उनकी समालोचना या विरोध खुला नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा विरोध करने वाले व्यक्ति पर गुप्त पत्र धारा के नियम के अनुसार सरकार अभियोग चला सकती है।

आधुनिक उपयोगी अंशों को सम्मिलित कर आयुर्वेद का अभीष्ट पाठ्यक्रम अभी तक भी तैयार नहीं हुआ है।

इस क्षेत्र में अधिक धन व्यय करने का हौसला आयुर्वेद महामण्डल का भी नहीं पड़ता, केन्द्रीय स्वास्थ्य विभाग तो वैद्यों के हाथ में एक पैसा भी कभी नहीं देगा।

पुराने वैद्य सरकारी विद्यालयों के स्नातकों को अनभिज्ञ और अयोग्य समझते हैं। सरकारी आयुर्वेदिक कालेजों के स्नातक पुराने वैद्यों को अनपढ़ और निकम्मे समझ रहे हैं।

और अन्त में, उलट समिति अर्थात् वह समिति जिसका डाक्टर राजा और राजकुमारी अमृतकौर ने चोपड़ा कमिटी की कड़वी लगनेवाली सिफारशों को उलटने के लिये निर्माण किया और विरोधालंकार से जिसका नाम 'पंडित' कमिटी रखा गया, की सिफारिशें और हैलथ मिनिस्टर्स कान्फ्रेंस के निर्णय दोनों मिलकर एक असंभव-सी परिस्थिति खड़ी कर देते हैं। इस परिस्थिति का स्पष्टीकरण मैं बम्बईराज्य वैद्य-सम्मेलन के भाषण में निम्न शब्दों में कर चुका हूँ—

“हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं कि ऐलोपैथी की शिक्षा का आदर्श ऊँचा कर दिया जाए परन्तु यदि आयुर्वेदिक चिकित्सक से भी ऊँचे दर्जे के कार्य की आशा करनी है तो आयुर्वेदिक शिक्षा का आदर्श भी तो ऊँचा करना चाहिये। यदि उच्चकोटि के वैद्यों का निर्माण आपका ध्येय है तो आयुर्वेदिक पाठ्यक्रम भी पाँच वर्ष से कम नहीं लेगा। स्वास्थ्य सचिव कुछ ऐसा समझ बैठे हुए प्रतीत होते हैं कि आयुर्वेदाध्ययन में जानेवाले विद्यार्थी इतनी असाधारण और प्रखर बुद्धिवाले होंगे कि वह ऐलोपैथी और आयुर्वेद पाँच-पाँच वर्ष के दो पाठ्यक्रम केवल ५ वर्ष में ही पूर्ण कर लेंगे और डाक्टरी में जानेवाले विद्यार्थी ऐसे मूर्ख और खरमस्तिष्क के होंगे कि वह पाठ्यक्रम जिसे आयुर्वेद के छात्र ढाई वर्ष में समाप्त कर लेंगे यह लोग पाँच वर्ष में पूरा करेंगे। मैं आयुर्वेद के छात्रों की ओर से स्वास्थ्य-सचिवों का उन्हें प्रतिभा के क्षेत्र में इतना ऊँचा स्थान प्रदान करने के लिये धन्यवाद करता हूँ। परन्तु मैं इन छात्रों में इतना प्रतिभाशाली समझने और ऐलोपैथिक छात्रों की बुद्धि की ऐसी बिडम्बना करने में कोई प्रामाणिक हेतु नहीं देख पाता। इस समस्या की एक सुलभ तो यह

है कि आयुर्वेदिक छात्रों का पाठ्यक्रम १० वर्ष का कर दिया जाए; जिससे इस डाक्टरी पक्ष को यह संतोष हो जाएगा कि प्रवेशार्थियों के अभाव के कारण आयुर्वेदिक कालिजों को स्थायी रूप से बन्द किया जा सकेगा, जिसकी आशा ही शायद इन नीतियों की बुनियाद रही है। दूसरी सुलभ तो यह है कि आयुर्वेदिक पाठ्यक्रम को उन्नत न करके इतना छोटा कर दिया जाए कि वह उस पाँच वर्ष के समय में बहुत कम समय ले। परन्तु वह अवस्था तो गत १०, १५ वर्षों से चल ही रही है फिर पाठ्यक्रम परिवर्तन का प्रयत्न ही नहीं उठता। यदि आयुर्वेदिक चिकित्सकों को योग्य बनाना इन लोगों का वास्तविक ध्येय है तो इनमें से किसी पथपर भी चलें आगे मार्ग बन्द है। फिर इन प्रस्तावों को लेकर आगे बढ़ते ही चले जाना एक ही दिशा की ओर जाना है……

“सरकारी आयुर्वेदिक कालेजों की उपज विद्या और व्यवसाय के उस उच्चस्तर पर नहीं पहुँची जिस तक कि गुण शिष्य संप्रदायकी कृतियाँ चढ़ें। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से ठगी का आरोप पहली श्रेणीपर लगेगा, सच्ची विद्वत्ता और योग्यता का श्रेय पिछली श्रेणी को मिलेगा परन्तु सरकारी कानून पहले सनूह को सम्मानित करता है और दूसरे को अपराधी ठहराता है। यह हमारे लिये एक दयनीय परिस्थिति खड़ी कर दी गई है कि या तो क्वैक (अयोग्य) बनो और सरकार से सम्मान लो अथवा योग्य बनो और अपराधी कहलाओ। इससे तो विद्यार्थी को चिकित्सा का लाइसेंस प्राप्त करनेवाले के लिए सीधा ही डाक्टरी कालिजों में सँभलें और ऊँची डाक्टरी शिक्षा दिलवाकर सच्चा वैद्य बनाने के लिए घरपर स्वयं आयुर्वेदिक शिक्षा दे देना कहीं अधिक योग्य जनक होगा, इसकी अपेक्षा कि विद्यार्थी के जीवन का एक बड़ा भाग इन अर्द्धायुर्वेदिक और अर्द्ध ऐलोपैथिक संस्थाओं में जिनमें आयुर्वेद के प्रति श्रद्धा और मानका विशेष अभाव व्यतीत करके नष्ट किया जाए। परन्तु यह स्वीकार होना चाहिए कि उन वैद्यों की संख्या बहुत थोड़ी है जो ऐलोपैथिक कालेजों के स्नातकों को आयुर्वेद का पूर्ण भक्त फिर से बना देंगे

उपर्युक्त परिस्थितियों में से कुछ की व्याख्या अधिक विशदरूप में करने की आवश्यकता है।

राक्षस डाकू की शय्या

ग्रीस के पुराने इतिहास में प्रोक्रस्टीज नामक एक डाकू की कथा है। यह यात्रियों को बहकाकर अपने घर ले आता था और उन्हें खूब पेट भर खिलाता-पिलाता था। सन्देह न करनेवाला अतिथि तब तक बहुत प्रसन्न रहता था जब तक वह सोने के लिए प्रोक्रस्टीज की प्रसिद्ध शय्या पर नहीं लेट जाता था। एक बार वह लेट गया तो प्रोक्रस्टीज आग्रह करता था कि उसको लम्बाई शय्या की लम्बाई से न्यूनाधिक नहीं होनी चाहिए। यदि वह शय्या से छोटा होता था तो उसके पाँव नीचे की ओर और सर ऊपर की ओर विरुद्ध दिशाओं में खेंचकर उसे शय्या समान लंबा बना दिया जाता था। यदि वह शय्या से लंबा होता था तो उसके सर और पाँव की ओर से बराबर के अंश छिन्न करके उसे शय्या के समान छोटा बना दिया जाता था। कहा जाता है कि प्रोक्रस्टीज इस खेल में जिसमें कि अभागे अतिथि की सदा ही मृत्यु हो जाती थी विशेष आनन्द का अनुभव करता था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सम्पूर्ण धन हथिया लेता था।

आरम्भ में तो प्रोक्रस्टीजका अभिनय केन्द्रीय स्वास्थ्य विभाग खेलने लगा था और एलोपैथी को डाकू की शय्या बनाकर आयुर्वेद को छिन्नभिन्न और खेंचतान करके उसके समाकार बनाने का प्रयत्न हो रहा था। परन्तु किन्ही कारणों से जिनका स्पष्टीकरण मैं आगे चलकर करूँगा, सरकार ने तो अपनी नीति बिल्कुल ही बदल दी। परन्तु अपनी ओर से निस्सन्देह आयुर्वेद का भला चाहनेवाले कुछ वैद्यों ने, जिनमें कि स्वयं अग्रणी विद्वान् भी सम्मिलित हैं आयुर्वेदिक सिद्धान्तों को एलोपैथिक सिद्धान्तों पर ठीक बैठाने के असाध्य लक्ष्य को इस आशा से अपना लिया कि ऐसा करने से कुछ पश्चिम प्रभाव पीड़ित भूककी आयुर्वेद का समर्थन नहीं भी करेंगे तो शायद इसके अस्तित्व को कुछ अधिक सहन कर लेंगे।

उन विद्वान् वैद्यों की जिनकी योग्यता का मेरे हृदय में गहरा आदर है एक परिपक्व की कार्यवाही पढकर जिसमें आयुर्वेद की परिभाषा को बलात् एलोपैथिक परिभाषा में बसीटने का प्रयत्न स्पष्ट ही दीखता था मुझे बहुत विस्मय हुआ। परन्तु यही चरमसीमा नहीं थी वह दूसरे ही स्थलों पर थी जहाँ वह आयुर्वेदिक शब्द जिनके वैज्ञानिक अर्थाकार खेंचतान करने पर भी डाकूरी डाकू की शय्या पर ठीक नहीं बैठते थे “चिन्त्य” खात में डाल दिए जाते थे। दूसरे शब्दों में ये कहिये कि जो आयुर्वेदिक अंश, वास्तव में अथवा कल्पना में ही, किसी डाकूरी अंश से मिल जाते थे वह तो स्वीकृत और निश्चित सिद्धान्तों का स्थान पाने के अधिकारी बन जाते थे और जो एलोपैथिक साँचे से भिन्न आकारवाले थे उन्हें भविष्य में विचार करने के लिए अलग फेक दिया जाता था। एलोपैथी की विचारप्रणाली के पक्ष में आयुर्वेद से यह मानसिक त्याग पत्र देना डाक्टरों और बुद्धिमानों के समक्ष आयुर्वेद को हास्यास्पद बनाने के अतिरिक्त अन्य किसी लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए कि (क) न केवल आधुनिक चिकित्सा के क्षेत्र में गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र आदि चिकित्सा की अपेक्षा अधिक यथार्थ और अचूक होने का दावा करनेवाली आधुनिक विद्याओं के सिद्धान्तों में भी कई बार असामंजस्य ही नहीं परस्पर खुला विरोध भी होता है। (ख) प्राचीन भारतीय आचार्यों ने भी भौतिक और अभौतिक व्याख्याओं को वैकल्पिक स्तरों और दृष्टिकोणों से किया है और ऐसा करने में परस्पर विरोध अवश्यंभावी नहीं है। (ग) यह सिद्धान्त कि सत्य मार्ग केवल एकमात्र हो सकता है स्वयं आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा ही घोर और सफल खण्डन का विषय बना हुआ है। (घ) एलोपैथी स्वयं अपना स्थान छोड़ कर आयुर्वेदिक सिद्धान्तों की ओर फिर रही है। (ङ) जिन लोगों की भूक और सनक पूरी करने के लिए आयुर्वेद की खेंचातानी की जा रही है कल को उनका स्थान दूसरे

भक्की ले सकते हैं जो इस दाखल अन्तर्राष्ट्रीयत्व के प्रतिक्रिया स्वरूप दाखलतर राष्ट्रीयता की नीति स्थापित कर दें।

इन भावों पर जरा और ध्यान कर लेना चाहिए।

क. आधुनिक विज्ञान में विकल्प और विरोध

लार्ड केल्विनकी यह घोषणा कि वह कोई भी ऐसा भाव समझने में असमर्थ थे; जिसको वह यन्त्ररचना में परिणत न कर सकें उस गूढ़ विश्वास की द्योतक है जो १६ वीं शताब्दि के भौतिक वैज्ञानिकों के हृदय में भौतिक विज्ञान की सामर्थ्य पर था। परन्तु उसके पश्चात् पदार्थविज्ञान उत्तरोत्तर गणित शास्त्र की अमूर्त राशियों का स्वरूप ग्रहण करता चला गया और केन्द्रीयकर्षण (gravitation) काल और दिक् सम्बन्धी विचारतक समूल पलट गये। गणित और पदार्थ विज्ञान में अब बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो एक दूसरे के बिल्कुल ही विरोधी हैं। उदाहरणार्थ एक समय यह समझा जाता था कि अमर रेखागणितकार यूक्लिड (Euclid) के स्वतः सिद्ध नियम अनिवार्य विचारतत्त्व (necessities of thought) थे। परन्तु, जैसा कि सलिवान ने लिखा है “आज से सौ वर्ष पूर्व लोबाशेफ्स्की (Lobachevsky) नामक एक रूस निवासी और बोलीयाई (Bolyai) नामक एक हंगेरियन ने स्वतन्त्ररूप से यह तथ्य जान लिया कि यूक्लिड का रेखागणित अविवेच्य आवश्यकता का स्थान नहीं ले सकता। दो हजार वर्ष तक यूक्लिड के नियमों ने निर्विरोध राज्य किया। यह सब वैज्ञानिक मानते थे कि वह ‘आवश्यक सत्य’ थे, देवताओं के लिये भी उतने ही सत्य जितने कि मनुष्यों के लिये, बल्कि ईश्वर के लिये भी सत्य। उस समय के गणितशास्त्रज्ञ तक लोबाशेफ्स्की और बोलीयाई को विश्वास समझे। महान विद्वान् गॉस (Gauss) तक, जो स्वयं इसी नतीजे पर पहुँच चुका था, ने भी यह स्वीकार किया कि उसे अपना आविष्कार प्रकाशित करने का हौसला नहीं पड़ा..... शनैः शनैः मनुष्य की विचारशक्ति इन नवीन विचारों को ग्रहण करने लगी..... यह स्पष्ट हो गया कि हम विज्ञान को किसी भी अकाव्य सिद्धान्त समूह

से आरम्भ कर सकते हैं यदि वह सिद्धान्त परस्पर विरोधी न हो।” सलिवान लिखते हैं :—

“इनमें से कुछ रेखागणित शास्त्र तो यूक्लिड से बहुत मिलते जुलते हैं परन्तु कुछ तो बहुत ही अनोखे हैं..... हम वास्तविक भौतिक दिक्पर इनमें से कौनसा गणित प्रयोग में लायें? उस दिक्पर जिसमें कि सूर्य और नक्षत्र और कोटिशः तारक विद्यमान हैं? जब तक यह समझा जाता रहा कि यूक्लिड के गणित में भिन्न किसी दूसरे गणित के अस्तित्व की संभावना ही नहीं तब तक तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं था। परन्तु अब जब कि हम जानते हैं कि दूसरे रेखागणित संभव हैं यह प्रश्न पूछा जा सकता है। इस प्रश्न का निर्णय माप द्वारा ही हो सकता है। हमारे मापक यन्त्र छड़ियाँ और घड़ियाँ हो सकती हैं अथवा प्रकाशरश्मियाँ और थराते हुए परमाणु। उनके परीक्षित व्यवहार का शुद्धतम वर्णन किस रेखागणित द्वारा हो सकता है? माप कर देखने पर ज्ञात हुआ कि रेखागणित का एक विशेष भेद जिसका आविष्कार एक जर्मन रेखागणितकार रीमान ने किया था परीक्षित तत्त्वों से विशेष सामंजस्य रखता है। आइनस्टाइन ने इसको सबसे पहले समझा और उसने इस रेखागणित को प्रयुक्त कर विज्ञान क्षेत्र में महती सफलता प्राप्त की। वैज्ञानिकों को अब विश्वास हो गया है कि जिस दिक् में हमारा अस्तित्व है वह यूक्लिड के रेखागणित के नियमों पर नहीं चलती, रीमान के रेखागणित के नियमों पर चलती है।”

समय और स्थान की रक्षा के लिये मैं केवल दिग्दर्शन मात्र के लिये उन बहुत से नियमों में से थोड़े से ही नियम यहाँ देता हूँ जो आधुनिक पदार्थ विज्ञान की मूल नींव होते हुए भी आधुनिक डाक्टरी कालिजों में पढ़ाये जानेवाले नियमों के बिल्कुल उलट हैं :—

दिक् का विस्तार असीमित नहीं—सीमित है। दो बिन्दुओं के बीच का न्यूनतम अन्तर ऋजु रेखा नहीं। एक त्रिकोण के तीनों कोण सम्मिलित होकर दो समकोण नहीं

बनाते। प्रकाश को किरणें ऋतु रेखाओं में नहीं फेलतीं। जिस वस्तु पर प्रकाशरश्मि पड़ती है उस पर दबाव डालती है। सीमित और गोलाकार दिक् का आकार निरन्तर तेजो से बढ़ता जा रहा है। दिक् त्रैपारिमाणिक नहीं है! एक परमाणु का प्रभाव संपूर्ण विश्व पर रहता है। परमाणु में एलेक्ट्रॉन (परमाणु का अस्थिर शक्तिरग) प्रोटॉन (केन्द्रित स्थिर शक्ति समूह) के चारों ओर घूमते हुए बिना ही बीच के स्थान की यात्रा के एक मार्ग चक्र से दूसरे मार्ग चक्र में पहुँच जाता है। वैज्ञानिक मस्तिष्क को खलबली को पूर्ण करने के लिये आज के अग्रगो पदार्थ विज्ञानवेत्ताओं ने इस विद्युत्कण को 'स्वेच्छा चरित' (Free will) का गुण भी प्रदान कर दिया है जिससे निःशेष यन्त्रवाद का बिल्कुल हो नाश हो जाता है।

यदि सर आइजक न्यूटन कहीं आज के आइन्स्टाइन युग में आन पहुँचें तो उनके हृदय में क्या भाव उठेंगे? जहाँ एक ओर वह यह देखकर प्रसन्न होंगे कि उनका केन्द्रीय-आकर्षण सिद्धान्त "वैज्ञानिक" चिकित्सा प्रणाली के प्राथमिक पदार्थ विज्ञान के पाठ्यक्रम में आज भी श्रद्धा से पढ़ाया जाता है और परिश्रम से पढ़ा जाता है वहाँ यह देखकर खेद भी होगा कि सलिवान ने उनके महान आविष्कार को निम्न शब्दों में किस उदासीनता से रद्द कर दिया।

"दो सौ वर्ष तक न्यूटन के आकर्षण सिद्धान्त को 'सर्वथा अन्यून, पूर्णतया प्रतिपादित और सिद्ध वैज्ञानिक नियम' समझा गया। इसको शुद्धता और पूर्णता एक कहावत बन गई। यह एक आदर्श बन गया जिसकी कसौटी पर अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों की परख होने लगी। बड़े से बड़े गणितकार सहमत थे कि न्यूटन का यह आविष्कार और इसकी पुष्टी मानुषी बुद्धि की चरम कृति थी। तो भी आज हम केन्द्रीय-आकर्षण की व्याख्या सर्वथा भिन्न परिभाषा द्वारा करते हैं। इस विषय पर हमारा संपूर्ण दृष्टिकोण न्यूटन के दृष्टिकोण से जड़ से ही भिन्न है। केवल यही बात नहीं कि न्यूटन के सिद्धान्त को लागू करने से

हम ऐसे नतीजे पर पहुँचते हैं जो कई अंशों में अवास्तविक और अगुद हैं किन्तु वह विचार प्रणाली हो जड़ और शाखा सहित उखाड़ फेंकी गई जिसकी नींव पर इस सिद्धान्त को खड़ा किया गया था।"

जन साधारण को तो छोड़िये, साधारण डाक्टरों को यह ज्ञात नहीं कि उनका पाठ्यक्रम बड़ी संख्या में ऐसे सिद्धान्तों से भरा पड़ा है जिनका खाण्डन हुए वर्षों बीत गए हैं। न ही उन्हें यह पता चलता है कि उन्हें आधुनिक चिकित्सा की नवीन प्रवृत्तियों और नवीन दृष्टिकोण से कितना अनभिज्ञ रखा जाता है। एक एलोपैथ, जो कि मेरे पुराने और घनिष्ठ मित्र हैं मद्रास शास्त्रचर्चा परिषद् में दिए गए मेरे एक भाषण का सारांश एक पत्र में पढ़ कर मुझ से उस विषय पर चर्चा करने लगे परन्तु अपने भौतिक विज्ञान के उस अंश से अनभिज्ञ होने के कारण जो प्रकृतिवाद के समस्तर है वह इस विषय को ग्रहण न कर सके और मुझ पर यह वाक्य कस गए "तुम चालाकी करते हो। मेरे आधुनिक भौतिक शास्त्र के अज्ञान का अनुचित लाभ उठा रहे हो। मैं तुम्हारा लेख किसी भौतिक शास्त्र के आचार्य को भेजूंगा।"

परन्तु यदि हम विज्ञान की उन शाखाओं को अलग रख दें जिनकी दुहाई देते हुए भी डाक्टर जिनका सम्यक् अध्ययन नहीं करते तब भी उनके अपने पाठ्य ग्रन्थों में ही अनन्त वैकल्पिक सिद्धान्त भरे पड़े हैं। उन्हें यह पढ़ाया जाता है कि पृथ्वी में गम्भीर प्रवेश करने वाली प्रकाश रश्मियाँ दूरवर्ती तारकगणों के स्तर पर हो रहे द्रव्य निर्माण की उपज हैं। दूसरे सिद्धान्त द्वारा इसी प्रकार की उपज का कारण द्रव्यनाश (annihilation of matter) बतलाया जाता है जो इसका पूर्ण उलट है। एक सिद्धान्त के अनुसार अस्थिर विद्युत्कण तरङ्ग का गुण रखते हैं दूसरे सिद्धान्त के अनुसार कणों का। इनमें से एक सिद्धान्त को भी नहीं त्याग सकते क्योंकि कुछ घटनाओं की व्याख्या पहले सिद्धान्त द्वारा ही हो सकती है। और अन्य घटनाओं की व्याख्या

दूसरे द्वारा ही। विपरीत और विपरीतार्थकारी औषध के सिद्धांत के समान ही यह परिस्थिति है।

मनोविश्लेषण (मानसिक चिकित्सा) के क्षेत्र में परस्पर विरोधी सिद्धांतों पर आधारित चार सम्प्रदाय आधुनिक विज्ञान में बन गए हैं। इन फ्रायड, एडलर, यूंग और स्ट्रैकल के विभिन्न सम्प्रदायों में पश्चिम के प्रतिभाशाली विद्वान अपने-अपने पक्षों के समर्थन के लिए निरन्तर विवाद करते रहते हैं। जीवशास्त्र की भी यही दशा है। आकस्मिक परिवर्तनों (mutations) के प्रश्न पर वाइसमान और लैमार्क के अनुयायी बराबर एक दूसरे का विरोध करते हैं।

एलोपैथी में परस्पर विरोध

चिकित्सा क्षेत्र में आधुनिकों का मतभेद अधिक ही कौतुक का विषय है। डाक्टर पी० वी० बेंजमिन, क्षय विशेषज्ञ, डायरेक्टर जनरल आफ हेल्थ सर्विसिज, नई दिल्ली बी० सी० जी० के प्रामाणिक विद्वान, लिखते हैं:—

“विभिन्न देशों का बीस वर्ष का संयुक्त और संगृहीत अनुभव यह सिद्ध करता है कि यह (अर्थात् बी० सी० जी०) प्रभावशाली और निरापद यक्ष्मानिरोधक उपचार है।”

इससे उलट डाक्टर डब्ल्यू० एच० ब्रैडले, सीनियर मैडिकल आफिसर, मिनिस्ट्री आफ हेल्थ, इंग्लैण्ड, लिखते हैं—

“यक्ष्मा निरोध के लिये बी० सी० जी० का उपयोग अभी भी एक विवादालुपद विषय है और चिकित्सक वर्ग बीसवर्ष तक इसकी परीक्षा करने के अनन्तर भी इस प्रश्न पर अज्ञान के अन्धकार में पड़ा है कि यह उपचार कोई गुण रखता है कि नहीं।”

अब कोजिये निर्णय कौन सच्चा है। जनता की रक्षा तो ईश्वर के हाथ में है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान का प्रवर्तक फ्रायड लिखता है कि हिस्टीरिया में जो डाक्टर औषध देता है (शारीरिक व्याधि समझकर) वह कोरा ठग है। मैं अभी तक किसी ऐसे डाक्टर से नहीं मिला जो इस अवस्था में औषध न खिलाता

हो। अमेरिका में सल्फा औषधों का प्रयोग न्यून-से-न्यूनतर होता जा रहा है। भारतवर्ष में तो डाक्टर उन विषों को ऐसी प्रभूत मात्राओं में दे रहे हैं जैसे रोगियों से कोई बदला लेना हो। अपनी पुस्तक “औषधि शास्त्र में नवीन उन्नतियाँ” में रॉबसन और कील औषधासहिष्णुता के सम्बन्ध में दो विचार लिखते हैं। एक के अनुसार असहिष्णुता का सम्बन्ध असह्य औषध के गुण से ही है उसकी मात्रा के न्यूनाधिक्य से नहीं। दूसरे के अनुसार मात्रासिद्धिक्य प्रतिक्रिया के आधिक्य में कारण है। उपशृङ्खल ग्रन्थि के एक वहिर्भाग के स्राव के गुणों के सम्बन्ध में वह लिखते हैं “इसके प्रयोग से अनल्पसंख्यक फल प्राप्त हुए हैं उन सबकी स्पष्ट व्याख्या करने वाला, कोई सिद्धांत नहीं है।” यहां चलते में उनका यह वाक्य लिख देना भी उचित होगा कि इस औषध (Cortisone or ACTH) को प्रयोग करने वाले रोगियों के व्रण और विद्रवियों का रोपण नहीं होता। यह केवल उन रोगियों और डाक्टरों को चेतावनी देने के लिए लिख दिया है जो बहुत उत्सुकता से इस औषध के भारत में पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहे हैं (आगामी मास में वह नारवे से आ भी रही है)। एक अन्य औषध थायोरुरेसिल के सम्बन्ध में वह लिखते हैं कि “इसका और इसके अन्य योगों का प्रयोग थाइरायड क्रिया प्रकोप पर करने के सम्बन्ध में अभी बहुत विवाद चल रहा है।”

इन उदाहरणों का तो अन्त नहीं परन्तु इन्हें और बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। मैं यही कहना चाहता था कि आधुनिक विज्ञान अभी स्वयं किर्कटव्य विमूढ़ है। इसकी इक्की-दुक्की कृतियाँ अवश्य महत्त्वपूर्ण हैं। शल्य शास्त्र में इसने विस्मयजनक उन्नति की है। आयुर्वेद इस उन्नति का आदर करता है और इसे अपनाकर इससे पूर्ण लाभ उठाने को तैयार है। इंग्लिश विद्वान कीथ ने हमारी प्रशंसा में कहा था “जो भी ज्ञान भारतवर्ष को प्राप्त हो उसे पाचन करके आत्मसात कर लेने की इसकी शक्ति अद्भुत है।” परन्तु हमें आधुनिक विज्ञान की कमियों को नहीं

भुलाना चाहिए। हम त्रिदोषानुसार अपनी सभी औषधों के गुणदोष से परिचित हैं परन्तु डाक्टर अनन्त ऐसी औषधों जैसे कि सुरंजान, स्ट्रैप्टोमाइसिन, पैनिसिलिन आदि का प्रयोग कर रहे हैं जिनके बारे में उन्हें यह ज्ञान नहीं कि वह लाभ किस क्रिया द्वारा करती हैं। पैल्यूड्रीन जैसी साधारण औषध का वर्णन करते समय भी लेखकों को इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है “शरीर में यह किसी प्रकार बदल जाती है...मैलेरिया नाशक क्रिया किसी प्रकार कीटाणुओं की आवश्यक क्रिया में रुकावट डालकर करती है” एण्ड्रोजन और इस्ट्रोजन जैसी बहु प्रयुक्त औषधों के सम्बन्ध की भी यही कथा है “एण्ड्रोजन की क्रिया का रहस्य स्पष्टतया ज्ञात नहीं...इस्ट्रोजन की क्रिया का प्रकार तो इससे भी अन्धकारपूर्ण है।”

मुझे खेद है कि इस विषय को मैं शायद उचित से अधिक समय दे गया हूँ। परन्तु जो वैद्य आयुर्वेद के सिद्धान्तों का गात्र पोड़न करके उन्हें एलोपैथी पर कसना चाहते हैं वह तथा हेल्थ मिनिस्टर और एलोपैथी के अन्य समर्थक भी यह प्रतिपादन करने में कम आग्रह नहीं करते कि एलोपैथिक औषध व्यवस्था अनुभव के बल पर नहीं, (Non-empirical) केवल विज्ञान के बल पर की जाती है। इस ढकोसले की पोल खोलना आवश्यक बन गया था।

ख. आयुर्वेद में वैकल्पिक सिद्धान्त

हमारे शास्त्र में इस प्रकार परस्पर विरोधी तो नहीं किन्तु ऐसे वैकल्पिक सिद्धान्त विद्यमान हैं, जिनका समन्वय या सामञ्जस्य करने की कोई आवश्यकता नहीं। विपरीतार्थकारी औषध अपने स्थान पर दी जा सकती है और विपरीत अपने स्थान पर। क्रोध लोभादि मानसिक भावों की व्याख्या राजसिक, तामसिक गुणों द्वारा भी की जा सकती है। पैत्तिक आदि दोष क्रियाओं द्वारा भी। हमने सांख्य का वेदान्त के साथ और न्याय का योग के साथ कभी सामञ्जस्य करने का प्रयत्न नहीं किया। चरक ने सृष्टि की उत्पत्ति में यदृच्छावाद भी गिना दिया (यद्यपि नास्तिकवाद होने के

कारण उसका खण्डन भी किया) और ईश्वर संकल्प भी। यह आधुनिक विज्ञान के बड़े आचार्य सर जेम्स जीन्ज के सिद्धान्त का स्मरण दिलाता है कि संसार एक महान गणितज्ञ के मस्तिष्क में एक विचार मात्र है।

ग. सत्य वैचित्र्य

यह प्रकरण इस प्रश्न पर आ जाता है कि सत्य एक ही है कि दो या अधिक सत्य भी हो सकते हैं। मैं इस भाषण के आरम्भ में ही डाक्टर केनेथ वाकर के शब्दों में इस प्रश्न का उत्तर दे चुका हूँ। कोई भी सिद्धान्त समूह जिसकी उपयोगिता और परस्पर अविरोधता निश्चित है विज्ञान में सत्य के रूप में प्रयुक्त होनेका पात्र है। उस शास्त्र के जानने वालों के लिए न्याय, सांख्य, वेदांत, एलोपैथी, होमियोपैथी, नैसर्गिक चिकित्सा, सभी सत्य हैं। सलिवान लिखते हैं कि “यह याद रखना चाहिए कि सत्य से वैज्ञानिकों का वास्तविक अन्तिम अभिप्राय सुविधा से है। वैज्ञानिक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से अपने आपको कुछ भी समझें वास्तव में वह क्रिया साधक होते हैं।”

घ. एलोपैथिक दृष्टिकोण में आयुर्वेदिक परिवर्तन

ऐसे निश्चित चिन्ह व्यक्त हो रहे हैं कि एलोपैथी ऐसे दृष्टिकोण की ओर बढ़ रही है जिसकी आयुर्वेद से विशेष समता है। इस काल के कायचिकित्सा और शल्य के कुछ अग्रणी नेताओं द्वारा लिखे गये ग्रन्थ, जैसे कि Man the Unknown, Diagnosis of Man, Meaning and Purpose, A Doctor Digresses, इत्यादि, एलोपैथी की अपेक्षा आयुर्वेद के बहुत समीप हैं। अलेक्सिस कैरल लिखता है :—

“चिकित्सा विज्ञान की उन्नति इससे नहीं होगी कि और भी विशाल और अच्छे आतुरालयों का निर्माण कर दिया जाय या औषध निर्माण के लिये और भी बड़ी और अच्छी रसायन शालाएँ खोल दी जाएँ। इसकी उन्नति तो सर्वथा निर्भर है कल्पना शक्तिपर, रोगी के गम्भीर निरीक्षण पर, प्रयोगशाला के सच्चे और शान्ति में प्रयोग और

चिन्तन करने पर और अन्ततो गत्वा, रासायनिक रचना की रंगभूमि के पीछे जीवन के और मन के रहस्यों पर से पर्दा हटा देने पर ।”

एक दूसरे स्थान पर वह कहता है “गणित भौतिक और रस विज्ञान आवश्यक विज्ञान हैं परन्तु चेतन द्रव्यों की खोज में मूल प्रारम्भिक विज्ञानों (basic sciences) का स्थान इन्हें प्राप्त नहीं हो सकता ।” उसका यह आदेश कि “मानव जाति की दुष्ट और पतित बड़ी संख्या के नियंत्रण और पथ-प्रदर्शन के लिये सात्विक आहार विहार द्वारा आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले तपस्वियों की एक अल्पसंख्या बननी चाहिये” सर्वथा प्राचीन भारतीय सूक्त है । एक आधुनिक अपनी कुत्ती या घोड़ी के सङ्ग के लिये कठिन परिश्रम और लम्बी दौड़ धूप करके भी शुद्ध और ज्ञात वंश परम्परा वाले कुत्ते और घोड़े को ही प्राप्त करता है परन्तु स्वयं अपने सम्बन्ध में जीवन भर के साथी से नाता जोड़ते समय इस सिद्धांत की अवहेलना कर कहीं भी गिर पड़ता है । इस विषय पर भी अलैक्सि कैरल के विचार विशिष्ट रूप से प्राचीन भारतीय वंशशुद्धि की प्रथा के अनुसार है :—

“निस्संदेह प्रेम को पवनसदृश स्वतन्त्रगति वाला समझा जा रहा है । परन्तु जब हम देखते हैं कि कई युवक धनवाली स्त्रियों पर ही आसक्त होते हैं और कई युवतियों का प्रेम धनाढ्य पुरुषों पर ही गिरता है तो प्रेम की स्वतन्त्र वृत्ति की विचित्रता पर से विश्वास हिल जाता है । यदि प्रेम के कान धन की बात छन सकते हैं तो यह वंश स्वास्थ्य जैसे उपयोगी विचार के आगे भी झुक सकेगा ।”

यह लेखक आधुनिक क्षेत्र से इतने दूर निकल गए हैं कि वह मनुष्यों का वर्गीकरण उनकी प्रकृतियों के अनुसार करने लगे हैं जो एक सर्वथा आयुर्वेदिक विचार प्रणाली है । अत्यधिक विशेषता का विरोध करते हुए वह इसका लक्षण “न्यून से न्यून को अधिक से अधिक जानते जाना” इन

शब्दों में करते हैं । “उपयोगी होने के लिये हमारा ज्ञान संक्षिप्त और प्रामाणिक होना चाहिये । जब एक विशेषज्ञ अपने जीवन के आरम्भ से ही अपने को शरीर के किसी सूक्ष्म अवयव के अध्ययन तक ही सीमित रखता है तो उसका शेष सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान इतना न्यून रह जाता है कि उस न्यूनता के कारण वह उस भाग को भी पूर्णतया समझ नहीं सकता जिसका वह विशेषज्ञ है ।” इस वाक्य की तुलना वास्तव में संक्षिप्त और सुघटित त्रिदोष प्रणाली की उपयोगिता और व्यापकता से कीजिये । सम्राट् जॉर्ज के सर्जन डाक्टर केनेथ वाकर (जो रायल कालिज ऑफ सर्जन्स के हंटोरियन प्रोफेसर हैं) का यह लिखना स्वाभाविक ही है :—

“आज जब कि भारत पूर्णस्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका है, उसे अपने प्राचीन विज्ञान की निधि में से हमें बहुत कुछ प्रदान करना है ।”

(क्रमशः)

(१६२ पृष्ठ का शेषांश)

इस कविता का अभिप्राय यह है कि जब आसमान में बादलों की गड़गड़ाहट शुरू होती है, तब पृथ्वी के अन्दर इस वनस्पति के अंकुरों में जीवन का संचार होता है और यह धीरे-धीरे वर्षान्त में पुष्पित होती है, इसमें यह विशेषता है कि पुष्प के ऊपर पत्र होते हैं । मेरा जहां तक अनुमान है यह द्रोणपुष्पी है और इसका प्रयोग ज्वर नाशन के लिये वैद्यक जगत् में प्रसिद्ध है, किन्तु मैं पूर्ण निर्णय बूटी को देख कर ही कर सकूंगा । आशा है वैद्यबन्धु इस बूटी की भली प्रकार से खोज करेंगे और अपने-अपने अनुभव “सचित्र आयुर्वेद” द्वारा जनता के उपकारार्थ प्रकाशित करेंगे ।

अशोकारिष्ट

वैद्य सभाकान्त भा शास्त्री, स० सम्पादक

अशोक की छाल ५ सेर को यक्कुट कर अच्छे ताम्बे या पीतल के कलाईदार बरतन में १ मन ११ सेर १६ तोला जल में डालकर मन्दाग्नि से काथ बनावें। जब चतुर्थांश जल (१२ सेर १२ छटाँक ४ तोला) बाकी रहे तब उतार कर कपड़े से छान लें। छाना हो जाने पर उसमें १० सेर गुड़ मिलावें। पश्चात् भाँड या उत्तम काठ की टक्की में डालकर उसमें धाय के फूल ६४ तोला, स्याह जीरा, नागरमोथा, सोंठ, दाखलदी, नीलोफर, त्रिफला, आम की गुठली, सफेद जीरा, वासक छाल और सफेद चन्दन प्रत्येक का चूर्ण ४-४ तोला मिलाकर यथाविधि सन्धान करके १ माह बाद छानकर रख लें।

मात्रा और अनुपान—१। तोला से २॥ तोला तक समभाग जल मिलाकर भोजन के बाद दें।

गुण और उपयोग—स्त्रियों के होनेवाले प्रमुख रोग यथा—रक्त-श्वेत प्रदर, पीडितार्तव, पाण्डु, गर्भाशय व योनिभ्रंश, डिम्बकोष प्रदाह, हिस्टीरिया, बन्ध्यापन आदि तथा ज्वर, प्रमेह, अर्श, मन्दाग्नि, सूजन, अरुचि इत्यादि रोगों को नष्ट करता है।

अशोकारिष्ट में अशोक की छाल को ही प्रधानता है। अशोक की कई जातियाँ होती हैं, इनमें एक जाति के पत्ते रामफल के समान, फूल नारंगी के रंग के होते हैं, जो वसन्तऋतु में खिलते हैं। इसीको लैटिन में “जोनेसिया अशोक” कहते हैं और यही असली अशोक है। अशोकारिष्ट के लिये इसी अशोक की छाल लेनी चाहिये। यद्यपि शास्त्र में “अशोकस्य तुलामेकां चतुर्दोणे जलेपचेत्” इतना ही लिखा है। वहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि किस जाति के अशोक की छाल लें, परन्तु अनुभव से ज्ञात हुआ है कि

उपरोक्त अशोक-छाल द्वारा निर्मित अशोकारिष्ट जितना गुणप्रद होता है, उतना अन्य जाति के अशोक की छाल द्वारा निर्मित अशोकारिष्ट गुणप्रद नहीं होता। उपरोक्त अशोक बंगाल में बहुत परिमाण में मिलता है।

अशोक मधुर, शीतल, अस्थि को जोड़नेवाला, प्रिय-सुगन्धित, कृमिनाशक, कसैला, देह की कान्ति बढ़ानेवाला, स्त्रियों के शोक-रोग दूर करनेवाला, मलशोधक, पित्त, दाह, श्रम, उदर रोग, शूल, विष, बवासीर, अपच और रक्त रोग नाशक है।

डाक्टरों ने भी अशोक का रासायनिक विश्लेषण देखा है। इसके अन्दर के एल्कोहॉलिक एक्सट्रैक्ट में पानी के अन्दर घुलनेवाला है। इसमें टेनिन की मात्रा काफी पायी गयी है और एक इस प्रकार का प्राणि बनाना सम्भव रखनेवाला पदार्थ पाया गया है, जिसमें लोचकता मात्रा काफी थी। इसमें एल्केलाइड और इसेनशियल आइल की मात्रा बिल्कुल नहीं पायी गयी। अशोक के विषय में प्रायः प्रसिद्ध-प्रसिद्ध डाक्टरों का मत है कि अशोक की छाल बहुत सख्तप्राही है, क्योंकि उसमें टेनिन एसिड रहता है।

प्राचीन भारतवर्ष में अशोक-वृक्ष घर के पास लगाने की प्रथा थी, क्योंकि इसकी छाया सघन-शीतल होने के अतिरिक्त अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद होती है। रावण ने भगवती सीता को अपनी अशोक बाटिका में प्रायः इसीलिये रखा था कि परिस्थिति की प्रतिकूलताजन्य संकट में भी सीता का स्वास्थ्य और सौन्दर्य नष्ट न होने पाये। “दोहद” गर्भिणी स्त्री की “इच्छा” का नाम है। इसका सामान्य अर्थ इच्छा भी किया जाता है। कहते हैं जब अशोक वृक्ष में पुष्प

आते हैं, तो उसकी 'दोहद' होती है कि युवती स्त्रियाँ प्रसन्न होकर उसके पुष्पों को अपने चरणों से फुटवॉल की तरह उछालें। प्राचीन भारतीय इतिहास में भी इसके वर्णन मिलते हैं, जिससे पता चलता है कि भारतीय स्त्रियाँ अपने प्रमुख स्त्री-रोगों से मुक्त होने के लिये अशोक का विपुल परिमाण में इसका उपयोग कर स्वास्थ्य लाभ करती थीं।

वास्तव में अशोकारिष्ट स्त्रियों का परम मित्र है। इसका कार्य गर्भाशय को बलवान बनाना होता है। गर्भाशय की शिथिलता से उत्पन्न होनेवाले अत्यार्तव विकार में इसका उत्तम उपयोग होता है, गर्भाशय के भीतर के आवरण में विकृति, बीजवाहिनियों की विकृति, गर्भाशय के मुख पर, योनिमार्ग में या गर्भाशय के भीतर या बाहर व्रण हो जाना आदि कारणों से अत्यार्तव रोग उत्पन्न होता है। इसमें अशोकारिष्ट के उपयोग से अच्छा लाभ होता है।

कितनिक स्त्रियों को मासिक धर्म आने पर उदरपीड़ा के आदत पड़ जाती है। जिसे पीड़ितार्तव या कहते हैं। इस रोग में मुख्यतः बीजवाहिनी और योनि की विकृति कारण होता है। कितनी रूग्णाओं में पीड़ा अत्यधिक तीव्र रूप में होती है, कमर में भयङ्कर दर्द, सिर दर्द, वमन आदि लक्षण होते हैं। इस विकार में अशोकारिष्ट उत्तम कार्य करता है।

प्रदर रोग—मद्यपान, अजीर्ण, गर्भस्राव, गर्भपात, अति-मैथुन, कमजोरी में परिश्रम, चिन्ता, अधिक उपवास, गुप्तांगों का आघात, दिवाशयन आदि से स्त्रियों का पित्त दूषित होकर पतला और अम्लरस प्रधान हो जाता है। यह खून को भी वैसा ही बना डालता है, फलतः शरीर में दर्द, कटिशूल, सिर दर्द, कब्ज तथा वेचैनी आरम्भ हो जाती है, साथ ही योनिद्वार से चिकना, लस्सेदार, सफेदी लिये, चावल के धोवन के समान पीला-नीला, काला, रूक्ष, लाल, भागदार मांस के धोवन के समान रक्त गिरने लगता है। रोग पुराना हो जाने पर उससे दुर्गन्ध निकलने लगती है और रक्तस्राव मज्जामिश्रित भी हो जाता है। ऐसा हो

जाता है कि चलते-फिरते उठते-बैठते हरदम खून जारी रहता है, कोई अच्छा कपड़ा पहनना मुश्किल हो जाता है। कभी-कभी खून के बड़े-बड़े जमे हुए कलेजे के समान टुकड़े गिरने लगते हैं।

इस अवस्था में खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना सब मुश्किल हो जाता है। यह हालत लगातार महीनों तक चलती है। कभी-कभी किसी उपचार से या अधिक रक्ताभाव से कुछ दिन के लिए खून का वेग बन्द हो जाता है। परन्तु फिर वही हालत हो जाती है। इस प्रकार तमाम शरीर का रक्त गिर जाता और शरीर बिल्कुल रक्तहीन हो जाता है। पाचन शक्ति बिल्कुल खराब हो जाती है। अतः नया रक्त भी नहीं बन पाता है। अशोकारिष्ट उपरोक्त उपद्रवों को दूर कर शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए अपूर्व गुणकारी दवा है।

इसी तरह श्वेतप्रदर में रक्त की जगह सफेद और गाढ़ा, लस्सेदार पानी गिरता है। इसकी उत्पत्ति के दो स्थान हैं योनि की श्लेष्मिक कला तथा गर्भाशय की भीतरी दीवाल, यह रस इसी कला या त्वचा में बनता है और निकलता रहता है। थोड़ा-बहुत रस तो यह त्वचा बनाती ही रहती है, जो योनि को तर रखने के लिए आवश्यक भी है। किन्तु अधिक सहवास के कारण इस स्थान में विकृति पैदा हो जाने से यह रस अधिकता से बनने लगता है, और फिर योनि मार्ग से सदा सफेद, लस्सेदार पदार्थ गिरता रहता है। पहले तो गन्धरहित, फिर दुर्गन्ध युक्त स्राव होने लगता है और पीड़ा भी धीरे-धीरे बढ़ने लगती है। इस रोग में भी सभी उपद्रव होते हैं, जो रक्त प्रदर में होते हैं। अशोकारिष्ट इन उपद्रवों को दूर करने की प्रसिद्ध दवा है।

पीड़ितार्तव में—मन्द ज्वर होता है। मासिक धर्म बड़े कष्ट से और कम होता है, कमर, पीठ, पार्श्व आदि सभी अंगों में बहुत दर्द होता है। पेशाब भी बड़े कष्ट से उतरता है। इस रोग में सब से अधिक पीड़ा बस्ति स्थान (पेडू) में होती है। इससे मुक्त होने के लिए अशोकारिष्ट का सेवन अवश्य करना चाहिए।

अशोकारिष्ट

२०३

गर्भाशय अंश व योनिभ्रंश में—मैथुन क्रिया का ज्ञान नहीं रहने के कारण या कामोन्माद वश मूर्खता पूर्ण ढंग से मैथुन करने पर गर्भाशय तथा योनि दोनों अपने स्थानसे हट जाते हैं। गर्भाशय तो भीतर ही टेढ़ा होकर नाना प्रकार की पीड़ा का कारण बनता है, और योनि बाहर निकल आती है, या बार-बार बाहर-भीतर आती-जाती रहती है। इसके साथ पेड़ और कमर में दर्द होना, पेशाब करने में दर्द होना, श्वेत प्रदर का जारी होना, तथा मासिक धर्म कम होना, या विलकुल बन्द होना आदि लक्षण होते हैं, ऐसी स्थिति में अशोकारिष्ट का तो सेवन करावें ही। साथ में चन्दनादि चूर्ण त्रिवंग भस्म मिलाकर सुबह-शाम दूध के साथ देने से शीघ्र लाभ होता है।

डिम्ब कोष प्रदाह में—यह रोग ऋतु काल में पुरुष के साथ संगम करने से होता है, व्यभिचारिणी और वेश्याओं को यह रोग अधिक होता है। इसमें पीठ और पेट में दर्द होना, वमन होना, रोग पुराना हो जाने पर योनि से पीव निकलना आदि लक्षण होते हैं। स्त्रियों के लिए यह रोग बहुत लाभदायक है। इसमें प्रातः-सायं चन्द्रप्रभावटी १-१ गोली तथा भोजनोत्तर अशोकारिष्ट बराबर जल मिलाकर पिलाने से शीघ्र लाभ होता है।

हिस्टीरिया में—ज्ञायु समूह की उग्रता से यह रोग पैदा होता है, रोग पैदा होने से पहले छाती में दर्द, तथा शरीर और मन में ग्लानि उत्पन्न होती है, ऐसे देखने में तो यह रोग मृगी जैसा ही प्रतीत होता है। परन्तु इसमें रोगिणी के मुँह से झाग नहीं आते। कभी-कभी इस रोग के रोगी के पेट में नीचे से एक गोला सा उठकर ऊपर की ओर आ जाता है। गर्भाशय सम्बन्धी किसी भी रोग से यह रोग उत्पन्न हो सकता है। यह रोग बड़ा दुष्ट और नवयुवतियों को बहुत तंग करता है। अशोकारिष्ट के सेवन से उपरोक्त सब उपद्रव दूर हो जाते हैं।

पाण्डु रोग—स्त्रियों के रक्त प्रदरादि कारणों से रक्त क्षय होकर उसका शरीर पीताम्ब रंग का हो जाता है, इसमें

शारीरिक शक्ति का क्रमशः हास होने लग जाता है, शरीर कमजोर होने लगता है। आलस्य और निद्रा हरदम घेर रहती है। थोड़ा भी परिश्रम करने से भ्रम-चक्कर आने लगते हैं, भूख नहीं लगती। यदि कुछ खा भी लें, तो मन्दाग्नि के कारण हजम नहीं हो पाता, जिससे पेट भारी बना रहता है। यदि कदाचित् तरुणावस्था में यह रोग हुआ, तो यौवन का विकास ही रुक जाता है। और स्त्री अपनी जिन्दगी से निराश रहने लग जाती है। इस दुष्ट रोग का कारण बहुमैथुन या बालविवाह है। इस रोग में प्रातः-सायम् नवायसलौह और भोजनोपरान्त अशोकारिष्ट में समभाग लौहासव बराबर जल मिलाकर देने से अशांति लभ होता है।

उद्ध्वग रक्त पित्त के लिए अशोकारिष्ट अत्युत्तम औषध है। रक्तार्श में भी विशेषतः वेदना या जलन होने पर अशोकारिष्ट के सेवन से लाभ होता है। परन्तु—

ध्यान रहे

उपरोक्त दोष नष्ट करने की शक्ति उसी अशोकारिष्ट में रहती है, जो शुद्ध औषधियों के योग से विधिवत् शास्त्रानुसार तैयार किया गया हो। आसवारिष्टों का बनाना साधारण काम नहीं है। इसमें खास अनुभव की आवश्यकता है, थोड़ी-सी भी गलती होने पर आसवारिष्ट बिगड़ जाते हैं और सिरका आदि अम्ल रस प्रधान और ही कुछ पदार्थ बन जाते हैं, जो लाभ के बदले नुकसान ही करते हैं। प्रायः लोग अशोक की छाल पंसारियों के यहाँ से लाते हैं और अशोकारिष्ट में जितनी दवाइयाँ लिखी हैं यदि वे सब नहीं मिलीं तो जो भी मिल गयीं, वेही डालकर पानी में घोलकर छोड़ देते हैं। कुछ दिनों के बाद निकालकर छान करके बोतल में भर देते और अशोकारिष्ट के नाम से बाजार में बेचते हैं। ऐसी दवा के सेवन से हानि ही होती है। वैद्यनाथ अशोकारिष्ट में प्रमाणिक शुद्ध अशोक-छाल दिया जाता है और सभी औषधियाँ उचित तौल में देकर विधिवत् अनुभव की वेद्यों की देखरेख में प्रस्तुत किया जाता है। यही कारण है कि वैद्यनाथ अशोकारिष्ट निश्चित रूप से लाभ करता है।

शोभाजन

वैद्य अवनीश मिश्र, आयुर्वेदाचार्य

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी स्थानों में प्राप्य है। इसका क्ष कहीं-कहीं तो बहुत ऊँचा अर्थात् ३०-४० फीट तक का खा गया है। इसके वृक्ष दूर से देखने में बकायन के वृक्ष की राँति लगते हैं, पत्र भी पतले, तथा एक पत्र दण्ड में अनेकों धान से फूटकर घने हो जाते हैं। चित्र में जो इसका आकार दिया गया है वह बिल्कुल यथार्थ ही है।

कार्तिक-से इसमें पुष्प आने आरम्भ हो जाते हैं, जो कुछ रक्त व श्वेत वर्ण के नीचे को लटके हुए गुच्छों में बहुत प्रिय गन्ध के होते हैं, और फिर माघ-फागुन में इसकी फलियाँ भी आनी शुरु हो जाती हैं जो कि आधे इञ्च से पौन इञ्च तक मोटी और डेढ़ से दो फीट तक की लम्बी हरी-हरी होती हैं, लोग इनका शाक बनाकर भी खाते हैं, कहीं कहीं तो अचार भी डाला जाता है। जब फलियाँ बैशाख-जेठ तक पक जाती हैं तो उनमें से श्वेत वर्ण का कोणदार बीज निकलता है।

इस वृक्ष की त्वचा एक-एक दा-दो अंगुल मोटी और भीतर से श्वेत वर्ण लिये निकलती है, जिसमें कि काफी रस होता है। एक सेर छाल में से पाव भर रस सुगमता से निकल आता है। यह पीने में कटु और एक विशेष गन्ध लिये होता है जिससे कि रोगी शीघ्र ऊब जाता है। इसके पत्रों के तथा त्वचा के स्वरस को ही अधिकतर औषधि रूप में व्यवहार करते हैं।

आचार्यों ने शोभाजन वृक्ष तीन प्रकार का माना है श्वेत, कृष्ण और रक्त। श्वेत शोभाजन को ही शोभाजन (शिग्रु), कृष्ण को कृष्णगंध या तीक्ष्ण गंध माना है, और रक्त शोभाजन को मधुशिग्रु, अक्षीव, मोचक आदि नाम दिये हैं। किन्तु यह नाम भेद व्यवहार और गुण भेद होने से किया गया है।

इसकी त्वचा जो तने से ली जाती है, उसमें और इसके मूल-त्वक् के गुणों में भेद है।

चरक ने इसके मूल में आसव निर्माण शक्ति मानी है, यह शीघ्र Fermentation सन्धान आरम्भ कर देता है। और जो एकादश मूलासव हैं वहाँ—विदारी गन्धा...कृष्ण गन्धा शतावरी...चित्र मूलैरेकादश मूलासवा...या फिर यह कि आसव निर्माण में यदि शोभाजन प्रयुक्त करना हो तो इसकी मूल डालनी चाहिये। दूसरी बात इसके मूल वामक गुण युक्त है। इसी से विमान स्थान चरक में शिग्रु मूल को वामक द्रव्यों में रखा है। चरक ने इसके मूल में अग्मरी पातक गुण भी लिखे हैं इसके अतिरिक्त मूत्रकृच्छ्र में भी इसका छिलका प्रयुक्त किया जाता है। जहाँ तक ख्याल है कि 'क्षारस्तिको विदाहकृत्' जो गुणों का वर्णन करते समय लिखा गया है वह क्षार (Alkalies) इसके मूल में ही अधिक होते हैं। इसके मूल भाग को उपरोक्त गुणों के लिये प्रयोग में लाना चाहिये।

चिकित्सा क्षेत्र में फल और बीज का जहाँ प्रयोग आया है वहाँ वह ग्रहणी में ही देखा गया है। वाग्भट ने जहाँ ग्रहणी में इसका प्रयोग दिया है, वहाँ कुछेक लक्षण ऐसे आ जाते हैं कि जैसे (Spore) में होते हैं, वह योग पटोलादि चूर्ण का है, जिसमें कि शिग्रुफल...पाठ आया है। चरक ने संग्रहणीमें "मधु शिग्रुस्य बीजानि" इसके बीजग्रहण किये हैं। बीज का प्रयोग नेत्रगत विष में चरकाचार्य ने इनके बीजों में एक प्रकार का तैल बताया है। चरक के मतानुसार शिग्रु स्थावर स्नेह योनि वाले द्रव्यों में से है (च० सू० १३१८)। बीजों का प्रलेप वातरक्त को पीड़ा में और मूर्च्छा में शिरोविरेचन के निमित्त इसके बीजों के चूर्ण की नस्य देते हैं।

फल क्रिमिनाशक है, इसके क्वाथ की वस्ति Lolon के क्रिमि को नष्ट करती है। चरक के मतानुसार फलों के प्रयोग के साथ दूध का प्रयोग वर्ज्य है।

प्रयोग विवेचन—शोभांजन के प्रयोग के विषय में कई मत देखे जाते हैं। कहीं पत्र, कहीं मूल, कहीं बीज का प्रयोग होता है और वैसे तो बहुधा इसकी त्वचा का प्रयोग होते देखा गया है और है भी ठीक ही, क्योंकि त्वचा के प्रयोगार्थ चरक ने जिन तीन वृक्षों की त्वचा लेने का आदेश दिया है उसमें कृष्ण गन्धा अर्थात् शोभांजन को भी लिया है यथा—पूतिकः कृष्ण गन्धा च तिलकश्च तथातः। और है भी युक्ति संगत, हम देखते हैं कि अन्य वृक्षों की अपेक्षा इसकी त्वचा अत्यन्त मोटी और गूदेदार होती है। कहीं-कहीं तो बताने वालों ने बताया है कि इसकी त्वचा चार-चार अंगुल तक मोटी देखी गई है। फिर दूसरी बात यह कि इस वृक्ष के पत्रों, फलियों और अन्तःकाष्ठ की अपेक्षा अधिक स्वरस त्वचा से इसको निकलता है, और त्वचा से स्वरस निकालते समय अधिक परेशानी भी नहीं उठानी पड़ती है।

प्रायः देखा गया है कि वृक्ष के बहुधा सत्त्व या (Alkaloids) उसके तने में होते हैं। जिन वृक्षों या लताओं के पत्र मोटे दल के होते हैं उन वृक्षों के प्रभावकारी सत्त्व उसके पत्र में ही होते हैं। जैसे—पत्थरवेर (जिसे पानपत्ता भी कहते हैं), सुदर्शन, घृतकुमारी इत्यादि, इनकी शाखा मूल और पुष्पों की अपेक्षा इनके पत्र में ही प्रभावकारी सत्त्व होते हैं। इसी प्रकार कुछेक वृक्षों के मूल में ही अधिक गुणवान् द्रव्य होते हैं। जैसे—मूली, गाजर, आलू, कलिहारी, सूरणकंद, विदारिकंद तथा बाराहीकंद। कुछ द्रव्यों के पुष्पों में जैसे—गुलाब में रेचक गुण, धायपुष्प तथा मधूक पुष्प में आसव के सन्धान कारक गुण अधिक होते हैं। इसी प्रकार बहुधा वृक्षों में विशेष गुण त्वचा में ही अधिक होता है। पूति करंज, शोभांजन तिलक, सिन्कोना, दालचीनी, गिलोय इत्यादि। इनमें सत्त्व तैल इत्यादि प्रधानतया त्वचा में ही अधिक विद्यमान रहते हैं।

हमने त्वचा का स्वरस निकालकर उसे प्रयुक्त कराया, पत्र स्वरस की अपेक्षा त्वचा स्वरस सुगमता से पेय है, क्योंकि अप्रिय नहीं होता, तथा शीघ्र गुणकारी होता है। पत्रों के स्वरस में उसकी हरियाली भी आ जाती है (Chlorophylle) जो अपना प्रथक् रासायनिक गुण रखती है। फिर यदि इसकी फलियाँ लेकर उनका स्वरस निकाला जाय तो प्रथम तो स्वरस थोड़ा निकलता है दूसरे उसमें मधुर श्वेतसार (Carbohydrate) के अंश बहुधा आ जाते हैं, जो कभी-कभी पाचन संस्थान पर प्रतिक्रिया भी कर सकते हैं और यह रोगी को निराहार रखने की नीति के विरुद्ध हो जाता है। फिर शीघ्र गुणकारी भी नहीं, वर्ष की सभी ऋतुओं में अप्राप्य, और इसके अतिरिक्त बीज पड़ जाने पर गुण परिवर्तन भी हो जाते हैं। उसमें प्रोटीन, बसा, तथा फाईवीन अधिक बन जाता है, चूने की मात्रा और परिमाण में असमानता हो जाती है और सूख जाने के बाद वह फली केवल बीज कोष ही रह जाती है, जिसके अन्दर की समस्त सामिग्री बीज, उसके रेशों में परिवर्तित होकर रह जाती है।

इसके पत्ते भी जब तक नरम रहते हैं काफी मात्रा में स्वरस दे सकते हैं, परन्तु उसमें जलीयांश अधिक और रसायनिक द्रव्य थोड़े होते हैं, अतएव गुणकारी कम होते हैं, फिर ज्यों-ज्यों पल्लव कठोरता को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पक्व होते जाते हैं उनमें कैल्शियम, क्लोरोफील रासायनिक द्रव्य मिश्रित होते हैं तथा जलीयांश न्यून मात्रा में होता है, जिसके कारण यदि उसका स्वरस निकाला जाय तो उसके द्रव्य छाने हुए फोक में ही रह जायेंगे और उधर स्वरस भी थोड़ा और विषम गुण वाला हाथ लगेगा। अतएव त्वचा का उपयोग करना मैं ठीक समझता हूँ और आचार्यों की सम्मति तथा उपदेश भी यही है।

अब यह बात चिकित्सक के ऊपर आधारित है कि वह अपने अनुभव, बुद्धि से जिस प्रकार चाहे रोगानुसार उसका प्रयोग पत्र, पुष्प त्वचा आदि के रूप में करें। प्रयोग करने के पूर्व उन्हें सोच लेना चाहिये कि जिस रोग के लिये वह

शोभाजन प्रयुक्त करा रहा है उसमें वृक्ष का कौन-सा भाग प्रयोग कराना उचित होगा। यही नहीं कि हमने लिख दिया कि त्वचा का प्रयोग श्रेष्ठ है तो सर्वत्र उसी का प्रयोग हो। हाँ यह अवश्य है कि जहाँ तक हो सके सौ में नब्बे प्रतिशत स्थान पर त्वचा का ही प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि शोभा-जन की रसीली त्वचा में ही रोग समूह नाशक प्रभाव अधिक है, जो सभी ऋतुओं में गीली छाल से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ इसके पेड़ दुर्लभ हैं वहाँ स्वरस मिलना कठिन और असम्भव है, अतएव इसकी सूखी छाल को कूटकर गरम पानी में ४-६ घंटे भिगोकर स्वरस निकालना चाहिये अथवा क्वाथ बनाकर प्रयोग में लाना चाहिये, किन्तु इस प्रकार से गुणों में कुछ न्यूनता अवश्य आ जाती है। स्वरस को Preservative रक्षक औषधि जैसे—Rectified spirit डालकर या संजीवनी सुरा (उत्तम) डालकर रख लेना चाहिये, एक औंस Spirit काफी है।

मैंने त्वचा के स्वरस की रसक्रिया करके घनसार नहीं बनाया अतः नहीं कह सकता कि इसका घनसार भी उतना प्रभावकारी सिद्ध हो सकेगा या नहीं पर जिज्ञासु और अन्वेषकों को अवश्य इसका घनसार का प्रयोग करके देखना चाहिये।

इसके स्वरस के एक भाग में नौ भाग Alcohol Absolute मिलाकर, चार-पाँच दिन धूप में रखकर फिल्टर पेपर या ब्लाटिंग द्वारा छानकर पहले, अलकोहल द्वारा शुद्ध शीशी में रख लेना चाहिये, इस प्रकार इसका Mother Tincture बन जायेगा और प्रतिमात्रा ५ से १५ बूँद, अधिक भी प्रयोग किया जा सकता है।

हमारे प्रयोग द्वारा किये हुए अनुभव में इसे अधिक मात्रा में सेवन करा देने पर भी कोई विपैला लक्षण कभी नहीं दिखाई दिया। हाँ, एक-दो बार इतना अवश्य हुआ कि रोगी को मल-मूत्र खुलकर आने लगे, जो पतला होकर अतिसार का रूप धारण कर सकता है। लेकिन मात्रा कमकर देने या एक दो दिन औषधि बन्द कर देने से सम्भवतः

ये लक्षण दूर हो जाते हैं। वमन का होना इसकी उग्र तथा अप्रिय गन्ध के कारण हो सकता है, तथा आमाशय में खराश पैदा हो जाने से भी वमन आ सकती है, परन्तु आज तक वमन होने का दृष्टान्त मुझे अपने रोगियों में नहीं मिला। अतएव चिकित्सक को बिना संकोच और भय के इसका प्रयोग कराना चाहिये।

रोग निर्देश—Indications—यह शोभाजन आन्तरिक विद्रधि में अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाता है। और बाह्य विद्रधि में भी उसी प्रकार सिद्ध हुआ है। हमारे लिखे गये थोड़े से विवरण से ज्ञात हो जायगा कि इसका गुणकारी प्रभाव प्रायः चौबीस घंटे के अन्दर प्रारम्भ हो जाता है। और पाँच-सात दिन में रोगी मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

संक्षेप में पाठक यह जान लें कि जहाँ-जहाँ पर sulphonamide sulphanilamide के अन्य-अन्य प्रचलित योग जैसे Septanilum, Sulfanil, Cibazol, Sulfathi-azol इत्यादि प्रयोग होते हैं, वहाँ-वहाँ उतने ही प्रभावकारी रूप से हम शोभाजन को प्रयोग कर सकते हैं, यही नहीं यत्र-तत्र सर्वत्र हम उपरोक्त विदेशी औषधि प्रयुक्त नहीं कर सकते परन्तु शोभाजन को निरापद और निस्संकोच व्यवहार में ला सकते हैं। ऐसा मेरा और शास्त्र का मत है। प्रयोगो-परान्त जब रोग की सूची तय्यार की जाय तो Penicillin से भी अधिक रोग संख्या हमें इसकी मिल जायेगी।

इसका विशेष प्रभाव उदर विभाग, उदरक्षेत्र में उत्पन्न होनेवाली अन्तर्विद्रधियाँ, जिसमें आन्त्र पुच्छ शोथ (आमज तथा सपाक), यकृत विद्रधि, प्लीहाविद्रधि, हृदय शोथ, फुफ्फुस प्रदाह, निमोनिया, वृक्क शोथ, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, गुदपाक, उदर क्रिमिजन्य उपद्रव, क्रिमिरोग, अर्शाङ्गुर प्रदाह, आन्त्रिक शोथ, कर्णपाक, मुखपाक, गलशोथ, अष्ट व्रण, मेनिनजाइटिस (मस्तिष्कावरण प्रदाह), पीनस, शोथ, जीर्ण शिरोरोग, बाह्य प्रयोगार्थ में सशोथ व्रण, संक्रमित व्रण, धनुर्वात, विसर्प, शोथ, व्रणशोथ इत्यादि पर होता है।

उक्त रोगों के नाम इसलिये नहीं लिखे गये कि ये-ये नाम हमें याद आते गये और हम लिखते गये, बल्कि इन-इन पर हमने अनुसन्धान करके सफलता पाई है। अथवा इन-इन रोगों पर शास्त्र में शोभाजन का प्रयोग मिलता है।

जब अन्तर्विद्रधि में इसका प्रयोग करना हो तो तात्कालिक अथवा शीघ्र लाभ के लिये इसको बाह्य Local स्थानीय तथा आभ्यन्तरिक Internal दोनों प्रकार से कल्पवत् “पान भोजनलेपेषु मधुशिशुः प्रयोजितः” के अनुसार पीने, भोजन तथा लेपार्थ प्रयुक्त करें।

इसकी ताजी त्वचा को खरल में या सिल पर पीसकर निचोड़ कर स्वरस निकाल लेना चाहिये, उसे प्रातः सायं बलावल के अनुसार युवा को दो तोले के लगभग, बालकों को उनकी अवस्था के अनुसार १ मासे से ६ मासे तक या एक तोले तक मधु मिलाकर देना चाहिये। इसे पीने के एक घण्टे पूर्व या बाद में भोजन नहीं करना चाहिये, ताकि औषधि अपना प्रभाव खाली पेट कर सके।

दूसरी प्रयोग विधि यह है कि उस रोग नाशक औषधि के साथ इसे अनुपान रूप में देना चाहिये, उपरोक्त मात्रा का ध्यान रखना आवश्यक है।

और तीसरी विधि जो हम प्रयोग करते हैं वह यह है कि सुबह-शाम एक-एक रक्तो समगंधक मिलित कजली का खिलाकर ऊपर से इसके स्वरस को पिला देते हैं, इसके अभाव में रस-सिन्दूर भी दिया जाता है तथा चन्द्रोदय, मकरध्वज भी देय है, क्योंकि योगवाही होने से वह प्रभाव को बढ़ा देता है। यह हमारे पूज्य कविराज उपेन्द्रनाथ दास जी देहली वालों की प्रयोगविधि है, जिसे मैं अपनाये हुए हूँ और कजली के विषय में लिखा भी मिलता है कि—

समे गन्धे तु रोगघ्नो द्विगुणे राजयक्ष्मजित् ।
जीर्णे गुणत्रये गन्धे कामिनी दर्पनाशनम् ॥
चतुर्गुणे तु तेजस्वी सर्व शास्त्र विशारदः ।
भवेत्पंच गुणे सिद्धः षड्गुणे मृत्युजिह्ववेत् ॥
अतएव अभाव में कजली ही गुणदायक लगती है।

इसे जब सर्व रोगघ्न बनाना हो तो समगुण (समवलि) कजली, अथवा समवलि जाति रससिन्दूर, तथा मकरध्वज आदि का मिश्रण करना आवश्यक होता है। दुर्बल रोगी में प्रथम दिन (कल्पविधि समान) एक समय ही कजली प्रयुक्त करते हैं, किन्तु इसका स्वरस दोनों समय देना पड़ता है।

फिर जब इसका प्रयोग कराया जाता है तो उस समय Sulphanilamide के प्रयोग विधि में वर्णित आदेशानुसार रोगी के रक्त में औषधि प्रचुर मात्रा में एकत्रित हो जाने पर ही लाभ की सूरत दिखाई दे सकती है, हम अपने शोभाजन को भी रोगी के रक्त में अधिक Concentrated मात्रा में पहुँचाने की चेष्टा करते हैं कि जिससे प्रभाव शीघ्र दृष्टिगोचर हो। प्रयोग करके भी देख लिया गया है कि न्यून मात्रा में औषधि कभी-कभी आशुफल प्रद सावित नहीं होती, परन्तु जब मात्रा बढ़ा दी जाती है तो रोग नाशक प्रभाव कुछ घंटों में ही दिखाई देने लगता है। चिकित्सकों को इसका प्रयोग जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है निस्संकोच करना चाहिये।

इसमें विशेषता यह है कि जो Sulphonamide में नहीं है, यह उसकी तरह हृदय को हानि नहीं पहुँचाती क्योंकि हृदय रोग (हृदय विद्रधि) पर इसे प्रयुक्त करने की आज्ञा दी गई है। विशेष कर वहाँ जहाँ हृदय विकारजन्य तमक श्वास हो। ग्रन्थ कर्ताकर्ता का भी आदेश है—

पान भोजन लेपेषु मधुशिशुः प्रयोजितः
दत्तावापो यथादोषमपक्वं हन्ति विद्रधिम् ।

विद्रधि तो दूर हो ही जायेगी चाहे कहीं की भी हो। पूर्ण प्रमाण मिलता है कि हृदय के शोथ Carditis से लगाकर हृदयविद्रधि तक के लिये यह उपयोगी है। ये गुण आज Sulphanilamide में नहीं हैं, उसको प्रयुक्त करते समय ध्यान रखा जाता है कि कहीं इसके अति या मिथ्या प्रयोग से हृदयज विकार न हो जायें, और इसके शोधित प्रयोगों को प्रयुक्त करना पड़ता है। किन्तु इसमें कोई परेशानी नहीं है। योग्य चिकित्सक इससे नस्य, लेप, बस्ति, तथा भोजन की

कल्पना कर सकता है। हम लेप के लिये भी त्वचा का केवल चटनी की तरह पिसा हुआ कलक का स्थानीय लेप Local Application उपचार स्वरूप करते हैं। तथा कभी कभी इसके स्वरस में कपड़े की गद्दी तर करवाकर रखवाते हैं, जिससे आशातीत लाभ होता है। किसी वस्तु का तेल पाक विधि से तैल सिद्ध करके प्रयोग कर सकते हैं, लेकिन शोभाजन का तैल पाक करने के उपरान्त लेपवत् प्रयोग करने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। श्रद्धा न होने के कारण हमारे अभिप्राय की उसमें सिद्धि भी नहीं होती। दूसरे यह कि मैंने कभी इस प्रकार प्रयोग भी नहीं किया है। यही विचार शोभाजन घृत के बारे में भी है। विद्वान्, अन्वेषक यदि चाहें तो इस ओर अपना कदम उठा सकते हैं। लेकिन इस प्रकार से इसका प्रयोग करने में एक अछुविधा भी चिकित्सक तथा रोगी दोनों के लिये होगी। यह मुझे जान पड़ता है।

भोजन में रोगियों के विशेषकर उदरस्थ विकारों में इनकी फलियों का शाक खाया जा सकता है, लेकिन जब तक वह कड़ी और रेशदार न हों अर्थात् कोमल रहें। क्योंकि उनके रेशों से पेट में गैस पैदा होकर आध्मान इत्यादि हो जाते हैं। अतएव कोमल रहते इसका प्रयोग सर्वथा उचित है। इसके अतिरिक्त सहज उपाय यह है कि या तो इसके स्वरस को साबूदाना, दलिया, खीर, खिचड़ी में मिलाकर देना चाहिये या फिर क्षीरपाक विधि से इसका दूध साधित करके रोगी को देना चाहिये। हम तो प्रायः इसी विधि को प्रयुक्त करते हैं।

नस्य में इसके स्वरस अथवा पुष्प चूर्ण या छाल का

कपड़छन किया हुआ चूर्ण प्रयोग में लाना चाहिये, इससे शिरोविरेचन होगा और जीर्णशिरो रोग ठीक हो जायेगा। हमने प्रयुक्त किया है। स्वरस की नस्य दी गयी थी और इसी प्रकार मस्तिष्कावरण शोथ Meningitis (Meningo coccus) के संक्रमण में प्रयुक्त करने से लाभ होता है। इसका भी प्रयोग करने पर लाभ हुआ।

वस्ति प्रयोग में अर्थात् Douche में तथा Enema द्वारा हम इसे मूत्राशय, अशमरी, मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त कर सकते हैं और उदरस्थ कृमियों के नाश के लिये, आन्त्रिक ग्रन्थों Cotitis में यह एक सफल चिकित्सा होती है। इसे सूजाक इत्यादि में एक छटाँक के लगभग स्वरस को गरम करके (गुनगुना) पिचकारी द्वारा मूत्राशय में प्रविष्ट करना चाहिये, नित्य दो बार प्रयुक्त करने से चमत्कारिक गुण देखने में आते हैं। साथ में दो या तीन तोले स्वरस कज्जली सहित मुख द्वारा भी दे देने से आवश्यक लाभ होता है।

आँतों के संक्रमित हो जाने पर जब कि आँते Septic हो जाती हैं और रोग मन्थर के समान रहने लगता है तब इसे मुख और वस्ति द्वारा प्रयुक्त कराके लाभ उठाया जा सकता है। इसका प्रभाव आन्त्रिक, पाचक रसों की उपस्थिति और अनुपस्थिति में Ameobic Dysentery के कृमियों को नष्ट करके उसके विष Toxius के विकारों को नष्ट करके प्राणीमात्र को आरोग्यता प्रदान कर सकती है या नहीं, इसकी खोज करनी चाहिये।

महिषीक्षीर (भैंस का दूध)

सुश्रुत ने भैंस के दूध के गुण-कर्म लिखे हैं :

महाभिष्यन्दि मधुरं माहिषं वह्निनाशनम् ।

निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतरं गुरु ॥

सु० सू० ४५।५५

भैंस का दूध अत्यन्त अभिष्यन्दी, अग्निनाशक, निद्रा (सुस्ती और नींद) उत्पन्न करनेवाला, मधुर एवं गोदुग्ध की अपेक्षा अधिक शीत, स्निग्ध और गुरु होता है।

जो द्रव्य अपने पिच्छिल स्वभाव के कारण रस और रक्त का वहन करनेवाले तथा अन्य स्रोतों में लेप और अवरोध कर गौरव (भारीपन) उत्पन्न करें उन्हें अभिष्यन्दी कहते हैं। आज, जब कि अग्नि को मन्द करनेवाले अगणित कारण जीवन में व्याप्त हो गये हैं, भैंस का महाभिष्यन्दी, अग्निनाशक एवं रस के शोषण में विघ्नकर्ता तथा स्फूर्ति और लाघव (हलकेपन) का हरण करनेवाला दूध कितना वर्जनीय है, इसका विचार वाचक भली भाँति करें।

—वैद्य रणजितराय

सुपारी

श्रीयुत भानु देसाई

यह लेख मैं बंगलौर में बैठा लिख रहा हूँ। बंगलौर-समान सुन्दर और सुहावना शहर, यहाँ के से बाग-बगीचे और नर्सरियाँ दक्षिण में अन्यत्र कहीं नहीं हैं। उस पर वर्षाकाल में तो यह नगरी अपूर्व ही वेष-परिधान करती है। जी० आई० पी० रेलवे ने एक गाड़ी को 'दक्षिण की रानी' नाम दिया है। उसके स्थान पर इस नगरी को ही 'दक्षिण की रानी' अभिधान दिया जाय तो उपयुक्त हो।

मैसूर और बंगलौर के आसपास अनेक फूल और फल होते हैं। उनमें सुपारी की कृषिका पद भी आर्थिक दृष्टि से महत्त्व का है। दक्षिण भारत में लगभग १५०,००० एकड़ भूमि में सुपारी बोई जाती है। उसमें २०,००० एकड़ भूमि में सुपारी की कृषि मैसूर में होती है। मुंबई के वेला-विभाग (समुद्र तीर के निकट के प्रदेश) में २०,००१० एकड़ तथा मद्रास में ११३, ७५० एकड़ भूमि में इसकी वाटिकायें लगायी गयी हैं। इसके अतिरिक्त निकट ही गोआ में तथा बंगाल और आसाम की ओर भी सुपारी की पुष्कल कृषि होती है।

दक्षिण भारत सुपारी की कृषि के कारण प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। दक्षिणापथ के वर्णन में संस्कृत कवियों की दृष्टि से यह बची नहीं है। स्वयंवर में पंक्ति बद्ध राजाओं और राजपुत्रों का परिचय देती हुई सुनन्दा ने

इन्दुमती को पाण्ड्य का परिचय देते हुए सुपारी की वाटिकाओं का भी स्मरण किया है :

ताम्बूलवल्लीवरिणद्धपूगास्वेलाताललिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥

(रघुवंश छठा सर्ग)

—देवि, ताम्बूल की लताओं ने पूरा (सुपारी)—
वृक्षों को वेष्टित कर जहाँ कुञ्ज बना रखे हैं, एला (इलायची)

मैत्री के संदेशवाहक वृक्ष !

टाइम्स ऑफ इण्डिया के १६ अगस्त के अङ्क में प्रकाशित हुआ है कि—कलकत्ता आर्ट सोसायटी सांस्कृतिक मैत्री के प्रतीक के रूप में नीचे लिखे चार पौधे बिना मूल्य विमान द्वारा यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका) को भेजने की व्यवस्था की है। प्रत्येक पौधा एक-एक ऋतु का प्रतिनिधित्व करता है—गुड़ची (ग्रीष्म का), कदम्ब (वर्षा का), शेफालिका (पारिजात—शिशिर का) और पलाश (वसन्त का)।

अन्तर्राष्ट्रिय मैत्री के सन्देश हर इन वृक्षों को प्रणाम हो।

—भानुदेसाई

की लताएँ (?) जहाँ चन्दनों का आलिङ्गन किये हैं तथा तमाल वृक्ष के पत्रों ने जहाँ पाँवड़े बनाये हैं उन मलयाद्रि की नैसर्गिक वाटिकाओं में बिहार करने का विचार हो तो इन पाण्ड्य राज का वरण करो।

इसके पूर्व रघु के दिग्विजय के प्रसंग में भी कवि कुल गुरु ने वेला-तट का विशेषण 'फलवत्पूगामालिना' (चतुर्थ सर्ग) देकर सुपारी द्वारा हुई निसर्ग की श्री वृद्धि को स्मरण किया है।

सुपारी के उत्पादन में भारत स्वाश्रित नहीं है। प्रति वर्ष कोई १३,२०३,००० रुपये की सुपारी विदेशों से आयात होती है। तथापि

१, ६८४,००० रुपये की सुपारी विदेशों को रवाना भी की जाती है। यह निर्यात मुख्यत्वेन बंगाल से ब्रह्मदेश को होती है। भारत में अभीप्सित प्रमाण में सुपारी उत्पन्न नहीं होती। इससे अनायास जाना जा सकता है कि हमारे

नित्योपयोग की इस वस्तु की कृषि की अभी कितनी आवश्यकता और कितना क्षेत्र है।

भारत में कदाचित् ही कोई राज्य (प्रान्त) हो जहाँ छपारी का उपयोग न होता हो। ग्राम और नगर दोनों में सर्वत्र पान और इलायची के साथ लवङ्ग और छपारी का उपयोग होता ही है। गुजरात और सौराष्ट्र में तथा मुंबई और उपनगरों में छपारी के वृक्ष कहीं-कहीं देखे जाते हैं। सौराष्ट्र, भावनगर, जूनागढ़ तथा अन्य समुद्र तीरवर्ती प्रदेशों में छपारी की कृषि के प्रयत्न किये गये हैं। इन अव्यवस्थित प्रयत्नों से हमारी छपारी की आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। इसके सिवाय कई बार ये वृक्ष शोभा के लिए ही लगाये जाते होने से लोक इनके फलों के प्रति ध्यान नहीं देते? परिणामतया वे हीन कोटि के होते हैं, इसमें कोई विस्मय नहीं।

छपारी का मूल स्थान कोचीन और मालाबार कहा जाता है। भारत में भी छपारी की कृषि आदि काल से होती आयी है। यद्यपि इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता कि यह वृक्ष यहीं का मूल वृक्ष है या बाहर से आया है, तथापि 'पूगीफल' नाम से धार्मिक क्रियाओं में इसके व्यापक उपयोग एवं प्राचीन ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख पाया जाने से यह इस देश में सुचिर काल से उगता आया है यह माना जाता है। अब तो छपारी की कृषि प्रसृत होकर श्री लङ्का, दक्षिण चीन, फिलीपाईन द्वीप समूह, मलाया, थाईलैण्ड (स्याम), बोर्नीओ, जंजीबार, टाँगानीका तथा पूर्व अफ्रीका के कतिपय भागों में बहुत व्याप्त हो गयी है।

दक्षिणापथ में छपारी की कृषि करने वाले 'हविक' नाम से ख्यात हैं। इन्हें अपने विषय की अच्छी जानकारी होती है तथा ये अन्य कृषकों की अपेक्षया कुछ सम्पन्न भी समझे जाते हैं। इस ओर छपारी की कृषि सामान्यतया छोटी-छोटी पहाड़ियों के बीच की दूनों में, पहाड़ियों के ढाल पर की जाती है। दूनों के समतल प्रदेशों में

साधारणतः चावल की कृषि की जाती है। चावल की खेती न हो सके ऐसे ढालवाले भागों में ही छपारी लगायी जाती है। मेटा पलियम से नीलगिरि पर्वत पर ऊपर चढ़ें तो प्रारम्भ में छपारी के बगीचे दिखाई पड़ते हैं, फिर क्रमशः रबड़, कहवा और चाय की बाड़ियाँ दीख पड़ती हैं। इसी प्रकार उटकमंड से मैसूर मोटर की राह आते तो मैसूर राज्य की सीमायें प्रविष्ट होने पर मार्ग के दोनों ओर दूर-दूर छपारी की कृषि दिखाई देती है। मैसूर से लेकर ठेठ गोवा तक की तिरछी पट्टी में छपारी की कृषि होती है।

दक्षिण में जहाँ-जहाँ छपारी की वाटिकाएँ हैं, वहाँ वृष्टि प्रभूत होती है। वृष्टि का अनपेक्षित (जरूरत से ज्यादा) पानी निकाल देने के लिए योग्य अन्तर पर नालियाँ बनाई जाती हैं। तो भी कभी वृष्टि बहुत हो और नालियों से जल यथेष्ट निकल न पाय तो जमीन बह जाने की भीति रहती है। परन्तु छपारी की कृषि में सेन्द्रिय खाद का स्थान प्रमुख होने से, इस प्रकार मट्टी बह जाने से भी छपारी की उत्पत्ति में विशेष अन्तर नहीं आता। वृष्टि का प्रमाण तो इधर प्रभूत होता ही है उसकी अवधि भी बहुत होती है, जिससे ग्रीष्म काल में भी छपारी को पानी पिलाने की आवश्यकता रहती नहीं। कभी यदि पानी पिलाना ही पड़े तो इसके लिए तालाबों से व्यवस्था की जाती है। हमारी ओर गुजरात-काठियावाड़ में छपारी की कृषि की जाय तथा ग्रीष्म में सिंचाई की व्यवस्था की जाय तो बहुत लाभ हो। सत्य तो यह है कि, अच्छा कृषिफल पाने के लिए जल पिलाना आवश्यक ही है।

छपारी की कृषि के योग्य भूमि को दक्षिण में 'कागदाली' कहते हैं। यह भूमि पीतिमा लिये रक्तवर्ण किंवा लाल बादामी रंग की होती है। इस भूमि की गहराई खूब होती है। ऊपर की सतह का नीचे का भाग प्रथम दर्शन में कटि प्रतीत होता है, जिससे द्रष्टा को भ्रान्ति होना सम्भव है।

परन्तु वास्तव में यह भूमि कठिन नहीं होती। हाथ से मसला जाय तो पीले रंग के चूर्ण में परिणत हो जाती है। इस भूमि की विशेषता यह है कि यह जल का संग्रह अच्छी मात्रा में कर सकती है तथा जल्दी पानी से वह नहीं जाती। यों यह मिट्टी सुपारी के कृषि के लिये उत्तम नहीं मानी जाती, परन्तु इसमें सेन्द्रिय खाद डालकर इसकी उर्वरा शक्ति बढ़ाकर अच्छी फसल प्राप्त की जाती है। हमारी ओर समुद्र तीरवर्ती प्रदेशों में भी बहुत स्थानों पर ऐसी ही मिट्टी देखी जाती है। उसमें सुपारी की कृषि की जाय तो कोई क्षति नहीं।

दक्षिण में सुपारी के बगीचों में अनपेक्षित पानी के निकास पर विशेष ध्यान दिया जाता है। मुख्य नाली, पानी निकालने के लिये चार से पाँच फुट गहरी और इतनी ही चौड़ी होती है। इस मुख्य नाली को जोड़नेवाली अन्य छोटी-छोटी नालियाँ ढेढ़ से दो फुट गहरी और इतनी ही चौड़ी पन्द्रह-पन्द्रह फुट के अन्तर से खोदी जाती हैं। इन छोटी-छोटी नालियों के मध्य का भाग दोनों ओर नालियों की दिशा में ढलता हुआ रखा जाता है, जिससे जल सुगमता से ढुलकर नालियों में पहुँच जाता है। छोटी नालियों का मध्यवर्ती भाग 'भरण' कहलाता है। हमारी ओर भूमि सम होने से इस प्रकार नालियाँ बनाने की आवश्यकता नहीं होती। तथापि चौमासे में अनपेक्षित पानी की निकास के लिये व्यवस्था करना आवश्यक होगा ही।

सुपारी की बगीची लगाने के लिये चारों ओर आठ-आठ फुट का अन्तर छोड़कर आधे से तीन फुट चौकोर तथा उतने ही गहरे गढ़े खोदे जाते हैं। इन गढ़ों में पुनः मिट्टी भरने के पूर्व अच्छी तय्यार हुई गोबर की खाद लगभग आधा गढ़ा भरे इतनी ढालनी पड़ती है। दक्षिण में तो केलों की बहुतायत होने से केलों के रेशों से भी गढ़े पाटे जाते हैं। सामान्यतया सुपारी के बगीचों में प्रत्येक भरण के दोनों ओर नाली से सटाकर केले लगाये जाते हैं। इससे सुपारी के नन्हें पौधों को छाया भी अच्छी मिलती है, एवं

प्रारम्भिक वर्षों में सुपारी से आय होने के पूर्व तक केलों से थोड़ी आय होती रहती है। गुजरात, काठियावाड़ की ओर भी सुपारी के बगीचों में दक्षिण के समान केले लगाये जायँ तो सुपारी के पौधों की अभिवृद्धि सुगमता से हो सकती है।

बगीचा बनाने के लिये सुपारी के पौधे या तो तय्यार ले लिये जाते हैं या बगीचों में स्वयं तय्यार किये जाते हैं। पौधे स्वयं तय्यार करने हों तो क्यारियाँ बनाकर उनमें समुचित प्रमाण में सेन्द्रिय खाद डाल, मिट्टी के साथ उसे अच्छी तरह मिला ऊँची चौकियाँ (चवूतरे) तय्यार की जाती हैं। इन चौकियों में नौ-नौ इञ्च के अन्तर पर, उत्तम कोटि के पुरानी सुपारी के वृक्ष से तोड़ी हुई खूब पकी सुपारियाँ बोयी जाती हैं। अप्रैल महीने में बोयी सुपारी में अङ्कुर फूटकर जून में वह भूमि के बाहर आता है। इन छोटे-छोटे पौधों को अक्टूबर मास में बड़ी क्यारियों में बोया जाता है इस प्रकार स्थलान्तर करते हुए दो-दो पौधों के मध्य अन्तर दो-दो फुट रखा जाता है। ये पौधे तीन से चार वर्ष में चार-पाँच फुट ऊँचे हो जायँ तो स्थायी जगहों पर निर्दिष्ट प्रकार से तय्यार कर रखे गढ़ों में बोये जाते हैं। बोन के बाद कोई पौधा मर जाय इस बात की अशङ्का से उसकी स्थानपूर्ति के लिये छोटे-छोटे पौधे पहले से ही अच्छी संख्या में तय्यार रखे जाते हैं।

दक्षिणापथ में, सुपारी के बगीचों में प्रारम्भ में बोये हुए केलों को परिपक्व होने पर उखाड़ कर उनके स्थान पर इलायची, काली मिर्च आदि लगाये जाते हैं। उस ओर वृष्टि बहुत होती है, जिससे 'भरण' वह जाते हैं और कम से कम प्रति तीसरे वर्ष नयी 'कागदाली' मिट्टी से उनकी पूर्ति की जाती है। गुजरात आदि में इस प्रकार ज़मीन वह जाने की संभावना न्यून है।

सुपारी के वृक्ष दसवें वर्ष फल देने लगते हैं और तीस से चालीस वर्ष तक अच्छे प्रमाण में फल दिये जाते हैं। मार्च-अप्रैल में फूलों की छड़ियाँ फूटती हैं और नवम्बर-दिसम्बर तक सुपारी पक कर तोड़ने-योग्य हो जाती है।

प्रत्येक वृक्ष पर फूलों की कम से कम दो छड़ियाँ निकलती हैं और छपाड़ियों के दो गुच्छ उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक गुच्छ से भूमि, खाद, जलवायु और वृष्टि के अनुसार दो-सौ तीन-सौ छपारियाँ मिलती हैं।

ताड़ के समान छपारी की छड़ियों के नीचे एक आवरण-सा होता है। फलों को वृष्टि से बचाने के लिए यह निसर्ग-कृत उपाय है। ये आवरण दो होते हैं और दो-तीन महीनों में भड़ जाते हैं। इस प्रकार वृष्टि से बचाव न हो तो फल सड़कर खराब हो जाते हैं। ऊपर से आवरण बगीचे वाले स्वयं भी बाँधते हैं।

प्रत्येक छड़ी की छपारियाँ एक साथ नहीं पकतीं। छड़ी के नीचे के सिरे से फल पकते-पकते अन्त में ठेठ ऊपर के फल पकते हैं। छपारियाँ ज्यों-ज्यों पकती जाती हैं त्यों-त्यों तोड़ी जाती हैं। वृक्ष से तोड़ी छपारी पर एक कवच होता है। बाजार में भेजने के पूर्व यह कवच उतार दिया जाता है। अभ्यास होने पर एक पुरुष एक दिन में तीन हजार छपारियाँ साफ कर सकता है। कवच उतारने के बाद कभी-कभी रेशे चिपटे रहते हैं। उन्हें भी भली-भाँति साफ किया जाता है।

कवच निकालने के बाद छपारियों को ताम्र-पात्र में जल में दो घण्टे उबाला जाता है। खोलते पानी में मुट्ठी-भर चूना डाला जाता है। पानी में छपारियों को उबालने के बाद भारी से निकाल लिया जाता है। पश्चात् उनके पृथक्-पृथक् वर्ग बनाये जाते हैं। कुछ कच्ची छपारियाँ उबलने के बाद चपटी हो जाती हैं। ये बाजार में 'चिकनी छपारी' नाम से बेची जाती हैं। शेष पक्व छपारियों को सात-आठ दिन सुखाया जाता है। सुखाते हुए, इन्हें जिस जल में उबाला गया था उसकी भावना दी जाती है। इससे छपारियों का देखाव अच्छा हो जाता है। छपारियों को सुखाने के लिए मैसूर राज्य के कृषि-विभाग ने एक भट्टी बनायी है। जिससे छपारियों को धुआँ लगने और परिणामतया बिगड़ने की संभावना नहीं रहती।

जल में इस प्रकार स्वेदन करने से छपारी के 'अवगुणों का परिहार' हो जाता है। भावमिश्र ने कहा है कि आर्द्र नाम वैसी की वैसी छपारी गुरु, अभिष्यन्दी (स्रोतोरोध कर), अग्निमान्द्य कर एवं दृष्टिशक्ति को हरनेवाली होती है। वही स्विन्न (उबाली) होकर तीनों दोषों की शामक हो जाती है—

आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्नि दृष्टिहरं स्मृतम्।

स्विन्नं दोषत्रयोच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥

छपारी का स्वेदन करने से (जल में उत्तरीया उबालने से) उसका सत्त्व पानी में आकर वह रक्तवर्ण हो जाता है। पानी उड़ाकर घन रसक्रिया बनाते हैं। इसे 'छपारी के फूल' या 'छपारी का कत्था' कहते हैं। प्रसूता स्त्रियों को खाने की मसाले वाली छपारी बनाने में इसका उपयोग करते हैं।

निघण्टुओं में भिन्न-भिन्न स्थानों की छपारियों के भिन्न भिन्न पृथक् गुण बताये हैं। सामान्यतः 'छपारी कषाय, किञ्चित् मधुर, गुरु, रुक्ष, शीतवीर्य, मादक, रुचिकर, कुससारक तथा कफ, पित्त, मुख के मल और बैरस्य को हटाने वाली है।' 'एक कच्ची छपारी दूध में घिसकर पिलाने से चपटे कृमि (ब्रह्म कृमि) मर जाते हैं (डाक्टर वाम गणेश देसाई)'^१ ^२ संस्कृत में छपारी को 'पूरा' गुवाक (कमुक) कहते हैं।

श्री वर्धन नामक स्थान की छपारी (श्री वर्धन सेवर्धनी) श्वेत तथा उत्कृष्ट होती है। शास्त्र में छपारी के अनेक उपयोग कहे हैं, पर संप्रति भोजनोत्तर या अतः कालों में मुखशुद्धि या रुचि के लिए स्वतन्त्र, सुगन्धि मसाले के रूप में या पान के साथ सेवन के अतिरिक्त विशेष उपयोग नहीं होता। भैषज्य रत्नावली के प्रसिद्ध दशन-संस्कृत चूर्ण नामक मञ्जन में छपारी की भस्म (गुवाक-भस्म) उपयोग हुआ है। ग्रन्थों में इसके पाकों का (पूरापाक)

१,२—देखिये वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य कृत द्रव्यगुण-विज्ञान।

भी उल्लेख है। इन पाकों का उपयोग प्रायः रतिमुख की वृद्ध्यर्थ होता है। सुपारी के अति योग से मधुमेह, पाण्डु तथा शोथ होता है, एसी प्रसिद्ध है। शाङ्गधर ने विकाशी द्रव्यों का उदाहरण सुपारी दिया है। देखिये—
संधिवन्धास्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत् ।
विशिलप्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः ॥

—जो द्रव्य धातुओं से उनके सारभूत ओज^१ को पृथक् कर देता है तथा धातु आदि की संधियों के बन्धन को शिथिल कर शरीर में भी शैथिल्य उत्पन्न करता है, उसे विकाशी (सी) कहते हैं—यथा सुपारी (विशेषतः कच्ची-अस्विन्न और ताजी) तथा मादक जाति का एक कोदों।

आधुनिक विद्वान् भारतीयों में मुख, जिह्वा और गले के केन्सर का एक कारण अति सुपारी चबाने से इन स्थानों का घर्षण होना बताते हैं।

सुपारी के वृक्षों को कृमि-कीटों से विशेष क्षति नहीं होती। हाँ काला रोग नामक एक रोग से बहुत हानि होना संभव होता है। इसमें सुपारी कच्ची ही भड़ जाती है। भड़की हुई सुपारियों को देखने से उनपर श्वेत फफूंद दीख पड़ती है। रोग का उपचार न किया जाय तो सुपारी का चौथाई भाग भड़ जाने की आशङ्का रहती है।

१—ओज शब्द का अर्थ द्राक्षा शर्करा या ग्लाय कोजन प्रतीत होता है। देखिये—वैद्य रणजितराय कृत शरीर-क्रिया-विज्ञान (वैद्यनाथ प्रकाशन)। ओज के अन्य भी अर्थ हैं ही।

सुपारी के बगीचों के मालिकों का मत है कि सुपारी वर्षा का पानी लगाने से भड़ जाती है। इस रोग से बचाने के लिए वे उक्त प्रकार से सुपारी के गुच्छों पर आवरण बाँधते हैं। परन्तु यह अंशतः भ्रान्ति है। सुपारी वर्षा के कारण भड़ती हों सो बात नहीं। रोग के जन्तु वर्षा के जल के कारण शीघ्र फूलते-फलते हैं। इस रोग के लिए बोर्डो-मिश्रण रेज़िन अथवा केसीन के साथ बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। मई के अन्त में या जून के प्रथम सप्ताह में बोर्डो मिश्रण छिड़कने से इस रोग से रक्षा होती है।

मुंबई राज्य में सिरसी तथा अन्य स्थलों पर कृषि-विभाग की ओर से इस रोग के संपूर्ण प्रतिकार के लिए एवं इससे वृक्षों के त्राण के लिए अनुसंधान पीठ खोले गये हैं। इन पीठों ने कालारोग-विषयक बहुत जानकारी पायी है परन्तु रोग से रक्षा के शत-प्रतिशत उपचार खोजे नहीं जा सके हैं।

हमारी ओर गुजरात और सौराष्ट्र में समुद्र के किनारे मुंबई से खंभात तथा गोपनाथ से द्वारका पर्यन्त जहाँ वृष्टि अच्छी होती हों एवं मिट्टी चिकनी परन्तु निथार वाली (जल को चूस लेने वाली) हो वहाँ सुपारी की कृषि को प्रोत्साहन देकर कम से कम अपने राज्य में उपयोग जितनी सुपारी उत्पन्न कर ली जाय तो बहुत अच्छा हो। यही स्थिति अन्य समुद्र तीरवर्ती राज्यों की भी समझी जा सकती है।

आमला और जीवनीय 'सी'

'सचित्र आयुर्वेद' के मई तथा जून के अङ्कों में (कमशः पृ० ६६३ और १०६० पर) आमले के जीवनीय (वाइटेमिन) 'सी' के स्थिरत्व का उल्लेख हुआ है। इस विषय में डॉ० बीरेन्द्रनाथ घोष के 'ए ट्रीटाइज़ ऑन हाईजीन एण्ड पब्लिक हेल्थ' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ (१२वाँ संस्करण, सन् १९४८, पृ० १६०) का निम्न उद्धरण उपयोगी होगा :

"ताजे फलों और शाकों को गरम करने या सुखाने से प्रायः उनमें विद्यमान नैसर्गिक जीवनीय 'सी' अधिकांश किंवा संपूर्ण नष्ट हो जाता है। आमला इसका अपवाद है। कारण, प्रथम तो इसमें जीवनीय 'सी' का प्रमाण अत्यधिक होता है। दूसरे, इसमें कुछ द्रव्य होते हैं जो गरम करने या सुखाने की क्रिया से जीवनीय 'सी' को लुप्त होने से अंशतः बचाते हैं। आमला सान्द्र अम्ल है तथा अम्लत्वकी जीवनीय 'सी' पर संरक्षक क्रिया होती है।"

—वैद्य रणजित राय

बरसात में रहन-सहन कैसा हो ?

वैद्य रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार

वर्षा ऋतु में वायुमण्डल में आर्द्रता अधिक होती है। वायुमण्डल का तापमान बहुत अधिक भिन्न-भिन्न होता है। बारिश लगातार होती रहे तो तापमान काफी नीचे गिर जाता है। सूर्य की किरणों में इतनी अधिक प्रखरता होती है कि कुछ घंटों की धूप में ही गरमी खूब बढ़ जाती है। तापमान की इस भिन्नता के कारण ही इस ऋतु में अनेक दिन ऐसे होते हैं जिनमें शीत ऋतु की-सी ठण्ड अनुभव होती है और प्रायशः दिनों में गरमियों-सी तेज धूप और गरमी।

गरमियों में वायु के अन्दर आर्द्रता बहुत कम होती थी। तेज धूप से धरती के तपने के साथ-साथ वायु भी गरम हो जाती थी जिसे लू कहते थे। अब, प्यासी धरती के ठण्डा हो जाने से लू का नामोनिशान नहीं रह जाता।

हलका भोजन

भूमि से उठने वाले गरम वाष्पों से, बादलों के घिरे रहने से, अम्ल का परिपाक होने से बरसात में शरीर की अग्नि का बल क्षीण हो जाता है और वायु आदि दोष प्रकुपित हो जाते हैं। पाचन शक्ति दुर्बल पड़ जाती है। इसी लिये इस ऋतु में सामान्यतया हलके भोजन करने की सलाह दी जाती है। पुराने जौ, गेहूँ तथा शालि चावलों को जंगली पशु-पक्षियों के मांसों और मांस के सोवों के साथ खाना हितकर है।

तरमाल

बरसात में मालपू, खीर आदि तरमाल खाने के प्रचलन हमारे देश में देखा जाता है। पाठक कहेंगे कि जब हम यह कहते हैं कि इस ऋतु में अग्निमन्द होती है तो तरमाल खाने का प्रचलन असंगत होना चाहिए। बात ऐसी नहीं है। खूब बारिश होने पर बाहरी परिवर्तनों के साथ-साथ

हमारे शरीर के अन्दर की अवस्थाएँ भी परिवर्तित हो जाती हैं। जिस दिन आकाश घने बादलों से घिरा हो, खूब बारिश हो और सरदियों की-सी ठण्ड हो तो धूप भी खूब चमकती है। आमतौर पर ऐसे बारिश वाले दिन ही मालपू या अन्य गरिष्ठ पञ्चवान्न बनाने का रिवाज है। महर्षि चरक ने भी इसका समर्थन किया है। वे कहते हैं कि ऐसे विशेष ठण्ड वाले दिन वायु का प्रकोप शान्त करने के लिये स्निग्ध पदार्थों का सेवन करना चाहिये। यह ध्यान रखें कि जिहा लौल्यवश तरमाल अधिक न खाये जाएँ क्योंकि इससे अजीर्ण हो जायगी।

चटनी और खटाई

भोजनों में खट्टे, नमकीन पदार्थों का प्रयोग जराफि को प्रदीप्त करता है। प्याज, लहसुन, पोदीना, अनारदाना आदि की चटनियों को भोजनों में समावेश करना चाहिये। प्याज को कतर कर इसमें नमक मिला दें। ऊपर से निम्ब का रस निचोड़ कर खटा कर लें। भोजन को स्वादु और सुपच बनाने के लिये यह रुचि से खाया जाता है।

शहद का विशेष प्रयोग

वर्षा ऋतु में शहद के प्रयोग की विशेष रूप से सिफारिश की जाती है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, कैयदेव आदि चिकित्सकों ने इन दिनों खाने-पीने के प्रायः सब पदार्थों के साथ शहद का प्रयोग करने के लिये बल दिया है। चरक के समय इस ऋतु में जो शराब भोजन में दी जाती थी उनमें भी वे शहद का प्रयोग प्रशस्त समझते थे। वर्षा की वर्षा में चरक बताते हैं कि शहद की मदिरा में या किसी दूसरे अरिष्ट में अथवा वर्षा जल में मधु मिलाकर थोड़ा-थोड़ा पिना जाना चाहिए।

भोजन के सम्बन्ध में अन्य सावधानियाँ

वासी भोजन न करें। इन दिनों कीटाणुओं की कृपा से भोजन में सड़ाई शीघ्र पैदा हो जाती है। वासी भोजन के साथ कीटाणुओं के विष अन्दर जाकर पाचन संस्थान को खराब कर देते हैं जिससे वमन, शूल, अतिसार, हैजा आदि रोग हो जाया करते हैं।

सायंकालीन भोजन अन्धेरा होने से पूर्व ही कर लें क्योंकि दीपक के प्रकाश में आनेवाले कीड़े-पतंगे भोजनों में गिरकर खाद्य पदार्थों को अभक्ष्य कर देते हैं।

पाने का पानी

तालाबों, नदियों और झरनों का पानी गदला हो जाता है। कुएँ के अन्दर आस-पास की जमीन से रिस-रिस कर जो पानी चला जाता है वह अपने साथ अनेक प्रकार की मलिनताएँ ले जाता है। इन दिनों कुएँ के पानी में टाइफस आदि के रोगोत्पादक कृमि पाये जाते हैं। इस पानी के द्वारा संक्रमण की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। चरक इसलिये सलाह देते हैं कि उबालकर ठण्डा किया हुआ पानी पिया जाय तो अच्छा है। बहुत से प्रदेशों में वर्षा जल पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसे भी उबाल कर पीना चाहिए।

सोने में सावधानी

दिन में सोना अहितकर बताया गया है। रात्रि के आरम्भ में गरमी होने से खुले आकाश के नीचे सोना पसंद किया जाता है। रात के पिछले भाग में सरदी बढ़ जाती है। ओस से बिस्तरा भीग जाता है। किसी-किसी दिन तो इतना अधिक गीला हो जाता है कि निचोड़ने की-सी आवश्यकता अनुभव होती है। गरमी सरदी की इन अनियमित अवस्थाओं में सरदी खाये जाने का भय रहता है। अतः सोते समय चादर तथा गरम कपड़ा पास रख लेना चाहिए। रात्रि में आवश्यक कपड़ा ओढ़ने की असावधानी होने पर ठंड लग जाती है और जुकाम, खांसी, शरीर टूटना आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं। इस ऋतु में इस प्रकार के रोगियों की उपस्थिति औषधालयों में प्रारम्भ हो जाती है।

तुलसी या निम्बू की चाय

सरदी लग जाने के इन लक्षणों को दूर करने के लिये तुलसी की गरम चाय अथवा निम्बू की गरम चाय लाभदायक पेय का कार्य करते हैं। तुलसी की चाय बनाने के लिये तुलसी के ग्यारह ताजे पत्तों को तीन-चार काली मिर्चों और जरासी सोंठ या अदरक के साथ उबालकर छान लें। इसमें दूध और मोठा या शहद मिला कर पी लें।

निम्बू की चाय तैयार करने के लिये एक प्याला उबलते पानी में जरा सी चाय डालकर थोड़ी देर सींफने दिया जाता है। पानी में चाय का हल्का-सा रंग आजाने पर छानकर एक निम्बू का रस और चार चम्मच शहद मिलाकर गरम ही पी लिया जाता है।

रुचि के अनुसार दोनों में से किसी पेय को आवश्यकतानुसार दिन में दो-तीन बार लिया जा सकता है। ये पेय पसीना खुलकर लाते हैं। पसीने के द्वारा शरीर में से दोषों का निरहरण हो जाता है। रुग्णावस्था में पसीना लाने के लिये जब इनका उपयोग किया जा रहा हो तो तेज हवा से बचना चाहिये।

वरसाती फोड़े-फुन्सियाँ

मच्छरों से और ओस से बचने के लिये मच्छरदानी का प्रयोग अभीष्ट होता है। इन दिनों रुधिर में इस प्रकार के दोषों का संचय होता है कि मच्छर काटने से दंश स्थान में छोटे-छोटे व्रण हो जाते हैं जिनमें पीप भर जाती है। इस प्रकार के वरसाती फोड़े-फुन्सियों की चिकित्सा के लिये रसौत को घिसकर लेप करना चाहिए और एक-दो रत्ती रसौत खिला भी देनी चाहिए। जस्ते की खील (जिंक ऑक्साइड) को मक्खन या वेज़लीन में मिलाकर बनाई मरहम का प्रयोग फोड़ों को छुसाने में लाभदायक है।

व्यायाम और व्याय

व्यायाम हल्का करें। तैरना भी अच्छा है, परन्तु उसके बाद कुएँ के पानी में स्नान करने का ध्यान रखना चाहिए। आयुर्वेद के आदि गुरु महर्षि चरक ने इस ऋतु में स्त्री-

प्रसंग मना किया है। संस्कृत साहित्य के पाठक जानते हैं कि संस्कृत के कवियों और काव्यकारों ने बरसात के साथ काम का विशेष सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। बरसते बादलों का शीतल वातावरण इसके लिये उपयुक्त काल हो सकता है।

कपड़े महीन हो या मोटे ?

बारिश और हवावाली मौसम में कपड़े हल्के रहें तो अच्छा है। वायु बन्द हो, गरमी से पसीना खूब छूटता हो तो महीन कपड़े पहनना इसलिये बांछनीय नहीं होता कि वे पसीने को ठीक तरह सोख नहीं पाते। ऐसे समय मलमल जैसे बारीक कपड़ों की अपेक्षा खदर के बारीक कपड़े अधिक सुखदायक प्रतीत होते हैं क्योंकि ये पसीने को अच्छी तरह सोख लेते हैं। पसीना त्वचा पर देर तक रहे तो क्षोभ पैदा करने का कारण बन सकता है जिससे त्वग्रोगों को उभरने में प्रोत्साहन मिलता है।

उबटन, स्नान

वायु में नमी अधिक होने से त्वचा पर से पसीने का वाष्पी भवन कम होता है, त्वचा चिपचिपी रहती है। इसे दूर करने के लिये और पसीने की गन्ध को निकालने के लिए आवश्यक है कि स्नान करते समय शरीर को रगड़ कर साफ कर लिया जाय। उबटन का लाभ इन दिनों विशेष होता है। सुगन्धित माला तथा अन्य सुगन्धियों का प्रयोग चरक ने प्रशस्त समझा है।

रजस्वला नदियों का हेय पानी

वर्षा के पानी के वेग में साँप, बिच्छू आदि हानिकारक जीव तथा धरती का मल बहता हुआ जल धाराओं में मिल जाता है। इन मलिनताओं के कारण संस्कृत लेखकों ने बरसात में नदियों को रजस्वला कहा है और इनमें स्नान करने का निषेध लिखा है। लेखक जैसे तैरने के शौकीन तैरने का लोभ संवरण न कर सकें तो उन्हें नदी के स्नान के बाद तुरन्त कुँए के पानी में स्नान करके शरीर को स्वच्छ कर लेना चाहिए। मेरा अनुभव है कि ऐसा न

किया जाय तो नदी के गढ़ले पानी की मलिनताएँ त्वचा में खूजली पैदा कर देती हैं।

जीवों से बचाव

धरती के छिद्रों में पानी भर जाने से और साथ ही धरती के अन्दर से गरम वाष्पों के उठने के कारण साँप, बिच्छू आदि जीव इन दिनों मानवीय निवासों में तथा इधर उधर विचरते हुए प्रायः दीख पड़ते हैं। विषैले जीवों से डसे जाने की घटनाएँ किसी भी दूसरी मौसम में इतनी अधिक नहीं होती जितनी इसमें। घर के कोनों में फनियर या दबोइया, खूंटियों और गुसलखानों में कौबि जैसे विषैले साँप कई बार निकल आते हैं। दरवाजों की चिटखनियों के अन्दर बिच्छू मिलना असाधारण बात नहीं। श्रद्धानन्द सेवाश्रम में ऐसे रोगी आये हैं जिन्हें कमीज पहनते हुए आस्तीन का साँप या बिच्छू काट खाया था। मुख पोछते हुए तौलिये के साथ चिपके रह गये भूढ़ ने नाक की नोक को अपने डंक का निशाना बनाया था। एक बच्चे की मूत्रेन्द्रिय के अग्रभाग पर काबूली भूढ़ ने डंक मारा था। सोते समय एक स्त्री के नाक के अग्र खूब गहरा भींगुर घुस गया था जिसे निकालने के लिए श्रद्धानन्द सेवाश्रम के सर्जन की सहायता लेनी पड़ी।

इनसे बचने के लिये प्रत्येक कपड़े को भाड़ पर पहनना और बरतना चाहिए। बच्चों में भी यह आदत डालनी चाहिए। रात को अन्धेरे में जाते समय प्रकाश हाथ में रखना चाहिए जिस से विषैले जीवों पर पैर न रखा जाय।

अन्य सावधानियाँ

निवास स्थान ऐसा होना चाहिए जिसमें नमी असर न हो और न ही बारिश का पानी अन्दर घुस सकता हो। धूप हानिकारक होती है। बाहर निकलने समय छाता लेकर चलें। भीगे कपड़े, खूजली, दाद फैलते करते हैं। कपड़े गीले न पहनें। खाने की चीजों में भी कपड़ों में सील चढ़ जाती है। इनमें कीड़ों के आक्रमण बहुधा हो जाते हैं। धूपवाले दिन सब सामान को दिखा देनी चाहिए।

वैद्यक समन्वय की रूपरेखा

समीक्षक—वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य

‘सचित्र आयुर्वेद’ के चतुर्थ वर्ष का प्रथमाङ्क डाक द्वारा प्राप्तकर पन्ने उलटने लगा तो किताबों के पीछे बैठे एक वयोवृद्ध सज्जन का चित्र देखकर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि नागपुर के विगत समन्वय परिषद् के सम्मेलन के अवसर पर जिन्होंने होम्योपैथी के समर्थन में आकाश-पाताल एक कर दिया था। वे ही सज्जन किस प्रकार एक आयुर्वेदीय पत्र को शुभसम्मति प्रदान कर रहे हैं। इस शुभसम्मति को जिन्होंने पढ़ा होगा वे आयुर्वेद के प्राचीन स्वरूप का खुलकर विरोध करनेवाले, होम्योपैथी ही आयुर्वेद है, होम्योपैथी के सब सिद्धान्त ही आयुर्वेद के सिद्धान्त मान लेने से ही समन्वय सम्भव है इस प्रकार के तर्क सामने रखनेवाले नागपुर के सुप्रसिद्ध वकील होम्योपैथ श्री केशव लक्ष्मण दफ्तरी की मनोवृत्ति को भले प्रकार आँक सकते हैं। उनकी सम्मति के कारण मुझे कुछ-कुछ ऐसा लगा कि महोदयवर ने अवश्य कोई लेख पत्र के इस अङ्क के लिये प्रस्तुत किया होगा। जो निस्सन्देह सत्य सिद्ध हुआ। ‘वैद्यक समन्वय की रूपरेखा’ शीर्षक से श्रीमान् डाक्टर दफ्तरी ने जो कुछ प्रकट किया है उसे प्रकाशित कर देने पर भी पत्र के अत्यन्त उदारचित्त सम्पादक आयुर्वेद के प्रति किये गये विविध कटाक्षों को सहन न कर सके और उन्हें सम्पादकीय में अपना वक्तव्य उसके विरोध में प्रकाशित करना पड़ा। अस्तु,

हमारे देश में जो आज अनेक चिकित्सा पद्धतियों का बोलबाला है उसके इतिहास में जाने की आवश्यकता है। हमारी गुलामी की देन ये चिकित्सा पद्धतियाँ हैं जिन्हें हमने प्रेम से या उनकी श्रेष्ठता के कारण स्वीकार नहीं किया बल्कि इसलिये स्वीकार किया कि जो-जो शासक आये उन्होंने

अपनी-अपनी चिकित्सा पद्धति को हमारी चिकित्सा पद्धति होते हुए भी मान्यता प्रदान की। बौद्ध काल में शल्यतन्त्र का हास हुआ, मुस्लिम काल में यूनानीतिव्व का भगडा बुलन्द हुआ और अंग्रेजी शासन काल में ऐलोपैथी (मार्डन-साइन्स) का बोलबाला हुआ। अंग्रेजी शासन काल में जनता में वेकारी, गरीबी और बीमारियों ने जितना विकराल रूप धारण किया उतना कभी नहीं हुआ, उसीके परिणाम-स्वरूप हमें होम्योपैथी, वायोकेमिस्ट्री, क्रोमोपैथी, नेचुरोपैथी आदि प्राप्त हुए हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो स्कूल में मास्टरी करते हैं। वेतन कम मिलता है। २-४ रुपये खर्चकर घर बैठे होम्योपैथी की सनद ले ली। १०-१२ रुपये में एक उसका वक्स खरीद लिया और बिना पढ़े-लिखे डाक्टर बन गये। लक्षण मिला-मिलाकर दवाएँ देना प्रारम्भ किया। दवा में पैसा बहुत कम लिया और अर्जन अपेक्षाकृत अधिक किया। यही कई असफल वकीलों ने और वेकारों ने पद्धति अपनायी और इसके परिणाम-स्वरूप आज भारतवर्ष में लाखों होम्योपैथ, वायोकेमिष्ट और अन्य पैथ प्रकट हो गये हैं। ये आज अपने ज्ञान का सम्बर्धन न कर आयुर्वेद में असंख्य दोष, आयुर्वेदिक औषधियों में अनेक अवगुण देख रहे हैं और यह मान बैठे हैं कि वैद्यों को अपने व्यवसाय से हाथ धोना पड़ेगा तथा लाखों की तादाद में धन व्यय करके बनी आयुर्वेदिक औषधियों का विसर्जन करना पड़ेगा। क्योंकि उनमें उपयोगिता का अभाव है। यहीं तक रुकने से उन्हें आत्मशान्ति नहीं होती। अपितु उन्हें आयुर्वेद प्रवर्तक महर्षियों को भूल करनेवाला, गलत बयान निकालनेवाला साधारण प्राणी मानना पड़ेगा और उनसे कहना पड़ेगा कि

वे हमारे तथाकथित आधुनिक आचार्य के शिष्यत्व को अङ्गीकार कर फिर से अपनी भूल सुधार कर लें।

आयुर्वेद निर्दोष और परिपूर्ण है यह जो सर्वसाधारण में 'रूढ़' धारणा है यही श्री दफ्तरीजी के द्वारा प्रदर्शित वैद्यक समन्वय के सम्बन्ध में सबसे बड़ी कठिनाई है। वे नव्य 'ज्ञान' के बल पर आयुर्वेद के सिद्धान्तों को समाप्त करके होम्योपैथीमय भारत को करके वैद्यकीय समन्वय की नींव दृढ़ करना चाहते हैं। वे अपनी इस क्रिया में आयुर्वेद, यूनानी-तिब्ब और ऐलोपैथी सभी का भक्षण करने के लिये तैयार हैं। "त्रिदोष सिद्धान्त व्याधियों के वर्गीकरण का सिद्धान्तमात्र है और ऐलोपैथी का सूक्ष्मकोटक सिद्धान्त उनके (रोगों के) कारणों का सिद्धान्तमात्र है। अतः ये सब बेकार हैं और होम्योपैथी यानी समचिकित्सा का जो सिद्धान्त है वह वास्तविक चिकित्सा का सिद्धान्त है अतः होम्योपैथी ही ग्राह्य मात्र है बाकी सब त्याज्य है।"

ऐसी कल्पना देकर अपनी विद्वत्ता को आयुर्वेद निर्माता आचार्यों के ऊपर रखने का प्रयास करना देख किस सत्यासत्य विवेकी को हँसी न आवेगी। आयुर्वेदीय शाश्वत सिद्धान्तों की जो महत्त्वपूर्ण देन है उसे अङ्गीकार कर उसके आगे बढ़ने की विश्वविदित परम्परा को छोड़ विश्वामित्र की तरह नवसृष्टि निर्माण का प्रयास करना और नारियल को मानवमुण्ड समझ बैठना कहां तक युक्तियुक्त है। मजे की बात तो यह है कि दफ्तरीजी आचार्यों के वाक्यों से समचिकित्सा का समर्थन करा लेते हैं और कहते हैं कि क्योंकि हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा को आचार्यों ने स्वीकार किया है, इसे वे जानते थे और मानते थे फिर भी वे बहुत बड़े भुलकड़ थे और उन्होंने इतनी गलतियाँ की हैं कि उनके शास्त्रों और उनमें लिखी औषधियों को समुद्र में फेंक श्री हैनीमेन महोदय के आर्गेनन या श्री दफ्तरी द्वारा रचित Bodily Reaction and examination of Systems of Therapeutics नामक

पुस्तिका का अध्ययन कर अपने त्रुटिपूर्ण जीवन को सत्यशुद्ध बना लेना चाहिये।

अब मैं उनके लेख की विधिवत् समीक्षा करने पूर्व होम्योपैथी (जिसे हमारे मान्य डाक्टर समचिकित्सा मानते हैं) के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करूँगा। मेरे मत में वर्तमान हैनीमेनीय होम्योपैथी हेतु व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा नहीं है; जैसा कि हमारे दफ्तरीजी या अन्य विद्वान् प्रतिपादित करते हैं। आयुर्वेदज्ञों ने जो हेतु व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा लिखी है उसमें और होम्योपैथी में बहुत बड़ा अन्तर है। इसे एक साधारण उदाहरण से ही कितना ही अल्पज्ञ क्यों न हो समझ सकता है। हेतु व्याधिविपरीतार्थकारी औषध का उदाहरण देते हुए लिखा है— "छर्द्या वमनकारकं मदनफलार्हः" अर्थात् छर्दि या वमन में वमन करानेवाले मदनफल का प्रयोग करें। यह मदनफल अपने विविध कल्पों में स्थूल रूप में जितनी मात्रा में लिया जाता है क्या होम्योपैथ भी उसे उतना ही लेते हैं? या ले सकते हैं? वमन में साधारणतया प्रयुक्त औषधि इपिकाकुआना या इपिकाक है। इसे होम्योपैथ प्रयोग में लाते हैं पर यह किस मात्रा में प्रयुक्त होता है इसे जानकर वैद्यों को होम्योपैथों के समचिकित्सा नामक भ्रामक शब्द के खोखलेपन का पता चल जावेगा। इपिकाकुआना नामक वामक द्रव्य का होम्योपैथ पहले मदरटिचर तैयार करते हैं फिर उसमें की एक बूँद का विलयन कर १० शक्ति का घोल प्रासव के द्वारा तैयार करते हैं फिर उसका एक बूँद का सम्बन्ध अधिक प्रासव से करके १००, १००० और १ लाख शक्ति की औषधि तैयार करते हैं। इस एक लाख शक्ति की औषधि में मूलद्रव्य जिसे वामक कहते हैं कितनी अल्पमात्र में है इस ओर पाठकगण यदि ध्यान दें तो वे देखेंगे कि मूलपदार्थ का एक लाखवाँ भाग भी वामक होना और वमनकर प्रभाव के कारण वमन को दूर कर देना एक असत्य है।

कुछ सज्जन यह कह सकते हैं कि इपिकाक के

वमन शान्त होते प्रत्यक्ष देखा गया है। यह यदि मैं मान भी लूँ (यद्यपि उसके बारे में मुझे सप्रमाण विरोध है जिसे मैं आगे प्रगट करूँगा) तो यह कदापि नहीं मानूँगा कि यह वमन शान्ति की प्राप्ति उसके वामक गुण के वर्तमान होने से है। मेरी दृष्टि में तो इषिकाकुआना को इतने अधिक टुकड़ों में बाँटा जाने के कारण उसके अणुओं में वमन विरोधी संघटन का आ जाना है। वमन विरोधकारी इषिकाकाणुओं के कारण ही वमन के नष्ट करने में इषिकाक समर्थ होता है। यदि यह नहीं तो इषिकाकुआना द्रव्य को तोला दो तोला यों ही देकर होम्योपैथ को समचिकित्सा की स्पष्टता प्रगट करने के लिए वमन बन्द करके दिखाना चाहिए। यदि कहीं पर शरीर से रक्तस्राव होता हो तो दो तीन जगह शरीर फोड़ रक्त का अधिक स्राव करके रक्तस्राव बन्द करना चाहिये। दो तीन जगह फोड़ने से सब रक्त जल्दी समाप्त तो हो जावेगा और पूर्वस्थान का रक्तस्राव समाप्त हो जाने पर उससे पूर्व ही रक्तस्रावी भी यमलोक पहुँच जायगा।

छर्दि में वामक मदन फल का प्रयोग क्यों करते हैं इसे जानना चाहनेवालों को अपने को जिज्ञासु बन कर सुनना चाहिए कि—“ननु, छर्द्यां बहुश्लेष्मलायां वमनयोग्यां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो वा स्यात् ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति।” और इसमें ही अपने इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ लेना चाहिए—“इनके इस आक्षेप पर हमारा प्रश्न है कि त्रिदोष सिद्धान्त में कथित दोष चिकित्सा तथा वृद्ध, वारभट, चरक, या अष्टांग हृदयगत हेतु विपरीत, व्याधि विपरीत, और हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी चिकित्साओं में परस्पर मेल है या नहीं?” आयुर्वेद शास्त्र में पारङ्गत कोई भी विद्वान् ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता जो करता है उसे आयुर्वेद का न कोई ज्ञान है न कोई पाठ विचार। एक सड़क पर चलनेवाला अर्द्धतन्त्राग्रस्त व्यक्ति जिस प्रकार चिह्ना उठता है कि इस नगर में कोई चिकित्सा करनेवाला भी है या नहीं उसी प्रकार का

यह प्रश्न है। इस प्रश्न को समझाने से पूर्व प्रश्न कर्ता महोदय को आयुर्वेद का विधिवत् ज्ञान देना होगा और जब वे उसे प्राप्त कर लेंगे तो फिर शायद ही ऐसी शंका करने का अवसर आवे। यदि आता भी है तो समझाना कठिन नहीं।

वास्तव में जिसे हम आज होमियोपैथी (समचिकित्सा) कहते हैं वह हैटेरोपैथी (विषम चिकित्सा) है। इसमें स्थूल रूप में जो तत्त्व कुछ विशेष लक्षण उत्पन्न करता है सूक्ष्म रूप में वही तत्त्व उन लक्षणों को शान्त भी करता है। स्थूल रूप के गुण और सूक्ष्म रूप के गुणों में इस प्रकार साम्य नहीं वैषम्य ही स्थापित होता है और होम्योपैथी के पदार्थ रोगोत्पादक शक्तित्से नहीं, रोगनाशक शक्ति से ही युक्त होते हैं और इस दृष्टि में यह व्याधिविपरीत चिकित्सा के अन्दर आती है। अधिकतर आयुर्वेद हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी तथा हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्साओं को मानता है। इन चिकित्साओं के द्वारा “रोगस्तुदोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।” नामक सिद्धान्त से प्रकुपित या मन्द पड़े दोषों व धातुओं की विषमावस्था का निवारण कर दोष व धातु की समता स्थापित करके आरोग्य प्रदान करने का पक्षपाती है। आग से जल जाने पर वह गर्म अगुर्वादि लेप इसलिये करता है कि वहाँ पर स्थित रक्त का विलयन होकर रक्त का स्थानान्तरण हो और दग्धस्थल शीघ्र ठीक हो शीतक्रिया से रक्तस्त्यान की आशंका रहती है।

होमियोपैथी (मेरी दृष्टि से हैटेरोपैथी) के विद्वान् आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से विचार करना प्रारम्भ कर दें तो देखेंगे कि उनके आचार्यों ने आयुर्वेद से आगे बढ़कर कोई काम नहीं किया है। यही नहीं यदि आयुर्वेद के शाश्वत सिद्धान्तों का पारायण करने का मौका उस व्यक्ति को मिल जाता तो वह इस मिथ्यासत्य की खोज में समय बर्बाद न करके आयुर्वेद के रहस्यों का उद्घाटन करके और भी ऊँचा

उठ जाता जिस ओर बढ़ने के लिए आज भी इस स्वतन्त्र देश में भी आयुर्वेदज्ञों को सुविधाएँ नहीं मिल रही हैं।

कुछ सज्जन अब यह विचार उपस्थित करेंगे कि मेरे कथनानुसार यह होमियोपैथी चिकित्सा-प्रणाली हेतु व्याधि-विपरीतार्थकारी न होकर व्याधि विपरीत चिकित्सा है तब तो यह और भी आयुर्वेद के समीप होने से भारत के लिए पूर्णतः ग्राह्य है। पर मैं इसकी व्याधि-विपरीतात्मक शक्ति पर ही विश्वास बहुत कम करता हूँ। कारण यह कि रोग-प्रतिरोधात्मक तत्त्व की मात्रा होम्योपैथिक ओषधि में अणु-वोक्षण यन्त्र से देखने लायक अर्थात् बहुत थोड़ी होती है। अतः बराबर प्रयोग करने से सकुमार प्रकृति के व्यक्तियों या १-२ वर्ष के शिशुओं में ही थोड़ा-बहुत लाभ इसके द्वारा होता है। यह मेरा प्रत्यक्ष का अनुभव है। बहुत कड़े रोगों पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। कुष्ठ, आतशक, यक्ष्मा, उदररोग, मधुमेह, उन्माद, अपस्मार आदि को दूर करने में वह पूर्णतः असमर्थ सिद्ध होती है। अतः इसे कितना ही अपनाया जाय चिकित्सा-क्षेत्र में यह व्यापक रूप में चल नहीं सकती। चलेगी भी तो निर्धन जनों में जिनके पास पैसा न होने से इसके सिवा दूसरा कोई आश्रय नहीं होता और जिन्हें इससे सस्ती कहीं दवा नहीं मिलती।

होमियोपैथी के आविष्कर्ता का प्रेरणा-केन्द्र एक घटना रही है कि उन्होंने कुनीन का उपयोग अपने स्वस्थ शरीर पर किया और उन्हें कुनीन से नष्ट होनेवाले रोग (मलेरिया ज्वर) के लक्षण उत्पन्न हो गये। इसी को देखकर उन्होंने समझ लिया कि उनके द्वारा संसार में एक अभिनव चिकित्सा प्रणाली का सूत्रपात होगा। कुनीन न सहने के कारण ओषधिजन्य कोई ज्वर उन्हें आ गया होगा इसे माना जा सकता है पर उनके रक्त में मलेरिया के कीटाणु भी उत्पन्न हो गये होंगे यह नहीं माना जा सकता। मैंने कितने ही स्वस्थ व्यक्तियों को इस उदाहरण की पुष्टि के लिए एक-एक सप्ताह तक ५ से १० घेन तक कुनीन सल्फ को कैप्सूल में भरकर प्रयोग कराया है और उन्हें मलेरिया क्या कोई भी

ज्वर नहीं आया। स्त्री, बालक, वृद्ध और तरुण सभी में यह बात असत्य सिद्ध हुई है। आविष्कर्ता महोदय के शरीर के कतिपय दोष प्रकुपित होंगे और उनको कुनीन ने कुछ उत्तेजितकर ज्वर बुला लिया होगा अथवा भीगुर के भृंग में परिणत होने के समान मन पर परिणाम हुआ होगा तो यह संभव है अन्यथा सम्भव नहीं। श्री दफ्तरी तथा अन्य कुनीन का प्रयोग करके पुनः स्फूर्ति ग्रहण कर दिखावें कि इससे मलेरिया उत्पन्न होता है? यदि यही होता तो फिरङ्ग की चतुर्थावस्था में जहाँ ज्वरोत्पादन की आवश्यकता होती है कुनीन खिलाकर ही ज्वर उत्पन्न कर लिया जाता या शीतांग सन्निपात में कुनीन का इंजेक्शन देकर या खिलाकर ज्वर पैदा कर लिया जाता।

मैं श्री दफ्तरीजी के लेख का आद्योपान्त पारायण कर चुका हूँ। वे भारतीय सम्पूर्ण चिकित्साओं के समन्वय करने के पक्षपाती इस रूप में हैं कि होम्योपैथी चिकित्सा ही सर्वोपरि रहे बाकी सब असत् चिकित्सा होने से समाप्त कर दिया जावे। मैं समन्वय का पक्षपाती हूँ। पर मेरा समन्वय का दृष्टिकोण यदि उन्हें नागपुर के सम्मेलन का कुछ भी ध्यान हो तो दूसरा है। वह यह कि आयुर्वेदीय दृष्टि से सम्पूर्ण संसार की चिकित्सा में प्रयुक्त सामग्री का उपयोग कर लेना। मैं होम्योपैथी पदार्थों का उपयोग आयुर्वेद की दृष्टि से करता हूँ। वह दृष्टि क्या है इसका थोड़ा संकेत इस लेख में हो सका है बाकी आगे देखा जायगा। इसी प्रकार मैं एलोपैथी (माडर्न सायन्स) के द्रव्यों का भी अपनी दृष्टि से उपयोग करता और लाभ उठाता हूँ। किन्तु दोष को नष्ट करने में कौन दवा कितना लाभ करती है तथा कौन दोष शरीर में विकृत-अविकृत, अल्पविकृत वा अति विकृत हैं, इसका ध्यान दे, देश, काल, प्रकृति आदि की मर्यादा का विचारकर आयुर्वेदीय ढंग से चिकित्सा करता हूँ। और यही समन्वय का व्यवहार्य स्वरूप इस देश में है और आगे भी होगा।

समीक्षा

समन्वयग्रह का प्रकोपक लक्षण

समीक्षक—वैद्य विखनाथ द्विवेदी आयुर्वेदशास्त्राचार्य

आज जहाँ देखिए वहीं समन्वय की बात हो रही है। विदेशी भाषा और सभ्यता के जलवायु में पले हुए प्रत्येक शिक्षित चिकित्सक आयुर्वेद व अन्य पैथियों के गम्भीर अध्ययन किये बिना समन्वय ग्रहाविष्ट हो जाते हैं। उनसे कुछ निवेदन करना है। वह है समन्वय की परिभाषा। श्री डा० केशव लक्ष्मण दफ्तरी की “समन्वय की रूप-रेखा” शीर्षक एक लेख “सचित्र आयुर्वेद” के गत जुलाई अंक में प्रकाशित हुआ है जो कि रूप-रेखा न होकर विरूप-रेखा है।

दफ्तरी महोदय को भ्रम है कि आयुर्वेद सार्वभौम चिकित्सा पद्धति नहीं, गणित की तरह सत्य नहीं, ब्रह्म की तरह एक नहीं, सूर्य की तरह प्रकाशमान नहीं, आकाश की तरह विशाल नहीं और चिकित्सा ज्ञान की चरम सीमा नहीं और प्राचीन चिकित्सकों की अल्पबुद्धिता का एक भौंदा खिलौना और भारतीय चिकित्सा विज्ञान का मिट्टी के कच्चे खिलौने की तरह कोई विनश्वर वस्तु है।

महामान्य श्री मजुमदारजी जैसे उभयज्ञ, गम्भीर विद्वान और अनुभवी चिकित्सक जिन्होंने अद्यावधि चिकित्सा शास्त्र में अपना जीवन समाप्त कर दिया है स्पष्ट अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। जिनके शास्त्र व अनुभव के चिकित्सा ज्ञान का लोहा सारे चिकित्सक मानते हैं वह तो कहते हैं कि अभी समन्वय होना बड़ा कठिन है किन्तु हमारे कुछ मनचले चिकित्सक समन्वय करने लगते हैं।

आयुर्वेद को न समझ सकने के कारण ही यह आग्रह समन्वयग्रह बन जाता है। दफ्तरी महोदय का लेख समन्वय नहीं है, केवल अल्पमति के चिकित्सकों में पवित्र आयुर्वेदिक भावना के प्रति विपरीत आस्था उत्पन्न करना है।

किन्तु मुझे जानना है कि समन्वय है क्या वस्तु? क्या

दफ्तरी महोदय बतलायेंगे? समन्वय क्या सम्यक् प्रकार से अन्वय होना, समान लक्षणयुक्त होना, समान गुणयुक्त, समान धर्मयुक्त होना है अथवा क्या है? उनका मूल लेख इंग्लिश में है या गुजराती में या मराठी में और उसका अनुवाद समन्वय के रूप-रेखा के अनुकूल है या नहीं यह मैं नहीं कह सकता, किन्तु मैं हिन्दी वाङ्मय में लिखित शब्दार्थ में ही ग्रहण कर इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ।

उनका अर्थ समन्वय अर्थात् ऐकमत्य या संगति है। किन्तु उनका उदाहरण ऐकमत्य नहीं जँचता। वह तो तुलनात्मक विचार भी नहीं है। एक ही धागे में कई विचारों की तुलना है। आयुर्वेद जैसे सार्वभौम चिकित्सा विज्ञान का क्षुद्र ज्ञान के टुकड़ों से मिलान करना और कहना कि आयुर्वेद कुछ नहीं है, एलोपैथी या होमियोपैथी व वायोकेमिस्ट्री का अंश है अतः भिन्न है। इसमें त्रुटि मानना चाहिए इत्यादि यह क्या समन्वय हुआ?

दफ्तरी महोदय जहाँ प्रारम्भ से चलते हैं वहाँ तो यह कहते हैं कि “चिकित्सा पद्धतियों की अनेकता रंजमात्र भी हितावह नहीं। क्योंकि उसमें से किस पद्धति का अवलंबन किया जाय इस सम्बन्ध में उनका मन द्विधावस्था में पड़ जाता है।” द्विविधा से प्रारम्भ करते हैं। यह महान भ्रम है, आगे चलकर तुलना करते हैं और इसे समन्वय की रूप-रेखा कहते हैं। उनसे कहना है कि आयुर्वेद जीवन का विज्ञान है। आयु का अर्थ जीवन (Life) व विज्ञान का अर्थ विशिष्ट ज्ञान है अर्थात् जीवन के अविकृत व विकृत रूपों के विभिन्न प्रकार के विशिष्ट ज्ञानों का भण्डार है जिसे जानकर जीवन के हित-अहित^१, सुख, दुःख की विभिन्न दशाओं का ज्ञानकर

१—हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्।

विद्यते यत्र विद्वद्भिः आयुर्वेदः स उच्यते ॥ च०सू०अ० १

उसे सुखमय बनाया जाय। यही आयुर्विज्ञान, जीवन-विज्ञान या Science of life है। जितनी भी विधियाँ हैं, वह सार्वभौम लक्षण में विलीन हो जाती हैं।

आयुर्वेद शाश्वत अनादि और अनन्त है। अतः चिकित्सा विज्ञान की चरम सीमा कहाँ है यह कहना कठिन है किन्तु एक मापदण्ड रखा गया है जिसके द्वारा विशाल ज्ञात व अज्ञात पद्धतियों को मापकर उन्हें योग्य या अयोग्य समझा जाय। यह मापक है आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धान्त जहाँ सब पद्धतियाँ अधूरी रह जाती हैं कोई मापदण्ड नहीं रखतीं। आयुर्वेद जीवन विज्ञान के रूप में सर्वप्रथम भारतवर्ष में समझा गया और उसने संसार को चिकित्सा-विज्ञान की अखण्ड ज्योति प्रदान की। उस ज्ञान ज्योति को पाकर जगत ने लाभ उठाया और उठाया जायगा। अब उसमें समन्वय क्या, तुलना क्या, ऐकमत्य क्या? विशाल प्रकाशपुंज सूर्य की तुलना में विद्युत्, दीप, गैस, अग्निज्वाला के प्रकाश की तुलना करके सूर्य में समन्वय दीपशिखा व अग्निज्वाला का करना व समन्वय की रूप-रेखा बनाना क्या उचित होगा?

यही क्या समन्वय, समता, ऐकमत्य हुआ कि दीप-शिखा प्रकाशपुंज की एक सीमा है अतः सूर्य-प्रकाश से इसकी समता है। अग्निज्वाला से प्रकाश व उष्णता मिलती है यह समता है, समन्वय है अतः सूर्य के प्रकाश और इसके प्रकाश के एक ही लक्षण हैं गर्मी के एक ही क्रम हैं अतः समता होने से सूर्य का कुछ अस्तित्व नहीं। दीपशिखा को डिब्बी में बन्द करो सूर्य समझो और अग्नि को अँगीठी में रखो सूर्य समझो। इसकी मान्यता करो अँगीठी उठायी जा सकती है। दीप जहाँ चाहें ले जा सकते हैं, सूर्य रात्रि में अस्त होता है दिन में उगता है दूषित है?

“समस्त चिकित्सा पैथियों का जन्मदाता जीवन का विज्ञान आयुर्वेद, केवल त्रिदोष सिद्धान्त है व्याधियों के वर्गीकरण का सिद्धान्त है, एलोपैथी सूक्ष्म कीटक सिद्धान्त उनके कारणों का सिद्धान्त है, होमियोपैथी समचिकित्सा का

सिद्धान्त है। आयुर्वेद का जो विभाग प्रत्यक्ष मेल नहीं खाता उसे न मानने में कोई आपत्ति नहीं।” यह समन्वय के लेखक की आदि व अन्त की पंक्तियाँ हैं।

प्रत्यक्ष को अक्षं प्रतिप्रत्यक्षं मानकर चलनेवाले विचारक चरक के प्रत्यक्ष को समझें। चरक कहते हैं—

आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।

व्यक्ता तदात्मे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निगद्यते॥

यही प्रत्यक्ष बुद्धि ही सब कुछ है। आँख के सामने का प्रत्यक्ष होना यदि प्रत्यक्ष समझा जाय तो अन्य पैथियों को अर्धाङ्ग वात का शिकार होना पड़ेगा।

क्या ही अच्छा होता दफ्तरीजी आयुर्वेद के प्रथम लक्षण को ध्यान देते और तब कुछ आयुर्वेद, एलोपैथी, होमियोपैथी, वायोकेमिस्ट्री के सूत्र की समता करते। जो कि हेतु, लिंग व औषधि ज्ञान स्वरूप, स्वस्थ परायण व आतुर परायण है वही आयुर्वेद है, यही त्रिसूत्र व शाश्वत है। हेतुज्ञान, लिंगज्ञान, औषधिज्ञान यही तीन प्रधान क्रम जो स्वस्थ व आतुर दोनों के लिये उपयोगी है त्रिस्कन्ध व त्रिसूत्र है। इनमें हेतुज्ञान स्कन्ध में त्रिदोष प्रधानहेतु व सन्निकृष्ट हेतु होते हैं, कटु-तीक्ष्ण, कषाय, क्षार, विदाही अन्नादि व जीवाणु कीटाणु विप्रकृष्टहेतु होते हैं। लिंगज्ञान स्कन्ध ही, लक्षण व व्याधि का स्वरूप है चाहे वह सन्निकृष्टहेतु से हो या विप्रकृष्ट हेतु से। औषधि स्कन्ध हेतुविपरीत औषधि, व्याधि विपरीत औषधि, हेतुव्याधिविपरीत औषधि (अन्न, आहार, विहार, उपचार व औषधि का हितावह उपयोग) हैं। इनमें आंशिक रूप में हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत व हेतुव्याधिविपरीत में सब सिद्धान्त एलोपैथी, होमियोपैथी के आ जाते हैं। एलस का अर्थ विपरीत, पैथस का अर्थ दुःख (Allos Anti & Pathos = Disease) है। व्याधिविपरीत चिकित्सा सिद्धान्त एलोपैथी है। हेतुविपरीत होमियोपैथी है। कुनीन खाने से अधिक मात्रा में ज्वर आता है, आर्सेनिक से दस्त और वमन होते हैं अतः ऐसे हेतुजनित लक्षणों कुनीन व आर्सेनिक देना चाहिए। जो व्याधि जिससे

वही दवा तत्सम्बन्धी लक्षण को भी दवाती है। तो इतनी अंशांश समभावना से उसकी कोई विशेषता हो गयी। दफ्तरी महोदय समन्वय तो करते हैं परन्तु चिकित्सा के लक्षणों में किसी से समता नहीं किये, छोड़ गये।

प्रयोगः शमयेत् व्याधिं योनान्यमुदीरयेत्

सा चिकित्सा विकाराणाम्..... —चरक

कुनैन का मलेरिया में मेलेरिया पैरासाइट मारना कार्य है जो मेलेरिया पैरासाइटकी वृद्धि से शारीरिक विकृति हुई उसकी क्या चिकित्सा की गई। कुनैन की पाण्डुत्ववर्धक, दृष्टि दौर्बल्य, भ्रम, बालझड़ना इन उपद्रवों की समता का भी तो समन्वय करिये। कीटाणु सिद्धांत रोगों के कारणों का सिद्धांत है तो उसकी चिकित्सा या उनका विनाश शरीर विनाशक भी तो है। आयुर्वेद से कहाँ समता हुई। एसपिरिन से वेदना बन्द हुई, हृदयावसाद व गाढ़ विट्कता की वृद्धि हुई यह कहाँ की समता है। कौन सा समन्वय है। हर एक एलोपैथी की दवा जहाँ जीवाणु नाशक है वहाँ शरीर के ऊपर भयंकर हानिकारक भी है। एलोपैथी में पथ्य व्यवस्था नहीं, प्रकृति व्यवस्था नहीं, विकृति व्यवस्था नहीं तो इसका समन्वय भी तो करिए। यह कैसी विषमता है, हम इसे समन्वय या ऐकमत्य कहें या विपरीत, विनाशोन्मुखी व्यवस्था कहें। क्या कहें !

आप बतलायें कि सैकड़ों रोग बिना जीवाणु के होते हैं उनमें वह एलोपैथी का सूक्ष्म-कीटक सिद्धान्त कैसे कहेंगे। अस्थिभग्न या अग्निदग्ध ! क्या यह रोग नहीं है इसमें सूक्ष्म-कीटक नहीं होते तो क्या यह समन्वय सूक्ष्म-कीटक सिद्धान्त का कारण सिद्धान्त बनेगा या नहीं। कैसे समन्वय होगा। हम समन्वय को ऐकमत्य के अर्थ में कैसे मानें।

होम्योपैथी की भी यही दशा है, समसिद्धान्त के भी उदाहरण विषम बनते हैं। वहाँ क्या होगा। खैर, हम सम सिद्धान्त के बाद के अन्य सिद्धान्त की समता होम्यो-पैथी से कैसे करें ?

आयुर्वेद के सार्व भौम लक्षण में से एक-एक टुकड़े को आज समन्वय कह कर समता देना पहाड़ की राई से तुलना न होगी तो क्या होगी।

दुग्ध चिकित्सा, तैल चिकित्सा, वर्ग चिकित्सा (Tingo-pathy) विद्युत चिकित्सा, जल चिकित्सा, वायु चिकित्सा, रेत चिकित्सा, मिट्टी चिकित्सा, आकृतिक चिकित्सा और अन्य प्रशाखा की एकान्त ग्राही चिकित्साओं से तुलना करना आयुर्वेद का अपमान है, समन्वय नहीं।

समन्वय के नाम पर आपने आयुर्वेद और एलोपैथी में दोष दिखाये हैं और होम्योपैथी व सुशलर की १२ लवण चिकित्सा की महत्ता दिखाई है। आपने प्रथम वाक्य लिखा है कि “त्रिदोष सिद्धान्त वर्गीकरण का सिद्धान्त है” इसे सिद्ध करिए। आपने कैसे निर्णय किया, आपने वर्गीकरण के सिद्धान्त पर ही तो यह कहा है जो नितान्त दोष पूर्ण है। आपकी वाक्य संगति एक सी नहीं है अतः इसे ऐकमत्य, समत्व का कोई भी रूप नहीं मिलता। आप लिखते हैं त्रिदोष सिद्धान्त, वर्गीकरण का सिद्धान्त है, वर्गीकरण किसी भी एक व्याधि की त्रिदोष के अनुसार करके नहीं लिखे। रोग चिकित्सा शीर्षक में आपने ऐसी बातें लिखी हैं जो आपकी अध्ययन शीलता के विपरीत बोलती हैं। यथा— रोगों की चिकित्सा के तीन प्रकार हैं :—“रोगों के कारणों से दूर रहना। इसी को पथ्य कहते हैं।”

समस्त रोगों की सभी अवस्थाओं में यह चिकित्सा अवश्यमेव करनी चाहिए। और आगे आप लिखते हैं कि “आयुर्वेद में जिसे हेतु विपरीत कहा गया है वह स्वयं व्याधि समान या व्याधि विपरीत या व्याधि विषम व्याधि उत्पन्न करने वाली होने के कारण उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता।”

यह वाक्य क्या अर्थ रखता है ? आप स्वयं रोगों के कारण दूर करना प्रतिष्ठापना करके उसकी वाग्भट से पुष्टि की व स्वयं ही उसका अस्तित्व नहीं मानते यह क्या विचार है ? आपकी दृष्टि में हेतु, व्याधि, व्याधि विपरीत यह

सब समानार्थ वाचक हैं? पथ्य की परिभाषा बड़ी विचित्र है।

पुनश्च—“सभी का यह अनुभव है कि कोई भी रोग रसायन के सेवन से तुरन्त अच्छा हो जाता है, परन्तु उसका प्रभाव घटते ही वही मूल रोग पूर्ववत् प्रकट हो जाता है। यह कौन-सा रसायन है। रसायन का आप क्या अर्थ करते हैं? “यज्जराव्याधिविध्वंसी भेषजस्तद्रसायनम्” क्या रसायन नहीं है?

दाह के उदाहरण में—आपने लिखा है “उन समस्त रोगों का एक वर्ग होता है।” वे क्या हैं। वातसंशमन, पित्तसंशमन, श्लेष्मसंशमन वर्ग जो चरक सुश्रुत के हैं वह आपको ज्ञात नहीं तभी तो आप फेरमफास पर आ गये।

औषधि निर्माण में “मर्दन से तीक्ष्णता बढ़ती है” यह विचार आपका अपना ही है। शर्करा डालकर तीक्ष्णता बढ़ाने की आपकी प्रतिक्रिया समझ न सका। किसी के मुख में मिर्च डाल दें और कहें कि दाँतों से खूब मर्दन करो और थोड़ी-थोड़ी शर्करा उसके मुख में डालते जायँ तो एक पाव शर्करा डालने पर क्या मिर्च की तीक्ष्णता बढ़ती जायगी?

आयुर्वेद सत्य है, प्रत्यक्ष सिद्ध है। आपको अनुभव करने के लिये दूर नहीं जाना है। जैपाल का एक बीज खाकर उस की सत्यता देखिए। वात के बढ़ते प्रकोप में जब रोगी का शरीर अस्थिर हो रहा हो, नाडियाँ, धमनी और शिरायें, कम्पित हो रही हों, आक्षेप के चिह्न हों तो “वातकुलान्तक” की एक मात्रा दीजिए, वात के लक्षण शान्त होते देखेंगे। पित्तप्रकोपमें सूतशेखर रस देकर पित्तशामक प्रभाव देखें। वर्गीकरण, समन्वय, ऐकमत्य और समता के शाब्दिक अर्थ पर ध्यान दें और आयुर्वेद में होमियोपैथी, वायोकेमिष्ट्री

न हों। यह सार्वभौम चिकित्सा पद्धति है। जिस किसी भी प्रकार से व्याधि शान्ति प्राप्त हो जनता सुखी रहे वही विधि उपयुक्त चिकित्सा है। यही त्रिसूत्र त्रिस्कंध ज्ञान है। क्षय में लौहज्वालिक आप देंगे वृद्धि में क्या करेंगे? अधूरापन तो यहीं आपकी विधि में है। केवल हेतु विपरीत, केवल व्याधि विपरीत, केवल हेतु-व्याधि विपरीत या विपरीतार्थकारी औषधि ही चिकित्सा नहीं है। यह जहाँ, जिस रूप में, जिस प्रकार, प्रयोग करके जैसे भी हो व्याधि शमन करें वही आयुर्वेद का आशय है।

आप लिखते हैं “होम्योपैथी व सिम्पलर की वायो-केमिस्ट्री औषधियों का गुणादर्श यथोचित व ग्राह्य है” इतना ही कहना था तो समन्वय की आपने रूप-रेखा लिखने का क्यों कष्ट किया। एलोपैथी के एक भी उदाहरण न दिये। होम्योपैथी व वायोकेमिष्ट्री की योग्यता सिद्ध करने को आयुर्वेद के सूत्रों के यत्र-यत्र विन्यास का अनुचित प्रयोग क्यों किया। यह तो प्रतिज्ञा समन्वय की और सिद्धी होम्योपैथी व शुशलर की वायोकेमिष्ट्री की दवा-प्रयोग की प्रतिज्ञा की पूर्ति करती है।

आप सिद्ध करिए त्रिदोष सिद्धान्त वर्गीकरण का सिद्धान्त है। एक वर्ग बनाइये, इसमें त्रिदोष के सिद्धान्त मिलाकर उनकी यथार्थता सिद्ध करिए—उसमें रोग, उनके हेतु, उनकी चिकित्सा को वर्गीकरण क्रिया द्वारा प्रतिपादित करें तो आप यह नहीं लिखेंगे कि “शस्त्रक्रिया यह बहुधा व्याधि विपरीत चिकित्सा है।”

क्षमा करें, कोई विचार तब तक न रखना चाहिए जब तक सुपरीक्षित न हो, तद्विधियों द्वारा विचारित न हो उसका कोई परिणाम न निकाला गया हो।

एक गंभीर प्रश्न ?

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री

आयुर्वेद हितैषियों के सम्मुख आज मैं जो प्रश्न रख रहा हूँ—वह मेरे ही जैसे अनेक आयुर्वेद प्रेमियों के दिमाग में उठनेवाली विचार धाराओं का स्मूर्तरूप है,—अतः मुझे यह आशा रखनी चाहिये कि आधोकारि विद्वानों के द्वारा इसका उचित उत्तर दिया जायगा, और इसके दोनों पहलुओं पर विचार विमर्श भी किया जायगा ।

आयुर्वेद के प्रति अत्यन्त गाढ़ श्रद्धा होने की वजह से अब तक मेरी यह मान्यता है कि एक आयुर्वेदिक चिकित्सक को डाक्टरी औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये—और अपने चिकित्सा-क्रम में केवल मात्र आयुर्वेदिक औषधियों को ही स्थान देना चाहिये । संभव है मेरी यह धारणा अन्ध-विश्वास का ही विकृत रूप हो,—यह भी संभव है कि इस धारणा को कृपमंजूकता का विशेषण दिया जाय, और यह असंभव भी नहीं कि इस मान्यता को जनहित विरोधिनी समझा जाय ।

जो भी हो स्पष्ट सत्य तो यह है कि बीच-बीच में डाक्टरी औषधियों का प्रयोग करने वाले वैद्यों के प्रति, सिर्फ इसी मान्यता के कारण विद्वेष और विक्षोभ के भाव भी उत्पन्न होते हैं—और अपनी धारणा को ही न्याययुक्त समझने की वजह के इस पाठ्यक्रम पर गुस्सा भी आता है जो एक छात्र को वैद्य बनाने के बजाय डाक्टर बना देता है ।

इस मान्यता को न्याय संगत मानने के पक्ष में मुझे यह कहना है कि दो परस्पर विरोधी औषधियों का प्रयोग चिकित्सा के लिहाज से ठीक नहीं बैठता,—बैठ भी नहीं सकता । तथा इस तरह की वर्णशंकरि चिकित्सा से रोगी का अहित होने के साथ ही चिकित्सक को भी दोष का भारी इस कारण होना पड़ता है कि जिस डाक्टरी औषध का प्रयोग

वह करता है उसके गुण-धर्म और उसकी प्रतिक्रिया के विषय में उसकी पूरी जानकारी नहीं होती ।

इसके साथ ही जिन आयुर्वेदिक औषधियों को वह अब तक प्रयोग में लाता रहा है—उनके प्रति अविश्वास की भावना पैदा होना सर्वथा स्वाभाविक है,—चूँके एक वैद्य के हाथों किसी डाक्टरी औषध के प्रयोग के मानी इसके सिवा कुछ और नहीं हो सकता कि आयुर्वेद के फल होने पर ही उसे एलोपैथी का आश्रय लेना पड़ा है ।

मेरी बुद्धि की एक सामान्य बात यह भी है कि वैद्यजी के पास चिकित्सा कराने के लिये आनेवाला रोगी सिर्फ इसी विश्वास को लेकर ही तो आता है कि उसे आयुर्वेदिक दवा का सेवन कराया जायेगा । यदि उसे डाक्टरी दवा ही खानी होती तो वह सीधा डाक्टर के पास ही पहुँचता । अब यदि उसे आयुर्वेदिक के स्थान में या उसके साथ डाक्टरी दवा खिलाई जाती है तो निश्चय ही रोगी के साथ सीधा विश्वासघात समझा जाना चाहिये ।

इस चिकित्सा के मिश्रण के कारण जनतामें यदि यह भावना पैदा हो जाती है कि वैद्यजी को आयुर्वेदिक औषधियाँ हीन हो गईं,—और वे डाक्टर दवा की उत्कृष्टता को समझ गये तो इसका दायित्व किस पर होगा ?

आयुर्वेद को राज्याश्रय देने के पक्ष में हमारी सबसे बड़ी दलील यही तो है कि विदेशी औषधियाँ—हिन्दुस्तान जैसे गर्म देश के लोगों के लिये अनुकूल नहीं पड सकती,—और इनके साथ में देश का करोड़ों रुपया देश से बाहर चला जाता है । फिर यदि हम वैद्य लोग स्वयं ही विदेशी दवा का प्रयोग करते हैं तो निश्चय ही हम अपने पक्ष को ही निर्बल नहीं करते,—अपने नैतिक स्तर को भी बहुत नीचे गिरा देते हैं ।

इसकी एक अतीव हानिकर प्रतिक्रिया यह भी होती है कि स्वयं आयुर्वेदिक चिकित्सक के हृदय में अपने खुद के ज्ञान और आयुर्वेदिक औषधियों के प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। एक बार भी यदि संयोगवश कोई डाक्टररी औषध उसे सफल नजर आ जाती है,—चाहे उस सफलता का मूल श्रेय आयुर्वेदिक औषध को ही हो,—तो फिर उसे अन्य औषधियों में भी अविश्वास होने लगता है।

इस तरह की यह हीनत्व भावना आयुर्वेद के लिये कितनी घातक हो सकती है,—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है—और यदि अभी से इसका उचित प्रतिकार नहीं किया गया तो मुझे भय है कि आगे चलकर हमारे वैद्य बन्धु ही डाक्टररी दवाओं के प्रचारक एजेन्ट बन जायेंगे।

इस तरह की चिकित्सा के समर्थकों का कहना है कि पेटेण्ट डाक्टररी औषधियों के प्रयोग में खतरे की संभावना नहीं रहती,—और रोगी को जल्दी लाभ हो जाता है, साथ ही डाक्टररी को मिलने वाला श्रेय आयुर्वेद को मिल जाता है। इस तरह का कथन युक्ति के विरुद्ध तो है ही अपने आत्मपतन का परिचायक भी है। जल्दी लाभ यदि होता है तो प्रकट रूप में रोगी को डाक्टररी औषध खाने की सलाह देनी चाहिये,—और इस तरह के झूठे श्रेय से आयुर्वेद की रक्षा करनी चाहिये।

यह सत्य है कि पेटेण्ट डाक्टररी औषधियों के यथार्थ गुणधर्म को डाक्टरों की यह फौज भी नहीं समझ पाती, लेकिन जिस विज्ञान के आधार पर इनका निदान चलता है, उसका तो पूरा ज्ञान इनके पास रहता है,—और चिकित्सा के अनुभव पर तथा उस औषध के साहित्य के आधार पर उस औषध की प्रतिक्रिया और उतार-चढ़ाव की जानकारी उनके पास रहती है, लेकिन एक वैद्य तो सिर्फ छुटपुटी जानकारी के आधार पर ही उस औषध का प्रयोग करता है,—

जिसके बारे में—जिसके उपादानों के सम्बन्ध में उसे कोई पूरा ज्ञान नहीं होता।

मधुमेह की आयुर्वेदिक चिकित्सा करनेवाला वैद्य आयुर्वेद के सिद्धान्त पर रोगी की चिकित्सा करता है,—उसी हिसाब से उसके पथ्य का निर्देश करता है,—और वसन्तकुसुमाकर, हेमनाथ आदि औषधि का सेवन कराता है। अब वसन्त-कुसुमाकर के साथ ही वह 'इंसुलिन' के इंजेक्शन भी देता है, और दोनों की परस्पर विरोधी—प्रतिक्रियाओं की परवाह किये बिना ही इस चिकित्सा-क्रम को चालू रखता है। दुर्भाग्य से उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि कितनी प्रतिशत शर्करा के होने पर इंसुलिन नहीं देना चाहिये,—और शर्करा की कमी में दिये जाने पर होने वाले इंसुलिन के उपद्रवों का क्या उपचार करना चाहिये ?

न्यूमोनिया के रोगी को शृङ्ग और कस्तूरी भैरव के साथ ही पेंसिलिन के इंजेक्शन दिये जाते हैं—इसके पहिले शृङ्ग के साथ ६६२ का मिश्रण दिया जाता था। दोनों के सम्मिलित प्रयोग से होने वाले उतार चढ़ाव को समझने की विवेक बुद्धि के अभाव में यदि रोगी का अकल्याण होता है तो इसका दायित्व किस पर है ?

मृत्युञ्जय या गोदन्ती भस्म के साथ कुनाइन खिलाने से यदि रोगी के मतिष्क की संतुलनशक्ति गड़बड़ा जाती है तो इसकी जिम्मेदारी वैद्यजी और आयुर्वेद के ऊपर ही तो आती है ? और पेट के दर्द में यदि मार्फिया के इंजेक्शन से रोगी की दशा चिन्तनीय हो जाती है तो उसका दायित्व भी वेचारे वैद्यजी के ऊपर ही आता है।

अधूरा ज्ञान यों तो सदा ही हानिकर होता है—फिर यदि जीवन-मरण की गंभीर समस्या में भी इसका प्रयोग होता है तो इससे ज्यादा भयानक अपराध क्या माना जाय ?

इस तरह अपनी इन धारणाओं को स्पष्ट करने के बाद मुझे वैद्य जगत से यह पूछना है कि मैं सही हूँ या गलत ?

आयुर्वेद जगत्

निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन विशेषाधिवेशन, गाजियाबाद में सर्वसम्मति से स्वीकृत दो प्रस्ताव

१. आयुर्वेद अनुसन्धान समिति (पण्डित कमेटी) के विषय पर

यह सम्मेलन पण्डित कमेटी की सिफारिशों को उस ध्येय की पूर्ति में पूर्ण साधक नहीं समझता जिसके लिए इसका निर्माण हुआ था। इसलिए सरकार से अनुरोध है कि आयुर्वेद विज्ञान की वास्तविक उन्नति के लिए निम्नलिखित सुझावों के अनुसार कार्य में प्रवृत्त हों :—

१. आयुर्वेदानुसन्धान का संचालन आयुर्वेद पद्धति के अनुसार आयुर्वेद के विद्वानों द्वारा किया जाय। आवश्यकता पर वह किसी भी विज्ञान के साधनों से सहायता ले सकते हैं।

२. भारतवर्ष की इस समय की आवश्यकताओं को देखते हुए अभी डिप्लोमा कोर्स न हटाये जायें।

३. आयुर्वेद शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश योग्यता—
(१) डिप्लोमा कोर्स के लिए प्रथमा या तत्सम परीक्षा अथवा विज्ञान एवं संस्कृत सहित मैट्रिक तथा (२) डिग्री कोर्स के लिए मध्यमा या तत्सम परीक्षा अथवा विशेष संस्कृत और विज्ञान सहित मैट्रिक रखी जाय।

सम्मेलन की यह भी सम्मति है कि सरकार को प्रथमा और मध्यमा में विज्ञान का विषय भी पाठ्यक्रम में रखना चाहिए।

४. आयुर्वेद शिक्षण संस्थाओं की शिक्षा आयुर्वेद प्रधान ही हो। और एलोपैथिक चिकित्सा के न्यूनतम आवश्यक

अंश ही पूरक रूप से पढ़ाए जायें तथा पाठन यथासम्भव तुलनात्मक और सामंजस्यपूर्ण हो।

५. पण्डित कमेटी की सिफारिशों से यह व्यक्त होता है कि संस्कृत के विद्वानों के लिए आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के मार्ग में रुकावट आ सकती है। सम्मेलन का यह निश्चित मत है कि ऐसी कोई बाधा कदापि उपस्थित नहीं होनी चाहिए।

२. केन्द्रीय आयुर्वेदिक बोर्ड तथा आयुर्वेदिक विभाग की स्थापना

आयुर्वेद महासम्मेलन का यह विशेषाधिवेशन भारत सरकार से अनुरोध करता है कि आयुर्वेद विषय में ऐसी कमेटियों को बनाने की प्रथा जिनमें केवल एलोपैथी के विद्वान् भरे रहते हैं, बन्द करे। इस विषय में आयुर्वेद महासम्मेलन की सम्मति से कार्य ले।

सम्मेलन का यह भी मत है कि आयुर्वेद की प्रगति को चलाने के लिए केन्द्र में एक केन्द्रीय आयुर्वेदिक बोर्ड और एक ऐसा आयुर्वेद का विभाग खोले जो इण्डियन मेडिकल काउंसिल के स्तर का हो और आयुर्वेद विषय में उसी प्रकार कार्य कर सके।

उत्तर प्रदेशीय सरकार के द्वारा निर्दिष्ट आयुर्वेद एवं यूनानी चिकित्सा-फार्माकोपिया निर्माण सम्बन्धी प्रश्नावली

उत्तर प्रदेशीय राज्य के चिकित्सा विभाग द्वारा आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा का एक प्रामाणिक “भैषज्य संग्रह” बनाने का निश्चय किया गया है, अत एव वैद्यों से प्रार्थना है कि इस प्रश्नावली से सम्बन्धित विषयों पर अपनी उपयुक्त

सम्मतियां “मन्त्री हिमालय आयुर्वेद सम्मेलन रानीखेत” को भेजकर अनुप्रहीत करें।

(१) इस पुस्तक का नाम क्या हो ? कुछ विद्वानों की सम्मति है कि इस पुस्तक का नाम राजकीय भैषज्य संग्रह रखा जाये, क्या आप इससे सहमत हैं ? यदि नहीं तो दूसरा उपयुक्त नाम क्या हो ?

(२) क्या इस संग्रह को योग (Compounds) तथा स्वतन्त्र द्रव्य (Single Drugs) नाम के दो भागों में विभक्त करके बनाना आप उचित समझते हैं ?

(३) कूपीपक रस, धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न, तथा उपरत्नों के शोधन, मारण का विषय भी यथायोग्य इन्हीं दो भागों में समाविष्ट कर दिया जाय ? अथवा इनका समावेश पृथक् करना उचित होगा ?

योग संग्रह

(४) योगों को किन-किन विभागों में विभक्त किया जाय ? क्या इनको कपाय, चूर्ण, वटी, अवलेह, स्नेह, तैल, घृत, आसव, अरिष्ट, रस, पर्पटी, पिष्टि, लेप, मरहम, अञ्जन, वर्ति, अर्क तथा द्राव इन विभागों में ही विभक्त करना पर्याप्त होगा ?

(५) औषधियों के संग्रह के लिये अकारादि क्रम के अतिरिक्त कोई दूसरा तरीका आप ठीक समझते हैं ?

(६) पुस्तक में योगों की कम से कम तथा अधिक से अधिक कितनी संख्या रहनी चाहिए ? क्या कुल मिला कर आयुर्वेदिक एवं यूनानी के एक हजार योगों का संग्रह पर्याप्त होगा ?

(७) आधुनिक चिकित्सकों के अनुभूत प्रयोगों को इस पुस्तक में स्थान देने के विषय में आपकी क्या सम्मति है ?

(८) एक ही नाम के अनेक योगों में किसी एक को आप किन आधारों पर स्वीकार करना पसन्द करेंगे ? यथा—अश्विकुमार, ज्वरांकुश आदि।

(९) आयुर्वेद में मागध और कालिंग दो प्रकार के मान मिलते हैं, इस पुस्तक में किस मान को स्वीकार किया जाय ?

(१०) प्रचलित मानः—मन, सेर, छटाँक, तोला, मासा, रत्ती, आदि को ही यदि ग्रहण किया जाय तो क्या आपत्ति है ?

परीक्षण

(११) औषधियों के परीक्षण में आधुनिक रासायनिक परीक्षण (Chemical Laboratory Methods) के द्वारा साप दण्ड स्थिर करना कहाँ तक उचित एवं सम्भव होगा ?

(१२) आकृति, वर्ण, गन्ध, स्वाद, रेखा प्रवेश, श्लेष्मता तथा रूक्षता के अतिरिक्त और भी कोई परीक्षा विधि हो सकती है ?

(१३) क्या आप कुछ योगों या स्वतन्त्र द्रव्यों की ठीक पहिचान के लिये-अपने अनुभवों के आधार पर कोई विशिष्ट परीक्षा बतला सकते हैं ? यदि हाँ तो कृपया पूर्ण विवरण दीजिये।

विविध प्रश्न

(१४) अन्त्रिक (Typhoid) कालाजार, विशूचिका (Cholera), विषमज्वर (Malaria), फक्करो (Ricket), रोमान्तिका (Measles), मसूरिका (Smallpox), डूंग वातवलासक (Beri-Beri), श्लीपद (Filaria), गलगण्ड (Exophthalmic goiter), कुक्कुर खाँसी (Whooping cough) जैसे रोगों की प्रतिषेधात्मक (Preventive) तथा रोग-मोक्षणात्मक (Curative) चिकित्सा में प्रयुक्त होनेवाली आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा के अनुसार कोई विशिष्ट औषधि [Specific Medicine] आप बतला सकेंगे ? यदि हाँ तो उनके उपादान, निर्माण विधि एवं प्रयोग विधि कृपया सूचित करें।

(१५) इन रोगों के अतिरिक्त किसी अन्य रोग या रोगों पर अपनी अनुभव सिद्ध औषधियाँ बताने की कृपा करें। उनके नाम उपादान निर्माण विधि साफ-साफ बतावें।

(१६) शल्य, शालाक्य तथा अगद तन्त्र की दृष्टि से आपने किसी आयुर्वेदीय या यूनानी के योगों का प्रयोग करके उसे सिद्ध पाया है? यदि हाँ तो पूर्ण विवरण दीजिये।

(१७) ऐलोपैथी की कौन-कौन सी औषधियाँ इस संग्रह में सम्मिलित की जायें?

(१८) क्या आपने कभी इन औषधियों को आयुर्वेदिक या यूनानी के रस-वीर्य, विपाक आदि मौलिक सिद्धान्तों के आधार पर परीक्षित करके उपयुक्त पाया है? यदि हाँ तो उसको साफ-साफ लिखें।

(१९) इस फार्माकोपिया को अधिक से अधिक जनोप-योगी एवं उपयुक्त बनाने के लिये आपकी और क्या सम्मति है?

आयुर्वेदिक स्वास्थ्य-नीति रोग प्रतिरोध के लिये अधिक उपयोगी

बल्लीमारान में कविराज मजूमदार द्वारा ६ शय्याओं की आरोग्यशाला का उद्घाटन

अखिल भारतीय आयुर्वेदिक कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष कविराज हरिरत्न मजूमदार ने कल यहाँ बल्लीमारान में प्रथम आयुर्वेदिक चिकित्सालय का उद्घाटन करते हुए कहा :—“चिकित्सालय में रोगी रखने का एकमात्र लाभ यह है कि लोग किसी विशेष दवा प्रणाली की योग्यता के बारे में अपना एक विचार बना सकते हैं। चिकित्सालयों में यदि मरीज आयें और दवा लेकर चले जायें तो, हम अपनी सफलता तथा विफलता का व्यौरा नहीं रख सकते। उक्त

चिकित्सालय से हम महीनों की पूर्ण देख-रेख रख सकते हैं। इसका नाम आरोग्यशाला है।”

दिल्ली म्युनिसिपल कमिटी के अध्यक्ष डा० युद्धवीर सिंह ने अपने स्वागत-भाषण में कहा कि कमिटी के आयुर्वेदिक चिकित्सालय अब नगर के प्रत्येक भाग में हैं और वे रोजाना लगभग ३००० मरीजों को दवा देते हैं।

कविराज मजूमदार का पूर्ण भाषण इस प्रकार है :—

“दिल्ली नगरपालिका का प्रथम आयुर्वेदिक चिकित्सालय का उद्घाटन करने के लिए आमन्त्रितकर संगी महोदय ने मुझे सम्मानित किया है, इसलिये मैं उनका आभारी हूँ। यद्यपि मुझे योग्यतर अनेक अन्य व्यक्ति मिल सकते थे, तथापि मुझे चुनने का कारण मैं समझता हूँ, यह है कि मुझे इस नगरपालिका का प्रथम आयुर्वेदिक खैराती दवाखाना संचालित करने का अवसर मिला था। मैं स्वर्गीय मसीह-उल-मुल्क हकीम अजमल खाँ साहब तथा लाला मदनमोहन-लालजी की पुण्य स्मृति को श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ जिनके सम्मिलित प्रयास से नगरपालिका की उस प्रथम दातव्य चिकित्साशाला का जन्म हुआ था। मैंने प्रथम चिकित्साशाला की ग्यारह वर्ष तक सेवा की है, और आज मुझे ही इस प्रथम आरोग्यशाला के उद्घाटन का अवसर दिया गया है।

“दिल्ली नगरपालिका ने आरम्भ में केवल सिर्फ ६ शय्याओं की आरोग्यशाला स्थापित करने का प्रस्ताव किया है। मुझे इस प्रस्ताव के पीछे एक महान् संस्था की कल्पना दिखायी दे रही है। स्वतन्त्र भारत की राजधानी की नगरपालिका इस छोटी-सी आरोग्यशाला स्थापित कर अपनी मर्यादा का विचार रखती हुई चुपचाप बैठी तो नहीं रह सकती। हमें चाहिए कि रोगी को लाभ पहुँचाने का संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लें, जिससे एक भी रोगी यहाँ से हमारी उपेक्षा के कारण असन्तुष्ट होकर न जाने पावे। इस संस्था का नाम ऊँचा रहना, समस्त वैद्य समाज का नाम ऊँचा रखना और आयुर्वेद की मर्यादा की रक्षा करना, अब

हमारे हाथ में है। हमें इस काम को निःस्वार्थ रूप से करना चाहिए। यदि हम निष्ठा से, लगन से, ईमानदारी से, इस सर्वहित विधायक कार्य का सम्पादन करेंगे, तो सफलता निश्चित है।

“सबसे पहले तो नगर के निकट एक विस्तृत स्थान पर अधिकार करना होगा, फिर भवन निर्माण तथा आरोग्यशाला चलाने के लिए व्यय का प्रश्न है। अर्थागम के कतिपय उपाय कहता हूँ : (१) नगरपालिका की आर्थिक सहायता। उसी प्रकार जिस प्रकार एलोपैथिक अस्पतालों को मिलती है। (२) धनी जनों के एककालीन दान—दाता की स्मृति में अथवा इच्छानुसार। (३) वैद्यों द्वारा तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा जनता से घर-घर जाकर अर्थ संग्रह। (४) नगरपालिका द्वारा स्थापित रसायनशाला की औषधि के विक्रय से।”

उन्होंने आगे कहा :—“नगरपालिका के स्वास्थ्य विभाग को चाहिए कि स्वास्थ्य नीति के नियमों के पालन की उपकारिता का जनता में नाना प्रकार के प्रचार करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दें। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम और कड़े बनाये जायें तथा लोगों को उन कानूनों को मानने के लिए वाध्य किया जाय।

“स्वास्थ्य नीति से हम साधारणतया पाश्चात्य स्वास्थ्य नीति ही समझते हैं। अपने क्षेत्र में उसकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं। परन्तु हमारी आयुर्वेदिक स्वास्थ्य नीति रोग का प्रतिरोध करने में इस देश की जनता के लिए अधिक उपयोगी हो सकती है। हमारी स्वास्थ्य नीति तथा सदाचार नीति के नियमों के यथोपयुक्त पालन से शरीर तथा मन दोनों में इतने बल का संसार होता है कि रोग जल्दी पास नहीं आ सकते।

“अन्त में, मैं अपनी ओर से तथा दिल्ली प्रदेश के समस्त वैद्य समाज की ओर से आयुर्वेद के समर्थकों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि वे भविष्य में भी इस क्षुद्र आरोग्यशाला को हमारी नगरपालिका की मर्यादा

के अनुरूप महान् बनाने में भी हमारी सहायता करेंगे।

“अपने वैद्य भाइयों से भी मैं अनुरोध करता हूँ कि इस शिशु संस्था का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर इसे सफलता की सीमा तक पहुँचावें। भगवान का नाम लेकर अपना कर्त्तव्य करते चलिए परम पिता अवश्य आपकी सहायता करेंगे।”

—हिन्दुस्तान

अखिल भारतीय आयुर्वेद-पत्रकार संघ

एक योजना

भारतवर्ष में प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। इनमें समाचार सम्बन्धी एकरूपता लाने, इन्हें आयुर्वेद प्रचार का पुष्ट साधन बनाने, इनके द्वारा निखिल भारतवर्षीय वैद्य सम्मेलन और उसका प्रान्तीय या अन्य शाखाओं की राजनीतिक हलचलों को योग्यरीत्या प्रकट करने, आयुर्वेद के उच्चकोटि की साहित्य के निर्माण करने तथा उनमें से कितनों की पतनावस्था समाप्तकर ऊँचा उठाने की दृष्टि से एक अखिल भारतीय संगठन की आवश्यकता है। इसके द्वारा हम शासनतन्त्र से भी ठोस माँग कर सकेंगे, अपने स्वत्व और अस्तित्व के लिये लड़ सकेंगे तथा अपने आगामी कर्त्तव्यों की ओर सामूहिक दृष्टि से विचार प्रकट कर सकेंगे।

यह कार्य कब तक सफल होगा नहीं कह सकता, पर इस सम्बन्ध में ‘सचित्र आयुर्वेद’ के योग्य पाठकों का विचार जानना चाहता हूँ। इसमें आयुर्वेदीय पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशक, सम्पादक तथा लेखक सम्मिलित होंगे। इसके सम्बन्ध में आप लोग अपने-अपने विचार लिखकर भेजें। उसके विधान, कार्य-प्रणाली और अधिकारादि पर भी अपना मत प्रकट करें तो निवेदक अतीव आभारी होगा।

—वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी

नेपाल आयुर्वेदीय संस्था

काठमाण्डू १२ अगस्त। “नेपाल-आयुर्वेदीय संस्था” द्वारा आयोजित वैद्यों की एक विशाल सभा श्री सदाँर कविराज शिवनाथजी के सभापतित्व में हुई, सभा में नेपाल राज्य के करीब २००० वैद्य बन्धुओं ने भाग लिया।

सभा ने कुछ दिन पहले संगठित अस्थायी व्यवस्थापिका समिति द्वारा निर्मित विधान को संशोधन के बाद पास किया। सभापति तथा अनेक प्रतिनिधियों ने आयुर्वेद चिकित्सा विषय को लेकर महत्त्वपूर्ण भाषण दिये।

“नेपाल-आयुर्वेदीय संस्था” के स्थायी सभापति श्री सदाँर कविराज शिवनाथ शर्मा सर्व सम्मति से निर्वाचित किये गये। उक्त सभापति ने कार्यकारिणी सदस्यों व पदाधिकारियों की निम्न लिखित नियुक्त की।

१. मंत्री—श्री कविराज चन्द्रानन्द राजवैद्य।
२. उपमंत्री—श्री हिमालयेश्वरानन्द वैद्य।
३. कोषाध्यक्ष—श्री कविराज नरेन्द्रनाथ शर्मा।
४. प्रचार मंत्री—श्री कविराज कृष्णबहादुर सिंह।
५. संगठन मंत्री—श्री वैद्य अच्युतानन्द।

सदस्य—

६. श्री कविराज एकानन्द वैद्य।
७. श्री कविराज सिद्ध गोपाल वैद्य।
८. श्री कविराज मुक्तिनाथ शर्मा।
९. श्री कविराज सचिदानन्द वैद्य।
१०. श्री वैद्य पन्ना प्रसाद जोशी।
११. श्री वैद्य रमाभक्त प्रधानाङ्ग।
१२. श्री वैद्य कृष्ण भूपाल मल्ल।

निमाड जिला वैद्य मण्डल

उन में ता० १२-८-५१ को निमाड जिला वैद्य मण्डल की स्थापना, वैद्य-बन्धुओं की बैठक में हुई। सर्व सम्मति से श्री प्रफुल्लचन्द जी पारख, अध्यक्ष, श्री भगवानदास जी

उपाध्यक्ष, श्री गोपालभाई चौधरी प्रधान मंत्री, पं० दामोदर जी तिवारी उपप्रधान मंत्री चुने गये। समस्त निमाड जिले के वैद्य-बन्धुओं को यह सादर सूचित किया जाता है कि अपने इस संगठन के सदस्य शीघ्र बन जावें। वार्षिक शुल्क रु० ३ भेजें। साथ ही ता० १६-६-५१ को अंजद में होनेवाले वैद्य सम्मेलन में उपस्थित होने की अवश्य ही कृपा करें।

—प्रधान मंत्री

विक्रम-जिला आयुर्वेद-महाविद्यालय

२५ अगस्त भागलपुर। विक्रम शिला आयुर्वेद प्रशिक्षण महाविद्यालय में वैद्यों की ट्रेनिङ्ग क्लास २० अगस्त से प्रारम्भ हो चुकी है। वैद्यों को शरीर विज्ञान, द्रव्य गुण, शल्य, शालाक्य चिकित्सा, त्रिदोष विज्ञान, सूची वेध एवं कौमार मृत्यु की विशेष शिक्षा दी जाती है। वैद्यों के व्यावहारिक ज्ञान की व्यवस्था कालेज के दातव्य विभाग राजेन्द्र सेवा सदन, आनन्द चिकित्सालय, एवं सदर अस्पताल में की गई है। व्यवस्था समिति, जिला कांग्रेस कमिटी के सभापति बाबू राववेन्द्र प्रसाद सिंह और जिला-बोर्ड के अध्यक्ष बाबू पशुपति सिंह प्रबल ट्रेनिङ्ग को सफल बनाने के लिये पूर्णतः कटिबद्ध हैं।

—मन्त्री

अमेरिका में पारिवारिक चिकित्सा

अमेरिका में “साइट्रेटिक बुलेटिन” नाम की वैद्यक पत्रिका निकलती है। जो डाक्टरों को पारिवारिक चिकित्सा में सहायता पहुँचाने के लिए मनोवैज्ञानिक उपाय सुझाती है। इसका प्रबन्ध है कसास राज्य की सरकार ने अपने जिम्मे लिया है। इसमें योग्य चिकित्सकों द्वारा लेख लिखे जाते हैं। पारिवारिक चिकित्सा में जैसे रोग प्रायः देखे जाते हैं, उन ही को इसमें चर्चा की जाती है। सिर का दर्द, आकस्मिक घटनाएँ, बालकों की देखभाल आदि शीर्षक लेख रहते हैं।

वैद्यनाथ प्रकाशन

: द्वितीयावृत्ति :

मूल्य ६) मात्र

सचित्र शरीर-क्रिया-विज्ञान

(दोष-धातु-मल-विज्ञान)

लेखक : वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालङ्कार

उपाचार्य, श्री नाभर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

आयुर्वेदाचार्य श्री हृदयाल वैद्यवाचस्पति, V. V., K. R., A. V., M. A. S., अध्यक्ष, पूर्वी पञ्जाव आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा बोर्ड, अमृतसर की सम्मति :—

ऋषिप्रणीत संहिताओं के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसने आर्ष शैली को उपस्थित किया है। आयुर्वेदीय छात्रों के लिए यह शिखास्थानीय ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होकर साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगा।

राजवैद्य नन्दकिशोर शर्मा भिषगाचार्य, आयुर्वेद-प्रधानाध्यापक, संस्कृत कालेज, जयपुर की सम्मति :—

मुझे विश्वास है कि शिक्षासंस्थाएँ इसे अपने विषय में प्रथम स्थान देने में गौरव मानेंगी।

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्ष पाठक F. A. I. M. (Madras), आचार्य, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय की सम्मति :—

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यग्रन्थों में 'हेलीबर्टन' का स्थान नहीं रह जाता।

श्री पी० एम० मेहता, एम० डी०, एम० एस०, एफ० सी० पी० एस०. चीफ मेडिकल आफिसर, नवानगर स्टेट की सम्मति :—

शरीर-क्रिया-विज्ञानसम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ इस ग्रन्थ में अत्यन्त सुन्दर शैली से दिया गया है।

आयुर्वेदाचार्य श्री शुकदेव शर्मा, साहित्य-सांख्य-योगाचार्य, M. O. L. (P. U.), G. A. M. S. (Bihar), प्रिंसिपल, राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर की सम्मति :—

It is a pioneer publication in the field of Ayurvedic physiology and tries to explain many phenomena elucidated by the ancients in the modern medical sense.

वैद्य श्री एस० एन० जोशी, प्रिंसिपल, एम० जी० आयुर्वेदिक कालेज, नाडियाद की सम्मति :—

There is a happy blending of the modern information with the ancient one, without marring the entity, beauty and identity of the original.

आयुर्वेदाचार्य डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी M. B. (Cal.), M. D. (Berlin), निदानाध्यापक, कारमाइकेल मेडिकल कालेज, कलकत्ता की सम्मति :—

Kindly accept my sincere congratulations for bringing out the book शरीर-क्रिया-विज्ञान which has become very appropriate and has appeared at the right time. India is now passing through a stage of regeneration and reconstruction and your book will go a long way in the resuscitation of Ayurved. I have the greatest pleasure to have a close study of your book.

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री (कोटपूतली)

की

सम्मति और शुभकामना

‘सचित्र आयुर्वेद’ द्वारा चतुर्थ वर्ष में प्रवेश के उपलक्ष में हार्दिक बधाई । आयुर्वेद के उत्थान और वैद्यजगत् में नवचेतना संचार के लिए ‘सचित्र आयुर्वेद’ के द्वारा होनेवाले प्रयास अभिनन्दनीय हैं ।

प्रसुप्त आयुर्वेद-केसरी को जगाने के लिए आप के द्वारा जो योजनाएँ चल रही हैं और गम्भीर विषयों के विशद विवेचन के लिए आप जो प्रयत्न कर रहे हैं वे आयुर्वेद के इतिहास में स्मरणीय रहेंगे ।

इस प्रचार-युग में पत्रों का अपना महत्त्व है और मुझे खुशी है कि आयुर्वेद का भी अपना एक पत्र है जो न केवल आयुर्वेद के वास्तविक गौरव को प्रकट कर रहा है, अपितु विरोधियों को मुंहतोड़ जवाब भी दे रहा है ।

कोटपूतली

}

—वैद्य रवीन्द्र शास्त्री

व्यवस्था-सम्बन्धी नियम

१. सचित्र आयुर्वेद जुलाई १९४८ से प्रकाशित हो रहा है ।
२. इस का मूल्य एक प्रति का ।—) छः आने और वार्षिक ४) चार रुपये मात्र है ।
३. वार्षिक मूल्य की वी० पी० से अंक मँगाने पर ग्राहकों को ॥) आठ आने खर्च अधिक पड़ जाता है ।
४. ग्राहक वर्ष में केवल दो बार बनाये जाते हैं, वर्ष के आदि में और मध्य में ।
५. जुलाई १९५१ से पूर्व के अंक अप्राप्य हैं ।
६. कार्यालय से प्रत्येक सदस्य के पास अंक तीन बार अच्छी तरह जाँच करके भेजा जाता है । अतः अंक न मिलने पर डाकखाने से पूछताछ करनी चाहिए । यदि अंक न मिले तो उसकी सूचना रजिष्टरी खर्च के साथ कार्यालय में उस महीने की अन्तिम तारीख तक अवश्य आ जानी चाहिए । तभी अंक दुबारा भेजा जायगा ।
७. कार्यालय से पत्र-व्यवहार में अपनी सदस्य-संख्या लिखने से कार्यालय को उत्तर देने में सुविधा होती है अतः कृपया सदस्य-संख्या अवश्य लिखा करें ।
८. पते में केवल “श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०” लिखा रहने से पत्रोत्तर में विलम्ब होता है क्योंकि डाक का विभागीय विभाजन हो जाने के बाद उत्तर दिया जाता है । परन्तु ‘सचित्र आयुर्वेद’ लिखा रहने से उत्तर शीघ्र दिया जाता है । अतएव ‘सचित्र आयुर्वेद’ से सम्बन्धित पत्र में व्यवस्थापक ‘सचित्र आयुर्वेद’ अवश्य लिखें ।

श्रेष्ठता और सस्तेपन का आधार

बड़े कारखानों की दवा क्योंकि सस्ती होती है इसीलिए वह नकली होगी ही इस प्रकार का बहम कुछ वैद्यों में फैला हुआ है। उनका ध्यान हम इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि व्यक्तिगत रूप से फुटकर दवा बनाने में और एक साथ बड़े पैमाने पर औषधों का निर्माण करने में लागत खर्च में कितना अन्तर पड़ जाता है। साथ ही, अनुभव तो यह भी कहता है कि आयुर्वेदीय औषधों की विशुद्धता की गारण्टी के लिए भी यह आवश्यक है कि उनका निर्माण बड़े पैमाने पर हो। कारण, बड़ी-बड़ी निर्माणशालाएँ यदि सच्चाई और जिम्मेदारी से काम करें तो उनके लिए यह बहुत ही आसान है कि वे बृहद् रूप से औषध-निर्माण के काम में आनेवाली जड़ी-बूटियों और खनिज द्रव्यों की खोज करें, उनका संग्रह करें और उनको विशुद्धता की जाँच विशेषज्ञों द्वारा करा के शुद्ध औषधों का निर्माण करें। आज वैद्यनाथ दवाओं की श्रेष्ठता और सस्तेपन का यही आधार है।

हम आपको हजारों वैद्यों के उदाहरण दे सकते हैं जो पहले स्वयं ही थोड़ी मात्रा में दवा भी तैयार कर लेते थे, परन्तु अब अपने रोगियों को वैद्यनाथ दवाएँ देते हैं। उन्होंने अपने अनुभव से हमें बतलाया है कि दवा तैयार करने की दिक्त और भ्रम से ही उन्हें छुटकारा नहीं मिला, बल्कि उनकी प्रैक्टिस भी बढ़ी है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर

साचित्र आयुर्वेद



गुरुकुल-प्रकाश,
गुरुकुल कांगड़ी.

कलकत्ता, जुलाई, १९५१

[अंक

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्त तनु न तदामो अश्नुते श्रुतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥ १॥

हे आत्मा के अधिपति ! तुझे पवित्र करनेवाली छाननी तेरे लिए तनी हुई है ; प्राणी के अन्दर प्रकट होकर तू उसके सब अंगों में पूर्णतः व्याप्त हो जाता है । जो अपरिपक्व है और जिसका शरीर अभी के ताप में पड़कर तप्त नहीं हुआ है, वह उस आनन्द का आस्वादन नहीं कर पाता ; केवल वे ही जो कि ज्वाला के द्वारा पककर तैयार हो गए हैं उसे धारण करने में समर्थ होते हैं और उसका आस्वाद ले पाते हैं ।

—ऋ० म० ९ सू० ८३ श्लोक १

प्रकाशक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः

कलकत्ता

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के भूतपूर्व सभापति, राजवैद्य

जीवराम कालिदास शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, गोण्डल

का

शुभाशीर्वाद

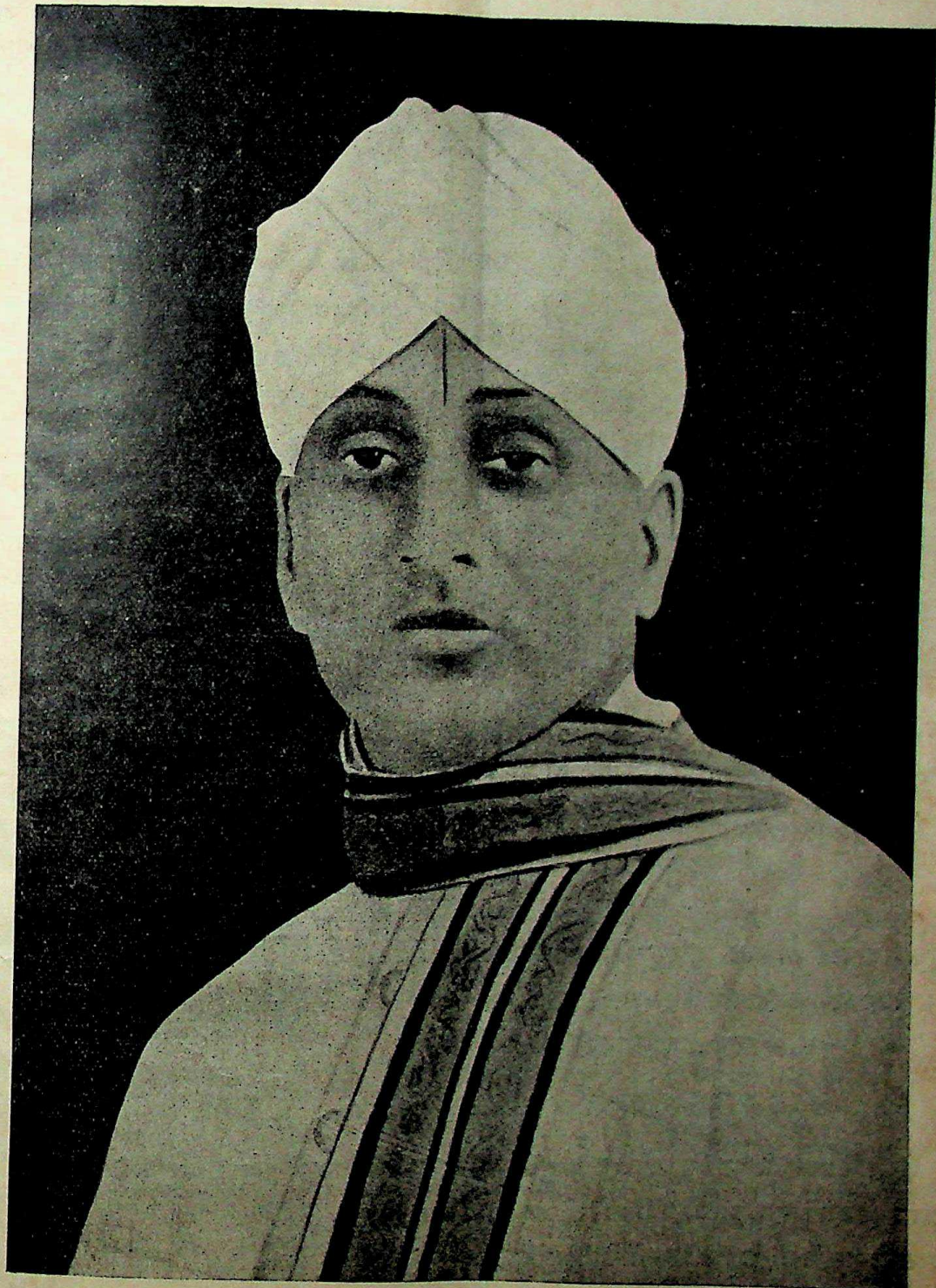
साल भर से आपका मासिक पत्र नियमितरूप से मुझे मिल रहा है। स्थानीय विद्यार्थी और वैद्यगण इससे उत्साह पूर्वक पूरा लाभ उठा रहे हैं। आपका पत्र विचार और मौलिकता से परिपूर्ण है और आयुर्वेद के विद्यार्थियों और चिकित्सकों के लिए उत्तम पाठ्य सामग्री देता है। इसकी छपाई, कागज, बड़े आकार के क्राउन अठपेजी ७०-८० पृष्ठ और समय-समय पर प्रकाशित चित्रों के सुन्दर नमूने सचमुच बहुत आकर्षक हैं।

आजकल कागज और कार्यकर्ताओं आदि के असाधारण अभाव पर विचार करें, तो बोध होता है, कि केवल ग्राहकों के चन्दे से सम्भवतः पत्र का लागत खर्च भी नहीं निकल पाता है, क्योंकि हम लोगों के पत्र के अधिकांश ग्राहक वैद्य ही हैं। इन वैद्यों में से अधिकांश मुश्किल से अपनी जीविका चला पाते हैं। हमारा दुर्भाग्य है कि आज भी हम अपनी गणतान्त्रिक सरकार से साहित्य के ऐसे सुन्दर प्रकाशन या देशीय आयुर्वेदीय संस्थाओं के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कि प्रति सहस्र पाँच रोगी ऐसे हैं जिन्हें शल्य चिकित्सा की आवश्यकता है। शेष के लिए तो आयुर्वेद ही एक ऐसा है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लोगों के स्वास्थ्य संरक्षण और रोगमुक्ति के लिये मार्ग निर्देश कर रहा है। भारत को ६५ प्रतिशत लोकसंख्या आयुर्वेद पर निर्भर करती है। फिर भी अंग्रेजी विद्या, संस्कृति और मनोवृत्ति से प्रस्तुत सरकार आयुर्वेदिक संस्थाओं और ऐसे देशीय साहित्य को प्रोत्साहित करने का विचार तक नहीं करती। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मालिकों को अपनी इस संस्था के व्यापार से अर्जित अर्थलाभ से इस पत्र और अन्य आयुर्वेदीय साहित्य के प्रकाशन द्वारा वैद्यों और राष्ट्र के प्रति की जाने वाली सेवाओं के लिए मैं बधाई देता हूँ। मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ, कि वे आयुर्वेद की उन्नति के लिए और अधिक काम करने में सफल-सक्षम हों।

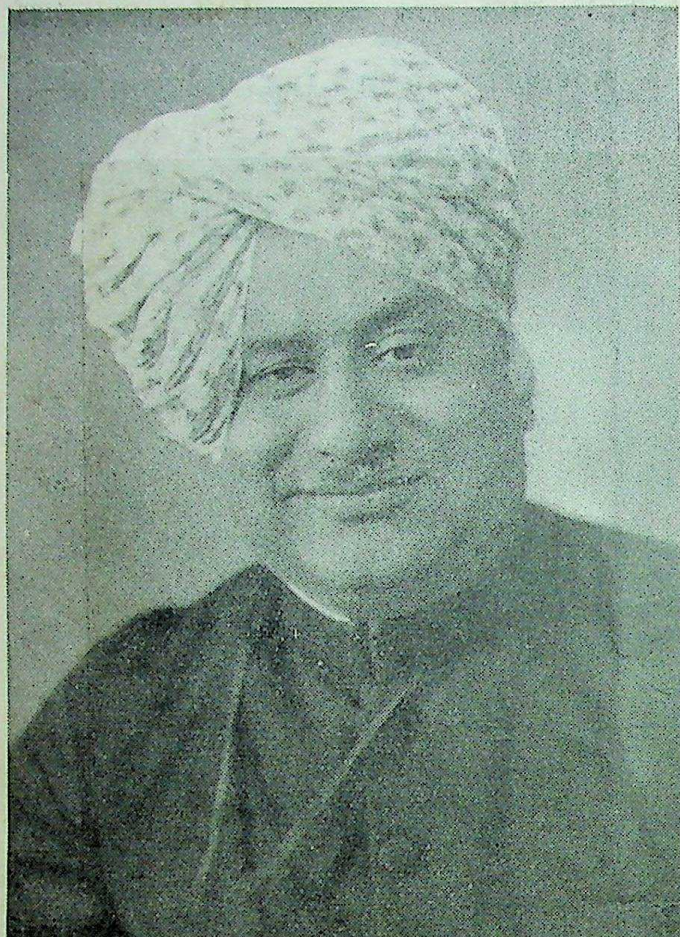
१६-३-४१]

—राजवैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री

“सचित्र आयुर्वेद” के चतुर्थवर्षारम्भ पर प्राप्त शुभ कामनाएँ व सम्मतियाँ
कैप्टन जि० श्री निवासमूर्ति बी०ए० बी०एल० एम०बी० और सी०एम० (मद्रास) की सम्मति—



सचित्रायुर्वेदाभिधानेयं मासिकीपत्रिका सर्वैरप्यवश्यज्ञातव्यानारोग्यानुबन्धिनो विषयान् प्रकाशयन्ती न केवलं
मिषजां किन्तु सर्वस्यापि लोकस्यसुबहुपकरोति । पाश्चात्यभिषज्याव्यामोहेनायुर्वेदं चिकित्सापद्धतिं विस्मृतवतां
भारतीयानां पुनस्तत्कमसौष्ठवं प्रत्यभिज्ञापयन्तीयं तस्मात् सर्वजनसुखसिद्धयर्थं विवक्ष्यतीति विश्वसिम् ।



भूतपूर्व सभापति निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद
महासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद विभाग
राजस्थान सरकार, वैद्यरत्न कविराज
प्रताप सिंह रसायनाचार्य की

शुभ-कामना

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० तीन वर्षों
“सचित्र आयुर्वेद” नामक मासिक पत्र प्रकाशित
रहा है। यह पत्र वर्तमान आयुर्वेद के नाम
प्रकाशित होनेवाले सब पत्रों से उत्तम है। इसके लेख
बड़ी खोज से लिखे हुए रहते हैं। सामयिक विषयों
पर उच्चतम सुभाव पत्र में भरे रहते हैं। लेख सचि-
होने से विषय समझने में पाठकों को सुगमता होती
है। इसके साथ-साथ उत्तम आयुर्वेदीय साहित्य भी
प्रकाशित किया जा रहा है।

मैं इस चतुर्थवर्षारम्भ में पत्र का स्वागत करता
हूँ और आशा है कि पत्र प्रति मास अधिकाधिक साहित्य आयुर्वेद संसार को नवीनतम विषयों में प्रदान कर
आयुर्वेद-जगत् की वर्तमान दशा में ज्ञानज्योति का आलोक प्रकाशित करता रहेगा।

१४-५-५१ }

—कविराज प्रताप सिंह

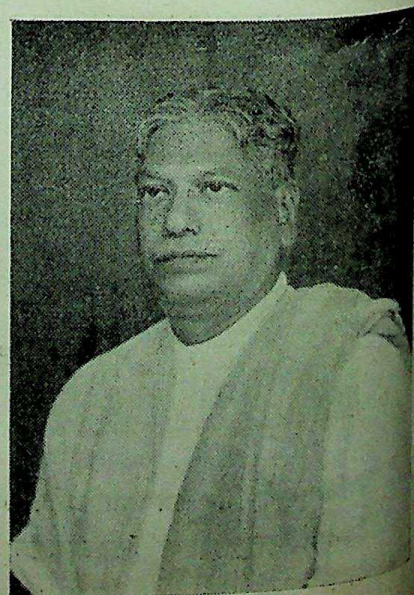
भूतपूर्व सभापति निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन,
डाक्टर ए० लक्ष्मीपति बी० ए०, एम० बी० और
सी० एम०, (मद्रास) की

शुभ-सम्मति

हिन्दी में प्रकाशित “सचित्र आयुर्वेद” आयुर्वेद का बहुत उपकार
कर रहा है। इसमें एक अंग्रेजी विभाग खोलना भी अच्छा होगा,
ताकि सभी पद्धतियों के चिकित्सकों के हित के लिए आयुर्वेद के
आधारभूत सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श हो सके।

१७-५-५१ }

—डा० ए० लक्ष्मीपति



वैद्य पु० वि० धामणकर आयुर्वेद भूषण की

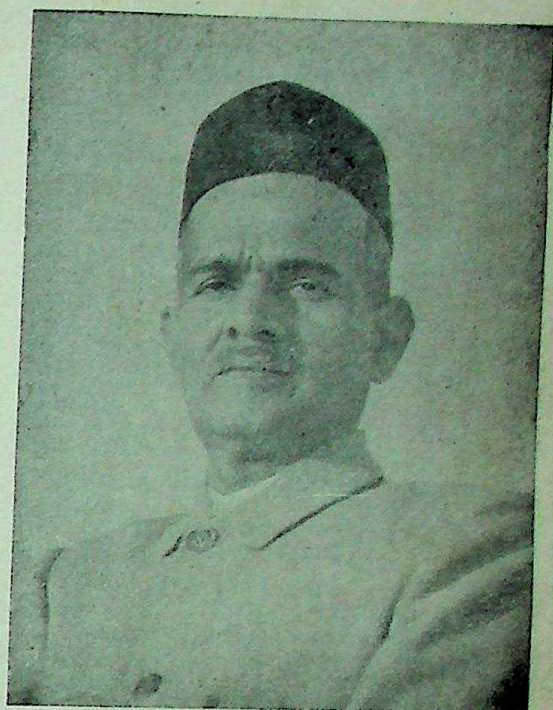
शुभ-सम्मति

आयुर्वेद शास्त्र तथा औषधों का व्यवहार ये दोनों परस्पर एक-दूसरे के सहायक तथा पोषक रहने के कारण उन्नतिशील रहते हैं। शास्त्रीय पद्धति को छोड़कर किया हुआ व्यवहार मनलायक नहीं होता। व्यापार में होनेवाली तेजी-मन्दी भी उसके पीछे के उक्त शास्त्र के ऊपर निर्धारित रहती है।

इसीलिए शास्त्र के विद्वानों को आह्वान कर उन्हें प्रोत्साहन देकर चर्चा किंवा गोष्ठी का आयोजन करना, शास्त्रीय और सुबोध ग्रन्थनिर्माण करना आवश्यक रहता है। इन बातों को ध्यान में रखकर ही “श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०” ने पटना में शास्त्रचर्चा परिषद का आयोजन किया। और पदार्थविज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान जैसी शास्त्रीय प्रचारक सुन्दर पुस्तकें प्रसिद्ध कीं तथा “सचित्र आयुर्वेद” सरीखा उपयोगी आयुर्वेदीय मासिक पत्र अल्प मूल्य में चालू किया। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का यह उपक्रम अत्यन्त अभिनन्दनीय और अनुकरणीय है। ऐसे सत्कार्य के लिए इस संस्था को अनेक धन्यवाद देता हूँ और उसका कल्याण चाहता हूँ।

१९-५-५१

— वैद्य पु० वि० धामणकर

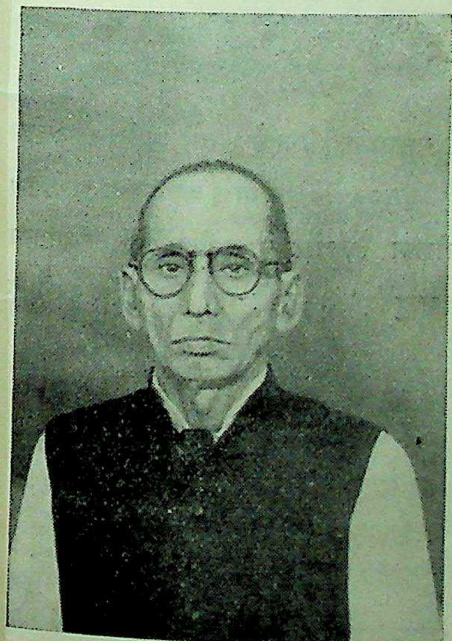


प्राणाचार्य गोपाल शास्त्री गोडबोले, आयुर्वेद बृहस्पति,
प्रोफेसर आयुर्वेद वि० वि०, (झांसी) की

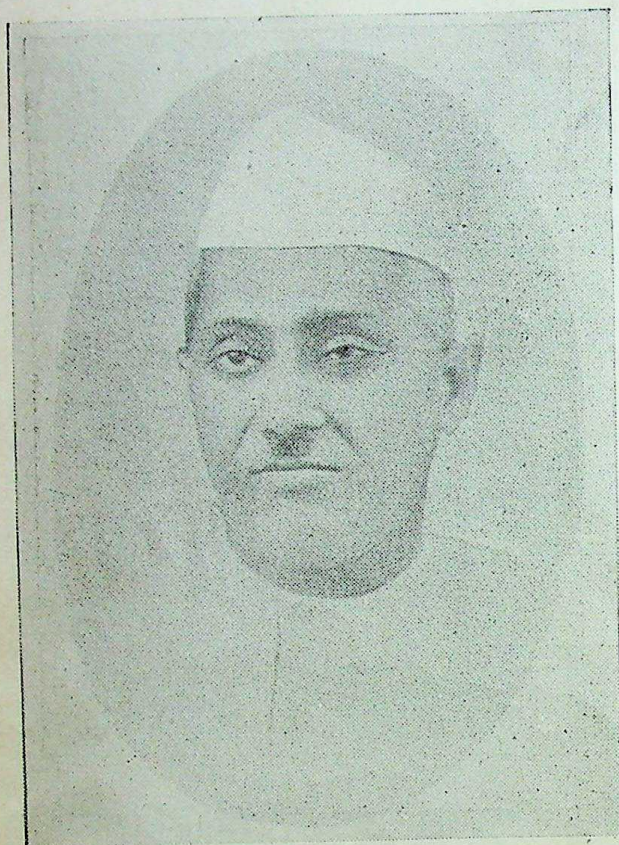
सम्मति

मैं कई वर्षों से आयुर्वेद की एलोपैथी के साथ तुलना करने के बाद इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आयुर्वेद एक प्रगतिशील व पुरोगामी शास्त्र है। यदि हम वैद्यसमाज इसकी पुष्टि तथा अभिवृद्धि के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे, तो निश्चय ही विश्व के समस्त चिकित्सा-शास्त्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर लेगा।

यही सत्यपूर्ण विचार बहुसंख्यक समाज को समझाने तथा प्रति व्यक्ति तक प्रचार करने में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा संचालित एवं प्रकाशित “सचित्र आयुर्वेद” का प्रयत्न सराहनीय है। मुझे आशा है कि भविष्य में बहुत थोड़े समय में ही “सचित्र आयुर्वेद” द्वारा आयुर्वेद को पुनः अपना उच्चस्थान प्राप्त कराने में विद्वानों की काफी सहायता मिलेगी। मेरी यह आशा पूर्ण सफल हो, अतः मैं भगवान् धन्वन्तरि से प्रार्थना करता हूँ कि “सचित्र आयुर्वेद” का चतुर्थ वर्ष शुभप्रद हो और इसके संचालक और प्रकाशक चिरजीवी हों।



११-६-५१



प्रिन्सिपल श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद
महाविद्यालय, भू० पू० सभापति गुजरात,
कच्छ, काठियावाड़ वैद्य सम्मेलन
तथा वैद्यनाथ पुरस्कार विजेता
श्रीयुत् वैद्य बापालाल भाई
(सूरत) की

शुभकामना

बराबर ही नियमित रूप से मुझे "सचित्र आयुर्वेद" मिल रहा है। और मुझे यह कहते हर्ष होता कि "सचित्र आयुर्वेद" सचमुच एक बहुत सुन्दर मासिक पत्र है। मासिक पत्र के सञ्चालन की कठिनाइयों से मैं अवा...

हूँ। आयुर्वेद में लब्ध प्रतिष्ठित लेखक इने-गिने हैं, और हम लोगों को लेखों के लिये प्रायः उन्हें ही तङ्ग करना पड़ता है। सचमुच आपको अच्छा लेखकमण्डल मिल गया है। लेखकों के लेखों पर आप द्वारा प्रदत्त पारिश्रमिक का माध्यम भी प्रशंसनीय है। मैं आशा करता हूँ कि आप इस स्तर को कायम रख सकेंगे और मुझे विश्वास है कि आपका पत्रिका आयुर्वेदियों के लिये सचमुच वरदान सिद्ध होगी।

मैं एतदर्थ आपके प्रति हार्दिक कृतज्ञताज्ञापन करता हूँ। मुझे कोई सुझाव नहीं देना है। हमें अपने दृष्टिकोण में माध्यम और लक्ष्य के रूप में "लैसैट" प्रैक्टिशनर, जे० ए० एम० ए० बी० एम० जे० इत्यादि को रखना चाहिये अभी हमलोग पत्रकारिता के द्वारपर ही पहुँचे हैं। हमें अभी बहुत कुछ सीखना है, और बहुत विषयों में निष्णातता प्राप्त करनी है। बहुत से गुप्त लेखकों की खोज भी करनी है। "सचित्र आयुर्वेद" के चौथे वर्ष में पदार्पण करने इस शुभावसरपर मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

९-६-५१]

—वैद्य बापालाल भाई

प्राणाचार्य, कविराज सुशीलकुमार सेन
 एम० एस्० सी० भिषगाचार्य,
 कविरत्न (कलकत्ता) की

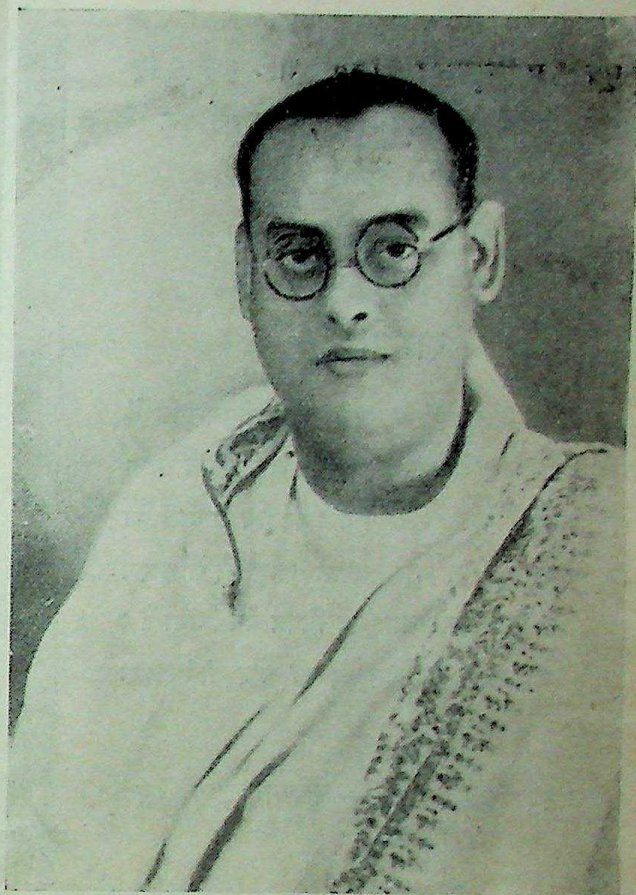
सन्मति

मुझे यह लिखते परम आनन्द हो रहा है कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित "सचित्र आयुर्वेद" (मासिक आयुर्वेदीय-पत्रिका) ने आयुर्वेद-शास्त्रियों द्वारा बहुदिन प्रत्याशित अभाव की पूर्ति की है और यह आयुर्वेदिक जगत् के लिए परमोपयोगी है ।

देश-विदेश में मैं इसका व्यापक प्रसार-प्रचार चाहता हूँ । आयुर्वेद के प्रत्येक विद्यार्थी और चिकित्सक को इसे नियमित रूप से पढ़ना चाहिए ; क्योंकि इसमें बहुमूल्य लेख रहते हैं । सबको इसका ग्राहक बनना चाहिए ।

६-६-५१]

—कविराज सुशीलकुमार सेन



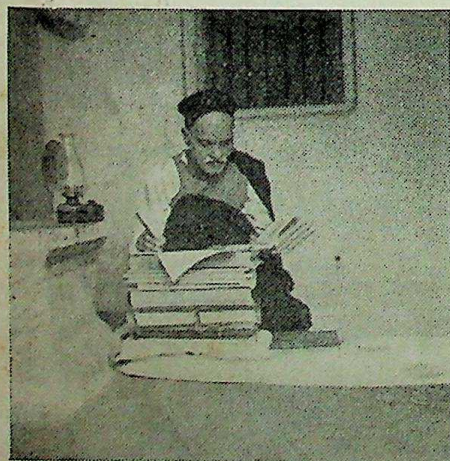
भूतपूर्व प्रधानमंत्री नि० भा० आयुर्वेद
महासम्मेलन, प्रिन्सिपल पोद्दार आयुर्वेदिक
कॉलेज वॉर्ली (बम्बई) के डॉ०
आशानन्द पंचरत्न एम० बी०
बी०एस०, एम० एस० की
सम्मति

“सचित्र आयुर्वेद” ने अपने अल्प जीवन-काल में ही आयुर्वेद जगत् में अपना जो विशिष्ट स्थान बना लिया है, वह सर्वविदित तथ्य है। पठनीय सामग्री का संचय सुन्दर संकलन और सफल सम्पादन के कारण यह वैद्यों के लिये स्वाध्याय का विषय बन गया है। आशा है भविष्य में पत्र आयुर्वेद की और भी उज्ज्वल सेवा कर सकेगा।

१२-५-५१

}

—आशानन्द पंचरत्न

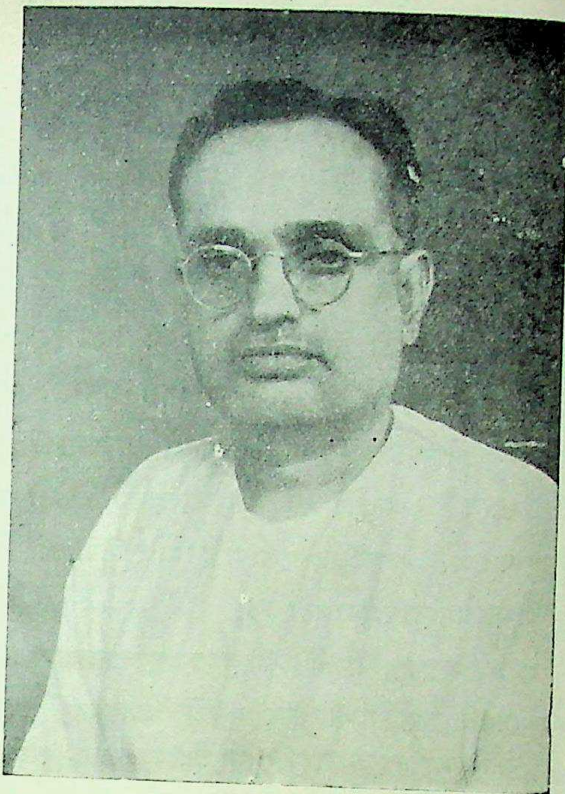


विद्वद्भूत डॉ० केशव लक्ष्मण दफ्तरी बी० ए०, एल० एल० बी०
डी० लिट् (नागपुर) की
शुभ-सम्मति

यह तो सभी कहते हैं कि आयुर्वेद का पुनरुज्जीवन किया जाना चाहिये तथा आयुर्वेद में सुधार करना चाहिये। पुनरुज्जीवन या सुधार करने के लिये आयुर्वेद का स्वरूप कैसा हो, यह यथार्थरूप से समझ लेना चाहिये। यह बात “सचित्र आयुर्वेद” के सम्पादक महोदय भलीभाँति समझ गये हैं ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उन्होंने ‘आयुर्वेदपत्रिका’ में प्रकाशित “वाहट क्या कहता है” शीर्षक मेरे लेख को पढ़कर स्वयं प्रेरणा से अपने मासिक पत्र में

छापा और अपने पाठकों से उस लेख को पढ़ने की शिफारिस की और इसी प्रकार के और भी लेख उन्होंने मुझसे माँगे हैं और वे शीघ्र ही इस पत्र में प्रकाशित होंगे। इस मासिक पत्र में बड़े-बड़े विद्वानों के ही लेख प्रकाशित होते हैं। आयुर्वेद के उत्कर्ष की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इस पत्र को अपनाना चाहिये। पत्र संग्रहणीय है।

—के. ल. दफ्तरी



कचिराज सुखराम प्रसाद बी०एस्०सी० आयुर्वेदाचार्य,
प्रोफेसर आयुर्वेदिक कॉलेज पटना
की

सम्मति

बड़े ही हर्ष की बात है कि “सचित्र आयुर्वेद” अब चौथे वर्ष में पदार्पण कर रहा है। गत तीन वर्षों में इसने आयुर्वेद की सच्ची सेवा बड़े ही लगन के साथ की है। भारत-वर्ष में आयुर्वेदिक पत्रों में यह सर्वोत्तम स्थान रखता है। इसके लेख उच्चकोटि के और छपाई भी अतिसुन्दर है।

आशा है, यह पत्र खूब फूले फलेगा और आयुर्वेद की उत्तरोत्तर सेवा करता रहेगा।

पटना
८-६-५१ }

—सुखराम प्रसाद

आयुर्वेदालंकार पं० रामगोपाल शास्त्री
आयुर्वेदाचार्य, (झांसी) की

सम्मति

मैं “सचित्र आयुर्वेद” का तीन वर्ष से अध्ययन करने के बाद इस निश्चय पर पहुँचा हूँ, कि सम्प्रति प्रकाशित होनेवाले आयुर्वेदीय पत्रों में सबसे ऊँचा स्थान इसका है। इसके प्रत्येक लेख खोजपूर्ण तथा मनन करने योग्य रहते हैं। “सचित्र आयुर्वेद” द्वारा आयुर्वेद की ठोस सेवा हो रही है।

१-६-५१ }

—वैद्य रामगोपाल शास्त्री



नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के भू० पू०
सभापति आयुर्वेद शास्त्राचार्य वैद्य दुर्गादत्त
शास्त्री, प्रधान चिकित्सक मारवाड़ी
अस्पताल बनारस की

सम्मति

“सचित्र आयुर्वेद” को मैं बड़े प्रेम से पढ़ता हूँ।
मुझे इसकी तुलना में आयुर्वेदीय कोई पत्र दृष्टिगत
नहीं होता। “सचित्र आयुर्वेद” समयोचित पत्र है।
मेरा विश्वास है, अन्य आयुर्वेदीय पत्रों के लिये यह
पत्र सर्वदा अनुकरणीय रहेगा।

१६-५-५१] —वैद्य दुर्गादत्त शास्त्री

प्रिन्सिपल श्री ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज
(पोलीभीत), आयुर्वेद शास्त्राचार्य
वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी की

शुभ सम्मति

“सचित्र आयुर्वेद” तृतीय वर्ष समाप्त करके
चतुर्थ वर्ष में पदार्पण कर रहा है, यह जान कर बड़ी
प्रसन्नता हुई। अपने शैशवकाल में ही यह पत्र
आयुर्वेद जगत् का मूर्द्धन्य बन कर प्रौढ़ ज्ञान वित-
रित कर आयुर्वेद के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर रहा
है। इसके लेख प्रौढ़ व ठोस सामग्री प्रदान करते
हैं। वास्तव में एक पत्र के लिए जिन साधनों की
आवश्यकता होती है, वह इसे प्राप्त हैं। इसके
संस्थापक और संचालक स्वयं आयुर्वेद हितैषी व
निस्पृह रूप में आयुर्वेद कल्याण की कामना करने
वाले हैं। इसके लेखक वर्ग प्रख्यात विद्वान और
छल्ले विचारों से सम्पन्न हैं। मैं इसकी हृदय से
मंगल कामना करता हूँ।

२६-६-५१]

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी

आयुर्वेदाचार्य पं० सत्यदेव शर्मा वैद्यशास्त्री
सदरबाजार (झांसी) की
सम्मति

“सचित्र आयुर्वेद” ने अपनी तीन वर्ष की अल्पायु
में ही अपने अध्यवसाय द्वारा वैद्य समुदाय के हृदय
में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। जहाँ गम्भीर
शास्त्रीय चर्चा द्वारा विद्वज्जनों का प्रिय है, वहाँ
शास्त्रीय विषयों के स्पष्टीकरण द्वारा साधारण वैद्यों
के मार्ग-प्रदर्शन का काम भी उसी अनुपात से कर
रहा है। आयुर्वेद सम्बन्धी आन्दोलनों में भी यह
पत्र सदैव अग्रणी रहता आया है और विपक्षियों को
मुंहतोड़ उत्तर देता रहा है।

उभयजन्तु विद्वानों के विद्वत्तापूर्ण एवं समन्वयात्मक
पद्धति द्वारा लिखे लेख इसकी विशेषताएँ हैं, जो
आगे आयुर्वेद के उत्कर्ष में विशेष स्थान रखेंगे।
इसके अतिरिक्त सामाजिक, वैज्ञानिक एवं स्वास्थ्य-
सम्बन्धी लेखों का पाण्डित्यपूर्ण प्रकाशन सम्पादक-
मण्डल के गम्भीर अध्ययन का परिचायक है।
आशा है पत्र उत्तरोत्तर उन्नति पथपर अग्रणी होकर
आयुर्वेद के अभ्युत्थान में अपना विशेष कर्तव्य पूर्ण
करता रहेगा।

१७-६-५१] —सत्यदेव शर्मा वैद्यशास्त्री

व्यवस्थापक का निवेदन

‘सचित्र आयुर्वेद’ के चन्दे में वृद्धि

निकट भविष्य में ही ‘सचित्र आयुर्वेद’ का वार्षिक मूल्य ४) चार रुपये से बढ़ाकर ५) पाँच रुपये करने का विचार हमलोग कर रहे हैं। उससे पूर्व ही चौथे वर्ष के लिए चन्दा ४) चार रुपये भेजकर ग्राहक बन जाने पर आप लाभ में रहेंगे।

पीछे न रहें

गत वर्ष जो बन्धु चन्दा भेजने में पीछे रह गये थे उनको हम प्रथम-अंक से ग्राहक नहीं बना सके थे। उनका वार्षिक चन्दा इस अंक के साथ समाप्त हो जाता है। उन्होंने यदि अभी तक आगामी वर्ष का चन्दा न भेजा हो और ‘सचित्र आयुर्वेद’ की सदस्यता छोड़ने का भी निश्चय न किया हो तो उनसे साग्रह प्रार्थना है कि वे शीघ्र अपना वार्षिक चन्दा मनियार्डर से भेज दें अथवा वी० पी० भेजने का आदेश कार्यालय को भेज दें। यदि वे किसी भी कारण से सदस्य बने रहने में असमर्थ हों तो इसकी भी सूचना कृपया हमें अवश्य दें। हाँ, इस बार चन्दा भेजने में आप पीछे न रहें।

५००) पुरस्कार और स्वर्णपदक

‘सचित्र आयुर्वेद’ में अनुभूत योगों का अभाव हमारे कुल पाठकों को खटकता है। यह भी कहा जा सकता है कि इन अनुभूत योगों में ‘सचित्र आयुर्वेद’ के संचालकों का विश्वास नहीं है। हम जानते और मानते हैं कि चमत्कारी योग और औषध हमारे देश में हैं जिनसे कितने ही व्यक्ति लखपती बन गये हैं। इन बहुमूल्य योगों का ज्ञान जिनको होता है वे अपने स्त्री-पुत्र तक से भी छिपा कर उस ज्ञान को अपने साथ ही इस लोक से ले जाते हैं यह भी हम जानते हैं। सहस्रों रुपयों का लालच देकर भी ये योग जानकारों से दूसरे लोग नहीं प्राप्त कर पाते हैं। परन्तु वास्तव में किसी रोग में निश्चित लाभ करनेवाला कोई अब तक अज्ञात योग या औषध यदि कोई “सचित्र आयुर्वेद” द्वारा प्रकाशित करें तो उन्हें धर्म और कीर्ति तो प्राप्त होगी ही ५००) पाँच सौ रौप्य मुद्राओं का वैद्यनाथ पुरस्कार तथा एक तोले सुवर्ण का पदक भी उन महानुभाव को प्रदान किया जायगा।

व्यवस्थापक—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

पो० ब० ६८३५ कलकत्ता—६

सम्पादक मंडल

निर्देशक—आ० म० म० पं० भागीरथ स्वामी

प्रधान संपादक—पं० रामनारायण शर्मा वैद्य शास्त्री

सहायक संपादक—पं० सभाकान्त झा आयुर्वेद शास्त्री

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
आचार्य यादवजी महाराज	... धीरेन्द्रनाथ शास्त्री	... ३
सम्पादकीय ४
सचित्र आयुर्वेद का गत वर्ष	... वैद्य रणजित राय	... ९
आयुर्वेद और मेडिकल कौन्सिल	... आ० पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल	... १४
निदान चिकित्सा हस्तामलक	... वैद्य रणजित राय	... १७
वैद्यक समन्वय की रूपरेखा	... वैद्य केशव लक्ष्मण दफ्तरी	... २५
ज्वर	... क० सुखराम प्रसाद बी० एस० सी० आयुर्वेदाचार्य	... ३६
सन्धिक सन्निपात	... वैद्य देवदत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य	... ३९
पित्त संशमन वर्ग	... वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी आयुर्वेद शास्त्राचार्य	... ४१
चन्द्रप्रभा वटी	... वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री	... ४४
कस्तूरा हिरण और कस्तूरी	... कविराज हरिकृष्ण सहगल	... ४६
सर्पगन्धा ५०
आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना	... वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य	... ५२
आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम	... वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य	... ५५
निम्बूक (खट्टा निम्बू)	... श्रीयुत भानु देसाई	... ५९
शिशु-पालन	... वैद्य रवीन्द्र शास्त्री	... ६४
स्वास्थ्य विज्ञान के सम्बन्ध में भारत से पश्चिमीय		
देश क्या सीख सकते हैं	... डा० सुन्दरलाल भण्डारी एम.बी.बी.एस.पी.सी.एम.एस.	... ६६
पुष्टिदायक मेवा अंजीर	... वैद्य रामेश बेदी	... ७१
११ वाँ राजस्थान वैद्य सम्मेलन	... कविराज माधव प्रसाद शास्त्री	... ७४
तृतीय मालवा आयुर्वेद सम्मेलन—जीरा ७५
श्री वनवारी लाल आ० विद्यालय—दिल्ली
स्व० क० पूरणमलजी गोस्वामी

सचित्र आयुर्वेद



सर्पगंधा (रूबोल्फिया सर्पेन्टिना)
(विवरण पृष्ठ ५० पर देखें)

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



सचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ४

कलकत्ता, जुलाई, १९५१

अङ्क १

पटना शास्त्रचर्चा परिषद् के सदस्य (१)

आचार्य यादव जी महाराज

आयुर्वेदमार्तण्ड श्री यादव जी त्रिकमजी, आयुर्वेद के स्वमिल गौरव की श्रद्धाध्वनि तुम्हारे हृदय में गूँजती है। बुद्धि एवं वाग्मिता के आश्चर्यजनक स्रोत हो तुम ! आयुर्वेद की साधना में तुम चिरन्तन ह्रान्तिहीन हो। तुम्हारा शरीर वृद्ध हो गया है लेकिन तुम्हारा मन आज भी यौवन से भरा है। यश और अर्थ में तुम अपने को भूल नहीं गये। हे आयुर्वेद के रसिक, तुम आयुर्वेद-समाज के आदर्श रत्न हो। तुम्हें निहार कर मेरी आत्मा उल्लसित हो उठी है।

तुम में आयुर्वेद का दीप्त प्रकाश है। तुम आयुर्वेद की लुप्त महिमा के पुनरुद्धार में दृढ़ हो। इसी लिए तो वैद्यगणों ने तुम्हें श्रद्धा अर्पित की है—एक बार नहीं, दो बार नहीं, मर्यादा पा कर तीन बार। क्योंकि तुम समस्त भारत के वैद्यसमाज में एक चमत्कार हो। तुम शास्त्र की युगोपयोगी व्याख्या करते हो। तुम्हारी प्रतिभा के बारे में मैं नयी बात क्या कह सकता हूँ ? भारतवर्ष के अप्रतिम यादव जी ! आयुर्वेदगवेषणापीठ में तुम्हारे आश्रय में आश्रित हम तुम्हें माल्य प्रदान करते हैं। भीम की तरह अटल हे आयुर्वेद के अर्घ्य ! मैं तुम्हारा इसी लिए गुणगान करता हूँ कि तुम आयुर्वेदशास्त्र का मुख उज्ज्वल रखोगे। तुम शतायु हो कर आशीर्वाद दो कि हम लोगों की साधना सफल हो।

—धीरेन्द्रनाथ शास्त्री

[पूज्य आचार्य जी की जीवनी 'सचित्र आयुर्वेद' के 'आयुर्वेद और सरकार अंक' में छप चुकी है। अतः परिषद् के सदस्यों की जीवनीमाला हम उपरोक्त प्रशस्ति के साथ ही प्रारम्भ कर रहे हैं। परिषद् में जाने से पूर्व आचार्य जी कलकत्ता पधारे थे और 'सचित्र आयुर्वेद' कार्यालय को आप का आतिथ्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्हीं दिनों स्थानीय आयुर्वेदगवेषणापीठ में संवर्धना-सभा में यह प्रशस्ति पढ़ी गयी थी।

—स० संपादक]

समादकीर

कागज-बाजार की विविध कठिनाइयों, इस युग की अन्यान्य प्रबन्ध व छपाई सम्बन्धी अशुविधाओं तथा अच्छी पाठ्य सामग्री एवं चित्र व ब्लॉक के जुटाने में जो कुछ व्यय और कष्ट सामने आये उन सब का सामना कर के इस अंक के साथ “सचित्र आयुर्वेद” अपनी वय के चौथे वर्ष में पदार्पण कर रहा है। इन तीन वर्षों में “सचित्र आयुर्वेद” को कितनी सफलता मिली है इस का निर्णय तो सहृदय पाठक—वैद्य-समाज, विद्वन्मण्डली और आयुर्वेद-प्रेमी जनता ही कर सकती है। अपनी ओर से हम इतना ही कह सकते हैं कि समस्त हिन्दुस्तान से ही मनीषी विद्वानों से उत्तम पाठ्य सामग्री प्राप्त कर यथासाध्य चित्र आदि के साथ हम देते रहे हैं। आयुर्वेद के सर्वांगीण विकास के लिए हो रही अनवरत चेष्टाओं की सफलता के लिए हम सतत प्रयत्नशील रहे हैं।

हमें खुशी है कि समूचे आयुर्वेदजगत् से हमें इस कार्य में पूरा सहयोग और प्रोत्साहन मिलता रहा है। अधिकारियों और नेताओं तथा वैद्यसमाज और जनता ने मुक्तकण्ठ से “सचित्र आयुर्वेद” की प्रशंसा कर के हमें प्रेरणा दी है कि इस दिशा में हम निरन्तर आगे बढ़ते रहें। लेख सामग्री, समाचार, टिप्पणियाँ आदि भेजने में हिन्दुस्तान के एक कोने से दूसरे कोने तक के सभी आयुर्वेदज्ञों एवं आयुर्वेद प्रेमियों ने मुक्त हस्त से हमारा साथ दिया है। इस सहयोग से ही “सचित्र आयुर्वेद” को इतनी सफलता और लोकप्रियता मिली है। और इसलिए हम “सचित्र आयुर्वेद” के पिछले तीन वर्षों की सफलता को श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की ही सफलता नहीं मानते। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० तो आयुर्वेद के इस संक्रान्तिकाल (क्राइसिस पीरिअड) में अपने आपको इस सफलता का एक निमित्त मात्र मानता है। इस सम्पूर्ण सफलता का श्रेय तो समस्त वैद्यसमाज को और विशेषतया उसके मनीषी उद्भट लेखकों को है।

अपने इन सहयोगियों के दिन-प्रति-दिन बढ़ते हुए सहयोग की हमें पूर्ण आशा है। वे आज जिस यज्ञ में लगे हुए हैं उसकी सफलता पर धन्यवाद तो उन्हें आने वाली पीढ़ियाँ देंगी। अभी तो हम सब को आयुर्वेद और राष्ट्रीय जनस्वास्थ्य के प्रति अपना कर्तव्य किये चलना है। “सचित्र आयुर्वेद” आप का माध्यम बनने के लिए सर्वथा और सर्वदा प्रस्तुत है।

गत वर्ष के हम लोगों के कृत और अकृत की एक तटस्थ आलोचना के लिये हम ने वैद्य रणजितराय से आग्रह करके उन के जो विचार प्राप्त किये हैं वे आगे ‘स्थिरः अंगैः’ शीर्षक के अन्तर्गत जा रहे हैं।

इस लेख के अन्तर्गत वैद्य रणजितराय कहते हैं कि “प्रायः मत यह है कि आधुनिक विज्ञान का सहारा लिये बिना हमारा छुटकारा नहीं।” विचारणीय यह है कि आधुनिक और प्राचीन के बीच की विभाजक रेखा है क्या? कलकत्ते के डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी का तो कहना है कि कितने ही आधुनिकतम अन्वेषण ऐसे हैं कि यदि उन का संस्कृत अनुवाद कर लिया जाय तो वे शब्द-प्रति-शब्द ज्यों के त्यों चरक या सुश्रुत संहिता में हमें मिल जाते हैं।

आज हमें बड़ी-बड़ी साधन सम्पन्न प्रयोगशालाएँ उपलब्ध हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म अवलोकन और प्रयोग के यन्त्र हमारे पास हैं। इन सब साधनों का उपयोग कर के आज के अन्वेषक जो अन्वेषण करें वे ज्यों के त्यों सहस्रो वर्ष पूर्व लिखे हमारे ग्रन्थों में मिल जायँ क्या यह कम आश्चर्य की बात है? और क्या यह और भी अधिक आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे इन्हीं ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को द्वेषपूर्ण से तथाकथित आधुनिक विज्ञान के समर्थक ‘अवैज्ञानिक’ कह देने में जरा भी नहीं हिचकिचाते?

जीवन का सत्य कहीं-कहीं इतना कटु होता है कि हम उस की ओर से आँख मूँद लेना चाहते हैं। परन्तु शुर्मुर्ग यदि रेत में गर्दन दबा कर शिकारी को अपनी दृष्टि से ओझल कर लेगा तो क्या शिकारी की दृष्टि से भी वह स्वयं ओझल हो जायगा ?

महाराज दुष्यन्त को सर्वगुणसम्पन्न नायक बनाने की लालसा से महाकवि कालिदास ने उन के चरित्र की कालिमा को दुर्वासा के शाप की कल्पना द्वारा छिपाने का प्रयत्न किया ताकि नाटक का सौन्दर्य अक्षुण्ण बना रहे। परन्तु सत्य का अपना सौन्दर्य है। महाभारतकार ने ऋषि दुर्वासा के शाप जैसी कोई कल्पना न करके स्पष्ट ही लिख दिया कि दुष्यन्त ने देवी शकुन्तला को पहचानने से अस्वीकार कर दिया।

ऐसा ही स्पष्ट कथन हमें आज अपने राष्ट्र और जन-स्वास्थ्य के कर्णधारों के विषय में करना है। आयुर्वेद का क ख ग भी न जानने वाले ये कर्णधार आयुर्वेद को बिना किसी हिचक के 'अवैज्ञानिक' का फतवा दे देते हैं, जैसा कि प्रत्येक विषय में टाँग उड़ाना आजकल के राजनीतिज्ञों में फैशन हो गया है। यह फैशन राष्ट्र के लिए घोर अहित ही कर सकता है।

जिन दुष्यन्त ने गर्भवती देवी शकुन्तला को अंगीकार करने से इनकार कर दिया था वे ही अपने पुत्र भरत को वन में सिंहीं के साथ खेलते देख कर उसकी ओर आकृष्ट हुए थे। उसी प्रकार आयुर्वेद के सुफल इन राष्ट्रनेताओं को आयुर्वेद की ओर आकृष्ट कर के ही रहेंगे इस में हमें तिलमात्र भी संशय नहीं है। जो आयुर्वेद सहस्रों वर्षों से भारतीय जनस्वास्थ्य की रक्षा कर रहा है उस की अधिक उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी उज्ज्वल विश्वास को सदैव सामने रखने के उद्देश्य से हमने "सचित्र आयुर्वेद" के नवीन आवरण पृष्ठ पर सिंह ली जाती ?

के बीच खेलते हुए कुमार भरत का चित्र दिया है। इस विवाद में यहाँ हम नहीं पढ़ेंगे कि कौन से भरत के नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा था। इतने से ही हमारा काम चल जायगा कि लोकप्रसिद्धि में राजा दुष्यन्त और देवी शकुन्तला के पुत्र भरत को यह गौरव दिया जाता है। हमारे विधान-निर्माताओं ने विधान में देश का यही नाम भारत रखा है यद्यपि अंग्रेजी में इंग्लैंड और राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी ही स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में कुमार भरत की स्मृति से हमें तो प्रेरणा मिलेगी ही।

कल्पना कीजिये कि महाराज भरत के समय का कोई व्यक्ति आज भारतवर्ष में आये तो वह यहाँ क्या-क्या परिवर्तन पायेगा। स्पष्ट ही बाह्य दृष्टि से उसे यहाँ की जीवन-चर्या एकदम परिवर्ति अवस्था में मिलेगी। परन्तु गम्भीरता से तल तक पढ़ने पर भी क्या उसे कोई परिवर्तन दिखायी पड़ेगा ? क्या वास्तव में हमारा जीवन कुछ भी बदला है ?

उस समय भी ब्राह्ममुहूर्त में विस्तर त्यागना स्वास्थ्य-कर था ; आज भी है। उस समय भी व्यायाम शरीर को दृढ़ बनाने के लिए उत्तम था ; आज भी है। उस समय भी दूध उत्तम खाद्य माना जाता था ; आज भी माना जाता है।

यही बात हमारी चिकित्सा-पद्धति के विषय में भी सर्वोपश में सत्य है। आयुर्वेद का सत्य अमर है और उसके सामने वृथा विरोध करने वालों को झुकना ही पड़ेगा।

आधुनिक विज्ञान आज जो अन्वेषण कर रहा है वे यदि आयुर्वेद में पहले से ही मौजूद मिलते हैं तो क्या हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि आज से सौ-पचास वर्ष बाद जो अन्वेषण यह विज्ञान करेगा वे भी सम्भवतः आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मिल जायँ ? तब क्यों नहीं आयुर्वेदीय संहिताओं का आश्रय लेकर बहुत से अन्वेषणों के वृथा श्रम से सुखी

मनुष्य स्वभाव की एक कमजोरी है कि हम जटिल और दुरूह ग्रन्थ को सरल और स्पष्ट ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक विद्वत्तापूर्ण मानते हैं जब कि वास्तव में सरल स्पष्ट ग्रन्थ ही अधिक विद्वत्तापूर्ण होता है। इसी कमजोरी के कारण आयुर्वेद के साथ भी अन्याय हो रहा है। हमारे ऋषियों ने जो चीज सरल सुलभे हुए ढंग से हमारे सामने रख दी है उसकी इस सरलता और स्पष्टता के कारण ही डाक्टर लोग उसे वैज्ञानिक मानने से इनकार कर रहे हैं। उनके अचेतन मन में बसी हुई स्वार्थ-भावना का भी शायद उन्हें ज्ञान नहीं है या ज्ञान होते हुए भी उसे वे मानते नहीं।

× × ×

प्राचीन के स्थान पर नवीन का अभिप्रेक होना ही चाहिए यह धारणा भी कुछ लोगों के मन में बैठी हुई है। परन्तु बिना कारण ही हम प्राचीन को तिलांजलि क्यों दें? सहस्रों वर्षों से जिस ऋषिप्रदत्त ज्ञान को हम सँजो कर रखते आये हैं उसे आज अकारण ही काल के प्रवाह में क्यों बहा दें? बिना अपराध के ही एक व्यक्ति को क्यों सिंहासन-च्युत कर दें?

पूर्णतया निश्चित रूप से आयुर्वेद के ग्रन्थों में कोई भी त्रुटि यदि सिद्ध होगी तो उसे हम निर्दयतापूर्वक निकाल फेंकने के लिए तैयार हैं। परन्तु अन्वेषण या संशोधन की वही पद्धति हमें ग्राह्य है जिसमें कि हम आरम्भ से अपने सिद्धान्त पर विश्वास करके चलते हैं क्योंकि यह विश्वास करने के लिए हमारे पास ठोस कारण है। आरम्भ से ही इन सिद्धान्तों के प्रति अश्रद्धा मन में लेकर जो अन्वेषक चलेंगे वे इस शास्त्र का कुछ भी उपकार कैसे करेंगे?

+ + +

प्राचीन और नवीन के या विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों के समन्वय की भी विचारधारा चल रही है। इस विषय पर वैद्य केशव लक्ष्मण दफ्तरी ने अपने विद्वत्तापूर्ण विचार 'वैद्यकसमन्वय की रूपरेखा' लेख में (पृ० २५—३५) व्यक्त किये हैं। वैद्य दफ्तरी के विचार प्रचलित विचारों से

भिन्न होने के कारण बहुत ही बारीकी से परीक्षा करने योग्य हैं। वैद्य दफ्तरी का एक लेख पहले भी "सचित्र आयुर्वेद" में इसी ढंग का प्रकाशित हो चुका है। इन लेखों पर आलोचना करने के लिए हम आयुर्वेद के विद्वानों का विशेष रूप से आह्वान करते हैं।

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित प्रत्येक लेख से इसके प्रकाशकों या सम्पादकों की सहमति हो ही यह धारणा यदि किन्हीं के मन में हो भी तो वह निराधार ही है। 'सचित्र आयुर्वेद' के द्वार तो हर प्रकार की विचारधाराओं के प्रकाशन के लिए खुले हुए हैं।

वैद्य दफ्तरी के ही लेख से हम कम से कम इस समय तो सहमत नहीं हैं। "आयुर्वेदप्रणेता जीव ही थे अतः स्वल्पनपात्र थे" इस कथन को हम नहीं मानते। आयुर्वेद-प्रणेता ऋषियों को हम अतिमानवों या दिव्यों की श्रेणी में रखते आये हैं। आज उस आसन से उनको गिराने का कोई कारण हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इस असहमति का यह कारण नहीं कि जैसा कि वैद्य दफ्तरी ने कहा है कि समन्वय की तीसरी कठिनाई आयुर्वेदीय औषधों के निर्माताओं एवं विक्रेताओं की है जिन्होंने लाखों की तादाद में धन व्यय कर औषधें तैयार कर रखी हैं जिनका विसर्जन उपयोगिता के अभाव में भी करना हो होगा। निर्माताओं एवं विक्रेताओं के प्रति वैद्य दफ्तरी की इस आशंका की परीक्षा तो अवसर आने पर ही होगी यदि ऐसा अवसर आया कि वर्तमान समय में प्रचलित आयुर्वेदीय पद्धति की उपयोगिता का अभाव तर्क से पूर्णतया सिद्ध हो गया। हम तो परमेश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि वह हमें इतना मनोबल दे कि ऐसा अवसर आने पर हम अपनी समस्त औषधें महासागर में भी विसर्जित करने से न हिचकें।

वैद्य दफ्तरी समन्वय की दूसरी बाधा यह बताते हैं कि "प्रस्तुत समन्वय को मान्यता प्राप्त होते ही वैद्य एवं डाक्टर को अपने व्यवसाय से हाथ धोकर होमियोपैथी के अध्ययन के पीछे पड़ना होगा।" यदि होमियोपैथी श्रेष्ठ प्रमाण

होती है तो आज नहीं तो कल वैद्य-डाक्टरों को उसके अध्य-यन के पीछे पड़ना ही होगा। पर देखना यह है कि होमियो-पैथी की श्रेष्ठता है कहाँ तक।

एक ही वैद्यक शास्त्र होना अच्छा है परन्तु प्रचलित सभी वैद्यक पद्धतियों में अन्ततोगत्वा ऐकमत्य या संगति विद्यमान है ही या होनी ही चाहिए यह कोई अनिवार्य नहीं है। सभी में सत्य हो यह भी अनिवार्य नहीं है।

वैद्य दफ्तरी ने आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त को रोगों के वर्गीकरण का सिद्धान्त, ऐलोपैथी के सूक्ष्मीकृत सिद्धान्त को उनके कारणों का सिद्धान्त और होमियोपैथी के सम-चिकित्सा सिद्धान्त को उनकी चिकित्सा का सिद्धान्त माना है। वे कहते हैं कि “इस प्रकार उक्त सिद्धान्तों में विषय-विभिन्नता के कारण विरोध सम्भवनीय ही नहीं है।” हमारा कहना है कि “उक्त सिद्धान्तों में विषय विभिन्नता के कारण (यदि वह वास्तव में है) विरोध अनिवार्य नहीं है, सम्भवनीय तो सर्वथा है।”

और उक्त सिद्धान्तों की यह विषय-विभिन्नता भी कहाँ तक तर्क की कसौटी पर खरी उतरती है? क्या त्रिदोष-सिद्धान्त केवल रोगों के वर्गीकरण का सिद्धान्त है?

त्रिदोष या त्रिधातु सिद्धान्त पर सम्पूर्ण आयुर्वेद का महल खड़ा है ऐसा हम लोग अभी तक जानते-मानते हैं। दोषवैषम्य रोग है और धातु साम्य अरोगता है यह स्पष्ट ही कहा गया है। धातुसाम्य के लिये ही समस्त चिकित्सा की व्यवस्था है।

गत पटना-परिषद् में वैद्य समाज के मनीषी विद्वानों ने यह भी निर्णय किया था कि विपैले जीवाणु रोगों के मूल कारण नहीं। वे रोग के लक्षण या आगन्तुक कारण माने जा सकते हैं जो कि दोषवैषम्य की अवस्था में रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

फिर आयुर्वेदीय चिकित्सा में केवल इतना ही विचार नहीं किया जाता कि अमुक औषध हेतु या रोग के विपरीत है या रोग के समान है। धातुसाम्य करने के लिये वृद्धि-

कर सामान्य द्रव्यों तथा हासकर विशेष द्रव्यों की व्यवस्था की जाती है। आवश्यकता-अनुसार समचिकित्सा करने का भी विधान हमारे संहिताग्रन्थों में है ही जिसको कि बहुत ही विद्वत्ता पूर्वक वैद्य दफ्तरी प्रतिपादित करते हैं।

हमारी यह सब असहमति होने पर भी हम यह स्पष्ट-तया आयुर्वेद विद्वानों की सेवा में नम्र निवेदन कर देना चाहते हैं कि वैद्य दफ्तरी के तर्कों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमें उन पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये।

+ + +
हमें भूलना नहीं चाहिये कि समन्वय जितना आकर्षक लगता है उतना ही वह दुष्कर भी है। विभिन्न पद्धतियों के तल तक पहुँचे बिना हम समन्वय नहीं कर सकते। समन्वय उपरी मिश्रण नहीं, वह रासायनिक योग है।

समय से पूर्व ही समन्वय के लिए हमें उतावलापन न करना चाहिए। बड़े-बड़े विद्वान जहाँ समन्वय नहीं कर पा रहे हैं वहाँ कोमलमति छात्रों से हम इस समन्वय की आशा करें तो क्या वह केवल दुराशा ही न होगी?

+ + +
यहाँ पर हम वर्तमान आयुर्वेद-विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति पर विचार करने के लिए विवश होते हैं। क्या दो या चार पद्धतियों के अधूरे-सधूरे ज्ञान का ही नाम समन्वय है? यदि नहीं, तो वर्तमान आयुर्वेद विद्यालयों में और हो क्या रहा है? क्या इन विद्यालयों के स्नातकों को एक भी पद्धति का पूर्ण ज्ञान हो पाता है? यह प्रश्न आज कितने ही आयुर्वेदज्ञों एवं आयुर्वेद प्रेमियों के मन में एक साथ उठ खड़ा हुआ है।

आरम्भ में जब विषयानुसार शिक्षा देने की नवीन पद्धति हमारे सामने आयी तो हम लोग उसकी चकाचौंध में पड़ गये। हम लोगों ने समझा था कि एक-एक विषय पर विस्तार से ग्रन्थ रहेंगे और एक-एक का विशेषज्ञ वह विषय विस्तार से छात्रों को पढ़ाएगा। कहने और सुनने में

यह बात बड़ी सुन्दर लगी थी। परन्तु अनुभव ने बताया है कि यह केवल कल्पना ही थी।

इसी अंक में वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी एवं वैद्य रण-जितराय ने अपने-अपने लेखों में प्राचीन शिक्षाप्रणाली की श्रेष्ठता स्वीकार की है। आधुनिक शिक्षाप्रणाली में चावल, शक्कर, दूध, मेवा आदि अलग-अलग परोसे जाते हैं; प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में सबको एक साथ पका कर बढ़िया खीर बना कर परोसी जाती थी। आयुर्वेद तो कहा ही गया है, 'जीवन का शास्त्र'। उसे जीवन से अलग करके कैसे पढ़ाया जा सकता है?

प्राचीन शिक्षण परिपाटी में सैद्धान्तिक और आनुभविक निदान, चिकित्सा और औषध-निर्माण विषय आदि सब शिक्षाएँ परस्पर सम्बद्ध चलती थीं जिससे सब विषय स्पष्ट हो कर छात्र के मन में अच्छी तरह जम जाता था। फिर ग्रन्थ का पाठ आद्योपान्त होता था; कहीं-कहीं के अंश पढ़ कर या रट कर छात्र पास नहीं हो जाता था।

समन्वय की ओर जाने से पूर्व आज अपनी ही संहिताओं को भली-भाँति समझने समझाने की आवश्यकता है। गत पटना-परिषद् के अवसर पर यही बात बहुत

जोरदार शब्दों में वैद्य भिकाजी विनायक डेवेकर ने हम से बातचीत में कही थी।

× × ×

सारांश यह कि हमें अपने शास्त्र का ईमानदारी के साथ अध्ययन करना है, उसके शास्त्रीय आधार को अच्छी तरह समझना है और तब उस की विचार धारा के अनुकूल तत्त्वों को उसमें हजम कर लेना है या आत्मसात् कर लेना है। जो कुछ भी हमारे लिये हितकर है और हमारी प्रकृति के अनुकूल है उसे हम ग्रहण कर के लाभ में ही रहेंगे, घाटे में नहीं।

जिस शास्त्र या पद्धति से हमारी वृत्ति चल रही है उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन हमें करना ही है। उसके सत्य को हमें प्रकाश में लाना है और जो उसके विषय में भ्रम में पड़े हुए हैं उनके भ्रम का निवारण करना है। यदि वैद्यसमाज के हृदय-प्रदेश में मानव कल्याण की पवित्र प्रेरणा होगी, जो कि वास्तव में है, तो हम अपनी पद्धति के सुफल जनता और शासन को अवश्य ही दिखा देंगे और रुग्णों का रोगनिवारण तथा स्वस्थों का स्वास्थ्य-संरक्षण करने में आगे रहकर आयुर्वेद को विजयी होते हुए देखेंगे।

नि० भा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चा-परिषद् के आगामी अधिवेशन की कार्यपद्धति और पूर्वतैयारी के विषय में

डा० डी० एन० बनर्जी के विचार

परिषद् का अधिवेशन होने से पूर्व विद्वानों के पास कुछ निश्चित विषय विचारार्थ भेज दिये जायें। उदाहरण के लिए वैद्य रणजित राय का 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' तथा वैद्य रामरक्ष पाठक का 'पदार्थ-विज्ञान' भेजा जा सकता है। इन दोनों पुस्तकों को प्रत्यक्ष पढ़ कर विद्वान् विचार करें कि इन में कहाँ क्या संशोधन होने चाहिए और क्या नये विषय जोड़े जाने चाहिए जिनका कि इन में अभाव है। अपने इन सुझावों को वे निबन्धरूप में लिख कर भेजें जिन पर विचार कर के एक समिति सब सुझावों का क्रमबद्ध सारांश तैयार करे जो कि पुनः आलोचना के लिए सब विद्वानों के पास भेजा जाय। ये आलोचनाएँ लिखित रूप में आ जाने पर इन को पुनः प्रत्यालोचना के लिए मुद्रित रूप में सब विद्वानों के पास भेजा जाय। ये प्रत्यालोचनाएँ लिखित रूप में आ जाने पर जब यह अवस्था आ जाय कि अन्तिम निर्णय के लिए प्रत्यक्ष विचार-विमर्श आवश्यक समझा जाय तब परिषद्-बुलाने का निश्चय किया जाय और परिषद्-काल से काफी समय पूर्व वे सब प्रत्यालोचनाएँ भी विचारार्थ सब विद्वानों के पास भेज दी जायें। परिषद् में आने से पूर्व पुनः सब सदस्य अपने वक्तव्य लिख कर भेज दें ताकि उन की प्रतिलिपियाँ परिषद् प्रारम्भ होने से पूर्व सब सदस्यों को दी जा सकें। परिषद् के अधिवेशन में अधिकारी विद्वान् पूर्व-आलोचित विषयों पर ही विचारों का आदान-प्रदान कर अन्तिम निर्णय करें जिन को एक समिति ग्रन्थ के रूप में संगृहीत करे जो कि अपने विषय का सर्वसम्मत प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाय तथा जिस का समस्त आयुर्वेद-संसार में प्रचार हो। इस प्रकार परिषद् द्वारा एक ठोस कार्य हो सकेगा।

स्थिरः अंगैः

सचित्र आयुर्वेद का गत वर्ष

वैद्य रणजित राय



सूर्य अपनी धुरी पर, पृथ्वी अपनी धुरी और सूर्य के चारों ओर, चन्द्र बारह राशियों के चक्र में और आकाश में मँडराते हुए इन बादलों के रूप में अप-देवता अपने नियति कृत चक्र में फिर कर एक बार फिर उसी स्थान पर आ गये। आयुर्वेद का भाग्य-चक्र भी इतने काल में पूरा फिर गया। इधर, 'सचित्र आयुर्वेद' के स० सम्पादकजी ने याद दिलाया कि, 'द्वादशात्मा' उनकी पत्रिका भी अपने तीन वर्ष पूर्ण कर के इस अङ्क से चतुर्थ वर्ष में पद-न्यास कर रही है। उनका आदेश है, एक बार फिर पत्रिका के संचालकों के 'कृत' और 'अकृत' का विवरण वाचकों के सामने उपस्थित कर दूँ।

आज्ञा तो माननी ही होगी। पर कार्य कृच्छ्र-साध्य है। हृदय पर जैसे एक भारी बोझ पड़ा है। आयुर्वेद का नाम आते ही कम्प-सी, सिहरन-सी सारे शरीर में हो उठती है। अपने-आप भी देखता हूँ, समवयस्कों और वयोवृद्धों से भी छनता हूँ—सब अनुभव कर रहे हैं, आयुर्वेद की नौका जिस दिशा में जा रही है, उसमें भगवान ही उसका रक्षक है। जिन्हें वर्तमान ज्ञान-विज्ञान की दीक्षा नहीं मिली ऐसे वैद्य भी उसके चाकचक्य से अन्धी कृत हो उसका अनुकरण करते हैं, फिर जो उसके साक्षात् संपर्क में आये उनसे तो उससे अलिस रहने की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है? त्वरित द्रव्य लाभ का लोभ भी वैद्यों को वर्तमान विज्ञान की ओर आकृष्ट करता है। इतना होते हुए भी प्रायः मत यह है कि : वर्तमान विज्ञान का सहारा लिये बिना हमारा झुटकारा नहीं हो सकता। आरोग्य-

मंत्रियों की परिषद् का यही निर्णय था, केन्द्रिय सरकार द्वारा सब से अन्तिम नियुक्त पंडित-समिति, जिसमें आयुर्वेद की शुद्धि के पक्षपाती वैद्य पर्याप्त संख्या में थे उसका भी यही मन्तव्य है। परन्तु कुछ उल्लिखित कारणों से, कुछ वर्तमान शिक्षण-पद्धति की विलक्षणता के कारण और कुछ विषयों के बाहुल्य और काल की अल्पता के कारण आयुर्वेद में जो सत्य है उसके प्रति विद्यार्थियों का चित्त आकृष्ट करना शक्य नहीं होता। यह एक दुःखद वस्तु स्थिति है। 'आयुर्वेद में जो सत्य है' कहते हुए मेरा ध्यान आयुर्वेद के उन सिद्धान्तों और उन औषधाहर-विहारों के प्रति विशेषतया है जो रोगी को शीघ्रतर और आमूल रोग-मुक्त कर द्रव्यो-पार्जन की दृष्टि से भी अन्य पद्धतियों की अपेक्षा अधिक स्वीकरणीय हैं।

वर्तमान ज्ञान-विज्ञान में बहुत-कुछ ग्रहण करने योग्य है, इसमें संशय नहीं। पर उसके देने की जो ये पद्धति है, सर्वनाश तो उसने सिजा है। आयुर्वेद के शिक्षण की प्राचीन पद्धति देखिये। गुरु के गृह छात्र गया कि प्रथम दिन से ही वह रोग और रोगियों के साक्षात् संसर्ग में आ जाता था। उसके व्यावहारिक जीवन की शिक्षा इसी दिन से प्रारम्भ हो जाती थी। वह विशेषतया उन रोगों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता था जो लोक में प्रायः देखे जाते हैं। फिर गुरु को देखते हुए उसे व्याख्यान के बिना ही इस बात का शिक्षण मिल जाता था कि रोग के मूल तक किस प्रकार पहुँचना चाहिए तथा कैसे रोगी से कैसे व्यवहार करना चाहिए। प्रथम दिवस से ही तत्काल रोग

और उसकी तत्त्व अवस्था में क्या-क्या औषधाहार-विहार उपयुक्त है इसका ज्ञान हो जाता था। रोगियों से छुट्टी मिलते ही औषधों के निर्माण (कल्पना) का प्रत्यक्ष शिक्षण मिलता था। कारण, प्राचीन वैद्य अपने औषध बहुधा घर पर ही बनाते थे। प्रत्येक द्रव्य की पहचान एवं गुण-धर्म का ज्ञान भी साथ-साथ ही हो जाता था। फिर प्रातःकाल गुरु को प्रिय ग्रन्थ का प्रतिपद अध्ययन होता था, जिससे क्रिया के साथ सिद्धान्त-पक्ष भी पुष्ट होता था।

अब इसके विपरीत वर्तमान पद्धति को देखिये। प्रारम्भ के वर्षों में जो विषय^१ सिखाये जाते हैं उनका—एनेटॉमी, फिज़ियोलॉजी, द्रव्यगुण, रसशास्त्र, क्रियाशारीर आदि का—रोग और रोगी से प्रत्यक्ष संबन्ध न होने से प्रायः वे अत्यन्त नीरस प्रतीत होते हैं। अतः परीक्षाओं के पश्चात् प्रकृत्या भुला दिये जाते हैं। रोगों का ज्ञान इन वर्षों में न होने से, अनुभव कहता है, उपयोगिता की दृष्टि से ये वर्ष शून्य होते हैं। इन वर्षों के पश्चात् भी, जब स्वयं रोगों की निदान-चिकित्सा से संबद्ध विषय चालू होते हैं, रोगों से विद्यार्थी का संबन्ध कितना होता है?—प्रायः प्रातःकाल के एक-दो घण्टे! इनमें भी मुझे कहने दीजिए, रोग-निदान की अभिनव पद्धति के आविष्कर्ता होने से सेविल को लोग बहुत धन्यवाद देते हैं, पर मुझे स्पष्ट लगता है उसकी पद्धति निकट आये-सामने विद्यमान-रोगों से भी विद्यार्थी को बहका कर दूर ले जाती है। तद् यथा, उदर में वेदना के रोगी प्रायशः औषधालय या आतुरालय में आते हैं। इनमें अधिकांश में कारण विबंध, प्रवाहिका, अतिसार, नाभिस्खलन आदि होते हैं। पर जब इन पर धुरन्धर विद्वान् का भाषण^२ होता है तो वह पहले विस्तार से व्यावर्तक निदान^३ को दृष्टि में रख कर एपेंडि-

साइटिस, रीनल कॉलिक, बिलिअरी कालिक, एक्यूट एम्ब्रॉ-मिन आदि रोग लेता है, जिनको रोगि-जगत् में प्रतिशक्ता उतनी ही नगण्य होती है, जितना इन पर दिये भाषणों का विस्तार। अधिकांश जिन उक्तपूर्ण कारणों से उदर वेदना होती है उनका या तो निर्देश ही नहीं किया जाता, किंवा एक-दो मिनट उन्हें छू कर छोड़ दिया जाता है। एक दिन में ऐसे एक ही दो रोगों के रोगी विद्यार्थी प्रायः देख पाता है। परिणाम क्या होता है?—उदर-वेदना का रोगी सामने आते ही भाषण के विषयभूत रोग ही विद्यार्थी—अब स्वतन्त्र प्रेक्टिशनर की स्मृति में आते हैं। उसका निदान सत्य से बहुत दूर जा पड़ता है। यार्त्किचित् कामला होते ही यक्ष्म या समीपवर्ती अवयवों के केन्सर या सिरोसिस आफ् थ लिवर की ही स्मृति उसे हो आती है, भले ही उनके द्योतक लक्षणों का रोगी में स्पष्ट अभाव हो। प्राचीन पद्धति में, प्रति दिन अनेक रोगी आँख के सामने गुजरने से (यही दशा औषध द्रव्यों और उनके कल्पों के विषय में भी समझिये) उनके निदान-चिकित्सा-विषयक संस्कार विद्यार्थी के चित्त पर जैसे दृढ़ हो जाते थे उससे यह वैषम्य होने की स्थिति न आती थी। (यहाँ मैं यह अवश्य स्वीकार करूँगा कि इन दिनों सिद्धांत और क्रिया की दृष्टि से दक्ष वैद्यों की उत्तरोत्तर तेजी होती जा रही है)। वर्तमान शिक्षण-पद्धति की यह दुरवस्था होने से ही वे चिकित्सक अधिक नैपुण्य प्राप्त करते हैं जिन्हें घातक होकर किसी हास्पिटल में हाउस-फिज़ीशन, हाउस-सर्जन आदि पदों पर कार्य करने का अवसर मिलता है।

एक ओर यह स्थिति है; दूसरी ओर अल्प काल में आयुर्वेदिक और ऐलैपैथिक अत्यधिक विषयों का बोझ समास करने को होता है। इतने समय में आयुर्वेदीय विषयों का कितना ज्ञान विद्यार्थी को होता है, यह अनुमान की अपेक्षया प्रत्यक्ष अनुभव से ही अधिक समझा जा सकता है। आयुर्वेदीय विषयों की परीक्षकता का सौभाग्य या दौर्भाग्य जिन्हें प्राप्त है उन्हें इस दुःखद स्थिति का अनुभव सविशेष होता है। ऐसे भाग्यशालियों में लेखक भी एक है।

१—Preclinic subjects—प्रीक्लिनिक सब्जेक्ट्स।

२—Clinics—क्लिनिक्स।

३—Differential Diagnosis—डिफरेंशियल डायग्नोसिस।

सचित्र आयुर्वेद का गत वर्ष

११

पर अब इस स्थिति पर ऊहापोह करने का समय ही कहाँ रहा है ? गुरुओं के घर रहकर अध्ययन-अध्यापन की पद्धति अब लौटायी नहीं जा सकती। समय के प्रवाह के साथ काम करना है। जिनके हाथमें आयुर्वेद की धुरा है, वे कहते हैं प्रस्तावित नये पाठ्य क्रम के अनुसार अब समय अल्प होने का बहाना नहीं चलेगा। स्नातकों में यदि अब कोई त्रुटि दिखाई देगी तो उसका दोष अध्यापकों के माथे रहेगा। बात सत्य होगी, परन्तु भविष्य के गर्भ में क्या है, यह आज कौन कह सकता है ?

‘सचित्र आयुर्वेद’ के गत वर्ष का सिंहवलोकन करते हुए इस विषाद-भरी भूमिका का अर्थ है ; आयुर्वेद के लिए जो कुछ भी किया जायगा उसकी अन्तिम परीक्षा तो शिक्षणालयों के स्नातकों को देख कर ही की जायगी। इस निराशाजनक स्थिति में आयुर्वेद के लिए किसी कोने में कुछ भी हो वह हृदय में आशा की एक हिलोर उत्पन्न करता है। ‘सचित्र आयुर्वेद’ के संचालकों के आयुर्वेद के प्रति वफादारी से किये श्रम, उसके लेखकों द्वारा दिये गये सहकार तथा वाचकों से प्राप्त आश्रय का मूल्याङ्कन मैं इस दृष्टि से करता हूँ।

‘सचित्र आयुर्वेद’ के प्रकाशन द्वारा आयुर्वेद के सिद्धान्त-पक्ष की सेवा इसके संचालक कर रहे हैं। गत वर्ष की इस की प्रगति का निरूपण करने के पूर्व मैं वाचकों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया चाहता हूँ कि आयुर्वेद के क्रिया-पक्ष को प्रगत करने के प्रति भी इसके संचालक उतने ही सचेष्ट हैं। हाल ही में घोषणा की गयी है कि इसी वर्ष ‘श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०’ की ओर से एक आयुर्वेदिक हॉस्पिटल खोला जायगा। इसकी स्थापना के लिए प्रथम वर्ष एकमुश्त एकलाख रुपये व्यय करने का तथा पीछे प्रतिवर्ष पचास हजार देने की घोषणा हुई है। हॉस्पिटल के साथ आयुर्वेदीय द्रव्यों के अनुसन्धान के लिए एक पृथक् विभाग रहेगा। साथ ही रोग-निदान में सहाय-तार्थ आधुनिक साधन संपन्न प्रयोग शाला भी रखी जायगी।

मैं समझता हूँ, हॉस्पिटल में प्रधानता वैद्य चिकित्सक की रहेगी। उसके अधीन केवल काय-चिकित्सा के रोगियों की चिकित्सा न होगी। प्रत्युत शल्य, नेत्र रोग, कर्ण रोग, गर्भावस्था, स्त्री रोग आदि से पीड़ित रोगी भी—अर्थात् रोगी मात्र-प्रथम इस चिकित्सक के पास आयेंगे। वे यदि कह दें कि इस रोगी की चिकित्सा मैं नहीं कर सकता तभी वह नवीन पद्धति के विशेषज्ञ के पास जायगा। प्रसंगवश इतनी आशा तो प्रधान चिकित्सक से की ही जा सकती है कि वे सर्व उपायों से अपने अष्टाङ्ग आयुर्वेद के ज्ञान की तथा उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक अभिनव ज्ञान-विज्ञान की भी वृद्धि करते रहेंगे। गत मार्च के ‘सचित्र आयुर्वेद’ में श्रीकृष्ण-पद भट्टाचार्य ने ‘आयुर्वेद में शिक्षा-सुधार की योजना’ लेख में शिक्षणालयों में भी नवीन विषयों के इसी प्रकार आयुर्वेदी करण की योजना प्रस्तुत की है, जिससे वर्तमान पाठ्य-क्रम में नवीन विषयों की अधिक व्याप्ति के कारण जो ऐलो-पैथी के ही संस्कार विशेष रूप से विद्यार्थी पर पड़ते हैं वह स्थिति न रहेगी, और अनायास विद्यार्थी आयुर्वेद के प्रति प्रवीण होगा।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद-भवन लि० के संचालकों की धारणा है कि, इस हॉस्पिटल में चिकित्सित रोगियों के संबन्ध में जो अनुभवपूत लेख ‘सचित्र आयुर्वेद’ में निकलेंगे पत्र की तथा आयुर्वेद की श्री-वृद्धि में विशेष योग देंगे। इस विषय में भी मैं एक नम्र विनति संचालकों से करना चाहता हूँ। यह या वह द्रव्य आयुर्वेद, एलोपैथी या अन्य पद्धति नहीं है। किन्तु रोग की उत्पत्ति तथा चिकित्सा के विषय में प्रत्येक पद्धति के अपने (स्वतन्त्र) सिद्धान्त हैं और वही संक्षेप में तत्तत् पद्धति हैं। आयुर्वेदीय हॉस्पिटल चलते हुए यह ध्यान रखा जाय कि, आयुर्वेदीय ग्रन्थों में कहे किंवा गुरु-दत्त कल्पों से चिकित्सा करने की अपेक्षया दोषों की अवस्थाओं को देख कर उनके शमन-कोपन के जो सरल नियम आयुर्वेद में कहे हैं उन्हें दृष्टि में रख कर ही चिकित्सा हो। मेरा नम्रमत है कि रोग को समझने और

उसकी चिकित्सा करने की इस सरल पद्धति का अवलम्बन किया जाय तो सिद्धि शीघ्र और रोग का मूलोच्छेद करने वाली होगी। अस्तु, अब कुछ 'सचित्र आयुर्वेद' के गत-वर्ष के विषय में लिखता हूँ।

गत वर्ष के अङ्कों पर सामान्य दृष्टिपात करने से विदित होगा कि इसके संचालकों ने इधर अपना ध्येय यह बनाया है कि विद्वान् लेखक का जिस विषय पर प्रभुत्व है उसी विषय के लेख प्रायः माला के रूप में उनसे लिखवाये जायें। इससे जहाँ लेखक अपने अनुभव और ज्ञान का अधिकतम लाभ दे सकेंगे वहाँ वाचकों को भी अपने प्रिय विषय की अधिक तम सामग्री उपलब्ध हो सकेगी। इस दृष्टि से प्रथम परिगणनीय लेख त्रिदोष तथा पञ्चमहाभूत-संबन्धी हैं। अपने बहुमुख व्यवसाय में से थोड़ा समय, श्रम और द्रव्य निकाल कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों ने गत वर्ष पटना में भारत-भरके आयुर्वेद, दर्शन, विज्ञान तथा पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्री के पारंगतों की एक परिषद् बुलायी। परिषद् की आयोजना के लिए तो वे आयुर्वेद जगत के धन्यवाद के पात्र हैं ही; 'सचित्र आयुर्वेद' के कुछ अङ्कोंपर भी इसकी स्पष्ट छाप पड़ी है 'गुरुओं के गुरु' पूज्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य, डा० धीरेन्द्र नाथ बनर्जी, आचार्य रामरक्ष पाठक, डॉ० लक्ष्मीनारायण पचौरी, (स्व०) डा० पराजपे, श्री भी० बी० डेवकर, श्री कृष्णपद भट्टाचार्य, कविराज प्रताप सिंह जी, भिषगाचार्य मणिराम जी शर्मा, श्री नारायण दत्त जी त्रिपाठी, डा० प्रसादी लाल भा, प्रो० सोमदेव शर्मा सारस्वत, वैद्यराज बलवन्त शर्मा, श्री गोडबोले शास्त्री आदि विद्वानों के विद्वत्ता प्रचुर लेखों से इन विषयों का स्पष्टीकरण "सचित्र आयुर्वेद" के विविध अङ्कों में हुआ है। इसके अतिरिक्त संयोजकों द्वारा प्रकाशित अधिकृत विवरण से इन विषयों का नवीन-प्राचीन उभयमतानुसार लगभग पूर्ण संग्रह हो गया है, ऐसा कहा जा सकता है। यों इस विषय में अभी बहुत करने को शेष है।

लेख माला की दृष्टि से ध्यान देने योग्य दूसरी लेख-

माला प्रो० लालजी राम शुक्ल एम० ए०, बी० टी० की है। आपने मानस रोगों पर जो लेख प्रायः प्रत्येक अङ्क में लिखे हैं वे चिकित्सकों के बहुधा दृष्टि गोचर होनेवाले रोगों पर, अनुभवपूर्व तथा सरल भाषा में लिखे होने से बड़े हृदयंगम हुए हैं।

कविराज प्रताप सिंह जी ने अपने व्यस्त समय का भोग देकर आयुर्वेद की राजनीति पर लेख देने के पश्चात् छविस्तृत आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम क्रमशः दे रहे हैं, जो इस दिशा में कार्य करनेवालों के लिए विशद मार्ग दर्शक सिद्ध होगा। आयुर्वेद की राजनीति का विहङ्गावलोकन और तदनुसार उचित मार्ग दर्शन कराते हुए लेख स्वामी मङ्गलदास जी, कविराज उपेन्द्र नाथ दास जी, श्री दुर्गादत्त जी शास्त्री, श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी एवं श्री पुरुषोत्तम देव जी मुलतानी के समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं, जिन्होंने वैद्यों के सामने बाधाओं के सूचना के साथ सामयिक कर्तव्य की भी दिशा दिखाई है।

अन्य एक महत्त्वपूर्ण लेखमाला भिषगल डा० लक्ष्मीपति जी की गत वर्ष से क्रमशः आती रही, जिसमें त्रिदोष-विषयक अनुसन्धान के विषय में अपनी विद्वत्ता और अनुभव के आधार पर डाक्टर साहब ने वैद्यों को दिग्दर्शन कराया है।

वैद्य येरकुंटवार जी की आयुर्वेद में संशोधन सम्बन्धी मौलिक लेखमाला भी विचारोत्तेजक प्रतीत हुई है।

आचार्य विश्वनाथ जी द्विवेदी की लेखमाला इस बार भी रुक-रुक कर प्रकाशित होती रही, जिसमें आपने अत्यन्त परिश्रम करके एक-एक दोष के पृथक्-पृथक् लक्षण पर उपपन्न द्रव्य तथा कल्पों का संग्रह विशद व्याख्या-समेत कर प्रारम्भ किया है। भविष्य के लेखकों के लिए यह लेख माला बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें संशय नहीं।

औषध-निर्माण-विषयक स्व० गुणे शास्त्री जी तथा पु० वि० धामणकर जी के स्वानुभव-प्रधान लेखों की माला तथा उपयोगिता का परिचय उन वाचकों को विशेषकर हुआ होगा, जिन्हें तत्तत् कल्प के निर्माण में होनेवाली कठिनाई से पाला पड़ा हो।

वर्ष के प्रारम्भिक मासों में आचार्य मेहेन्द्र कुमार शास्त्री की उद्भिद् विद्या पर तथा वैद्य रामशिरोमणि जी की रोग-परीक्षा पर अति विस्तृत लेखमालाएँ प्रकाशित होती रहीं। पिछले मासों में अपने कार्य-परायण जीवन के कारण ये महानुभाव अपने उत्कृष्ट लेखों से पत्रिका को अलंकृत नहीं कर सके। आशा है, आगामी वर्ष पुनः इनका सहयोग पत्रिका को प्राप्त होगा।

यूनानी चिकित्सा के उद्भट विद्वान् और लेखक ठाकुर दलजीत सिंह जी एवं मुंबई राज्य के उद्यान विभाग के डायरेक्टर श्री भानु देसाई के लेख यूनानी वैद्यक के सिद्धान्तों एवं उद्यान-वृक्षों पर (उनकी चिकित्सा में उपयोगिता-सहित) प्रायः आते रहे, जिनकी पाठकों ने बहुत प्रशंसा की है।

प्रसिद्ध विद्वान् लेखक कविराज अत्रिदेव जी तथा रामेश-देवी जी के आयुर्वेद के सूक्ष्म सिद्धान्तों पर नये विचारों के उद्भावक लेख भी बहुधा आते रहे। इस लेखक (वैद्य रणजितराय) के निदान-चिकित्सा पर विशेषतया विद्यार्थियों के लिए परीक्षा की दृष्टि से उपयुक्त नोट्स ने विद्यार्थियों को ठीक-ठीक आकृष्ट किया है। पृथक् रोगों पर सिद्धान्त और अनुभव के विचार से समृद्ध लेख कविराज उपेन्द्रनाथदास जी, श्री कविराज सुखराम प्रसाद जी, श्री अशोक कुमार जी, श्री पुरुषोत्तम देव जी एवं श्री अमला चरण सेन जी के बहुधा आते रहे, जिनकी गम्भीरता और उपादेयता के विषय में दो मत नहीं हो सकते।

इनके अतिरिक्त डा० भट्टाचार्य एम० ए०, पीएच० डी०, वैद्य पञ्चानन श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, मेजर टी० बहादुरी एम० बी० वी० एस०, डी० पी० एच०, विद्वद्वर डा० घाणेकर, डा० के० मेहता एम० बी० वी० एस०, डा० रघुवीर एम० ए०, पी० एच० डी०, श्री के० एल० दफ्तरी वी० ए०, एलएल० बी०, डी० लिट्; डा० धीरेन्द्र नाथ बनर्जी, श्री डा० अ० वि० केतकर, श्री दामोदर शर्मा गौड़ आदि प्रतिष्ठित विद्वानों का सहकार समय-समय पर पत्रिका और उसके द्वारा वाचकों को मिलता रहा है। अन्य

लेखकों में श्री खेमराज शर्मा छांगाणी, श्री संपतिराय भटनागर, श्री वाखुदेव विट्ठल प्रसाद व्यास, श्री मती कृष्णा देवी वैद्य, श्री अम्बालाल जोशी, श्री राजेन्द्र प्रकाश, श्री श्रीदत्त भारद्वाज, वैद्य श्री रामनाथ प्रसाद गुप्त, श्री ओमदत्त राय, श्री श्रीनारायण शर्मा, श्री माधव प्रसाद शास्त्री, श्री सत्यनारायण प्रसाद, श्री श्रीकान्त शास्त्री, श्री भानुदत्त शर्मा श्री हरिवक्श जोशी, श्री ओंकार शास्त्री, श्री रवीन्द्र शास्त्री, कविराज ज्ञानचन्द्र वशिष्ठ, श्री दुर्गा प्रसाद शर्मा आदि के नाम गणना-पात्र हैं।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय (गुजराती, मराठी) भाषाओं में प्रकाशित होने वाले आयुर्वेदीय पत्र जैसे आयुर्वेद पत्रिका, भिषगविलास, आयुर्मीमांसा, आरोग्यमन्दिर, आहार तथा आरोग्यसिन्धु, आयुर्वेदजगत् आदि पत्रों द्वारा तत्तत् प्रान्तीय समाचार संकलन में पूरा सहयोग रहा।

लेखों के अतिरिक्त आयुर्वेद-जगत् के समाचार तथा संस्थाओं का परिचय देने में भी पूर्वापेक्षया पर्याप्त प्रगति पत्रिका ने की है। यह सब उत्तम सामग्री परोसने के कारण एक नियमित वाचक के रूप में मैं सर्व लेखकों और पत्र के कार्यकर्ताओं का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। पिछले वर्षों की क्रमिक उन्नति को देखते हुए अब आशा की जा सकती है कि पत्रिका के 'अङ्ग स्थिर' हो गये हैं और वह भविष्य में और भी सेवा आयुर्वेद और वाचकों की करने में समर्थ होगी। भगवान यह आशा सफल करे !!

समस्त 'सचित्र-आयुर्वेद'-परिवार की ओर से अन्त में इस बात पर भगवान का आभार मानता हूँ कि श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० को गत वर्ष अन्य महानुभावों के अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत के अखण्ड उपासक लोकनायक महामहिम बापू जी अणे, राज्यपाल बिहार का आशीर्वाद और छत्रच्छाया प्राप्त हुई है। अन्य भी प्रतिष्ठित महानुभावों का आशीर्वचन प्राप्त करने में संस्था सफल हो यही अभ्यर्थना है !!

आयुर्वेद और मेडिकल कौंसिल

आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आयुर्वेद ब्रह्मसूत्र



[आयुर्वेद के सुधार के नाम पर अब तक अनेक कमेटियाँ सरकार की तरफ से नियुक्त हो चुकी हैं परन्तु किसी के विचार से सरकार अभी तक सहमत नहीं हुई, अब पुनः केन्द्रीय सरकार मेडिकल कौंसिल के हाथ में आयुर्वेद के भाग्य-निर्णय का भार सौंप दी है। सम्भव है कि आगामी अक्टूबर तक मेडिकल कौंसिल भी अपनी रिपोर्ट सरकार के सामने पेश कर देगी। इसी सम्बन्ध में विगत १५ जून १९५१ के “सुधा निधि” में श्रीमान् शुक्लजी ने जो अपना विचार वैद्यों के सामने रखा है, उसका कुछ महत्त्वपूर्ण अंश “सचित्र आयुर्वेद” के वाचकों के लाभार्थ यहाँ दे रहे हैं। आशा है, “सचित्र आयुर्वेद” के वाचकवृन्द इस पर विचार करेंगे।

—स० सम्पादक]

यह सीधी-सादी बात है कि कोई मामला जिस समाज का होता है, उसका फैसला उसी समाज के निर्णय के अनुसार किया जाता है और किया जाना चाहिए। जिस कायदे के निर्माण में किसी समाज की सम्मति नहीं ली जाती; वह कायदा उस समाज के लिए लागू नहीं समझा जाता है। आयुर्वेद के लिए क्या आवश्यक है, आयुर्वेद की शिक्षा-दीक्षा कैसी होनी चाहिये, आयुर्वेद की पढ़ाई का पाठ्यक्रम क्या हो, क्या शिक्षणकाल हो, कैसी परीक्षा हो और परीक्षा के पश्चात् कैसी उपाधि हो—इसका निर्णय आयुर्वेदों के द्वारा ही हो सकता है और होना चाहिये। भारतीय राजनैतिक आन्दोलन का यही मूलमन्त्र था कि भारत की स्थिति और राज्य-संचालन का फैसला भारतीयों के हाथ होना चाहिये। इस सीधे प्रश्न के सम्बन्ध में हमारे अधिकारी लापरवाही से ध्यान न दें, यह दुःख की बात है। दुःख की ही नहीं, हमारे और उनके भी लिये लज्जा की बात है। किन्तु हो यही रहा है।

अभी मई महीने में भारतीय पार्लियामेण्ट में एक प्रश्न किया गया था कि “आयुर्वेदिक शिक्षण संस्थाओं को मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में भारत सरकार क्या कर रही है?” मालूम पड़ता है प्रश्नकर्ता जानना चाहते थे कि

आयुर्वेद की उन्नति के सम्बन्ध में सरकार की क्या योजना है और इस सम्बन्ध में सरकार क्या करना चाहती है? श्रीमती स्वास्थ्यमन्त्राणी अमृत कौर उस समय विदेश में थीं, अतः उनकी ओर से माननीय रफी अहमद किदवाई ने कहा कि स्वास्थ्य मन्त्रियों की सिफारिश के अनुसार भारत सरकार मेडिकल कौंसिल की राय जानने की प्रतीक्षा कर रही है! इसलिये भारत सरकार अभी तक आयुर्वेदिक कालेजों के सम्बन्ध में कोई नीति निर्धारित नहीं कर सकी है। खेद की बात है कि हमारी सरकार के लिये भोर कमेटी की रिपोर्ट रास्ता न दिखा सकी, चोपड़ा कमेटी सरकार को न समझा सकी, योध कमेटी और रिआर्गनाइजेशन कमेटी काफी न समझी गयी, एक्सपर्ट कमेटी का अनुभव काम न आया, पण्डित कमेटी की मार्ग-प्रतीक्षा न की गयी परन्तु अब मेडिकल कौंसिल मैदान मारेगी। क्या मोह है क्या आशा का सूत्र है !!!

गते भीष्मे गते द्रोणे शल्ये च विनिपातिते।
आशावलवती राजन् शल्यो जयति पाण्डवान् ?
दुर्योधन की आशा सफल नहीं हुई थी अब अमृत कौर और डाक्टर राजा की आशा इतिहास के विरुद्ध जाकर सफल कैसे होगी? पाठकों को स्मरण होगा कि पिछले साल

दिल्ली में समस्त प्रान्तों के स्वास्थ्य मन्त्रियों का एक सम्मेलन हुआ। श्रीमती अमृत कौर और डाक्टर राजा आयुर्वेद को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिये तुले हुए थे। किन्तु विहार के स्वास्थ्य मन्त्री माननीय पं० विनोदानन्द झा, मध्यप्रदेश के माननीय डाक्टर वारलिंगे और उत्तरप्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री माननीय चन्द्रभानु गुप्त की सावधानी और सतर्कता से उस समय आयुर्वेद के सर्वनाश की कार्यवाही स्वीकृत नहीं हो पायी। तथापि लाचारी से हो या मुरौवतन हो इन मंत्रियों के सम्मेलन ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया था कि आयुर्वेद के पाठ्यक्रम, प्रमाण पत्र और अभ्यास काल मेडिकल कौंसिल की स्वीकृति से तैयार होगा। हमने उसी समय इसका विरोध किया था और इसे आयुर्वेद के लिये घातक बतलाया था। यह सभी जानते हैं कि मेडिकल कौंसिल डाक्टरों की कौंसिल है। दुर्भाग्य से अधिकांश डाक्टरों का स्व आयुर्वेद के विपरीत है। वे आयुर्वेद की उन्नति फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहते। ऐसी दशा में मेडिकल कौंसिल की राय कभी भी आयुर्वेद के पक्ष में नहीं हो सकती। वह जो कुछ राय देगी वह आयुर्वेद के लिये विनाशकारी ही होगी। मालूम पड़ता है कि स्वास्थ्य मन्त्रियों को जाल में फँसाकर ही उस समय अमृत कौर और डाक्टर राजा ने सन्तोष किया था कि इस समय स्वास्थ्य मन्त्रियों का सम्मेलन कुछ भी तय करे; आयुर्वेद के भाग्य का अन्तिम फैसला मेडिकल कौंसिल के हाथ होने से हमारी जीत होकर रहेगी। हमारे पाठक जानते हैं कि अमृत कौर चाहती हैं कि आयुर्वेद की शिक्षा व्यर्थ है। डाक्टरी की एम० बी० बी० एस० की पढ़ाई के समय आयुर्वेद को एक विषय के रूप में अथवा एम० बी० बी० एस० के बाद एक रिसर्च सबजेक्ट के रूप में आयुर्वेद रख दिया जाय। अर्थात् मुख्य पढ़ाई एलोपैथी की होगी। इस प्रकार पढ़े हुए चिकित्सक डाक्टर ही होंगे किन्तु उनके साथ यह सरकारी प्रमाण लगा रहेगा कि ये आयुर्वेद भी जानते हैं। बस हो गया आयुर्वेद का उद्धार। आयुर्वेद के जिन अपार अष्टांगों का मर्मसहित ज्ञान-विज्ञान

पाँच वर्ष क्या, आजन्म अध्ययन करने पर भी पूर्ण रूप से प्राप्त करना कठिन है उसके ये ज्ञान लब्धुर्विदग्ध डाक्टर विद्वान समझकर आयुर्वेद का उद्धार करेंगे यह आश्चर्य की बात है।

हमारे माननीय सभापति यादवजी को यह आशा थी कि इसी वर्ष के दो-चार महीनों में सरकार के द्वारा आल इण्डिया आयुर्वेदिक बोर्ड की स्थापना हो जायगी और उसके लिये स्वभावतः वे आयुर्वेद समाज को सावधान रहने की सलाह दे रहे थे। परन्तु सरकारी उत्तर से मालूम पड़ता है कि आगामी अक्टूबर तक मेडिकल कौंसिल की सम्मति प्राप्त होगी। इसके बाद सरकार विचार करेगी और तब सरकार बोर्ड स्थापित करने के सम्बन्ध में निर्णय करेगी। इस बोर्ड का उद्देश्य होगा आयुर्वेदिक शिक्षण संस्थाओं का परिचालन में समानता लाना और डाक्टरी तथा वैद्यक अभ्यास क्रम की नींव का विचार एवं शिक्षण का दर्जा यथोचित करना। प्रारम्भिक अशुभ चिन्हों से स्पष्ट हो रहा है कि इस गर्भस्थ बालक का स्वरूप क्या होगा! यह उद्धारक राम नहीं, विध्वंसक रावण होगा। वर्षों से आयुर्वेदज्ञ सोच रहे थे यदि आयुर्वेद को सरकारी मान्यता मिल जाय तो उसकी उन्नति सरल हो जायगी। इस सम्भावना के विचार से ही हम लोग सरकारी सहायता ढूँढ़ रहे थे। परन्तु देखते हैं कि सरकारी सहायता हमारे लिये तारक नहीं मारक ही हो सकती है। हमें मेडिकल कौंसिल के फैसले के अनुसार न तो शिक्षा चाहिये और न उसके दिखाये मार्ग के अनुसार शिक्षण का समान स्तर ही चाहिये। हम अपने भाग्य का फैसला स्वयं करना चाहते हैं। जब हममें वह योग्यता होगी तब हम फैसला करा लेंगे। भीख से नहीं अधिकार रूप से जनता के बहुमत से अपने अनुकूल फैसला करावेंगे। मेडिकल कौंसिल जैसे दोगले चिकित्सक बनाने की सलाह देगी उसकी कल्पना हमें अमृत कौर की इच्छा से आभास मिल चुका है।

ये अधिकारे डाक्टर-वैद्य की आवश्यकता कभी पूरी नहीं कर सकते। इनसे आयुर्वेद का उद्धार कभी नहीं हो

सकता। हम ऐसे वैद्य कभी नहीं चाहते, एक नहीं सौ बार नहीं चाहते। हमें मेडिकल कौंसिल का फैसला नहीं चाहिये। जब हम डाक्टरों के भाग्य का फैसला अपने आयुर्वेद महासम्मेलन के द्वारा नहीं करा सकते और हम जानते हैं कि उसे डाक्टर लोग कभी वर्दाशत नहीं कर सकते तब हम डाक्टरों की राय के बल पर कदापि जीना नहीं चाहते।

हमें अपने भाग्यविधाताओं की रीझ-झूझ से बड़ी खीझ

हो रही है। भला मेडिकल कौंसिल आयुर्वेद के सम्बन्ध में क्या राय देगी? इसके साथ ही हमारे अधिकारियों को यह भी करना चाहिये कि देश में एलोपैथी की क्या स्थिति हो, क्या पढ़ाई हो, डाक्टरों का क्या दर्जा हो, इस सम्बन्ध में आयुर्वेद महासम्मेलन से सलाह माँगे और देखें कि इस पर डाक्टरों की क्या प्रतिक्रिया होती है। यदि हमारे अधिकारियों को मानसशास्त्र का ज्ञान नहीं है तो इस प्रतिक्रिया को देखकर सम्भवतः हो जायगा।

तिब्बिया कालेज पर प्रहार

दिल्ली का आयुर्वेदिक और यूनानी तिब्बिया कालेज देश की उन इनी-गिनी संस्थाओं में है, जिनकी स्थापना किसी दलगत भावना की सिद्धि एवम् व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये नहीं वरन् किसी व्यापक सार्वजनिक उद्देश्य को सामने रखकर की गई थी। देश में व्यापक रूप से प्रचलित दो पुरातन चिकित्सा पद्धतियों—आयुर्वेदिक तथा यूनानी की शास्त्रीय एवम् विधिवत शिक्षा का इसमें आयोजन किया गया था और मसीहुलमुल्क हकीम अजमल खाँ की तपस्या इसकी पीठ पर थी—उन्होंने अपने आप को इसके लिये खपा दिया था। यही कारण था कि उनके समय में यह संस्था खूब फली-फूली और इसने दूर-दूर तक अच्छी ख्याति प्राप्ति की। किन्तु उनके बाद उनके उत्तराधिकारी के हाथों में पड़कर यह उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का शिकार बन गयी, जिससे उत्तरोत्तर इसकी स्थिति बिगड़ती गयी।

महात्मा गांधी की इस संस्था के प्रति आरम्भ से ही गहरी दिलचस्पी थी, अतः उनके पिछले दिल्ली-निवास के समय संस्था के कुछ हितैषियों ने उनसे भेंट कर सारी स्थिति से उन्हें परिचित कराते हुए इसकी रक्षा के लिये कोई कारगर कदम उठाने के लिए उनसे निवेदन किया। महात्मा गांधी ने इस पर शिक्षा-मन्त्री मौलाना आजाद का ध्यान इस ओर आकर्षित कर प्रत्येक वैध उपाय से इस संस्था की रक्षा करने का उन पर जोर दिया और तदनुसार मौलाना साहब ने इस सम्बन्ध में काफी दिलचस्पी भी ली और यह प्रतीत होने लगा था कि शीघ्र ही यह संस्था सरकार के सीधे नियन्त्रण में आ जायगी। इसके लिए विद्यार्थियों का आन्दोलन भी हुआ, जिसे जनता का भी

पूरा समर्थन प्राप्त था। लेकिन यह सब चाय की प्याली के तूफान की तरह सिद्ध हुआ और वह संस्था आज भी लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का शिकार बनी हुई अपने दुर्दिन बीता रही है।

उस पर सब से ताजा प्रहार हुआ है दिल्ली के बोर्ड आफ इण्डियन मेडिकल की कार्यकारिणी का। जैसा कि कल के लोकवाणी के स्तम्भ में प्रकाशित एक पत्र में बताया गया है, हमने अपनी गत ८ जून की बैठक में यह तय किया है कि तिब्बिया कालेज से १९४७ के बाद निकले हुए स्नातकों को रजिस्ट्रेशन के लिए मान्यता न दी जाय। कार्यकारिणी के इस निर्णय का औचित्य हम समझ नहीं पा रहे हैं। हमारे विचार में तो कालेज पर उसका यह एक कायर प्रहार है, जो ऐसे समय में किया गया है, जब कि अवसर वादियों की व्यक्तिगत महत्त्व आकांक्षा का शिकार होने के कारण आत्म रक्षा की शक्ति से वह वंचित हो रहा है। यह सर्वथा अनुचित है। यदि संस्था को अवसर वादियों के चक्कर से निकाल कर योग्य हाथों में सौंपा जाय तो आज भी उसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में हम चाहेंगे कि उसके हित चिन्तक सतर्क और सावधान हों और सब प्रकार के वैध उपायों का अवलम्बन कर इस प्रकार के कायर प्रहारों से उसकी रक्षा करें। स्वयं बोर्ड को चाहिए कि वह इसे बात का ध्यान रखे कि वह निर्वाचित नहीं सरकार द्वारा नामजद है, इसलिए लोक-तन्त्र के इस युग में उसके हाथों कोई ऐसा अशोभनीय काम न हो, जिसके लिए उसे जनता के विरोध का शिकार बनकर बदनाम होने का मौका आवे। क्या वह इस पर ध्यान देगा?

(हिन्दुस्तान)

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

१२—छात्रोपयोगी निदान चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

अर्श^१

अर्शोऽतिसार ग्रहणी विकाराः
प्रायेण चान्योन्य निदानभूताः ।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्यते
रक्षेदस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥

अ० ह० चि० ७।१६४^२

सामान्य परिचय

गुदौष्ठ (गुद-द्वार) से ४॥ अंगुल अन्दर की ओर १॥-
१॥ अंगुल पर तीन वलियाँ (भोल)^३ हैं । इनके नाम
प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी हैं^४ । दोष कुपित

१—देखिये सु० नि० २, च० चि० १४, अ० ह० ७,
माधव निदान ।

२—अर्थ—अर्श, अतिसार और ग्रहणी ये तीन रोग
एक दूसरे के निदान नाम (याने) उत्पत्ति-हेतु हैं । अग्नि
मन्द हो तभी ये रोग होते हैं । अग्नि दीप्त हो तो ये रोग
नहीं होते । अतः इन तीनों रोगों में अग्नि की रक्षा विशेषतः
करें ।

३—Folds—फोल्ड्स ।

४—अर्श की अधिष्ठान-भूत वलियाँ—अर्श की
अधिष्ठान-भूत वलियों का नव्य प्रत्याक्षानुसार निर्णय दुर्घट
है । प्रथम कठिनाई यह है कि, अर्श इन वलियों में (पड्डों
में) नहीं होते—नव्य प्रत्यक्ष से ये उत्तर गुद (Ructum)
की सिराओं में रक्त का अवरोध होकर उनके फूलने से होते
हैं । दूसरी कठिनाई यह है कि, सुश्रुत ने (नि० २।५-७)
में इनका जो स्थल बताया है, उससे दो वलियाँ प्रत्यक्ष में
कुछ ऊपर होती हैं ।

होकर त्वचा, मांस और मेद को दूषित कर के इन स्थानों में
(त्वचादि में) विविध आकृतियों के मांसांकुर उत्पन्न

म० म० गणनाथ सेन जी ने प्रत्यक्षशरीर में वलियों
का जो विवरण किया है, वह थोड़ा परिवर्तित करके देता हूँ ।
महामहोपाध्याय जी ने प्राचीनों की वलियाँ ऊपर से नीचे
(ऊपर प्रवाहणी और नीचे संवरणी) के क्रम से दी हैं, जब
कि मूल और टीका में इनका क्रम विपरीत दिया है—नीचे
प्रवाहणी ऊपर संवरणी । यह मूलोक्त क्रम महामहोपाध्याय
जी की व्याख्या को और भी शुद्ध कर देता है ।

उत्तर गुद (गुदनलिका) में अन्दर की ओर लगभग
अर्धचन्द्राकार तीन (किसी में चार) आड़ी वलियाँ अथवा
पट्टे होते हैं । इन्हें अंग्रेजी में Transverse Folds—
ट्रान्सवर्स फोल्ड्स अथवा Houston's Folds (or valves)—
हास्टन्स फोल्ड्स (या वाल्व्स) कहते हैं । ये वलियाँ
श्लेष्मकला से आवृत मांसतन्तु की बनी होती हैं । इनमें एक
उत्तर गुद के आदि भाग में दायीं ओर होती हैं, दूसरी उससे
कुछ नीचे वाम पार्श्व में और तीसरी तथा सब से बड़ी वलि
(अथवा आड़ा पर्दा) बस्ति के पीछे, गुदनलिका के सामने की
ओर दिखाई पड़ती है ।

गुदनलिका जब संकुचित होती है तब ये पट्टे परस्पर
मिल कर स्थूलान्त्र के कुण्डलिका भाग में एकत्र हुए मल को
नीचे से टेका देते हैं । मल जब इस स्थान से नीचे उतरने
लगता है और गुदनलिका में प्रविष्ट होता है—परिणामतया
जब मलोत्सर्ग का वेग उत्पन्न होता है, तब ये पट्टे (वलियाँ)
एक ओर खिसक जाते हैं, और गुदनलिका को चौड़ी होने
देकर मल को आगे जाने देते हैं । उदर की पेशियों तथा
उत्तरगुद के संकोच एवं साथ ही पायुधरणी पेशी
(Levator ani—लिवेटर एनाई) के शैथिल्यवश मल-

करते हैं। इन्हें अर्श (स्)^१ कहते हैं। सामान्यतया उक्त वलियों की दृष्टि से हुए गुद-मार्ग के अवरोधक अंकुरों के नीचे उतरता है। पश्चात् गुदनलिका के सभी भाग क्रमशः ऊपर से नीचे संकुचित होने से मल धकेला जाकर बाहर निकलता है। इस से विपरीत दो गुदसंकोचनी पेशियों (Sphincter ani externus and internus — स्फिक्टर एनाई एक्सटर्नस एण्ड इंटरनस) तथा पायुधारणी पेशी के संकोच से गुद-द्वार बन्द हो जाता है।

प्राचीन शारीरविदों ने जिन तीन वलियों का वर्णन किया है वे इन तीन अर्धचन्द्राकार वलियों से भिन्न प्रतीत होती हैं। अनुमान है कि, गुदनलिका में होने वाली तीन पृथक्-पृथक् क्रियाओं के स्थान अत्यन्त निकट होने से, प्राचीनों ने, नव्य-प्रत्यक्षानुसार ऊपर वर्णित वलियों और पेशियों को अमुक-अमुक क्रिया की सूचक अमुक-अमुक संज्ञा दी है। यदि ऊपर से नीचे के क्रम से विचार करें तो तीनों नामों की संगति बैठ जाती है। ऊपर की पहली वलि वाला भाग (जिस में गुदनलिका के उस भाग के अन्तर्गन्त मांससूत्र भी सम्मिलित हैं) संकुचित रह कर मल को रोके रहता है अतः यह प्राचीनों की संवरणी वलि है। (सुश्रुत की न्याय चन्द्रिका टीका में गयदास ने इस नाम का विग्रह ही यह दिया है—संवृणोतिती संवरणी—रणजित राय)। दूसरा वलि वाला भाग (अपने मांस सूत्र सहित) गुदनलिका को चौड़ी कर के मल को बाहर निकालने वाला होने से उसका नाम विसर्जनी है। (विसृजतीति विसर्जनी—गयदास)। गुदद्वार (पायु) पर स्थित दो गुद संकोचनी पेशियाँ मिलने से जो गोल वलि बनती है, उसके शिथिल होने से मल की प्रवृत्ति (प्रवाहण) होती है, अतः इसका नाम प्रवाहणी है। (प्रवाहयतीति प्रवाहणी—डल्हन; प्रवाहणीति प्रपूर्वात् 'वह' प्रयत्ने इत्यस्मात् कर्तरि ल्युट—गयदास)।

इसी कल्पना को और आगे बढ़ाये तो इस भाग में विद्यमान आगे वर्णित तीन सिरा-जालों की भी दुष्टि (उनमें रक्तसंचय) से अर्श होते हैं, यह कह सकते हैं। ये सिराएँ क्रमशः ऊपर तक गुदनलिका को वेष्टित किये रहती हैं। उनके फूलने से अर्श गुद-भाग में ही प्रत्यक्ष गोचर होते हैं। प्राचीनों ने भी दुष्टि सारी वलियों की होते हुए भी अर्श की उत्पत्ति तो गुदौष्ठ से आधे अंगुल तक ही मानी है। देखिये—तत्र गुदौष्ठादर्धांगुलमेव गुदौष्ठेऽर्शसां संभव इति—गयदास।

१—अर्श के पर्याय—डुर्नाम, गुदज; हिन्दी-बवासीर,

लिये ही अर्श शब्द प्रसिद्ध है। परन्तु ये कभी-कभी पि अपत्यपथ, गल, तालु, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षिपथ (पलक) तथा त्वचा पर भी होते हैं। अरिवत् शृणोति हिनस्ति प्राणान् इति अर्शः—अरि नाम शत्रु के समान प्राणों का शरण-नाश करे उसे अर्श कहते हैं, यह अर्श की व्युत्पत्ति है।

भेद

काल-भेद से अर्शों के दो भेद होते हैं—सहज जन्मोत्तर। सहज अर्श में उक्त गुद-वलियों का बीज विकृत होता है। इसके सिवाय इनके दो भेद होते हैं—शुष्क और स्रावी। स्थिति-भेद से भी दो भेद होते हैं—अन्तः कुटिल और बहिः कुटिल (आभ्यन्तर बाह्य)।

आरम्भक दोष

दोष-पृथक्, समस्त और रक्त ये अर्श के आरम्भक उत्पादक हैं।

सहज अर्शों से पीड़ित रोगी अति कृश, (कान्ति हीन); प्रायः मल, मूत्र और वात के विवर्तन वाला; परिवर्तन शील आकृति, वर्ण, स्वरूप और गन्ध मल वाला; नाभि, वस्ति और वक्षण में तीव्र परिकल्पित (कैची से काँटने के समान वेदना) से पीड़ित; गुद-प्रवाहिका, अन्त्रकूजन, ऊर्ध्ववात, हृदयोपलेप आदि रोगों पीड़ित; तिक्त-अम्ल उद्गार, मन्दाग्नि, कास, श्वास, हृल्लास, प्रतिश्याय, क्रोध, आलस्य आदि से ग्रस्त समय पर विभिन्न अङ्गों में शूल और ग्रहयुक्त एवं मुख, हाथ तथा अक्षि-कूटपर शोथवाला होता है। सहज अर्शों में इन तथा अन्य विकारों की उत्पत्ति का कारण यह है अर्शों के कारण मार्गावरोध होने से रोगी का (मल, वात और अधोवायु की प्रवृत्ति का कारण भूत गुजराती-हरस मसा; मराठी-मूल व्याध, अंग्रेजी Piles—

Haemorrhoid—हेमॉरॉयड।

१—Gene—जेन।

तथा उसकी चेष्टा) प्रकुपित हो ऊर्ध्व गति करता है, तथा अन्य वायुओं और कफ-पित्त को भी प्रकुपित करता है जिससे ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

सहज अर्श असाध्य कहे गये हैं।

जन्मोत्तरकालज अर्शों की संप्राप्ति

दोष अपने-अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित होकर अग्नि को मन्द करते हैं, जिससे मलका अत्यन्त संचय होता है। सतत अति प्रवाहण (काँखना), निरन्तर अतिशीतल जल (तथा शीत भूमि आदि) का स्पर्श, वेगधारण; ज्वर, अतिसार आदि के कारण तथा स्त्रियों में गर्भस्राव से भी हुई दुर्बलता; गर्भजनित पीडन, ऊँचा-नीचा आसन अथवा विकट सवारी; सर्वदा बैठे रहना या सो रहना - इत्यादि कारणों से कुपित हुआ अपान उक्त संचित मल द्वारा गुदवलियों को पीडित करता है, जिससे अर्श के अङ्कुर उत्पन्न होते हैं।

१—जैसा कि ऊपर कहा है आधुनिक प्रत्यक्षानुसार उत्तर गुद की सिराओं का अवरोध होने से उनके गुदमार्ग में फूले हुए भाग को ही 'अर्श' कहते हैं। इस स्थान की असंख्य सूक्ष्म सिराएँ परस्पर मिल कर पहले तीन सराएँ बनती हैं—उत्तरा गुदान्तिका (Superior Haemorrhoidal vein सुपीरियर हेमेरॉयडल वेन), मध्यमा गुदान्तिका (Middle Haemorrhoidal vein—मिडल हेमेरॉयडल वेन) तथा अधरा गुदान्तिका (Inferior Haemorrhoidal vein इन्फीरियर हेमेरॉयडल वेन)। तीनों मिल कर एक चक्र बनता है, जिसे गुदवेष्टन चक्र (Haemorrhoidal plexus हेमेरॉयड प्लेक्सस) कहते हैं। ये सिराएँ अर्श की अधिष्ठान होने से अंग्रेजी में इन्हें सूचक नाम दिये गये हैं। मल या गर्म का पीडन होने से बहुधा सिरावरोध होकर अर्श होते हैं। अथवा, इन सिराओं का संबन्ध आगे क्रमशः आभ्यन्तर अधिश्रोणिक (Internal iliac—इण्टर्नल इलायक), आन्त्रिक (Mesenteric—मिज़ेण्टेरिक) तथा प्रतिहारिणी (Portal पोर्टल—यकृत में उदर तथा पैरों का समस्त रक्त पहुँचाने वाली सिरा) से होता है। सो यकृत में अवरोध होने से भी पिछली-पिछली सिरा में अवरोध होकर अन्त में गुदवेष्टन चक्र में अवरोध होने से अर्श होते हैं।

अर्शों के पूर्वरूप

अन्नाश्रद्धा, कृच्छ्रपाक (अन्न-पान कठिनाई से पचना), पुरीष की अल्पता, अम्लोद्गार, परिदाह, पिपासा, विष्टम्भ, ऊल्लानि (पैर-पानी-पानी होना), आटोप (वेदनासहित आध्मान), कृशता, अत्युद्गार, आँखों पर शोथ, अन्त्रकृजन, गुदपरिकर्तिका; पाण्डुरोग, ग्रहणीविकार, उदर तथा शोष की आशङ्का; कास, श्वास, बलक्षय, भ्रम, तन्द्रा, निद्रा, इन्द्रिय दौर्बल्य (अपने विषयों के ग्रहण में इन्द्रियों का असामर्थ्य)।

व्यक्तावस्था में यही लक्षण अति प्रकट हो जाते हैं।

प्रधान दोषों के अनुसार अर्शों के लक्षण

यद्यपि अर्शों में तीनों दोष तथा रक्त कुपित होते हैं तथापि एक या दो प्रधानतया कुपित दोषों के लक्षण उनमें दिखाई देते हैं। तदनुसार उनका वातार्श आदि व्यपदेश (नाम करण) होता है। इस दृष्टि से पृथक् दोषानुसार अर्शों के लक्षण दिये जाते हैं।

इस सिराचक्र के भी दो विभाग होते हैं—आभ्यन्तर (Internal—इण्टर्नल) तथा बाह्य (External—एक्स-टर्नल)। श्लेष्मकला के नीचे स्थित सिराचक्र आभ्यन्तर तथा गुद की मांसमय वृत्ति (दीवाल) के चारों ओर स्थित सिराजाल बाह्य कहाता है। अर्श आभ्यन्तर सिराजाल के फूलने से बनते हैं। यह सिराजाल केवल श्लेष्मकला से आवृत होता है। मल आदि से घर्षण के कारण इससे रक्तस्राव होता है।

ऊपर वलियों के समन्वय के उपसंहार रूप में, महामहोपाध्यायजी की स्थापना को एक कदम और आगे बढ़ा कर कह सकते हैं कि ये सिराचक्र भी प्राचीनों ने पेशियों के समान वलियों में ही गिन लिये हैं। जो हो, इतना सत्य है कि, प्राचीनों ने अर्श के जो उपचार लिखे हैं और जो व्यवहृत हैं उनमें यकृत का शोधन कर अवरोध दूर करने वाले द्रव्य (यथा एलुआ), विरेचन द्वारा मलसंचय को दूर करने वाले द्रव्य (यथा-अमया), तथा रक्तस्रम्भक द्रव्य दिये जाते हैं। एवं, गुदमार्ग में हुए व्रणों के रोहण आदि के लिए मायूफल, अहिफेन आदि के मलहर लगाये जाते हैं। यह प्राचीनों के भूयोदर्शन (obeservation) का उत्तम प्रमाण है।

वाताशों के लक्षण—इनमें शुष्क, म्लान, कठिन रुक्ष, श्याव-अरुण, तीक्ष्ण (अणीदार), फटे हुए; विशेषतः मल-प्रवृत्ति के समय शूल, तोद, चिमचिम (सर्प के लेप से जैसी प्रतीति होती है वैसी प्रतीति) आदि से व्यास; स्निग्ध और उष्ण उपचार से शान्त होने वाले; प्रवाहिका, आध्मोन; बस्ति, शिश्न, और वृषण का ग्रह (स्तब्धता); और हृदयद्रव (हृद्द्रव)^१ इन रोगों से युक्त; सदा वात, मूत्र और पुरीष के बन्धवाले; एवं ऊरु, कटि, पृष्ठ, त्रिक, पार्श्व, कुक्षि, बस्ति इनमें शूल; शिरोऽभिताप और उद्गार सहित होते हैं। इनके कारण प्रतिश्याय, कास, उदावर्त, आयाम (अङ्गों में खेंचे जाने की सी प्रतीति किंवा प्रत्यक्ष खेंच), शोष, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, मुखवैरस्य; त्वचा आदि परुष तथा इनका वर्ण श्यावारुण होना—ये उपद्रव होते हैं। इनमें परिणामतया—गुल्म, अष्टीला, प्लीहा और उदर होते हैं।

पित्ताशों के लक्षण—इनमें गुदाङ्गुर मृदु, सुकुमार, स्पर्शसह, रक्त-पीत-नील-कृष्ण, स्वेद-क्लेदयुक्त; विस्त्र (कच्ची मछली के गन्ध वाले), पतले, पीत-रक्तस्राव युक्त, रुधिरस्रावी; दाह, कण्डू, शूल, तोद पाक सहित; शीतोपशय; एवं संभिन्न (टूट-टूट कर आने वाले) हरित-पीत और प्रचुर मल तथा पीत और विस्त्र मूत्र वाले होते हैं। इनमें पिपासा, ज्वर, तमक, संमोह (मूर्च्छाभेद), अन्नद्वेष और नखादि की पीतता—ये उपद्रव होते हैं।

कफाशों के लक्षण—इनमें गुदाङ्गुर विशाल, श्लक्ष्ण (चिकने), स्पर्शसह (जिन्हें स्पर्श करने से वेदना न हो ऐसे), स्निग्ध, श्वेत, पाण्डु, पिच्छिल (चिपचिपे), स्तब्ध; स्थिर (घट-बढ़ रहित) शोथ वाले, छस छस, अति कण्डूयुक्त; पुष्कल, सतत, पीत-श्वेत पिच्छा के स्राव वाले; गुरु, पिच्छिल, श्वेत पुरीष और मूत्रवाले; एवं रुक्ष और उष्ण आहारादि जिनमें उपशय (शान्त करने वाले) हों ऐसे होते हैं। इनमें—प्रवाहिका, अति मलवेग, वङ्क्षणानाह (वङ्क्षण

में फुलावा), परिकर्तिका (काटे जाने की-सी प्रतीति), हृत्कास, अरुचि, प्रतिश्याय, गौरव, वमन, मूत्रकृच्छ्र, शोष, शोथ, पाण्डुरोग, शीत ज्वर, अश्मरी, शर्करा, हृदयोपलेप, इन्द्रियोपलेप, मुखमाधुर्य, प्रमेह, अर्श दीर्घकालानुबन्ध होना, अति मन्दाग्नि, आम-विकार, त्वचादि की श्वेतता—ये उपद्रव होते हैं।

रक्तज अशों के लक्षण—इनमें अङ्गुर प्रवाल, गुत्ता इत्यादि के समान तथा शोष चिन्ह पित्तज अशों के समान होते हैं। पुरीष जब अति गाढ हो तो इनसे अत्यन्त दुःख अति मात्रा में और सहसा रक्त निकलता है। उसकी अति प्रवृत्ति से पुरुष पीला पड़ जाता है तथा अन्य रक्तक्षय जन विकार होते हैं।

मिलित अशों में मिलित दोषों के लक्षण होते हैं।

साध्यासाध्यता

१—हस्त, पाद, मुख, नाभि, गुद और वृषण में शोष तथा हृत्पार्श्वशूल हो तो अर्श असाध्य होते हैं ;

२—हृत्पार्श्वशूल, संमोह, छर्दि, अङ्गवेदना, ज्वर, रुधिर और गुदपाक हों तो अर्श असाध्य होते हैं ;

३—सहज, त्रिदोषजन्य तथा अन्तर्वर्लगत अर्श असाध्य होते हैं।

अग्नि दीप्त हो तो अर्श याप्य ; द्वन्द्वज और द्वितीय वलि में हुए एवं जिन्हें हुए एक वर्ष हुआ हो वे कृच्छ्रसाध्य बाह्य वलि में स्थित, एक दोष की अधिकता वाले तथा नवीन अर्श साध्य होते हैं। अशों की उपेक्षा से बद्धगुदोदर होता जाता है।

अर्श की चिकित्सा^१

अर्श, अतिसार और ग्रहणीरोग एक-दूसरे के निदान (उत्पादक) हैं। तीनों में अग्नि की मन्दता कारण होती है। अग्नि मन्द हो तो ये तीनों होते हैं, वही दीप्त हो तो नहीं। अतः इन सब में अग्निमान्द्य न होने

यह सूत्र पहले कहा है। आयुर्वेद में अर्श और मेह रोगों के योग परस्पर बदले जा सकते हैं, यह प्रसिद्धि भी यहाँ स्मरणीय है।

अर्श के उपचार चार प्रकार के हैं : औषध, क्षार से दाह, अग्निदाह और शस्त्र से कर्तन।

शस्त्र, क्षार या अग्निकर्म में भूल होने से नीचे लिखे उपद्रव होने संभव हैं : पुंस्तवनाश, गुदशोथ, वेगविनिग्रह, तीव्र आध्मान, तीव्रशूल, व्यथा, अति रक्तस्राव, अङ्गुरों की पुनरुत्पत्ति^१, क्लेद (चिकना स्राव होते रहना), गुदभ्रंश, शीघ्र मृत्यु। ऐसी स्थिति होने से निरुपद्रव औषधोपचार को कई वैद्य पसन्द करते हैं।

जिनमें हुए थोड़ा ही समय (एक वर्ष) बीता हो, जिनमें दोषों के चिन्ह तथा उपद्रव न्यून हों वे औषधसाध्य माने जाते हैं। मृदु, फैले हुए, गहरे तथा उभरे हुए अङ्गुर क्षारसाध्य; कर्कश, स्थिर (अविसर्पी), विशाल तथा कठिन अङ्गुर अग्निसाध्य; एवं पतले मूलवाले, उभरे हुए तथा क्लेदयुक्त शस्त्रसाध्य होते हैं। अदृश्य अङ्गुरों में भी औषधोपचार करना पड़ता है।

चिकित्सा की दृष्टि से अर्श के दो भेद हैं : शुष्क अर्थात् वातश्लेष्माधिक और प्रस्रावी या आर्द्र नाम रक्तपित्ताधिक।

अङ्गुर बहुत शोथशूलयुक्त (फूले हुए तथा वेदनावान्) न हों तो—अग्निदीप्ति, वात और मल की प्रवृत्ति आदि के लिए उपयुक्त योग दें। यथा-सदा प्रातः गुड के साथ हरीतकी का सेवन करें। सौ हरीतकी एक द्रोण (१०२४ तोला) गोमूत्र से भावित करके प्रातः मधु से यथा वल लें या त्रिवृत् त्रिफला के रस से दें। ये द्रव्य विशेषतया मल की प्रवृत्ति कर गुदमार्ग को विशुद्ध करते हैं। और, सर्व प्रकार के अर्शों में यही परम विधेय है :—

हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ॥

—च० चि० १४।६६

१—निश्चय ही पुनः उत्पन्न हुए अङ्गुर, अर्शों के हेतु विद्यमान ही रहने से अन्य सिराएँ फूलने से होते हैं।

गुदस्थ दोष का संशोधन हो जाय तो अर्श स्वयं नष्ट होते हैं^१। सांप्रत वैद्य बहुधा इस हेतु मधुयष्ट्यादि चूर्ण (स्वादित्प्र विरेचन) का व्यवहार करते हैं।

तण्डुलोदक (चावल भिगोये हुए पानी) और मधु सहित प्रतिदिन प्रातः अपामार्ग मूल से लें। ये द्रव्य रक्तस्तम्भक विशेष हैं। तण्डुलोदक अथवा अपामार्ग मूल का घासा (मूल पत्थर पर घिसकर बनाया पानी) अन्य उपयुक्त कल्पों के अनुपान रूप में रक्तार्ग और रक्तप्रदर में बहुत प्रयुक्त होता है और गुणकारी है^२। दूध के साथ शतावरी के मूल का कल्क दें। यह भी रक्तस्तम्भक है^३।

सीधु के अनुपान से चित्रक चूर्ण दें। लवणरहित तक्र के अनुपान से सक्तु के मन्थ (घोल) में भलातक चूर्ण डालकर दें। घड़े को अन्दर की ओर से चित्रकमूल के कल्क से लिप्त कर इसमें दही जमावें; इस दही का तक्र खाने-पीने में प्रयुक्त करें। पिप्पली, पिप्पलीमूल, कव्य, चित्रक, विडङ्ग, शुगठी और हरीतकी से इसी प्रकार तक्र-कल्प करावें। चित्रकादि द्रव्यों का प्रयोग अग्नि को दीप्त कर तथा स्रोतों का अवरोध नष्ट कर अर्श में उपकारी होता है^४।

कुटज मूलत्वक् का फाणित (रसक्रिया, घन) पिप्प-

१—बूझों से अर्शों की उत्पत्ति न होने देने के लिए एक क्रिया सुनी है, जिसे गणेश क्रिया कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि, मल प्रवृत्ति के अनन्तर सदा गुदप्रक्षालन के समय शुद्ध तर्जनी अङ्गुली ऊपर तक गुदविवर में डालकर वहाँ लगा मल पोंछ लेना चाहिए। यह क्रिया अभ्यास साध्य है। परन्तु इसका परिणाम प्रत्यक्षादि सिद्ध है।

२—रक्तप्रदर में इसी प्रकार दर्भमूल का घासा किसी कल्प के सहित अथवा स्वतन्त्र भी उत्तम गुणकारी है। रक्तप्रदर में तण्डुलीयक (चौलाई) के मूल का अनुपान भी इतना ही प्रशस्त है।

३—शतावरी गोक्षुर के साथ दूध के अनुपान से मूत्रमार्ग से प्रवृत्त रक्त (रक्तमेह) में भी उत्तम है।

४—अर्श में भलातक की क्रिया का विशेष विचार आगे किया है।

ल्यादि गण डालकर मधु के साथ लें। कुटज विशेषतः रक्त-स्तम्भनार्थ प्रयुक्त होता है। नवीन वैद्य इस दृष्टि से प्रायः कुटज घनवटी^१ का व्यवहार करते हैं।

अन्न छोड़कर केवल तक्र पर एक मास रहें।

हिङ्गवादि चूर्ण^२ का नित्य सेवन करें। इसके सेवन-काल में भोजन में केवल तक्र (वातकफानुबद्ध रक्तज अर्श में) या केवल दूध (वातपित्तानुबन्धज में) लें।

कृष्ण तिल की प्रसूति (अर्ध अञ्जलि) प्रातः-प्रातः शीतोदक के अनुपान से सेवन करें।

सम्प्रति वैद्य $\frac{१}{२}$ —१ तोला कृष्णतिल समभाग शर्करा के साथ एक छायाँक बकरी के दूध के साथ दिन में दो बार रक्तप्रवृत्ति को रोकने के लिए देते हैं।

(शुष्क कफ वातज) अर्श में तक्र का महत्त्व

नास्ति तक्रात् परं किञ्चिद् भेषजं कफवातजे ॥

च० चि० १४।८८

कफ वात प्रधान नाम (याने) शुष्क अर्शों के लिए तक्र का सेवन ही सर्वोत्तम औषध है। शास्त्र में चित्रकमूल आदि द्रव्यों से लिप्त घड़े में दूध जमाकर उससे निकाले तक्र का विधान है। सामान्यतया, तक्र के अनुपान से पञ्चकोल या चित्रक आदि अन्य दीपन, पाचन, अर्शोहर द्रव्यों का चूर्ण दिया जाता है। तक्रारिष्ट तक्र का स्वतन्त्र कल्प है।

दोष देखकर स्निग्ध (जिससे मक्खन न निकाला हो ऐसे), रुक्ष (जिसका मक्खन निकाल लिया हो) किंवा जिससे आधा ही मक्खन निकाला हो ऐसे तक्र का सेवन करावें। बल और काल के अनुसार सप्ताह, दस दिन, पक्ष या एक मास यह कल्प करावें। जिसका शरीर तथा अग्नि मृदु हो उसे केवल तक्र दें। अग्नि तथा शरीर कुछ बली हों तो प्रातः तक्र दें और सायं लाजा (खील) और सक्तु तक्र के साथ लेहवत् दें। अथवा तक्र की पेया या तक्रसहित भात दें। यूष या मांसरस भी तक्र के साथ दें। तक्र के

१—देखें सिद्धयोग संग्रह पृ० २६।

२—सुश्रुत-वात रोगाधिकार—चि० अ० ६।२८

सम्प्रति वैद्य $\frac{१}{२}$ —१ तोला कृष्ण तिल समभाग शर्करा के साथ एक छायाँक बकरी के दूध के साथ दिन में दो बार रक्तप्रवृत्ति को रोकने के लिए देते हैं।

प्रयोग से शरीर के स्रोत विशुद्ध होने से रस का सम्यक् संचार (अयन) होकर बल, वर्ण और पुष्टि होती है :

स्रोतः सु तक्र शुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।

तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥

च० चि० १४।८७

एक मास के पश्चात् अन्न शनैः-शनैः बढ़ावें और तक्र न्यून करें। तक्र का प्रारम्भ करते हुए भी अन्न का त्याग धीमे-धीमे करना योग्य है। सहसा अन्न का त्याग करने से मलक्षय होकर घोर विबन्ध और उससे अर्श की पुष्टि तथा स्त्राव न हो तो वह भी होता है^१।

शुष्कार्श के अंकुर स्तब्ध (स्त्रावरहित अतएव दुःख-दायी) तथा शोथ-शूल युक्त हों तो उन्हें स्वेदन द्वारा प्रथम मृदु करें। एतदर्थ—(१) चित्रकक्षार तथा बिल्व के तैल से अभ्यङ्ग करके यव, माष और कुलथी के पुलाक (झिलकों) की पोटली, (२) स्नेह-सहित गाय, गधा और घोड़े के शकृत् (पुरीष) के सुखोष्ण पिण्ड, (३) तिल-कल्क तथा तुष, (४) वचा और सोआ के पिण्ड, (५) अजमोदा, (६) ईंट, (७) शोभाञ्जन, (८) अर्क, एरण्ड पत्रादि का क्वाथ इत्यादि द्रव्यों का उपयोग करें। इस कार्य के लिये अवगाहन भी उत्तम है। इस हेतु अभ्यङ्ग करके वल्गु, अग्निमन्थ, शिग्रु (संहजन), बिल्व आदि का क्वाथ, सुखोष्ण गोमूत्र आदि का विधान है। विशिष्ट अभ्यङ्ग भी इसके

१—तक्र की त्रिदोष - शामकता—च० चि० १५।११७-१२१ में तक्र की प्रशंसा में कहा है : दीपन, ग्राही और लघु होने से तक्र ग्रहणी में श्रेष्ठ है। अम्लरस होते हुए भी विपाक में मधुर होने से यह पित्त को प्रकुपित नहीं करता। अम्लरस तथा मधुरविपाकी होते हुए भी वह कफ का कोपक नहीं है। किन्तु, कषाय, उष्ण, विकाशी और रुक्ष होने से कफ में भी हितकर है। मधुर, अम्ल और सन्न होने के कारण वातघ्न है। वह सद्यस्क (ताजा) हो तो अविदाही है। इसी कारण तक्र का विभिन्न रूपों में प्रयोग ग्रहणी, जठर (उदर) और अर्श रोगों में अदूषित एवं स्रोतःशोधनादि कारणों से विहित है।

लिए कहे गये हैं। एतदर्थ कृष्ण सर्प, बराह, उष्ट्र, जलका (चमगीदड़), बिल्ली इनकी वसा विहित है। ऐसे अंकुरों के लिये धूपन भी हितकर है। इसमें नरकेश, सर्पनिर्मोक (साँप की कैंचुली), बिल्ली का चर्म, अर्कमूल और समीपत्र के धूम का विधान है।

वर्तमान में कई वैद्य वेदनायुक्त (वादी) अशों में धूपन के लिये वन्दाल (देवदाली, घघरवेल) का पञ्चाङ्ग या अहि फेन के जलमें भिगोकर शुष्क किये हुलहुल का चूर्ण प्रयुक्त करते हैं। राल (सर्जरस) की धूनी (धूपन) भी प्रचलित है।

प्रलेपन

विभिन्न प्रलेपों से शुष्क अशों का शांतन (झड़ जाना) होता है। इस कार्य के लिए—(१) स्नुही-क्षीर-भावित हरिद्रा चूर्ण, (२) गाय के मूत्र तथा पित्त से भावित कुक्कुट-पुरीष, गुआ, हरिद्रा और पिप्पली चूर्ण, (३) गौ के मूत्र या पित्त से भावित दन्ती, चित्रक, छवर्चिका और लाङ्गली का कल्क, (४) स्नुही या अर्क के क्षीर से पिष्ट पिप्पली, सैन्धव, कुष्ठ और शिरीष के फल का कल्क, (५) कासीसादि तैल प्रधान द्रव्य कासीस, हरताल, सैन्धव, कनेर, दन्ती, चित्रक, अर्कक्षीर, स्नुही क्षीर, (६) दन्ती, श्यामा, अमृतासंग (मुर्दासंग), कपोत-विष्टा, गुड़, (७) गजास्थि, निम्ब, भल्लातक, (८) ऊँट की वसा-सहित कोष्ण (कुनकुना किञ्चित् उष्ण) हरताल इत्यादि का उपदेश शास्त्र में है।

अभ्यङ्गादि प्रलेप-पर्यन्त उपचारों से स्तम्भ, श्वयथु, कण्ठ और वेदना शान्त होती है तथा अश प्रस्रावी हो जाते हैं। दुष्ट रुधिर के निकल जाने से रोगी को शान्ति होती है।

हाल में कई वैद्य शूल युक्त अंकुरों में भाँग के पत्तोंकी धूनी देते हैं। तथा मस्ते झाड़ने के लिये अपामार्ग क्षार का लेप कराते हैं।

रक्तावसेचन

रक्त दुष्ट हो तो शीत या उष्ण, स्निग्ध या रुक्ष उपायों से व्याधि शान्त नहीं होता। (अर्थात्—वात, कफ, पित्त की दुष्टि उसमें कारण नहीं होती)। उस समय जलौका शस्त्र और सूची द्वारा रक्तावसेचन (रक्तमोक्षण) करावे। रक्तावसेचन न कराने से किम्वा प्रवृत्त रक्त को स्तम्भक औषधों अथवा शस्त्रकर्म द्वारा रोक देने से जलोदर होने की सम्भावना रहती है^१। अतः अर्श में संचित दुष्ट रक्त का स्राव होना उत्तम है। स्राव न होता हो तो आवश्यक होने पर उक्त उपचारों से अंकुरों को मृदु करके, रक्तावसेचन करावे।

स्वयं प्रवृत्त अथवा प्रवर्तित रक्त जीवरक्त न हो तब तक उसे रोकना न चाहिये।

पुरीष गाढ़ होने से अर्श के अंकुर शान्त नहीं होते। जिन पुरुषों में यह कष्ट हो उन्हें शुष्ठी-सहित फाणित (राब) खिला कर ऊपर से स्नेह, लवण और शकु-युक्त प्रसक्ता (मदिरा के ऊपर का स्वच्छ भाग) का सेवन करावे। अथवा (२) गुड़, शुण्ठी, पाठा और फलाम्ल; (३) गुड़, घृत और यवक्षार, (४) तक्र और लवण सहित यवानी, शुण्ठी, पाठा, दाडिम का रस और गुड़, (५) धमासा, बिल्व, यवानी और शुण्ठी इनमें किसी एक के साथ पाठा, (६) यमक (चारों स्नेहों में कोई दो), भृष्ट (तले) करअपत्र सत्तु-सहित प्राग्भक्त (भोजन के पूर्व), (७) प्राग्भक्त सलवण मदिरा, (८) प्राग्भक्त गुड़-शुण्ठी सहित सोधु और सौवीरक (काजी) दें।

१—अर्शोभ्यो जाठरं दुःखम्—च० नि० ८१९८—
अर्थात् अर्श रोग से उदर रोग (अ-जल अथवा स-जल) होता है। प्रत्यक्षानुसार इस स्थिति में सजल उदर की सम्प्राप्ति यह है कि : यकृत का मार्ग अवरोध होने से उदर की सिराओं के फूलने से अर्श होता है। रक्त यदि निकल जाय तो सिराओं में हुआ रक्त का संचय लुप्त होता है। परन्तु रक्त न निकले तो उदरगत सिराओं में संचित रक्त के जलभाग का वपावहन (Peritonaeum—पेरीटोनियम) में स्रवण होकर उसमें जलका संचय—जलोदर होता है।

इन प्रयोगों के सेवन से वात और पुरीष का अनुलोमन होकर गुदस्थ दोष शान्त होता है और अर्श में लाभ होता है। ये द्रव्य इस दृष्टि से यद्यपि उत्तम हैं, पर इनका व्यवहार इन दिनों नहीं होता। मधुयष्ट्यादिवृण आदि विरेचन द्रव्यों का उपयोग किया जाता है।

प्रधानत्वेन वात तथा मल के अनुलोमन के लिये विभिन्न सिद्ध घृतों का संहिताओंमें विधान है। इनमें ऊपर के ही दीपन, पाचन, वातहर द्रव्य प्रधान हैं। छनिषण्णक (चांगेरी) घृत विशेष प्रसिद्ध है। इसमें चतुष्पत्र चांगेरी (छनिषण्णक) के अतिरिक्त पिप्पली, पिप्पली मूल आदि दीपन-पाचन तथा मोचरस, कुटज, पाठा, समझा (लज्जालु) आदि रक्तस्तम्भक पड़ते हैं।

इन शुष्कांशों में वात तथा कफ की प्रधानता और मल का विबन्ध होता है। अतः इन दोषों को दृष्टि में रख कर उक्त चिकित्सा करें। शास्त्रीय योगों में अभयारिष्ट (प्रधान द्रव्य हरीतकी, आमला, कपित्थ, इन्द्र-वारुणी, एलुआ), दन्त्यरिष्ट (दन्ती, चित्रक, त्रिफला) और फलारिष्ट (हरीतकी, आमला, इन्द्रवारुणी, चित्रक) प्रसिद्ध हैं।

शुष्कांशों में पथ्य

पोई (उपोदिका), तण्डुलीयक (चौलाई), जीवन्ती, वास्तूक (बधुआ), सूर्यावर्त (सूर्यमुखी), लोणी, यवशाक, मकोय, गृध्नक (शलगम) आदि का शाक, दही और दाडिम से मिश्र तथा यमक से भर्जित कर (छौंक) तथा उसमें धान्यक (धनिया) और नागर (शुण्ठी) डाल कर दें। मांस भोजियों को गोधा (गोह) आदिका मांस शाकवत् दें। सूरण (जिमीकंद) अर्श के रोगियों के लिए विशेष हितकर है। उसका भिन्न-भिन्न प्रकार से उपयोग करें। सूरण वटक शार्ङ्गधर का योग है, यह शुष्कांश में—विशेषतः जब अग्निमन्द हो तो लाभ दायी है। इस से अग्नि प्रदीप्त होकर गुण होता है। सूरण यदि काटने वाला हो तो अधिक हितकारी होता है। इस का चूर्ण भी अन्य द्रव्यों के साथ औषध रूप में दिया जाता है।

धान्यों में रक्त शालि का भात दें।

मलोत्सर्ग के पश्चात् शुद्धि उष्ण जल से किवा पत्र भङ्गोदक से करें।

क्रमशः

आजकल अर्श को काटने के अतिरिक्त उनकी इन्जेक्शन चिकित्सा भी की जाती है, जिसे दाह ही जानना चाहिए। यह दाह विशेषतः मध्य वा अन्तर्वलिस्थित (Internal piles) में हितकर सिद्ध हुई है। पूर्व विरेचन देकर वा बस्ति द्वारा रोगी के कोष्ठ का शोधन किया जाता है। पश्चात् गुदा को रसकपूर (Mercery perchloride) के [१००० में १] घोल को लगा कर स्वच्छ किया जाता है। तदनन्तर अर्शयन्त्र की सहायता से अर्शों को देख कर प्रत्येककी जड़ में १० या २०% कार्बोलिक एसिड के समभाग ग्लीसरीन और जल में बने घोल की लगभग ५ बूँद अन्तःप्रविष्ट (इन्जेक्ट) करते हैं। इसके पश्चात् श्लेष्म कला पर बैजलीन चुपड़ देते हैं, इसके स्थान पर घी भी चुपड़ा जा सकता है। यह क्रिया दो-तीन बार करने से आशातीत लाभ होता है। इस कर्म के पश्चात् रोगी को २४ घण्टे तक आराम करने का आदेश दिया जाता है।

वैद्यक समन्वय की रूपरेखा

मूल लेखक—वैद्य केशव लक्ष्मण दफ्तरी

अनुवादक—प्रो० गोपाल गुप्त

संप्रति विश्व में विशेषतः भारतवर्ष में अनेक वैद्यक-पद्धतियों का प्रचलन है। परन्तु जिस प्रकार गणितशास्त्र समस्त संसार में 'एकमेवाद्वितीयम्'—एक ही है एक से अधिक नहीं है—उसी प्रकार वैद्यकशास्त्र भी एक ही होना चाहिये। और रोगियों की दृष्टि से भी वैद्यकपद्धतियों की अनेकता रंचमात्र भी हितावह नहीं है। क्योंकि उनमें से किस पद्धति का अवलंबन किया जाय इस सम्बन्ध में उसका मन द्विधावस्था में पड़ जाता है। गणितशास्त्र के समान ही वैद्यकशास्त्र भी यदि एक ही हो तो रोगियों के मन में यह द्विधावस्था उत्पन्न हो ही नहीं सकती। तात्पर्य यह कि एक ही वैद्यक शास्त्र के निर्माण की नितान्त आवश्यकता है।

इस निर्माण की एक रीति यह है कि प्रचलित वैद्यक-पद्धतियों में यद्यपि बाह्यतः भिन्नत्व या विरोध प्रतीत होता है परन्तु अन्ततोगत्वा उनमें समन्वय अर्थात् ऐकमत्य या संगति विद्यमान है यह दिखाना है। ऐसे समन्वय की सम्भाव्यता दिखाते समय ग्रंथों के वचनों का प्रत्यक्ष और अनुमान से मिलता-जुलता अर्थ यदि सरलता से प्रकट होता हो तो वही ग्रहण किया जाय। इसी रीति का अवलम्बन करके महर्षि व्यास ने विभिन्न उपनिषदों का समन्वय दिखा कर वेदशास्त्र अर्थात् ब्रह्मज्ञान या आत्मज्ञान का निर्माण किया यह उनके ही निम्न वचन से स्पष्ट हो जाता है।—“शास्त्रयोनित्वात्तु समन्वयात्” अर्थात् “समन्वय यही शास्त्र की योनि है अतः समन्वय से ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाय।” हम भी उक्त रीति से समन्वय दिखा कर एक ही वैद्यकशास्त्र का निर्माण कर सकेंगे और यह समन्वय प्रत्यक्ष, अनुभव एवं अनुमान से अंशतः मिलता-जुलता न दिखाई देने पर उसका सुधार कर

उसे व्यवहार में ला सकेंगे। अतः प्रस्तुत लेख में आयुर्वेद, एलोपैथी, होमियोपैथी तथा बायकेमिस्ट्री इन चार प्रमुख वैद्यकपद्धतियों का समन्वय दिखा कर उसके आधार पर निर्माण होने वाले शास्त्र की रूपरेखा के दिग्दर्शन का प्रयास किया गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान का अविरोधी समन्वय ही यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रस्तुत लेख का प्रारंभ सर्वप्रथम समन्वय के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों के परिहार की चर्चा के साथ किया जाता है। आयुर्वेद, एलोपैथी तथा होमियोपैथी का क्रमशः आधार है त्रिदोष सिद्धांत, सूक्ष्मकीटक सिद्धांत और सम-चिकित्सा सिद्धांत। आयुर्वेद और एलोपैथी में व्याधि विपरीत चिकित्सा की जाती है। किन्तु होमियोपैथी में व्याधिसमान चिकित्सा व्यवहृत होती है। अतः इनका पारस्परिक समन्वय किस आधार पर किया जाय? व्याधि समान चिकित्सा ही रोग निर्मूलन करती है यह किस आधार पर माना जाय? इन्हीं तीन कठिनाइयों पर यहाँ विचार किया जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उक्त कठिनाइयों के परिहार का मार्ग परिलक्षित हो जाता है। आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धांत व्याधियों के वर्गीकरण का सिद्धांत है एलोपैथी का सूक्ष्मकीटक सिद्धांत उनके (रोगों के) कारणों का सिद्धांत है, तथा होमियोपैथी का समचिकित्सा सिद्धांत यह चिकित्सा सिद्धांत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त सिद्धांतों में विषय विभिन्नता के कारण विरोध संभवनीय ही नहीं है। फलतः उनके समन्वय का प्रश्न उद्भूत नहीं होता। इस बात को समझ लेने से हमारी पहली कठिनाई

हल हो जाती है। त्रिदोष सिद्धांत को वर्गीकरण का सिद्धांत मानना आक्षेपार्ह न होना चाहिये।

किसी के मत से त्रिदोष ये वस्तुएँ हैं और किसी के मत से शक्तियाँ। किन्तु ये वस्तुएँ हैं या शक्तियाँ? इस की विवेचना यहाँ अप्रासंगिक है। क्योंकि ये चाहे वस्तुएँ हो या शक्तियाँ; इनके तीन प्रकार पर्याय से वर्ग ही हैं। यही वास्तविक त्रिदोषसिद्धांत है जो वर्गीकरण सिद्धांत के नाम से अभिहित होना चाहिये। व्याधिविपरीत और व्याधिसमान चिकित्साओं के प्रसंग भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् रोग की कुछ अवस्थाओं में व्याधि विपरीत और कुछ अन्य अवस्थाओं में व्याधिसमान चिकित्सा करनी पड़ती है।

यदि यह बात हमारी समझ में आ जाय तो हमारी दूसरी कठिनाई दूर हो जाती है। और शारीरिक प्रतिक्रिया को समझ लेने से तीसरी कठिनाई भी दूर हो जाती है।

आयुर्वेद से प्रमाण

उपर्युक्त कठिनाइयों का निराकरण आयुर्वेदान्तर्गत अनेकों उद्धरणों के आधार पर भी सरलता से हो सकता है। आयुर्वेद में त्रिदोषसिद्धांत का उल्लेख पाया जाता है। तथा तीन प्रकार की—अर्थात् हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी या व्याधिसमान-चिकित्साओं का वर्णन भी है। “औषधं पुनरपि त्रिविधं हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतं उभयार्थकारि च (वृद्ध वाग्भट सूत्रस्थान अ० १२) “यथा स्वं सर्वविकारणामपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छति कुशलास्तदर्थकारि वा।” (चरक संहिता विमानस्थान अध्याय २) “एवमन्यानपि व्याधीन् स्वनिदानविपर्ययात् चिकित्सेदनुबन्धेत् सति हेतुविपर्ययं त्यक्त्वा यथायथं वैद्यो युज्याद् व्याधिविपर्ययं तदर्थकारि वा” (वाग्भट सूत्रस्थान अ० ८)।

उपर्युक्त उद्धरणों में प्रकट किये गये विचार और त्रिदोषसिद्धांत इन में जो संगति प्रस्थापित हो सकती है वही संगति आयुर्वेद का त्रिदोषसिद्धांत और होमियोपैथी की समचिकित्सा इन दोनों में भी प्रदर्शित की जा सकती है;

जिसका लेख के प्रारंभ में ही निर्देश किया गया है। अर्थात् वहाँ हमने यह प्रतिपादित किया है कि त्रिदोषसिद्धांत पर व्याधियों के वर्गीकरण का सिद्धांत है और चिकित्सासिद्धांत का विषय उससे सर्वथा भिन्न है। आयुर्वेद में भी व्याधि विपरीत और व्याधिसमान चिकित्साओं का वर्णन आया है। उनमें जो संगति है वही आयुर्वेदीय या अन्यचिकित्सान्तर्गत व्याधिविपरीत चिकित्साओं तथा होमियोपैथी या अन्य चिकित्सागत समचिकित्साओं की संगति हो सकती है। और वही संगति उपर्युक्त उद्धरणों के “यथास्वं” तथा “यथायथं” पदों से सूचित होती है। उन पदों से यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि जिस अवसर पर जो चिकित्सा उपादेय है; वही उस अवसर पर प्रयोजनीय है। शरीर की गई क्रिया पर शरीर प्रतिक्रिया करता है यह आयुर्वेद के निम्न वचन ही बताते हैं।

अजीर्ण इव शूलघ्नं सामे तीव्र रुजिज्वरे।
न पिबेदौषधं तद्धि भूय एवाममुद्वहेत् ॥१८॥
औषधं योज्यमामोल्बणे न तु ॥४२॥
तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः।
दोषेऽथवातिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणी ॥४३॥
अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥४४॥

—वाग्भट चि. स्था. अ.

भैषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥

—सुश्रुत उत्तर तंत्र अ ३९ श्लोक १२१-१२२

अर्थ:—अजीर्ण पर शूलघ्न तथा तीव्र वेदनामय आम ज्वर पर ज्वरघ्न अर्थात् ज्वरमान कम करनेवाली औषधि देनी चाहिये। क्योंकि वह प्रारम्भ में ज्वर की तीव्रता कम करके पश्चात् (भूयः) आम को उत्पन्न करती आम के कारण जिस ज्वर की तीव्रता बढ़ी हुई है उस औषध न दी जाय। तीव्र ज्वर से युक्त दोष की प्रकोप के समय या तन्द्रा एवं जड़ता-उत्पादक दोष के प्रकोप समय औषध का पाचन न होकर वह पहले ज्वर को करती है अनन्तर (भूयः) ज्वर को बढ़ावाती है।

(वाग्भट)। आम से उत्पन्न दोष में औषध देने से वह पहले रोग को कम करने के बाद में ज्वर वृद्धि करती है।

(सुश्रुत)

उपर्युक्त उद्धरणों में “भूयः” का अर्थ “पुनः” ग्रहण किया गया है। उसका “बहुत जोर से” या “ज्यादा” अर्थ करने पर भी ज्वरघ्न औषध से आमज्वर वृद्धिगत होता है अर्थात् औषध प्रथमतः ज्वर को बढ़ाती है पश्चात् कम करती है, ऐसा हम अनुमान कर सकते हैं। क्योंकि उस औषधि को ज्वरघ्न ऐसा कहा गया है। हमारे इस अनुमान का समर्थन चरकसंहिता के ज्वर चिकित्सागत श्लोकों (३१६ से ३२३) से भी हो जाता है। उन में यह स्पष्ट कहा गया है कि ज्वर पर की गई सत्क्रिया से कभी-कभी ज्वर अत्यधिक बढ़ता है किन्तु बाद में कम होता है। अतः हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि पहले ज्वर कम करने वाली औषध से बाद में ज्वर बढ़ता है या पहिले ज्वर बढ़ाने वाली औषध से बाद में ज्वर घटता है। तात्पर्य ज्वर का पहले कम होना या बढ़ना ही औषध की क्रिया है। तदनन्तर उसका बढ़ना या कम होना यह उस क्रिया पर शरीर की प्रतिक्रिया है। उक्त विवेचन व्याधि समान चिकित्सा की प्रामाणिकता को सिद्ध करता है। क्योंकि औषध से रोग को किंचित बढ़ाकर जोरदार शारीरिक प्रतिक्रिया द्वारा उसे समूल नष्ट होने देना ही व्याधि-समान चिकित्सा है।

आयुर्वेद में जो रोगों के अनेक कारण दिये गये हैं उनमें एल्युपैथी के सूक्ष्म कीटों का समावेश असंदिग्ध रूप से किया जा सकता है। सूक्ष्मकीटक-जनित रोगों की एल्युपैथी-चिकित्सा में व्याधि समान चिकित्सा होने के कारण सूक्ष्मकीटक सिद्धान्त का आयुर्वेद और होमियोपैथी से समन्वय है ही।

आक्षेपों का निराकरण

त्रिदोष यह रोगों के वर्गीकरण का सिद्धान्त है। हमारे इस कथन पर आयुर्वेदीय पंडित आक्षेप करेंगे और कहेंगे

कि त्रिदोष सिद्धान्त में त्रिदोष के एकमात्र लक्षण ही नहीं हैं; उनकी चिकित्सा भी बताई गयी है। इनके इस आक्षेप पर हमारा यह प्रश्न है कि त्रिदोष सिद्धान्त में कथित दोष चिकित्सा तथा वृद्ध वाग्भट, चरक, या अष्टांग-हृदयगत हेतु-विपरीत, व्याधि-विपरीत, और हेतुव्याधि-विपरीतार्थकारी चिकित्साओं में परस्पर मेल है या नहीं? यदि है तो हमारा सिद्धान्त बाधित नहीं होता। यदि मेल नहीं है तो आयुर्वेद शास्त्र का शास्त्रत्व ही नष्ट हो जाता है। और उस शास्त्रीयत्व को पुनः प्राप्त करने के लिये एक तो उस त्रिदोष सिद्धान्तगत चिकित्सा का त्याग करना पड़ेगा या त्रिविध चिकित्सा सिद्धान्त का त्याग करना पड़ेगा। किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव यह बतलाता है कि त्रिविध चिकित्सा के सिद्धान्त का अस्वीकार (त्याग) करना सर्वथा अन्याय है। अतः हमारी राय में आयुर्वेदीय त्रिदोष चिकित्सा का त्रिविध चिकित्सा के सिद्धान्त की दृष्टि से संशोधन करना नितान्त आवश्यक है। और यही ‘आरोग्य मन्दिर’ (अक्टूबर १९४८) के वैद्य हिल्लेकरजी शास्त्री के वचनानुसार समीचीन भी प्रतीत होता है। उन्होंने कहा है कि “अनेक विज्ञानगत समान स्वरूप के विशेष विभागों के सम्बन्ध में प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है किन्तु जो विभाग भिन्न होंगे उनका प्राचीन-नवीन या स्वकीय-परकीय ऐसा विभेद न कर वास्तविकता की भूमि पर समावेश किया जाय।”

त्रिदोषरूपी वर्गीकरण में भी सीरुलर की द्वादशक्षार-चिकित्सा से प्राप्त अनुभव के आधार पर सधार करना परम आवश्यक है। त्रिदोषों के लक्षणों के साथ द्वादश-क्षारों के लक्षणों से तुलना करने पर विशेष चमत्कार दिखाई देता है। Kali Phos और Mag Phos के लक्षण वातदोष के लक्षणों से मेल खाते हैं। Ferum Phos, Natrum Sulph Kali sulph, Calcar sulph, और Natrum Phos के लक्षण पित्तदोष के लक्षणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। Kali Mur, Calcareo phos, Calcareo fluor, और silicea के लक्षण कफदोष के लक्षणों से मिलते-जुलते हैं।

तथा Nat Mur के लक्षण वात पित्त कफ इन तीनों दोषों के लक्षणों में बिखरे हुए पाये जाते हैं।

इसका अर्थ यही होता है कि यूनानी की तरह प्रमुख चार दोष और वात, पित्त, कफ के उपविभाग करके ग्यारह उपदोष माने जायँ। Morbid physiology और Morbid Anatomy की दृष्टि से भी एल्लोपैथी एवं अन्य समस्त चिकित्सा-पद्धतियों को उक्त वर्गीकरण मान्य कर लेना चाहिये। उपवर्गों में एकाध न्यूनाधिक करना ही संशोधन का विषय रहेगा। (आगे दिया हुआ रोगवर्गीकरण कोष्टक देखें)।

सारांश चिकित्सा-पद्धतियों के समन्वय की रूपरेखा निम्नप्रकार प्रस्तुत की जा सकती है।

रोगों के कारण

प्रत्येक रोग के अन्तस्थ और बाह्य कारण होते हैं। इन दोनों के संयोग के बिना रोगोत्पत्ति नहीं होती।

अन्तस्थ कारणः—शरीर में विद्यमान तथा आहार-विहारादि से कम ज्यादा हुई या उत्पन्न हुई रोगोपरक अन्तस्थ प्रवृत्ति।

बाह्य कारणः—अहितकर या न्यूनाधिक आहार विहार, गंदी हवा, गंदा पानी, ठंडी, गरमी, मनः क्षोभ, रोगियों का संसर्ग, व्याधिजनक विष का संपर्क या सूक्ष्म कीटक ; इन से बचकर रहना ही पथ्य कहा जाता है।

रोगों की चिकित्सा

रोगों की चिकित्सा के तीन प्रकार हैं। (१) रोगों के कारणों से दूर रहना ; इसी को पथ्य कहते हैं। समस्त रोगों की सभी अवस्थाओं में यह चिकित्सा अवश्यमेव करनी चाहिये। वृद्धवाग्भट सूत्रस्थान अध्याय १२ में “निदानत्याग” पद से यही अभिप्रेत है। आयुर्वेद में जिसे हेतुविपरीत चिकित्सा कहा गया है वह स्वयं व्याधिसमान या व्याधि-विपरीत या व्याधिविषम व्याधि उत्पन्न करने वाली होने के कारण उस का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

उदाहरणार्थ, यदि ठंडा पानी पीने से खाँसी आती है तो शीत न उष्ण जल पीना ही ‘निदानत्याग’ चिकित्सा है। और गरम पानी पीना यह हेतुविपरीत चिकित्सा कहा जायेगी। यह स्वयं कोई भी रोग उत्पन्न करने वाली होने से व्याधिविपरीत, व्याधिसमान या पश्चात् वर्णित विषम चिकित्सा ही है। अतः उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है।

(२) व्याधिविपरीत चिकित्साः—मलबद्धता पर बाल-हरीतकी जैसी दस्तावर औषधि देना तथा ज्वर पर वर्फ का बाह्योपचार करना। यह वस्तुतः रोगहारक चिकित्सा नहीं है। क्योंकि इस से कम हुआ रोग औषधोपचार के बंद करते ही पूर्ववत् या तीव्र रूप में भी पुनः अभिव्यक्त होता है। यह चिकित्सा रोग हारक न होने पर भी रोग के अत्यंत प्रकोप के समय अर्थात् रोग के प्राणघातक होने की संभावना में सौम्य रूप से की जानी चाहिये। क्योंकि उस समय (अनंतर वर्णित) समचिकित्सा रोग को बढ़ा कर घातकता में परिणत होगी, अतः वह नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में सौम्य व्याधिविपरीत चिकित्सा के द्वारा रोग कुछ कम कर के उस रोग की कम होने की अवस्था में सचमुच रोगहारक समचिकित्सा ही करनी चाहिये। आयुर्वेद में जो अलसकाजी की चिकित्सा बताई गयी है वह इसी तत्त्व के अनुसार वर्णित है। हैनीमैन ने भी इस चिकित्सा का Organism पैरा ६७ के नोट में वर्णन किया है।

(३) व्याधिविपरीतार्थकारी या समचिकित्साः—उदाहरणार्थ मलबद्धता पर मलबद्धताकारक अफीम या दस्तपर दस्तावर बालहरीतकी—यह चिकित्सा सौम्य रूप से प्रयुक्त करने पर सचमुच रोग को हर लेती है। रोग में विद्यमान सभी रोग लक्षणों को नीरोगी मनुष्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य जिस औषधि में होगी औषधि यथार्थ रोगहारक हो सकती है। व्याधिविपरीत चिकित्सा के पूर्वोक्त अवसर के अतिरिक्त अन्यत्र समचिकित्सा इसी व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा का ही अनुपात करना चाहिये।

असत् या विषम चिकित्सा:—सिर दर्द, खांसी या खुजली पर रेचक औषधि देना यह उक्त चिकित्सा का एक ज्वलंत उदाहरण है। असच्चिकित्सा का निर्देश आयुर्वेद के निम्न उद्धरण में पाया जाता है। “प्रयोगः शमयेत् व्याधिं योन्यमन्यमुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥” अर्थात् जो रोग को अच्छा करके दूसरे को उत्पन्न करती है वह असत् चिकित्सा है। किंतु जो एक रोग अच्छा कर के दूसरे को उत्पन्न नहीं करती वही असली या सत् चिकित्सा है। समचिकित्सा की औषधियाँ रोगी के ही रोग को उत्पन्न करने वाली होने के कारण दूसरे रोग का सृजन कर ही नहीं सकती अतः यही समचिकित्सा कही जा सकती है। समचिकित्सा की औषधियों से भिन्न अर्थात् रोगी के रोग से भिन्न रोग उत्पन्न करने वाली औषधियाँ अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करते हुए मूल रोग का शमन करती हैं ऐसा उक्त वचन का अभिप्राय है। अतः यह रोग शमन यथार्थ नहीं आभास मात्रा ही है ऐसा मानना होगा। अनुभव भी उस रोग शमन की निस्सारता को सुस्पष्ट कर देता है। क्यों कि ऐसी औषधि से उत्पन्न रोग की समचिकित्सा से या शरीर के ही सामर्थ्य से नष्ट या कम होते ही मूल रोग प्रगट होता है। सभी का यह अनुभव है कि कोई भी रोग रसायन के सेवन से तुरन्त अच्छा हो जाता है। परन्तु उसका प्रभाव घटते ही वही मूल रोग पूर्ववत् प्रकट हो जाता है। ऐसी असत् चिकित्सा से वैद्यों एवं मरीजों को सावधान रहना चाहिये। यही विषम चिकित्सा कहलाती है क्योंकि यह रोगी के रोग से भिन्न अर्थात् विषम रोग उत्पन्न करती है।

विषम चिकित्सा यद्यपि अस्वीकार्य है तथापि उस के कुछ अपवाद भी हैं। विपरीत चिकित्सा के अवसर पर ही-मूल रोग के विपरीत रोग अस्तित्वहीन होने के कारण यदि वह नहीं की जा सकती तो उस समय—विषमचिकित्सा ही सौम्यरूप से प्रयुक्त की जाय, जैसे रक्तस्राव या खांसी से मरणासन्न अवस्था प्राप्त होने पर रोगी को रेचक भी देकर

मृत्यु से बचाया जाय। असाध्य रोगी की वेदना को कम करने के लिये भी जानवृत्त कर विषम चिकित्सा से काम लेने में कोई आपत्ति नहीं।

ऊपर वर्णित चिकित्सातत्त्वों के अनुसार रोग एवं उन की औषधियाँ भी अनंत हैं किंतु यह अनन्तता सौकर्य एवं निश्चितता में बाधक रूप है। अतः—

“नानारूपैरसंख्यैर्विकारैः कुपिता मलाः।

तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्वेत्वा कृतिसाधनम्॥

शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः समान्यमुच्यते।

दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्॥

आयुर्वेद के उक्त वचनों से लाभ उठाकर रोगों का वर्गीकरण एवं प्रत्येक वर्ग की एक-एक औषधि यदि हम निश्चित कर सकें तो चिकित्सा निश्चय ही सुकर एवं सुनिश्चित हो सकेगी और यह कार्य Morbid Physiology तथा Morbid Anatomy की सहायता से हो सकेगा। उदाहरणार्थ, दाह (Inflammation) याने उष्णता, लाली, जलन, और दुःख जो आयुर्वेद में पित्त के चिह्न कहे जाते हैं वे जिन-जिन रोगों की जड़ों में पाये जाते हैं; उन समस्त रोगों का एक वर्ग हो सकता है। और इस वर्ग के सभी रोगों के लिये एकमात्र लोहज्वालिक (Ferum phosphate) औषधि है। फुफ्फुस दाह (Lobot Pneumionia), फुफ्फुसावरणदाह या पार्श्वशूलज्वर (Dry Pleurisy), मंथरज्वर (Typhoid), नेत्रावरणदाह (Congunctivitis), कनीनिकामण्डल दाह (Iritis), पुच्छवती दाह (Appendicitis), संधिदाह (Rheumatism), फुडिया या फोड़े आदि अनंत रोग इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इस वर्ग के लिये जो औषधि है वह लौहज्वालिक शरीरस्थ ही निरिद्रिय घटक है। अतः रोगों के जितने वर्ग हो सकते हैं, उन सब की औषधियाँ भी शरीरांतर्गत आवश्यक निरिद्रिय घटक ही होंगी; ऐसी कल्पना मन में उदित होती है। इस कल्पना का सत्यासत्य निर्णय करने के लिये सिम्प्लर द्वारा निश्चित बारह शरीरघटकों से नीरोगी मनुष्य में कौन से रोग

और रोगचिह्न उत्पन्न होते हैं यह देखा जाय। वे ही रोग और रोगचिह्न उन शरीरघटकों से दुरस्त होंगे, ऐसा समचिकित्सा के तत्त्वानुसार निर्णीत होता है। उन रोगों और रोगचिह्नों का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि उनमें आज जाने हुए सभी रोग और रोगचिह्न तथा उनकी जड़ में स्थित सभी शरीर की विकृतियाँ (Morbid Physiology and Anatomy) वर्तमान हैं। अतः रोगों के वर्ग बारह और उनकी निश्चित औषधियाँ भी बारह सप्रमाण सिद्ध होती हैं। नूतनाविष्कृत कुछ रोगों या

रोगचिह्नों का उक्त वर्गों में समावेश न होने पर और भी वर्गों की संभावना की जा सकती है। किन्तु यह तो आज भी असंभव-सी प्रतीत होती है। अतएव चिकित्सा के सौकर्य एवं निश्चितता के लिये रोगों के बारह वर्ग तथा उनकी निश्चित बारह औषधियाँ मानना नितांत आवश्यक है। ऐसा करने से एलोपैथी (Morbid physiology and Anatomy) का, आयुर्वेदीय त्रिदोष सिद्धान्त और सिम्प्लर की पद्धति का अत्युत्तम समन्वय हो सकता है जिसका विवरण संक्षेप में निम्न कोष्ठक में दिया जाता है।

कोष्ठक

हमारे दिये हुए नाम	आयुर्वेद के दिये हुए नाम	Morbid Anatomy या Morbid Physiology	आयुर्वेदिक दोषचिह्न	औषधि
१ जल दोष	—	Catarrhal Inflammation. Over accumulation of fat. Tumours, Swollen glands.	नमकीन स्वाद (कफ), कंड़ (कफ), मुँह में पानी बहना (कफ), मेदारोग (कफ), शीतपित्त (कफ), मुँह से दुर्गंध (पित्त), त्वचा फटना (पित्त), दाँतों का ढीलापन (वात), होठों का फटना (वात), अतिनिद्रा (कफ) निद्राभाव (वात)।	Natrum Muraticum.
२ घातक वात	वात	Atrophy and gangrene. Fatty degeneration.	कृशता, कालापन, कसेला स्वाद (स्वानुभव से उक्तचिह्न हमें Kali Phos में दिखायी दिया है) भ्रम, भय, बलभ्रंश, निद्राभ्रंश आदि। ऊष्णतासे रोगों का कम होना, बृंहण से रोगों का कम होना।	Kali Phos.
३ उत्तेजक वात	वात	Spasms	स्तम्भ (tonic spasms) व्यास (clonic spasms) अरुणवर्ण (जीभपर), उष्णता से रोग कम होना।	Mag. Phos.
४ रंजक पित्त	पित्त	Inflammation	लाली, ऊष्णता, जलन, अम्लहृत्, रक्तस्राव, (शोणित क्लेद) ऊष्णता से रोग का बढ़ना।	Ferrum Phos.

हमारे दिये हुए नाम	आयुर्वेद के दिये हुए नाम	Morbid Anatomy या Morbid Physiology	आयुर्वेदिक दोषचिह्न	औषधि
५ पूय पित्त	पित्त	Suppuration (pus being not fetid and not sticky). Proud flesh.	पाकिता, मांसवलेद, (proud flesh) ऊष्णता, से रोगों का बढ़ना।	Calcar Sulph.
६ तिक्त पित्त	पित्त	Accumulation of water in substances produced by destructive metabolism.	कटुता, अम्लता, पीतता, हरापन, पीत या हरितस्राव, विषमज्वर, जीभपर केशर-सा या हरित स्तर वृंहण से रोग बढ़ना।	Natrum Sulph.
७ पीत पित्त	पित्त	Mucus of yellow or green colour.	पीत या हरित स्राव, ऊष्णता से रोग बढ़ना।	Kali Sulph.
८ अम्ल पित्त	पित्त	Non-elimination of lactic acid.	पीतता, अम्लता, जीभ पर स्वर्ण-सी पीली तह (स्तर)।	Natrum Phos.
९ श्वेत कफ	कफ	Swelling, Tumours, Swollen glands, Discharge of white mucus.	श्वेतता, सफेद सघन स्राव, कठिनता, सूजन, शीत से और वृंहण से रोग बढ़ना।	Kali Mur.
१० कठिन कफ	कफ	Loss of elasticity of elastic tissues, stony hard tumours of rough surfaces, Relaxation of elastic tissues (dilatations and displacements, Hardened glands.	पाषाणवत् खरफूस काठिन्य, श्लथ्यांगत्व (शिथिलता)।	Calcareae Fluoride
११ मधुर कफ	कफ	Water coloured thick discharge, tumours, swollen glands,	मधुररसचि, कंडु, काठिन्य, पानी के रंग का घना स्राव, शीतलता, अतिनिद्रा, शीत से और वृंहण से बढ़ना, क्वचित् जीभपर सफेद तह।	Calcareae Phos.
१२ सौम्य कफ	कफ	Mild inflammation fetid pus, hard tumours swollen glands.	कठिनता, मवाद का जल्दी न होना (अपक्ति), शीतसे और वृंहण से रोग का बढ़ना, खुजली, शीतता, अतिनिद्रा, सूजन, चिकटापन और दुर्गंध (मवाद का)।	Silicea

समानगुण धर्म की औषधियाँ और उपचार

जब रोगों के कुल बारह ही वर्ग और उनकी अचूक बारह ही औषधियाँ हैं, तब इनके अतिरिक्त अन्यान्य औषधियों से लोगों को कैसे भला लाभ होता दिखाई देता है। ऐसी शंका सहज पाठकों के मन में उत्पन्न हो सकती है। हम अपने पाठकों से कह देना चाहते हैं कि यह शंका सर्वथा निर्मूल है। लोग जिन अतिरिक्त औषधियों का गुणकारी होना अनुभव करते हैं वस्तुतः उन औषधियों में विद्यमान बारह क्षारों द्वारा ही रोगहरण होता है, जैसे—वच्छनाग (वत्सनाभ) से सब ज्वर अच्छे होते हैं, तो अच्छे होने की यह क्रिया असल में वच्छनाग में विद्यमान Ferrum Phosphate से संपन्न होती है। दूसरी बात रसायनशास्त्र की दृष्टि से जो पदार्थ एक ही वर्ग के अन्तर्गत आते हैं उनका रोगहारक धर्म भी प्रायः समान होता है। जैसे Phosphorus और Arsenic ये दोनों रसायन शास्त्र की दृष्टि से एक वर्गीय हैं और रोगहारक गुण भी लगभग समान है। अतः Kali Phos काम कई बार Arsenic से भी लिया जाता है। इस विशेषता को ध्यान में रखकर यदि हम बारह क्षारों के समानधर्मीय पदार्थों को निश्चित जान लें तो इससे कई लाभ हैं। उदाहरणार्थ—Ferrum Phos के स्थान पर हरी धनिया, धनिया, हल्दी, या जीरे का उपयोग कर सकेंगे। क्योंकि उनमें Ferrum Phosphate है। Calcare Phos के बदले जीरा भी काम में ला सकते हैं।

शस्त्रक्रिया

शस्त्रक्रिया की उपयोगिता एवं महत्ता का निर्णय कर लेना अच्छा होगा। शस्त्रक्रिया यह बहुधा व्याधि-विपरीत चिकित्सा है। कभी वह विषम चिकित्सा भी होती है। अतः वह व्याधि-विपरीत या विषम चिकित्सा के अवसर पर या रोगों के कारण नष्ट करने के लिये अनिवार्य हो तभी की जाय। उदाहरणार्थ—फुफ्फुसावरण प्रतिश्याय के (Wet-Pleurisy) संबंध में फुफ्फुसावरण में पानी का

अधिक संचय हो जाने के कारण मृत्यु की सम्भावना होने पर शस्त्रक्रिया द्वारा उसमें से थोड़ा पानी निकाल लेना, कण्ठजाल में (croup) कण्ठ की सूजन प्राणघातक होने पर श्वासनलिका को सख्तिद करना, शरीर में घँसे हुए या गड़े हुए काँटों को निकालना, या शरीर की यांत्रिक रचना (Mechanical structure) बिगड़ी हो तो उस समय शस्त्रक्रिया करना विधेय है। उदाहरणार्थ—अन्तर्गल के (Incarcerated Hernia) अवसर पर शस्त्रक्रिया ही उपा-देय है। मारक रक्तस्राव रोकने के लिये या अन्तस्थ पीव ऐसी जगह पहुँच जाय जिससे प्राणों का खतरा हो, तो शस्त्र-क्रिया तुरन्त करनी चाहिये। अन्य अवसरों पर अर्थात् औषधि-साध्य रोगों की चिकित्सा में शस्त्रक्रिया त्याज्य है। क्योंकि ऐसी अवस्था में वह व्याधि-विपरीत या व्याधि-विषम चिकित्सा होती है।

जीवनीय द्रव्य (Vitamins)

जीवनीय द्रव्यों का भी महत्त्व समझ लेना चाहिये। इनको भूल से लोग औषधियाँ ही मानते हैं। परन्तु ये वास्तव में पोषक द्रव्य हैं। क्योंकि इनका प्रतिदिन सेवन अनिवार्य है जब की औषधियाँ रोगहरणमात्र के लिये नियत काल तक ही ली जाती हैं। एवं पोषक द्रव्य और औषधियाँ ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। पोषक द्रव्यों का प्रभाव व्याधि-विपरीत चिकित्सा के समान होता है। अर्थात् उससे भूख, प्यास, थकान आदि चिह्नों का तुरन्त शमन हो जाता है। किन्तु अल्पसमयोपरांत ही वे चिन्ह प्रकट हो जाते हैं। फलतः पोषक द्रव्यों का बार-बार सेवन करना पड़ता है। इस प्रकार जीवनान्त तक यह क्रम चलता है। औषधियों के संबन्ध में ऐसी बात नहीं है। उनसे रोग-चिह्न तत्काल बढ़ते हैं परन्तु बाद में पूर्णतः मिट जाते हैं; जिससे पुनः औषधि सेवन की आवश्यकता नहीं रहती। जिन खाद्य पदार्थों में जीवनीय द्रव्य निसर्गतः पाये जाते हैं। उन्हीं का सेवन करते रहना चाहिये। किन्तु खाद्य से पृथक् किये हुए कृत्रिम जीवनीय द्रव्य, पोषक द्रव्य या औषधि की तरह गुणकारी होते हैं।

यह संदिग्ध है। अतः सन्देह निवारण के लिये उन कृत्रिम जीवनीय द्रव्यों का निरोगी मनुष्य पर प्रयोग किया जाय।

क्रिया प्रतिक्रियाओं के नियम

इस समन्वय को मान्य करने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि अधिकांश जनता चिकित्सा की रोगहारकता को संशयाकुल दृष्टि से देखती है। उसकी एकमात्र रोगवर्द्धन-शीलता देख कर ही वह उस पर से अपना विश्वास हटा लेती है। परन्तु जनता से हम यह अनुरोध करते हैं कि वह या तो उसका अनुभव करके देखे या उसकी उपपत्ति समझने की चेष्टा करे। उसकी उपपत्ति क्रिया-प्रतिक्रियाओं के नियम द्वारा बोधगम्य है। अतः उसकी यहाँ संक्षेप में चर्चा की जाती है।

शरीर यह नीर्जीव यन्त्र के समान नहीं है। यदि यंत्र का कोई हिस्सा टूट-फूट जाय, तो वह यन्त्र अपने आप क्षतिपूर्ति नहीं कर सकता जैसा कि शरीर में कोई विकृति या बिगाड़ होने पर शरीर स्वयं उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। यही शरीरस्थ जीव का जीवत्व है। इसको शरीर की प्रतिक्रिया कहते हैं। इसी प्रतिक्रिया से शरीर में उत्पन्न विकृतियाँ, व्याधियाँ बिना औषधि के अपापतः दुस्त हो जाती हैं। अतः इसी प्रतिक्रिया को उत्तेजित एवं प्रवर्धित करना औषधि का एकमात्र कार्य है जो प्रतिक्रिया के नियम के अनुसार ही किया जाना चाहिये। यह कार्य समचिकित्सा के द्वारा ही सम्भवनीय है यह बात प्रतिक्रिया के नियम से सिद्ध होती है। विस्तारभय से उन प्रतिक्रियाओं के नियमों की चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती। स्वलिखित 'Bodily Reaction and examination of systems of Therapeutics' Hind Kitab 261-263, Hornby Road Fort, Bombay द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ में उनकी सांगोपांग विवेचना एवं उस आधार पर Allopathy, Ayurveda, Homoeopathy, Biochemistry, Hydropathy, Chromopathy, Electropathy, और Psychopathy इन आठ चिकित्साओं का परिक्षण किया गया है। उसे पढ़ कर

पाठक समचिकित्सा की उपादेयता एवं ग्राह्यता पर कदापि सन्देह प्रकट न करेंगे, ऐसा हमारा अटल विश्वास है।

यथार्थ औषधिगुणादर्श

औषधि के गुणधर्म का निर्णय करने के लिये उसका रोगी पर प्रयोग किया जाय या निरोगी पर, इसका भी विचार किया जाना चाहिये। रोगी को दी हुई किसी भी औषधि से लाभ होने पर भी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस औषधि में रोगहारकता की क्षमता है ही। क्योंकि प्रस्तुत रोग नष्ट-सा दिखाई देने पर भी उसी समय रोगी में दूसरा रोग उत्पन्न हुआ होगा जिसकी ओर वैद्य का ध्यान न गया हो और सचमुच में उस रोगी में दूसरा रोग उत्पन्न हुआ होगा तो उसकी चिकित्सा वास्तविक न मान कर असत् ही मानी जायगी। अर्थात् औषधि-गुणादर्श में ऐसी संशयात्मकता न रहे इसलिये निरोगी मनुष्य पर ही प्रयोग करके यह देखा जाय कि वह औषधि कौन-कौन रोग और रोगचिह्न उत्पन्न करती है। वह जिन रोगों और रोगचिह्नों को निरोगी मनुष्य में उत्पन्न कर सकेगी उन्हीं का परिहार भी करती है ऐसा समचिकित्सा तत्त्व से प्रमाणित होता है। अतः वास्तविक औषधि-गुणादर्श में उस औषधि से उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाले रोग और रोगचिह्न अभिन्न ही होने चाहिये। यह अभिन्नत्व जिस औषधि-गुणादर्श में न होगा, वह औषधिगुणादर्श भ्रामक ही है। आयुर्वेद तथा एलोपैथी का औषधिगुणादर्श ऐसा ही भ्रमपूर्ण है। उनमें अमुक औषधि अमुक रोग या रोगचिह्न उत्पन्न करती है इतना ही विधान ग्राह्य है। जैसे लहसुन से 'वात' और 'कफ अच्छा होता है किन्तु पित्त भड़कता है' ऐसा कहा है, तो लहसुन से पित्त का भड़कना यह विधान ग्राह्य है तथा वात कफ का अच्छा होना यह विधान अग्राह्य है। क्योंकि यद्यपि उससे वात कफ शमित दिखाई देता है, परन्तु पित्त भड़काने के कारण वह विषम चिकित्सा है। Chromopathy, Hydropathy, Electropathy, तथा Psychopathy इनके औषधिगुणादर्श के सम्बन्ध में भी यही कहा जा

सकता है। Homoeopathy तथा सिम्प्लर की Biochemistry औषधियों का गुणादर्श यथोचित एवं ग्राह्य है।

औषधि तैयार करने की पद्धति

औषधिगुणादर्श एक-एक औषधि के प्रयोग से निश्चित किया जाता है। अतः रोगी को देने के लिये औषधि अलग-अलग बनाये जायँ। 'मर्दनं गुणवर्द्धनं' के अनुसार मर्दन कर के उन को बनाया जाय। मर्दन से औषधि की तीक्ष्णता बढ़ती है अतः समचिकित्सा के लिये आवश्यक है कि उतनी सौम्यता उस में निर्माण करने के हेतु मर्दन के अनुपात में शर्करा समान निरुपद्रवी एवं निरौषधिक द्रव्य का मिश्रण करते जायँ। ऐसा करने से औषधि का रोगहारक धर्म तो बढ़ता ही है किन्तु रोगकारक धर्म सौम्य रहता है।

औषधि देने की रीति

औषधि यद्यपि एक-एक करके तैयार की जाती है तथापि रोगी को पृथक्-पृथक् देने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि मर्दित औषधियों का परस्पर रासायनिक संयोग होता ही नहीं। (Hahnemann's chronic diseases section on medicine page 243) तथा वे रोगकारक (Morbi-fic agent) होने से Organon of medicine पैराग्राफ ३५ से ४२ तक में बताये अनुसार एक दूसरे के क्रियाव्यापार में बाधक न होकर एक साथ या क्रम से अपना असर दिखाती हैं।

साध्यासाध्य विचार

अबतक प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों में कोई भी चिकित्सा पद्धति सभी रोगियों को दुरस्त करने का दावा नहीं कर सकती। किंबहुना प्रत्येक चिकित्सा-पद्धति में कुछ रोगियों को असाध्य मानकर उन के असाध्यत्व के लक्षण बताये गये हैं। तात्त्विक दृष्टि से भी खूब विचार करने पर भी यही मानना पड़ता है कि कुछ रोगी असाध्य रहेंगे ही। उन के असाध्यत्व के लक्षण भी दिखाई देते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि समचिकित्सा पद्धति से ही रोग अच्छे

होते हैं किन्तु उस की औषधियाँ रोग को प्रथमतः बढ़ाती हैं बाद में रोग क्रमशः क्षीण होने लगता है और रोगी रोग से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। किन्तु यह बात लगभग ६५ प्रतिशत लोगों में पाई जाती है और शेष पाँच प्रतिशत रोगियों में नहीं। उन में समचिकित्सा से रोगवर्धन मात्र होता है और वह रोग इस के बाद क्षीण कभी नहीं होता या अल्पकाल के लिये अंशतः या पूर्णतः नष्ट-सा दिखाई देने पर भी शीघ्र ही विनाकारण के प्रकट होता है, या नष्ट होने पर भी रोगी कमजोरी से भर जाता है। ऐसे रोगियों में औषधि से हुई रोगवृद्धि तो औषधि की अमोघता को सिद्ध करती है किन्तु उन रोगियों का दुस्स्त न होना यह बात रोगी की प्रतिक्रिया शक्ति की क्षीणता को प्रकट करती है। ऐसे ही रोगी असाध्य हैं एवं उन की मृत्यु का कारण उचित औषधोपचार का अभाव न मानकर उन की प्रतिकार शक्ति की अक्षमता या कमजोरी माननी चाहिये।

तात्पर्य समचिकित्सा पद्धति की औषधियों से जिनका रोग बढ़ता है किन्तु बाद में घटता नहीं वे असाध्य श्रेणी में रखे जायेंगे।

उक्त समन्वय में संभाव्य कठिनाइयाँ

वैद्यक समन्वय की संभवनीय शास्त्रीय कठिनाइयों का लेख के आरंभ में ही विवेचन तथा उन का परिहार किया गया है। उस विवेचित एवं संभावित समन्वय के ग्रहण में उपस्थित अशास्त्रीय अर्थात् व्यावहारिक कठिनाइयों का निर्देश एवं उन का निराकरण करते हुए लेख समाप्त किया जाता है।

आयुर्वेद के प्रवर्तक महर्षि भूल नहीं कर सकते अर्थात् आयुर्वेद निर्दोष एवं परिपूर्ण है यह सर्व साधारण में स्वीकारणीय धारणा ही सर्व प्रथम सब से बड़ी कठिनाई है। वस्तुतः किसी भी विषय का ज्ञान जीव को ही प्राप्त होता है और जीव दोषार्ह एवं स्वलनशील है। आयुर्वेद प्रणेता जीव ही थे अतः स्वलनपात्र थे। ऐसी अवस्था में उन के द्वारा रचित आयुर्वेद को सर्वाङ्ग निर्दोष मानना युक्ति संगत है।

होगा। आयुर्वेद का जो विभाग प्रत्यक्ष से मेल नहीं खाता उसे अप्राप्त मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये 'प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चंद्राकौ यत्र साक्षिणौ' यह जैसा ज्योतिष शास्त्र का वचन है उसी प्रकार वैद्यक शास्त्र के संबंध में भी "प्रत्यक्षं वैद्यकं शास्त्रं रोगिणो यत्र साक्षिणः" कहना सुसंगत एवं समीचीन होगा।

दूसरी कठिनाई यह है कि प्रस्तुत समन्वय को मान्यता प्राप्त होते ही वैद्य एवं डाक्टरों को अपने व्यवसाय से हाथ धोकर होमियोपैथी के अध्ययन के पीछे पड़ना होगा। क्योंकि आज भी होमिओपैथिक ग्रंथ की सहायता के बिना समचिकित्सा असंभव है। रोगियों के प्रति हार्दिक कल्याण कामना से प्रेरित होकर ही निज व्यवसाय के परित्याग स्वरूप इस आपत्ति को मोल लिया जा सकता है।

तीसरी कठिनाई औषधिनिर्माणकर्ता एवं विक्रेताओं की है। उन्होंने लाखों की तादाद में धनव्यय कर औषधियाँ तैयार कर रखी हैं जिन का विसर्जन उपयोगिता के अभाव में निश्चय ही करना होगा। 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' का उद्घोष करने वाले परार्थपर

भारतीय वैद्य उक्त आपत्तियों पर मुसक्याते हुए प्रस्तुत समन्वय को शिरोधार्य करेंगे ऐसी दृढ़ाशा है।

उक्त समन्वय के समर्थक एवं विरोधियों से एक अन्तिम प्रार्थना है कि वे अपनी मान्यता-अमान्यता उद्धोषित करें जिस से सामान्य जनता उपयुक्त मार्गदर्शन पाकर अपार लाभान्वित हो सके। समन्वय के दोषान्वेषक दोषोद्घाटन तो अवश्य करेंगे किंतु साथ ही उन्हें समन्वय की रूपरेखा का कौन सा अंश स्वीकार्य है यह भी वे सुस्पष्ट करें, साथ ही सभी चिकित्सा पद्धतियों का वस्तुनिष्ठ समन्वय कैसे हो सकता है इस का भी स्वमतानुसार उल्लेख करने की कृपा करें। ऐसा करने से विवाद्य अंश सुनिश्चित होकर उन का निर्णय करने के हेतु रोगी या नीरोगी पर कौन से प्रयोग किये जायें यह निर्णीत हो सकेगा। आक्षेपक (या विरोधक) स्वचितित समन्वय की रूपरेखा में अन्यान्य कठिनाइयों का अनुभव कर हमारे द्वारा प्रस्तुत समन्वय मान्य करने को भी उद्यत हो सकेंगे। वैद्यक समन्वय गत वादविवाद इसी पद्धति से करने पर समन्वय अविलंब ही सिद्ध हो सकता है जो हम सब को अभिष्ट है।

आजकल हमारे देश में विभिन्न चिकित्सापद्धतियों के समन्वय का प्रश्न बहुत प्रचलित हो रहा है। मैं भी समन्वय चाहता हूँ, परन्तु उस तरह नहीं, जिस प्रकार कुछ लोगों ने इसे समझ रखा है। अभी एकदम समन्वय होना बड़ा कठिन है। एक धागे से कई पद्धतियों को बांध देना ही समन्वय नहीं होता। सत्य का अन्वेषण करने वाले शास्त्र में विकसित होने का बीज स्वभाव से ही विद्यमान रहता है। उस बीज का उपयुक्त क्षेत्र में बड़ी सावधानी से पोषण करने की आवश्यकता होती है। समय आने पर अनुकूल वातावरण में वही बीज एक विशाल वृक्ष बन कर लोक के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

इस लिए मैं एकदम समन्वय चाहने वाले महानुभावों से निवेदन करना चाहता हूँ, कि सर्वप्रथम आयुर्वेद को खुली हवा में साँस लेने दें। सरकार इसको राष्ट्रीय चिकित्सापद्धति स्वीकार करे; तब आयुर्वेद उन बातों का समन्वय करने को तैयार है जो उसके और जनता के लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

कविराज श्री हरिरंजन मजुमदार

ज्वर-४

कविराज सुखराम प्रसाद बी० एस० सी, आयुर्वेदाचार्य

कफज्वर

श्लेष्मवर्द्धक आहार-विहार के सेवन से प्रकृतिभूत कफ दूषित हो जाता है और बहुत बढ़ भी जाता है। इस बढ़े हुए कफ और आम रस से वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है; अतः वायु प्रकुपित हो जाता है। यह प्रकुपित वायु विकृत कफ को अपने स्थान से भ्रंश करता हुआ जब आमाशय में पहुँचता है तो पित्त प्रदुष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् वातपित्तानुग साम श्लेष्मा स्वेदवाहिनियों में रुकावट करके जो ज्वर उत्पन्न करता है उसे कफज्वर कहते हैं।

कफज्वर होने के पहले शरीर में थोड़ा जाड़ा मालूम होता है, शरीर सिहरता है और खाने की इच्छा नहीं होती है। ज्वर हो जाने पर शरीर में भारीपन हो जाता है; चलने-फिरने की इच्छा नहीं होती; मालूम पड़ता है जैसे भीगे वस्त्र से शरीर लिप्त है; रोंगटे खड़े हो जाते हैं; शरीर का तापमान अधिक न जा कर साधारणतः १००—१०१ डिग्री तक रहता है। जी मिचलना, निद्रा-वृद्धि, शिर में भारीपन, मुँह से लार गिरना, मुँह का स्वाद मीठा रहना, शरीर चिपचिपा रहना, सारे बदन का जकड़ जाना, जुकाम, कफयुक्त कास, अरुचि, त्वचा और नेत्र का सफेद होना, मल-मूत्र भी सफेद होना इत्यादि कफज्वर के सामान्य लक्षण हैं। आलस्य विशेष आ जाता है जिससे सदा पड़े रहने की इच्छा होती है।

चिकित्सा

कफज्वर की प्रारम्भिक अवस्था में उपवास अत्यन्त हितकर है। रसदोष और मल का परिपाक होने पर भूख उत्पन्न होगी। रोगी यदि दुर्बल हो, लंघन के योग्य नहीं

हो तो उसे लघु पथ्य दे सकते हैं। लाजमगड, बारली या मसूरयूप का पथ्य दे सकते हैं।

सामत्व दूर करने के लिये कफचिन्तामणि का प्रयोग सर्वथा हितकर है; तुलसी के पत्ते के रस या अदरक और आपामार्ग की जड़ के स्वरस के साथ प्रातः सायं एक-एक गोली देनी चाहिए; इस से शिर का भारीपन और दर्द, देह का भारीपन, पेट की स्तब्धता और अत्यन्त नींद आना शीघ्र दूर होता है।

यदि नाक से जुकाम खूब गिरता रहे और खूब छींक आती रहे तो नारदीय लक्ष्मीविलास के प्रयोग से अत्यन्त लाभ होता है; अनुपान तुलसी और आदी का रस और मधु या पान का रस और मधु। बहती हुई सरदी में नारदीय लक्ष्मीविलास रस का प्रयोग पान के साथ अधिकतर करता हूँ और अच्छी सफलता मिलती है। दिन रात में तीन-चार गोलियाँ देनी चाहिए।

कफज्वर में लाक्षणिक या औषद्धिक कास या श्वास रहने पर मधु के साथ अष्टाङ्गावलेह का प्रयोग पर उपकारी है। अष्टाङ्गावलेह कास के लिए एक उत्तम औषध है। खाँसी ज्वर के साथ हो बिना ज्वर के हो, दोनों अवस्थाओं में इस से अति शीघ्र लाभ होता है। गले के दोष से जो कास उत्पन्न होता है उस के लिए तो अष्टाङ्गावलेह यदि सर्वोत्कृष्ट औषध कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। बालकों के लिए बालचतुर्भद्रावलेह का प्रयोग प्रशस्त है। कोष्ठबद्धता रहे तब जेठीमधु का धूर्ण एक या दो रती मिल कर देना चाहिए।

कफज्वर, वातश्लेष्मज्वर और अन्य ज्वरों में भी कफ

कभी कर्णमूल में स्फीति और वेदना उपस्थित होती है। इस प्रकार की पीड़ा में कफकेतु का प्रयोग बड़ा ही लाभकारक है। कफकेतु की कुछ गोलीयों का चूर्ण कर और आदी के रस में मिला कर कर्णमूल में प्रलेप देना चाहिए। एक प्रलेप सूख जाने पर दूसरा प्रलेप दें। दिन में दो-एक गोली पान या आदी के रस या दोनों के मिश्रित रस के साथ खाने के लिए भी दे सकते हैं। कफज्वर में कभी-कभी कान में दर्द भी हो जाता है। आक के चार-पाँच पके हुए पीत वर्ण के पत्तों पर थोड़ा गोघृत लेप करके आग पर गरम करे और हाथ से मसल कर रस निकाल ले। इस रस को गरम कर कान में डालने से कर्णमूल दूर होता है।

कफज्वर में रससिन्दूर का प्रयोग भी हितकारक है। पीपल का चूर्ण ३ रत्ती और मधु के साथ एक रत्ती रससिन्दूर चाटने से प्रतिश्याय, अरुचि और कास शान्त होता है।

ज्वर की निरामावस्था में दिन में तीन बड़ी मृत्युञ्जय रस की और एक बड़ी कफचिन्तामणि को प्रयोग करने से ज्वर छूट जाता है।

इन औषधों से यदि ज्वर छूटने में विलम्ब हो तो पिप्पल्यादि गण का कषाय प्रयोग करना चाहिए।

वातश्लेष्मज्वर

वात और श्लेष्मा एक साथ प्रकुपित और पित्तानुग हो कर जो ज्वर उत्पन्न करते हैं उसे वातश्लेष्मज्वर कहते हैं। इस ज्वर में शरीर गीला जैसा रहना, सन्धियों में दर्द, निद्रा-वृद्धि, शरीर में भारीपन, मस्तक जकड़ा हो ऐसी वेदना, जुकाम, खाँसी, पसीना अधिक आना, व्याकुलता, मल में मैलापन और चिकनापन तथा ज्वर का मध्य वेग आदि लक्षण देखने में आते हैं; छाती, पीठ और पार्श्व में वेदना होती है जो कि कभी-कभी असह्य हो जाती है; किसी-किसी को श्लेष्मा का वमन होता है; खाने की इच्छा नहीं होती और भूख भी नहीं लगती।

वातश्लेष्मज्वर से आक्रान्त रोगी की परीक्षा सावधानी से करनी चाहिए। रोगी सबल है या निर्बल; इस ज्वर के

पहले उसे यदि कोई रोग था तो कौन सा था; ज्वर के कौन-कौन लक्षण और उपद्रव हैं; इन सब बातों पर अच्छी तरह विचार कर के चिकित्सा का भार उठाना चाहिए।

चिकित्सा

वातश्लेष्मज्वर की सामावस्था में यदि आहार की अनिच्छा हो, पेट भारी हो, मुख में बराबर पानी आवे, जिह्वा पर मल का सञ्चय हो, देह में दर्द हो, हमेशा आँख बन्द करके लेटे रहने की इच्छा हो और शिर में दर्द हो तो अवश्य लंघन की व्यवस्था करनी चाहिए। ऐसी अवस्था में परिपाक यन्त्र प्रायः निष्क्रिय हो जाता है; आहार पूर्ण रूप से जीर्ण नहीं होता। आहार के अभाव में अग्नि को दोष पचाने का अवसर मिलता है। इसलिये लंघन एक उत्तम पाचन है। किन्तु दोष के पच जाने पर अर्थात् सामत्व दूर हो जाने पर लंघन कराना अनुचित है। इस प्रकार के उपवास से अनिष्ट होने की सम्भावना है। दोष पच जाने के बाद भी उपवास चालू रखने पर अग्नि धातुओं के पचाने में लग जाती है और धातुपाक से शरीर का क्षय होता है; अतः ज्वराक्रान्त रोगी को सावधानी के साथ लंघन कराना चाहिए।

वातश्लेष्मज्वर में प्यास दूर करने के लिए तप्त जल पीना चाहिए। इस समय कोष्ठ आम कफ से भरा रहता है अतः रोगी जो जल पीता है उस का शोषण नहीं होता जिस के फलस्वरूप पुनः-पुनः पानी पीने पर भी प्यास की शान्ति नहीं होती। उष्ण जल में आम कफ घुल जाता है; जल का शोषण करनेवाले सब स्रोत खुल जाते हैं और जल का शोषण हो कर प्यास की शान्ति होती है। तप्त जल पीने का दूसरा लाभ यह है कि यह भीतर स्वेदन का भी काम करता है। और स्वेदन एक उत्तम पाचन है। अतः वातश्लेष्मज्वर में और आम कफ से पूर्ण कोष्ठ में सदा ही तप्त जल का पान लाभदायक है। जेठीमधु एक भर, सौँफ एक भर और पानी चार सेर एक साथ गरम करे; जब दो सेर रहे तब उतार कर छान ले। इस प्रकार औँटा हुआ

पानी पिपासाघ्न, तृप्तिदायक, श्लेष्म-निःसारक तथा वायु का अनुलामक है। पडंगपानीय का भी प्रयोग प्यास दूर करने के लिए कर सकते हैं।

वातश्लेष्म ज्वर की स्तब्ध सामावस्था में निम्नलिखित प्रयोग अच्छा लाभ करते हैं :—

१—आदी आग में सेका हुआ एक भर और तुलसी का पत्ता एक भर एक साथ पीस कर रस निकाल ले। इस में किंचित् मधु मिला कर प्रातःसायं पीने से आम रस का परिपाक होता है।

२—चिरचिरी (अपामार्ग) की जड़ २ भर और आदी पकाया हुआ १ भर थोड़े पानी के साथ पीस कर रस निकाल ले। इस में ३ रत्ती सेंधा नमक और २ रत्ती अजवायन चूर्ण मिला कर रोगी को दिन में दो-तीन बार दे। अजीर्ण दूर होगा।

३—आदी पकाया हुआ एक भर और वेल का पत्ता एक भर कुछ पानी के साथ पीस कर रस निकाल ले। इस के पीने से देह का दर्द और माथे का भारीपन दूर हो जाता है।

आम सहित वातश्लेष्म ज्वर में कफचिन्तामणि की एक गोली प्रातःसायं तुलसी के रस और मधु के साथ देने से पार्श्वभेद, गात्रवेदना और शिरःशूल शान्त होता है।

कास की शान्ति के लिए अष्टांगावलेह या चतुर्भद्रावलेह दश-बारह रत्ती की मात्रा में चाटने के लिए दिन में दो-तीन बार देना चाहिए। बच्चों के लिए ४-५ रत्ती की मात्रा पर्याप्त है।

छाती, पीठ या पंजरे में दर्द मालूम होने पर गरम पानी का स्वेद अत्यन्त हितकर है। तप्त जल में ऊनी या मोटे सूती कपड़े को भिगो कर निचोड़ ले और इस में ८-१० बूँद तारपीन का तेल डाल कर दर्द के स्थान में स्वेद दें। स्वेद आध घण्टे के लगभग तक देना चाहिए। प्रातःकाल और सायंकाल इस के लिए उत्तम समय है।

वातश्लेष्म ज्वर में कौष्ठशुद्धि के लिए अश्वकंचुकी रस या आरग्वधादि क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए। अश्वकंचुकी रस जयपाल घटित योग है अतः जिन्हें जयपाल असह्य हो उन्हें निर्भयतापूर्वक आरग्वधादि क्वाथ दे सकते हैं। आरग्वधादि कषाय—अमलतास की गुद्दी, पिपरामूल, मोथा, कुटकी और हरड़ प्रत्येक ३२ रत्ती; जल ३२ भर; शेष ८ भर छान कर दें। यह भेदन, दीपन और पाचन है।

वातश्लेष्म ज्वर में प्रायः होने वाला और कष्टकर उपद्रव कास और श्वास है। औषधविक कास की शान्ति के लिए कट्फलादि कषाय और अष्टांगावलेह का प्रयोग बड़ा ही लाभदायक है। श्वास की शान्ति के लिए पिप्पल्यादि लौह एक गोली, बहेड़े के बीज की गुद्दी का चूर्ण ६ रत्ती, पीपर का चूर्ण २ रत्ती, जेठीमधु का चूर्ण ३ रत्ती और नृसार ४ रत्ती एक साथ मिला कर मधु या वासावलेह में मिला कर देने से अत्यन्त लाभ होता है।

गाय का पुराना घी हाथ में लगा कर गरम कर ले और छाती, कण्ठदेश तथा दोनों पंजरों में मालिश करे। इस से कास और श्वास का वेग कम हो कर पार्श्वशूल में बड़ा ही आराम पहुंचाता है। एक औंस तारपीन के तेल में एक भर कपूर (कपूर धूल जायगा) और एक औंस सरसों का तेल मिला कर छाती, पीठ और पंजरे में मालिश करे। यह सद्यः—फलदायक है। ये उपचार श्वसनकज्वर (न्यूमोनिया) और फुफ्फुधराकला शोथ (प्लुरसी) में भी अत्यन्त हितकर हैं।

लड्डुन, लघु भोजन, स्वेदन और कषाय आदि के प्रयोग से दोष का पचन होता है और भूख मालूम होती है। निरामावस्था में लाजमगड़, आरारोट, बारली, चीनी मिला कर थोड़ा दूध, मसूर का यूष और मुनक्का का कबाब दे सकते हैं।

ज्वर की शान्ति के लिए प्रातःसायं स्थल्प कस्तूरीभैरव की एक गोली अवस्था के अनुसार उचित अनुपान से देनी चाहिए। दोपहर को एक गोली मृत्युञ्जय या त्रिभुवनकीर्ति रस और रात में एक गोली कफचिन्तामणि का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तो रात में सफरद्वज एक रत्ती और मुक्ता या प्राल एक रत्ती मधु के साथ या पान के रस और मधु के साथ दे सकते हैं। वातश्लेष्म ज्वर में सौभाग्य बटी का प्रयोग भी लाभदायक है। यह वातपित्त ज्वर में भी हितकर है। मैंने सौभाग्य बटी का प्रयोग दोनों प्रकार के ज्वरों में भिन्न-भिन्न अनुपानों से किया है और अच्छा लाभ होते देखा है।

यदि उपरोक्त औषधों से वातश्लेष्म ज्वर में सम्यक् लाभ न हो तो अष्टादशाङ्गकषाय का प्रयोग करना चाहिए। वह इस रोग की एक अति प्रशस्त औषध है।

सन्धिक सन्निपात

वैद्य देवदत्त शास्त्री आयुर्वेदाचार्य



सन्धिक सन्निपात, सन्धिवात और आमवात इन तीनों में सामान्यतः सन्धिशोथ अवश्य देखी जाती है। परन्तु सन्धिवात में जीर्णव्रण शोथ अथवा कठोरता देखी जाती है। आमवात में, आन्त्र में विष संचय होने से यह रोग उत्पन्न होता है। सन्धिवात और आमवात ये दोनों चिर स्थायी विकार हैं और इनका रूप भी उग्र नहीं होता। इसके विपरीत सन्धिक सन्निपात होता है अर्थात् यह बहुत उग्र रूप में होता और अस्थायी रूप में रहता है।

सन्धिक सन्निपात ग्रस्त रोगी को बहुत कष्ट होता है। तीव्रज्वर, शरीर में असह्य वेदना, सन्धिशोथ इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। सन्धिकृष्ट और विप्रकृष्ट भेद से इसके दो कारण आयुर्वेद में बताए गए हैं। विप्रकृष्ट कारणों में अनेक कारण रोग के उत्पादक कहे गए हैं। इन कारणों का परिणाम जब धीरे-धीरे शरीर पर होने लगता है, तब दोष संचय होने लग जाता है। फिर रस-रक्तादि धातु में इस सञ्चित दोष का प्रसार होने लगता है। यह प्रसारित दोष ही फिर आगे शरीर में असह्य वेदना करते हैं।

सन्धिकृष्ट कारण में आधुनिक वैज्ञानिक इस रोग में शृङ्खला कृमि H. Steptococci को विशेष महत्त्व देते हैं। परन्तु इस कृमि से गलरोग, पूयदन्त आदि विकार भी उत्पन्न होते हैं। केवल यही रोग इस कृमि से उत्पन्न नहीं होता, ऐसा कितने आधुनिकों के मत हैं। फिर इस निर्णय से तो साफ यही प्रकट होता है कि आयुर्वेद की दोष-दूष्य थ्युरी सर्वथा उचित और सामयिक है।

दोषदुष्टि होने पर जब इसका बढ़ाव होता है तब रस-रक्तादि धातुएँ क्रमशः दुष्ट हो जाते हैं। इस दुष्टि के बाद

स्नायु संकोच, सन्धिशोथ, वेदनादि तीव्र इन लक्षणों के साथ ज्वर उत्पन्न होते हैं। इसे वातोत्तर-पित्तमध्य और कफानुग सन्निपात कहते हैं। इसमें सामदोष अधिक रहता है। अतः इसमें सामदोष नाशक चिकित्सा होती है।

रोग का प्रारम्भ ऋतु के साथ होता है। रोग के प्रारम्भावस्था में बहुत ऋतु आते हैं, फिर धीरे-धीरे गले में कष्ट होता है, गला इतना दुखता है कि रोगी बेचैन हो जाता है। बार-बार खाँसी भी आती है। ये सब उपद्रव इस रोग के पूर्व रूप में ही प्रधानतया देखने में आते हैं।

ज्वर १०३ से १०४ डिग्री तक बढ़ता है। नाड़ी शीघ्र और भारी चलती है। सन्धि स्थानों में शोथ और पीड़ा होती है। यह शोथ और पीड़ा इतनी असह्य होती है कि रोगी बेचैन रहता है। शोथ देखने में खूब लाल और उभरी हुई दिखायी देती है। पसीना दिलाने पर भी वेदना कम नहीं होती। साधारण नियम यह है कि स्वेद (पसीना) से ज्वर कम हो जाता है, परन्तु इस सन्निपात ज्वर में पसीना आते रहने पर भी ज्वर बना ही रहता है। रोग का प्रसार क्रमशः सन्धि-सन्धि में होता चला जाता है। इस सन्निपात की ज्वरोष्मा बहुत तीव्र होती है। साथ-साथ प्रलाप, चित्त विभ्रम, तन्द्रा, मोह आदि उपद्रव भी होते हैं। चिकित्सक को इस रोग की चिकित्सा में खूब सावधान रहना चाहिये।

सन्धिशूल और सन्धिशोथ यह इसके प्रधान लक्षण हैं। जिन रोगियों को इस रोग के कारण हृदय विकृत हो जाता है, उनको कुत्त्युदर अथवा कुक्षिशूल उत्पन्न हो जाते हैं। यह अवस्था न्यूमोनिया में भी देखी जाती है। न्यूमोनिया

होने पर स्वेद अधिक आता है तब मोती के दाने के समान सफेद-सफेद दानों की उत्पत्ति होती है। बाद में इन दानों में से भूसी अथवा छिलका-सा निकलता है। बद्धकोष्ठता अथवा मलावरोध बराबर चलता रहता है। मूत्र का रंग गहरा लाल और उसमें सिकता बहुत परिमाण में देखी जाती है। मूत्रक्षार और मूत्रौज भी मूत्र परीक्षा करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है। इस प्रकार यह न्यूमोनिया रोगी को बहुत कष्ट देता है।

चिकित्सा

रोग की प्रारम्भिक अवस्था में जब ज्वर अधिक हो तो गोक्षुरादि गूगल १ से २ रत्ती, अनन्तमूलसत्त्व ४ से ८ रत्ती और हज्रल्ल्यूहूद पिष्टी २ से ४ रत्ती मिश्रणकर ४ पुड़िया बना, आँवले के मुरब्बे के साथ दिनभर में तीन बार दें। इसी के साथ सारिवाद्यासव १ तोला, अमृतारिष्ट १ तोला समानभाग जल मिलाकर दें।

रोग के कारण तीव्र वेदना रहने पर—महावात विध्वंसन रस आधी रत्ती, भृङ्गराज रस एक चम्मच में थोड़ा शहद मिलाकर दें। दिनभर में तीन बार इस दवा का प्रयोग करें। इससे बढ़ी हुई ज्वर की गर्मी कम हो जायगी। कई चिकित्सक इस अवस्था में योगराज गूगल का प्रयोग करते हैं, परन्तु लेखक के अनुभव से ज्ञात हुआ है कि योगराज गूगल से जरा भी लाभ नहीं होता। रोग घटने के बजाय बढ़ ही जाता है। अतः योगराज गूगल का प्रयोग न कर महावात विध्वंसन रस का ही प्रयोग करना अच्छा है। महावात विध्वंसन रस में वेदना शामक गुण अपूर्व है।

यदि सन्धिक सन्निपात में ज्वरोष्मा अधिक हो तो स्वच्छन्द भैरव रस आधी रत्ती, सम्भालू पत्र स्वरस और शहद के साथ प्रयोग करें। इस प्रकार दिनभर में दो-तीन बार रोग और रोगी की अवस्थानुसार दें। साधारणतया प्रातः-सायं ही देना ठीक रहता है। क्योंकि यह तीव्र विष का कल्प है। ज्वर पर इसका प्रभाव बहुत शीघ्र होता है। पर हृदयावसादक दुर्गुण होने से बार-बार इसका प्रयोग करना उचित नहीं।

शोथ अधिक रहने और इसी के साथ बेचैनी, पेट फूलना, जीभ सफेद इत्यादि लक्षण उत्पन्न होने पर—आरोग्यवर्द्धनी वटी १ से ४ रत्ती आँवले के मुरब्बे के साथ दिनभर में ३ बार दें।

इस रोग में मूत्रोत्पत्ति अल्प होती है। मूत्र में क्षार, मूत्रौज, मूत्र की विकृति आदि लक्षण पित्तानुबन्ध से देखे जाते हैं। इस अवस्था में—चन्द्रप्रभा वटी २ से ४ रत्ती, हज्रल्ल्यूहूद को पिष्टी ४ रत्ती, दोनों का मिश्रण बना गोक्षुरादि अवलेह के साथ सुबह, दोपहर और शाम को दें। चित्तविश्रम, सोह, प्रलाप और तन्द्रा आदि लक्षणों के साथ यदि मूत्र में क्षाराधिक्य हो तो उपरोक्त मिश्रण की अपेक्षा—चन्द्रकला रस $\frac{3}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती, गोखरू का अष्टमांश बनाया क्वाथ २ तोला और मिश्री ३ माशा मिलाकर ३ बार दें। तीव्र वात लक्षण अधिक रहने पर यदि मूत्रविकार भी साथ-ही-साथ हो तो वात शामक होने के कारण महावात विध्वंसन रस का प्रयोग करना चाहिये। उक्त चिकित्सा के साथ-साथ सन्धि स्थानों के शोथ और वेदना के लिये सेक और लेप भी अवश्य करना चाहिये।

इस रोग की चिकित्सा में प्रधानतया वेदना शामक दोष शामक और धातु साम्यकर औषधों का प्रयोग करना चाहिये। रोगकी तीव्रावस्था कम होने पर यदि रोग बहुत दिनरहे और जीर्ण रूप धारण कर ले तो रोगी को बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है। अतः तीव्रावस्था में ही ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे रोग जीर्ण रूप धारण ही न करे। इसके लिये रोगी को पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है। आहार पतला (अन्न) देना चाहिये। दूध, खाँड और थोड़ा पानी मिलाकर दें। सुसम्बी मीठे का रस, धान की खील का पानी, जौ का पानी, नीम्बू का शर्वत कुछ नमक और मिश्री मिलाकर इन पेयों में से कोई पेय रोग और रोगी की अवस्था के विचारकर देना चाहिये। दूध की चाय, काँफी, कोको पेय रूप में दिये जा सकते हैं। सोडावाटर का प्रयोग रोग में अधिक करना चाहिये। पेय पदार्थों से मूत्र उत्पत्ति होती है। अतः पेय बहुत लाभ करते हैं। अ. यो.

तालु रोग

तालुपिटिका, गलशुण्डिका, तालुसंहति, अर्बुद, कच्छप, तालुपुण्ड्र, तालुपाद, तालुशोष; रोहिणी, वात, पित्त, कफ रोहिणी, अमृक् रोहिणी, सन्निपात रोहिणी, तालुगत रोगों का ज्ञान और चिकित्सा ।

Surgery of Air passages, Empyema.

कण्ठ रोग

काण्डशालक, वृन्द, तुण्डिकेरी, गलौघ, गलायु, शतध्री, गलविद्रधि, गलावृद, गलगण्ड, वात, पित्त और मेद दूषित गलगण्ड, मांसतान, स्वरसाद और स्वरगत अन्य रोगों की निदान सहित चिकित्सा ।

मुखपाक

मुखपाक, ऊर्ध्वगत, रक्तज, कफज मुखपाक सर्व सर रोगों का निदान और चिकित्सा ।

Affections of mouth, throat and oesophagus ulcer of the tongue, structure and other diseases of the oesophagus.

नासा रोग

नासागह्वर के अवयवों का विशेष ज्ञान, वात-पित्त-कफ और सन्निपात जन्य प्रतिश्याय, भृशक्षव, नासिकाशोष, नासानाह, घ्राणपाक, घ्राणस्राव, दीप्ति, अतिनाशा, पूयरक्तक, पुटक, नासार्श, नासावृद और तज्जन्य कष्ट तथा दुष्टपीनस की निदान चिकित्सा ।

Diseases of the nose, Eczema, Rhinitis—types and treatment, Polypus, F. B. in the nose. Elementary knowledge of diseases of sinuses.

कर्ण रोग

कर्णविवर का विशेष ज्ञान, वात और कफ दोष जन्य कर्ण रोग, कर्णनाद, प्रतीनाह, कण्डू, कर्णस्राव, पूतिकर्ण, कृमिकर्ण, कर्ण विद्रधि, कर्णार्श, कर्णावृद, कूचिकर्ण, कर्ण पिप्पली, विदारिका, पाटली शोष, तन्त्रिका, परिपोट, उत्पात

श्यावा, गल्लीर, दुःखवर्द्धन, कर्णबाधिर्य, कर्णच्छेद, छिन्नकर्ण, पाली छेद का ज्ञान और चिकित्सा ।

Affections of the ear, deafness, its causes and treatment, furuncle, Eczema, foreign bodies in the external ear. Inflammation of the middle ear and its complications.

कर्ण-व्यध

कर्णव्यध विधि और कर्णबन्ध का ज्ञान ।

Special plastic operations of the ear

नेत्र रोग

नेत्रों का विशेष शारीरिक ज्ञान, उसकी शारीरिक्रिया का ज्ञान, नेत्र बुद्बुद, नेत्र का पांचभौतिकत्व, दृष्टि मण्डल विवरण, नेत्रमण्डल, सन्धि पटल का विवरण, नेत्रगत पंच-मण्डल, नेत्र सन्धि वर्णन, नेत्र पटल का आश्रयभूत धातु, नेत्र रोग की सामान्य सम्प्राप्ति, नेत्र रोगों का पूर्वरूप, नेत्र रोग के पूर्वरूप में ही क्रिया का कार्य, संक्षेप में नेत्र रोग चिकित्सा, नेत्र रोग निदान, नेत्र रोग संख्या ज्ञान, वात-पित्त श्लेष्म, रक्त, सान्निपातिक नेत्र रोग और उनकी चिकित्सा, आश्रय भेद से नेत्ररोग की संख्या ।

Diseases of the eye, Examination of the eye, Vision testing. Affections of the eyelid of the lacrymal apparatus of the orbit, of the conjunctiv, of the cornea, of the iris and of the lens, Glaucoma, Subjective testing of the refraction.

Anatomy and physiology of eye, causes of eye diseases, treatment of eye diseases in general.

सन्धिगत रोग

Diseases of Orbit.

सन्धिगत नेत्ररोगों की संख्या, पूय, अलस, उपनाह के लक्षण, नेत्रस्राव, पखणी, अलजी, कृमि ग्रन्थि का ज्ञान और चिकित्सा ।

वर्त्म रोग

Diseases of eyelid & eyelashes includes entropion

वर्त्मरोग की सम्प्राप्ति, वर्त्मरोगों का नाम निर्देश, उत्संगिनी, कुम्भिका, पोथकी वर्त्मशर्करा, अशोर्वर्त्म, अञ्जनामिका, वहलवर्त्म, वर्त्मबन्ध, क्लिष्टवर्त्म, उत्क्लिष्ट, वर्तकदम, श्याववर्त्म, क्लिन्नवर्त्म अक्लिन्नवर्त्म, वातहतवर्त्म, वर्त्माबुद, निमेष, शोणिताश्व, लगण, विसवर्त्म, पद्मकोप, कृच्छोन्मीलन, वातहंता, पद्मशात, सिकतावर्त्म, कर्दम, श्लिष्टवर्त्म, कुकृणक, अलजी, अर्बुद ।

शुक्लगत रोग

Diseases of Conjunctiva.

शुक्लगत रोगों के नाम निर्देश प्रस्तारी, अर्म लक्षण, शुक्लार्म, लोहितार्म के लक्षण, अधिमांसजार्म और स्नायु अर्म के लक्षण । शुक्तिका और अर्जुन के लक्षण । पिष्टक, शिरण, जाल के लक्षण, सिराज पिडिका, किलास के लक्षण ।

नेत्र कृष्णगत रोग

नेत्र कृष्णगत रोगों का नाम निर्देश, सत्रण शुक्र का साध्यासाध्यत्व, अव्रणशुक्र, अक्षिपाकात्यय लक्षण, अजकाजात लक्षण ।

सर्वगत रोग

सर्वगत रोगों के नाम निर्देश, अभिष्यन्द का सर्व नेत्र रोग मूलत्व, वात, पित्त, कफ, रक्ताभिष्यन्द, अधिमन्थ के सामान्य लक्षण, वात-पित्त-श्लेष्म रक्ताधिमन्थ आदि की दृष्टि विनाशकता में कालावधि, सशोक और अशोक नेत्रपात लक्षण ।

General infection of the eye

- a. Conjunctivitis
- b. Ophthalmitis etc.

हृतादि मन्थ, वात पर्याय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाद्विष्टि लक्षण, शिरोत्पात, शिरोहर्ष का निदान चिकित्सा ।

दृष्टिगत रोग

Diseases of the Iris, lens, ciliary body etc.

प्रमाणकार लक्षणों से दृष्टि का कथन, दृष्टिगत रोगों की संख्या, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पटलगत तिमिर लक्षण, वात, पित्त, श्लेष्मा, रक्त, सान्निपातिक तिमिर के लक्षण परिम्लाधिकाच, लिंगनाश, दृष्ट्याश्रय द्वादश रोग, कफविदग्ध दृष्टि, धून्नदृष्टि, स्वजाड्य और नकुलांध के लक्षण, गम्भीरिका, अगन्तु तिमिर, अनिमित्त लिंगनाश, अभिघात लिंग नाश ।

नेत्ररोगों के साध्यासाध्य विचार, छेद्य, भेद्य, लेद्य, अशस्त्र कृति या असाध्य रोगों का ज्ञान तथा चिकित्सा । विशेष कर शस्त्र कर्म का अभ्यास, चूर्णाञ्जन, कलकाञ्जन, वर्त्यञ्जन, रसक्रियाञ्जन, पुटपाक, नस्य, धूमतर्पण, शास्त्रकर्म, क्षारकर्म, पश्चात् कर्म, धावनादिक्रिया, शस्त्रकर्मयोग्य शालाका ज्ञान ।

Special surgery of the eye diseases and their management. Treatment of the eye diseases in general. Knowledge of special instruments used in the ophthalmic operations

शिरोरोग

शिरोगुहा और उसका निर्माण, मस्तिष्क का स्वस्व ज्ञान, उसकी स्थूलता, क्रिया परिचय और शिर कपालों के उसका सम्बन्ध ।

शिर के रोगों के नाम

वातज, पित्तज, कफज, सान्निपातिक, क्षयज और क्रिमिजन्य शिरोरोगों के लक्षण और चिकित्सा । सूर्याक अनन्तवात और शंखक रोगों के लक्षण और चिकित्सा । मूर्धगत, कपालगत रोगों का ज्ञान और चिकित्सा ।

दारुण और इन्द्रलुप्त, खलित, वलित आदि के लक्षण और चिकित्सा । विशेष कर शिरोरोग नाशक तैल, नस्य लेप, घृत का सप्रयोग ज्ञान ।

1. Diseases of Head. 2. Infections of scalp

आलोच्यग्रन्थ—

ऊर्ध्वाङ्ग चिकित्सा—पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल

नेत्र चिकित्सा—डा० मुन्जे

सञ्चुत तथा अष्टांग हृदय के इस विषय से सम्बन्धित अध्याय ।

फलवृक्ष

निम्बूक (खट्टा निम्बू)

श्रीयुत भानु देसाई

प्राचीन^१ वाङ्मय में 'जम्बीर'-वर्गान्तर्गत फलों में निम्बू का पद अपने औषधीय गुणों के कारण महत्त्व का है। इसे यद्यपि 'निम्बूक' नाम दिया गया है तथापि कई स्थानों पर 'जम्बीर' नाम से ही इस का परिचय दिया गया है।

१—प्राचीन वाङ्मय में आये 'जम्बीर' आदि शब्दों के विषय में वैद्य-प्रवर यादव जी त्रिमक जी आचार्य ने अपने 'द्रव्यगुण विज्ञान' में जो कुछ लिखा है, उसका अशय ज्ञातव्य होने से नीचे देते हैं।

जिसकी छाल मोटी और फल अण्डाकार (लम्बगोल) होता है, जिसे हिन्दी में जँबीरी (जम्भीरी) नीबू, उद्भिद्-विद्या में साइट्रस लाइमोनियम (*Citrus limonium*), मराठी में इडल्लिबु, गुजराती में गोदडिया लिम्बु तथा पंजाबी में गलगल कहते हैं, वह आयुर्वेद का जम्बीर या दन्तशठ है। जिसकी छाल पतली, फल छोटा और गोल होता है तथा छाल के पतलेपन के कारण जिसे विभिन्न भाषाओं में कागजी निम्बू तथा उद्भिद् विद्या में साइट्रस एसिडा (*Citrus acide*) कहते हैं वह प्राचीनों का निम्बूक है। चरक और सुश्रुत में निम्बूक शब्द देखने में नहीं आता। संभव है, उस समय भारत में जँबीरी नीबू ही प्रचलित हो और पीछे उसकी सुधारी हुई जात कागजी नीबू बना और प्रचार में आया हो। अथवा, संभव है प्राचीनों का वर्णित ऐरावत ही कागजी नीबू हो। सुश्रुत ने ऐरावत और दन्तशठ दोनों के गुण कर्म समान लिखे हैं—'ऐरावतं दन्तशठमम्लं शोणित पित्तकृत्' (सु० सू० ४: १९९) निघण्टुओं में नारंगी (संतरे) को ऐरावत बताया है, वह ठीक नहीं है। कारण, नारंगी के गुण चरक-सुश्रुत दोनों ने स्वतन्त्र लिखे हैं।

सुश्रुत ने शाक-वर्ग में तथा चरक ने हरितक वर्ग में जम्बीर नाम से जिस द्रव्य का वर्णन किया है वह जम्बीर-वृण है, जिसे हरीचा (अंग्रेजी में Lemon grass लेमन ग्रास)

मूल में यह वृक्ष जङ्गल का था ; परन्तु कृषि, खाद, जल तथा बगीचियों में की जाने वाली अन्य परिचर्या के कारण, एवं सैकड़ों वर्षों के संस्कार-वश इस नीबू के कांटे छोटे और मृदु होते गये और फल की छाल भी मोटी और खुरदरी न रह कर सुकुमार और पतली होती गयी, यह अनुमान किया जा सकता है।

ज्वर, अजीर्ण, वमन, पित्त-विकार तथा अन्य अनेक रोगों में नीबू तथा उसकी त्वचा का व्यवहार होता है। आहार में भी पाचन क्रिया में यह उत्तम सहायक है। पेश्यों में इसका शर्वत श्रेष्ठ माना जाता है। तथापि इस फल का उपयोग चाहिए उतना नहीं होता, अतः कृषि भी इसकी तुलना में कम ही होती है।

निम्बू-वर्ग के वृक्षों की मूल उत्पत्ति दक्षिण एशिया में

कहते हैं। इसके मसलने से नीबू जैसी गन्ध आती है अतः इसे भी जम्बीर नाम दिया है। इसका तेल चाय के तेल (ऑयल लेमन ग्रास या ऑयल बर्वेना) नाम से मिलता है।

सीठे नीबू को निघण्टुओं में मिष्ट निम्बू या मधु जम्बीर कहा है।

अम्लवेत भी वास्तव में नीबू की जाति का फल है। देखने में जँबीरी नीबू जैसा परन्तु उससे बड़ा और अत्यन्त खट्टा होता है। इस समय बाजार में अम्ल वेत के नाम से जो गुँथी हुई चोटी-जैसा द्रव्य मिलता है, रेवंदचीनी की सुखाई हुई शाखायें हैं, यथार्थ अम्लवेत नहीं।

प्राचीनों ने बीजपूर और मातुलुङ्ग को पर्याय कहा है इसका अर्थ बिजौरा प्रसिद्ध है। पर कई वैद्य बिजौरे को बीज-पूरक और चकोतरे को मातुलुङ्ग मानते हैं।

हुई मानी जाती है। वहाँ से यूरोप, अमेरिका आदि देशों में इसकी कृषि धीरे-धीरे चालू की गयी। इसकी कृषि अमेरिका में जितनी होती है उतनी अन्य देशों में नहीं होती। विश्व की निम्बू-वर्ग की कुल कृषि का ४० प्र०श० यूनानेटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका में होता है।

भारत के हिस्से निम्बू-वर्ग के फल-वृक्षों की कृषि का प्रमाण निम्न है।

राज्य	एकड़ों में विस्तार
मद्रास	३१२७०
मध्यप्रांत	२३०००
मुंबई	१६४००
आसाम	१४०००
कुर्ग	१००००
अन्य राज्य	१८०००

भारत में फल वृक्षों की कृषि का $६\frac{१}{२}$ प्रा० श० निम्बू-वर्ग के वृक्षों का है। इस ओर मुंबई राज्य में पृथक्-पृथक् नीबू की कृषि लगभग प्रत्येक स्थल पर है। परन्तु गुजरात में बड़ौदा, आनन्द तथा नडियाद के आसपास, दक्षिण में नासिक और पूता के आसपास इसकी कृषि बड़े पैमाने पर की जाती है। इस प्रकार नीबू की कृषि का विभाजन योग्य रीति से हुआ न होने से कई बार नीबू बहुत सस्ते बिकते हैं। हमारे यहाँ गुजरात और सौराष्ट्र में नीबू के योग्य भूमि बहुत हैं। सो जहाँ सिंचाई की अच्छी सुविधा हो वहाँ नीबू की कृषि बढ़ाई जा सकती है। नीबू के वृक्ष को अति वृष्टि अनुकूल नहीं है। २५-४० इञ्च वृष्टि पर्याप्त मानी जाती है। इसी कारण उत्तर गुजरात की ओर नीबू के वृक्षों पर जितने फल आते हैं उतने दक्षिण गुजरात में नहीं आते।

नीबू को अन्य फलवृक्षों के समान काली, पानी के अच्छे नितार वाली भूमि अनुकूल नहीं है। परन्तु सरलता से खुद सके ऐसी, पीली और हलकी काली भूमि नीबू की कृषि के लिये बहुत अनुकूल है। नीबू के प्रधान मूल होता

है; परन्तु निम्बू वर्ग के संतरा और मोसंबी के समान इसे मूल से विशेष पोषण नहीं मिलता। परन्तु, प्रधान मूल के ऊपर के धरातल के निकटवर्ती छोटे मूलों से वृक्षों को पोषण मिलता है। इस कारण नीबू की कृषि के लिये बहुत गहरे गडों वाली भूमि की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार पृथ्वी की ऊपरी सतह से पोषण लेने का सामर्थ्य इस वृक्ष में होने से खाद देने पर अन्य वृक्षों की अपेक्षा नीबू को शीघ्र लाभ होता है।

नीबू लगाने के लिए भी भूमि आदि की तैयारी उसी प्रकार करनी चाहिये जैसे अन्य फलवृक्षों की बगीची बनाने के लिए की जाती है। भूमि को खड़ी, पड़ी और तिरछी दो-तीन बार जोत कर ढेले तोड़ दें। भूमि ऊँची-नीची हो तो सम करें। फिर पटरा फिरा कर गडें खोदने योग्य करें। नीबू के पौधे को भी मौसंबी-संत्रे के समान जल पिलाना पड़ता है। अतः बगीची में सर्वत्र नीकें बनाकर पानी के संचार की व्यवस्था करनी चाहिये। भूमि सम करने के बाद १५ से २० फुट अन्तर चारों ओर रखते हुए ग्रीष्मकाल में तीन फुट गहरे, तीन फुट लम्बे और तीन फुट चौड़े गडें खोद कर, उनमें नीचे की मट्टी कंकरीली और निकृष्ट कोटि की हो तो उसे निकाल कर, बगीची की ऊपरी सतह की अच्छी मट्टी में ३ से ४ टोकरी अच्छी सड़ी खाद, खली अथवा सुलभ हो तो हड्डी का धूरा डाल कर गडों में भर दें और चौमासे में, जुलाई, अगस्त में पौधे बोने के लिये तैयार कर रखें। सिंचाई के लिए यथावश्यक नालियाँ और नीके भी बना रखनी चाहिये।

नीबू के पौधे तीन प्रकार से तैयार किये जाते हैं—बीज से, आँख लगा कर तथा अण्डा कलम (गुदी) से। बीज से पौधा तैयार करना हो तो फल में से ताजे बीज ले क्यारी में गाड़ दें। १० से १५ दिवस में बीज उग आते हैं। इस प्रकार उगे हुए पौधे तीन से चार इञ्च ऊँचे हो जायँ तो एक-एक फुट के अन्तर से क्यारी में लगा दें। इस प्रकार पुनः बोये हुए पौधे एक से ढेढ़ फुट ऊँचे हो जायँ तो बोने के काममें हों।

आँख लगाकर पौधे तैयार करने के लिए ऊपर लिखे अनुसार ही पौधा तैयार करना पड़ता है। पश्चात् उत्तम कोटि के नीबू के वृक्ष से आँख निकाल कर इस पौधे पर लगायी जाती है। इस आँख में से शाखा फूट कर बड़ी हो जाय तो मूल पौधे का शिखर भाग काट डाला जाता है और आँख लगाकर तैयार किया पौधा बोने के काम में लिया जाता है।

अण्टा कलम या गुटी पद्धति से पौधा तैयार करने के लिये उत्तम कोटि के नीबू के वृक्षों पर योग्य शाखाएँ पसंद कर उनके ऊपर की छाल एक से डेढ़ इञ्च लम्बाई में इस प्रकार निकाल दें कि अन्तर छाल को क्षति न पहुँचे। इस प्रकार छाल निकाले हुए शाखा के भाग पर खाद और मिट्टी का मिश्रण पाट के टुकड़े में भर कर बाँध दें। समय-समय पर पानी डाल कर मिट्टी की गोली बनाये रखें। शाखा के छीले गये भाग से मूल निकल कर पौधा तैयार होता है। अनुभव से विदित हुआ कि बीज से तैयार किये पौधों, आँख लगा कर तैयार किये पौधों तथा अण्टा कलम पद्धति से तैयार किये पौधों में अण्टा कलम से तैयार किये पौधे उत्तम होते हैं। यों यह रीति खराब और दुष्कर है। जैसा कि ऊपर कह आये हैं, नीबू के वृक्ष को पोषण प्राप्त करने के लिये मुख्य मूल की अपेक्षया चारों ओर के मूल अधिक उपयोगी होते हैं। अण्टा कलम से तैयार किये पौधों में ये मूल सहज ही प्राप्त होते हैं। इन पौधों में मुख्य मूल नहीं होता। नीबू के पौधे नर्सरी वालों के यहाँ भी मिल सकते हैं। विश्वासपात्र व्यक्तियों से लेने से पश्चात्ताप का अवसर नहीं आता।

उक्त विधियों में किसी विधि से तैयार अथवा नर्सरी-वालों से खरीदे पौधे पहले से तैयार कर रखे गढ़ों में चौमासे के प्रारम्भ में अथवा जुलाई-अगस्त में अथवा शीतकाल पूर्ण होने पर फरवरी के अन्त में या मार्च के प्रारम्भ में बो दें। चौमासे में पौधे बोये जायँ तो अधिक वृष्टि होने पर अनावश्यक पानी निकाला जा सके ऐसी व्यवस्था कर रखनी

चाहिये। अति वृष्टि से पौधों को पानी लगाने से हानि होती है। शीत काल पूर्ण होने पर पौधे बोये जायँ तो उसके बाद उष्ण काल आता होने से यथायोग्य पानी देने की व्यवस्था कर रखनी चाहिये।

नीबू के पौधे छोटे हों तब प्रारम्भिक वर्षों में बगीची में सहायक फसल लेने में विप्रतिपत्ति (हर्ज) नहीं। शाक-भाजी या केला, पपीता आदि अल्प काल में तैयार किये जा सकने योग्य फलवृक्ष इस कार्य के लिये उपयुक्त हैं।

मुंबई और सौराष्ट्र में साधारणतया नीबू की कागजी नीबू, जँभीरी नीबू और कहीं मीठा नीबू ये जातियाँ प्राप्त होती हैं। परदेश से आयी इटालियन नीबू तथा यूरे का नीबू इन जातियों का भी प्रचार इन दिनों ठीक-ठीक होने लगा है।

नीबू की इन सभी जातियों में मीठे नीबू का स्थान मौसम्बी ने ले लिया होने से उसका महत्त्व न-जैसा ही है। जँभीरी नीबू की छाल स्थूल होने से वह भी जनता में बहुत प्रचलित नहीं। परदेशी इटालियन और यूरे का जातियों की अपेक्षया हमारे नित्य व्यवहार में आनेवाले कागजी अर्थात् पतली छाल के गोल नीबू में रस बहुत अधिक प्रमाण में निकलता है। भारत में इसके रस के उपयोग के बदले सारे फल का अचार बनाने की प्रवृत्ति ही विशेष है। इटालियन नीबू का अचार भी अच्छा होता है।

नीबू की ये समग्र जातियाँ न्यूनाधिक प्रमाण में गुजरात और सौराष्ट्र में कहीं भी लगायी जा सकती हैं। परन्तु संतरा—मौसंबी के रोग तथा कीटक इन्हें भी लगते हैं।

नीबू के वृक्षों को विशेष तथा शीत ऋतु में 'मल' अधिक लगता है। इसके लिए आधा पाउण्ड मच्छी के तेल का साबुन चार गैलन जल में मिला पिघला कर यह मिश्रण ढंढा करके छिड़कना उपयोगी होता है।

नीबू के वृक्षों पर आमों के 'मधिया' नामक रोग से मिलता-जुलता रोग भी देखा जाता है। यह होने पर वृक्षके

समस्त पत्तों पर कागज चुपड़ा हो ऐसी कालिमा लग जाती है। बहुत से परिश्रमी बागवान ऐसे वृक्षों को साधारण जल की पिचकारी से धोकर उन्हें स्वच्छ कर देते हैं। यह उपचार श्रम-साध्य है, परन्तु उससे लाभ भी तत्काल होता है परन्तु अमुक समय पीछे जलवायु अनुकूल होतो यह रोग पुनः नीबू पत्तों को हो जाता है।

अन्य हानिकारक कीटकों में नीबू की पतंगिया छोटे पौधों को बहुत हानि पहुँचाती है। यह पतंगिया नयी बागीचियों में लगाये छोटे पौधों के सुकुमार पल्लवों पर पीले सूक्ष्म अण्डे छोड़ जाती है। उनसे पक्षी की विष्ठा से मिलते कीड़े निकल कर पल्लवों को खा जाते हैं। प्रारम्भ में ही कीड़े बीनकर दूर न कर दिये जायें तो पौधे के शिखर को भी कुतर कर उसे मार डालते हैं। जहाँ नीबू के वृक्ष न हों वहाँ ये कीट बेर के वृक्षों पर निर्वाह करते हैं।

नीबू की पतंगिया वर्ष में तीन-चार बार अण्डे देती है। अप्रैल, जून तथा नवंबर-दिसंबर में इनका त्रास विशेष होता है। कोई-कोई इन पतंगियों के नाशार्थ लेड आर्सेनेट छिड़कने की सलाह देते हैं। परन्तु यह महँगा होने से कीड़ों को हाथ से पकड़-पकड़ कर ही नष्ट करना चाहिए।

इसके सिवाय नीबू के पत्तों तथा फलों पर भी नसवारी रंग के छोटे गोल दाग पड़ जाते हैं। ये गोल मण्डलाकार दाग भी एक प्रकार के रस चूस लेने वाले कृमि ही हैं। यह कृमि जहाँ चिपटता है वहाँ से हटने का नाम नहीं लेता। फल किंवा पत्ते का रस चूसकर वहीं बड़ा हुआ करता है। अमुक समय में पुष्ट-धातु होकर अन्य पत्तों और फलों पर अपने वंशका विस्तार करता है। हाल तो मच्छी के तेल के साबुन और पानी का मिश्रण छिड़कने की सलाह ही इनसे हो सके उतनी रक्षा के लिए दी जाती है। इससे उत्तम उपाय अभी शोधा नहीं गया है।

नीबू के रोगों में शोष (सूखा) रोग मुख्य माना जाता है। इसमें शिखर की पतली शाखायें सूख कर अन्त में वृक्ष मर जाता है। वृक्ष बड़ा होने तथा दो या

तीन बार फल आनेके बाद ही इस रोग के चिह्न दिखाई देते हैं। पहले ऊपर की शाखा सूखने लगती हैं, तथा उसके पत्ते पीले पड़ने लगते हैं। अन्त को यह झड़ जाती है और पतली शाखाएँ भी सूख जाती हैं। कभी पत्ते बिल्कुल पीले न पड़ कर लाल-पीले, चितकबरे-से हो जाते हैं। अन्त में तो शाखा मर ही जाती है। अनुभव से विदित हुआ है कि यह रोग लगने के लगभग चार से पाँच वर्ष में समूचा वृक्ष नष्ट हो जाता है।

पूना के कृषि-विभाग ने संशोधन करके निर्णय किया है कि जहाँ मिट्टी में चूने का प्रमाण अधिक हो, जहाँ भूमि में उर्वरकों की पोषक सामग्री अल्प हो, जिस खेत में मिट्टी काली होने से पानी भरा रहे और अन्दर वायु का प्रवेश नहिवत् हो, एवं जिस बगीची में मट्टी के नीचे का तल कठिन हो वहाँ यह रोग निश्चित होता है। इस रोग के निवारणार्थ 'निदान-परिवर्जन'—ऊपर कहे प्रकार की भूमिका त्याग—ही उपाय है। इसके अतिरिक्त नीबू की पुरानी बगीचियों के मध्य पत्तियों में तीन फुट गहरी तीन फुट चौड़ी खाइयाँ खोद कर उनमें सड़ी हुई पत्तों की खाद तथा प्रतिवृक्ष एक पाँड एमोनियम सल्फेट की खाद छोड़ने से बहुत सुधार होता है। ये खाइयाँ खोदने से पानी का निधार होता है, मिट्टी में वायु का संचार भी होता है और खाद देने का अवसर भी सुलभ होता है।

नीबू के फल कभी फट जाते हैं। इसका कारण रोग-विशेष नहीं किन्तु अनियमित जल तथा खाद देने की प्रथा है। पानी और खाद नियम से मिलते रहें तो नीबू की कृषि अवश्य लाभदायक सिद्ध होती है।

हमारे बगीची लगाने वाले यह सोच कर कि नीबू को विशेष उपद्रव नहीं होते इसकी कृषि के प्रति बहुत उपेक्षा भाव रखते हैं। फल जैसे-जैसे अधिक आवें वैसे-वैसे अमुक शाखाओं का जाल वृक्ष पर होता जाता है और वे सूखती भी जाती हैं। इन शाखाओं की काट-छाँट करते रहना चाहिए, तथा वृक्षों का ऊर्ध्व भाग खुला रहने देना चाहिए।

फल अधिक आवें तो अधिक प्रमाण में खाद भी प्रत्येक वृक्ष को देनी चाहिये। अन्यथा वृक्ष की शक्ति अपेक्षया शीघ्र नष्ट हो जायगी और बगीची की आयु में भी कमी आयगी।

आयुर्वेदीय उपयोगों के अतिरिक्त नीबू के अचार बनाये जाते हैं तथा उसका रस निकाल कर उपयोग के लिये शीशियों में भर कर रखा जाता है। विदेशों में इस रस से निम्बूकाम्ल^१ भी निकाला जाता है।

नीबू के आयुर्वेदीय उपयोग वैद्यों में सुप्रसिद्ध हैं। अनेक द्रव्यों के शोधन-मारण में इसका पुष्कल उपयोग होता है। दीपन-पाचन होने से अहचि, मन्दाग्नि, अजीर्ण, ग्रहणीविकार विषूचिका, आध्मान आदि विकारों पर काम करने वाले कल्पों में इसके रस की अनेक भावनाएँ दी जाती हैं। कई लोक अग्नि के साम्य के लिये भोजन के पूर्व नीबू, आर्द्रक तथा सैन्धव का सेवन करते हैं। इन विकारों में, विशेषतया वमन और विषम ज्वर में नीबू के दो टुकड़े कर ऊपर जीरा, सौवर्चल और डीकामाली छिड़क कर थोड़ा गरम कर चूसने को दिया जाता है। सुखाई हुई फलत्वक् की मसी (राख) वमन में अति गुणकारी है। वैद्यों को इसका उपयोग करके परीक्षा करनी चाहिये। पित्त के शमन के लिए नीबू के शर्बत (शिकंजबीन) का प्रायः सेवन किया जाता है। अतिसार और प्रवाहिका में भी नीबू को गरम कर, रस

निकाल उसमें सैन्धव और शर्करा मिला कर दिया जाता है। कफवात प्रधान ज्वर (इन्फ्लूएन्जा) में अन्य कोई औषध या आहार न लेकर दिन में दो-तीन बार एक-एक नीबू का रस दो-ढाई तोला पानी में निचोड़ कर देते रहने से निश्चित गुण होता है। इसमें खाँड भूल कर भी न डालनी चाहिये। अम्लपित्त में नीबू का उपयोग रोगवृद्धिकर सिद्ध हुआ है। कीनाइन के अति योग से भ्रम (चक्कर), बाधिर्य आदि हों तो नीबू चूसने की सलाह दी जाती है। कई वैद्य क्वीनाइन का चूर्ण नीबू के रस में ही लेने को कहते हैं। इससे कल्पना-वैचित्र्य के अतिरिक्त क्वीनाइन के अवगुणों से रक्षा, ज्वर हानि, अग्निदीप्त आदि परिणाम भी होते हैं। निम्बूकाम्ल का स्वतन्त्र उपयोग भी होता है। अजीर्ण आदि में सर्जश्चार (खाने का सोडा) के घोल में निम्बूकाम्ल डालकर, उभरा होने पर पीने का प्रचार है। वृश्चिक (बीछू) आदि के दंश पर निम्बूकाम्ल और पोटाशियम परमैंगनेट (कुर्वों में डालने की लाल दवा) का उपयोग सुविदित है। दोनों औषध पृथक्-पृथक् तैयार रखे जाते हैं। वृश्चिक-दंश होने पर दृष्ट स्थान पर चुटकी-चुटकी दोनों द्रव्य क्रमशः डाले जाते हैं। इससे उफान-सा होता है, और वेदना तत्काल शान्त होती है। कई विक्रेता दोनों द्रव्य इस उपयोग के लिए पृथक् बेचते भी हैं। सब दृष्टियों से विचार करते हुए वैद्यों के लिये तो नीबू अत्यन्त उपयोगी वृक्ष है। बने तो प्रत्येक वैद्यबन्धु को इसे अपने घर में लगाना चाहिए।

१—Citric acid—सायट्रिक एसिड

शिशु-पालन

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री



बच्चों की स्वच्छता

माँ तो मनुष्य मात्र के लिए ही सफाई की जरूरत है, लेकिन बच्चों के लिए तो यह अनिवार्य है। बहुत सी बीमारियाँ सफाई न रखने की वजह से होती हैं। जानवरों के भी साफ-सुथरे बच्चे प्यारे लगते हैं। बचपन की सफाई का संस्कार बड़ी उम्र में भी बहुत लाभदायक होता है। बहुत सी माताएँ नजर लग जाने के भय से बच्चों को जान-बूझ कर गन्दा रखना पसन्द करती हैं, न उन्हें रोजाना स्नान कराती हैं और न उनके कपड़े ही साफ करती हैं। यह बहुत हानिकर है। गन्दा रखने से नजर से रक्षा तो क्या होगी, बीमारियाँ जरूर हो जाती हैं।

बच्चे को शुरू ही से साफ रखना जरूरी है। ठंड लगने के भय से स्नान न कराने की गलती भी नहीं करनी चाहिए। हर बच्चे को नियमित रूप से स्नान कराना चाहिए। जाड़े में कुछ गर्म जल से और गर्मी-बरसात में ताजे जल से अच्छी तरह स्नान कराने से बच्चे के शरीर का विकास ठीक तौर से होता है, उसे अच्छी नींद आती और वह प्रसन्न रहता है। स्नान के पहले तेल की हल्की मालिश भी करनी चाहिए। मालिश से रंगें मजबूत होतीं और शरीर पुष्ट होता है। बच्चे के शरीर में सुगन्धित तैल न लगा, सरसों आदि का शुद्ध तेल ही लगाना चाहिए।

शरीर की सफाई में नाक, कान, आँख, गुदा,

नाखून आदि सभी की सफाई शामिल है। नाक से रींट का बहते रहना, माता के अज्ञान का चिह्न है। सफाई के अभाव में गुदा में फुन्सियाँ हो जाती हैं; बड़े-बड़े नाखूनों में भरा हुआ मैल बच्चे के पेट ही में पहुँचता है। आँखों की गन्दगी—और उनमें कीचड़ भरा रहना जैसी बातों से आँखों में रोहे जैसी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं। अतः बच्चे के सर्वाङ्ग की सफाई की तरफ पूरा ध्यान रखना चाहिए।

जिन बच्चों के शरीर और वस्त्रों की सफाई का पूरा ध्यान रखा जाता है, वे अधिकांश बीमारियों से बच जाते हैं, खुद सफाई का देवता ही उनका रक्षक बन जाता है, और उनके शरीर की वृद्धि का काम ठीक-तौर से होता रहता है।

बच्चों के बिस्तर

बच्चों के बिस्तर के विषय में की जाने वाली कंजूसी और लापरवाही बहुत खतरनाक है। आम तौर से फटे-पुराने कपड़ों को सी-सी कर बच्चे के लिए एक-दो गद्दी बना दी जाती है, जो नर्म भी नहीं होती, और बच्चे के पेशाब पाखाने से गंभीर बनी रहती है। इनकी सफाई का ध्यान एकदम ही नहीं रखा जाता, पाखाना तो अलबत्ता धो दिया जाता है, किन्तु पेशाब उसी में जज्ब होता रहता है, और कोई-कोई आलसी माता तो पाखाने को भी धोने के बजाय कपड़े से पोंछ देना ही काफी समझ लेती है। बच्चे के बिस्तरे की यह गंदगी नाजुक बच्चे के शरीर ही नहीं, घर के सभी प्राणियों के लिए बहुत खतरा

नाक है। साधारणतः सोने का विस्तर हमेशा साफ-सुथरा और नर्म होना चाहिए। बच्चों के विस्तर तो खास तौर से नर्म-गुलगुले और साफ-सुथरे होने चाहिए।

विस्तरा गद्देदार और नर्म होना चाहिए। जाड़े के विस्तर में ज्यादा रुई हो और गर्मी के विस्तर में काफी कम। विस्तर के लिए नर्म कपड़े में थोड़ी रुई भरवा के छोटा सा हलका गद्दा ठीक होता है। इस की दो खोलियाँ रहनी चाहिए। गद्दे के ऊपर मोम-जामा बिछा के उस पर तौलिया बिछा देना चाहिए, ताकि मोमजामे की गर्मी बच्चे की चमड़ी को हानि न पहुंचा सके। पेशाब-पाखाना करने पर तौलिए को निकाल के साफ कर लेना चाहिए और दूसरा तौलिया बिछा देना चाहिए। ओढ़ने के कपड़े मौसम के मुताबिक होने चाहिए। जाड़े में हल्की रजाई और गर्मी—बरसात में चादर। गर्मी और बरसात में चादर की भी जरूरत नहीं रहती। जालीदार कपड़ा या मसहरी होनी चाहिए, जिस से मच्छर-मकखी से बचाव हो जाय। बिछाने-ओढ़ने के विस्तर धूप में रोजाना सुखाने चाहिए। बच्चों के कपड़े

बच्चों के कपड़ों के विषय में भी हम लोग बहुत भूल करते हैं और ये भूलें बच्चों के लिए बहुत मँहगी पड़ती हैं। बच्चे बहुत ही नाजुक होते हैं; इससे उनकी नाजुकता को ध्यान में रख कर ठंड और गर्मी बर्दाश्त कर सकने लायक बनाना माता-पिता का ही काम है। बच्चों के शरीर पर मौसम के लिहाज से सिर्फ जरूरी कपड़े ही होने चाहिए। गर्मी के दिनों में सफेद खादी की ढीली कमीज और जाँघिया होना काफी है। बरसात में जालीदार कपड़ा ठीक होता है। सर्दी के दिनों में सूती कपड़े के ऊपर ऊनी स्वीटर वा रुई की हल्की बण्डी। दूध पीते बच्चों

को ऊनी कोट और गर्म नेकर वगैरह पहनाने की जरूरत नहीं है।

बच्चों को ज्यादा कपड़े पहनाना ठीक नहीं होता और न उन्हें तंग कपड़े ही पहनाने चाहिए। गोदी के बच्चों को तो सिर्फ मौसम के लिहाज से जरूरी कपड़े ही पहनाने चाहिए। कोट, स्वीटर, कनटोप, गुलेबंद आदि-बिल्कुल अनावश्यक हैं। चलने-फिरने वाले बच्चों को गर्मी-जाड़े के लिहाज से सूती-ऊनी कपड़े पहनाने चाहिए। पेटी, कनटोप और सरुत कपड़ों से बड़े बच्चों को भी बचाना चाहिए। छोटे बच्चों के कपड़े उनकी लार से ज्यादा खराब होते हैं। अतः उनके गले में हल्की-सी गद्दी लटका देनी चाहिए, ताकि पहिने हुए कमीज का बचाव हो सके। एक गद्दी के भीग जाने पर उसे हटा कर दूसरी गद्दी लगा देनी चाहिए। बच्चों के सूती कपड़े और गले की गद्दियाँ रोजाना धोनी चाहिए। बच्चों की नींद

नींद स्वास्थ्य के लिये बहुत ही सहायक साधन है। नींद के द्वारा शरीर पुष्ट होता और थकान दूर होती है। उम्र के साथ-साथ मनुष्य की नींद कम होती जाती है। जवानी में जितनी नींद आती है, बुढ़ापे में उतनी नहीं आती, और बच्चों के पास तो नींद मानो बैठी ही रहती है। स्वस्थ बच्चे अपनी नींद पूरी कर लेते हैं और ठीक नींद आने का अर्थ भी यही है कि बच्चे का शरीर नीरोग रहे सोते हुए बच्चे को जगाना ठीक नहीं। तन्दुरुस्ती के लिहाज से बच्चों की नींद का प्रमाण इस प्रकार है—

१ मास तक—२१ घण्टे

६ मास तक—१८ घण्टे

१ साल तक—१५ घण्टे

२ साल तक—१४ घण्टे

३ साल तक—१३ घण्टे

तीन साल के बाद नींद स्वतः ही कम हो जाती है और १०-१२ घण्टे की नींद ही बड़ी उम्र के बच्चों के लिए काफी रहती है। बच्चों की नींद के विषय में इतना खयाल जरूर रखना चाहिए कि ठीली चारपायी और गंदे बिस्तर से नींद में बाधा पड़ती और स्वास्थ्य पर भी बुरा असर होता है।

बच्चों का भोजन माँ का दूध

बच्चों का शुद्ध और स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन है— माँ का दूध। खुद कुदरत ने ही माता के स्तनों में दूध इसीलिए पैदा किया है। अतः बच्चे की खुराक के विषय में यह निर्विवाद सत्य है कि उसकी सत्र से अच्छी खुराक माँ के स्तनों का दूध है। हमारी बहनें जो अंग्रेजी सभ्यता में पली हैं, बच्चों को खुदका दूध पिलाना पसंद नहीं करतीं आर गाय, बकरी या धाय के दूध के ऊपर बच्चे को छोड़ देती हैं : यह बहुत बड़ी गलती है। वास्तविक बात तो यह है कि माता की ममता ही बच्चे का पालन पोषण करती है और माँ की ममता का संबंध स्तन के दूध पिलाने से बहुत ज्यादा है। जब तक बच्चा दूध पीता है, तब तक माता का प्यार बहुत ज्यादा होता है और दूध छोड़ने के बाद धीरे-धीरे कम होता जाता है। एक माता के चार बच्चों में उसका सबसे ज्यादा मोह दूध पीने वाले बच्चे पर ही होता है।

जिन बच्चों का पर्याप्त समय तक उचित मात्रा में माँ का दूध मिलता है, वे उन बच्चों की अपेक्षा ज्यादा स्वस्थ और सुन्दर होते हैं, जो गाय या बकरी के दूध पर रखे जाते हैं, या जिन्हें माता का पर्याप्त दूध नहीं मिलता। भोजन के सारे तत्त्व माँ के दूध में मौजूद रहते हैं और माँ की ममता के साथ मिल कर वे बच्चे का उचित पोषण करते हैं। साधारणतः बच्चे दो अवस्था के होते हैं। पहले वे जो केवल दूध पर ही निर्भर रहते हैं, और दूसरे वे

जो दूध के साथ अन्न भी खाने लगते हैं। दाँत निकलने के पहले सिर्फ दूध ही बच्चे का भोजन होता है, अतः दूध की शुद्धता और विकृति का असर बच्चे के ऊपर अनिवाय रूप से होता है; या यों कहना ज्यादा उचित होगा कि दूध पीते बच्चों के रोगों का जिम्मेदारी उन की माता के दूध के ऊपर ही निर्भर करती है। बहुत से बच्चों को माँ के दूध के बजाय गाय, बकरी या भैंस का दूध पिलाया जाता है और डब्बे के दूध पर रहने वाले बच्चों की संख्या भी कम नहीं है। सच बात तो यह है कि नाजुक बच्चों के पेट में जाने वाला दूध सर्वथा निर्दोष नहीं होता। ऐसी माताएँ आज बहुत कम होंगी, जिनका दूध आहार शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा शुद्ध होता हो और जो बच्चे के स्वास्थ्य को ध्यान में रख कर अपने खान-पान में सजग रहती हों। आमतौर से दूध पिलाती माताएँ उन सभी चीजों को खाती रहती हैं, जो साधारण हालत में भी ठीक नहीं होतीं। ठंडी-बासी रोटियाँ, चटपटी चीजें, बाजारू मिठाइयाँ, मिर्च-मसाले आदि सभी चीजें कर चीजों का सेवन उनके स्वास्थ्य की अपेक्षा उनके दूध पीने वाले बच्चों के लिए ज्यादा हानिकारक होता है। छोटे बच्चों को बर्फी, लड्डू, का टुकड़ा, मूली, गाजर, सेब, नासपाती आदि चीजें कदापि नहीं देनी चाहिए। लाड़-प्यार में बच्चों को ये चीजें दे दी जाती हैं, और बच्चे याँही उसे पेट के नीचे उतार लेते हैं, जिससे उन की आंतों में बहुत दबाव पड़ता है और पेट की बीमारियाँ फैल जाती हैं।

दाँत निकलने के बाद उसे अन्न देना शुरू कर देना चाहिए, लेकिन शुरू से ही उसे इस बात की शिक्षा भी देनी चाहिए कि वह हर चीज को चबा-चबा खाए। रोटी के बजाय गेहूँ का दलिया ज्यादा

होता है। उसे नमकीन भी बनाया जा सकता है और मीठा भी। बच्चे इसे पसंद करते हैं। चावल-मूँग की खिचड़ी, हरी सब्जी, मौसमी फल या उन का रस और दूध ये चीजें अच्छी हैं। खाने का समय निश्चित रखना जरूरी है। नियमित रूप में ठीक समय पर खुराक मिलने से बच्चे का स्वास्थ्य ठीक रहता है और आगे चल कर उसकी आदत भी ठीक रहती है।

सुबह छः-सात बजे दूध और यदि मिल सकें तो ताजा फल।

दस बजे—दलिया, खिचड़ी, सब्जी।

२-३ बजे—दूध और फल।

शाम के ६-७ बजे—मुनक्का, किशमिश, फल और दूध।

बच्चों के भोजन के विषय में यह एक मोटी बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि जब तक बच्चे के दाँत अच्छी तरह न निकल आयें, और उसे चबा के खाने का होश न आ जाएँ, तब तक उसे रोटी नहीं देनी चाहिए। दाँत निकलना शुरू होने तक तो बच्चे को सिर्फ माँ का दूध ही मिलना चाहिए। यदि माँ के स्तनों में दूध की कमी है तो माता को दूध बढ़ाने वाली चीजें खिलानी चाहिएँ और यदि दूध में कोई विकार है, तो उसका इलाज कराना चाहिए। साधारणतः साल के अंत तक दाँत निकलने शुरू हो जाते हैं, किसी बच्चे को ७ वें या ८ वें महीने में और किसी को ६ वें या दसवें में शुरू होते हैं। अतः साल भर तक बच्चे को माँ का दूध ही उचित मात्रा में मिलता रहे, तो उत्तम है। साल भर के बाद दूध के साथ-साथ फलों का रस भी देना चाहिए। लेकिन यदि गाय या बकरी के शुद्ध दूध का उचित प्रबंध हो सकता है, तो सिर्फ दूध ही देना ज्यादा अच्छा है।

फलों के रस में हरे आंवले, सन्तरे या अनार का रस बच्चों के लिये मुफीद होता है।

तीन वर्ष के बाद बच्चों के भोजन में थोड़ा रहो-बदल करने का जरूरत है। इस उम्र में बच्चा दाड़-धूप भी करने लगता है। उस के दाँत-दाढ़ आदि सब निकल आते हैं, और खाने-पीने की चीजों की तरफ उसकी दिलचस्पी भी होने लगती है। बच्चों को अपने पेट का कोई अन्दाज नहीं होता और न किसी चीज के बुरे-भले का ही उन्हें ज्ञान होता है। अतः माता-पिता को उस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उचित मात्रा में उचित चीजें ही उनके खाने में आनी चाहिएँ। इसके लिए उन्हें खुद भी अपनी नीम पर संयम रखने की आवश्यकता है। तीन वर्ष के बाद बच्चे के भोजन में उन सभी चीजों को शामिल किया जा सकता है, जो तन्दुरुस्ती के लिहाज से उपयोगी हैं। सिर्फ इस बात का ध्यान रखने की जरूरत है कि अन्न की मात्रा कम हो और फल तथा दूध की ज्यादा। भोजन सम्बन्धी आचार-विचार और आवश्यक नियम इसी उम्र में सिखाने चाहिएँ।

सुबह ६-७ बजे—कुछ बादाम, काजू, किशमिश, दूध।

१०-११ बजे—दाल, रोटी, सब्जी, दही, मट्ठा।

२-३ बजे—फल या उनका रस, गाजर, टमाटर।

७-८ बजे—रोटी, सब्जी और बाद में दूध।

बच्चों के लिए हानिकार चीजें

बच्चों की खुराक में दूध और फलों की विशेषता रखते हुए, साधारण दाल-शाक, खिचड़ी, दलिया और मौसम के लिहाज से दही-मट्ठा और मौसमी सब्जियों के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ नहीं होनी चाहिएँ।

स्वास्थ्यविज्ञान के सम्बन्ध में

भारत से पश्चिमी देश क्या सीख सकते हैं ?

डा० सुन्दरलाल भण्डारी एम. बी. बी. एस., पी. सी. एम. एस.

❀

अपने चौदह मास के योरोपीय निवास में पाश्चात्य लोगों के उच्च जीवनतल और साधारण स्वच्छता का मेरे ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा। निस्सन्देह वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कारों में पश्चिम ने पूर्व को बहुत पीछे छोड़ दिया है। परिणामतः ऐसी अनेक बातें हैं कि जिनको पूर्व पश्चिम से सीख सकता है। तथापि ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं कि जिनको पश्चिम पूर्व से सीख सकता है। मैं योग के सम्बन्ध में कुछ न कहूँगा। क्योंकि पाश्चात्य देशों में प्रायः लोग योग का नाम तक नहीं जानते हैं। मैं पौरस्त्य दर्शन के विषय में भी कुछ न कहूँगा क्योंकि इस सम्बन्ध में तो यह कहा जाता है कि जहाँ पाश्चात्य-दर्शन का अन्त होता है, वहाँ पौरस्त्य दर्शन आरम्भ होता है। किन्तु कुछ शब्द स्वास्थ्य-विज्ञान के सम्बन्ध में कहूँगा कि जिसके विषय में पश्चिम को इतना अधिक घमण्ड है और स्वास्थ्य-विज्ञान के विषय में भी मैं केवल शारीरिक स्वास्थ्य-विज्ञान के सम्बन्ध उल्लेख करूँगा। यह जान कर आश्चर्य होगा कि प्राचीन ऋषि-मुनियों ने शारीरिक स्वच्छता के सम्बन्ध में किस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से ऐसे युग में विवेचन किया था कि जब कीटाणु विज्ञान से लोग प्रायः अनभिज्ञ कहे जाते हैं। यह बात भी रुचिकर होगी कि अन्य प्रकार से स्वतन्त्रता पूर्वक अनेक वैज्ञानिक क्षेत्रों में आश्चर्य-जनक और महत्त्वपूर्ण अनुसंधान करने वाले लोग भी जीवन सम्बन्धी अनेक साधारण किन्तु महत्त्वपूर्ण बातों को दृष्टिपथ से ओझल कर जाते हैं। उदाहरणार्थ पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने दो सौ मिल प्रति घण्टे की गति से चलने वाले-वायुयान का तो निर्माण कर लिया किन्तु आज तक किसी ऐसे दन्तशोधक (दूध ब्रुश) का आविष्कार न कर सके जो दाँतों को पूर्ण रूप से पवित्र और स्वच्छ करने वाली साधारण वृक्ष की दन्तधावन की समता कर सके। वह यद्मा संबंधी कीटाणुओं की शोध तो कर सके किन्तु इस साधारण बात को

न समझ सके कि भोजन के पूर्व और पश्चात् मुख को जल से स्वच्छ करना कितना महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसंग में यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस लेख का प्रयोजन किसी को अपमानित करना या किसी की भावना को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु इस लेख को मनुष्य मात्र के हितार्थ और सर्वसाधारण के निमित्त आदर्श सभ्यता की ओर पथ प्रदर्शित मात्र है।

दन्तधावन की प्रथा

(अ) दाँतों को दिन में प्रातःकाल और सोने के पूर्व ताज़ा कोमल दन्त-धावन से स्वच्छ करना। इसको दन्तधावन विषयक स्वास्थ्य-विज्ञान कह सकते हैं। यह हमारे पूर्वजों का एक सरलतम और अत्यन्त आश्चर्य-जनक आविष्कार है। इस सिद्धान्त का उल्लेख आयुर्वेद के सब से प्राचीन ग्रन्थ चरक में किया गया है। यह ग्रन्थ लगभग ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व लिखा गया है और इसके अनुसार आयुर्वेद हिन्दुओं के अत्यन्त अशिक्षित वंशज भी आज तक व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। न केवल दन्तधावन के नाम का वर्णन मिलता है अपितु उनकी डेढ़ वित्ता लम्बाई तथा कठिण छिका जैसी मोटाई होने का भी उल्लेख मिलता है। पश्चात् लोग धीरे-धीरे दाँतों को स्वच्छ रखने के सिद्धान्त को स्वीकार करने लगे हैं और इस सम्बन्ध में ब्रुश और पाउडर को भी प्रायः प्रयोग करते हैं। किन्तु निम्नलिखित कारणों से अभी तक दन्तधावन के समान किसी प्रकार के दूध ब्रुश का आविष्कार नहीं कर पाया है—

(१) यह नितान्त असम्भव है कि किसी प्रकार भी दूध ब्रुश को नितान्त विषरहित (Aseptic) रख सकें और ही वस्तु का बार-बार प्रयोग अत्यन्त घृणास्पद है। प्रतिदिन नवीन ही प्रयोग में लाई जाती है।

(२) दूध ब्रुश में जो बाल लगे होते हैं वह

मसूड़ों के लिये बहुत कठोर और हानिकर अथवा बहुत कोमल होते हैं जो दाँतों को स्वच्छ करने में सर्वथा अनुपयुक्त है। दातून में रेशे कोमल और आवश्यकतानुसार कठोर होने के कारण दाँतों को स्वच्छ करने के लिये एक आदर्श साधन है।

(३) दूध ब्रुश की सतह चिकनी होने के कारण स्वच्छ करने में सर्वथा अनुपयुक्त है। दातून में खुरदरी और छिद्र युक्त सतह होती है जो कि स्वच्छ करने का एक आदर्श संघर्षक उपाय है।

(४) वृक्ष का ताजा रस आयुर्वेदिक गुणों को रखता है जो मसूड़ों के लिये लाभदायक होता है। दातून के ये गुण किसी प्रकार के दूध ब्रुश में संभव नहीं हैं।

(५) सब से अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दूध ब्रुश के बालों में एक प्रकार का मारक और संक्रामक रोगप्रद विष रहता है ; जिस के संपर्क से टिटैनस, अन्थेस और इरिसिपिलास नामक रोगों के उत्पन्न होने की आशंका है। यह भी अत्यन्त कठिन है कि ब्रुशों को किसी प्रकार उक्त विष के प्रभावों से रहित रखा जा सके क्योंकि विषप्रद कीटाणुओं के सूक्ष्म अणु ब्रुश के उबाले जाने पर भी नहीं मरते हैं। ऐसा अनुभव किया गया है। उदाहरणार्थ ऐसी अनेक मृत्यु घटनाएँ हुई हैं जिनमें बाल बनाने के ब्रुश से इस प्रकार रोग उत्पन्न हुए हैं।

कुल्ला करने की परिपाटी

(ब) भोजन के पूर्व और पश्चात् पानी से कुल्ला करना। पाश्चात्य देशों में भोजन करने के पूर्व और भोजन के पश्चात् कुल्ला करने की प्रथा नहीं है। पूर्व में भोजन के पश्चात् कुल्ला कर के भली प्रकार मुँह साफ किये बिना और हाथ धोये बिना मनुष्य अपवित्र समझा जाता है तथा किसी खाद्य पदार्थ के स्पर्श करने के अयोग्य माना जाता है। इसी प्रकार पाश्चात्य देशों में बिना मुँह धोये ही शय्या चाय (वेड टी) को पाने की प्रथा है। पूर्व में ऐसा करने का कोई विचार भी नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि शौच जाकर अच्छी तरह हाथ-मुँह आदि धोये बिना किसी चीज के खाने का विचार नहीं कर सकता है। पाश्चात्यों की यह प्रथा किस प्रकार हानिकारक है, यह निम्नलिखित परीक्षण से प्रकट हो जायगी।

प्रातःकाल उठते ही मुँह में कुछ जल भर कर भली-भाँति गरारी सहित कुल्ला करके पाँच मिनट जल को मुख में रखने के उपरान्त एक स्वच्छ शोशे के ग्लास में डाल दीजिये। ग्लास में पड़े हुये गदले और मलिन पीत रंग के दुषित जल को देख कर आश्चर्य होगा, जो मुख से निकला है। यदि कोई मनुष्य बिना कुल्ला किये कोई वस्तु खावे तो यह सब दूषित और विपाक्त वस्तुएँ भोजन के साथ पेट में चली जावेंगी और सब में मिल कर उसको भी विषैला बना देंगी। यही साधारण प्रयोग सिद्ध करेगा कि किस प्रकार भोजन के पश्चात् किये हुये कुल्ले के जल में भोजन संबन्धी विषैला मल मुँह से जल के साथ निकलता है। यदि भोजन करने के पश्चात् तुरन्त ही जल से मुँह को साफ नहीं किया जाये तो भोजनकण सबने लगेंगे और दाँत सम्बन्धी अनेक रोगों को उत्पन्न करेंगे। यह दोनों बातें दाँतों की रक्षा और उनको मोतियों की भाँति श्वेत और चमकीले रखने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह तो सर्वसाधारण को विदित है कि पूर्व में किसी व्यक्ति के बत्तीस दाँत चिरकाल तक बने रहना एक साधारण बात है। इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में प्रायः लोगों के सड़े, पीले और रोग ग्रस्त दाँतों का होना एक साधारण बात है।

(२) शौच (कमोड) सम्बन्धी स्वास्थ्य-विज्ञान

नम्र होकर किसी ऐसे कमोड पर बैठना कि जिस को सैकड़ों मनुष्य उपयोग में ला चुके हों केवल अशुचिकर ही नहीं है अपितु अत्यन्त भयावह प्रथा है। मैंने देखा है कि बैठने का स्थान चिपचिपा हो जाता है। किन्तु सब से अधिक भय दाद, खाज, उकौता, और विविध प्रकार के मूत्र सम्बन्धी संक्रामक रोगों के लग जाने की आशङ्का है। मेरा विश्वास है कि ज्यों-ज्यों चिकित्सा विज्ञान उन्नति करेगा त्यों-त्यों पाश्चात्य लोग किसी भिन्न प्रकार के कमोड का विकास करेंगे अथवा पूर्व में प्रचलित बैठ कर शौच करने के प्रकार को अपनाएँगे जो दो प्रकार से उपयोगी है :—

[अ] उदर का निचला भाग जाँघों से दबा रहता है जो कि एक Truss (हरनिया बन्धक) का कार्य देती है। इससे हरनिया रोग होने की सम्भावना नहीं रहती है।

[ब] उदरस्थ मांसपेशियाँ इस प्रकार आश्रित होकर मल को दबा कर निकाल देने में यह विशेष रूप से साधक होती है।

(३) शौच के पश्चात् गुह्य-अङ्ग को जल से धोना

यह अत्यन्त स्वास्थ्य वैज्ञानिक प्रथा पूर्व में भी केवल आर्य अथवा हिन्दुओं के ही भाग्य में आई है। हिन्दू लोग शौच के पश्चात् जल से अंग-प्रक्षालन करने की प्रथा अनादि काल से अपने बचपन से ही सीखते आए हैं। यहाँ तक कि एक बालक भी जब तक शौच के पश्चात् पानी लेकर अपने को स्वच्छ नहीं कर लेता तब तक अपने को अपवित्र और किसी वस्तु को छूने के अयोग्य समझता है। पश्चिम में लोग कागज का प्रयोग करते हैं और समझते हैं कि यह पर्याप्त है। यह पर्याप्त नहीं है इसके लिए किसी युक्ति प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कागज से अच्छी प्रकार रगड़ने के पश्चात् भी सम्बन्धित भाग को देखने पर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपर्युक्त प्रथा हानिप्रद है। योरोप के प्रथम महान् युद्ध के समय मुक्त को एक बार अंगरेज सिपाहियों की एक टुकड़ी का निरीक्षण करने का अवसर मिला था। क्यों करणक्षेत्र में पानी की कमी रहती थी, इसलिए प्रतिदिन स्नान सम्भव न था; गुह्यांगों के बालों में शुष्क मल को लगा हुआ देखना बहुत ग्लानिकर दृश्य था। ईश्वर जाने यह कितने दिनों से लगा हुआ था। ऐसा एक ही दृश्य इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शौचोपरान्त जल से प्रक्षालन काना जल का दुस्रप्रयोग नहीं है।

एक और लाभ पानी प्रयोग का यह भी है कि जल प्रक्षालन से गुह्येन्द्रिय के निम्न भाग का आंतरिक भाग जल से ही स्वच्छ हो सकता है। कागज प्रयोग से किसी प्रकार इस भाग का स्वच्छ होना सम्भव नहीं है। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि गुह्येन्द्रिय प्रदेश में लगा मल शीघ्र शुष्क होकर अनेक प्रकार के नासूर आदि रोगों को उत्पन्न करता है। दूसरी ओर अत्यन्त कोमल कागज भी घर्षण से गुह्येन्द्रिय के कोमल भाग में क्षत उत्पन्न कर देता है कि जिससे अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

(४) स्नान सम्बन्धी स्वास्थ्य-विज्ञान

पश्चात्य देशों में लोग टब में स्नान करते हैं। टब का जो जल उनके पैरों, गुह्येन्द्रियों और अन्य अङ्गों के मल को स्वच्छ करता है, यही उनके मुख को भी धोने के काम में लाया जाता है। प्रायः सभी लोग गुह्यांगों के शौच के पश्चात् पानी से नहीं धोते हैं। यह स्पष्ट है कि यह प्रथा अत्यन्त घृणित है। चाहे स्नान प्रतिदिन किया जाये या सप्ताह में किया जाये, फिर भी स्नान के समय साबुन आदि

लगाकर टब में ही धोने से सब प्रकार मल, दोष, साबुन आदि का एक मिश्रण जल के ऊपर मैल की एक तह बना देते हैं और टब में स्नान करके बाहर निकलते समय वह जल के ऊपर की मैल तह स्नान करने वाले के समस्त शरीर में चक्रवृद्धि व्याज रूप में लग जाती है। इस प्रकार स्नान करने वाले को स्नान के पश्चात् और भी अधिक मलिन होने का सहज ही अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार स्नान करने का कष्ट उठाना व्यर्थ हो जाता है। चाहे कोई कितना भी प्रयत्न करे टब में से बाहर आने पर इस मलिनता से शरीर को बचाना असम्भव ही हो जाता है।

दूसरा स्नान का प्रकार जापानियों का है वे टब स्नान करने के पूर्व नल के नीचे अपने शरीर को भली भाँति स्वच्छ कर लेते हैं। इस विधि से भी एक बार नल के नीचे शरीर को पूर्ण रूप से धो लेने के पश्चात् टब का स्नान व्यर्थ, अनावश्यक और निष्प्रयोजक हो जाता है। स्विट्ज़रलैंड के यदमा विशेषज्ञ डा० जैकुआर्ड के मतानुसार अति स्नान उसी प्रकार स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है कि जैसे अल्प स्नान या अस्नान। ज्यों-ज्यों विज्ञान उन्नत होता जाता है त्यों-त्यों लोग अधिक वैज्ञानिक स्नान विधि का अनुसरण करने लगे हैं। पूर्व में लोग स्नान करने के लिए या तो बहती धार में बैठ जाते हैं, या अपने शरीर और शिर और धड़ पर जल उडेलते हैं। यह प्रारम्भिक स्नान विधि है किन्तु निश्चय ही स्वास्थ्य-विज्ञान से अधिक सम्मत है।

(५) मुख और पैर विषयक स्वास्थ्य

मानव के शारीरिक यन्त्र के लिए पैर शरीर रक्षा और संक्रामक रोगों से बचने के लिए अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। यह ध्यान में रहे कि पैरों की स्वच्छता किसी प्रकार से भी मुख की स्वच्छता से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पूर्व में जब लोग स्नान नहीं भी करते हैं तो भी मुख, हाथ और पैरों को धो डालते हैं। पश्चिम में लोग इसके लिए एक ही पात्र में जल रखते हैं और उसी जल में साबुन आदि से मुख, हाथ आदि धोते हैं। उसी प्रयुक्त जल का बार-बार प्रयोग करते हैं जो कि स्वास्थ्य-विज्ञान के सर्वथा विपरीत है। इस प्रकार से जो एक मिश्रण बन जाता है, वह चाहे जितना धोने पर भी मुखदि में अंशतः लगा ही रहता है और अनेक प्रकार से हानिकारक सिद्ध होता है।

('गुरुकुल पत्रिका' से साभार)

पुष्टिदायक मेवा-अंजीर

वैद्य रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार



सूखे फलों के लिये हमारे देश में सामान्य नाम मेवा है। समस्त संसार में चाव से खाये जाने वाले मेवों में अंजीर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज कल यह प्रत्येक दुकान पर मिल जाता है। इस पुष्टिदायक मेवे के प्रयोग से किस तरह शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त की जा सकती है, यह इस लेख में देखिये।

गुण

अंजीर का पका फल शीतल, स्वाद मधुर, अव्यक्त में कपाय रस वाला, भारी, तृप्तिदायक, क्षय, वात, पित्त और कफ को नष्ट करने वाला है। भारतीय वैद्यों ने अंजीर को आमवात नाशक, कुष्ठ, सफेद कोढ़ तथा खुजली आदि त्वचा के विकारों को दूर करने वाली, जलन को शान्त करने वाली स्तम्भक, बहते हुए खून को बन्द करने वाली, व्रण नाशक, सोज को उतारने वाली, पाण्डु (खून की कमी) और कामला को दूर करने वाली बताया है। इसके वृक्ष की छाल गण्डी, कसेली, व्रणनाशक और दस्तों को बन्द करने वाली होती है।

यूनानी चिकित्सा में फल मधुर, ज्वरहर, बलदायक, वाजीकरण और रेचक समझा जाता है। पक्षाघात (लकवा) प्यास, जिगर और तिल्ली के रोगों में उपयोगी माना जाता है। बालों की वृद्धि करने वाला और बवासीर नाशक है। दूध गरम, बलगम निकालने वाला और पेशाब लाने वाला है। आँख के लिए दूध खतरनाक समझा जाता है।

आदर्श पौष्टिक भोजन

फलों में अंजीर का विशिष्ट स्थान है। मधुर, मृदु तथा गुदेदार यह मेवा बहुत स्वाद से खाया जाता है और

आरोग्यताजनक तथा सुपच आहार है। भोज्य पदार्थ के रूप में ताजे और सूखे दोनों तरह के अंजीर इस्तेमाल होते हैं। रासायनिक पदार्थों में सुरक्षित किये हुए और डिब्बों तथा बोतलों में बन्द अंजीर भी बाजार में बिकते हैं।

सूखे अंजीरों में प्रायः पचास प्रतिशत शर्करा और तीन प्रतिशत प्रोटीन होती है। एक छटाँक डबल रोटी की एक छटाँक सूखे अंजीरों से तुलना की जाय तो अंजीर अधिक पुष्टि प्रदान करने वाले होते हैं। भोजन के स्थान पर दस छटाँक दूध और तीन छटाँक सूखे अंजीर ही खा लिये जायँ तो यह बहुत बढ़िया तृप्तिकर भोजन होता है। छेड़ पौन्ड अंजीरों में से चार सौ ग्राम (१ ग्राम=प्रायः १ माशा) क्वार्टिट (कार्बोहाइड्रेट्स) निकलता है। हमारे शरीर को प्रतिदिन जितने परिमाण में पोषक पदार्थ की आवश्यकता होती है उसका यह ५ वां हिस्सा है।

लम्बे प्रवास में जल्दी खराब हो जाने वाले पदार्थ देर तक साथ नहीं रखे जा सकते। अंजीर प्रायः पूर्ण भोजन होने से ऐसे समयों में बहुत उपयोगी और निर्भर करने योग्य आहार सिद्ध होता है।

पश्चिमीय एशिया और दक्षिणीय यूरोप के मूल निवासियों के भोजनों का अब भी अंजीर बड़ा भाग है। और ये ताजे तथा सूखे दोनों तरह से खाये जा रहे हैं।

महात्मा गान्धी का अनुभव

पूज्य महात्मा गान्धी ने अनेक भोजन द्रव्यों को स्वयं सेवन करके तथा उनके शरीर पर होनेवाले सूक्ष्म प्रभावों को भी बहुत अधिक वैज्ञानिक बुद्धि से अध्ययन करके आहार पदार्थों के सन्बन्ध में पर्याप्त

ज्ञान प्राप्त किया है। सूखे अजीर देर तक उनके भोजन का अङ्ग रहे हैं। एक दिन नवम्बर १९४६ की बातचीत में उन्होंने मुझे बताया था कि भिन्न-भिन्न तरीकों से अजीरों का उन्होंने प्रचुर सेवन किया है। कागज़ों में बन्द जो बढ़िया किस्म की स्वच्छ अजीरें मिलती हैं, अफ्रीका निवास में उन्हें यों ही खा जाया करते थे। प्रति दिन दो छटाँक के परिमाण में वे उन्हें लेते रहे हैं। बाद में जब उन्होंने अमीराना-शानशौकत को छोड़ा तो अपेक्षाकृत घटिया किस्म की और सस्ती अजीरें उनके आहार का द्रव्य बनीं। इन्हें भी वे काफी समय तक खाते रहे। रस्सी में पिरो कर बड़े पैकिङ्गों में असावधानी से निर्यात की जाने से इनको धोना जरूरी होता है। अच्छी तरह साफ करके खाया जाता है।

कई बार थोड़े से पानी में इन्हें रात भर भिगो छोड़ते हैं। पानी उतना ही डाला जाता है कि जिसे ये अपने अन्दर ज्वर कर लें और पात्र में अतिरिक्त पानी न बचे रहे। पानी पीकर ये फूल जाती है और ताजी अजीर के समान मृदु हो जाती है। बहुत अधिक मिठास होने से जो लोग सूखे अजीरों को खाना नहीं चाहते वे इस तरह पानी पिला कर नरम बनाये हुये अजीरों को बहुत पसन्द करते हैं। कमजोर दांतों वालों को इन्हें खाने में सूखे अजीरों की तरह श्रम नहीं करना पड़ता। बापू कहते हैं कि अजीर का हलुआ-सा (पूडिङ्ग) बना कर खाना बहुत स्वादिष्ट होता है। दांत विहीन बूढ़ों तथा निर्बल दांतों वालों के लिये सूखे अजीरों को चबाना सम्भव नहीं होता। ऐसे लोगों के लिये बापू जी सूखे अजीरों को पीस कर आटा बना कर खाना सुविधाजनक समझते हैं।

स्वयं प्रयोग करके तथा दूसरे लोगों को प्रयोग कराने के बाद महात्मा गांधी यह सम्मति बना पाये हैं कि मानसिक तथा शारीरिक श्रम करने वालों के लिये अजीर समान रूप से उत्तम आहार द्रव्य है।

बच्चों को अजीरें खूब खानी चाहिये

नीचे की तालिका में मानवीय दुग्ध, सम्पूर्ण गेहूँ और सफेद आटे-मेदे की तुलना में काले अजीरों की पोषक उपयोगिता दिखाई गई है।

काली अंजीर

	मानवीय दूध	ताजी	सूखी	संपूर्ण गेहूँ की रोटी
पानी प्रतिशतक	८७.७५	७६.००	२०.००	३८.४
प्रोटीन	१.००	१.५०	५.५०	६.७०
वसा	३.६५	०.२०	१.००	०.६०
निशास्ता				५३.२०
शर्करा	६.२५	१८.७०	६३.००	
सेलुलोज				
काष्ठोज			७.३०	१.६०
ऐन्द्रिक				
लवण	०.४५	०.६०	३.००	१.५०

जल रहित पदार्थ के एक हजार भागों में ऐन्द्रिक लवण इस प्रकार होते हैं।

	मानवीय दूध	काली अंजीर	सम्पूर्ण गेहूँ	मैदा
पोटाशियम	११.७३	१०.५०	७.२०	१.८८
सोडियम	३.१६	६.६०	०.५०	०.०८
कैल्शियम	५.८०	३.५०	०.७५	०.४३
मैग्नीशियम	०.७५	३.४०	२.८०	०.४४
लोहे	०.०७	०.६०	०.३०	०.०३
प्रस्फुरक	७.८४	६.३०	१०.००	२.८०
गन्धक	०.३३	२.७०	०.०६	
बालुका	०.०७	२.४०	०.४६	
हरिण	६.३८	१.००	०.०७	
योग	३६.१३	४०.००	२२.१७	

ये संख्याएँ मानव दुग्ध और ताजे अंजीरों के निक संघटन में बहुत अधिक समता दिखाती हैं, विशेषकर ऐन्द्रिक लवणों Organic salts के अनुपात के सम्बन्ध में। जहाँ माता के दूध में बसा की प्रतिशतकता उच्च है।

पुष्टिदायक मेवा—अंजीर

७३

वहाँ अंजीर में फलों की शर्करा अधिक है, इस प्रकार प्रति औंस ताप की इकाइयों Calories का परिमाण एक समान ही है। सूखे अंजीर के प्रति पौण्ड में १४७५ ताप की इकाइयाँ होती हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि महत्त्वपूर्ण पदार्थ सोडियम, लोह और गन्धक अंजीर में दूध और गेहूँ की अपेक्षा अधिक अनुपात में होते हैं। बढ़ते हुए बच्चों में क्योंकि शारीरिक और मानसिक वृद्धि हो रही होती है। इसलिए उपचय Oxidisation और अपचय Elemination की प्रक्रिया के लिये इनकी अधिक जरूरत पड़ती है। अन्य पदार्थों की अपेक्षा ये पदार्थ अधिक शीघ्रता से नये पहुँचा दिये जाने चाहिये और इनका हमारे भोजन में पर्याप्त परिमाण में होना बहुत महत्त्व की बात है। इनकी पूर्ति के लिये और शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार की थकान को दूर करके शरीर में पुनः जीवनी शक्ति भर देने के लिये अंजीरों को भोजन में शामिल कर लेना बहुत लाभदायक सिद्ध होता है।

सूखे अंजीर यदि रासायनिक सुरक्षकों Chemical-preservatives से रहित हों तो बच्चों के लिये खाण्ड मिठाई और निशास्ते वाले भोजनों के स्थान पर अत्यन्त स्वास्थ्य-प्रद और पोषक फलों में से एक हैं। ये दाँतों की रक्षा करते हैं, सुगमता से पच जाते हैं और मलबन्ध नहीं होने देते। ये भोजन तथा औषध दोनों में समान रूप से इस्तेमाल होते हैं। प्रत्येक घर में इनका प्रयोग बढ़ना चाहिए।

पाचन संस्थान के रोग

थोड़ी मात्रा में खाये जाने पर अंजीर पाचक हृदय के लिये हितकर और रुचिकर होते हैं। बहुत अधिक खाये जायँ तो किसी-किसी को अफारा और कभी-कभी वेदनानु-गामी अतिसार आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। प्रवाहिदा, पेचिश, अतिसार, दस्त तथा आँतों की निर्बल अवस्थाओं में महात्मा गांधी अंजीर का काढ़ा बना कर प्रयोग कराते थे। उबालने से पहले कुछ घण्टे तक इन्हें पानी में भिगोकर नरम कर लिया जाना चाहिये। पूरा गुण प्राप्त करने के लिए इसे

तब तक आग पर पकाते रहना चाहिए जब तक कि वे स्वयं पानी में घुल न जायँ। कपड़े में छान कर बीजों को अलग करके इस काढ़े को पिलाते थे। पाचन संस्थान की निर्बल अवस्थाओं में सूखे अंजीरों का सम्पूर्ण फल के रूप में प्रयोग अनुलोमन होने से कुछ क्षोभ पैदा करने का कारण बन सकता है, परन्तु पूज्य बापू जी द्वारा अनुभव की हुई उपर्युक्त विधि से काढ़ा बना कर देने में आँतों के क्षुब्ध होने की सम्भावनाएँ बिल्कुल नहीं रह जाती और अंजीर के पूरे लाभ भी मिल जाते हैं। खून वाले दस्तों में शोढल निर्वंदुकार अंजीर का प्रयोग लाभदायक समझते हैं।

जिगर तिछी के रोग

बच्चों के लिए जिगर बढ़ जाने में अंजीर बहुत प्रभाव-कारी मानी जाती है। सिरके में डाली हुई अंजीरों का प्रयोग बढ़ी हुई तिछी को कम करता है। पकी हुई ताज़ी या सूखी अंजीरों को नियम पूर्वक सेवन करने से जिगर और तिछी के अवरोध दूर हो जाते हैं।

मलबन्ध की प्राकृतिक चिकित्सा

कब्ज दूर करने के लिये अंजीर प्रतिदिन दूध के साथ खाये जाते हैं। फलों में विद्यमान बीज आँतों की जलौका-गति पैरिस्टैल्टिक मूवमेण्ट को बढ़ा देते हैं जिससे मल शीघ्रता से आगे खिसक जाता है। इस प्रकार इसका मल-संसक और अनुलोमक प्रभाव होता है। चिरस्थायी मल-बन्ध की शिकायत वालों को अंजीर अपने भोजन का अंग बनाना लाभदायक होगा। इन्हें खबह नाश्ते में आधे छटांक तक अंजीरें खूब चबा कर खानी चाहिये। ऊपर से गरम दूध पिया जाना चाहिये। रोगी की प्रकृति पैत्तिक हो तो अंजीरों को रात भर पानी में भिगो कर खाना अधिक प्रशस्त होता है। स्टीफन्सन और चर्चिल का ब्याल है कि मानवीय रिकार्ड में प्राचीनतम विरेचक द्रव्य यही था जिसे हिज़ीकिया इस्तेमाल करता था यह हिप्पोक्रेट्स से दो सौ साल पहले जिन्दा था।

आयुर्वेद-जगत्

११ वाँ राजस्थान वैद्य सम्मेलन

कविराज माधव प्रसाद शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य



११वाँ राजस्थान वैद्य सम्मेलन मुजानगढ़ में जोधपुर के राजवैद्य पं० जशराज जोशी भिषगाचार्य वैद्यरत्न की अध्यक्षता में मई की ३, ४, ५ तारीख को कई नूतन आयुर्वेदीय समस्याओं के विचार के साथ सानन्द सम्पन्न हुआ।

इस अवसर पर राजस्थान के लगभग १५० प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। इनके अलावा बाहर से विशेष निमन्त्रण पर आचार्य यादवजी महाराज पधारे थे। राजस्थान के प्रतिनिधियों में विशेषरूपसे उदयपुर के कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्य, वैद्य प्रेमशंकरजी भिषगाचार्य, वैद्य भागीरथ जोशी; जोधपुर के कविराज विष्णुदत्त पुरोहित, कविराज माधव प्रसाद, वैद्य वद्रीप्रसाद, बीकानेर के वैद्य शंकरदत्तजी, वैद्य गोविन्दनारायण बी० एस० सी०; जयपुर के वैद्यराज नन्दकिशोरजी, वैद्यराज जयरामदासजी, स्वामी मंगलदासजी, पिलानी के आचार्य नित्यानन्दजी सारस्वत, रतनगढ़ के पूज्य मणिरामजी महाराज आदि महानुभावों ने भाग लेकर सम्मेलन को सफल बनाने में पूर्ण योग-दान दिया। इस सम्मेलन की यह भी एक विशेषता थी कि इस अवसर पर राजस्थान के स्वास्थ्यमन्त्री एवं स्वायत्तमन्त्री ने पधारकर सम्मेलन को अपने सारगर्भित वक्तव्यों द्वारा सफल बनाया। स्थानीय जनता की उपस्थिति भी उनके प्रेम का परिचायक थी।

प्रथम दिवस—प्रातः ६ बजे सभापति राजवैद्य पं० जशराज जोशी भिषगाचार्य का जुलूस निकाला गया जो नगर के प्रधान-प्रधान स्थल से होता हुआ पुनः पण्डाल में

पहुँचा। जुलूस समाप्ति के बाद आयुर्वेद मार्तण्ड श्रीमणिरामजी महाराज के करकमलों द्वारा प्रदर्शिनी का उद्घाटन कार्य सम्पन्न किया गया।

प्रदर्शिनी में हस्तलिखित प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थों का प्रदर्शन प्रदर्शिनी की विशेषता का परिचय देता था। अच्छे हो यदि स्वागत समिति या सम्मेलन ऐसे ग्रन्थ रत्नों को सुदृष्ट करवा कर वैद्य समाज तक पहुँचाने की व्यवस्था को

उद्घाटन-भाषण—उद्घाटन की रश्मि राजस्थान के स्वास्थ्य सचिव श्री मथुरादास माथुर ने मध्याह्न के ३।२० पर अदा की। आपने अपने भाषण में बताया कि—“आज के दिन जिस प्रकार एलोपैथी की इज्जत हो रही है उसी प्रकार हम आयुर्वेद की इज्जत भी देखना चाहते हैं।”

श्री माथुर ने यह भी बताया कि—“स्त्री चिकित्सक को सरकार द्वारा प्राथमिकता दी जायगी। अन्त में आपने कहा कि ‘मेरे से जो जैसा भी सहयोग आप चाहेंगे मैं सहयोग के लिये तैयार रहूँगा और आपके सम्मेलन सुझावों को सक्रिय रूप देने का प्रयत्न करूँगा।’

माननीय स्वास्थ्यमन्त्री के भाषण के अनन्तर स्वास्थ्य मन्त्री स्वामी श्री गणेशदासजी ने साभार उन्हें धन्यवाद दिया। पश्चात् नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन के सभापति श्री यादवजी महाराज ने भी संक्षिप्त भाषण दिया। आपने बताया कि आयुर्वेद इतिहास का दिग्दर्शन करते हुए आयुर्वेद की मौलिकता और महत्ता पर प्रकाश डाला। साथ ही आपने भी बताया कि अनुसन्धान कार्य राज्य और प्रजा दोनों की सहायता से ही सम्पन्न हो सकता है। अन्त में

स्वास्थ्यमन्त्रीजी की ओर संकेत करते हुए आचार्यजी ने कहा कि यदि सरकार का सहयोग वैद्यों को पूर्णरूपेण प्राप्त हो जायगा तो निस्सन्देह हमें फिर विदेशीय पेन्सलोन और स्टेप्डोमाईसीन की आवश्यकता महसूस नहीं होगी।”

श्री यादवजी महाराज के भाषण के अनन्तर स्वामी मंगलदासजी ने सभापति निर्वाचन का प्रस्ताव रखा और स्वामी हरिदास बी० ए० एवं श्री गोविन्दनारायण बी० एस० सी० के समर्थन एवं अनुमोदन के पश्चात् श्री जशराज जोशी भिषगाचार्य ने सभापति का आसन ग्रहण किया। तत्पश्चात् छजानगढ़ के श्री रामलालजी प्राणाचार्य का स्वागत भाषण हुआ।

माननीय स्वागताध्यक्ष के भाषण के अनन्तर स्वामी मंगलदासजी का सारगर्भित भाषण हुआ। सरकार से मांग करते हुए श्री स्वामीजी ने कहा कि “सरकारी बड़े अस्पतालों में एक विभाग आयुर्वेद का भी खुलना चाहिये जिसे आयुर्वेदज्यों के अधिकार में रखा जाय। वहाँके रोगियों का स्वास्थ्य-विवरण देकर फिर सरकार आयुर्वेद के आगे प्रोत्साहन का विचार करे। यदि आयुर्वेद में वास्तविकता है तो उसे अपनाया जाय अन्यथा बिलकुल बन्द कर दिया जाय। किन्तु आयुर्वेद को परीक्षण का भी तो अवसर मिलना चाहिए।”

द्वितीय दिवस—ठीक ८।४० पर प्रातः आगे की कार्यवाही आगत विद्वानों के बीच आरम्भ हुई।

चिकित्सा सम्भाषा परिषद्

श्री महाराणा आयुर्वेदिक चिकित्सालय उदयपुर के प्रधान चिकित्सक माननीय वैद्य श्रीश्यामसुन्दरजी आयुर्वेदाचार्य की अध्यक्षता में चिकित्सा सम्भाषा परिषद् की कार्यवाही आरम्भ हुई। जिसमें पिलानी के वैद्य नित्यानन्द सारस्वत, बीकानेर के वैद्य गोविन्द नारायण, वैद्य विश्वनाथ जोशी; संगरिया के वैद्य लेखरामजी, बम्बई के आचार्य यादवजी, उदयपुर के कविराज प्रतापसिंहजी, पं० प्रेमशंकरजी, श्री भागीरथ जोशी, सीकर के वैद्य प्रभुदत्तजी आदि विद्वानों ने

क्रमशः विशेष भाग लेकर इस परिषद् का सफल बनाया। विद्वान्वैद्यों ने चिकित्सा सम्बन्धी कठिनाइयों पर विचार-विमर्श किया और साथ ही कई रोगों के प्रतिकार की योजना भी बनाई गई। अन्त में माननीय अध्यक्ष ने पंचकर्म की महत्ता का दिग्दर्शन कराते हुए चिकित्सा में अनुसन्धान की रेखा प्रस्तुत की।

स्वायत्त मंत्री का भाषण

मध्याह्न ३।१५ पर पुनः खुले अधिवेशन की द्वितीय दिवस की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। माननीय स्वायत्त मंत्री ने संक्षिप्त और सारगर्भित भाषण देते हुए बताया कि मैं किसान हूँ; जब भी बीमार होता हूँ तब वैद्यों से ही मिलता हूँ। इस प्रकार मैं ही नहीं, हजारों ग्रामीण ऐसे हैं जिनका सहारा केवल आयुर्वेद ही है। डाक्टर जहाँ नहीं पहुँच पाते वहाँ आयुर्वेद ही उन्हें जीवनदान देता है। इसके सिवा हमारी भारतीय वृत्ति में शोषण नहीं है; त्याग की भावना अधिक है; इसीलिये मेरी सहानुभूति आयुर्वेद की ओर है। अन्त में आपने बताया शहर में डाक्टर जितने बढ़ेंगे उतनी बीमारियाँ भी बढ़ेंगी। किन्तु आप लोगों के त्याग व तपस्या एवं सेवा-भाव से ग्रामीण लोगों की उन्नति होगी, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है।

भारतवर्ष के बड़े-बड़े नेताओं, विद्वानों एवं पदाधिकारियों के शुभ सन्देश प्राप्त हुए थे। प्रधान मंत्री ने उन प्राप्त सन्देशों को सुनाया। सन्देश भेजनेवालों में मुख्यतः राष्ट्र-पति डा० राजेन्द्रप्रसाद, राजकुमारी अमृत कौर, श्री जय-नारायण व्यास, पं० उदयचन्द्र भट्टारक, डा० अम्बालाल आदि नेताओं व महानुभावों का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सन्देशपाठ के अनन्तर नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठाध्यक्ष माननीय वैद्य मणिरामजी भिषगाचार्य ने धन्वन्तरि मन्दिर रतनगढ़ की उपयोगिता सम्बन्धी भाषण दिया; जिसमें बताया कि ४ लाख की इस मन्दिर की योजना में अभी केवल २४ हजार की धनराशि एकत्रित हुई है; शेष राशि पूर्ति के लिये सभी वैद्यों का सहयोग अपेक्षणीय है।

तत्पश्चात् राजस्थान आयुर्वेद स्टडीज के सुपरिण्टेण्डेंट राजवैद्य श्री नन्दकिशोरजी भिषगाचार्य एवं आयुर्वेद विभाग के डायरेक्टर कविराज प्रताप सिंहजी रसायनाचार्य के गवेषणात्मक शास्त्रीय भाषण हुए।

अध्यक्षीय भाषण

सर्वप्रथम माननीय अध्यक्ष ने आयुर्वेदोद्धार की कर्तव्य-शीलता को समझाते हुए बताया कि आयुर्वेदोद्धार करना सम्पूर्ण भारतीयों का मुख्य कर्तव्य है। हमें संस्कृति, विज्ञान, धर्म और सामाजिक व्यवस्था को ठीक करना होगा तभी वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेंगे। संस्कृति की रक्षा के अभाव में केवल आयात रूप से प्राप्त राजनैतिक स्वतन्त्रता तो स्वप्नवत् नष्ट हो सकती है।

आपने आगे बताया—“आयुर्वेद वैज्ञानिक है।” यह सर्वथा सत्य होते हुए भी आज के पाश्चात्य वैज्ञानिक और अनुयायी डाक्टर्स ‘वैज्ञानिक’ इस वस्तु को सन्देहभरी दृष्टि से देखते हैं किन्तु वे इस बात को हृदय से नहीं कह सकते। हमारे भारतीय डाक्टर्स आयुर्वेद को अवैज्ञानिक पुकारा करते हैं क्योंकि ऐसा करने से उनके स्वार्थों की पूर्ति होती है। दलालों को जैसे कमीशन मिलता है वैसे उनको करोड़ों रुपयों की दवाएँ विदेशों से मँगाने में कमीशन मिल जाता है। वे अपने स्वार्थ के आगे कभी सोचने का कष्ट भी नहीं करते कि हमारे इस कुत्सित कृत्य से भारत दरिद्र होता जा रहा है और हम नमक की कंकरी मुख में रखने मात्र से खाँसी के दूर होने की हालत में भी कीमती पेप्स का ही प्रयोग करना अधिक उपादेय बतलाते रहते हैं।

पत्रकार सम्मेलन

माननीय अध्यक्ष के सारगर्भित भाषण के अनन्तर सायं ५½ बजे पिलानी के वैद्य नित्यानन्दजी सारस्वत की अध्यक्षता में पत्रकार सम्मेलन की कार्यवाही आरम्भ हुई। सर्वप्रथम पत्रकार सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए वैद्य सीतारामजी ने अपने संक्षिप्त भाषण में कहा कि—“आचार्य

जी के नेतृत्व में यह सम्मेलन पत्रकार जगत् में अच्छी जागृति करेगा इन्हीं शब्दों के साथ मैं सम्मेलन का उद्घाटन करता हूँ।”

तदनन्तर पत्रकार सम्मेलन के मन्त्री कविराज माधव-प्रसाद शास्त्री ने वर्षभर के कार्यों की ओर प्रतिनिधियों का ध्यान आकर्षित करते हुए बताया कि—“पत्रकार सम्मेलन ने स्थापित होते ही सर्वप्रथम अपना आयुर्वेदीय पत्र का प्रकाशन किया जिसे आज ६ माह से ऊपर हो चुके हैं, वैद्य समुदाय को इस पत्र की प्रगति में योगदान देना चाहिए।

मन्त्री के भाषण के अनन्तर उदयपुर आयुर्वेद कालेज के प्रिन्सिपल श्री प्रेमशङ्कर शर्मा भिषगाचार्य का सारगर्भित भाषण हुआ जिसमें उन्होंने आयुर्वेदीय पत्रकारिता पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का सिंहावलोकन करते हुए आपने बताया कि—“आज की स्थिति में यदि किसी भी शक्ति द्वारा हमें अपना जीवन शान के साथ बिताने के लिये साधन जुटाने की फिक्र हो तो वह साधन एक पत्र ही है।” आपने कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाले ‘सचित्र आयुर्वेद’ की सेवाओं की प्रशंसा की और कहा कि हमें राजस्थान में भी इसी श्रेणी का पत्र निकालना चाहिए उसी में आयुर्वेद का विकास निहित है।

अन्त में सभापति श्री आचार्य नित्यानन्दजी के सारगर्भित भाषण के अनन्तर पत्रकार सम्मेलन की कार्यवाही सधन्यवाद समाप्त की गई। और यह भी निश्चय किया कि पत्रकार सम्मेलन का नवीन चुनाव आगामी २ माह के भीतर कर लिया जाय और इस सम्बन्ध का सारा कार्यभार प्रधान मन्त्री को सौंप दिया गया।

तृतीय दिवस—प्रातःकाल ८ बजे वैद्य रामप्रसादजी की अध्यक्षता में पुरू जिला वैद्य सम्मेलन हुआ जिसमें विद्वानों ने विशेष रूप से भाग लेकर जिले की कई समस्याओं पर विचार-विमर्श किया।

तृतीय मालवा आयुर्वेद सम्मेलन जीरा

ता० २७-४-४१ को आयुर्वेदाचार्य पं० हरिदत्तजी शास्त्री के सभापतित्व में—मालवा आयुर्वेद सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन मनाया गया। सम्मेलन का उद्घाटन कविराज रामस्वरूपजी कौशिक ने किया। सम्मेलन में अनेक विद्वान वैद्यों के भाषण हुए, वक्ताओं ने यू० पी० सरकार की तरह पञ्जाब सरकार से ग्रामों में आयुर्वेदीय औषधालय खोलने के लिये विशेष जोर दिया और वैद्यों से संगठित हो आयुर्वेद प्रचार के लिये निवेदन किया।

—मन्त्री हरिवंश दीक्षित आयुर्वेदाचार्य

श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय-दिल्ली

दिल्ली के बोर्ड आफ मेडिसीन की कार्य करिणी द्वारा भारत की प्राचीनतम आयुर्वेदीय संस्था श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय की मान्यता न देना आयुर्वेद का घोर अपमान करना है।

यह विद्यालय उस समय से अर्थात् सन् १८६४ से जब कि भारत वर्ष में कहीं भी आयुर्वेद शिक्षा की सुव्यवस्था नहीं थी, और गुरु परम्परा से ही पठन-पाठन करके वैद्य मान्य होते थे आयुर्वेद की सुव्यवस्थित रूपेण निःशुल्क शिक्षा दे रहा है। और कई सहस्र इसके छात्रक भारत के कोने-कोने में आयुर्वेदीय शिक्षा संस्थाओं एवं औषधालयों में कार्य कर रहे हैं।

पाठ्यक्रम की दृष्टि से भी इस विद्यालय का स्तर अन्य विद्यालयों से किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। प्रत्युत आयुर्वेदीय शिक्षा में अपनी विशेषता रखता है।

समझ में नहीं आता कि बोर्ड की कार्य करिणी के सदस्यों ने इसकी उपेक्षा क्यों की, जब कि आयुर्वेद-शिक्षा का अभी तक कोई भी मापदण्ड बोर्ड की ओर से निर्धारित नहीं है। और यह विद्यालय अन्य प्रांतीय सरकारों द्वारा मान्यता प्राप्त कर चुका है।

अतः निवेदन है कि बोर्ड के सदस्य इस पर पूर्णतः विचार करें, तथा प्रान्तीय सरकार से भी सानुनय निवेदन है कि अपने बनाये हुए बोर्ड की आयुर्वेदीय संस्थाओं में विषमता न उत्पन्न करने दें।

—जगदीशप्रसाद वैद्यराज

स्व० कविराज पं० पूरणमल गोस्वामी

कलकत्ते के प्रसिद्ध यशस्वी चिकित्सक और गोस्वामी परिवार के नररत्न कविराज पं० पूरणमलजी गोस्वामी की अकस्मात् मृत्यु राजपुताना से कलकत्ता आते समय लड़ लगी-कर इटावा स्टेशन पर ता० १३।६।५१ को हो गयी, मृत्यु के समय आपकी वय ६१ वर्ष की थी।

आपका जन्म फतेहपुर नामक ग्राम में राजपुताना के प्रसिद्ध गोस्वामी चिकित्सक परिवार में हुआ था। आपके पिता जगन्नाथजी गोस्वामी कलकत्ते के प्रसिद्ध चिकित्सक थे। स्वामीजी आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर और व्यावहारिक ज्ञान अपने परिवार में सारी सुविधाओं के कारण शीघ्र प्राप्त कर अपने पिताजी के साथ १६ वर्ष की वय में चिकित्सा कार्य प्रारम्भ कर दिया था। निदान-चिकित्सा में बड़े से बड़े वैद्य, डाक्टर आपका लोहा मानते थे। मियादी बुखार और पक्षाघात के आप विशेषज्ञ थे। अतएव इन रोगों के रोगी आपकी चिकित्सा में खासकर रहते थे।

आयुर्वेदीय चिकित्सा द्वारा लाखों रुपये प्राप्त कर बड़ा-बाजार के वैद्यों में अपना उच्च स्थान बना लिया था। आप जिस तरह कमाते थे, उसी तरह दिल खोलकर दान भी किया करते थे। स्थानीय मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी में आयुर्वेद विभाग के भीजिटिंग फीजिसियन थे।

१९३८ में आयुर्वेदीय स्टेटेफेकल्टी स्थापना के अवसर पर फेकल्टी सरकार ने एक पैसा भी देने से इन्कार कर दिया, उस समय गोस्वामीजी ने ५००० रुपये एक मुक्त फेकल्टी चलाने के लिए आरम्भ में दिया और कहा कि आयुर्वेद की उन्नति के लिये सर्वस्व देकर भी फेकल्टी का कार्य चालू किया जाय। आपने फेकल्टी के कार्य की उन्नति अनेक वर्षों तक जनरल काँसिल के सदस्य की हैसियत से की। ब्रह्मचर्याश्रम रतनगढ़ एवं अनेक सार्वजनिक संस्थाओं को प्रचुर परिमाण में आपने दान दिया था। आप सरल प्रकृति के मृदुभाषी-मिलनसार और उच्चकोटि के सफल चिकित्सक थे। गोस्वामीजी के असामयिक निधन से आयुर्वेद जगत् में खासकर कलकत्ते के बड़ाबाजार के आयुर्वेद क्षेत्र में जो कमी आयी है, उसकी पूर्ति अभी होना कठिन है। आपके पुत्र शिवप्रसादजी गोस्वामी हैं, जो कलकत्ते में ही एक आयुर्वेदीय संस्था चला रहे हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि दिवंगतात्मा को शान्ति प्रदान करे।

वैद्यनाथ-बटी-गोलियाँ

स्वादिष्ट और हाजमा करनेवाली गोलियाँ भोजन के बाद और रोगनाशक बटी सुबह-शाम मधु या गर्म जल आदि रोगानुकूल अनुपान के साथ १ से २ गोली तक लेनी चाहिये। जिन बटियों में कुचला या अफीम हो उनकी खुराक १ गोली से ज्यादा नहीं है। पाचक बटी बिना अनुपान के भी चूस कर खायी जाती है।

अग्निपुण्ड्री बटी—हाजमे के लिये प्रसिद्ध है। इसमें कुचिला का सम्मिश्रण है। कीमत—१ तोला ॥३॥, आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥३॥

अग्निवर्द्धक बटी—अत्यन्त स्वादिष्ट और पाचक बटी। एक दो गोली खाते ही मुँह का जायका ठीक हो जाता और भूख बढ़ जाती है। कीमत—२॥ तोला ॥२॥

अशोऽघ्नी बटी—खूनी और वादी बवासीर की अव्यर्थ महौषध है। कीमत—१ तोला २), आठ आना भर १॥२॥, चार आना भर ॥३॥

एलादि बटी—सूखी खाँसी, क्षय की खाँसी, रक्तपित्त (मुँह से खून गिरना), जुखार, वमन, जी घबड़ाना, स्वरभेद आदि में इससे बहुत फायदा होता है। कीमत—१ तोला ॥३॥, आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥३॥

कर्पूरादि बटिका—मुँह में छाले पड़ना या बदन आना, दाँतों से पीव निकलना, मसूढ़े फूल जाना तथा अन्य मुख रोगों में फायदेमन्द है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥२॥

कांकायन बटी—(गुल्म) और रजावरोध में अत्यन्त लाभकारी है। कीमत—१ तोला ॥३॥, आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥३॥

कांकायन बटी—(बवासीर)—इससे खूनी और वादी दोनों बवासीर में फायदा होता है। कीमत—१ तोला ॥२॥, आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥३॥

कुटजघन बटी—ज्वर, अतिसार, संग्रहणी में पतले दस्त होने पर इससे लाभ होता है। कीमत—१ तोला ॥२॥, आठ आना भर ॥२॥, चार आना भर ॥३॥

कृमिघातिनी बटी—पेट में कीड़े पैदा हो जाने से होने वाले रोगों की सर्वोत्तम दवा। कीमत—१ तोला ॥३॥, आठ आना भर ॥३॥, चार आना भर ॥३॥

खदिरादि बटी—स्वरभंग, खाँसी, मुँह में छाले पड़ जाने पर या ओठों के विकार में इस गोली को धीरे-धीरे चूसने से बहुत लाभ होता है। कीमत—१ तोला ॥३॥, आठ आना भर ॥३॥, चार आना भर ॥३॥

चन्दनादि बटी—पेशाब की जलन और मवाद को बन्द कर सूजाक को मिटाती है। कीमत—१ तोला २॥३॥, आठ आना भर १॥२॥, चार आना भर ॥३॥

चन्द्रप्रभा बटी—धातु का पतलापन, एल्यूमियन जाना, शीघ्रपतन, स्वप्नदोष और सब प्रकार के प्रमेह की निश्चित दवा है। श्वेत प्रदर में भी लाभकारी है। कीमत—२ तोला १॥२॥, एक तोला ॥३॥

चित्रकादि बटी—पाचन-शक्ति की कमी, अरुचि, आँव, पेचिश, संग्रहणी आदि रोगों को दूर करती है। कीमत—२॥ तोला ॥३॥

जातीफलदि बटी—(संग्रहणी)—यह अतिसार और संग्रहणी तथा दस्तों में खून आने को रोकती है। कीमत—१ तोला ७॥३॥, आठ आना भर ३॥३॥, चार आना भर १॥३॥, दो आना भर १)

(ख)

जातीफलादि बटी—(स्तम्भक)—१ तोला ८॥), आठ आना भर ४१-), चार आना भर २३), दो आना भर १२)

दुग्ध बटी—(शोथ)—सूजन, मन्दाग्नि, पाण्डु रोग में इससे लाभ होता है। कीमत—१ तोला ४), आठ आना भर २-), चार आना भर १-)

दुग्ध बटी—(संग्रहणी)—प्रवाहिका, आमातिसार तथा संग्रहणी में इससे लाभ होता है; कीमत—१ तोला ३), आठ आना भर १॥-), चार आना भर ॥॥-)

प्राणदा गुटिका—बवासीर के लिये महौषध है। पाण्डु, कृमि, गुल्म, पेट दर्द, श्वास, कास आदि रोगों में भी इससे फायदा होता है। कीमत—१ तोला ॥-), आठ आना भर १-॥), चार आना भर ३॥)

प्लीहादि बटी—तिल्ली (प्लीहा) की उत्कृष्ट दवा है। इसके सेवन से, पेट में बड़ी हुई प्लीहा की वजह से होने वाले ज्वर छूट जाते हैं। कीमत—१ तोला ॥३), आठ आना भर ॥॥), चार आना भर १॥)

ब्राह्मी बटी—(स्वर्णयुक्त)—यह दिमाग की कमजोरी, हृदय की दुर्बलता, अनिद्रा, हिस्टीरिया, मूच्छा, प्रलाप, पागलपन, स्मरण-शक्ति का हास आदि मस्तिष्क विकारों में बहुत लाभदायक है। मोतीभरा और मियादी बुखार की वेचैनी में भी इसका प्रयोग किया जाता है। कीमत—१ तोला ४०), चार आना भर १०-), दो आना भर ५-), एक आना भर २॥-)

ब्राह्मी बटी—(चेचक) १ तोला ४१), आठ आना भर २३), चार आना भर १२)

मकरध्वज बटी—दिल-दिमाग के लिये पुष्टिकारक, शीघ्र-पतन-नाशक, स्तम्भक, बल-वीर्य-वर्द्धक तथा नपुंसकता, स्नायु-दुर्बलता में महोपकारी है। कीमत—१ तोला ६॥), आठ आना भर ४॥१-), चार आना भर २३), दो आना भर १॥)

मरिचादि बटी—सब तरह की खाँसी (सूखी-गली) में फायदा करती है। कीमत—१ तोला ॥-), आठ आना भर १-॥), चार आना भर ३॥)

महाशंख बटी—अजीर्ण, पेटदर्द, आफरा एवं आमदोष और संग्रहणी में लाभकारी है। कीमत—१ तोला ॥३), आठ आना भर ॥), चार आना भर १॥)

शुक्रादि बटी—बालकों का ज्वर, सूखा रोग, दूध न पचना, पतला दस्त, खाँसी आदि में फायदेमन्द है। कीमत—१ तोला १८), चार आना भर ४॥१-), दो आना भर २१-), एक आना भर १३)

रजःप्रवर्त्तनी बटी—स्त्रियों का रुका हुआ मासिक धर्म इससे खुल जाता है। कीमत—१ तोला १॥२), आठ आना भर ॥३), चार आना भर १३॥)

राज बटी (गन्धक बटी)—भोजन अच्छी तरह पचाकर दस्त साफ लाने में सर्वोत्तम है। कीमत—५ तोला ॥३)

लवंगादि बटी—सब तरह की खाँसी में फायदेमन्द है। कीमत—१ तोला ॥३), आठ आना भर १३॥), चार आना भर ३॥)

लशुनादि बटी—अजीर्ण के कारण पेट में अधिक वायु पैदा होने पर लाभकारी है। कीमत—१ तोला ॥), आठ आना भर १-), चार आना भर ३॥)

* इस चिह्नावली दवाएँ स्वर्णघटित हैं।

विषमुष्णदि बटी—इसके सेवन से विषमज्वर, जीर्णज्वर और पेटका दर्द दूर होता है। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=), चार आना भर ॥=)॥

वृद्धिवाधिका बटी—इसके नियमित सेवन से अण्डकोष का बढ़ना एवं हार्निया रोग समूल नष्ट होता है। कीमत—१ तोला २॥=), आठ आना भर १॥), चार आना भर ॥=)॥

व्योषादि बटी—सर्दी, जुकाम, खाँसी और स्वरभंग में लाभदायक है। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=)॥, चार आना भर ॥=)॥

शङ्ख बटी—अजीर्ण, मन्दाग्नि, पेट का दर्द, गुल्म आदि रोगों में इससे बहुत लाभ होता है। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=), चार आना भर ॥=)॥

शिलाजत्वादि बटी—इसके सेवन से वीर्य की क्षीणता, इन्द्रिय-शिथिलता, स्वप्नदोष, टट्टी और पेशाब के साथ वीर्य जाना, याददाश्त की कमी, प्रमेह आदि रोग दूर होते हैं। पेशाब के साथ चीनी जाना भी रुक जाता है। कीमत—१ तोला २६), चार आना भर ६॥-), दो आना भर ३॥-), एक आना भर १॥=)

शूलवर्जिनी बटी—पेट-दर्द के कारण बार-बार तकलीफ भोगनेवालों के लिये विशेष उपयोगी है। कीमत—१ तोला ॥॥-), आठ आना भर ॥=)॥, चार आना भर १॥)

सञ्जीवनी बटी—हैजा, जीर्णज्वर, सन्निपात आदि में बहुत ही फायदा करती है। सब जगह इसका काफी प्रचार है। यह अच्छी दवा है। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=), चार आना भर ॥=)॥

संशमनी बटी—पित्तविकार, ज्वर, कमजोरी आदि में महोपकारी है। कीमत—१ तोला ॥॥=), आठ आना भर ॥॥), चार आना भर १॥)

सर्पमन्धाघन बटी—नींद लाने की अच्छी दवा है। उन्माद, हिस्टीरिया में लाभदायक है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥॥-), चार आना भर ॥=)

सारिवादि बटी—यह कान का बहना, गूँजना या कम सुनना आदि दूर करती है। कीमत—१ तोला २॥॥), आठ आना भर १॥=), चार आना भर ॥=)॥

सूरणबटक—बवासीर की प्रसिद्ध दवा है। मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि को दूर करता है। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=), चार आना भर ॥=)॥

सौभाग्यबटी—सम्पूर्ण प्रसूतविकारों में अत्यन्त लाभदायक है। कीमत—१ तोला—१॥), आठ आना भर ॥॥-), चार आना भर ॥=)

हिङ्गुर्कपुंरादि बटी—सन्निपात रोग में हाथ-पाँव काँपना, कपड़े फेंकना, उठ बैठना, बकना आदि उपद्रवों तथा न्यूमोनिया रोग को दूर करती है। कीमत—१ तोला १४), आठ आना भर ७-), चार आना भर ३॥-), दो आना भर १॥॥-)

हिस्टीरियामर्दन बटी—स्त्रियों के हिस्टीरिया रोग की मशहूर दवा है। कीमत—१ तोला ४), आठ आना भर २-), चार आना भर १-)

१ तोला ८ आ० ४ आ०

अपतन्त्रकारि बटी (हिस्टी०) १॥) ॥॥- ॥=)
चन्द्रकला बटी (प्रमेह) ३) १॥- ॥॥-
पंचतिक्तघन बटी (विषमज्वर) १) ॥- ॥-

१ तोला ८ आ० ४ आ०

भागोत्तरगुटिका (कास-श्वास) १॥) ॥=),
मेहमुद्गर बटी (प्रमेह) ॥॥= ॥)
शुकमातृका बटी (प्रमेह) ४॥॥) २॥=)

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,

कलकत्ता : पटना : भांसा : नागपुर ।

* इस चिह्नवाली दवाएँ स्वर्णघटित हैं ।

वैद्यनाथ प्राणदा की विशेषताएँ

वैद्यनाथ प्राणदा ही मलेरिया बुखार की सबसे अच्छी दवा है; क्योंकि:

- १-तात्कालिक लाभ वैद्यनाथ प्राणदा की २-३ खुराक पीनेसे ही मलेरियाका आना रुक जाता है। यह तात्कालिक लाभ है।
- २-स्थायी लाभ वैद्यनाथ प्राणदाकी बड़ी शीशी ४ अथवा छोटी शीशी ८ पीनेसे १०-१२ वर्षसे बराबर आनेवाला मलेरिया भी विलकुल आराम हो गया, ऐसे सैकड़ों लिखित प्रमाण हैं। साल-छः महीने का मलेरिया तो लाखों का चला गया।
- ३-वैज्ञानिक प्रमाण सिर्फ ३ खुराक वैद्यनाथ प्राणदा पीनेके बाद ही अणुवीक्षण यन्त्र (खुर्दबीन) से देखने पर रोगी के खूनमें मलेरियाके कीटाणु नहीं पाये जाते।
- ४-निर्दोषिता जर्मनी, अमेरिकन, इङ्गलिश आदि मलेरियाकी विदेशी दवाओं से मलेरिया नष्ट होनेपर भी अन्यान्य उपद्रव हो जाते हैं। पर वैद्यनाथ प्राणदा से ऐसा नहीं होता।
- ५-विशेषता मलेरिया और मलेरियासे पैदा होनेवाले सभी उपद्रवोंमें वैद्यनाथ प्राणदा निश्चित फायदा दिखलानेवाली दवा है।
- ६-आरोग्यता वैद्यनाथ प्राणदाके सेवनसे भूख बढ़ती है, दस्त साफ होता है, खून बढ़ता है तथा शरीर बलवान् होकर पूर्ण तन्दुरुस्ती प्राप्त होती है, जिससे फिर मलेरिया का आक्रमण नहीं हो सकता।
- ७-उदर-शुद्धि अंतर्द्वियों में चिपटा हुआ पुराना संचित मल निकाल कर उदर-शुद्धि करने की क्षमता वैद्यनाथ प्राणदा में है। तिछी और लीवर (यकृत) आदि उदर रोगोंकी यह सुन्दर दवा है।
- ८-कम खर्च इसके द्वारा पाँच-छः रुपयेमें ही बुखारका जैसा बढ़िया इलाज हो जाता है, वैसा डाकूनों पर सैकड़ों रुपया खर्च करनेसे भी नहीं हो सकता।
- ९-सुलभता वैद्यनाथ प्राणदा सब जगह मिलता है। ४ कारखाने, ५० से अधिक धिक्रीकेन्द्र तथा १४ हजार से अधिक एजेन्सियों द्वारा सब जगह एक साथ एक ही कीमत में मिलता है।

मूल्य—४ औंस ८ खुराक का १।।), २ औंस ४ खुराक का ॥—)

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के
भूतपूर्व सभापति, भिषगाचार्य कविराज
हरिरंजन मजुमदार

की

शुभ-सम्मति

लोगों में आम विश्वास है कि जब किसी औषधनिर्माणशाला (फार्मसी) द्वारा कोई पत्रिका प्रकाशित की जाती है तो उस का मुख्य उद्देश्य अपनी निर्माणशाला द्वारा प्रस्तुत औषधों का विज्ञापन करना होता है। किन्तु श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'सचित्र आयुर्वेद' को देखने पर कुछ और ही विचार मन में आता है। इस का सूक्ष्म अध्ययन करके हम देखते हैं कि यह पत्रिका अधिकांश में मौलिक एवं अनुसन्धानपूर्ण आयुर्वेदीय निबन्धों तथा आयुर्वेदीय जगत् में होने वाली घटनाओं की ताजी से ताजी जानकारी से परिपूर्ण रहती है। इसको सुन्दर रूप में प्रकाशित करने में और इस के द्वारा विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों के अनुगामियों में आयुर्वेद के सत्य का प्रचार-प्रसार करने में इस के प्रकाशकों एवं सम्पादकों ने कोई कसर उठा नहीं रखी है। आयुर्वेद के अभ्युदय के निमित्त 'सचित्र आयुर्वेद' के संचालकों की सेवाएँ सराहनीय एवं प्रशंसनीय हैं।

बनारस,

७-६-५१

}

क० हरिरंजन मजुमदार

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • हाँसी • नागपुर

चित्र

आयुर्वेद



वर्ष ३]

कलकत्ता. जून, १९५१

गुरुकुल-पत्रिका,
गुरुकुल श्रौंगरी.

[अंक १२]

स्व० तपस्वी डा० बाबा साहब परांजपे का सन्देश

‘चित्र आयुर्वेद’ के गत अप्रैल अंक के मुख पृष्ठ पर हमने वैद्य भा० गो० घाणेकरजी का यह महत्वपूर्ण कथन अन्दर छपे उनके विद्वत्तापूर्ण लेख से उद्धृत किया था कि “जब तक सब प्रकार की साधन-सामग्री से सुसम्पन्न तथा आधुनिक नैदानिकीय प्रयोगशालाओं (Clinical laboratories) से सुसज्जित अनेक अन्तरंगी आयुर्वेदीय आतुरालय नहीं स्थापित किये जाएँगे तब तक आयुर्वेद का वास्तविक उद्धार नहीं होगा क्योंकि अग्निवेशादि महर्षियों ने जो आयुर्वेद प्रतिपादित किया है वह आधिव्याधि पीड़ित रोगियों के पास बैठकर, उनके सुख-दुखों में समरस होकर, उनके अन्तरात्मा में आत्मा मिलाकर प्राप्त किया हुआ है।”

ठीक यही कथन स्व० तपस्वी डा० बाबा साहब परांजपे का भी आयुर्वेद के पुनरुत्थान के विषय में अवग्य करणीय के रूप में था। गत निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेदशास्त्रचर्चापरिषद् पर पटना में प्रसंग छिड़ने पर उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा था कि “स्नानालय को प्रधाना दो, विद्यालय को गौणता परन्तु आज उल्टा हो रहा है—विद्यालयों को प्रधानता देकर उनके अन्तर्गत या उनसे संलग्न स्नानालय चलाये जा रहे हैं। स्नानालय की प्रधानता को समझो और उसे उचित स्थान दो।”



श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः

कलकत्ता

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री
पं० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामणि

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति !=)

यकृत्-ग्रन्थ १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

शास्त्रचर्चा-परिषद्-अङ्क अप्राप्य

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

४ निर्माणकेन्द्र * ५० विक्रीकेन्द्र * १५ हजार एजेन्सियाँ

अथवा सीधे व्यवस्थापक, 'सचित्र आयुर्वेद', श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०.

कलकत्ता के पते पर अपना वार्षिक चन्दा ४) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

व्यवस्थापक का निवेदन

‘सचित्र आयुर्वेद’ के चन्दे में वृद्धि

निकट भविष्य में ही ‘सचित्र आयुर्वेद’ का वार्षिक मूल्य ४) चार रुपये से बढ़ाकर ५) पाँच रुपये करने का विचार हमलोग कर रहे हैं। उससे पूर्व ही चौथे वर्ष के लिए चन्दा ४) चार रुपये भेज कर ग्राहक बन जाने पर आप लाभ में रहेंगे। तीसरे वर्ष का यह बारहवाँ अङ्क आपके हाथ में है। यदि अब तक आपने अपना चन्दा न भेजा हो तो अब शीघ्र ही भेज दें।

३) तीन रुपये में

धर्मार्थ औषधालयों, सार्वजनिक पुस्तकालयों और शिक्षण संस्थाओं के लिए ‘सचित्र आयुर्वेद’ का वार्षिक चन्दा ४) चार रुपये न होकर ३) तीन रुपये मात्र है। इस सुविधा से उनको लाभ उठाना चाहिए।

कमीशन का लाभ

अपने मित्र वैद्यों और आयुर्वेद-प्रेमियों को भी ‘सचित्र आयुर्वेद’ के ग्राहक बन कर अपना, अपने समाज का और भारत राष्ट्र का हित करने के लिए प्रेरित कीजिये। प्रति पाँच ग्राहक बना कर २०) बीस रुपये मनिआर्डर द्वारा भेज देने पर हम आपको ४) चार रुपये नगद कमीशन देंगे। छात्रों को और श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के एजेण्टों को प्रति चार ग्राहक बना कर १६) सोलह रुपये मनिआर्डर द्वारा भेज देने पर ४) चार रुपये कमीशन दिया जायगा।

सर्वश्रेष्ठ रचना कौन-सी ?

प्रतिवर्ष ‘सचित्र आयुर्वेद’ में प्रकाशित किसी एक विद्वान् की सर्वश्रेष्ठ रचना या रचनाओं पर २५०) रुपया का एक पुरस्कार देने का निश्चय किया गया है।

तीसरे वर्ष में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ रचना के विषय में निर्णायक-समिति ‘सचित्र आयुर्वेद’ के पाठकों की सम्मति जानना चाहती है। अतएव ‘सचित्र आयुर्वेद’ के पाठकों से हमारा साग्रह अनुरोध है कि वे कृपया इस विषय में अपनी सम्मति निर्णायक-समिति के संयोजक के नाम से अवश्य भेज दें। तर्कपूर्ण उत्तम सम्मतियों को भी ‘सचित्र आयुर्वेद’ में प्रकाशित एवं ससम्मान पुरस्कृत किया जायगा। सम्मति निम्नोक्त पते पर भेजें।

—संयोजक ‘सचित्र आयुर्वेद’ पुरस्कार निर्णायक-समिति

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

पो० ब० ई० २५ कलकत्ता—६

अनुक्रमणिका

विषय	लेखक	पृष्ठ
देहावसान	...	१०११
सम्पादकीय	...	१०१२
स्व० तपस्वी परांजपे	...	१०१५
पण्डित कमेटी की रिपोर्ट	...	१०१७
निदान-चिकित्सा हस्तामलक	वैद्य रणजित राय	१०१६
पित्तदोषघ्न वर्ग	वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी	१०२५
आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम	वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य	१०३३
निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्र-चर्चा परिषद्		
पटना में पठित-निबन्ध—११	वैद्य गोडबोले शास्त्री	१०४१
मविष्य आपके हाथ में है	वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह, रसायनाचार्य	१०४४
पण्डित कमेटी की रिपोर्ट	वैद्य पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालंकार	१०४७
राजकीय भेषजिका और उसका निर्माण	वैद्य श्री रघुवीर प्रसाद द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य	१०४६
गुग्गुल-कल्प	पु० वि० धामनकर आयुर्वेदभूषण	१०५५
च्यवनप्राशावलेह	वैद्य सभाकान्त भा शास्त्री	१०६६
सन्निपात ज्वर चिकित्सा	कविराज अमलाचरण सेन	१०६३
पपीता या एरण्ड खर्बूजा	श्री भानु देसाई	१०६५
गर्मियों में स्वस्थ रहने के उपाय	वैद्य रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार	१०७१
ईमानदारी बनाम अज्ञान	वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, शास्त्राचार्य	१०७४
स्वास्थ्यमंत्री का आयुर्वेद के साथ सौतेला व्यवहार	...	१०७६
राजस्थान में शिक्षण-शिविर	...	१०७७
उज्जैन जिला आयुर्वेद मण्डल	...	१०७७
नेपाल वैद्य सम्मेलन	...	१०७८
१०००) एक सहस्र मुद्रा पुरस्कार	...	१०७८
श्री दैवी सम्पद मण्डल धर्मार्थ औषधालय	...	१०७८
वैद्य शिक्षण-शिविर रानीखेत	...	१०७८
आल इण्डिया आयुर्वेदीय काँग्रेस	...	१०८०

सचित्र आयुर्वेद

तपस्वी डा० बाबा साहब परांजपे, बिहार-गवर्नर श्री अणु के साथ



गत निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद्, पटना के अवसर पर उद्घाटन के लिए आते हुए महामान्य बिहार-गवर्नर श्री माधव श्रीहरि अणु के साथ ।
(बाबा साहब मध्य में हैं ।)

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



साचिन् आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३

जून, कलकत्ता, १९५१

अङ्क १२

बाबा साहब का देहावसान

आयुर्वेद के अनन्य सेवक बाबा साहब डा० नरहर शिवराम परांजपे का देहावसान हृदय की गति रुक जाने के कारण गत १६ मई को सायं ७-१० पर राज्यपाल भवन, पटना में हो गया। आप इधर कुछ दिनों से पटना में महामहिम अणे महोदय के साथ रहते थे।

बाबा साहब अपनी धुन के पक्के, स्पष्टवादी और त्यागवीर पुरुष थे जिससे जनता ने आपको 'तपस्वी' की उपाधि से विभूषित किया था। 'बाबा साहब' के नाम से ही इन दिनों आप प्रसिद्ध थे। आप उन आयुर्वेद भक्तों में से थे जो एलोपैथी से हताश होने के बाद आयुर्वेद की ओर आकृष्ट हुए और इसके पुजारी बन गये। वर्षों प्रैक्टिस करने के बाद आप एलोपैथी से विरत हो गये और शेष जीवन आयुर्वेद के उत्थान में बिताया। रचनात्मक कार्यों में आप ग्रामपंचायतों के बहुत समर्थक थे। मध्यप्रदेश में आपने ग्रामपंचायतों द्वारा जनता की बहुत सेवा की और बिहार की ग्रामपंचायतों में आयुर्वेद का प्रवेश कराया।

आपकी शमशान-यात्रा में पटना के सभी वर्ग के लोग बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। महामहिम अणे महोदय तथा राज्यपाल भवन के समस्त उच्च पदाधिकारी, चिकित्सा-मन्त्री माननीय पं० विनोदानन्द झा, पं० हरनारायण चतुर्वेदी, कविराज सुखरामप्रसाद, श्री वार्देकर, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० पटना के कार्य संचालक पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा तथा पं० बनवारीलाल शर्मा, मैनेजर श्री तेजनारायणप्रसाद तथा अधिकांश कर्मचारी एवं नगर के महाराष्ट्रियन सज्जन थे।

२०-५-५१ को श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० पटना में शोकसभा हुई जिसमें वक्ताओं ने स्व० बाबा साहब के कार्यों और संस्था के प्रति उनके स्नेह का स्मरण किया तथा श्रद्धांजलि अर्पित की।

सम्पादकीय

ग्रामवैद्यों को शिक्षण देकर मान्यता प्रदान की जाय

‘सचित्र आयुर्वेद’ के तीसरे वर्ष के प्रथम अंक का प्रथम लेख था डा० ए० लक्ष्मीपति द्वारा लिखित ‘ग्रामवैद्यों के लिए रिफ्रेशर कोर्स’ जिसमें विद्वान् वैद्य ने अपने अनुभव के आधार पर बताया है कि अतिरिक्त शिक्षा दे कर हमारी सरकारें ग्रामवैद्यों को स्वास्थ्य-रक्षण के लिए बहुत ही उपयोगी बना सकती हैं। समाचार है कि मद्रास सरकार ने इन ग्राम-वैद्यों का रजिष्ट्रेशन करना भी प्रारम्भ कर दिया है। रजिष्ट्र में ग्रामवैद्यों के लिए एक अलग विभाग रहेगा। अन्य प्रान्तों के लिए यह एक अनुकरणीय आदर्श है।

किन्तु अन्य प्रान्तों और केन्द्र के स्वास्थ्य-अधिकारी तो ‘आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों’ की रट लगाए हुए हैं। पण्डित-कमेटी को निर्देश देते हुए केन्द्र के अधिकारियों ने स्पष्ट ही कहा था कि “आयुर्वेद में अनुसन्धान करने के लिए केवल आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों का ही उपयोग किया जायगा ताकि इन अनुसन्धानों के फल सुप्रमाणित मूल्य के और समस्त संसार के लिए स्वीकार्य हो सकें।” समस्त संसार की स्वीकृति की चिन्ता इन अधिकारियों को कितनी है यह विचारणीय है।

पण्डित समिति को ही निर्देश देते हुए आगे कहा गया है—“छानबीन करते समय समिति इस तथ्य पर समुचित ध्यान रखेगी कि भारत अपने चिकित्सकों को ऐसा शिक्षण नहीं प्राप्त करने दे सकता जो कि समस्त प्रगतिशील देशों में आवश्यक माने गये मेडिकल शिक्षा के स्तर से निम्न कोटि का

हो, फिर व्यक्तिगत रूप में चिकित्सक चाहे किसी भी पद्धति को क्यों न ग्रहण करे।”

शिक्षण बिल्कुल न प्राप्त किया जाय इस को तो भारत सहन कर लेगा परन्तु स्वल्प शिक्षण को सहन नहीं करेगा। और भारत कौन? भारत का अधः समक्षिण भारत-सरकार। जनता सहन कर ले तो उस का दुर्भाग्य या उस की मूर्खता! परन्तु ये ज्ञानवान् अधिकारी कैसे सहन कर सकते हैं कि कम पढ़े-लिखे वैद्य चिकित्सा करें? सिखाये-पढ़ाये एलोपैथ डाक्टर और विदेशों से मँगायी हुई एलोपैथिक औषधें न मिलें तो बिना इलाज के रह जाओ, परन्तु वैद्यों से इलाज मत करवाओ, क्योंकि वे ‘आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों’ में निष्णात नहीं हैं!

रोटी बिना खाये रहना पड़े तो यह सहन किया जा सकता है परन्तु समस्त प्रगतिशील देशों में आवश्यक माने गये पाकशास्त्र के स्तर से निम्न कोटि की रोटी बनाना सीखने नहीं दिया जा सकता।

गत २६ दिसम्बर १९५० की बात है। पटना में निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद् का अधिवेशन चल रहा था। उस दिन तीसरे पहर के समय परिषद्-स्थान में ही एक पत्रकार-सम्मेलन (प्रेस कॉन्फरेन्स) का आयोजन किया गया था। अनेक वक्ताओं के बाद आयुर्वेद के परम भक्त और प्रचारक डा० बाबा साहब परांजपे बोलने के लिए उठे। आपने कहा कि “हमारी सरकार कहती है कि हम वैज्ञानिक पद्धति को ही चालू रखेंगे। पीढ़ियों से हमारी माताएँ और बहनें रोटी पका रही हैं। उस को खा कर हम स्वस्थ भी हैं, सबल भी हैं, यद्यपि हमारी माताओं या बहनों को रोटी पकाने का काम

हिलोमा या डिग्री नहीं प्राप्त है। पाकविद्या की इस पद्धति को हम अवैज्ञानिक कैसे कह सकते हैं ?”

अमुक लक्षणों में अमुक प्रक्रिया से निर्मित अमुक औषध लाभ करती है—इतना ही जान लेना क्या काफी नहीं है ? प्रत्येक रसोइये को खाद्यपदार्थों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रासायनिक विश्लेषण में जाने की क्या आवश्यकता है ? और जब सर्वाङ्गपूर्ण रसोइए न मिलें तब भी यह आग्रह रखना कि हों तो सर्वाङ्गपूर्ण रसोइए, नहीं तो चूल्हा ही न जलाना चाहिए कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है ?

उच्च कोटि के वैद्य तैयार करने के लिए पण्डित-समिति ने जो प्रवेश योग्यता [किसी सम्मानित विश्वविद्यालय से साइंस में इंटरमीडिएट (मेडिकल ग्रुप) तथा संस्कृत या अरबी का उचित ज्ञान] रखी है वह अग्राह्य नहीं। जितने ही योग्य वैद्य तैयार हो सकें हमारे लिए उतनी ही प्रसन्नता की बात है परन्तु वर्तमान वैद्यों का भी हमें पूरा उपयोग करना है और देश की चिकित्साविषयक तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है। साथ ही इसका भी ध्यान रखना है कि एलोपैथी के भार से आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम दुबंहर न हो जाय।

नये चीन का उदाहरण हमारे सामने है। नये चीन के निर्माताओं ने चीन की अपनी देशी चिकित्सा पद्धति के चिकित्सकों को रिफ्रेशर कोर्स का शिक्षण देकर अपने राष्ट्रीय स्वास्थ्य के लिए उनकी सेवाओं का पूरा उपयोग कर लिया है। भारत-सरकार भी ग्रामवधों को अतिरिक्त आवश्यक शिक्षण देकर उन्हें मान्यता प्रदान करें और जनहित उनके द्वारा होने दे यह सर्वथा वांछनीय है।

‘आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों’ का मोह भी बड़ा विचित्र है। पण्डित समिति के विज्ञ सदस्यों ने इस पदावली का अर्थ ‘वैज्ञानिक अनुसन्धान की पद्धति’

इस प्रकार किया है। कह नहीं सकते कि केन्द्रीय स्वास्थ्य अधिकारियों को यह अर्थ कहाँ तक मान्य होगा। स्व० राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने कहा था कि “भारतीय चिकित्सा-पद्धति (आयुर्वेद) की अनुसन्धान-शाला भारत के जंगलों और मैदानों में है, कीमती मकानों में नहीं, जो नगरों में बनाये जाते हैं।” यह बात गान्धी जी ने एक विदेशी प्रचारक डाक्टर से कही थी। उसने गांधी जी से प्रश्न किया था कि “भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् क्या आप चाहेंगे कि हमलोग रहें या चले जावें ?” गांधी जी ने उत्तर दिया—“यदि आप भारतीय चिकित्सा पद्धति (आयुर्वेद) में अनुसंधान करें और भारतीय औषधों का और भी उत्तम प्रयोग कर सकें तो यहां रहें। किन्तु यदि विदेश की बनी औषधें मँगाकर यहाँ के गरीबों से पैसा निकालना चाहें तो आप का यहाँ से चला जाना ही अच्छा है।”

भारतीय आयुर्वेद में अनुसन्धान करना और भारतीय औषधों का, भारतीय जड़ी-बूटियों का उत्तम उपयोग करना देशभक्ति और स्वदेशी-धर्म के पालन के लिए, बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय अत्यन्त आवश्यक है।

जब एलोपैथी द्वारा असाध्य कह दिये गये रोगियों को भी आयुर्वेद और भारतीय जड़ी-बूटियाँ भला-चंगा कर रही हैं तो हमारे अधिकारी और क्या वैज्ञानिकता चाहते हैं ?

‘आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों’ के भक्तों के चक्र-व्यूह में पड़ कर हमारे बहुत से मान्य नेता भी अपने प्रत्यक्ष अनुभव मुँह से नहीं निकाल पाते हैं यह बहुत ही दुःख और शर्म की बात है। पिछले दिसम्बर मास में ही उड़ीसा के अंगुल या रनतलाई नाम के स्थान में एक बालक ‘नेपाल बाबा’ नाम से समस्त

१०१४

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९४१

भारत में अचानक ही अपनी एक आश्चर्य-जनक गुणकारी जड़ी के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हो गया था। हिन्दुस्तान के कोने-कोने से लाखों रोगी उस बालक के पास गये और रोग-मुक्त हुए। वह कुछ भी मूल्य लिये बिना एक जड़ी सब को बाँटता था और वह एक ही जड़ी सभी रोगों पर लाभ करती थी। कितने ही अंधों ने नेत्र प्राप्त किये, बहरे सुनने लगे, कोढ़ी ठीक हो गये। पेट आदि के रोगी तो बहुत से ठीक हो गये। एक प्रान्त के वर्तमान आयुर्वेद भक्त स्वास्थ्य मन्त्री के भी कई सम्बन्धी उस जड़ी से रोगमुक्त हुए। एक अन्य प्रान्त की धारा-सभा के स्वीकार ने जड़ी की उपयोगिता का आँखों देखा वर्णन हमें सुनाया परन्तु जब हमने उनसे सार्वजनिक वक्तव्य देने का आग्रह किया तो उन्होंने बिल्कुल अस्वीकार कर दिया।

यह है 'आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों' का जाल जिसमें पड़े हुए लोग सत्य को सत्य कहने में हिचक रहे हैं। इन 'आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों' से उस

जड़ी की उपयोगिता प्रमाणित नहीं हो सकी और इसी लिए इन पद्धतियों के भक्तों ने रोगियों के उस साधु बालक के पास जाने पर रोक लगा दी। प्रत्यक्ष अनुभव से आँखें मूँदकर जड़ यन्त्रों पर भरोसा कर लिया गया।

जन-नेताओं और सरकार के कर्णधारों से हमारा अनुरोध है कि वे प्रत्यक्ष फलों को देख कर आयुर्वेद की महत्ता स्वीकार करें और उसे राज-मान्यता प्रदान करें तथा स्वल्पशिक्षित ग्रामवैद्यों को भी प्रशिक्षण देकर मान्यता प्रदान करें।

कृषिशाल के स्नातकों में बिरला ही हमें सफल किसान बनता हुआ दिखायी पड़ता है परन्तु अनुभवी किसानों को ट्रेनिंग देकर बहुत जल्दी उत्तम किसान बनाया जा सकता है। यही बात ग्रामवैद्यों के विषय में भी है जिनके अनुभवों की उपेक्षा करना जनहित की उपेक्षा करना होगा। जनहित की भाँति है कि ग्रामवैद्यों की सेवाओं का पूर्ण उपयोग किया जाय। मद्रास और चीन का उदाहरण सामने है।

शेषांश]

बाबा साहब परांजपे

[१०१६ वें पृष्ठ का

पत्रकों में प्रकाशित किया है। बिहार के माननीय चिकित्सा-मन्त्री के साथ उन्होंने अनेक बार वाद-विवाद किया था और यह देख कर उन्हें सन्तोष हुआ था कि हाल ही में बिहार विधानसभा ने देशी चिकित्सा पद्धति की प्रैक्टिस को प्रोत्साहन देने के लिए एक नियम पास किया है। सिलेक्ट कमिटी जब इस बिल पर विचार कर रही थी तो उस ने परामर्श देने के लिए बाबा साहब को विशेष रूप से निर्मंत्रित किया था।

उनके प्रशंसक और अनुयायी उन्हें ठीक ही 'तपस्वी' कहते थे। वे ऐसे ही पुरुष थे। चालीस वर्ष से भी अधिक समय से वे अपने इस कठोर व्रत

पर दृढ़ थे कि "अपने योगक्षेम के लिए मैं एक पाई का भी अर्जन नहीं करूँगा।" अपनी शक्ति और अपनी प्रतिभा उन्होंने उन उद्देश्यों के लिए अर्पित कर दी जिन में कि उन का विश्वास था। उन में लौह इच्छा शक्ति, निःस्वायत्ता और सरलता थी। उन के देहावसान से आयुर्वेद का एक महान् योद्धा उठ गया है। आशा करनी चाहिए कि आयुर्वेद के लिए जो अविराम कार्य उन्होंने किया वह व्यर्थ नहीं जायगा — जिन को इस चिकित्सापद्धति में विश्वास है उनके कार्य को वहाँ से आगे चालू रखेंगे जहाँ तक कि उन्होंने छोड़ा है।

उनका दिव्य आदर्श हमें अनुप्रेरित करे !

स्व० तपस्वी परांजपे

कमण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूः मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥

“तुम्हारा अधिकार केवल कम में है, उसके फल में नहीं। अपने कर्म के फल को हेतु मान कर मत चलो। और न निष्कर्मता में आसक्त हो जाओ।”

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का यह पवित्र उपदेश लोकमान्य तिलक के सहकर्मी, बरार के नेता और आयुर्वेद के योद्धा तपस्वी बाबा साहब परांजपे के जीवन का आदर्श और मुख्य सिद्धान्त था। गत १६ मई १९५१ को सायं ७ बज कर १० मिनट पर इस महान् आत्मा ने पटना के राज्यपाल भवन में अपना ७७ वर्ष का पुराना शरीर छोड़ दिया।

बाबा साहब का जन्म पूना में २३ फरवरी १८७४ को हुआ था। अपनी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा उन्होंने यवतमाल में ग्रहण की थी। निज़ाम की छात्रवृत्ति लेते हुए बाबा साहब ने हैदराबाद मेडिकल स्कूल में मेडिकल शिक्षा ग्रहण की और कुछ वर्षों तक हैदराबाद में तथा बाद में १८९७ तक यवतमाल जिले में सर्विस में रहे। इस समय त्यागपत्र देकर उन्होंने यवतमाल में चमकती हुई प्राइवेट प्रैक्टिस प्रारम्भ की। जीवन के निर्माण-काल में बाबा साहब पर ‘केसरी’ में प्रकाशित लोकमान्य तिलक के अग्रिमय लेखों का गहरा प्रभाव पड़ा था और यह कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि शीघ्र ही उन्होंने अपनी सम्पूर्ण आयु और शक्ति राष्ट्रीय कार्य के लिए अर्पित कर दी।

१९०५ में उन्होंने सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया और यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक मंच पर उनके आगमन के साथ बरार ने एक नवीन युग में प्रवेश किया। स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय विद्यालयों और स्वराज के आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय नेतृत्व ग्रहण किया। यवतमाल में स्थापित राष्ट्रीय विद्यालय और उसी नगर से प्रकाशित राष्ट्रवादी समाचार पत्र ‘हरि किशोर’ के साथ उनके सक्रिय सम्बन्ध थे। शीघ्र ही राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने की देशव्यापी कार्यवाहियों का अनुभव बरार और नागपुर में भी हुआ तथा सरकार द्वारा राष्ट्रीय विद्यालय एवं ‘हरि किशोर’ समाचारपत्र बन्द कर दिये गये। इसके बाद बाबा साहब और राष्ट्रीय विद्यालय के साथ सम्बन्धित उनके कुछ साथी पूना गये। वहाँ से आगे वे गोआ गये और उस पुर्तगाली उपनिवेश के युवकों में स्वातन्त्र्यभावना जागृत करने के लिए देशभक्तिपूर्ण उद्देश्य से वहाँ एक विद्यालय स्थापित किया। १९०७ की सुरत कांग्रेस के वे एक प्रतिनिधि थे। सुरत कांग्रेस में दलबन्दी हो जाने के बाद १९०८ में लोकमान्य तिलक पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें ६ वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। इन ६ वर्षों में बाबा साहब बराबर बाँह पर शोकसूचक काला बैज लगाये रहे। मांडले जेल से लोकमान्य तिलक के छूटने के बाद यह बैज हटा। बाबा साहब

पूना में रहे और मांडले जेल से लोकमान्य तिलक के छूटने के बाद उनके सक्रिय सहकर्मी बन गये। कुछ समय बाद होमरूल का सन्देश लेकर वे अपने मातृप्रान्त बरार लौटे। यहाँ पर वे यवतमाल जिला संघ के कार्यों में सक्रिय भाग लेने लगे और जल्दी ही उन पर मुकदमा चलाया गया तथा १५ महीने के कठोर श्रम सहित कारावास का दण्ड दिया गया। जब स्वराज पार्टी ने कौन्सिल-प्रवेश के लिए आन्दोलन किया तो बाबा साहब ने उसमें सक्रिय भाग लिया।

बाबा साहब का ध्यान ग्रामपंचायतों और आयुर्वेद की ओर भी आकृष्ट हुआ था। बरार में ग्रामपंचायतों की स्थापना के लिए जो कार्य उन्होंने किया उस का उस प्रान्त पर स्थायी प्रभाव पड़ा। वे इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे कि स्वराज को भारतीय जनता ग्रामपंचायत रूप लघु स्वशासन के द्वारा ही समझ सकती है और इस सिद्धान्त के अनुसार ही वे चलते थे। इस सन्देश को प्रसारित करने के लिए उन्होंने 'ग्रामणी' पत्रिका स्थापित की थी। इस मिशन के लिए उन्होंने पंजाब, बंगाल, मद्रास, कर्नाटक और उड़ीसा प्रान्त का परिभ्रमण किया। ग्राम पंचायतों के द्वारा स्वशासन में सुधार के लिए उन के सुझावों में से बहुतों को स्वीकार कर के उपरोक्त प्रान्तों ने उन को कार्यरूप में परिणत किया।

अपने राजनीतिक कार्यों के साथ साथ वे सांस्कृतिक आन्दोलनों में भी सहयोग दिया करते थे। पूना में मीमांसा-विद्यालय स्थापित करने में स्व० वामन शास्त्री को उन से बहुत सहयोग मिला था।

आयुर्वेद को पुनरुज्जीवित कर के इस को भारत में पुनः पूर्ववत् प्रतिष्ठित करने के लिए बाबा साहब के अविश्राम और निःस्वार्थ प्रयत्नों का अतिसंजित वर्णन नहीं किया जा सकता। अपनी आयु के उत्तर भाग

का अधिकांश उन्होंने इस काय में लगा दिया। उनका कहना था कि आयुर्वेद ही ऐसी चिकित्सा-पद्धति है जो भारत में उच्च से उच्च वर्गों के साथ ही साथ गरीब से गरीब जनता तक भी पहुँच सकती है। एलोपैथी का तो उस के स्वभाव से ही नगरों में निवास है जहाँ पर कि वह अधिक गृहीत हुआ है। आयुर्वेद के पक्ष में वे योद्धा इस सिद्धान्त के आधार पर बने थे कि जिस देशी चिकित्सा पद्धति की जड़ें समस्त भारत भूमि में सहस्रों वर्षों से बहुत गहरी चली गयी हैं उसको आसानी से पुनरुज्जीवित किया जा सकता है, केवल यदि सरकार इसको उपयोगिता को पहचान ले। एलोपैथिक डाक्टर ने अपना कार्यक्षेत्र नगर तक ही सीमित कर रखा है; उसकी अपेक्षा ग्रामवैद्य बहुत अधिक सरलता से गाँव के सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का अंग बन सकता है। आयुर्वेद को राजमान्यता दिलाने के लिए बाबा साहब ने आजीवन संघर्ष किया। उन्होंने भारत के सब प्रान्तों का परिभ्रमण किया और संशयग्रस्तों के साथ तर्क करके उन को अपने पक्ष में ले आने का प्रयत्न किया। अन्त में वे बिहार के ओर आकृष्ट हुए जहाँ पर कि उन्हें आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को अधिक प्रत्साहन मिलने की आशा दिखायी पड़ी। इस चिकित्सा पद्धति में उनका विश्वास था और इसके लिए संघर्ष तथा युद्ध उन्होंने जारी रखा। उन्होंने आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त को तर्क संगत और वैज्ञानिक पद्धति पर व्याख्या करने का प्रयत्न किया। इस विषय पर उन के विचारों का काफी प्रचार हुआ है और इस विषय के अधिक विद्वानों ने उनकी सराहना की है। उन के आयुर्वेदज्ञ मित्रों ने त्रिदोष सिद्धान्त पर उन विचारों को अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी और संस्कृत (शेषांश १०१४ वें पृष्ठ पर)

पण्डित कमेटी की रिपोर्ट विषय प्रवेश

१ भारत-सरकार ने अपने पत्र सं० F. 29-2/49—M I दिनांक २ दिसम्बर १९४९ के द्वारा हम लोगों को उस समिति का सदस्य नियुक्त किया था जिसका कार्य था उनका आयुर्वेदीय तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियों के लिए एक संशोधन-केन्द्र की स्थापना के प्रश्न पर तथा अन्य सम्बन्धित विषयों पर परामर्श देना।

विचार्य विषय निम्नोक्त प्रकार से थे :—

- (क) देशी चिकित्सा पद्धति समिति की रिपोर्ट के प्रथम खण्ड के पैराग्राफ २५१ में निर्दिष्ट मार्ग पर अधिक से अधिक व्यापक आधार पर आयुर्वेदीय तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में संशोधन के लिए एक केन्द्र के विकास के लिए एक विस्तृत योजना बनाना और उसे सरकार के सामने उपस्थित करना। इस केन्द्र में संशोधन करने में केवल आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों का ही उपयोग किया जायगा ताकि इन संशोधन के फल सुप्रमाणित मूल्य के और समस्त संसार के लिए स्वीकार्य हो सकें।
- (ख) आधुनिक मेडिकल कालेजों के जो छात्र आयुर्वेदीय और यूनानी चिकित्सा पद्धतियों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहें उनके हित के लिए उस पद्धति की खोज करना चाहें उनके हित के लिए उस पद्धति की खोज करना और रूपरेखा निश्चित करना जिससे कि अंडर-ग्रेजुएट मेडिकल कोर्स के अन्तिम वर्ष या ऐसी ही अन्य किसी अवधि में आयुर्वेदीय और यूनानी पद्धतियों के विशेष प्रशिक्षण का समावेश किया जा सके; अथवा विकल्प से, इसके विषय में सुझाव देना कि पोस्ट ग्रेजुएट मेडिकल शिक्षा के रूप में आयुर्वेद और यूनानी कैसे उप-युक्त हो सकती हैं। इस विषय की छान-बीन करते समय समिति इस तथ्य पर समुचित ध्यान रखेगी कि भारत अपने चिकित्सकों को ऐसा शिक्षण नहीं प्राप्त करने दे सकता जो कि समस्त प्रगतिशील देशों में आवश्यक माने गये मेडिकल शिक्षा के स्तर से निम्न कोटि का हो, फिर व्यक्तिगत रूप में चिकित्सक चाहे किसी भी पद्धति को क्यों न ग्रहण करें।
- (ग) देश भर में चिकित्सा-शिक्षण की एकरूपता स्थापित करने और कर्त्ताओं एवं करणों के रूप में देश में उपलब्ध साधनों का चिकित्सा-शिक्षण के विकास के लिए अधिक से अधिक उपयोग करने की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए अधुना विद्यमान उन आयुर्वेदीय और यूनानी विद्यालयों एवं महाविद्यालयों को आवश्यक सुधारों के साथ चालू रखने की अवलम्बनीय नीति का सुझाव देना जिन में कि शरीररचना विज्ञान, शरीरक्रिया विज्ञान इत्यादि प्रकार के विषयों की शिक्षा दी जा रही है।

१०१८

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

- २ अपनी प्रथम सम्मिलनी में समिति ने अन्यान्य विषयों के साथ तीनों विचार्य विषयों पर सामान्य-तया और प्रथम विचार्य विषय के अन्तर्गत समिति को दिये गये आदेश नाम "इस केन्द्र में संशोधन करने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों का ही उपयोग किया जायगा ताकि इस संशोधन के फल सुप्रमाणित मूल्य के और समस्त संसार के लिए स्वीकार्य हो सकें" पर विशेषतया विचार-विमर्श किया। कुछ बाद-विवाद के बाद समिति ने सर्वसम्मति से "आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों" का अर्थ "वैज्ञानिक संशोधन की पद्धति" करना निश्चित किया। समझा गया कि यह पदावली काफी व्यापक है जिसके अन्तर्गत उन सब विशिष्ट पद्धतियों और प्रक्रियाओं का समावेश हो जाता है जो कि हमें उन लक्ष्यों तक ले जायँगी जिनके लिए संशोधन-केन्द्र स्थापित किया जायगा और जिनके द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि इन संशोधनों के फल समस्त संसार के लिए स्वीकार्य होंगे। संशोधन-केन्द्र के कार्य में पथप्रदर्शन करनेवाले सामान्य सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं के विषय में समिति का दृष्टिकोण अभी बाद में स्पष्ट किया जायगा।
- ३ क्योंकि अधिकांश सदस्यों को जामनगर की संस्था के अतिरिक्त देश में विद्यमान अनेक आयुर्वेदीय संस्थाओं की वर्तमान दशा का समुचित ज्ञान था अतः समिति ने निर्णय किया कि प्रस्तावित संशोधन केन्द्र की स्थिति के लिए उन संस्थाओं की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का विचार करने से पहले उनका सामूहिक रूप से निरीक्षण करना समिति के लिए आवश्यक नहीं है। तथापि, समिति ने कुछ सदस्यों से प्रार्थना की कि वे जामनगर हो आँ और समिति के हित के लिए इस विषय में सम्बन्धित जानकारी प्राप्त कर आयें।
- ४ समिति ने यह भी लक्ष्य किया कि अपने-अपने क्षेत्रों में देशी चिकित्सा पद्धतियों के संशोधनके लिए केन्द्रों की स्थापना की योजनाएँ कुछ राज्यसरकारों के विचाराधीन थीं। समिति ने इस प्रश्न पर तथा देशी चिकित्सा-पद्धतियों के विकास से सम्बन्धित अन्य जो भी योजनाएँ उनकी दृष्टि में हों उनके विषय में विभिन्न राज्यसरकारों से जानकारी प्राप्त करने का निश्चय किया। राज्य-सरकारों को भेजे गये पत्र की एक प्रति इस रिपोर्ट के परिशिष्ट २ के रूप में दी गयी है। राज्य-सरकारों से प्राप्त रिपोर्टों पर समिति ने अपनी अनुवर्ती बैठकों में विचार किया। साथ ही, समिति को देश के विशिष्ट आयुर्वेदीय चिकित्सकों द्वारा लिखित कुछ वक्तव्यों से भी जहाँ-तहाँ सहायता मिली जो कि समिति के विशिष्ट विचार्य विषयों से सम्बन्धित थे। इन्होंने और राज्य-सरकारों ने समिति के कार्य में जो दिलचस्पी ली उसके लिए समिति उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करती है।

क्रमशः

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते

११—छात्रोपयोगी निदान चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

पित्तोदर का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण

अग्ने प्रकोपक कारणों से संचित हुआ पित्त, वात और कफ के स्थान में जा उनके मार्ग को अवरोध कर देता है तथा जठराग्नि और धात्वशक्तियों को मन्द करके उदरको उत्पन्न करता है। इसमें—

दाह, ज्वर, तृष्णा, चोष, मूच्छा, अतिसार, भ्रम, मुखमें कटुता, नख, नयन, वदन, त्वचा, मूत्र तथा पुरीष का हरित या हरिद्रा-वर्ण होना, उदर नील, पीत, हरिद्रावर्ण, हरित, ताम्रवर्ण रेखाओं तथा सिराओं से व्याप्त एवं दाह, व्यथा, धूपन (उष्ण स्पर्श की प्रतीति), ऊष्मा, स्वेद और क्लेशसे युक्त होना ये लक्षण होते हैं। यह स्पर्श में मृदु तथा शीघ्र पकनेवाला (शीघ्र जलोदर में परिणत होनेवाला) होता है।

प्लीहोदर का निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण

अव्यायामादि प्रकोपक कारणोंसे कुपित हुआ कफ वायु के स्रोतोंको आवृत कर देता है। यह आवृत हुआ वायु कफको भी पीडित करता है तथा अन्तर्के बाहर अपना प्रभाव दिखाकर उदर-रोगको उत्पन्न करता है। इसमें—

गौरव, अरोचक, अविपाक, अङ्गमर्द, छसि; हाथ, पैर, मुष्क (वृषण-कोष) और ऊपर शोफ; उत्क्लेश (मितली); निद्रा, कास, श्वास; नख, नेत्र, मुख, त्वचा, मूत्र और पुरीषकी शुक्लता; उदर श्वेत रेखाओं तथा सिराओं से व्याप्त होना; वह गुरु, स्तिमित (स्निग्ध, आर्द्र), शीतल, स्थिर (वृद्धि-हासहोन) और कठिन होना—ये लक्षण होते हैं। इसमें वृद्धि शनैः-शनैः होती है।

सन्निपातोदर या दूष्योदरके निदान, सम्प्राप्ति और लक्षण

गुरु मन्दाग्नि हो तथापि अपथ्य, विरुद्ध और गुरु भोजनों का सेवन करे, आम-पीडित हो—इन कारणों से;

अथवा दुष्ट स्त्रियाँ आर्तव, रोम, पुरीष, मूत्र, अस्थि, नख आदि खिला दें या शत्रु गर-विष दें; अथवा दुष्ट जल या दूषोविष (मन्द विष) का सेवन किया जाय तो—तीनों दोष तथा रक्त कुपित होकर कोष्ठमें आकर घोर उदरको उत्पन्न करते हैं। इसमें तीनों दोषोंके लक्षण पाये जाते हैं; नखादिमें समी वर्ण होते हैं; उदरपर भी विभिन्न वर्णोंकी रेखाएँ और सिराएँ होती हैं। इसे सन्निपातोदर या दूष्योदर कहते हैं। शीतकाल, वात तथा मेघोदयमें इसका वेग विशेष होता है। रोगी दाह, निरन्तर मूच्छा, तृषा और कण्ठ, तालु एवं मुखके शोषते पीडित, पाण्डु और कृश होता है।

प्लीहोदर तथा यकृतोदर

प्लीहा तथा यकृत की वृद्धि दो प्रकार की है—या तो वे स्थानभ्रष्ट (स्थानच्युत) होकर प्रकुपित हुए वात, पित्त, कफ, सन्निपात या रक्त (विशेषतः कफ और रक्त) के कारण वृद्धिको प्राप्त होते हैं अथवा स्वस्थानस्थित ही प्लीहा-यकृत उक्त दोषों के संचयसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं। इनकी यदि उपेक्षा की जाय तो क्रमशः कुक्षि, अग्निस्थान तथा जठरको आगे धकेलकर उदरको उत्पन्न करते हैं इस प्रकार हुए उदरोंको क्रमशः प्लीहोदर तथा यकृतोदर कहते हैं।

प्लीहोदर तथा यकृतोदरजनक दोषों का प्रकोप विदाही तथा अभिघ्नन्दी द्रव्योंके चिर सेवनसे होता है। प्लीहा तथा यकृत की स्थानभ्रष्टता खूब तृप्त होनेके पश्चात् सवारी आदि

१—प्लीहा और यकृत की वृद्धि और तज्जन्य उदरमें भेद यही है कि केवल वृद्धिमें उदर (उदर की अगली—Anterior—एण्टीरीअर—दीवाल) आगे धकेली नहीं जाती। वृद्धिवश उदर धकेला जाकर उसका उत्तेध हो तो रोगको उदर कहते हैं।

से शरीरका अतिक्षोभ, अतिमैथुन, भारवहन, चलना, वमन, व्याधि या अन्य कारणोंसे शरीरकी कृशता (मेदःक्षय) से होती है। इनमें नीचे लिखे लक्षण होते हैं—

अतिदौर्बल्य, अतिपाण्डुता, अरोचक, अविपाक (अजीर्ण) मलप्रह, मूत्रप्रह (अल्प तथा घन मूत्र), तमःप्रवेश (तिमिर) पिपासा, अङ्गमर्द, वमन, मूर्च्छा, अतिअङ्गसाद, कास, श्वास, मृदुज्वर, अनाह, अग्निनाश, कृशता, मुखवैरस्य, पर्व-भेद (सन्धि टूटना), दाह, कोष्ठमें वात (आध्मान) तथा शूल; उदर अरुणवर्ण या वर्णहीन और उसपर नील, हरित, हारिद्र रेखाएँ होना।

इसमें उदावर्त, शूल और अनाह विशेष हों तो वातका निदान करें; मोह, तृषा, दाह तथा ज्वर हों तो पित्तका और गौरव, अरुचि तथा कठिनता हो तो कफका।

बद्ध गुदोदर

अन्त्रमें चिपटनेवाले अन्नद्रव्य, अर्शस् विभिन्न उदावर्त, अन्त्रका परिवर्तन (बल खा जाना)^१ या संमिश्रण,^२ अथवा आहार में आये वालों या पत्थरोंके कारण गुदमार्ग या अन्त्र अवरुद्ध हो जाय तो क्रुद्ध हुआ अपान मल, पित्त और कफको अवरुद्ध कर देता है तथा उदर रोगको उत्पन्न करता है। इसमें कास, श्वास, ज्वर, दाह, तृष्णा, मुखशोष, तालु-शोष, ऊरुसाद (जाँघे पानी-पानी होना); शिर, हृदय, नाभि तथा गुदमें शूल; मलसङ्ग (मल न प्रवृत्त होना) अथवा अल्पाल्प मलप्रवृत्ति, मूत्रसङ्ग, अरुचि, अजीर्ण, वमन, वमनका गन्ध पुरीष-सदृश होना, उदरमें मूढ (निर्गमन-रहित) वात; दुर्बलता, छींक, उदरस्थिर, अरुण एवं नील रेखाओं तथा सिराओंसे व्याप्त अथवा रेखारहित—ये चिह्न होते हैं। हृदय और नाभिके मध्य भागमें ही वृद्धि होनेके कारण उदर प्रायः नाभिके ऊपर गोपुच्छके समान आकृति-वाला होता है^३।

१—Strangulation—स्ट्रैंगुलेशन।

२—इसमें आधुनिकोंकी कही दो विकृतियाँ समझी जा सकती हैं—अन्त्रकी आग्ने-सामनेकी दीवालें परस्पर जुड़ जाना—Stricture—स्ट्रिक्चर; या अन्त्रका एक भाग दूसरों में घुस जाना, जैसा कि जुराब (मोजा) उतारते हुए एक भाग दूसरोंमें प्रविष्ट होता है—Intussusception—इण्टस ससेप्शन।

३—मलके अवरोधके कारण तथा उसे बाहर निकालनेके

परिस्राव्युदर, क्षतोदर या छिद्रोदर

भोजन के साथ कण्टक, अस्थि आदि शल्य अन्त्रमें जाकर उसका भेद करे अथवा अत्यशनसे अन्त्र विद्ध हो जाय तो इस छिद्रसे रस बाहर झुत होकर पूय रूपको प्राप्त करता है। यह पूय गुद और अन्त्रको पूर्ण करके उदररोगको उत्पन्न करता है। इसमें ये लक्षण होते हैं—वृद्धि नाभिके नीचे होती है। यह शीघ्र जलोदरमें परिणत हो जाती है। इसमें दोष अपने-अपने बलके अनुसार लक्षण प्रकट करते हैं। मल लाल, पीला, नीला, पिच्छिल, शक्के समान गन्धवाला, कच्चा और पानी जैसा पतला होता है। उदरमें अतीव तोद-भेद होते हैं। साथ हिक्का, श्वास, कास, तृष्णा, प्रमेह, अरोचक, अविपाक, भ्रम और दौर्बल्य होते हैं^१।

जलोदर या दकोदर^२

पुरुष क्षीण और अति कृश होता हुआ वमन, विरेचन, निरुह बस्ति—इन कर्मोंका सेवन करे अथवा स्नेहपान या अनुवासनके बाद शीतल जलपान करे तो उसके जलवह स्रोत^३ दूषित तथा अग्नि नष्ट हो जाता है और क्लोममें स्थित वायु एवं मार्गोंके रुद्ध होनेसे संचित हुआ कफ जलके मार्गको^४ रोक देता है, जिससे जल झुत होकर उदरमें संचित हो जाता है। इसमें अरुचि, पिपासा, गुदस्राव, शूल, कास, श्वास, दौर्बल्य—ये लक्षण होते हैं। उदरकी स्पर्श परीक्षामें, जलपूर्ण मशक (दृति) में जैसे क्षोभ^५ और

प्रयत्नमें तत्पर अन्त्र त्वचाको भी फुला देते हैं तथा उनकी नलकाकार स्थिति प्रत्यक्ष होती है। उसका ही यहाँ निर्देश किया प्रतीत होता है।

१—यदि क्षतोदरका अर्थ अन्त्रोंमें आरपार छिद्र होना हो है, तो इसके लक्षण विस्तारसे नव्य शल्यतन्त्रसे जानना अधिक उपयुक्त है।

२—जलवाचक उदक शब्दके विभिन्न वर्णोंका लोप होकर दक, क (यथा कफ शब्दों की निरुक्ति—‘केन जलेन फलति वर्धते इति कः’ में), और उद (उदमन्थ आदि शब्दों में) शब्द बनते हैं।

३, ४—जलवह स्रोत या मार्गका अन्यत्र जो भी अर्थ हो, वर्तमान प्रत्यक्षानुसार यहाँ अर्थ वपावहन (उदरधरा कला) की रसायनियाँ तथा सिराएँ हैं।

५—Fluctuation—फ्लक्चुएशन।

कम्प^१ प्रतीत होता है। वैसा ही क्षोभ और कम्प उदरमें होता है। पेटपर नाना वर्णोंकी रेखाएँ तथा सिराएँ व्याप्त होती हैं।

इसके सिवाय, सभी उदर उपेक्षासे जलोदरमें परिणत हो जाते हैं। द्रव प्रारम्भमें माँड (पिच्छा) जैसा होता है। उस समय पेट मण्डलाकृति, भारी, स्तिमित (आर्द्र), आकोटन^२ करनेपर शब्द रहित, मृदु, रेखा-रहित (स्वाभाविक वलियों से रहित) तथा नाभिमें ही विशेष प्रसृत होता है। पिच्छा जलरूप होनेपर अति कुक्षिवृद्धि, सिराएँ लुप्त हो जाना, जलपूर्ण मशकके समान क्षोभका अनुभव^३—ये चिह्न होते हैं। उस समय यदि वमन, अतिसार, तमक (आँखोंके आगे अन्धकार प्रतीत), तृष्णा, श्वास, कास, हिक्का, दौर्बल्य, पार्श्वशूल, अरुचि, स्वरभेद, मूत्रसंग आदि उपद्रव हो जायें तो रोग असाध्य हो जाता है।

साध्यासाध्यता

स्वभावतः सभी उदर कष्टसाध्य होते हैं। रोगी बलवान् हो, रोग नया हो, तथा जल न प्रादुर्भूत हुआ हो तो उदर साध्य होता है। वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, फोहोदर या यकृदुदर तथा जलोदर—ये उत्तरोत्तर कष्टसाध्य होते हैं। वदगुदोदर एक पक्षमें, जल भर जानेपर सभी तथा छिद्रोदर मारक होते हैं—अर्थात् ये असाध्य हैं।

उदर रोगीकी आँखें सूज गयी हों, शिश्न टेढ़ा हो गया हो, त्वचा पतली तथा आर्द्र^४ हो गयी हो; बल, मांस तथा अग्नि अति मन्द हों तो उदर असाध्य होता है।

१—Thrill—ध्रिल। उदर पर नाभिसे नीचे दोनों ओर हाथ रखकर एक हाथसे दूसरी ओर दवाएँ तो जल होगा तो लौटकर पहले हाथपर स्पर्शगम्य होगा। इसे 'क्षोभ' तथा एक ओर अंगुलियों से टकोर करें तो दूसरी ओर उसका अनुभव 'कम्प' होता है। मध्यमें टकोर करनेसे दोनों ओर कम्प प्रतीत होता है।

२—Percussion—पर्वशन।

३—प्रारम्भमें या जल न्यून होनेपर जल उदर गुहामें नीचे होनेसे क्षोभ और कम्प परीक्षा शक्य नहीं होती। तब रोगीको कोहनी (कूर्पर) और जानुके बल आँधाकर ये परीक्षाएँ करें। ऐसा करनेसे जल सामनेकी ओर आ जानेसे परीक्षाएँ संभव हो जाती हैं।

४—Olammy—जलैमी।

सभी मर्मोंमें शोथ उत्पन्न हो जाय; श्वास, हिक्का, अरुचि, तृष्णा, मृच्छा और अतिसार ये उपद्रव प्रकट हो जायें तो उदरी असाध्य होता है।

रोगी पार्श्वशूल, अन्नद्वेष, शोथ, अतिसार—इनसे पीडित हो तथा पानी निकाल देनेपर भी पुनः भर आवे (विरिक्तं पूर्यमाणम्) तो रोग असाध्य होता है।

उदर रोगोंकी चिकित्सा

जैसा कि ऊपर कहा, आठ उदरोंमें वदगुद और परिस्त्रावी असाध्य हैं। शेष कृच्छ्रसाध्य हैं। यों सभी उदर स्वभावसे ही कष्टसाध्य होते हैं। उदररोगी मात्रको प्रत्याख्यान करके ही हाथमें लें। वात, पित्त, कफ तथा दूषी विष (संनिपात) से उत्पन्न उदर औषधसाध्य और फोहोदर (इसमें यकृदुदर भी गणित है), वदगुदोदर, छिद्रोदर और दकोदर शस्त्रसाध्य होते हैं। कालक्रमसे सभी शस्त्रसाध्य और वर्जनीय हो जाते हैं। वात, पित्त, कफ प्लीहा, संनिपात, उदक (जल) इन उदरोंमें उत्तर-उत्तर उदर कष्टतर होता है। वदगुदोदर पक्षके पश्चात् असाध्य होता है। जल उत्पन्न होनेपर प्रत्येक उदर तथा छिद्रोदर मारक होता है।

उदर मात्रमें तीनों दोषोंका प्रकोप होता है। अतः चिकित्सामें तीनों दोषोंके शमनको लक्ष्यमें रखें। कुक्षिको दोषोंसे व्याप्त होनेके कारण अग्नि अत्यन्त मन्द हो जाता है, यों सभी रोग अग्निमान्द्यसे होते हैं। उनमें भी उदर रोगोंमें तो अग्निमान्द्य विशेष रूपसे कारण है। अतः^२ उदर रोगी स्निग्ध अर्थात् मेदयुक्त मांस,^३ (औदक-जलचरों

१—च० चि० अ० १३, तथा सु० चि० अ० १४।

२—च० चि० १:१५-१००; सु० चि० १:४४।

३—जलोदरमें पाश्चात्योंकी मान्यता प्रवृत्त हुई है कि मांस प्रोटीन होनेसे वह महास्रोतमें जायगा तो वहाँ घन द्रव्यों की संहति (Concentration—कन्सेन्ट्रेशन) होनेसे, तथा बाहर उदर गुहामें जल भरा होनेके कारण संहति न्यून होनेसे—दोनों स्थानोंमें घन और द्रव द्रव्योंके समत्वके उद्देश्यसे जल गुहासे आकृष्ट हो महास्रोतमें आता है और गुद मार्गसे निकल जाता है। इस प्रकार विरेचन बिना ही उदर शान्त होता है। आपाततः यह मत यथार्थ प्रतीत होता है, पर अनुभव इसके विपरीत है। कारण अग्निमान्द्य, स्रोतरोध आदि की वृद्धि ही मांस भोजनसे होती है, जिससे रोग और भी बढ़ जाता है।

का—तथा आनूप), गुरु और अभिष्यन्दी भोजन—यथा, पिष्ट—अटे के बने खाद्य द्रव्य; स्निग्ध द्रव्य, यथा, तिल शुष्क द्रव्य—यथा, शाक; विदाही, उष्ण, अम्ल और लवण रस द्रव्य यथा जलका सर्वथा त्याग करे। व्यायाम, मार्ग चलना, दिवास्नम्न, सवारी, परिपेक (धारा-स्नान), अवगाहन—इन्हें छोड़ दे। दीपन और लघु भोजन, यथा शालि, पण्डिक, यव, गोधूम, नीवार, मुद्ग, जाङ्गल मांस; गाय अथवा सांडनी (ऊंटनी) का दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधुसीधु (शहदका आसव), छरा—इनका सेवन करे। किंचित् अम्ल, स्नेह और कटुरस तथा पञ्चमूल साधित यूप किंवा रसों (मांसरसों) के साथ यवागू (खिचड़ी) या ओदन (भात) खाय।

सभी उदरोंमें मूल वायुका कोप तथा स्रोतोंका अवरोध होनेके कारण मलोंका संचय खूब तथा तीव्र संशोधन उचित होता है।

दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतो मार्ग निरोधनात् ।
संभवत्युदरं तस्मात् नित्यमेनं विरेचयेत् ॥

इसके लिए जयपाल, दन्ती, स्नुही, तथा इन्द्रवाहणी मूल के योगों का व्यवहार विशेष होता है। अश्वकंचुकी, इच्छाभेदी, और नारच रस इस दृष्टि से उत्तम योग हैं। नारायण चूर्ण (प्रधान द्रव्य—इन्द्रवाहणी, दन्ती, त्रिफला स्वर्णक्षीरी, सातला—चिकाकाई, त्रिवृत् आदि चौंतीस द्रव्य—वैद्य जीवन) की तक्र के साथ सेवन की बहुत प्रशंसा है। भिन्न-भिन्न अनुपानोंसे इसका उदर, गुल्म, मूढवात, वात-रोग, विबन्ध, अर्शस्, परिकर्तिका, अजीर्ण, भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास, कास, गलग्रह, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर और विभिन्न विष-विकारों में उपयोग होता है। उपयोग के पूर्व कोष्ठको स्निग्ध कर लेना चाहिए। सामान्य विरेचन-योग्य रोगी के लिए पटोलादि चूर्ण (पटोल, त्रिवृत्, नीलिनी—काला दाना, कपिल, त्रिफला आदि) का प्रयोग भी उत्तम है। एक या दो मास दूध या मूत्र के साथ एरण्ड तैल दे सकते हैं। रोगी दुर्बल वृद्ध, शिशु या प्रकृतिसे सुकुमार हो अथवा दोष अल्प हो या वात का प्रकोप अत्यधिक हो तो रोगी को घृत, यूप, मांसरस, ओदन, वस्ति, अभ्यङ्ग, अनुवासन और क्षीर प्रयोग करावे। जलके विरेचनार्थ गोमूत्र दे।

वातोदरमें स्नेहन, स्वेदन कराके स्निग्ध विरेचन दे। दोषका संशोधन होनेपर क्षीण हुए रोगीके उदरको वस्त्रसे

वेष्टित कर दे, जिससे उदरमें अवकाश न रहनेसे वायु उदर को आध्मात न कर दे (फुला न दे)। अर्क, गोमूत्र, अश्व-शकृत—घोड़ेकी लीद आदि वातहर द्रव्योंका उदरपर उपनाह (बन्धन) करे। प्रारम्भमें अग्नि मन्द होनेसे पेया आदि क्रमसे अग्निबलकी वृद्धि (संसर्जन) करके रोगीको दूधपर लावे। उदावर्तकी दशामें आस्थापन तथा कटिशूल आदि वातिक वेदनाओंमें अनुवासन दे।

पित्तोदरमें रोगी बलवान् हो तो प्रथम तीव्र विरेचन दे। दुर्बल हो तो प्रथम अनुवासन और स्नेहन कराके विरेचन दे। मूत्रका उपयोग करावे। उदरपर पित्तहर उपनाह करे। पश्चात् दूध, बलिकर्म तथा विरेचनपर रोगीको रखे। दूधको मधुर-शीत औषधोंसे सिद्ध करके देना अच्छा है।

कफोदरमें स्नेहन, स्वेदन, शोधनके पश्चात् पिप्पली आदि कटु, क्षारयुक्त कफहर अन्नोंसे बनी पेया आदिका उपयोग करावे। उदर पर कफहर द्रव्योंका उपनाह करे। पश्चात् गोमूत्र, अरिष्ट, क्षारयुक्त तैल, नवायस लौह आदि लोहके प्रयोगोंपर रखे।

संनिपातोदर या दूष्योदरमें प्रत्याख्यान करले एक या आधे मास स्नुही आदि तीव्र विरेचन दे। कोष्ठ शुद्ध होने पर मद्य के साथ अश्वमार (कनेर), गुज्जा, काकादनी-मूल कलक दे। कृष्ण सर्पसे दंश कराके इक्षु-काण्ड (गन्ना) चूसे या इसी प्रकार वल्ली-फल (लताओंमें लगनेवाले फल) खिलावे। मूलज या कन्दज विषोंका सेवन करावे। इन प्रयोगोंसे रोगी स्वस्थ हो जाता है या मर जाता है। विषसे दोष नष्ट हो जाय तो शीत जलसे परिपेक करके एक मास यथाबल यवागू या दूधपर रखे। वास्तूक (बथुए) आदि का शाक दे। प्यास लगे तो इन शाकोंका ही रस दे। एक मास पश्चात् करभी दुग्ध (सांडनीका दूध) दे।

प्लीहोदरमें स्नेहन-स्वेदन कराके रोगीको दही खिलावे। पश्चात् वाम बाहुमें कूर्पर-गत सिरा^१ का वेध करके दवा का रुधिर निकाल दे। पश्चात् नीचे लिखे योगोंमें कोई एक—
१—दूधसे समुद्र शुक्तिकी भस्म; २—दूधसे हिङ्ग तथा सौवर्चिका; ३—पलाशक्षारके साथ यवक्षार; ४—पारिजात, इक्षुरक (तालमखाना)^२ तथा अपामार्ग क्षार

१—Cephilic vein—सेफिलिक वेन।

२—इक्षुरक-क्षारकी पित्तकोषाश्मरी (Gall-stone—गॉल स्टोन) में भी अति प्रशंसा है

५—शोभाजनके यूपमें तैल, पिप्पली, सैन्धव तथा चित्रक डाल कर दें ; ६—छः गुणा काजी (आरनाल) में पृति-करञ्जका क्षार डाल उसे परिखावित कर उसमें प्रचुर विड्-लवण (नवसादर) तथा पिप्पली डाल कर दें ; ७—रोहीतकके विभिन्न कल्प ; ८—शरपुङ्ख क्षार दें ।

यकृतदुर्गमें ये ही क्रियाएँ करें । भेद केवल यह कि सिरा दक्षिण बाहु की वेधें ।

प्लीहा-यकृतमें विरेचन अनिवार्य है । लेखनके लिए क्षार-प्रयोग किये जाते हैं । प्लीहा विषमज्वरकी उपद्रवभूत होती है, अतः साथ-साथ उसका भी उपचार करें । क्षार-प्रयोगोंमें अर्क-लवण, लोकनाथ रस (प्रधान द्रव्य—शङ्ख, कर्पद-कौड़ी), नवसादर और शङ्खभस्मका व्यवहार सांप्रत वैद्य विशेष करते हैं । विषमज्वरके लिए विषतिन्दुक तथा सोमलका उपयोग करें । घृतकुमारीके योग कुमार्यासव ऐलेयक (एलुआ) आदि सभी योगोंके साथ दिये जाते हैं । कुमारी और ऐलेयक शरीरमें कहीं भी द्रव-संचितमें तथा उसे न होने देनेके लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं । शिलाजतु का भी ऐसा ही महत्त्व है^१ ।

पिप्पलीवधमानका यकृत, प्लीहा, विषमज्वर, पाण्डुरोग, जीर्णज्वर आदि के लिए प्रचुर व्यवहार होता है ।

प्लीहा यकृतके लिए गोमूत्रका प्रयोग सर्वोत्तम है । प्रातः निरन्न (खाली पेट) यथा रुचि, यथा बल गोमूत्र लेना चाहिए । कम से कम एक छटाँक तो अवश्य लें । अरुचिको दृष्टिमें रखकर गोमूत्रकी रस क्रिया भी बनायी जाती है ।

प्रवाहिका-विशेष (अमीबिक डिसेण्ट्री) की उपसर्ग-भूत यकृतवृद्धि (विद्रधि) में कुटजत्वक् और इन्द्रियवका आरोग्यवर्धनी, नवसादर और पुनर्नवाष्टक काथके साथ प्रयोग गुणकारी है । पपीतेका दूध १५-२० बूँद प्रातः-प्रातः खाँडके

साथ मिलाकर देनेसे सामान्य प्लीहा-यकृत-वृद्धिमें लाभ होता है । यकृतकी शुद्धिके लिए कालमेघ (यवतिका) अति उत्तम है । बच्चोंके लिए यह विशेष गुणकारी है । कालमेघ का आसव औषध-विक्रोता बेचते हैं । नवायसमें कालमेघ चूर्ण मिलाकर उसीकी भावना देकर कालमेघ नवायस बनाया जाता है । कटुरोहिणी (कटुकी) और नवसारका मिश्रण यकृतकी शुद्धिके लिए सुप्रचलित और गुणकारी है । प्लीहा की वृद्धिमें भी इसका ऐसा ही प्रयोग होता है ।

प्लीहाको मृदु करनेके लिए गोमूत्रका सेक तथा विभिन्न लेप या पत्र आदिका बन्धन किया जाता है । प्लीहा और गुल्मकी चिकित्सा परस्पर बदलकर की जा सकती है ।

प्लीहा और यकृतमें दोष-विशेषकी प्रबलताको देखकर तदनुरूप विशेष उपचार करें ।

वट्रोदर में स्नेहन, स्वेदन तथा अभ्यङ्ग कराके, नाभिके वाम पार्श्वमें, मध्यरेखामें चार अङ्गुल छोड़कर उदर-पाटन करें । चार अङ्गुल अन्त्र निकालकर अन्त्र-प्रतिरोधक पत्थर बाल, ग्रथित मल आदिको निकाल दें । पश्चात् घृत और मधुसे अन्त्रका अभ्यङ्ग करके अन्त्रोंको यथास्थान रख दें और बाह्य व्रणको सी दें ।

छिद्रोदर में इसी प्रकार अन्त्र बाहर निकालकर स्त्रावोंको शुद्ध करके, अन्त्रोंको काली पिपीलिका (चिऊँटी) से दृष्ट करावें^१ । बादमें इन पिपीलिकाओंका शिरसे नीचेका भाग काट दें तथा उदरको सी दें । मधुयष्टी तथा कृष्ण मृत्तिकाका लेप करें और पट्टी बाँध दें । रोगीको निर्वात घरमें रखें । तैल या घीकी द्रोणीमें रखें । भोजनमें केवल दूध दें ।

१—प्रायः समझा जाता है कि, पिपीलिकाओंसे यह दंश सीवनार्थ है । इस प्रकार इस प्रकरणको आयुर्वेदके उपहासका पात्र बनाया जाता है । उदर-पाटन जैसे शस्त्रकर्मके कारण यह प्रकरण उलटे आयुर्वेदकी कीर्तिका हेतु माना जाना चाहिये । जो हो, इस दंशको सीवनार्थ मानते हुए यह नहीं ध्यानमें लिया जाता कि, पिपीलिकाके मुखमें अन्त्रके दोनों कटे किनारे कैसे आ सकते हैं ? यह भी निश्चित नहीं कि पिपीलिकाएँ जहाँ शल्यहर्ता (सर्जन) चाहे वहीं—दोनों किनारोंको मुखमें लेते हुए—काटें । फिर, यह भी ध्यानमें नहीं रखा जाता कि सीवनका तो निर्देश इस दंशके पश्चात् किया ही है । मेरा मन्तव्य है, जोवाणुओंकी क्रिया द्वारा

१—जलपार्श्व (Pleurisy with effusion—प्लुरिसी विथ इफ्युजन) में कुमारी स्वरस तथा शिलाजतुमें किसी का भी प्रयोग जल-संचितमें उत्तम है । पूनाके आयुर्वेद महाविद्यालय के प्रिंसिपल श्री मामासाहेब गोखलेने पिछले कई वर्ष ऐसे रोगियोंपर परीक्षण करके ये दो द्रव्य जाने हैं । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, इन परीक्षणोंमें क्ष—किरण द्वारा जलका प्रमाण बार-बार देखा जाता था । सामान्यतया तीन सप्ताह ये औषध दिये जाते हैं ।

१०२४

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

जलोदर

जलोदर स्वतन्त्र भी होता है और उदरमात्र तथा अर्शस्का उपद्रव रूप भी होता है। इसमें स्त्रावण आवश्यक है। इसके लिये वातहर तैलोंका अभ्यङ्ग और स्वेदन करके, नाभिसे नीचे, रोमराजि (मध्य-रेखा) से चार अङ्गुल बाईं ओर, ब्रीहिमुखसे अंगुठेकी चौड़ाई-जितना गहरा वेध करे। पश्चात् धातुकी बनी द्विद्वारा नाडी या पक्षनाडी लगाकर पानी निकाल दे और व्रणपर तैल और लवणका अभ्यङ्ग कर पट्टी बाँध दे।

दूषित जल एक ही दिन में समूचा न निकाले। एक साथ सब पानी निकाल देनेसे, तृषा, ज्वर, अङ्गमर्द, अतिसार, श्वास, कास और पाददाह उत्पन्न होते हैं। एवं रोगी असंजात-प्राण (शक्तिके पुनः उदयसे रहित) हो तो पानी पहलेसे अधिक भर जाता है। अतः

होनेवाली पूयोत्पत्तिके प्रतिकारके लिये यह उपचार है। पिपीलिकाओंमें फॉर्मिक एसिड (Formic acid) होता है, जो उत्तम जीवाणुहर है। इस अम्लका नाम भी पिपीलिका-वाचक मूल शब्दसे बना है। राष्ट्रभाषामें भी इसीकी अनुकृतिमें इसे पिपीलिकाम्ल नाम दिया गया है।

इस प्रसंगमें यह भी स्मरण किया जा सकता है कि सुश्रुतने सीवनोपयोगी द्रव्योंकी गणनामें स्नायुका भी निर्देश किया है, जिसका साम्य आधुनिकोंके केट-गटसे देखा जा सकता है।

यथावश्यक तीन, चार, पाँच, छः, आठ, दस, बारह या सोलह दिनोंके अन्तरसे थोड़ा-थोड़ा पानी निकाले। प्रत्येक बार पानी निकालकर उनी, रेशमी या चर्ममय पट्टे से बांध दें, जिससे वायु पेटको फुला न दे। रोगीको छः मास दूध या जाज़ल माँसका रस दे। पश्चात् तीन मास आधा दूध, आधा पानी, फलोंका रस और जाज़ल माँस रस दे। शेष तीन मास लघु, हितकर लवणरहित अन्न दे। इस प्रकार रोगी एक वर्षमें स्वस्थ होता है।

जलोदरमें इस प्रकार पुनः-पुनः स्त्रावण करके रोगीका यापन करे। रोगी तृषा, कास, श्वास, ज्वर, मांसक्षय, अग्निमान्ध, क्षुधानाश, शूल तथा इन्द्रिय दौर्बल्यसे पीड़ित हो तो उसे छोड़ दे।

उदर रोगोंकी प्रारम्भिक अवस्थामें अथवा तीव्र अवस्था निकल जानेपर संप्रतः वैद्य आरोग्य-वर्धनी (३-६ गुञ्जा द्रव्य—लोह, ताम्र, अभ्रक, गुग्गुलु, शिलाजतु, चित्रक आदि मिलित २२ भाग, कटुरोहिणी सर्वसम) का पुनर्नवापक काथके अनुपानसे उपयोग करते हैं। पुनर्नवा मण्डूर (४-८ गुञ्जा) भी देते हैं। इसमें मण्डूर सर्वसम होता है। यह पाण्डुमें भी उत्तम है। ये सब योग सर्वाङ्ग शोधमें भी उपयोगी हैं।

(क्रमशः)

१—Abdominal bandage—एब्डॉमिनल बँडेज।

इसका साम्य प्रसवोत्तर उदर-बन्धनसे देखिये।

“रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणितु”

यों तो रोग मात्र की उत्पत्ति का कारण अग्नि की मन्दता है, उसमें उदर रोगों की उत्पत्ति तो अग्निमांश से विशेष होती है। इस सूत्र के प्रति वैद्यों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।—एलोपैथी में सजल उदरों की चिकित्सा में यह पद्धति प्रवृत्त हुई है कि रोगी को अधिक प्रोटीनवाला आहार (मांस, अण्डा आदि) दिया जाय तो उसकी जलकर्षण शक्ति (ऑजमोटिक प्रेसर) अधिक होने से वह महास्रोतस् में आसपास से—जल के सञ्चय स्थान से—जल को खींच कर लाता है। परिणामतया विरेचन दिये बिना ही कोष्ठान्तर्गत जल न्यून हो कर विरेचन हो कर उदर-रोग शान्त हो जाता है। अनुभव से यह मत दूषित, अग्राह्य और रोग वृद्धिकारक विदित हुआ है। प्रोटीन बहुल आहार गुरु (दुष्य) होने से रोग में और वृद्धि ही होती है। इसके विपरीत दुग्धाहार लघु (सुष्य) भी होता है और प्रोटीन-बहुल आहार की आधुनिकों ने जो प्रशंसा की है, उसका भी पालन इससे (दुग्ध भोजन से) होता है। आयुर्वेद में दूध को उदर-रोगों में अमृत कहा है। वैद्य भी उदर के निदान और चिकित्सा सम्बन्धी सरल तथा यशप्रद इन मन्तव्यों का अनुसरण नहीं करते; यह शोचनीय है।

—वैद्य रणजितराय

पित्तदोषघ्न वर्ग

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेदशास्त्राचार्य



इस वर्ग में पित्तपंचक के भीतर क्षय, वृद्धि होकर जो-विकृति होती है और उससे जो विकृति विज्ञापक लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनको शमन करने वाली औषधियों का वर्णन किया गया है। पित्त के पाँच प्रधान भेद हैं। इनमें पाचक, रंजक, भ्राजक, आलोचक और साधक यह पाँच भेद प्रधान रूप से माने गये हैं। इन पाँचों में पुनः पाचक पित्त के अन्तर्गत क्रमशः अधोलिखित रसों का समावेश है।

१—पाचक पित्त

(१) आमाशयिक रस (Gastric juice)—यह अम्लरस विशिष्ट द्रव्य होता है। इसमें प्रायः लवणाम्ल, पेपसिन व रेनिन आदि पाचक प्रधान वस्तु पाये जाते हैं।

(२) पकाशयिक रस—इसमें यकृत निर्मित पित्त रस (Bile) व अग्निरस (Pancreatic juice) सम्मिलित है, यह कटु-तिक्त रस प्रधान होता है।

(३) आन्त्रिक रस (Enterokinase) यह आंत की दीवारों की ग्रन्थियों का रस होता है। यह तिक्त प्रधान रस होता है।

यही ऊपरवाले अम्ल और कटु-तिक्त प्रधान रस पाचक पित्त में पाये जाते हैं।

२—रंजक पित्त में रंजक वस्तु यकृतस्थ पित्त रस के अंशों में से दो रंजकवर्ण, रक्तपित्त वर्ण (Belirubin) और हरित वर्ण (Belverdine) रहते हैं।

३—भ्राजक पित्त—त्वचागत जो पित्तांश त्वक्स्थ ग्रन्थियों में तैयार होकर त्वचा केवर्ण को कान्तियुक्त व स्निग्ध बनाता है वह कटुरस युक्त पदार्थ होता है।

४—आलोचक पित्त—नेत्र के दृष्टि पटलस्थित अम्ल प्रतिक्रिया वाला रासायनिक द्रव्य होता है। रंजन भी इसके द्वारा ही पटल में होता है।

५—साधक पित्त—पीयूषग्रन्थि (Pituitary gland) से प्राप्त पीयूष (Pituitrin) व अधिवृक्स्थ रस एड्रेनेलिन यह रस हृदय में आकर हृदय की क्रिया को धारण करते हैं। यह कटुरस प्रधान द्रव्य है।

इस प्रकार पित्त में प्रधान रस कटु, तिक्त और अम्ल पाये जाते हैं। यह रस सम मात्रा में न बनकर विषम मात्रा में यथा—अधिक द्रव या अधिक गाढ़े बनते हों, तो इस विषम परिस्थिति को समावस्था में लाने के लिये इस वर्ग को अधोलिखित भेदों में विभक्त किया गया है। १—पित्तदोषघ्न औषधियाँ और (२) पित्त शामक औषधियाँ। इसमें पित्तशामक-सारक व पित्त शामक-ग्राही तथा पित्तनिःसारक औषधियों का वर्णन होगा।

इनमें प्रायः कटु-तिक्त व अम्ल रस की वृद्धि या क्षय होकर पित्त की विकृति होती है और इनकी इस विकृति को साधारण शब्दों में पित्त विकृत की संज्ञा दी जाती है। पित्त शामक औषधियों में ऐसी ही

औषधियाँ हाँगी जो इनमें शमन का कार्य करें। इन पाँचों पित्तों में पाचक पित्त प्रधान है और इनका ही आश्रय लेकर शेष चार अपनी-अपनी क्रियाओं को करते हैं। अतः यदि पाचक पित्त का नियन्त्रण किया जाय तो शेष का भी नियन्त्रण हो जाता है। इसमें दो प्रधान रस—यथा—अम्ल रस और लवणाम्ल युक्त आमाशयिक रस के द्रव्य होते हैं।

क्षार रस—क्षारांश-युक्त कटु-तिक्त प्रधान रस। पित्त शामक व शोधक औषधियों में अधिकतर अम्ल रस व कटु रस शामक व शोधक द्रव्य ही अधिक आते हैं—अतः इनका वर्णन हम क्रमशः करेंगे और उनके शोधन के क्रम पर भी विचार उपस्थित करेंगे। साधारण रूप में पित्त सारक, ग्राही और वर्धक द्रव्यों का ही विवेचन इस अध्याय में होगा। साधारण रूप से पित्त शब्द से आधुनिक व प्राचीन चिकित्सक प्रायः यकृतस्थ पित्त (Bile) की ही अधिक धारणा रखते दिखाई पड़ते हैं; किन्तु शास्त्रों में उपर्युक्त सब पित्तों के वर्णन से तात्पर्य विशेष करके अम्लपित्त वाले रोगी के वान्ति काल में अम्ल और तिक्त रस की अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है, जो तत्कालीन उपस्थित पित्ताधिक्य की उत्पत्ति से निकलता है।

अतः यहाँ पित्त के विशिष्ट रस व भेदों का स्पष्ट विवरण इसलिये दिया है कि भ्रम न होने पावे। यही प्रधान कारण है कि सामान्य गुण भूयिष्ठ पदार्थ जो कटु और लवण-अम्ल रस प्रधान होते हैं, पित्त-प्रकोपक बनते हैं। मधुर और कषाय-तिक्त रस विशिष्ट इसके शामक बनते हैं। यह विषय यद्यपि इस स्थान का नहीं है किन्तु औषधि के द्वारा पित्त शमन व वृद्धिकर पदार्थों में इनकी गणना न करना अनुचित व विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण होता—अतः इनको संक्षेप में लिखना पड़ा है। पित्त

के अम्ल व क्षार रस प्रधान गुण होते हैं जो अपनी मात्रा से कम या अधिक होकर रोग पैदा करते हैं। इनका स्पष्ट विवरण आगे दे रहे हैं। सिद्धान्त यही है कि पित्त रस के भीतर क्षार व अम्ल रस प्रधान हैं। इन्हें विकृतावस्था से समावस्था में लाना ही पित्त का संशोधन करना है। पाचकपित्त की कम व अधिक उत्पत्ति को ही क्रमशः दीपन व पाचन क्रिया के विवरण में व्यक्त कर चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि बड़े हुए पित्त में कषाय-मधुर व तिक्त रसयुक्त औषधियाँ पित्त को शमन करती हैं और अम्ल-कटु और लवण रसयुक्त औषधियाँ पित्त को बढ़ाती हैं। प्रथम वर्ग मधुर-तिक्त-कषाय-अम्लपाक के प्रतिकूल पड़ते हैं, द्वितीय अम्ल-कटु-लवण व क्षारीय रस या कटुपाक के प्रतिकूल पड़ता है।

अम्लवृद्धि में क्षार का उपयोग व क्षारांश वृद्धि पर अम्ल का प्रयोग लाभप्रद होता है। यद्यपि इससे रोगोत्पादक हेतु पर प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु रोगावस्थापर प्रभाव पड़ता है और तात्कालिक लाभ दृष्टिगोचर होता है। विपरीत गुणवाले द्रव्यों से पित्त शमन होता है ऐसा चरकादि आचार्य मानते हैं। पित्त के गुणों में—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लसरं कटुः।

विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

च० सू० अ० १।

ऊपर के गुण निर्देश से भी स्पष्ट है कि पित्त के भीतर प्रधानरस कटु और अम्ल होते हैं। पित्त के आत्मस्वरूप में भी चरक ने ऐसा ही लिखा यथा—

“औष्ण्यम्, तैक्ष्ण्यम् लाघवमनतिस्नेहोवर्णः शुक्लारुण वर्णौ गंधश्चविस्त्रोरसौ कटुकास्त्रौ स्यात्प्रहृषणौ ॥”

अतः कटु व अम्ल रस पित्त द्रव्य में होते हैं।

पित्तदोषघ्न वर्ग

१०२७

विपरीत गुणवाले रस द्रव्य शीघ्र पित्त शामक होते हैं। अतः मधुर-तिक्त और कषाय रस जो इनके विपरीत हैं, पित्त शामक बन जाते हैं। वीर्य में पित्त उष्ण होता है अतः शीतल गुण इसके विपरीत रहता है। शीतल वस्तुके प्रयोगसे पित्त का शमन होता है। पित्त अनति स्निग्ध होता है अतः अतिस्निग्ध व शीत वीर्य गुण प्रधान स्निग्ध घृत इसका शामक है। रस में भी यह मधुर होता है। इस प्रकार पित्त शामक वर्ग में इन विचारों को सामने रख कर पित्त शामक औषधियाँ लिखी गई हैं।

पाचक पित्त के शमनार्थ—आमाशयस्थ अम्लाख्य भाव युक्त रस तथा पक्वाशयस्थ कटुकाख्य भाव वाले यकृत से आगत पित्तरस (Bile), अग्न्याशय से आनेवाला अग्निरस (Pancreatic Juice) व आंत्रिक दीवाल की ग्रन्थियाँ का आंत्रिक रस ये कटु रस युक्त होते हैं, इनके शामक दो प्रधान रसों से युक्त द्रव्य पृथक्-पृथक् होंगे। यथा— एक अम्लता शामक, द्वितीय कटुता शामक। क्षय व वृद्धि की दशा में अम्लवर्धक, अम्ल हासक, कटु रस वर्धक व कटु रस हासकर औषधियों का वर्णन होगा। इन अम्ल व कटु रस प्रधान पाचक रसों की प्राकृतिक-वस्था से गुण हानि होने पर भी इनका आश्रय ही लेना होगा। यथा—आमाशयिक रस की अधिक द्रवता या तरलता पर और अन्य पित्त रसों की द्रवता या तरलता पर तथा गाढ़े बनने पर, उसकी गाढ़ता कम करनेवाली औषधियों का प्रयोग लिखा जायगा। कटु व अम्ल तत्त्व की क्षय-वृद्धि इनकी पूर्ति व समावस्था में लाने के लिए लाभप्रद होते हैं। पित्तशामक वर्ग में इन ही का वर्णन आगे होगा।

पित्तदोषघ्न

पित्त दोषघ्न औषधियोंका उल्लेख सुश्रुत और वाग्भट्ट ने अधोलिखित गणों की सृष्टि करके किया है।

- १—काकोल्यादि गण—पित्त-शोणित व अनिलहर
- २—विदारिगंधादि गण—पित्तानिलहर
- ३—पटोलादि गण—पित्त-कफघ्न
- ४—सारिवादि गण—पित्त रक्तहर
- ५—अंजनादि गण—रक्त-पित्तहर
- ६—गुडूच्यादि गण—पित्तघ्न (ज्वरदाहहर, दीपन)
- ७—उत्पलादि गण—दाह-रक्तहर
- ८—लाक्षादि गण—कफ-पित्तघ्न
- ९—लघुपञ्चमूल—वातघ्न व पित्तशामक
- १०—दशमूल—पित्त-कफानिलहर
- ११—बल्ली पंचमूल
- १२—कंटकी पञ्चमूल
- १३—दूर्वादि गण
- १४—तृण पंच मूल
- १५—न्यग्रोधादि गण
- १६—पद्मकादि गण
- १७—सारिवादि गण

रक्तपित्तहर

पित्तघ्न

रक्तपित्तहर

इनको वाग्भट्ट पित्त-
शामक मानते हैं

इन उपर्युक्त १७ गणों के द्रव्यों के ऊपर विचार करें तो ज्ञात होगा कि कफ व वात के अन्वय से संयुक्त पित्त कई औषधियों के द्वारा शान्त होता है। इनका रसात्मक विश्लेषण कषाय, मधुर, तिक्त व कटु रस प्रधान द्रव्य हैं। इन गणों का पित्तहर के रूप में वर्गीकरण करें तो स्पष्ट मालूम होगा कि कुछ तो मधुर विपाक वाले द्रव्य हैं जो कि शीतवीर्य होते हैं और पित्त की अम्लता व तिक्तता दोनों पर प्रभाव डालते हैं। पित्त की कटुता का भी नाशक बनते हैं। कुछ कषाय रसवाले हैं जो कटु विपाकी होकर पित्तक्षय में पित्त वर्धक बनते हैं। कुछ तिक्त रसवाले हैं जो कटु विपाकी हो उष्णवीर्य बनकर पित्तवर्धक और उष्णता कर गुण करते हैं।

इनका उपसंहार करते हुए सुश्रुत ने संक्षेप में पित्त-शामक वर्ग को इस रूप में रखा है—चन्दन कुचन्दन

होवेरोशीर मजिष्ठापयस्या विदारी शतावरी गुन्द्रा-
शैवालकलहार, कुमुदोत्पलकन्दली दूर्वा, मूर्वा प्रभृतीनि,
काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्वलादि, न्यग्रोधादि
स्तृणपंचमूलमिति समासेन पित्त संशमनो वर्गः ।

सु. सू. अ. ६

अर्थात्—चन्दन, रक्तचन्दन, नेत्रवाला, खस,
मंजीठ, क्षीरकाकोली, विदारी, शतावरी, गुन्द्रा,
शैवाल, नील कमल, रक्तकमल, श्वेतकमल, कमल-
गट्टा दूर्वा, मूर्वा व काकोल्यादिगण, सारिवादिगण,
अंजनादि गण, उत्पलादि गण, न्यग्रोधादि गण,
तृणपंचमूल । संक्षेप में इन वर्गों के द्रव्य पित्त
संशमन कहे जाते हैं । इन वर्गों के द्रव्यों को यहाँ
लिख कर आगे इनका विवेचन करेंगे ।

काकोल्यादि गण—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक
ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची,
कर्कट शृङ्गी, वंशलोचन, पद्माख, कमल, ऋद्धी, वृद्धी,
मुनक्का, जीवन्ती, मुल्हठी ।

नोट—ये द्रव्य मधुररसप्रधान, बलदायक व
बढ़े हुए पित्त की उदीर्णता को शान्त करनेवाले तथा
जीवनीय, धातुवृद्धिकर, शुक्रवर्धक, दुग्धवर्धक व श्लेष्म-
वर्धक होते हैं—

सारिवादि गण—सारिवा, मुल्हठी, चन्दन श्वेत,
चन्दन रक्त, पद्माख, गम्भारी फल, महुए का फूल
और खस ।

ये औषधियाँ मधुर व तिक्त रस विशिष्ट होती हैं ।

अंजनादि गण—सौवीरांजन, रसौत, नागकेशर,
प्रियंगु, नीलोत्पल, खस, पद्मकेशर और मुल्हठी । यह
रक्तपित्त, विष व दाह नाशक गण है ।

उत्पलादि गण—नीलकमल, रक्तकमल, श्वेत-
कमल, नीलाश्वेतकमल, कुमुदनी, सुगन्धवाला और
मुल्हठी ।

न्यग्रोधादि गण—वट, अश्वत्थ, गूलर, पाकर,

आमड़ा, अर्जुन, आम्र, काकजम्बू, महाजम्बू, प्रियाल,
महुवा, रोहिणी, कदम्ब, बेर, तिन्दुक, सलई, भिलावा-
पलाश और नन्दीवृक्ष । ये कषाय और मधुररस-
प्रधान द्रव्य हैं ।

तृण पंचमूल—कुश, कास, नल, डाभ, काण्डेयु
(ईख) ये द्रव्य अल्पमधुर वा कषायरसयुक्त होते हैं ।

उपर्युक्त ये द्रव्य तथा इनसे मिश्रित अन्य योग्य
द्रव्य पित्त शामक, संशोधक, वर्धक व हासकर होते
हैं । इनका वर्णन पृथक्-पृथक् होगा ।

यहाँ यह विचारणीय है कि चरक, सुश्रुत, व
वाग्भट्ट की काष्ठौषधियों के वर्णन के बाद रसशास्त्र
की बहुत सी रसौषधियों का भी यहाँ उल्लेख होगा
जिनका प्राचीनकालीन चिकित्सक प्रयोग करते थे ।
इनका प्रयोग अब आधुनिक काल में बहुत से कवि-
राज करते हैं और प्रत्यक्ष इष्ट फल लाभ करते हैं ।
उनमें प्रधान—स्वर्ण, रौप्य, पन्ना, माती, वैदूर्य, प्रवाल,
शंख, शुक्ति, अकीक, यशद तथा इनके यौगिक लवण
तथा कहरवा, जहरमोहरा इत्यादि द्रव्य हैं ।

अब आगे पित्तशामक रसों का एक-एक प्रयोग
लिखेंगे ।

पित्तशामक

पाचक पित्त के वर्णन में अम्ल व कटु प्रधान
रसों का उल्लेखकर आये हैं ।

अम्लरसप्रधान पाचकपित्त—आमाशयिक पाचक
रस में रहता है अतः यदि उचित अम्लंश पाचक
रस न बने तो (५ प्रतिशत लवणाम्ल आमाशयिक
पाचक रस में होता है) जैसा कि अजीर्ण व अम्ल
मांघ में होता है, अम्लतावर्धक द्रव्यों का सेवन करने
अथवा अल्पक्षारीय (कटुवीर्य) द्रव्य के प्रयोग से
अम्ल पाचक रस बढ़ जाता है । अम्ल के विपरीत
मधुर, लवण व कटु रस होते हैं । दीपनीय औषधि
वर्ग में इसका विस्तृत विवरण दे चुके हैं ।

पित्तदोषघ्न वर्ग

१०२६

संक्षेप में काकोल्यादि गण से संयुक्त औषधियां आमाशय बलवर्धक व शामक होकर पाचक रस की वृद्धि करती हैं। कटुलवण रस प्रधान द्रव्य लाभप्रद होते हैं, अतः इनका विवरण दीपन-पाचन में देखिये। “सामान्यं वृद्धि करं” के अनुसार अम्लद्रव्य, शंखद्राव, जम्बीरासव, लोहासव, कुमार्यासव, उशीरासव व प्रायः सब प्रकार के आसवारिष्ट जो अम्लमधुर रस विशिष्ट होते हैं, आमाशयिक पाचकाम्ल रस की वृद्धि करते हैं।

अम्ल रसाधिक्य — आमाशयिक रस में लवणाम्ल की मात्रा वृद्धि होने पर यथा अम्लपित्त में मधुर लवण व अल्प कटुरस युक्त औषधियों का प्रयोग करने से लाभ होता है।

काकोल्यादिगण, पंचतृणकषाय, तथा क्षारीय वस्तुओं का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। अम्ल की मात्रा कम करने से तथा अम्लनाशक द्रव्यों का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। एतदर्थ नरसार, सर्जिका-क्षार, मोतीभस्म, प्रवाल भस्म, शुक्ति, वराटिका, शंख आदि की भस्म, लवणयुक्त औषधियां यथा नारिकेल-लवण, काण्डलवण, क्षारलवण, तथा शर्करा के प्रयोग-समशर्करा चूर्ण लाभप्रद है।

तिक्त रस के द्रव्य— उशीरासव, अमृतारिष्ट, फला-रिष्ट, चन्दनासव, गुडूच्यादि कषाय, कुटकीसत्व, गुडूची सत्व आदि का प्रयोग भी लाभप्रद होता है।

ये औषधियां दो प्रकार की होती हैं। प्रत्यक्ष-फलदायक तथा अप्रत्यक्ष फलदायक अथवा दूरवर्ती फलदायक।

प्रत्यक्ष फलप्रद— अम्ल के विपरीत क्षार का प्रयोग सद्यः लाभप्रद होता है और अम्लता को उदासीन करके अपनी पित्त की क्रिया का अवरोध करता है।

यथा क्षारयुक्त सद्यः फलप्रद औषधियां जो अम्ल की अधिकता पर लाभप्रद होती हैं प्रायः दीपन

पाचन वर्ग में कही गई हैं। यहां पुनः उल्लेख कर देते हैं।

क्षार प्रधान— शंखवटी, महाशंख वटी, टंकणादि-वटी, क्षुधासागर रस, अग्निकुमार रस, अग्निसंदीपन रस, वडवानल रस, बृहदग्निकुमाररस, भास्कर लवण, सैधवादि चूर्ण, हिंमवृष्टक चूर्ण, वडवानल चूर्ण, अग्निमुख लवण, अजीणघ्न आदि वटी-चूर्ण व रसादि जो कि अग्निमांश-अधिकार में वर्णित हैं (भैषज्य-रत्नावली) उनका प्रयोग बड़ी मात्रा में बड़े हुए अम्लरस में सद्यः लाभप्रद होता है। ये ही क्षार व लवण प्रधान द्रव्य रस के कम बनने पर आहार से पूर्व स्वल्प मात्रा में प्रयुक्त होकर लालास्राव (बोधक श्लेष्म) आमा-शयिक रस स्राव प्रारम्भ कर देते हैं, यदि भोजन के आदि में प्रयुक्त हों।

यही क्षारीय रस प्रधान द्रव्य अम्लता नाश-नार्थ प्रयोग करना हो तो भोजन के बाद शीघ्र ही प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि पाचकाम्लरस जो आमाशय से तैयार होंगे वह क्षार द्रव्य पाकर उदासीन होकर अन्य पाचन कर्म में विघातक बन जायेंगे। अतः भोजन के ३-४ घंटे बाद इनका प्रयोग लाभप्रद होता है। अम्लता की वृद्धि होने पर आंतों तक अम्लता रहती है, मूत्र भी आम्लिक प्रतिक्रिया का होता है, ऐसी दशा में शंख, वराटिका, शुक्ति आदि भस्म के प्रयोग लाभप्रद होते हैं। अम्लता की वृद्धि और नाड़ी क्रिया की कमी से उत्पन्न आत्माबादि में वातहर हिंगु आदि द्रव्य मिलाकर औषधियोजना करनी चाहिए।

यह प्रत्यक्ष शामक क्षारीय औषधियां आमाशय की अम्लता का शमन तो करती हैं किन्तु सच्चा फल प्राप्त नहीं होता अतः पूर्व वर्णितयोगों में आमाशय को बलदायक औषधियां भी सम्मिलित हैं। विशेष विवरण दीपन-पाचन वर्ग में देखिए।

१०३०

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

दूरवर्ती फलप्रद—औषधियों में तिक्त-कटुरसयुक्त शिलाजीत, मुक्ता, गूगल, रसांजन के याग लाभप्रद होते हैं।

पक्काशयिक रस

कटु और तिक्तरस प्रधान यकृतस्थ पित्त व अग्नि रस का सम्मेलन आमाशयिक पाचक पित्त के अति-रिक्त पाचन कर्म करते हैं, अतः इनकी क्षय व वृद्धि पर पित्तशामक मधुर-कषाय व तिक्तरसप्रधान औषधियों का वर्णन सर्वत्र पित्तशामक चिकित्सा में प्राप्त होगा—

यकृतस्थ पित्त (Bile)—पित्त के स्राव की वृद्धि, पित्तस्राव की कमी—ये दो क्रियायें पित्त की वृद्धि व क्षय के द्योतक हैं।

पित्तकी वृद्धि पर—पित्तहासक (Anticholagogues) का प्रयोग करना पड़ता है, जिनमें प्रधान जान्तव व खनिज द्रव्य—मुक्ता, शुक्ति, वराटिका, प्रवाल, शंख और पारद के योग रसपुष्प (chalomol) तथा तिक्त रस युक्त वनस्पतिद्रव्य—श्वेतचन्दन, पुष्पचन्दन, उशीर, पद्माख, शिलाजतु, मुलैठी, पित्तपापड़ा, मंजीठ तथा मधुर रसयुक्त—काकोल्यादिगण के द्रव्य, कषाय रसयुक्त—न्यगोधादि गणके द्रव्य मिश्रित औषधियां विशेष लाभप्रद होती हैं। यह पित्त के स्राव को हास करती हैं और पित्त शामक कही जाती हैं।

पित्तवर्द्धक (Cholagogue)—पारद घटित औषधियाँ, एलुवा, रेवत चीनी तथा इस प्रकार के कटु वीर्य प्रधान द्रव्य पित्तकी वृद्धि करते हैं। पाचन वर्ग में इन का वर्णन पूर्ण रूप से है।

इन दोनों प्रकार की औषधियों का प्रभाव पित्त शामक व वर्द्धक के रूप में कहा जाता है। इस वर्ग में प्रायः पित्तशूल, रक्तपित्त व पित्तोदर शामक सब शास्त्रीय औषधियाँ आती हैं। पित्तवर्द्धक में दीपन पाचन की औषधियाँ प्रधान हैं, जिनका वर्णन पहले के लेखों में किया जा चुका है।

पित्त रस प्रधान रोग के लक्षणों का वर्णन विशेष रूप से शास्त्रों में पैत्तिक रोगों के रूप में वर्णित है इनके दोषों के शमनार्थ कषाय, तिक्त, और मधुर रस औषधियों के योग पूर्ण लाभ प्रद होते हैं।

कुछ रसौषधियों के योगों का प्रभाव यद्यपि न तो तिक्त होते हैं व क्षारीय किन्तु पित्त शामक होता है। पारद घटित रसौषधियाँ इसमें विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी क्रिया किसप्रकार होती है, यह अभी कुछ विचाराधीन और कुछ अनुभव-पूर्ण हैं।

पित्त की उदीर्णावस्था में जबकि पित्त अधिक बनता है; मूत्रल व शरीर में द्रव वर्द्धक योग भी पित्त की लक्षणावली में कमी करते हैं। इसमें कषाय-मधुर रस प्रधान द्रव्य विशेष लाभ प्रद होते हैं। पंचतण कषाय, पुनर्नवाष्टक इत्यादि इसमें विशेष उल्लेख्य वस्तु हैं।

पित्त की घनता को कम करने, और मात्रा को शुद्धरूप में प्रयोग करने के लिए सारिवादिगण, चन्दनादिगण, गुडूच्यादिगण, सुश्रुत के संग्रहणीय अध्याय के विशेष लाभप्रद होते हैं।

पित्त की वृद्धि कम करने के लिये विरेचक औषधियों का प्रयोग भी लाभप्रद होता है। पित्ताशय से पित्तका स्राव करा कर अवसादन गुण रखने वाले ये रेचक पदार्थ होते हैं। जलापा (galap) एलुवा ये इसमें प्रधान द्रव्य हैं। इन औषधियों के पित्तशामक सारक कहते हैं।

इनमें प्रधान—कुटकी, अमलतास, निशोथ, सारंगंधा, घृतकुमारी, अंजीर, इन्द्रायण, त्रिफला, पुनर्नवा, इमली, अम्लवेत, द्राक्षा, मुलैहठी, पटोलमूल, आमलक प्रधान हैं। ये विरेचक भी कहे जाते हैं। इनके बने योग पित्तशामक होते हैं।

पित्तदोषत्र वर्ग

१०३१

उशीर, पुनर्नवा, चौलाई, कालमारिष, मुण्डी, शतावरी, बला, द्रोणपुष्पी, गुडूची, शतपुष्पा, ब्रह्मदंडी, इन्द्रायण, रक्तचंदन, चन्दनश्वेत, कचनार, पटोलपत्र, ये तिक्तसरस युक्त होने से पित्त शोधक, पित्तवर्धक और रोधक होकर पित्त शामक बनते हैं।

यवक्षार, इक्षुरक्षार, चिंचाक्षार, सर्जिकाक्षार (सोड़ा बाई काव), शंख, मुक्ता, कपद, प्रवाल, शुक्ति आदि के भस्म यह क्षार प्रधान होकर पित्त के आमाशयिक रस स्त्राव में पाचक पित्त की क्रिया को रोककर उदासीन बनाते और पित्तशामक होते हैं।

पित्ताशय व अग्न्याशय के वर्धितरसाधिक्य जन्य पित्त वृद्धि पर अम्ल द्रव्य लाभप्रद होते हैं ; यथा आमलकी, चिंचापानक, अम्लवेतस, अनार-दाना, चुक, चतुष्पत्रिका, जम्बारी नीबू, आम की खटाई, कचनार की फली, खट्टी चौलाई, खट्टी पालक, अनार, संतरे इत्यादि से बने शर्बत, पानक, खण्ड आदि ये द्रव्य या इनसे भावित रस प्रधान रसौषधियां पित्तोदीर्णता शामक होती हैं।

संक्षेप में पित्तशामक औषधियों का यहाँ वर्गीकरण किया जाता है, जिससे कि चिकित्सकों को उचित सहयोग प्राप्त हो सके। इसमें चूर्ण, अवलेह, पानक, गुटिका, रसायन वटी आदि सर्व प्रकार की औषधियां सम्मिलित हैं।

यकृतस्थपित्त शामक

पित्तावसादक या यकृतवसादक

(Anti cholagogue)

सूतशेखर रस
चन्द्र सूर्यात्मक रस
शर्करा लौह
धात्री लौह
नारिकेलामृत (भै०)

३-२ रत्ती
२ रत्ती
२-४ रत्ती
१-४ रत्ती
१-५ तो०

पित्तवर्धक रेचक
(CHOLAGOGUES)

प्राणवल्लभ रस (भै०) १-२ रत्ती
पंचानन वटी (भै०) १-३ रत्ती
त्रिवृतादि मोदक १-३ तो०
अविपत्तिकर चूर्ण १-२ तो०
हरीतकी खण्ड १-३ तो०
पृग खण्ड १-३ तो०

यकृत व पित्तावसादक
Anti cholagogue

सत्वगिलोय २-६ रत्ती
मौक्तिक पिष्टी १-२ रत्ती
प्रवाल पिष्टी १-२ रत्ती
सूक्ष्मैलारिष्ट २०-३० बिंदु
उशीरासव २-५ तोले
उशीरादि चूर्ण २-४ माशे
चन्दनाद्यासव २-५ तो०
वासाखण्ड कुष्माण्ड २-४ तो०
खण्डखाद्य लौह २-५ रत्ती
कपर्द रस २-४ रत्ती
समशर्कर लौह ३-१ माशे
मधुकादि हिम २-५ तो०
शंखवटी २ ४ वटी
ताप्यादि लौह १-२ रत्ती
लोकनाथ रस २-४ रत्ती
कपर्द भस्म २-४ रत्ती
शंख भस्म २-४ रत्ती
पर्पटाद्यरिष्ट २-४ तो०
विद्याधराभ्र रस २ रत्ती
सुवर्ण भूपति रस १ २ रत्ती
नाग भस्म १-२ रत्ती
चन्दनादि लौह २-४ रत्ती
शुद्धगैरिक २-४ रत्ती
वैदूर्य भस्म १-२ रत्ती
निम्बूकादि पानक २-४ तो०
गुडूच्यादि लौह २-४ रत्ती
पर्पटादि कषाय २-४ तो०

१०३२

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

दुग्ध पाषाण भस्म
कामदुधा रस
पित्तान्तक रस
महा पित्तान्तक रस
शतमूल्यादि लौह (र. सा. सं.)
चन्दकला रस
आमलक्याद्य लौह (र. सा. सं.)

२-४ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

२-४ रत्ती

१-२ रत्ती

२-४ रत्ती

शूलगजकेशरी २-४ रत्ती
दाहान्तक रस ३-२ रत्ती
पंचामृत लौह मण्डूर १-३ माशे

साधारण पित्त
सारक व संसन

प्राणवल्लभ रस २ रत्ती
पंचानन वटी ३-२ रत्ती
पाण्डु सूदन रस १-२ रत्ती
पंचानन रस २-४ रत्ती
नाराच रस १-२ रत्ती

पूर्ण मात्रा में
पित्त-निःसारक
तीव्र रेचक है।

ये औषधियां तिक्त व मधुर रसयुक्त होने से
तथा क्षारीय गुणधर्मे विशिष्ट होने पर भी पित्त-
शामक होती हैं। पित्तोत्पादन पर इनका सीधा
प्रभाव पड़ता है।

आमाशयस्थ पाचक

पित्तशामक-क्षारीय औषधियां

शंखवटी
महाशंख वटी
टंकणादि वटी
भास्कर लवण
सैधवादि चूर्ण
वड़वानल चूर्ण
अग्निमुख लवण
क्षुधासागर रस
अग्निकुमार रस
अग्निसंदीपन रस
वड़वानल रस

पूर्ण मात्रा

२-५ वटी

२-४ वटी

१-२ वटी

३-६ माशे

३ माशे

३ माशे

२-५ माशे

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

बृहदग्निकुमार रस

कपर्द भस्म

लोकनाथ रस

रक्तपित्तान्तक रस

यह योग क्षार प्रधान होने से कम मात्रा में
आमाशयिक पाचक रस के उत्पादन को उत्तेजना देते
हैं। जब आमाशय में पूरा रस न बनता हो और
इस कारण भूख भी न लगती हो, तो उपरोक्त
औषधों के प्रयोग से अग्निसंदीपन होता है। यदि
आमाशय से अम्ल-रस की अधिक उत्पत्ति होती
हो तो इन्हें पूर्ण मात्रा में देने या ड्योढ़ी अथवा
दूनी मात्रा में देने से आमाशयिक रस के अम्लता-
धिक्य का प्रभाव नष्ट होता है।

यकृतस्थपित्त शामक

Anti Cholagogue

सप्तप्रस्थ घृत

दूर्वादि घृत

बासा घृत

आमलक्याद्यलेह

धात्र्यरिष्ट

१-२ तोल

१ तोल

१-२ तोल

१-२ तोल

२-४ तोल

यकृतस्थ पित्तघ्नप्रद

Tonic Anti Cholagogue.

वात नाड़ी केन्द्र व नाड़ी के दुर्बल हो जाने पर
पित्तशामक तथा पित्ताशय को बल देनेवाली
औषधियों का प्रयोग लाभप्रद होता है। यथा—

सूतशेखर रस

सुधानिधि रस

विद्याधात्र रस

मौक्तिक पिष्टी

प्रवालपिष्टी

चन्द्रकला रस

शर्कराद्य लौह

कामदुधा रस

चन्द्रसूर्यात्मक रस

इक्षुरक क्षार

३-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

२-४ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

१-२ रत्ती

(क्रमशः)

आयुर्वेदीय शिक्षा—५

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम—३

वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य

दुग्धाहार—दुग्ध, दधि, घृत, नवनीत, मलाई, खोया, पनीर और इनके अनेक प्रकार के भोजन द्रव्य ।

शाकाहार—अन्न, द्विदल, मूल, कन्द, पत्रशाक, फल, द्राक्षा, खजूर, बादाम, अखरोट, पिस्ता, चिरौंजी, खुमानी, छुहारा, शर्करा के व्यवहार और गुण ।

अनेक प्रकार के भोजन के मसाले—लौंग, दालचीनी, इलायची, तेजपात, स्याहजीरा, सफेदजीरा, लालमिर्च, काली मिर्च, लवण, हल्दी, धनिया, पोदीना, सौंफ, मंगरैल, जायफल, अदरक, प्याज, लहसुन के व्यवहार का शरीर पर प्रभाव ।

अचार—आम, नीबू के अचार, सेव, आमला आदि मुरब्बों का ज्ञान ।

शर्वत—अनेक प्रकार के पेय, मादक द्रव्य, तम्बाकू, गांजा, भांग, अफीम, चरस, मद्य, चाय कढ़वा, कोको के व्यवहार का प्रभाव ।

Vegetable foods—Cereals, pulses, roots, tubers, green vegetables, fruits and nut sugars.

Beverages and condiments, intoxicating drugs like tobacco, bhang, opium.

शवों का जलाना, जल-प्रवाह, गाड़ना आदि का स्वास्थ्य से सम्बन्ध ।

गन्दी नालियों के पानी के निकास की व्यवस्था गर्त, तालाब, नदी या समुद्र में प्रवाह, रासायनिक

व्यवस्था, जीवाणु क्रिया द्वारा मल, मूत्र का शोधन विधान ।

Disposal of sewage—Scavenging, Conservancy system, collection and disposal of night soils; trenching grounds, incineration of night soil, water carriage system, house drainage sewers.

Disposal of sewage, cesspool system, disposal into sea or river, chemical treatment, general principles of biological treatment.

संक्रामक रोगों के रोकने के आधुनिक उपाय, सूचना, पृथक्करण, रोगियों के लिए स्थान व्यवस्था, टीका लगाना; निवास स्थानों का निर्दोषीकरण, निम्नलिखित विशिष्ट संक्रामक रोग सम्बन्धी स्वास्थ्य व्यवस्था । विषमज्वर (Malaria), काला ज्वर, पीतज्वर, श्लीपद, वातालिका (Plague), विसूचिका, (कालरा), संक्रामक अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, क्षय, परिवर्तित ज्वर, कुष्ठ, अलर्क, मसूरिका, रोमान्तिका, संक्रामक कास, संक्रामक श्लैष्मिक ज्वर, फिरङ्ग, पूयमेह ।

Infection—Bacteria, modes of infection, insects, (Mosquitoes, sandflies, fleas, bed-bugs etc) as media.

Restraint of infection—Notification, isolation, quarantine, inoculation, disinfection.

Infectious diseases—Malaria, kala-azar, yellow fever, elephantiasis, plague, cholera,

dysentery, typhoid, tuberculosis, relapsing fever, leprosy, rabies, small pox, chicken pox, measles, Hooping cough, influenza, venereal diseases.

आलोच्य ग्रन्थ—

स्वास्थ्य विज्ञान—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा ।

स्वस्थवृत्त समुच्चय—पं० राजेश्वरदत्त मिश्र ।

आरोग्य विधान—पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ।

आरोग्य सूत्रावली—वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह

आरोग्य प्रकाश वैद्य रामनारायण शर्मा ।

अगद तन्त्र, व्यवहार-आयुर्वेद सहित

परिभाषा—विष की परिभाषा, विष सम्बन्धी कानून, विष विक्रय सम्बन्धी नियम । विविध विष विज्ञान, विष देने की विधियाँ, चिकित्सा में विष की मात्रा देने की भूल ।

विष प्रभाव के लक्षण—उसका निदान और विष प्रयोग की शंका होने पर चिकित्सक का कर्तव्य ।

विष चिकित्सा—विष निकलने के शारीरिक मार्ग, निकले हुए वमनादि का संग्रह, रक्षण और पोषण ।

विष प्रभाव मन्दोकरण—निम्नलिखित विषों का स्वरूप, चिकित्सा आदि का ज्ञान ।

अहिफेन, भांग, गांजा, धुस्तूर, फेनाशम, मनःशिला, भल्लातक, तमालपत्र, अश्वमार, बेलाडोना, अल्कोहल (Alcohol), क्लोरोफार्म, क्लोरलहाइड्रेट, पैटरोलियम, डिजिटेलिस, हाइड्रोसियानिक एसिड, कार्बनडाइआक्साइड, शोरकाम्ल, (नाइट्रिक एसिड), लवणाम्ल (Hydrochloric acid), गन्धकाम्ल (Sulphuric acid), आक्जेलिक एसिड, अंगारिकाम्ल (Carbolic acid), अमोनिया, कास्टिक, पोटाश, कास्टिक सोडा, इन्द्रायण, जैपाल, नीलांजन, ताम्र, यशद, नाग, पारद, फास्फोरस ।

Definition of toxicology—law relating to

poisons, sale of poisons, errors in dosage of poisons, in prescriptions, classification of poisons, modes of administering poisons, channels of elimination, Causes of modifying the action of poisons, Diagnosis of poisoning. Duties of medical men in cases of suspected poisoning. Treatment in a case of poisoning.

Neurotic poisons

Opium, Alcohol, Chloroform, Chloral hydrate, petroleum, Dhatura, Belladonna, Cocaine, Bhang, Kuchla, Tobacco, Digitalis, Oleander, Aconite, Hydrocyanic acid, Carbon dioxide, monoxide.

Corrosive poisons—Nitric acid, hydrochloric acid, Sulphuric acid, Oxalic acid, carbolic acid, Ammonia, Caustic potash, caustic soda.

Irritant poisons—Phosphorus, Arsenic, Mercury, lead, (Nag) Aulimony (Nilanjan), Copper Zinc (yashad)

Irritant poisons (Vegetables)—Eranda (Castor seeds), Jamalgota (Croton seed), Indrayan (Colocynth), Ergot, Gumchi, Chitrak.

Irritant poisons (Animal)—Cantbaridina Snake venom.

Mechanical poisons—Powdered glass.

जान्तव विष—सर्पविष, मधुमक्षिका, वृश्चिक बरटी, मूषिकाविष, लूता का दन्तविष, मणि, काँच का चूर्ण ।

व्यवहार-आयुर्वेद की परिभाषा—पुलिस की प्राम्भिक जाँच, अभियोगों की खोज में कठिनाईयें, सफाई, शपथ, चिकित्सक का साक्ष्य, चिकित्सक का प्रमाण पत्र, मृत्यु के समय का बयान, साक्षी देने का नियम, चिकित्सकों के लिये गोपनीय विषय सम्बन्ध कर्तव्य ।

Definition, police in quest, difficulties in detection, Oath, medical evidence, medical certificates, crimes, dying declaration, rules in giving evidence, professional secrets.

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

१०३५

विष से अन्नपान रक्षाविधि, विष देने वाले व्यक्ति की पहचान, विवरण, आयु, जाति, स्त्री-पुरुष-भेद, रंग आदि, मृत्युत्तर परीक्षा, रक्त तथा वीर्य से रंजित वस्त्रों की परीक्षा। मृत्यु सम्बन्धी चिकित्सक का कानून सम्बन्धी ज्ञान।

Personal identification, Definition, Age, Race, Sex, Colour etc.

Post mortem examination

Examination of blood and seminal stains.

Death in its medicolegal aspect. Modes of death, signs of death, Post mortem changes of the body.

मृत्यु के कारण, भेद, मृत्यु के चिह्न, मृत्युत्तर शारीरिक परिवर्तन, श्वासावरोध, फाँसी और गला घोटने से मृत्यु।

Death from asphyxia, Hanging, strangulation. Difference between hanging and strangulation, suffocation, drowning etc.

Death from starvation, cold, and heat.

Death from burn and scalds, lightning and electricity.

फाँसी, श्वासावरोध, गला घुटना और डूबने से मरने के चिह्न। उपवास, शीत और ताप के कारण मृत्यु। अग्नि से जलने और दागने से मृत्यु तथा विद्युत्पात और विद्युत्-स्पर्श से मृत्यु।

अभिघात तथा तज्जनित व्रण और उनके कानूनी विधान।

Injuries and wounds and their medicolegal aspects.

नपुंसकता और बन्ध्यत्व की परीक्षा। कौमार्य, गर्भ, और प्रसव की परीक्षा। औरस पुत्रादि की पहचान, बलात्कार और अस्वाभाविक मैथुन सम्बन्धी अभियोग। अप्रसव, भ्रूणहत्या, शिशु हत्या, उन्माद और तत्सम्बन्धी कानून, चिकित्सक सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान।

Impotency and sterility, Virginity, Pregnancy and delivery, Legitimacy, Rape and Unnatural offences, Miscarriage and foeticide, Infanticide, Insanity and its medico-legal aspects, Law in relation to a medical man.

आलोच्य ग्रन्थ—

संक्षिप्त विषविज्ञान - वैद्यरत्न क० प्रताप सिंह

न्याय वैद्यक - पं० किशोरीदत्त शास्त्री

विषविज्ञान - डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

Medical Jurisprudence & Toxicology—Dr. J. Modi.

काय चिकित्सा

Medicine

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र तथा मल, मूत्र, स्वेद दूष्यों पर दोषों का प्रभाव।

क्षीण, वृद्ध, साम तथा निराम रोगों और दोषों के लक्षण और कार्य।

आगन्तुक रोग, उनका दोषों से सम्बन्ध, लक्षण और चिकित्सा।

कोष्ठगत तथा शाखागत दोषों के लक्षण और चिकित्सा।

निदान पञ्चक

अष्टविध रोग परीक्षा—मल, मूत्र, नाड़ी, जिह्वा, नेत्र, हृदय, फुफ्फुस, उदर की अर्वाचीन तथा प्राचीन परीक्षाओं का ज्ञान, यन्त्रोपयन्त्रों के आवश्यक उपयोगों सहित।

Pathological (Modern and Classical) examination of stool, Urine, Pus, Tongue, Eye, Heart, lungs, Stomach etc. with the help of modern instruments and appliances of all the following diseases—

प्राकृत तथा विकृत वातादि के स्वरूप, स्थान, तथा लक्षण, दूष्य विज्ञान, व्याधि-विज्ञान रोगी की परीक्षा, मल-मूत्र, नाड़ी, जिह्वा, नेत्र, हृदय तथा उदर की सूक्ष्म परीक्षा-विधि।

१०३६

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

सामान्य तथा विशिष्ट ज्वरों के लक्षण

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, निरुहण, अनु-
वासन, और उत्तर वस्ति तथा लंघन, वृंहण ।

स्वास्थ्य और रोग, रोग की उत्पत्ति का ज्ञान (प्राचीन तथा अर्वाचीन पद्धति द्वारा) रोगों के साधारण और विशेष कारणों का ज्ञान, जीवाणु विज्ञान सहित, पैतृक और वातावरण के कारण रोगों का संक्रमण, रोग क्षमता, श्रौत और सुधार, विकृति और विकृति का प्रसार, रक्त और रक्त परिगमन के विकार, अन्य विशिष्ट रोग ।

Pathology

General pathology—Health and disease, Causes of diseases (a) Hereditary and (b) Environmental infection and immunity. Inflammation and repair. Degenerations and infiltrations. Disturbances of circulation, Neoplasm, specific granulomata.

धातुगत रोगजन्य विशेष ज्ञान, रक्त, श्लेष्मा, मल, मूत्रादि की सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षाओं का आधुनिक जीवाणु विज्ञान सहित विशेष ज्ञान ।

Bacteriology and Parasitology

General characters and Biology of Bacteria, Bacteriological methods. Sterilization, Cultivation and isolation of Bacteria. The Morphology and Biology of the following Micro-organisms.

Pyogenic cocci, Bacillus colicomunis, Bacillus Typhosus, Bacillus pestis, Bacillus tetani, Bacillus leprae, Bacillus Tuberculosis, Diphtheria, Gonococcus, Vibrio cholera, Spirochaeta pallida, spirillum of relapsing fever, Haematozoon, Malaria, Entamoeba, coli and histolytica, parasite of Kala-Azar, Ascaris lumbricoides, Oxyuris vermicularis. Ankylostoma duodenal, filaria, Sanguinis Homini, Taenia, Solium, Acari Pediculi, Mosquitoes, flies, Bedbugs.

Special Pathology—the most important structural changes produced in organs and tissues by diseases.

वण, स्वर, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि की विकृति, छाया विकृति, स्वप्न विकृति, दृष्टि विकृति तथा शुभाशुभ दूत, शकुनादि और विभिन्न रोगों के अन्तिम सूचक चिह्न । आधुनिक विकृति ज्ञान सहित ।

अशीति बात रोग, चत्वारिंशत् पित्त रोग, विंशति श्लेष्म रोगों की सनिदान चिकित्सा ।

विशेषतया निम्नलिखित रोगोंकी निदान सहित चिकित्सा का ज्ञान—

परिचय सहित ज्वर, प्लेग, अतिसार, प्रवाहिक, प्रहणी, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अम्लपित्त, विसूचिका, कृमि रोग, शूल, तृष्णा, हिक्का, राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, छर्दि, दाह, वातरक्त, कुष्ठ, उन्माद, पानात्यय, उद्वर्त, अरुचि, मूर्च्छा, अपस्मार, सन्यास, वातव्याधि, उरुस्तम्भ, हृद्रोग, वृक्कुरोग, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, प्रमेह, श्लीफद, गलगंड, मेदोरोग, मसूरिका, विस्फोटक, शीतपित्त, उपदंश, किरंग रोग और क्षुद्ररोग, स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, निरुहण, अनुवासन, उत्तरवस्ति तथा लंघन, वृंहण का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव सहित ।

This list having no special order includes diseases noted below under a different order.

Diseases due to metazoa—Taeniasis, filariasis, Ascariasis, Ancylostomiasis, Dracontiasis.

निम्नलिखित रोगों का प्राचीन तथा अर्वाचीन तुलनात्मक चिकित्सा ज्ञान ।

संक्रामक रोग—श्वसनक सन्निपात, विसर्प, पूयमेह, मय्याज्वर (Epidemic meningitis), अतिज्वर (Typhoid and paratyphoid), अतिसार, विसूचिका, यक्ष्मा, कुष्ठ, श्लैष्मिक सान्निपातिक ज्वर, कुकुर कास (Whooping cough), धनुस्तम्भ

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

१०३७

(Tetanus), माल्टाज्वर, रोहिणी (Diphtheria)-
पुनरावृत्ति ज्वर (Relapsing fever), मूषिकादंशक
ज्वर, मसूरिका, ग्रहणी, काल ज्वर, विषम ज्वर,
दुर्जल ज्वर (Black water fever), शीतला,
रोमान्तिका, पाषाण गर्दभ, आमवात ज्वर, दण्डक
ज्वर (Dengue).

The comparative medical (Ayurvedic and Modern) treatment of the following—

Infectious diseases—Pneumonia, Gonorrhoea, epidemic meningitis, Typhoid and Paratyphoid fevers, dysentery, cholera, Tuberculosis, Leprosy, Influenza, Whooping cough, Plague, Tetanus, Maltafever, Diphtheria, Relapsing fever.

Dysentery, Kala-azar, Malaria, Blackwater fever, Small pox, Measles, Chicken pox, mumps, Rheumatism, Acute anterior Poliomyelitis.

अंशुघात, मदात्यय, आमविष, इक्षुमेह, आमवात, क्षारमेह, पिष्टमेह, सुरामेह।

फक रोग (Rickets), स्कर्वी और बेरीबेरी।

निःस्रोत ग्रन्थियों के विकारजन्य रोग, उदक-मेहादि रोग।

Diseases of metabolism—Diabetes mellitus, Gout.

Deficiency diseases — Scurvy, Rickets, Beri-Beri.

Diseases of Endocrine glands—Addison's diseases.

Gravis diseases, Myxoedema, Cretinism, Acromegaly, Diabetes insipidus.

उदरशूल, आन्त्र विद्रधि, आमाशय का मांसा-बुद, छिद्रोदर, अलसक, उण्डुकशोथ, आन्त्रशूल, कामला, त्रिकूल, यकृत, विद्रधि, यकृतसंकोच, पित्ताशमरी, पित्तशूल, आन्त्रशोथ, जलोदर।

Diseases of digestive System—Gastritis, Gastric and duodenal ulcer, Cancer of the Stomach, Sprue, Tuberculosis, Jaundice,

Hepatic abscess, cirrhosis of the liver, Infantile cirrhosis, Gallstones and hiliarycolic, Ascites.

प्लीहाभिवृद्धि, पाण्डुरक्तक्षय (Leueaukmiias)

Diseases of Haemopoietic System—Hodgkin's disease Enlargements of Spleen, Anaemias, enkaemias Haemophilia.

हृत्शूल, हृत्कम्प, हृत्प्रसार और अन्य हृदय के विकार।

Diseases of circulatory System—Endocarditis, Pericarditis, valvular diseases, Angina-pectoris, Hypertension.

कास, श्वास, रक्तछीवन, श्वसनक (Broncho-pneumonia) उरस्तोय।

Diseases of the respiratory System—Bronchitis, Bronchiectasis, Asthma, Haemoptyses, Broncho-pneumonia, Pleurisy, Pneumothorax, emphysema.

वृक्कशूल, वृक्काशमरी, मूत्रसाद, रक्तमेह, हारिद्रमेह, मांजिष्ठमेह आदि। मूत्र और मूत्राशय सम्बन्धी विकार, अपस्मार, नाडीशूल, अधोवभेदक, शंखक, गृध्रसी, विश्वाची, भ्रम, उन्माद, मस्तिष्क सम्बन्धी रोग।

Diseases of the urinary & Nervous systems—Nephritis, uraemia, Renal Colic, abnormalities of urinary secretion, such as albuminuria, haematuria etc. Epilepsy, Chorea, Migraine, Tetany, Apoplexy, Hemiplegia, Sciatica, Trigeminal neuralgia cornea.

आलोच्य ग्रन्थ—

चरक, सुश्रुत, वाग्भट के रोगोक्त अध्याय, सिद्धान्त निदान, चिकित्सा तत्त्व प्रदीप, आयुर्वेद विज्ञान—कविराज विनोद लाल सेन कृत

प्रसूति तन्त्र, स्त्री रोग तथा कौमार भृत्य

१. प्रसूति शारीर, रजोदर्शन, ऋतुकाल, गर्भाधानविधि।

२. गर्भस्वरूप, गर्भावक्रान्ति, गर्भाभिवृद्धि, गर्भ का

१०३८

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

प्रतिमास विकास क्रम, अंगों की पूर्वादिनिवृत्ति के सम्बन्ध में मतमतान्तर ।

३. गर्भिणीचर्या, पुंसवन, दौर्हृद ।

४. गर्भलक्षण, गर्भविनिश्चय, गर्भ के अन्दर बच्चा का लिंग निर्णय ।

५. प्रसव, प्रसवकाल, प्रसवहेतु, आसन्न प्रसव के लक्षण, प्रसव की तीन अवस्थायें, प्रसव का प्रबन्ध ।

६. सूतिका परिचर्या, नवजात शिशु की रक्षा ।

७. गर्भावस्था का पद, गर्भविच्युति, लीनगर्भ, गर्भ-शोष, उपविष्टक, नागोदर, हृदि, विबन्ध, अर्श, शोथ, ज्वर, अतिसार, पांडुरोग आदि का ज्ञान और उनकी परीक्षा, अन्तर्मृत शिशु के लक्षण और उसकी चिकित्सा ।

८. प्रसव व्यापद्, गर्भसंग, मूढगर्भ, कालातीत स्थायीगर्भ, अचिर जात, अनेक गर्भ, अपरा अपतन, योनि रोग और उनकी चिकित्सा, विकृतगर्भ, वियोन्याकृत गर्भ ।

९. सूतिका व्यापद्, सूतिका ज्वर, मक्कल, स्तन रोगादि चिकित्सा सहित ।

१०. प्रसूतिका के शल्यकर्म, जीवित गर्भ निर्हरण, मृतगर्भ निर्हरण, मृतमातृगर्भ निर्हरण, शल्य निर्हरण के उपरान्त उपचार विधियाँ ।

प्रसव सम्बन्धी यन्त्र का पूर्ण परिचय ।

सूतिका गृह निर्माण ज्ञान, प्रसव समयोपयोगी पूर्व कर्म, प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म का पूर्ण ज्ञान ।

(i) Obstetrical Anatomy, Maternal and foetal. Obstetrical Diagnosis.

(ii) Symptoms and Signs of pregnancy, Diagnosis of labour. Methods of examining pregnant women.

(iii) Obstetric asepsis. Obstetrical armamentarium.

(iv) Disorders of pregnancy. Diseases of decidua and ovum. Toxaemias of pregnancy. Abortion, Miscarriage, Premature labour, Delayed labour, Extra uterine pregnancy, Ante-partum haemorrhage, Abnormalities of uterus and cervix, Perineum, Cord, Placenta and membranes, Malpositions of gravid uterus.

(v) Labour—Causation, Phenomena, Stages of Mechanism. Presentation—cephalic, pelvic, Transverse, Management of normal labour.

(vi) Precipitate labour, uterine inertia, Contracted pelvis, Common forms, Multiple pregnancy, Monsters, hydrocephalus, Post-partum haemorrhage, Rupture of uterus, Rupture of perineum, Laceration of cervix, Inversion of uterus.

(vii) Puerperium, Phenomena and management including care of the new born.

(viii) Obstetric operations, preparations of the patient, Dilatation of cervix, forceps, Version, craniotomy, Pubiotomy, caesarean Section. Induction of premature labour.

(ix) Puerperal infection, Diseases associated with puerperium Phlegmasia alba dolens, Mastitis, Subinvolution and Superinvolution of Uterus.

(x) Accidents to the infant. Asphyxia neonatorum, Injuries to head and bones, haemorrhage from the cord, Septic infection and tetanus.

(xi) Instruction of the following Subjects—

स्त्री रोग

१. आर्तवविकार, रजक्षय, रजोवृद्धि, दुष्टार्तव असृग्दर, प्रदर रोग निदान सहित उनकी चिकित्सा ।

२. वस्तिविकार, सोम रोग चिकित्सा सहित ।

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

१०३६

३. गर्भाशय राग, योनि रोग, बीस प्रकार के योनि व्यापद, योनिकंद, योन्यर्श, बन्ध्यत्व, रक्त गुल्म निदान चिकित्सा सहित ।

४. विशिष्ट रोग—योषापरमार, फिरंगोपदंश, निदान चिकित्सा सहित ।

कौमारभृत्य—प्रसवान्तर शिशु की पालनविधि, धातु परीक्षा, दुग्ध परीक्षा, दुग्ध शोधन और वर्धन के उपाय, माता के दुग्ध के अभाव में शिशु की पथ्य विधि, शिशु के रोग, यकृत विकार, शोष, शिरस्तोय, फफू रोगों की निदान चिकित्सा ।

Gynaecology

Gynaecological diagnosis, Method of Examination, Diagnostic instruments.

Disorders of menstruation

Inflammatory diseases of Vulva, Vagina, uterus, fallopian tubes, Ovaries, Peritoneum and pelvic cellular tissue, Pelvic haematocoele.

Displacements of uterus and new growths, Sterility.

Gynaecological operations, methods of preparation, Dilatation of cervix, curetting, Perineorrhaphy, colporrhaphy, Tracheorrhaphy, Mymomectomy, Overotomy, Ventral Suspension of uterus. After treatment of Vaginal & abdominal operation.

क्रियात्मक

क्रियात्मक परीक्षा में विद्यार्थी द्वारा किये हुए वार्षिक क्रियात्मक कार्य के विवरण पर भी विशेष विचार किया जायगा ।

आलोच्य ग्रन्थ—

प्रसूतितन्त्र—वैद्य दामोदर शर्मा गौड़

प्रसूतितन्त्र—कविराज यामिनीभूषण राय

कौमार भृत्य—कविराज यामिनीभूषण राय

प्रसूतितन्त्र—डा० गोखले

इसके अतिरिक्त स्थानान्तर, अध्यायान्तर, ग्रंथान्तर्गत तथा गुरूपदेश से इस विषय की पुष्टि ।

शल्यतन्त्र

प्राचीन और अर्वाचीन शल्यतंत्र : तुलनात्मक

(१) आयुर्वेद की उत्पत्ति—

आयुर्वेद के शल्य आदि अष्टांग का निरूपण, चतुष्पाद-सिद्धि, वैद्य कर्तव्य का निरूपण, शल्यतन्त्र का प्रयोजन और उसकी प्रधानता, त्रिदोष रस और कीटाणु तत्त्व सम्बन्धी साधारण ज्ञान ।

वैद्य का कर्तव्य—वैद्य सम्बन्धी आचारोपदेश, शोधनोपाय शल्य तन्त्र के विविध उपकरण ।

यन्त्र-शास्त्र

यन्त्र के प्रकार, यन्त्रों के रूपादि, यन्त्रों की संख्या सब यन्त्रों के लक्षण, यन्त्रों के छः भेद और उनके अवान्तर भेद, यन्त्र के प्रकृति द्रव्य, यन्त्रों की आकृति का वर्णन, स्वस्तिक यन्त्र, सन्दंश यन्त्र, ताल यन्त्र, नाड़ी यन्त्र, शलाका यन्त्र, उपयन्त्र, शंकु यन्त्र का नाम रूप और कर्म ।

प्रयोग—कंक, सदंश, मुचुण्डि, तालयन्त्र, नाड़ी यन्त्र, नाड़ी प्रमाण. पंचमुख छिद्र का उपयोग, छिद्र दर्शनों के भेद और अर्श यन्त्र, भगन्दर यन्त्र, शमी यन्त्र, एक छिद्रा नाड़ी, अंगुलित्राण यन्त्र, योनित्रणक्षेपण यन्त्र, षडंगुल यन्त्र दो, उदकोदर निकालने का नलिकायन्त्र धूमादि यन्त्र, शृङ्गी, अलावू, घटी, तुम्बी आदि तथा शलाका यन्त्र, गण्डूपदयन्त्र, मसूरदल-वक्त्र, छः शंकु, सरपुंखास्य दो यन्त्र, वडिशकृति दो, सर्पफण, गर्भशंकु, षटशलाका, कर्णशोधन यन्त्र, अनेक प्रकार के शलाका यन्त्र, मेढू में उपयोग होने वाले यंत्र, २१ अणु यन्त्र और यन्त्रों के कर्म ।

शस्त्रों की आकृति—शस्त्र निर्माणोपयोगी द्रव्य ज्ञान ।

१०४०

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

मंडलाग्र, वृद्धिपत्र, उत्पलादि, अधधार, दो शस्त्र, सर्पवक्त्र, ब्रीहिमुख, एषिणी, शरार्यास्य, कुशाटा, अन्तर्मुख, अधचन्द्रानन, कुठारी, ताम्रीशलाका, कर पत्र, वडिश, कर्तरी, नखशस्त्र, दन्तलेखन, सूची (अनेक प्रकार), खर्ज, कूर्च, यूथिका, अर्द्धांगुलावृत्त, अर्द्धांगुलवृत्तास्य, जलौका आदि अनुशस्त्र ।

२६ प्रकार के शस्त्रकर्म, शस्त्रदोष, शस्त्र ग्रहण विधि, शस्त्रकोष

क्षारकर्म—क्षार पाक विधि, क्षार प्राधान्य, क्षार निरुक्ति, क्षार के गुण, कर्म, क्षार के दो प्रकार, प्रसारणीय क्षार, पानीय क्षार, क्षार योग्य, पानीय क्षार की पाक विधि, क्षार का प्रयोग, सम्यग्दत्तक्षार के लक्षण, क्षार के सम्यग्दग्ध-हीनदग्ध तथा अति-दग्ध लक्षण, अम्ल से क्षार की शान्ति, क्षार का प्रदेश विशेष निषेध ।

अग्निकर्म—अग्निकर्म का महत्त्व, उपकर्म, सर्वाग्नि, कर्मांग विधि, सम्यग्दग्ध, अतिदग्ध, प्रमाददग्ध, दुर्दग्ध, सुदग्धादि के लक्षण, स्नेहदग्ध, अग्निदग्ध आदि दग्धों की चिकित्सा ।

जलौकावचरण सविष जलौका, निर्विष जलौका, जलौका के ग्रहण करने के उपाय, उनका पोषण क्रम तथा अवचरण और शोणितावशोषण के उत्तर कर्म । इस प्रकार अलाबू और शृङ्गी के प्रयोग और ज्ञान का परिचय ।

शिरामोक्षण भेद विधि—विकृत शोणित के दोष, भेदानुसार लक्षण, शुद्ध शोणित का ज्ञान, अविस्त्राव्य के लक्षण । शस्त्र विस्त्रावण के दो प्रकार, शिरामोक्षण विधि, रक्तस्राव के उपयोग हेतु । दुष्ट रक्त के

आश्रुति के दोष, रक्तातियाग के व्यापद, रक्त विस्त्रावण योग काल, रक्त स्रावण के समययोग लक्षण, रक्त विश्रमण का फल, अप्रवृत्त रक्त का स्थापन उपाय, रक्तस्राव निवारण के उपाय, शोणितावशेष के पश्चात् कर्म ।

शिरामेद के प्रदेश—कर्ण रोग, नासा रोग, पीनस, ललाट, मुख-उन्माद, अपस्मार, विद्रधि, तृतीयकज्वर, चातुर्थिक ज्वर, प्रवाहिका, मेढूरोग, गलगंड, अपचा, ऊर्ध्वगत वातरोग, पाद दाह, विश्वाची, जिह्वा-प्रीवा हस्त-पार्श्व आदि रोग और स्थानों में शिरामेद की विधि का ज्ञान ।

शल्यहरण विधि—शल्य की पांच गति, शल्यवेदन शरीर के अन्य अवयवों में प्रविष्ट शल्य के आहरण के उपाय ।

संज्ञानाश विधि—स्थानीय, सर्वांगीण, प्राचीन तथा अर्वाचीन संज्ञानाश द्रव्यों का योग ज्ञान, छोरोफार्म कोकेन का उपयोग ।

Anaesthesia Modern, Local and general with special use of chloroform and cocaine etc.

अग्नोपहरण—त्रैविध्य चिकित्सा कर्म, शस्त्र क्रिया के आठ भेद, शस्त्रकर्म के उपकरण, शस्त्र क्रिया के उपदेश, शस्त्र कर्म की प्रशस्त वर्णाकृति, शस्त्राकृति की आपत्तियाँ शस्त्रक्रियोत्तर उपचार विधि, व्रण दूषण वस्तु, व्रणियों की रक्षोक्रम, व्रण के बन्ध-मोक्ष का विचार, व्रण के कषाय, लेपन, बन्धन, आहारविधि, रोपण चिकित्सा, काल विशेष से व्रण के बन्धन और मोक्ष का विचार । शस्त्रजनित वेदनामें घृत का सेव (क्रमशः)

निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्र-चर्चा परिषद्, पटना में पठित

निबन्ध-११

वैद्य गोडबोले शास्त्री

(१) पंचमहाभूत द्रव्यरूप पदार्थ हैं। ये पञ्च तन्मात्राओं से पंचीकरण पद्धति से उत्पन्न होते हैं।

(२) आधुनिक विज्ञान सम्मत ६२ तत्त्व भी पांचभौतिक द्रव्य हैं। इन ६२ तत्त्वों का पंच महाभूतों के साथ समन्वय 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस शास्त्र सूत्र से व्यवस्थित होता है।

(३) पंचमहाभूत पंचतन्मात्राजन्य हैं। अतः

(क) वे स्वतन्त्र द्रव्य हैं, जड़ द्रव्यों की अवस्था विशेष नहीं हैं।

(ख) आधुनिक विज्ञानसंमत ६२ तत्त्वों के भी आदि कारण, मूल कारण, उपादान कारण पंचमहाभूत हैं अर्थात् आधुनिक विज्ञानसंमत ६२ तत्त्वों का पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस इन पाँच वर्गों में अन्तर्भाव होता है। पार्थिवों में सुवर्ण, रजत, ताम्र आदि धातु; आप्यों में पारद; आग्नेयों में आक्सिजन या प्राणोष्मा; वायव्यों में हायड्रोजन, नायट्रोजन, कार्बन आदि अन्तर्भूत होते हैं। नाभसों में अन्तर्भूत हो सके ऐसा एक भी द्रव्य ६२ तत्त्वों में अभी तक देखने में नहीं आया है।

(४) शास्त्र या व्यवहार में चिकित्सा द्रव्यों के साथ-साथ उनके उपादानभूत पंचमहाभूतों का भी—'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस सूत्र के अनुसार बीस गुणों का—विचार करना आवश्यक होता है, इष्ट होता है।

(५) आयुर्वेदवर्णित वात-पित्त-कफ तीन स्वरूपों

में रहते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, और गम्भीरानुगत। स्थूल स्वरूप में दोष उत्पद्यमान होता है, उत्पादक नहीं। वह जीवाणु (सेल्) नहीं, तो स्राव सा संस्काररूप (सिक्रिशनरूप) है। इन दोषसंज्ञक स्रावों, संस्कारों या सिक्रिशनों की उत्पत्ति करने वाले अवयव दोष-स्थान कहे गये हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में इन अवयवों को 'आर्गन' संज्ञा दी गयी है।

(६) आयुर्वेदपठित क्रियाशारीर में हर एक क्रिया के कर्ता, करण, उपकरण और अधिष्ठान पृथक् पृथक् बतलाये गये हैं। आधुनिक क्रियाशारीर में उस अधिष्ठान यानी आर्गन को ही कर्ता कह दिया गया है जिस पर कि क्रिया अवलम्बित है। इन दोनों रीतियों में मैं अपने पूर्वाचार्यों की रीति में अधिक सामंजस्य और औचित्य देखता हूँ।

(७) आयुर्वेद वर्णित ज्वर, क्षय, प्रमेह आदि सब रोग भिन्न-भिन्न दोषविशेषों और उनके स्थानविशेषों तथा मार्गविशेषों के विकृत कार्य हैं। प्रमाण—'वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिताः व्याधि विशेषान् अभिनिर्वर्तयन्ति' (चरक सूत्र० अ० २८ गद्य ५) तथा 'प्रकुपितास्तु वातपित्तश्लेष्माणः खलु प्रकोपण विशेषात् दूष्यविशेषाच्च विकार विशेषान् अभिनिर्वर्तयन्ति अपरिसंख्येयान्' (चरक विमान० अ० ६ गद्य ७।)।

(८) अमुक संज्ञा से अमुक ही अवयव स्वीकृत करना उचित होगा। इस तरह का निर्णय करते

समय शारीर व्याकरण में आने वाली अंग, उपांग, प्रत्यङ्ग ; सामान्य, विशेष ; उपादानोपादेय संबन्ध ; समवायिसमवाय संबन्ध की बातें हमें अपनी दृष्टि के सामने जरूर रखनी चाहिए।

उदाहरण १—‘मूत्रवह स्रोतसी द्वे तयोर्मूलं बस्ति-
मैतू च’ इस सुश्रुतवचन में पठित ‘बस्ति’ अङ्ग नहीं
प्रत्यङ्ग भी नहीं, उपांग है। उदाहरण २—‘मूत्रवह
स्रोतसाम् मूलं बस्तिवक्षणौ च’ इस चरकवचन में
पठित ‘बस्ति’ अंग या उपांग नहीं, प्रत्यङ्ग है। उदा-
हरण ३—‘हृदय’ शब्द मूल में सामान्य है, विशेष
नहीं। आजकल जो इसे विशेष मानते हैं वह भूल
है। ‘हृदय’ शब्द विशेष का वाचक होता है तब
जब उसके पीछे विशेषण जोड़ दिया जाता है।
विशेषण के अनुरूप इससे विशेष प्रतिपत्ति होगी,
विशिष्ट अवयव का बोध होगा। जैसे—ऊर्ध्व-हृदय
से मस्तिष्क ज्ञात होता है ; प्राणवह स्रोतोमूल हृदय
से पुष्पस या फुफुस ज्ञात होता है ; रसवह स्रोतो-
मूल हृदय से ‘दक्षिण हृदय’ या राइट हार्ट ध्यान में
आता है ; रक्तवह स्रोतोमूल हृदय से ‘वाम हृदय’
या लेफ्ट हार्ट लक्ष्य होता है ; मातृहृदय से गर्भ
शय्या का बोध होता है। उदाहरण ३—क्लोम भी
आयुर्वेदीय शारीर व्याकरण में सामान्य नाम है परन्तु
जब इसके साथ दूसरे विशेष बोधक शब्द होते हैं तो
उनके अनुसार हम इससे विशेष देखते हैं। जैसे—
तालुक्लोम से तालु का समीपवर्ती क्लोम यानी गल-
जाल के या फेरिंग्स के ऊपर का भाग अभिप्रेत है ;
यकृत्क्लोम से यकृत् का समीपवर्ती क्लोम यानी
कालीयक या ट्याक्रिया अवयव अभिप्रेत है ; हृत्क्लोम
से हृदय पर्यगभूत क्लोम यानी हृदयावरण हृद्राकला
तथा फुफुसावरण फुफुसधरा कला अभिप्रेत है ;
और्दय क्लोम से उदर यानी अंत्रमण्डल, उसका परि-
वेष्टन यानी अन्त्रावरण अन्त्रधरा कला अभिप्रेत है।

इससे यह स्पष्ट है कि क्लोम सामान्य नाम है, जिस
के साथ तालु, यकृत्, हृद्, और्दय शब्द जोड़ देने से
सामान्य की निवृत्ति होकर इसे विशेषत्व प्राप्त होता
है और वहाँ-वहाँ उस-उस शब्द से पृथक्-पृथक्
विशिष्ट अवयव का यथार्थ बोध होता है। उदाहरण
४—नाभि भी सामान्य नाम है, विशेष नहीं। इसमें
भी अन्य विशेषण जोड़ कर विशेष बोधक संज्ञा बनाते
हैं। जैसे—आमाशय व पक्वाशय के मध्य में रहे
वाला जो भाग अन्त्रमण्डल या अन्त्रमाला है वह
दोषवह शिरामूल नाभि है ; रस-रक्त धातु की गति
गति जिस आशयभूत अवयव के आश्रय से विशेष
कर के होती है वह अर्थात् रसरक्ताशय या मांस-
पेशीचय हृदय धातुवह शिरामूल नाभि है ; धमनि
या वायुसूत्र जिस स्थान और जिस मार्ग से बाहर
निकलते हैं वह स्थान और वह मार्ग अर्थात् पश्चात्
मस्तिष्क, पार्श्वमस्तिष्क तथा सुषुम्ना धमनी मूल नाभि
हैं ; उर-उदरविभाजक मांसपेशी उर-उदरमण्डल
नाभि है जिसका विशेष नाम फिफिस है ; रस-
सामान्य लोग नाभि शब्द से जो अवयव मानते हैं
वह गर्भनाभि है। उदाहरण ५—आमाशय। आज
कल हम प्रायः सब वैद्य, चाहे शास्त्रज्ञ हों या चिकित्सक,
परन्तु आयुर्वेद में जहाँ-जहाँ आमाशय शब्द पठित है,
वहाँ कहीं भी इस अर्थ में आमाशय लेना समर्थनीय न
होकर असमर्थनीय होता है। प्रमाण १—‘आमाशयद्वारं हृदयम्’ इस सुश्रुतवचन
में पठित आमाशय शब्द फुफुस व्यापार का बोध
है। स्थायी रस तथा आहार परिणाम जन्य
रंजन संस्कार के लिए हृदय के द्वारा फुफुस में
हैं; अतिलोहित रस या रक्त फुफुस के द्वारा हृदय
आता है। इसलिए यहाँ आमाशय शब्द
फुफुस लेना शास्त्रप्रत्यक्षदृष्ट होता है, आमाशय

नहीं। उदाहरण २—“आमाशया श्रयं पित्तम् रंजकं रसरंजनात्” इस वाग्भटवचन में पठित आमाशय शब्द से आहारपरिणामजन्य रस को रंजित-अति-रंजित करने वाले यकृत, प्लीहा तथा फुफ्फुस अवयव लेना शास्त्रप्रत्यक्षदृष्ट है, अन्नाशय लेना नहीं। उदाहरण ३—“नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्या-माशयान्तरात्” इस सुश्रुतवचन में पठित आमाशय-शब्द से वह अवयव लेना शास्त्रप्रत्यक्षदृष्ट होगा, जिससे मूत्रद्रव्य रक्तधातु से पृथक् हो कर आरम्भ में बहुसंख्यक प्रणालियों या नाडियों के मूत्रप्रसेक (युरेटर्स) में प्रविष्ट होता है। फिर, ‘पक्वामाशय-मध्ये नाभिः’ इस सुश्रुतवचन में स्थित आमाशय शब्द केवल अन्नाशय का संबोधक है। सारांश, आयुर्वेद में आमाशय शब्द विविध अर्थों में आया है। उन में से एक अन्नाशय है। इसीलिए आज शारीर व्याकरण तथा उस के अन्तर्भूत संज्ञाव्याकरण का शास्त्रदृष्टि तथा प्रत्यक्षदृष्टि से अभ्यास करना आवश्यक हो रहा है क्योंकि ‘शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् विशारदः, यह सुश्रुताचार्य का मंत्र है।

(६) आयुर्वेद में रोगों के कारण जैसे वात-पित्त कफ माने गये हैं; वैसे ही विविध-भूतसंघ यानी रोगजन्तु भी माने गये हैं। प्रमाण—‘सर्वे रोगाः वातादिकृताः भूतकृताश्च’ (चरक वि० अ० ८)। इस वचन में आचार्य बताते हैं कि रोगों के द्विविध कारणों में वात-पित्त-कफ, निज, शरीरस्थ, प्रधान कारण हैं और विविध भूताणु आगन्तुक, शरीरबाह्य, अप्रधान कारण हैं। जब तक दोष भूताभिर्षंग या ग्रहवेश से प्रकुपित न होकर अपने-अपने कार्य करने में तत्पर रहते हैं, तब तक शरीर में भूताणुओं या रोगजन्तुओं से रोगोत्पत्ति की संभावना नहीं रहती। रोगजन्तुओं से रोगोत्पत्ति दोषों के द्वारा ही होती है। अर्थात्

जन्तुजन्य रोगों में भी अमुकजातीय भूताणुवर्ग अमुक दोषस्थान में घुसने वाला, अमुक दोष प्रकोपक तथा दोष और दोषस्थान के अनुसार अमुक रोग उत्पन्न करने वाला होता है। इस तरह का रोगजन्तुओं का वर्गीकरण करना क्रमप्राप्त है।

(१०) रसविशेष आहार्यद्रव्य या औषधीय द्रव्य के रूप में रसनेन्द्रिय से मिलने के समय अनुभव किया जाता है यह बात सर्वमान्य है, सब को सुपरिचित है। वीर्य चिन्त्य हो या अचिन्त्य, उस की स्थिति होने पर अपने स्वभावानुसार अपना गुणोत्कर्ष दिखा देता है, प्रतीति कराता है। इन दोनों (रस और वीर्य) का अनुभव करने के लिए शरीर को चीर फाड़ करना आवश्यक नहीं होता, परन्तु विपाक की साक्षात् प्रतीति करने के लिए वह आवश्यक होता है। कारण, आहार्य द्रव्य तथा औषधीय द्रव्य शरीरस्थ पच्यमानाशय के अनन्तर जब शोष्यमानाशयों में उतरते हैं तब दोनों पर आहारपरिणामक दोषों की जो आहार परिणाम क्रिया होती है और इस अवस्था में उन द्रव्यों का जो रसान्तर यानी मूल रस से भिन्न रस बनता है उसकी साक्षात् प्रतीति या अनुभव ही विपाक है। प्रमाण—‘जाठरेणाग्निना योगात् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः। ‘वाग्भट।’ फिर, जैसे आहारगत या औषधगत रस को साक्षात् प्रतीति या अनुभूत करना रसनेन्द्रिय का काम है, दूसरे का नहीं, वैसे ही आहार या औषध जठरस्थ होने पर कुछ समय में दोनों का जो विपाक या रसान्तर बनता है उस की प्रतीति या अनुभव करना भी रसनेन्द्रिय का काम है; क्योंकि जो इन्द्रिय रस बतायेगी वही रसान्तर भी बतायेगी। इस काम में यन्त्र का उपयोग युक्त नहीं होगा, (शेषांश १०४६ वें पृष्ठ पर)

भविष्य आप के हाथ में है

वैद्यरत्न कविराज प्रताप सिंह रसायनाचार्य

आज हम देश में सर्वत्र राजनैतिक जागृति के लक्षण देखते हैं और अपनी २ पार्टियों को संगठित करने का प्रयत्न भी जारी है, किन्तु वैद्यों के समाज में विघटन का स्वरूप देख कर अत्यन्त मानसिक वेदना होती है। इस वेदना की निवृत्ति का उपाय कुछ समझ में नहीं आता। जिस प्रान्त का अवलोकन करते हैं वहीं वैद्यों में ईर्ष्या, राग-द्वेष और शत्रुता चलती है, और एक-दूसरे के दोषों को नम्र रूप में समाज के सामने उपस्थित करने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है। आयुर्वेदीय जगत् की इस मार्मिक दुर्बलता के कारण ऐलोपैथी के भक्त उच्च राज्य कर्मचारी यह कहते नहीं हिचकते कि वैद्यों में एकवाक्यता है ही नहीं अतः इनके संगठन चलाने के लिये हमें वैद्येतर को प्रमुख बनाने पड़ते हैं, और यदि दुर्भाग्य से कहीं उनमें से किसी एक को प्रमुख बना दिया गया तो अविश्वास के प्रस्ताव और त्याग-पत्रों का ताँता लग जाता है, एवं घूसखोरी का बाजार गर्म हो जाता है। ऐसी दशा में हम आयुर्वेद का भला कैसे करें?

वैद्यों को अन्य संगठनकर्ताओं से सबक सीखना चाहिये और तत्पर होकर त्याग से अपने व्यवसाय की सेवा करने का बीड़ा उठाना चाहिये। राज्य-कर्मचारी, बम्बई, यू० पी०, सी० पी० और बिहार के उदाहरण सामने रखते हैं और वहाँ जो दुदशाएँ हो रही हैं उनको दिखा कर हमें आगे बढ़ने से रोका जाता है और राज्य की सहायता केवल आँसू पोंछने के लिए कुछ कर दी जाती है। पर जो सहायता मिलती है उसका भी सदुपयोग नहीं होने पाता।

जिनको सहायता नहीं मिलती है वह सहायता-प्राप्त लोगों की कटु निन्दा करते हैं, और उनकी जड़ उखाड़ने के लिये सतत चेष्टा की जाती है। अधिकारियों का अधिक समय इन्हीं भगड़ों को सुलझाने में व्यय हो जाता है, और परिणाम यह होता है कि आयुर्वेद का कोई स्थायी प्रगतिशील कार्य नहीं हो पाता। अतः मैं वैद्यसमाज से प्रार्थना करता हूँ कि समय को समझ, अपने क्षुद्र स्वार्थ को त्याग ऊपर उठें एवं नीचे लिखे ध्येय की प्राप्ति के लिये निरन्तर यत्न करें। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का निम्न पद्य सदा मानस पटल पर अंकित करते हुए कार्य में प्रवृत्त हों। भगवान् अवश्य सिद्धि प्रदान करेंगे।

यो यमर्थं चिन्तयते, तदर्थं यतते तथा।

सोऽवश्यं तमवाप्नोति, नोचेत् भ्रान्तो निवर्तते ॥

अपने चालीस वर्ष की सेवा के अनुभव से मैं यह दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि वैद्य राजनीति के चक्कर में न पड़ कर यदि अपने ही संगठन में तत्पर हो जायें तो संसार की कोई भी शक्ति उनकी उन्नति में बाधक नहीं हो सकती। इस संगठन के लिये हमें निम्नलिखित कार्यों में अविलम्ब संलग्न हो जाना चाहिये।

१. परस्पर का राग द्वेष छोड़ कर एक दूसरे की उन्नति में सहायक होने का हृदय से यत्न करना।

२. प्रत्येक ग्राम, तहसील, जिला आदि में एक-दो बीस, पचास, सौ और दो सौ तक रोगी रख कर सेवा करने के लिये व्यवस्था करना। इनका संगठन प्राचीन आदर्श के अनुसार आश्रमों के रूप में रखना उचित होगा। स्थानीय वैद्य आस-पास

भविष्य आपके हाथ में है

१०४५

के ग्रामों से आने वाले रोगियों को चरक के निम्नलिखित आदर्श के अनुसार निःस्वार्थ भाव से रोगमुक्त करने का आयोजन करें—

नात्मायं नापि कामार्थं अथ भूतदयां प्रति ।

वर्तते यः चिकित्सायां स सर्वमतवर्तते ॥

३. इन विचारों को कार्य में परिणत करने के लिये प्रथम तो सेवा करने की तीव्र मनोवृत्ति तैयार करना चाहिये जिससे रोगी पर ऐसा प्रभाव पड़े कि वह यह समझे कि वह अपने आत्मीय संरक्षक, हित-चिन्तक प्राणाचार्य के आश्रय में जा रहा है। एवं वहाँ साधन-सामग्री और औषधादि इतनी मात्रा में होनी चाहिये कि जिसको देख कर रोगी के हृदय पर यह विश्वास जमे कि उसकी सब विकृतियों को सम्भालने की सारी व्यवस्था वहाँ मौजूद है।

आचार्यों ने भी ऐसी ही आज्ञायें दे रखी हैं कि पादचतुष्टय (रोगी, वैद्य, परिचारक और औषधसामग्री) के उचित रूप से सम्पन्न होने पर ही चिकित्सा की सफलता होती है। आज हम वैद्य आँख खोल कर देखें कि वैद्य व्यवसायियों के पास पादचतुष्टय सम्पत्ति कहाँ है और उसके अभाव में हमारी क्या दशा हो रही है। मुझे तो सारे देश में भ्रमण करने से यह अनुभव हुआ कि बहुत से वैद्य नामधारी कलियुग धर्म की तरह एक टांग के ऊपर आश्रित केवल काय-चिकित्सा की मात्र टूटी-फूटी सामग्री से किसी प्रकार ऋषियों की चिकित्सा से अपना निर्वाह मात्र करता है। इधर पाश्चात्य चिकित्सक अपने व्यवसाय की उन्नति के लिये सरतोड़ परिश्रम करता है, अपने व्यवसाय को बढ़ाने के लिये अपने जीवन का अधिक समय और धन अपने ध्येय की उन्नति में लगा और नवीनतम चिकित्सोपयोगी सामग्री को एकत्रित कर उसके चमत्कारों

से जनता को चकाचौंध कर देता है, और अपने आकर्षक-मनमोहक यंत्रों से जनता को बरवस अपनी ओर आकर्षित होने के लिये विवश करता है। इधर गरीब वैद्य कबाड़ी के यहाँ से खरीदे हुए सिगरेट के डब्बों, शीशियों और बोतलों में औषधियाँ भर कर अपने व्यवसाय की शोभा बढ़ाता है। अब वैद्य पाठक विचार करें कि यदि आप स्वयं चिकित्सा कराने आवें तो आप का ध्यान किस ओर पहिले आकृष्ट होगा। शस्त्र-चिकित्सा के लिये तो आप पाश्चात्य चिकित्सक के पास जाने के लिये मजबूर हैं ही। वैसे भी जब आप चिकित्सा की अन्य विधियों से थक जाते हैं और धन तथा शक्ति का हास कर लेते हैं तब वैद्य की शरण में पधारते हैं और तब भी दीन वैद्य आप की अल्प व्यय में सेवा कर आरोग्य प्रदान करता है। पर क्या आज के संवर्ष-काल में ऐसा व्यवसाय चल सकता है ?

यदि वैद्यक व्यवसाय को बचाना है तो उपरोक्त तीनों कार्यों को कार्यान्वित करने के लिये तन, मन, धन से प्रयत्न करना चाहिये। और जहाँ सरकार की अनुकूलता मिले वहाँ विद्यालयों तथा चिकित्सालयों को ऐसा संगठित करें कि ये संस्थाएँ आज की देश की चिकित्सा-आवश्यकता को पूरी कर सकें एवं देश में उपलब्ध चिकित्सोपयोगी साधन-सामग्री का पूर्ण रूप से उपयोग कर सकें।

देश आज अन्नाभाव से भुखमरी और वस्त्राभाव से नग्नता का शिकार बन रहा है, वह आयुर्वेद की उन्नति की मांग कर रहा है। इस वक्त वैद्य घोर परिश्रम कर के अपने व्यवसाय के क्षेत्र को व्यापक बनाने का यत्न करें। जहाँ तक सम्भव हो सदाचार, सद्व्यवहार और सद्-औषध से रोगियों की परि-चर्या करें एवं शल्य शालाक्य-चिकित्सा का ज्ञान येन-

१०४६

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

केन प्रकारेण प्राप्त कर आयुर्वेद के सूत्रों में उसे संग-
ठित कर उपयोग में लावें ताकि सर्वांगीण रूप से
जनता की सेवा कर सकें। यदि ऐसा करके सफ-
लता प्राप्त कर सकेंगे तो आप जीवित रहेंगे अन्यथा
सर्व भाव से विनाश सन्मुख खड़ा है।

यह स्मरण रहे “बिन मांगे मोती मिले मांगे
मिले न राज।” राज सम्मान मांगने से नहीं
मिलेगा; इसको तो बुद्धिबल, व्यवसायबल, विद्या-
बल, और लोक-व्यवहार बल से ही प्राप्त किया जा
सकेगा। चिल्लाने या झूठ-सच राजव्यवस्था की
निन्दा करने से काम नहीं चलेगा।

यह कलियुग है—“इस हाथ दे उस हाथ ले” का
सिद्धान्त ही इस काल में चरितार्थ हो सकता है।

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं, क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं दृढज्ञं कृतसौहृदञ्च, लक्ष्मीः स्वयं याति निवास हेतोः ॥

आप जितना सच्चे मार्ग का अवलम्बन करेंगे
उतना ही आपको अपने व्यवसाय में सफलता
मिलेगा।

गवर्नमेंट के कामों की समुचित किन्तु संयत भाषा
में समीक्षा कीजिये। जिस प्रान्त में जितना काम सर-
कार ने किया है उसकी सराहना भी कीजिये और
जिन प्रान्तों में सरकार ने कुछ काम आयुर्वेद के लिये
नहीं किया है, उनके सामने अन्य प्रांतों के उदाहरण
उपस्थित कर आयुर्वेद की शिक्षा, दीक्षा, चिकित्सा की
व्यवस्था कराइये और केन्द्रीय सरकार से सार्वभौम
व्यवस्था कराने के लिये यत्न कीजिये। इसी प्रकार
आपका मनोरथ पूर्ण होने की आशा की जा सकती
है। निम्न पद्य के उपदेश को हृदयंगम कीजिये।

शेषांश]

निबन्ध

[१०४३ वें पृष्ठ का

क्योंकि रसवीर्यविपाक जिवीतशास्त्र की बात है जो
कि सेन्द्रिय द्रव्यशास्त्र है, निरिन्द्रिय द्रव्यशास्त्र नहीं।

(११) द्रव्य आहार्य हो या औषधीय, सुप-
रिचित हो या अपरिचित किंवा नवीन, उस के
गुण-कर्मों की परीक्षा या निर्णय करने की पद्धति
आचार्यों ने इस प्रकार बतायी है—“योग्यमपि औष-
धम् एवम् परीक्षेत। इदम् एवं रस वीर्यविपाकम्,
एवं कर्म, एवम् प्रभावम्, एवम् उपसंस्कृतम्, एवं
युक्तम्, एवं संयुक्तम्, अनया मात्रया एवंविधस्य
पुरुषस्य एतावन्तं दोषम्, अपकर्षयति उपशमयति वा
इत्यादि॥” (अष्टांग संग्रहसूत्रस्थान अ० २३) ॥ द्रव्य
के गुणकर्मों की परीक्षा या निर्णय करने की यही
पद्धति मेरे मत से अनुकरणीय है। इस वचन में

‘एवंविधस्य पुरुषस्य एतावन्तं दोषम् अपकर्षयति
उपशमयति वा’ यह जो लघु वाक्य आया है वह
बहुत महत्वपूर्ण है। इस से दोषों के स्थान, तथा
नान्तर, संचय, प्रकोप, प्रसर इतनी रोगसंज्ञा
महत्वपूर्ण बातें संसुचित होती हैं। अतः हम
भविष्य में जो नवीन द्रव्यगुणादर्श बनावेंगे
आचार्यों के उक्त उपदेश के अनुसार बनाना पड़ेगा
होगा। इस अभिनव ग्रन्थ के वर्गीकरण में अवयवों
किंवा दोषस्थानों तथा दोषविशेषों पर होने वाले
हिताहित क्रिया भी बतायी जाय। डाक्टरों के
जिन अवयवों को आर्गन कहते हैं उन को हम
लोग दोषस्थान कहते हैं और वे जिन को सिक्किन
कहते हैं उन को हम दोष कहते हैं।

पण्डित कमेटी की रिपोर्ट

वैद्य पुरुषोत्तमदेव मुलतानी आयुर्वेदालंकार

ॐ

भारत-सरकार ने दिसम्बर १९४६ में आयुर्वेदीय अनुसन्धान तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर विचारार्थ डा० सी० जी० पंडित की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की थी जो बाद में 'पंडित-समिति' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समिति के निम्नोक्त सदस्य थे : (१) डा० बी० सुब्रह्मण्यम्, (२) कविराज गणेशदत्त सारस्वत, (३) डा० डी० एन० बनर्जी, (४) डा० बी० बी० योध, (५) डा० ए० एन० गोयले, (६) डा० जे० एन० राय, (७) कविराज रामरक्ष पाठक, (८) मोहम्मद इलयास खाँ।

इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट गत मास सरकार को पेश कर दी है और सरकार ने संसद के सदस्यों में विचारार्थ प्रसारित कर दी है। इस रिपोर्ट को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) आयुर्वेद में अनुसन्धान, (२) आयुर्वेद का पाठ्यक्रम।

अनुसन्धान के सम्बन्ध में कमेटी ने सिफारिश की है कि इस के लिए जामनगर सब से अधिक उपयुक्त स्थान है जहाँ आयुर्वेद-महाविद्यालय, चिकित्सालय, सूर्य-गृह, वनस्पति-वाटिका, पुस्तकालय एलोपैथीय सार्वजनिक चिकित्सालय पहले से ही विद्यमान हैं। वहाँ थोड़ी सी पूँजी और लगा कर अनुसन्धान का कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ किया जा सकता है। इस के लिए कमेटी ने सुझाव दिया है कि एक 'एलोपैथिक दल' और दूसरा 'आयुर्वेदिक दल' नियुक्त किया जाय और ये वहाँ अनुसन्धान कार्य करें। आयुर्वेदिक दल में तीन आयुर्वेद के विद्वान, एक

दार्शनिक, तीन सहायक वैद्य, एक पदार्थविज्ञान के विद्वान और कुछ अन्य सहयोगी हों। एलोपैथिक दल में एक चिकित्सक, एक विकृति विज्ञान के विद्वान, एक बी० एम० पी० (फार्मेसी), एक बायोकेमिस्ट और कुछ एम० बी० बी० एस० सहायक चिकित्सक हों।

ये दोनों दल पाँच वर्ष में अपने क्रियाकलाप की रिपोर्ट केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय को देंगे। इन के अनुसन्धान के परिणाम-स्वरूप सरकार अपना निर्णय बाद में देगी।

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में कमेटी की मुख्य सिफारिश यह है कि डिप्लोमा कोर्स को बिलकुल समाप्त ही कर दिया जाय, डिग्री कोर्स ही रखा जाय।

इस रिपोर्ट के सम्बन्ध में हमारी सब से मुख्य आपत्ति यह है कि चोपड़ा कमेटी ने केन्द्र तथा राज्यों में आयुर्वेद डायरेक्टरेट की स्थापना का जो सुझाव रखा था वह खटाई में डाल दिया गया है। उस की जगह वर्तमान हैल्थ डायरेक्टर जनरल के अधीन यह अनुसन्धान-काय होगा। जब तक स्वतंत्र आयुर्वेद डायरेक्टर जनरल की नियुक्ति नहीं होगी तब तक इस कार्यवाही से हमें सन्तोष नहीं होगा।

दूसरे, ५ वर्ष के अनुसन्धान के बाद भी सरकार अपना निर्णय देने में कितना समय लेगी और वह निर्णय आयुर्वेद के पक्ष में होगा या विपक्ष में यह भी विचारणीय है

इस बीच में वर्तमान आयुर्वेदीय चिकित्सकों का क्या होगा, उन की सेवाओं से जनता किस प्रकार लाभ उठायेगी, इस सम्बन्ध में कमेटी ने कोई विचार नहीं किया, जब कि इस मामले में चोपड़ा कमेटी का यह सुझाव था कि साधारण वैद्यों को भी विशेष (स्पेशल) शिक्षण (ट्रेनिंग) दे कर उनका ज्ञान अप-टु-डेट (Up to date) कर दिया जाय और प्रान्तीय स्वास्थ्य-विभाग उन की सेवाओं से पूरा लाभ उठाएँ।

आयुर्वेदीय शिक्षा के सम्बन्ध में भी कमेटी के सुझावों से हम सहमत नहीं हैं। एक तो डिप्लोमा कोर्स समाप्त कर देने की सिफारिश की है जिसका अर्थ यह है कि अगली सदी तक भी भारत में चिकित्सकों की आवश्यकता पूरी न होगी। दूसरे, आर्थिक कठिनता के कारण बहुत कम विद्यार्थी इस शिक्षा से लाभ उठा सकेंगे। तीसरे, पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में कमेटी का सुझाव यह है कि पहले आई० एस० सी० पास किया विद्यार्थी ही कालेज में प्रविष्ट किया जाय, जिस के बाद ४ वर्ष तक उसे एलोपैथिक ढंग से शरीर-रचना-विज्ञान, शरीर-क्रिया-विज्ञान, निदान, चिकित्सा आदि की शिक्षा दी जाय और फिर पाँचवें वर्ष में आयुर्वेद की लीपापोती कर दी जाय।

पाठकों को स्मरण होगा कि गत स्वास्थ्यमंत्री-सम्मेलन में भी आयुर्वेदीय शिक्षा के सम्बन्ध में ऐसे प्रस्ताव पास हुए थे। इस प्रकार के पाठ्यक्रम का निर्धारण इण्डियन मेडिकल कौंसिल करेगी जिस में कोई भी वैद्य सदस्य नहीं होगा। गत ११-१४ अप्रैल को सरकारी भवन, नई दिल्ली में प्लानिंग कमीशन की स्वास्थ्य समिति में भी इस से मिलता-जुलता ही एक प्रस्ताव सरकार की ओर से पेश किया गया था जिसके आधार पर भविष्य में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम नियत किया जाता। लेकिन

सौभाग्य से उस समिति के पण्डित शिव शर्मा भी सदस्य हैं। आप ने इस पर बहुत आपत्ति की तथा इस के विरोध में बहुत तर्कपूर्ण भाषण दिया, जिस का डाक्टर सदस्यों पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ तक कि हमारी केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रिणी श्रीमती अमृत कौर ने भी पण्डित जी से कुछ प्रश्न पूछे। इस पर इस प्रस्ताव को फिलहाल स्थगित कर दिया गया है। लेकिन वैद्यसमाज को सजग रहना है कि हमारे साथ कोई कूटनीति न चली जाय और यदि विरोधी अपनी कार्यवाही में सफल हो गये तो विश्वास रखिए आयुर्वेद का नाश अवश्यम्भावी है।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, त्रिदोषविज्ञान, रचना शारीर, क्रियाशारीर आदि अपनी निजी विशिष्टता रखते हैं। आयुर्वेदीय ढंग से ही इन का स्वाध्याय कर के हम आयुर्वेद की वास्तविक शिक्षा दे सकेंगे। अन्यथा, इण्डियन मेडिकल कौंसिल द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार जो चिकित्सक पैदा होंगे वे न पूरे वैद्य ही होंगे और नहीं पूरे डाक्टर। अपितु हमारे विचार में तो एक ऐसी चिकित्सक-श्रेणी तैयार होगी जिस की उपयोगिता में हमें सन्देह है।

आधुनिक पद्धति के उपयोगी अंशों की शिक्षा दी जाय अवश्य परन्तु उन्हें आयुर्वेद में ही आत्मसात् कर लिया जाय। कुछ लोग कहते हैं कि यह सामंजस्य असम्भव है परन्तु हमारे विचार में यह पूर्णतया सम्भव है। आयुर्वेद में आत्मसात् करने की अद्भुत शक्ति है 'हेतुव्याधि विपर्यस्त विपर्यस्तार्थ कारिणाम्' के अनुसार एलोपैथी, होमियोपैथी, नेचरोपैथी आदि सभी चिकित्सा पद्धतियों का समावेश आयुर्वेद में है। यदि आज केन्द्रीय स्वास्थ्य-मंत्रालय अपनी पक्षपातपूर्ण नीति को छोड़ कर आयुर्वेद की वास्तविकता को पहचाने तो उस की सभी समस्याओं का हल सरलता से निकल आयेगा।

राजकीय भेषजिका और उसका निर्माण

वैद्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी आयुर्वेदाचार्य

ॐ

उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक आयुर्वेद एवं तिब्बती पुनर्संगठन समिति निर्माण की थी और फिर उसके द्वारा प्रस्तुत एक विस्तृत प्रतिवेदना को स्वीकार भा कर लिया था। उस समिति के अनेक महत्वपूर्ण निर्णयों में एक यह भी था कि एक राजकीय भेषजिका वा भेषज-संहिता (फार्मोकोपिया) का निर्माण किया जावे। सरकार ने उसके लिये एक समिति के निर्माण की योजना की।

मैं इस सम्बन्ध में अपने कुछ विचार सरकार के सामने इसलिए प्रस्तुत करता हूँ कि यह कार्य योग्य-रीत्या सम्पन्न हो सके।

१—मेरा विचार यह है कि आयुर्वेद शास्त्र के निष्णात तथा आयुर्वेदीय प्रैक्टिस में प्रशस्ति प्राप्त विद्वज्जन इस समिति में लिये जाएँ जिन्हें कोरा किताबी ज्ञान ही न हो, व्यावहारिक ज्ञान भी हो। जो इस भेद को बतला सकें कि मृत्तु-ज्वर, ज्वराकुश और ज्वराशनि में से कौन किस ज्वर में प्रयुक्त करना चाहिए और क्यों।

२—इस समिति में ऐसे विद्यानिपुण, शास्त्रदक्ष सज्जन भी हों जो आयुर्वेद के साथ ऐलोपैथी का भी निश्चित एवं पूर्ण ज्ञान रखते हों। व्यावहारिक-तया कुशल हाँ और जो अपनी विद्या और अनुभव के बूते पर यह कह सकें कि अमुक द्रव्य अमुक विदेशी द्रव्य के स्थान पर लिया जाना चाहिए।

३—कुछ ऐसे तरुण भी इसमें सम्मिलित किये जाएँ जो स्वयं उभयज्ञ हों, सामञ्जस्य की क्षमता

रखते हों तथा जो अधिक से अधिक समय देकर इस पुनीत कार्य को सम्पन्न करने की शक्ति रखते हों। साथ ही जो शास्त्रचिन्तारत और राजनीतिक जंजाल से दूर हों।

४—कुछ ऐसे भी सज्जन हों जो यूनानी और आयुर्वेद दोनों में निष्णात हों और कह सकें कि अमुक द्रव्य के स्थान पर अमुक द्रव्य लिया जाना चाहिये।

५—इसमें ५ वैद्य और ५ हकीम की राजनैतिक समानता (Parity) के मुखतापूर्ण विश्वास का अन्त करके योग्य विद्वान् लिए जाएँ। उन सज्जन चिकित्सकों को तरजीह दी जावे ताकि एक विस्तृत सामंजस्यपूर्ण भेषजसंहिता बनाई जा सके। जो हकीम इसमें लिये गए हैं; उनमें एक को छोड़ बाकी आयुर्वेदीय ज्ञान से विरहित हैं। ऐसे अनेक हकीम मिल सकते हैं, जो वैद्यकीय ज्ञान से युक्त और अच्छे तरीके हैं। हिन्दू हों या मुसलमान, धर्मनिरपेक्ष विद्वज्जनों को इस समिति में लेना चाहिए।

६—किसी पठन-पाठन संस्था से सम्बद्ध व्यक्ति ही लिए जाने की पद्धति भी उचित नहीं। जन सम्पर्क में आये हुए प्रशस्ति प्राप्त विद्वज्जन जो स्वयं स्फूर्ति से कार्य कर सकें, समय दे सकें, मौलिक विचार रखते हों, अनेक संस्थाओं और कार्यों में व्यस्त न हों; ऐसे महानुभाव इस देश में असंख्य मिल सकते हैं।

७—इस समय जो समिति बनी है, इसका इससे अच्छा कोई उपयोग नहीं कि वह उपरोक्त बातों का ध्यान धर और विचार पूर्वक वास्तविक एवं योग्य फार्माकोपिया समिति के सदस्यों की नामावली प्रकाशित करके विसर्जित हो जाय ताकि वास्तव में जिस पर आयुर्वेद के जीवन मरण का प्रश्न अवलम्बित है वह कार्य योग्य और कुशल व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न हो सके।

फार्माकोपिया के सम्बन्ध में पुनर्संगठन समिति के विचार भ्रामक हैं।

पूर्वोक्त पुनर्संगठन समिति के सरकार द्वारा नामजद सभी सदस्य निस्सन्देह विद्वान रहें और उन्होंने जो सुझाव प्रस्तुत किये वे सभी आदरणीय तथा आयुर्वेद के हित की दृष्टि से ठोस रहे। इस कारण हम क्या, समस्त आयुर्वेद जगत उनका आभारी रहेगा। पर यदि हम विस्तार में जाएँ तो हमें अवश्य ही ऐसे भी अनेक स्थल मिल जावेंगे जहाँ हम देख सकेंगे कि उनके सुझाव ठीक हैं पर उन्हें पूर्ण करने के लिये जो विधि अपनाई गई है वह अपूर्ण और कहीं-कहीं असङ्गत हैं। उदाहरण के लिये समिति का यह सुझाव कि “एक भेषजिका का निर्माण हो” स्तुत्य एवं यथार्थ है पर वह भेषजिका कैसी बने इसके स्वरूप निर्धारणार्थ जो कुछ दिया गया है वह भ्रामक है। यदि वह विचार कार्य रूप में परिणत किया गया तो कई जिलदों में यह ग्रन्थ पूर्ण हो सकेगा और इसका उद्देश्य समाप्त हो जावेगा। इसमें सम्पूर्ण निघण्टु, पूरा रस शास्त्र और सभी आयुर्वेदीय एवं यूनानी संहिताओं के सब योग आ जावेंगे। यह फार्माकोपिया न होकर एक तमाशा होगा। इसमें परमोपयोगी आधुनिक द्रव्यों को वर्तमान फार्मा-

कोपिया के आधार पर लेना अत्यन्त अनायुर्वेदीय प्रणाली की ओर संकेत है। इसमें रासायनिक विश्लेषण, जान्तव और रोगी परीक्षण के पश्चात् योगों और भस्मों के निरूपण के कार्य को पूर्ण किया जायगा। कौन द्रव्य लें और कौन छोड़ें इसकी ओर इसमें कोई इङ्गित नहीं। इसमें यूनानी योगों के अरबी नाम ज्यों के त्यों लेने के उदाहरण हैं। जैसे सफूहहिफज़, खमीरा गावजवान, अम्बरी इत्यादि। नमूना के रूप में सितोपलादि चूर्ण का जो विवरण है वह एकदम पाश्चात्य ढंग का है तथा कई महत्व की बातों का कोई उल्लेख नहीं करता।

फार्माकोपिया का उद्देश्य स्पष्ट किया जाये—

जब तक भेषजिका के उद्देश्य का पता न लगे तब तक उसके स्वरूप का निर्णय करना न केवल कठिन होगा अपितु असम्भव हो जायगा। अस्पष्ट कल्पना लेकर भेषजिका निर्माण कल्पना कोई समिति नहीं कर सकती। उदाहरण के लिये आयुर्वेद के निम्न आठ अंग हैं—

१—शल्य

२—शालाक्य

३—काय चिकित्सा

४—भूत विद्या

५—रसायन

६—बाजीकरण

७—अगदतन्त्र और

८—कौमारभृत्य (प्रसूति तन्त्र सहित)

इन आठों अंगों की दृष्टि से हमें फार्माकोपिया का निर्माण करना चाहिए या जितने अंगों के लिये जो पदार्थ मिलते हैं उन्हीं का सञ्चय कर अपूर्ण कर्तव्य की इतिश्री समझ लेनी चाहिये।

शल्य तन्त्र में प्रयुक्त द्रव्य और शालाक्य

राजकीय भेषजिका और उसका निर्माण

१०५१

रोगनाशक पदार्थ एवं अगद तन्त्र में प्राह्य औषधियां अपने पास अत्यन्त हैं। यदि संख्या में अधिक भी हैं तो भी कई प्रकार से हीन हैं। इस हीनता को छिपा कर रखना अनुचित है। शल्य शालाक्य और अगद में आज हमारे वैद्यों में पटुता का अभाव किस कारण है इसे यदि हम समझते हैं तो हमारी फार्माकोपिया में वह अभाव कदापि न रहना चाहिए।

आर्थिक दृष्टिकोण का भी विचार कर लेना होगा। यदि हम राजकीय औषधालयों में सुप्रसिद्ध बसन्तमालती के स्थान पर लघु बसन्तमालती तथा स्वर्णसूतशेखर के स्थान पर लघु सूतशेखर का प्रयोग करेंगे और यही नीति फार्माकोपिया के निर्माण में बरतेंगे तो कैसे सम्भव है कि हम सच्चे अर्थ में आयुर्वेदीय प्रणाली का उपयोग कर सकेंगे।

आयोडीन के टिंचर का उपयोग ऐलोपैथिक है और पंचगुण तैल का प्रयोग आयुर्वेदिक, जब तक इस प्रकार के सिद्धांत हमारा मार्ग दर्शन करेंगे तथा नीम को सर्वोत्तम एण्टीसेप्टिक पदार्थ समझ अथ संसार के एण्टीसेप्टिकों का तिरस्कार करेंगे तो भी हम कितने आयुर्वेदीयता के पास हैं इसे सहज ही समझा जा सकता है। “न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारम्” कहने वाले भगवान् आत्रेय से आगे बढ़ कर आज के वैद्य जो आयुर्वेद का पार ढूँढ़ सकते हैं वे “तदेव युक्तं भेषज्यं यदाराग्योग कल्पते” को न समझ “यस्यदेशस्य यो जन्तो तज्जं तस्यौषधं हितम्” उस समय प्रयुक्त करने के पक्ष में हैं जब अनेक पश्चिमीय और पूर्वीय देशों के रोग समुद्री और हवाई जहाजों से उतर-उतर कर भारतीय बसुन्धरा का पग चुम्बन करने में व्यस्त हैं। “कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः” के अर्थ का अनर्थ उपस्थित करने की बुद्धि लेकर यदि भारतीय फार्माकोपिया

की सृष्टि की गई तो भारत में सैकड़ों चिकित्सा प्रणालियां आयुर्वेद की बोटी-बोटी बांट कर खा जाएंगी और हम थोड़े काय रोगों के चिकित्सक के रूप में तब तक बढ़ते रहेंगे जब तक अन्य पैथियां वहां तक नहीं पहुंच जातीं।

अस्तु, प्राचीन शास्त्रीय सिद्धांतों की ओर दुर्लक्ष्य न करके सम्पूर्ण नवीन ज्ञान को आत्मसात करते हुए उस महत्त्वपूर्ण कार्य को करना है या कूपमण्डूक बन कर जीवन को नीरस देखना है। इसका निर्णय करना फार्माकोपिया के निर्माण से पूर्व आवश्यक है।

यूनानी पदार्थों को पृथक् से न लेकर उनके हिंदी नामों का प्रयोग करते हुए चलना आवश्यक है।

बहुत से आयुर्वेदीय और यूनानी द्रव्य एक साथ प्रयोग कर जो औषध प्रयुक्त किये जाते हैं वे गुणकारी अधिक देखे गये हैं। अष्टवर्गीय द्रव्यों की कोटि में शकाकुल मिश्री गट्टा, पञ्जा, चिड़ियाकन्द आदि आते हैं और पर्याप्त गुणप्रद भी होते हैं। इसी प्रकार मिश्री के स्थान पर ग्लूकोज का प्रयोग तथा शुल्बा द्रव्यों एस्पिरीन आदि के साथ रससिंदूर आदि का प्रयोग बड़े-बड़े चमत्कार प्रस्तुत कर रहा है। अतः ऐसे भी कई योग फार्माकोपिया में आने चाहिए या नहीं इसका भी निर्णय आवश्यक है।

गुणों का वर्णन करने में पाश्चात्य द्रव्यों के सम्बन्ध में रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, कर्म, दोष, द्रव्य आदि के अनुसार वर्णन करना कहां तक शक्य, संगत और उचित है इसे भी कदापि विस्मृत न करना होगा। इस ओर यथोचित ध्यान देने से हम अपने वैद्यों को सर्व चिकित्सा पारंगत और अत्यधिक नवीन रूप बिना ढाले हुए भी जनता के लिये अत्यधिक लाभप्रद बना सकते हैं।

पाश्चात्य भेषज्य कल्पना का आश्रय लेकर अपने अपने पदार्थों को अभिनव रूप में प्रगट करना भी

उचित होगा या नहीं यह भी एक महत्त्व का तथा विवाद का विषय है। उदाहरण के लिये हम वत्सनाभ के अपने रूप को ही ग्रहण करेंगे या होमियोपैथी के एकोनाइट और एलोपैथी के टिंचर एकोनाइड का भी आयुर्वेदीय भेषज कल्पना में उपयोग कर लेंगे। इतना निर्णय करने के बाद एक और कण्टाकीर्ण पथ रह जाता है वह है इस फार्माकोपिया में इंजेक्शनों का समावेश। वह अभी हो या न हो, बाद में हो या कभी नहीं हो। ये प्रश्न भी फार्माकोपिया के निर्माताओं को पहले सुलझाने पड़ेंगे तब जाकर कहीं उसे श्वेत कृष्ण अंगों में चित्रित करने के लिये लेखनी उठानी पड़ेगी।

फार्माकोपिया की साधग्री कैसे जुटाई जावेगी

मैंने जब सुना कि सरकार ने फार्माकोपिया समिति का निर्माण किया है और समिति को ४ मास में यह कार्य पूर्ण करने को कहा गया है तो बड़ी खीझ हुई। इतना गुरुतर कार्य इतना शीघ्र होगा। इतना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य इस समिति के अधिकांश राजनीति प्रधान वैद्य हकीमों के नेतृत्व में इतने अल्प समय में किस जादू से होगा यह समझने में लेखक अभी तक समर्थ नहीं हो सका।

भेषजिका का मेटर संग्रह का कार्य सरल न होते हुए भी यदि एक विधि का अनुसरण किया जाय तो पर्याप्त सुगमतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। इसके लिये हमें निम्न स्थानों की ओर ध्यान देना होगा—

१—चिकित्सक—विद्वान वैद्य, वयोवृद्ध वैद्य, सफल चिकित्सक, प्रसिद्ध हकीम, यशस्वी डाक्टर।

२—चिकित्सालय—वे सभी चिकित्सालय जो आयुर्वेद, यूनानी या एलोपैथी पद्धति से चिकित्सा करते हैं।

३—फार्मेशिया—किसी भी प्रकार की औषधि निर्माण करने वाली निर्माण शालायें।

४—संस्थाएँ—वैद्य सम्मेलन, अंजुमने, तथा मेडीकल एसोसियन आदि।

इन सम्प्रदायों के लिये ६ विशेष प्रकार की प्रश्नावलियां तैयार करके भेजी जानी चाहिये। इन प्रश्नावलियों का निर्माण वर्तमान समिति भी कर सकती है। कुछ स्थूल सुझाव निम्नांकित हो सकते हैं—

चिकित्सक समुदाय प्रश्नावली

१—शुभ नाम

२—चिकित्सा काल

३—किस प्रणाली के चिकित्सक हैं ?

४—अपने चिकित्सा काल में किन औषधियों का उपयोग आपने विशेष किया है ?

५—इन औषधियों में कौन-कौन आपके मत से यथागुण सिद्ध हुई हैं ?

६—क्या आपने किन्हीं शास्त्रोक्त औषधियों के गुणों अपने अनुभव से बदले हैं। यदि हाँ, तो किस किस में क्या-क्या परिवर्तन किये हैं और उनसे क्या गुण वृद्धि या दोष नाश हुआ है ?

७—आपके मत में क्या केवल एक चिकित्सा प्रणाली के अनुसरण से लाभ होता है या मिश्र पद्धति से ?

८—क्या आपने अपनी कुछ पेटेण्ट औषधियों का निर्माण की हैं ? यदि हाँ तो कौन-कौन ? उनके उपादान क्या हैं और उनके द्वारा कितना लाभ होता है ? यदि कोई न्यास (data) हो तो वह भी दें।

९—शल्य (Surgery) शालाक्य, (eye/ear/nose, throat, head) अगदतन्त्र (toxicology) तथा भूत विद्या (Bacteriology) दृष्टि से आपने किसी आयुर्वेदीय योग का

राजकीय भेषजिका और उसका निर्माण

१०५३

योग किया है। यदि हाँ तो उसका नाम और अपने अनुभव लिखें।

१०—कोई अन्य महत्त्व का योग या विचारणीय तथ्य जो फार्माकोपिया। (भारतीय भेषजिका) के निर्माण में सहायक हों लिखें।

११—आप प्रतिभास औसतन कितने रोगी देखते हैं ?

चिकित्सालय प्रश्नावली

१—चिकित्सालय का नाम।

२—कब स्थापना हुई।

३—रोगी शय्या कितनी है।

४—बाहिरङ्ग विभाग में प्रति वर्ष कितने रागी आते हैं।

५—अन्तरंग विभाग से कितने रोगी प्रतिवर्ष निकलते हैं।

६—अन्तरंग विभाग में प्रतिवर्ष कौन-कौन औषधि व्यवहृत होती हैं।

७—अन्तरंग विभाग में सर्वाधिक मूल्य की कौन-कौन और कितनी-कितनी औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

८—आपकी सम्मति में चिकित्सालय में प्रयुक्त कौन-कौन योग अत्यधिक कार्य करते हैं।

९—क्या आपने किन्हीं शास्त्रीय योगों में कुछ परिवर्तन किये हैं ? यदि हाँ तो क्या ? और उनसे क्या-क्या लाभ वा हानि हुई है।

१०—क्या चिकित्सालय में कुछ पेटेंट पदार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं ? यदि हाँ तो उनके द्वारा क्या लाभ होता है।

११—आपका चिकित्सालय किस चिकित्सा प्रणाली के आधार पर कार्य करता है ? उस प्रणाली के अतिरिक्त अब किसी प्रणाली के द्रव्य उसमें प्रयुक्त होते हैं ?

१२—आयुर्वेद की दृष्टि से यदि कुछ रोगी शय्याएँ

स्थापित की जावें तो आप को कैसा लगेगा ?

१३—आपके क्षेत्र में रोगी प्राथमिक चिकित्सा वैद्य से कराते हैं ? यदि हाँ तो उनके द्वारा चिकित्सालय में सुधरे हुए रुग्ण मिलते हैं अथवा अधिक विकृत ? आपके क्षेत्र में द्रव्यचरता का क्या हाल है ?

१४—क्या आपकी सम्मति में कोई आयुर्वेदीय योग या यूनानी नुसखा शास्त्रीय होते हुए भी क्रिया-शक्ति रहित है ? यदि हाँ तो स्पष्ट और अपने अनुभव न्यासपूर्वक लिखें।

१५—क्या किसी विदेशीय औषधि के समकक्ष प्रभाव वाली औषधि चिकित्सालय में प्रयुक्त होती है ? उसके नाम उपादान और क्रिया-शक्ति का न्यासपूर्वक वर्णन कीजिए।

फार्मसी प्रश्नावली

१—फार्मसी नाम।

२—स्थापना काल।

३—किस प्रकार की औषधियों का निर्माण होता है।

४—प्रतिवर्ष कौन कितनी मात्रा में औषधि बिकती है, इस सम्बन्ध की एक क्रमानुसार तालिका।

५—कितने मूल्य का कौन-कौन द्रव्य व्यय होता है, उसकी तालिका।

६—अन्य विशेष।

संस्था प्रश्नावली

१—संस्था का नाम और उद्देश्य।

२—देशी चिकित्सा प्रणाली के प्रति संस्था का रवैया।

३—फार्माकोपिया निर्माण में संस्था की दृष्टि में उपयोग सामग्री।

४—संस्था द्वारा प्रकाशित ग्रंथ वा लेख या वक्तव्य जो इस विषय पर स्थिर विचार प्रकट करते हैं।

फार्माकोपिया का आधार क्या हो

उक्त प्रभावलियों को मुद्रित कराके यथास्थान भेज कर योग्य उत्तर प्राप्त किए जावें और उनका यथा समय उपयोग भी हो। पर, वास्तव में फार्माकोपिया का आधार एक अनुसन्धानगृह ही होगा। जिसमें देश को रोग मुक्त करने वाले औषधि द्रव्यों का साक्षात् प्रयोग चलता रहेगा जो औषधि यथोक्त गुण प्रदर्शन करने में समर्थ होगी उसे भेषजिका में स्थान मिलेगा और जो इसमें असमर्थ होगी वह रह जावेगी।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि एक प्रारम्भिक भेषजिका को स्वीकार न किया जावे। वह तो ग्रहण कर ली जावें पर कालखण्ड में योग्य परिवर्तन होते रहें। ताकि प्रायोगिक आयुर्वेद (Dynamic Ayurveda) की स्थापना हो सके।

फार्माकोपिया के प्रारम्भिक स्वरूप को निर्माण करने में आधार क्या हो? इसका विचार करने में हमें प्रमुख सहायता प्राचीन और नवीन आर्ष ग्रन्थों से मिलेगी। किसी एक संहिता को भेषजिका माना तो जा सकता है पर उसके बाहर के असंख्य अत्युपयोगी योगों के छूट जाने का भय है तथा वह सर्वोपयोगी एवं सर्वमान्य भी न रह सकेगी। दूसरी हानि यह भी सम्भव है कि वह अधिक विस्तृत एवं भेषजकीय अनेक उपयोगी बातों से रहित हो। उदाहरण के लिए यदि भैषज्य रत्नावली या योग रत्नाकर को हम काम चलाऊ भेषजिका मान लें तो उसमें विविध योग निर्माण विधानों का अभाव एवं अपूर्णता मिलेगी तथा उसमें मात्रा, कोटि निर्धारण आदि महत्त्व की बातें शून्य मिलेंगी। अतः ऐसा प्रयत्न प्रायः न होगा।

हमारी भेषजिका का आधार हमारा दोष-धातु मल विज्ञान होना चाहिए। इसमें जिन योगों का

चयन किया जावे वे किसी रोगविशिष्ट को दमन करने के गुण पर आधारित न हों क्योंकि वह पद्धति शास्त्रीय नहीं। उदाहरण के लिए प्लेग नाशक एक औषधि का वर्णन हम बिना किये हुए भी प्लेग निवारण में समर्थ हो सकते हैं। केवल दोष-धातु-मल की अंशांश कल्पना कर उचित चिकित्सा प्रारम्भ करने से। यदि हमारा प्रयत्न रामबाण पदार्थ निकालने में हुआ तो आज के विदेशी चिकित्सा रूप हवाई जहाज हमारी मालगाड़ी को कोसों पीछे छोड़ जायेंगे पर यदि अपनी भारवाहक शक्ति की तुलना की गई तो सहस्रावधि हवाई जहाज सामना न कर सकेंगे।

अपने सिद्धांतों के अनुरूप, अपने दृष्टिकोण का व्यापक स्वरूप एवं क्रियात्मकरूप हम निस्सन्देह भारतीय जनता के समक्ष अधिक योग्यरीत्या प्रकट कर सकते हैं। हमारी भेषजिका के अध्याय पाश्चात्य भेषजिकाओं की नकल न बने अन्यथा हम अपने गुणों के स्थान पर अपने अवगुणों को प्रकट करने में अधिक सफल होंगे। अपितु, अपनी मौलिकता प्रकट हो। हमारी और नवीन भेषजिका की कल्पना में बहुत अन्तर होना चाहिये।

भेषजिका के अध्याय, वातहर योग, पित्तहर योग, श्लेष्महर योग, वात-पित्तहर योग, वात-श्लेष्महर योग, पित्त-श्लेष्महर योग, त्रिदोषघ्न योग, रसकर योग, रक्तकर योग, मांसकर योग, मेदाकर योग, अस्थिकर योग, मज्जाकर योग, शुक्रकर योग, ओजस्कर योग, मलवर्द्धक योग, मलनाशक योग, मूत्रवर्द्धक योग, मूत्रनाशक योग, स्नेहवर्द्धक योग, स्नेहनाशक योग, बल्य द्रव्य, वृष्य द्रव्य, चक्षुष्य द्रव्य, अचक्षुष्य द्रव्य, केश्यद्रव्य, स्वर्यद्रव्य, मेध्यद्रव्य, चेतक द्रव्य, निद्रक द्रव्य, शूलघ्न योग, जीवाणुघ्न योग, आदि रूपमें जो योग लिखे जावें उनकी निश्चित निर्माण

(शेष १०५८ पृष्ठ पर देखें)

गुग्गुल-कल्प

पु० वि० धामनकर आयुर्वेदभूषण

ॐ

अयुर्वेद में औषध कल्पों के अनेक प्रकार हैं, उन सब प्रकारों का हेतु यही है कि औषध अधिक दिनों तक गुणहीन या खराब न हो। गुणहीन या खराबी से बचाने के लिये कहीं पारद, कहीं कोहल (Alcohol) की योजना की गई है। चूर्ण दो मास तक गुणवान रहता है। चूर्ण को टिकाऊ बनाये रखने के लिये इसमें गुग्गुल का मिश्रण किया गया है। गुग्गुल स्वयं त्रिदोष नाशक है, गुग्गुल के संयोग से चूर्ण एक वर्ष तक गुणवान बने रहते हैं। गुग्गुल कल्पों की संख्या भी १०० है।

स्थान व उत्पत्ति—गुग्गुल वृक्ष का तैलीय गोंद है, इसके वृक्ष विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न प्रकार के होते हैं। गुग्गुल वृक्ष की छाल के अन्दर रहता है, उस पर छाल का आवरण होता है। शीत काल में अति शीतता के कारण वृक्ष की छाल संकुचित होकर गुग्गुल बाहर फूटकर निकलने लगता है, कहीं अति उष्णता के कारण गुग्गुल फूलकर द्रव रूप होकर, छाल का भेदन कर बाहर निकलता है। वर्ष में दो बार अर्थात् उष्ण व शीत काल में यह एकत्र किया जाता है।

प्रकार व गुण—वृक्षों की जातियाँ और प्रांत भेद तथा आकार, रंग, भेद के कारण गुग्गुल के अनेक भेद होते हैं। उदाहरण—बालुका के समान कणदार, स्वर्ण के समान पीले रंग का, यह सुगन्धित एवं चरपरा होता है तथा शूल, आध्मान, गुल्म, उदर व वात रोगों में प्रयोग किया जाता है,

जो अति पतला या छाल से बहता हुआ भूमिपर आकर एकत्र होता है, उसे भूमि गुग्गुल कहते हैं, यह औषध की अपेक्षा पेशाचिक उपचारों के काम में लाया जाता है। साधारण गुग्गुल नामक भी एक भेद है, परन्तु उसके गुण तथा वर्णन प्राप्त नहीं हैं।

गुग्गुल के निम्नलिखित ५ भेद होते हैं, यथा—

१—महिषाक्ष—यह देखने में भैंस की आँख जैसा काला या काजल अथवा भौरा के समान काला होता है। इसका उपयोग मनुष्य और हाथी के लिए किया जाता है।

२—महानील—यह नील वर्ण का होता है, तथा इसका उपयोग हाथी के लिए किया जाता है।

३—कुसुद—यह कमल के समान सफेद होता है और इसका उपयोग घोड़ा के लिये किया जाता है।

४—पद्म—यह लाल वर्ण का होता है तथा घोड़ा के लिये इसका भी उपयोग किया जाता है।

५—हेम—यह सोने के समान पीत वर्ण का होता है। इसका उपयोग मनुष्य के लिये किया जाता है।

सामान्य गुण—गुग्गुल तीक्ष्ण तथा उष्ण होने से कफ, वात नाशक-मल तथा पित्त नाशक है, सुगन्धित होने से पूतिकोष्ठघ्न (अंत्रों में अन्न की सड़ाई को रोकने वाला अथवा दुर्गन्धि नाशक) सूक्ष्म स्रोतोनुगामी होने से स्रोत शुद्धिकारक तथा अग्निदीपक, रोग एवं जरा नाशक होने से रसायन भी है।

स्वभाव व घटना—अति गाढ़ा, चिपचिपा व सुगन्धित

१०५६

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

होता है। इसका पृथक् होना, शोषण होना, पाचन होना सरल नहीं है, लेकिन पचने पर यह त्रिदोषघ्न, अग्निदीपक व रसायन होता है। गुग्गुल पर विशेष संस्कार करके इसके संपूर्ण गुणों का लाभ प्राप्त करने का मानव ने प्रयत्न किया है। गुग्गुल के स्वाभाविक गुण—चरपरापन, तीक्ष्णत्व, सुगन्धि तथा स्त्रोत शोधक गुणों का अगर हम पूर्णतः उपयोग कर सकें तो, वृक्ष के समान मानव शरीर भी निरुज प्रतिकारक्षम, दीर्घजीवी बन सकता है। इसी कल्पना से शायद गुग्गुल का उपयोग औषधि कल्पों में किया गया है।

इसमें राल, गाँद, उड़नशील तैल, सुगन्धित तैल इतने पदार्थ होते हैं। यह नवीन रहता है तब शुक्र-वर्धक व पौष्टिक होता है परन्तु जैसे-जैसे पुराना होता जाता है, इसमें मेदशोषक गुणों की वृद्धि होती जाती है, अर्थात् नया गुग्गुल पौष्टिक होता है, औषधि में अपेक्षानुसार दोनों प्रकार के गुग्गुलों का उपयोग किया जाता है।

शोधन—गुग्गुल के स्वभाव तथा घटना का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस ओर ध्यान देकर ही इसको शुद्ध करना, पृथक् करना, चिकनाइट को कम करना, उसे पाचक, दीपक तथा वातनाशक बनाना ये कार्य क्रमशः करने पड़ते हैं। गुग्गुल शोधन का हेतु भी यही है। ये सब हेतु एक ही प्रकार की शुद्धि से साध्य नहीं होते हैं, उसके लिये भिन्न-भिन्न विधियों का उपयोग करना पड़ता है, नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) शुद्धि—स्वभावतः यह पदार्थ शुद्ध ही होता है, परन्तु एकत्र करते समय इसमें अनेक अशुद्धियों का समावेश हो जाता है, इसलिये भौतिक दृष्टि से अशुद्ध तथा दूसरे पदार्थों की मिलावट भी इसमें की जाती है। प्रथम कूड़ा-कचरा वृक्ष की छाल आदि

जितने निकले जा सकते हों, निकाल देना चाहिये, पश्चात् स्वच्छ चौगुने जल में २४ घण्टे तक भिगो कर, पश्चात् लोहे की कड़ाही में डालकर मन्दानि पर पकाना चाहिये, जब गुग्गुल गल जाय व जल आधा रह जाय इसे गरम ही मोटे वस्त्र से छान लेना चाहिये, छाने भाग को पुनः लोहे की कड़ाही में डाल कर पकाना चाहिये, गाढ़ा होने पर थालियों में घुस तैल लगाकर गुग्गुल इसमें डाल कर सुखा कर रखना चाहिये। सूख जाने पर पात्र में रखते समय भी गुग्गुल को स्नेहावरण करके भरना चाहिये।

(२) सामान्यतः आमपाचन व वातहर कार्य के लिये गुग्गुल का उपयोग करते हैं, इसलिये उपरोक्त प्रकार से शुद्ध गुग्गुल को चौगुने दशमूल काथ व उसी प्रकार पकाना चाहिये।

(३) क्रम १ व २ के अनुसार गुग्गुल तैयार करने के पश्चात् भी उसे पुनः त्रिफला काथ, गोपू, गौदुग्ध, गिलोय रस या काथ इत्यादि में अपेक्षानुसार पकाते हैं।

औषधि योगों में गुग्गुल मिलाने के पूर्व उपरोक्त वर्णित संस्कार कर लेना चाहिये, इस प्रकार के संस्कारित गुग्गुल को किशोर गुग्गुल कहते हैं। उक्त “संस्कृतो गुग्गुलः प्रोक्तो किशोर इति वैद्यके। ज्ञानसंप्रदायेण सर्ववात निवारणः।” ६५ पंचामृत रस यनः २० यो० सा०

शोधन विधि की विशेष बातें—गुग्गुल की घटना और ध्यान देते हुए निम्न बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(१) उबालना—गुग्गुल को अव्यवस्थित उबालने से वह इधर-उधर उड़ता है—तथा उसका सुगन्धित तैल भी उड़ जाता है और वजन व गुण में कम जाता है। ऐसा तीक्ष्णाग्नि पर पकाने से होता है।

(२) पात्र—उबालने के लिये लोहे की कड़ाही

गुग्गुल-कल्प

१०५७

लेना चाहिये—कलईदार वर्तन में गुग्गुल अधिक चिपकता है। यहाँ तक कि गुग्गुल को छुड़ाते समय वर्तन की कलई भी छूटने लगती है।

(३) चलाना—पकाते समय लोहे की कलछी से गुग्गुल को सतत चलाते रहना चाहिये और उसकी गुठलियाँ तोड़ते रहना चाहिये, न चलाने पर गुग्गुल नीचे जमकर जलने लगता है।

(४) छानना—मोटे वस्त्र में गरम-गरम छानना चाहिये। ठंडा होजाने पर छानना असंभव होजाता है और वस्त्र में चिपकने लगता है, लोहे की चलनी से भी इसे छाना जा सकता है, छानने के बाद चलनी को आग पर गरम करके शीघ्र ही साफ करलेना चाहिये। अधिक मोटे और भीने वस्त्र में छानने से वस्त्र के सूत (तंतु) गुग्गुल में चिपक जाते हैं, जिन्हें पृथक् करना कठिन हो जाता है।

(५) शोषण—शरद् ऋतु में जब सूर्य की किरणें प्रखर होती हैं तब गुग्गुल का शोषण कार्य उत्तम होता है। जस्ते की तश्तरियों में स्नेह लगा कर शुद्ध गुग्गुल फैलाकर सूखने के लिये रखना चाहिये, सूखने पर स्नेह लगाकर हवा बंद पात्रों में रखना चाहिये।

प्रक्रिया—गुग्गुल बनाने की तीन विधियाँ हैं। शिलाजीत और गुग्गुल ये पदार्थों का शोषण करते हैं, इसलिये वायु में आर्द्रता हो तो उस ऋतु में (वर्षा में) इन कल्पों का नहीं बनाना चाहिये।

प्रथम विधि—सोमपाक—गुग्गुल और अन्य औषधियों को एकत्र कर तथा इसमें स्नेह डालकर इमामदस्ते में खूब कूटते हैं, इसके शताघात, सहस्राघात और लक्षाघात भेद से तीन भेद होते हैं। इनमें लक्षाघात विशेष गुणवान होता है। फिर इसकी गोलियाँ बना लेते हैं।

सोमपाक का दूसरा प्रकार—अपेक्षित कषाय द्रव्य में गुग्गुल को पकाते हैं, पाक जब कलछी में चिपकने

लगे तब खरल में डालकर तथा ओषधि चूर्ण मिलाकर ८ से १५ दिन खरल करते हैं, जब खरल में चिकनाई आने लगे तब गोलियाँ बनाते हैं।

प्रथम विधि में स्नेह है, दूसरी विधि में कषाय द्रव्य है, पहले प्रकार में कूटा जाता है, दूसरे में खल (मर्दन) किया जाता है। स्नेह व द्रव के लिये क्रमशः कूटना व मर्दन करना ही योग्य है। परंपरा भी यही है।

सूर्यपाक—इसमें कूटना, मर्दन करना नहीं है। भावना है, भावना द्रव्य पचाने (सुखाने) के लिये धूप की योजना की गई है। गुग्गुल को द्रव में पतला कर उसमें चूर्ण मिला तथा कुछ अधिक द्रव मिला कर थालियों में सुखाने के लिये रखें, छुरी से नीचे ऊपर करते रहना चाहिये। एक भावना सूखने पर अर्थात् गाढ़ापन आने पर उसी प्रकार दूसरी भावना देनी चाहिये। इस प्रकार ७ से २१ भावना दें, पश्चात् उसकी गोलियाँ बनालें।

अग्निपाक—इसमें सूर्य, चन्द्र, स्वेदन, मर्दन और भावना का समावेश नहीं है, इस पद्धति से गुग्गुल, शीघ्र तैयार होता है। यथा—मंदाग्नि पर गुग्गुल का पाक तैयार करें तथा उसमें अपेक्षित ओषधि चूर्ण मिलाकर गोलियाँ बनालें, “पाकोनस्याच्य चूर्णनाम्” ऐसा वृन्दमाधव ने कहा है, उसका कथन है कि पाक में मिश्रित चूर्ण को अधिक अग्नि नहीं लगनी चाहिये। यहाँ गुग्गुल का उपयोग बंधक कार्य के लिये ही किया गया है इसलिये गुग्गुल कल्पों को बंधक वर्ग में रखा गया है।

गुग्गुल मान—अल्प प्रमाण में गुग्गुल के अनेक योग हैं, लेकिन सम प्रमाण में गुग्गुल वाले योग ही गुग्गुल कहे जाते हैं, किन्हीं योगों में आवश्यकता नुसार गुग्गुल दूना और कहीं तिगुना भी लिया गया है।

स्नेह संयोग—इस (गुग्गुलु) में तैल है, परन्तु वह उड़नशील तैल है। उष्णता व धूप के संयोग से वह उड़ सकता है, गुग्गुलु के इस पदार्थ को व्यर्थ में छोड़ देना गुण की दृष्टि से योग्य नहीं है। तैल न उड़े इसलिये गुग्गुलु पाक के समय उसमें थोड़ा घृत या तैल डालना चाहिये। यह दोनों स्नेह (घृत, तैल) स्थिर स्नेह है, उड़नशील नहीं है, इसलिये स्वयं तो उड़ते नहीं, दूसरे को भी उड़ने से रोकते हैं। इस विधि से गंध द्रव्यों की रक्षा की जा सकती है।

गुग्गुलु स्वयं आर्द्रताशोषक है इसलिये सूखजाने पर स्नेह मिलाना चाहिये, स्नेह मिलाने के लिये एरंड तैल उत्तम माना गया है। एक भत यह है कि स्नेहावरण केवल प्रतिबंधक या संरक्षक दृष्टि से ही उपयोगी नहीं है अपितु गुग्गुलु पाचन तथा पृथक् होने के लिये भी आवश्यक है। स्नेह ही गुग्गुलु का उत्तम विमर्दक तथा शरीर में पचने के लिये सहायक है।

गुग्गुलु स्वतः कटु, उष्ण, रुक्ष है। अगर निस्नेह गुग्गुलु का उपयोग किया जायगा तो उसका पाचन कठिन होगा, शरीर में अगर स्नेह संचय नहीं है तो गुग्गुलु वैसाही शरीरके बाहर निकल जाता है, इस

लिये गुग्गुलु कल्पों में आवश्यकतानुसार घृत, एरंड और विभिन्न तैलों का उपयोग उसे कूटने के समय करना चाहिए।

सस्नेह गुग्गुलु अधिक दिन तक टिकाऊ नहीं रहता है, यह दूसरा आक्षेप है, लेकिन निस्नेह गुग्गुलु की गोली पीसना कठिन होता है, इसलिये सस्नेह गुग्गुलु को अवगुण्टिका (Capsules-केपसूल) में भरकर रखना चाहिये। यह केपसूल दूध व उष्णजल के साथ निगलना चाहिये। इससे रुचि अरुचि का प्रश्न भी मिट जाता है, तथा स्नेह संयोग हेतु की भी पूर्ण योजना की जा सकती है। गुग्गुलु कल्पों को अधिक दिन तक गुणवान बनाये रखने की समस्या केपसूल विधि से साध्य हो सकती है।

कार्य—गुग्गुलु कल्पों के प्रयोग केवल वायु रोगों के लिये ही नहीं है, कफ व पित्तज रोगों में यह उपयोगी है, इसको पाचन के लिये उत्तम अति की आवश्यकता होती है, इसलिये स्नेह, रोगी के अति का बलाबल, ऋतु आदि पर ध्यान देकर ही गुग्गुलु की योजना करनी चाहिये। (आ० मी० मा० से)

शेषांश]

राजकीय भेषजिका और उसका निर्माण

[१०५४ वें पृष्ठ पर]

दी जावे, उसके द्वारा निर्मित योग का क्या स्वरूप होता है उसमें वातनाशक, पित्तनाशक, कफनाशक या वातकर, पित्तकर, वा कफकर कितनी शक्ति है इसका स्पष्ट उल्लेख किया जावे। इन योगों के घटकों का वैज्ञानिक विवेचन हो। इनमें पाये जाने वाले क्रिया कर तत्त्वों की प्रायोगिक जाँच पड़ताल करा के उनका प्रतिशत प्रमाण लिखा जावे। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय में उचित आयुर्वेदीय, यूनानी एवं पाश्चात्य योगों का वर्णन हो।

अन्त में यह न भूला जाय कि हमारी भेषजिका अष्टांगपूर्ण है और हम वैद्य या हकीम अपनी भेषजिका

के द्रव्यों का प्रयोग करके सम्पूर्ण रोगों पर विजय प्राप्त करने, रोगों का प्रतिषेध करने तथा देश स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये किसी भी द्रव्य अपने दृष्टिकोण से प्रयोग करने में पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा भण्डार रिक्त न होने पावे।

सम्भव है इस छोटे से लेख के द्वारा महत्त्व की बातों की ओर दृष्टि न जा सके हो पर यदि सम्भव हुआ और यदि और जनता वा उसकी प्रतिनिधि सच की सुरुचि हुई तो, और प्रकाश डाल सकेगा। (प्रा० चा०)

च्यवनप्राशावलेह

वय सभाकान्त भा शास्त्री, स० सम्पादक "सचित्र आयुर्वेद"

❀

औषध निर्माण विधि—

बेलगिरी, अरणी, अरलू, खंभारी, पाटला, मुद्ग-पर्णी, माषपर्णी, छोटी पीपल, बड़ी पीपल, गजपीपल, गोखुरु, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, काकड़ासिंगी, भुईं आंवला, मुनक्का, जीवंती, पोहकर मूल, अगर, गिलोय, बड़ी हर, ऋद्धि (अभाव में बाराही कन्द), जीवक, ऋषभक (दोनों के अभाव में विदारी कन्द), कचूर, नागरमोथा, पुनर्नवा, मेदा (अभाव में शतावरी), छोटी इलायची, नीलोफर, सफेद चन्दन, विदारी कन्द, अहूसे की जड़, काकोली, (अभाव में असगन्ध), काकनासा—प्रत्येक दवा का जौकुट चूर्ण ४-४ तोले।

पके हुए उत्तम बड़े आंवले गिन कर ३२५ तथा जल १६ सेर—इन सब को कलईदार वर्तन में डाल कर पकाओ, जब ४ सेर पानी रह जाय, तब चूल्हे पर से उतार लें और आंवले को एक तरफ रख कर पानी को छान कर सुरक्षित रख लें, अब आंवले की गुठली निकाल कर एक मोटे कपड़े से रगड़ें ताकि आंवले का छिलका और तन्तु (रेशा) अलग हो जाय। फिर कपड़े से निकले हुए गुदे में तिल तैल और गाय का घृत प्रत्येक ६-६ छटांक डाल कर मन्द मन्द आग से तब तक भूतते रहें, जब तक पानी का अंश बिल्कुल जल न जाय। पानी का अंश जल जाने पर तैल और घी बरतन में फिर दीखने लगता है, अच्छी तरह पक जाने पर इसे उतार कर नीचे रख दें।

ऊपर जो काढ़ा (पानी) ४ सेर सुरक्षित रखने

को लिखा है, उसमें ३ सेर चीनी या मिश्री डाल कर चाशनी बना लें, तब उसमें भुने हुए आंवले मिला दें और वंशलोचन १६ तोला, पीपल ८ तोला, दाल-चीनी, तेजपात, नागकेशर और छोटी इलायची प्रत्येक १-१ तोला लेकर इनका कपड़ुछन चूर्ण कर मिला दें, अवलेह जब ठण्डा हो जाय, तब ६ छटांक शहद मिला कर सुरक्षित रख लें। आ० प्र०

मात्रा—१ से २ तोला सुबह-शाम गाय या बकरी के दूध के साथ सेवन करें।

नोट—च्यवनप्राशावलेह में आंवला जितना पुष्ट पका हुआ रहेगा उतना ही अच्छा अवलेह तैयार होगा, क्योंकि इसमें आंवला ही प्रधान द्रव्य है। साधारणतया आंवला संप्रह करनेवाले पके हुए आंवले को बांस से झाड़ते हैं, वे जमीन पर गिर कर फूट-फूट कर रसहीन हो जाते हैं और उनमें मिट्टी कंकड़ आदि भर जाते हैं, ये आंवले जल्दी ही सड़ जाते हैं। यदि सुखा कर रखें, तो इससे बनी दवा का स्वाद खराब हो जाता है तथा उचित गुण भी नहीं करता। अतएव च्यवनप्राश के लिए आंवले की उत्तम संप्रह-विधि यह है, कि आंवले के पेड़ के नीचे जाल लगा कर एक आदमी पेड़ पर चढ़ जाए और डाल तथा टहनियों को जोर से हिलावे, जोर से हिलाने से पके हुए आंवले जाल में गिर जायेंगे। ये आंवले च्यवनप्राश के लिए उत्तम होते हैं।

गुण और उपयोग—अग्नि और बल का विचार कर क्षीण पुरुष को इस रसायन का सेवन कराना

१०६०

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

चाहिए, बालक, वृद्ध, क्षत क्षीण, स्त्री संभोग से क्षीण, शोष रोगी, हृदय के रोगी, और क्षीण स्वर भंग वालों को इसके सेवन से काफी लाभ होता है। इसके सेवन से खांसी, श्वास, प्यास, वातरक्त, छाती का जकड़ना, वातरोग, पित्तरोग, शुक्रदोष और मूत्रदोष नष्ट होता है। यह बुद्धि, स्मरण शक्ति और मैथुन में आनन्द देने वाला है। इससे कान्ति, वर्ण और प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा मनुष्य को बुढ़ापा नहीं आता है।

शा० सं०

च्यवनऋषि इसे खाकर बूढ़े से जवान हो गए थे, अतः इसका नाम च्यवनप्राश हुआ, यह फेफड़े को मजबूत करता, दिल को ताकत देता, पुरानी खांसी और दमा में बहुत फायदा करता है, दस्त साफ लाता है, अम्ल पित्त में बड़ा फायदेमन्द है, वीर्य विकार और स्वप्नदोष नष्ट करता है, राजयक्ष्मा में लाभ करता है, बल, वीर्य, कान्ति, शक्ति और बुद्धि को बढ़ाता है।

आ० प्र०

उत्तम च्यवनप्राश देखने में गहरे लाल रंग का, सूँघने में सुगन्धित, चखने पर मीठा और आँवले के खट-मिट्टे स्वाद से पूर्ण मिलता है। तथा दाँतों में बंशलोचन की किरकिराहट या जलांध की मुँह में गंध नहीं आती है।

च्यवनप्राश केवल बीमारों की दवा ही नहीं है, बल्कि स्वस्थ मनुष्यों के लिए उत्तम खाद्य भी है। जवानों की अपेक्षा वृद्ध इसका उपयोग अधिक करते हैं, ऐसा करने से उनका पेट साफ रहता है, भूख खूब लगती है। रस-रक्तादि धातुएँ पुष्ट होने से शरीर में शक्ति का संचय होता है। स्मरणशक्ति तथा शरीर में स्फूर्ति की वृद्धि होती है।

किसी-किसी की धारणा है, कि च्यवनप्राश शीत ऋतु में सेवन करना चाहिए। परन्तु यह सर्वथा

भ्रान्त है। इसका सेवन सब ऋतुओं में किया जा सकता है, ग्रीष्म ऋतुओं में भी यह गरम नहीं करता, क्योंकि इसका प्रधान द्रव्य आँवला है, जो शीत-वीर्य होने से पित्तशामक है।

सिर्फ आँवले का ताजा फल प्यास को शान्त करने वाला, पेशाब खुल कर लाने वाला तथा अनुलोमक है। बाहरी और भीतरी प्रयोग में शीतल होने से आँवला पित्त को शान्त करता है। गरमी या पित्त प्रकोप से यदि हृदय में धड़कन और शूल हो, तो च्यवनप्राश का सेवन करावें, पैत्तिक विकारों में इसे धारोष्ण या दूध गरम कर ठण्डा होनेपर उसके साथ दें। रक्तप्रदर, खूनी बवासीर, नक्सीर बहना, पेशाब के रास्ते खून और पीव आना आदि में पित्त प्रकोप जन्य रोगों को शान्त करने के लिए च्यवनप्राश का सेवन करना अच्छा है।

पुराने रोगियों या रोग छूटने के बाद कमजोर रोगियों को निर्बलता दूर करने के लिए इसका प्रयोग बहुत लाभप्रद है।

आँवले में जितनी अधिक मात्रा में खाद्योज (विटामिन) "सी" रहता है, उतना सम्भवतः किसी दूसरे फल में नहीं होता। ताजे आँवले के रस में नारंगी रस की अपेक्षा बीस गुना अधिक विटामिन "सी" रहता है। एक आँवले में डेढ़-दो सन्तरो के बराबर विटामिन "सी" रहता है। फल और सब्जियों को गरम करने, पकाने या सुखाने से उनके खाद्योज नष्ट हो जाते हैं। परन्तु आँवला इस विषय का अपवाद है। पकाने या सुखाने पर भी इसका खाद्योज नष्ट नहीं होता। यही कारण है कि जो ताजे आँवले का च्यवनप्राश नहीं बना सकते, वे सूखे आँवले को भिगोकर च्यवनप्राश अपने मरीजों को देते हैं। यद्यपि ताजे आँवले की अपेक्षा यह गुण

और स्वाद में कुछ न्यून अवश्य होता है, परन्तु तात्कालिक अभाव-पूर्ति के लिए उत्तम है। अतः जहाँ तक सम्भव हो ताजे आँवलों से बने च्यवनप्राश का ही उपयोग करना चाहिये।

विटामिन 'सी' ज्यादा होने से ही इसका प्रभाव पचन संस्थान पर स्थायी रूप से पड़ता है। महास्रोत की प्राचीरों में बल आता, पाचक रसों की उत्पत्ति पर्याप्त मात्रा में होती है। अन्त्रों द्वारा पाचन, शोषण और मलों का निर्हरण नियमित रूप में होता रहता है।

फेफड़े (फुफ्फुस) पर भी इसका प्रभाव बहुत पड़ता है, अतएव खाँसी, श्वास, उरः क्षत, आदि में इससे काफी लाभ पहुँचता है।

हृदय और रक्तवह संस्थान पर भी इसका असर होता है। अतएव हृदय की धड़कन, हृदयका निर्बल हो जाना, रक्त संचार में बाधा पड़ना, रक्त संवहन क्रिया ठीक-ठीक नहीं होना आदि विकारों में इससे लाभ होता है।

यह रसायन है, अतएव शुक्रजनित विकार में दुर्बल और वृद्ध मनुष्यों के लिए अमृत तुल्य कार्य करता है।

क्षय की प्रथमावस्था में यदि केवल धातुक्षीणता ही उसका प्रधान स्वरूप हो, एवं क्षय के अन्यान्य लक्षण उत्पन्न नहीं हुए हों, साधारण कृशता, कम-जोरी, एव कभी-कभी ज्वर का होना, थोड़े ही परिश्रम से ज्वर का बढ़ जाना, या शैथिल्य विशेष की प्रतीति होना आदि दशाओं में जो औषध धातु को पुष्ट करे; वही लाभदायक होती है। परन्तु इस औषध में विशेष उत्तेजक गुण नहीं होना चाहिए, हाँ धातुओं को निर्मल करने का गुण अवश्य होना चाहिए। क्योंकि क्षीण हुए निःसत्व धातु घटकों के शरीर में वैसे ही बने रहने से भविष्य में राजयक्ष्मा की विशेष सम्भावना रहती है। अतः धातु घटकों को निर्मल

कर उनमें उत्पादन शक्ति की वृद्धि करने वाली रासायनिक औषधें इस अवस्था में विशेष काम करती हैं एवं गुण विशिष्ट आयुर्वेदीय उत्तम औषध "च्यवनप्राशावलेह" है। इसमें लगभग ४० द्रव्यों का संकलन है, जिनमें प्रमुख द्रव्य "आँवला" है। आँवला शारीरिक धातुओं को स्वच्छ कर उनकी विदग्धता दूर करता है, और परिणाम में अभिसरण एवं उत्थान क्रिया की वृद्धि कर धातु पुष्ट करता है। आँवला के इसी गुण के सहायक द्रव्य च्यवनप्राश में मिलाये जाते हैं। अतः इस एक ही औषध से क्षय की प्रारम्भिकावस्था में उत्तम लाभ होता है। यदि सिर्फ च्यवनप्राश ही देना हो, तो २ से ३ तोले की मात्रा में दें। इसमें सारक गुण होने से जिनका कोठा मुलायम है, उन्हें इसके प्रयोग से २-३ दस्त हो जाते हैं, किन्तु इससे कोई हानि नहीं होती है। कुछ दिनों के बाद ज्यादा दस्त लगना अपने आप ही बन्द हो जाता है। जिनका कोठा सख्त हो, या जिन्हें मलावरोध की शिकायत हो, उन्हें चाहिए कि दिन में च्यवनप्राश की मात्रा कम लें और रात्रि में अधिक लें, इससे प्रातः खुलकर दस्त आते हैं।

उक्त अवस्था में यदि अजीर्ण, आभ्रमान आदि विकार हों, तो, उनके नाशार्थ भोजनोत्तर द्राक्षासव बराबर जल मिलाकर सेवन करें।

शारीरिक धातुओं एवं इन्द्रियों की शक्ति घट जाने से उसी परिमाण में पचनेन्द्रियों की शक्ति का भी ह्रास होता है। और ठीक समय पर आहार न पचना, खट्टी डकारें आना, कण्ठ में जलन, दाह होना, मुँह में कफलिपा-सा, मालूम होना, प्यास, जी मिचलाना इत्यादि लक्षण उपस्थित होते हैं। इस अवस्था में प्रातःसायं च्यवनप्राश, तथा भोजनोत्तर द्राक्षासव के सेवन से बहुत लाभ होता है। इससे आभ्यन्तरिक धातु पोषण कार्य को भी मदद मिलती है।

क्षय की इसी प्रारम्भिक अवस्था में च्यवनप्राश के साथ, मुक्ता भस्म, प्रवाल भस्म, तथा मृगशृंग आदि भस्मों का भी उपयोग किया जा सकता है। इन भस्मों का मुख्य गुण अन्न पचन करना, तथा पचनेन्द्रियों तथा रसरक्तादि धातुओं की अस्वाभाविक—विकारी अम्लता को नष्ट करना है। मौक्तिक और प्रवाल में ये गुण विशेष पाये जाते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि पाचन क्रिया को सुधारने के लिये शौक्तिक भस्म, शंख भस्म, या कपर्द भस्म का प्रयोग करना विशेष हितकर है, और विदाहावस्था के प्रतीकारार्थ मौक्तिक या प्रवाल भस्म का प्रयोग लाभदायक है।

मृगशृंगभस्म का सामान्य स्वरूप यद्यपि उपर्युक्त प्रवालादि भस्मों जैसा ही है तथापि इसका कार्य कुछ भिन्न प्रकार का होता है। मौक्तिक, प्रवाल, शंख या शुक्ति में जितना पाचक और विदाहशामक गुण है, उतना इसमें नहीं। परन्तु शरीरान्तर्गत अस्थिमय द्रव्यों का पोषण कार्य “मृगशृंग” भस्म के द्वारा उत्तम होता है। धातुक्षीणावस्था में तरुणास्थि या हड्डियों की संधियों में जो मृदु अवयव या भाग होता है, वह जब निःसत्व हो जाता है, तब मृगशृंग भस्म का प्रयोग विशेष लाभप्रद होता है।

प्रवाल, मौक्तिक या मृगशृंग भस्म इनमें से जिसका प्रयोग करना अभीष्ट हो, उसे च्यवनप्राश-बलेह के साथ निम्न प्रकार से दें।

प्रातः सायं च्यवनप्राश २ से ३ तोले तक (अनुपान दूध या जल), तथा दोपहर और रात्रि में भोजनोपरान्त द्राक्षासव १॥ से २ तोला तक चौगुने जल में मिला कर दें। मृगशृंग भस्म देना हो, तो प्रातः सायं च्यवनप्राश में मिला कर दें और प्रवाल या मौक्तिक पिष्टी देनी हो, तो द्राक्षासव या द्राक्षारिष्ट में मिला कर सेवन करायें।

धातुक्षीणता की अवस्था में यदि शुक्रक्षय की विशेषता हो, तो च्यवनप्राश और द्राक्षारिष्ट के साथ स्वर्णराज वंशेश्वर की योजना विशेष लाभदायक है। सुवर्ण वंग में वंग के ऊपर पारद का संस्कार होने से केवल वंग भस्म की अपेक्षा ज्यादा लाभ करता है, अभाव में वंग भस्म भी लिया जा सकता है।

ध्यान रहे धातुक्षीणता की अवस्था में च्यवनप्राश विशेष गुणदायक है। परन्तु यदि क्षयरोग अपना पूर्ण स्वरूप धारण कर लिया हो अर्थात् ज्वर, कास, आदि उपद्रव पूर्णरूप से उत्पन्न हो गये हों, तो फिर च्यवनप्राश से ठीक-ठीक लाभ नहीं होगा। क्योंकि क्षय की ऐसी अवस्था में उन औषधियों का प्रयोग विशेष हितकारी होता है, जिनमें पौष्टिक गुणों की अपेक्षा विषैली अवस्था का प्रतिबन्धक या क्षय कीटाणुनाशक गुण अधिक रहते हैं। च्यवनप्राश में यह गुण विशेष रूप में नहीं होता, यह तो केवल धातुक्षय की अवस्था में या क्षय की प्रथमावस्था में अपने पौष्टिक गुणों से उत्तम कार्य कर सकता है, बाद की अवस्था में वह उतना सफल नहीं होता।

उपर्युक्त धातुक्षीणता की अवस्था में या क्षय की प्रथमावस्था में रक्तक्षीणता की विशेषता हो (शरीर श्वेत हो गया हो, या हाथ-पांव और मुखपर सूजन आ गयी हो) तो अभ्रक, लौह, मण्डूर भस्म का उपयोग च्यवनप्राश और द्राक्षारिष्ट के साथ करें। अभ्रक और लौहा का उपयोग रक्त वृद्धि के लिये उत्तम होता है, इनमें भी लौह की अपेक्षा अभ्रक अधिक गुणदायक है। अतः प्रातःसायं च्यवनप्राश के साथ अभ्रक १-१॥ रक्ती की मात्रा में या लौह अथवा मण्डूर भस्म १-२ रक्ती की मात्रा में सेवन करें। इसमें अभ्रक जितना अधिक पुट वाला होगा, उतना ही विशेष लाभदायक होगा।

सन्निपात ज्वर चिकित्सा

कविराज आमलाचरण सेन

❀

ग्रन्थ में लिखा है,—“मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता ।”

जिस रोगी की चर्चा यहाँ की जायगी, उसके जीवन से उसके सभी स्वजन और परिजन निराश हो चुके थे। चिकित्सकों को भी उसके बचने की आशा नहीं रह गयी थी। किन्तु उसी रोगी ने पीछे स्वास्थ्य लाभ किया।

ता० २५।६।४२ को हमारी आरोग्यशाला में कल-कत्ता निवासी एक २२ वर्षीय हिन्दू दाखिल हुआ। दाखिल होने के तीन दिन पहले रोगी को ठण्ड लग गयी थी। इसी कारण उसे तीव्रज्वर हो आया और वह अत्यन्त अवसन्न-सा हो गया। ज्वर का वेग इतना बढ़ा कि रात में प्रलाप करने लगा। ज्वर आने के दूसरे दिन से ही पतला दस्त होने लगा। तापमान भी १०४।१०५ डिग्री तक हो जाता था। छाती में दर्द और संज्ञाहीनता का भाव सदैव बना रहता। इसी अवस्था में वह प्रलाप करता। खाँसते-खाँसते उँका दम घुटने लगता। इसके अतिरिक्त दारुण-पिपासा, मूत्र की रक्तवर्णता आदि उपद्रव भी एक साथ होने लगे।

पहले हम लोगों ने दुर्गन्धि युक्त तरल मलभेद का लक्ष्य कर पान के रस और गरम जल के साथ “सिद्ध प्राणेश्वर” दिया। इससे मूत्र की रक्तवर्णता दूर हो गयी। फिर उसके सरलता-उत्पादन एवं आमपाचनार्थ मध्याह्न में “श्वेत चूर्ण” और “भुवनेश्वररस” को एक साथ मिलाकर जल के साथ तथा ज्वर की

आमावस्था, श्लेष्मा का दोष और अग्निवैषम्य दूर करने के लिए चार बजे भीगा हुआ लवंग-यमानी जल के साथ “सौभाग्य वटी” सेवन करने दिया। खाँसते खाँसते जब रोगी परेशान हो जाता तो उसे मधु अनुपान से “सम शर्कर चूर्ण” अवलेहन के लिये दिया जाता। छाती और पार्श्व-प्रदेश की वेदना निवृत्ति के लिए अदरक का रस, पुराना घी, और कपूर एक साथ मिला और गरम करके वेदना स्थान पर मालिश करने दिया गया।

औषध सेवन के दूसरे ही दिन देखा गया कि तापमान (ज्वर) में किञ्चित् हास हुआ है। पहला दिन ज्वर का तापमान १०४ डिग्री तक था जो घट कर १०२ डिग्री हो गया। इससे अधिक बढ़ा नहीं। दस्त होना भी कम गया। मल में दुर्गन्ध भी कम रहने लगी। मूत्र भी अपेक्षाकृत सरल हो गया। मूत्र की रक्तवर्णता भी कम हो गयी। प्यास पहले की तरह नहीं रही।

दोपहर होने पर तापमान फिर बढ़ने लगा और रोगी ने पुनः प्रलाप शुरू किया। रात्रि के प्रथम भाग पर्यन्त तापमान (ज्वर) में हास नहीं हुआ। रोगी अत्यन्त दुर्बल हो गया—कुछ मोहाच्छन्न भाव मालूम होने लगा। इसी अवस्था में भयंकर श्वास प्रकट हुआ। तब हमने बड़ी कटेरी १ तोला, सोंठ चार आना, क्वाथकर अल्प मात्रा में बार-बार पीने दिया। उस क्वाथ से शीघ्र ही श्वास का दौरा कम हो गया और रोगी कुछ शांत हुआ। किन्तु रात्रि में

१०६४

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

तीन बजे के बाद से अवस्था का विपर्यय होने लगा, तापमान घट कर ९६ डिग्री हो गया। पसीना खूब चलने लगा, नाड़ी क्रमशः क्षीण से क्षीणतर हो गयी और देखते-देखते रोगी का शरीर ठण्डा पड़ गया। तब हमने ३ आधा “चतुर्भुज वटी” तुलसी के पत्ते के रस और मधु के साथ दिया। ईश्वर की कृपा से अल्पकाल में ही तापमान बढ़ने लगा। शरीर की शिथिलता नष्ट हो गयी; नाड़ी भी कुछ सबल हुई और रोगी भी शान्त हो कर सो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल तापमान (ज्वर) १०१ डिग्री था। रोगी का उद्वेग भी कम था। अन्य उपद्रव भी नहीं थे। पाखाना भी स्वाभाविक तौर पर दो बार हुआ। अब “सिद्ध प्राणेश्वर” के बदले तुलसी रस अनुपान से “वृहत् कस्तूरी भैरव वटी” सेवन करने दिया। और छाती के लिए रास्नाहरिद्रादि लेप दिया गया। किन्तु फिर भी पहले की तरह ही १२ बजे दिन में ज्वर और बेचैनी बढ़ने लगी जो रात के दस बजे के बाद बेचैनी कम होने लगी। प्रलाप भी कम हुआ, किन्तु खांसी बनी रही। इस पर मैंने “अष्टांगा-वलेह” अदरक के रस के साथ अवलेहन करने दिया। इससे खांसी कम हो गयी, शेष रात्रि शान्ति से बीती।

किन्तु दूसरे दिन फिर विषम परिस्थिति उत्पन्न हुई। १२ बजे के बाद तापमान (ज्वर) बढ़ने लगा। इस तरह तीन बजे १०३ डिग्री तक हो गया। यद्यपि सिर में बर्फ आदि का प्रयोग और अनेक तरह का शीतोपचार किया गया तथापि तापमान (ज्वर) १०४ डिग्री तक हो गया। रोगी की बेचैनी बढ़ने लगी। रोगी कभी संज्ञाहीन हो जाता, कभी जोर से चिल्लाता; इस तरह संध्या हो गयी किन्तु रोगी की अवस्था पूर्ववत् रही। इतना ही नहीं, रोगी को शिरश्चालन और आक्षेप आरम्भ हुआ। रात १० बजे रोगी बेहोशी की हालत में बिछावन फाड़ने लगा। सभी

भयभीत हो गये। रोगी का पेट फूल गया, हिक्का होने लगी। जैसे-जैसे रात बीतती जाती, रोग के उपद्रव बढ़ते जाते। इस अवस्था में मैंने बायु, आक्षेप और प्रलाप की शांति के लिए नरम ताड़ के पत्ते के रस के साथ “रसरार रस” सेवन करने को दिया। हिक्का रुके और पेट नहीं फूले इस गरज से नाभि के चारो ओर विष्णुतैल मर्दन कर के दारुहैमवत्यादि प्रलेप देने की व्यवस्था की गयी। उक्त दो औषधों के खाते ही तत्काल फल मालूम हुआ। आधा घंटा बाद ही आक्षेप कम होने लग गया, हिक्का भी अल्प होने लगी। प्रलाप रात के तीन बजे बन्द हुआ। पेट का फूलना रुक जाने से रोगी को कुछ आराम मिला और वह निद्रा में विभोर हो गया। रोगारम्भ से लेकर सातवें दिन तक रोगी की यही अवस्था रही।

आठवें दिन प्रातःकाल तापमान (ज्वर) १०१ डिग्री तक रहा। किन्तु रोगी अत्यन्त दुर्बल हो रहा था और अन्यान्य उपद्रव शान्त होने पर भी छाती का दर्द बना रहा, कुछ भी कम नहीं हुआ। किन्तु पूर्वापेक्षा रोगी की हालत अच्छी थी। फिर भी तापमान १०२ तक हो गया। रात में कुछ प्रलाप का अंश भी देखा गया। पेट का फूलना और थोड़ी बेचैनी भी जारी रही।

अस्तु, दूसरे दिन व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया। प्रातः गुडुच रस और मधु के साथ विद्रावण, मध्याह्न में मकरध्वज और श्वेतचूर्ण (पेट का फूलना बन्द करने के लिये) चूना के जल के साथ सेवन करने दिया। छाती में श्लेष्मा (कफ) के जम जाने के कारण ही दर्द होता था। अतएव, श्लेष्मा, (कफ) को ढीला करने के लिये महाचन्दनादि तैल मर्दन कर रास्नाहरिद्रादि लेप की व्यवस्था की गयी। पेट के ऊपर दारुहैमवत्यादि लेप पूर्ववत् चालू था। ज्वर,

(शेषांश १०७१ वें पृष्ठ पर)

पपीता या एरण्ड खर्बूजा

श्री भानु देसाई

❀

भारत में अनेक फल वृक्ष होते हैं। इन सब में अत्यन्त सुगमता से और चाहे जैसी भूमि में शीघ्र उग सके ऐसा वृक्ष कोई है तो पपीते का ही। राजा-महाराजाओं और लक्ष्मी नन्दनों के लाखों रुपये के खर्चवाले बगीचा में हजारों की संख्या-से लेकर दरिद्र कृषक के पिछवाड़े के घूरेपर लगा एकाकी तथापि फूला-फला दीख पड़ने वाला वृक्ष पपीते का ही होता है। इतने अनायास उगनेवाले फल वृक्ष के लिए परिचर्या की आवश्यकता नहीं, यह अनुमान स्वभावतः किया जा सकता है। परन्तु जिन्हें अकस्मात् उग निकले पपीतो से मिलने वाली सफलता के स्थान पर आर्थिक दृष्टि से उसकी कृषि अभीष्ट हो उन्हें इसकी कृषिकी शास्त्रगुह्य जानकारी होना आवश्यक है। इसके सिवाय पपीता उद्भिद-विद्या एवं अन्य अनेक दृष्टियों से अन्य फलवृक्षों की तुलना में विशिष्ट और चिकित्सा की दृष्टि से भी अति उपयोगी है।

पपीते या एरण्डखर्बूजे का मूल स्थान दक्षिण अमरीका माना जाता है। हवाई द्वीप-समूह में भी इसका प्रसार दीर्घ काल से होता आया है, यह वहाँ की भाषा से विदित होता है। फलों और वृक्षों के देश-विदेश में भ्रमण और प्रसार की गणना के विशारदों के मतानुसार एरण्डखर्बूजा प्रथम १५७६ ई० के पूर्व भारत में आया होना चाहिए। कारण, १६५६ के पूर्ण पपीते चीन में पहुँचे और वहाँ भारत के मधुर फल के रूपमें ही इनकी ख्याति हुई।

पपीते की उपयोगिता का कारण उसकी सुगम कृषिके सिवाय उसके गुण भी हैं। अन्य कोई भी धान्य, शाक-भाजी या फल एक एकड़ में जितना होता है; उससे अधिक उत्पादन एक एकड़ भूमिमें पपीते का हो सकता है। एक एकड़ में २५० मन (कच्चा मन) पपीते होने के दृष्टान्तों की संख्या कम नहीं है। उधर, पपीते में ए और सी जीवनीय (वाइटैमिन) प्रभूत हैं। केलिशियम और अन्य खनिज भी उसमें होते हैं। हमारे यहाँ के कई आहार-शास्त्री पपीते को आम के बाद दूसरी कोटिका फल मानते हैं। प्रमाण रूप में इसके विश्लेषण के निम्न अङ्क प्रस्तुत किये जाते हैं। शर्करा ८०२ से १११२ प्र०श०; अन्य घन द्रव्य १०५६ से १४४१ प्र०श०। पुनः पपीते से प्राप्त होने वाले पेपेन^१ नामक एन्जाइम^२ के कारण पपीते का पद विशेष है।

पपीते के फल तीन प्रकार के होते हैं:—नर फूलों वाले, मादा फूलों वाले तथा संपूर्ण फूलों वाले। नर फूलों वाले वृक्षों पर छोटे, श्वेत, पिलाई लिये अपूर्ण फूलों के गुच्छ लम्बी डंडी पर आते हैं। इन फूलों में पराग और पंखड़ियों को छोड़ शेष अवयव नहीं होते। नर फूलों पर फल कदाचित् ही लगते हैं, परन्तु वे वृन्त (पुष्प-दण्ड) के अन्त में लटके होते हैं। आकार भी उनका बहुत छोटा होता है। काटने पर इनमें बीज नहीं होते। कइवार नर फूलों वाले वृक्षों में परिवर्तन होकर उनमें स्त्री-केसर वाले

^१ Papain

^२ Engyme. इसके ज्ञान के लिए देखिये—

आयुर्वेदीय क्रिया शारीर (बैद्यनाथ-प्रकाशन)।

१०६६

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

फूल भी आते हैं और फल भी अच्छे लगते हैं। पर आर्थिक दृष्ट्या ऐसे परिवर्तन उपयोगी नहीं होते।

स्त्री केसर नाम (याने) मादा फूलों वाले पपीतों में ही फलोद्गम अच्छा होता है। स्त्री केसर वाले फूल वृक्ष के शिखर के पास पत्तों की डंडी और काण्ड (तने) के मध्य लगते हैं। वे श्वेत किंवा पीतिमा लिए श्वेत वर्ण के तथा गर्भकोष के कारण आकारमें छोटे अथवा संपूर्ण पुष्पों की अपेक्षया बहुत स्थूल होते हैं।

संपूर्ण पुष्पों वाले वृक्षों पर भी फल आते हैं, पर वे बहुत छोटे, खुरदरे तथा विरूप होते हैं। ये संपूर्ण पुष्प भी पत्र-वृन्त के निकट काण्ड से सटे होते हैं। नर पुष्प के समान लम्बी, मोटी डंडी के अन्त में नहीं लगते। ऐसे वृक्ष भी पपीते की कृषि करने वाले को विशेष लाभदायक नहीं होते।

पपीते का प्रसार साधारणतया बीज द्वारा ही होता है। एक ही फल के बीजों से उगने वाले पौधों में लगभग आधे नरपुष्प वाले होते हैं। पपीते का वृक्ष नर है, मादा है या संपूर्ण पुष्पवाला है यह जानकारी फूल आने पर ही होती है। परन्तु बोन के छ-सात मास तक फूल आते ही नहीं। 'परिणाम-तया, पपीते की संपूर्ण वाटिका के पचास प्रतिशतक पौधों को तो निरर्थक ही सींचना और उनके पीछे श्रम, द्रव्य और समय का अपव्यय करना पड़ता है।

पपीते के पौधों में पुष्प आने के पूर्व ही, वे छोटे हों तभी वृक्ष नर होगा या मादा इसके परिज्ञान के लिए कई परीक्षण किये जा रहे हैं, परन्तु किसी में सिद्धि नहीं मिली। कइयोंने नरपुष्पों वाले वृक्षों को मादा पुष्पों वाले वृक्षों में परिणत करने के प्रयत्न भी किये हैं, पर इनमें भी विफलता ही मिली है। यह देख कर प्रतीत होता है, कि प्रकृति ने जानो

उद्भिद्देवताओं की कसौटी के लिए ही पपीतों की विविध जातियाँ उत्पन्न की हैं।

बगीची में नरपुष्पवाले वृक्ष न उगें इस हेतु प्रयत्न किये जाते हैं, परन्तु पपीते की खेती करने वालों का अनुभव इस बात में प्रमाण है कि, बगीची में नर-पुष्पवाले वृक्षों का सर्वथा अभाव हो तो भी बगीची लगाने में सफलता नहीं मिलती। प्रत्येक बगीची में तीन से पाँच वृक्ष नरपुष्प वाले हों तो स्त्री केसर वाले वृक्षों पर फल अच्छे आते हैं। अर्थात् उन्हें नरपुष्पों वाले वृक्षों की आवश्यकता होती है।

उद्भिद्देवताओं को नर या मादा पुष्पों वाले वृक्ष, वे छोटे हों तब पहिचानना कष्टसाध्य होता है, पर इससे अनुभवी कृषकों ने निराश हो हार न मानते हुए, अपने श्रम और जल का दुर्व्यय न होने देने के लिए एक अत्यन्त व्यवहारोपयुक्त रीति ढूँढ़ निकाली है। ये लोग एक थामले में पपीते का एक पौधा बोन के स्थान पर छः इंच से एक फुट के अंतर पर एक साथ तीन पौधे पपीते के बोते हैं। नर पपीते में फूल सब से पहले आते हैं। सो तीनों पौधों में कौन नर है इस बात का इस परीक्षा से निदान होते ही तत्काल उसे उन्मूलित कर देते हैं। यदि प्रत्येक थामले में एक ही पौधा लगाया जाय और वह नर निकले तो सारी बगीची के लगभग आधे वृक्ष निकाल देने पड़ें। परिणामतया, पपीते के वृक्ष फलने लगे उसके पूर्व आधे वृक्षों का नाश कर दिया जाने से किसान को बहुत हानि उठानी पड़े। उक्त रीति से एक थामले में उगाये गये तीनों पौधे नर ही हों ऐसा तो कभी ही होता है। अतः तीनों पौधों में नर पौधे निकाल देने के बाद भी सारी बगीची वृक्षों से भरी-भराई रहती है। एक थामले में पास-पास पौधे लगाने से, सबको पूरा पोषण नहीं मिलता कइयों की कल्पना होती है, परन्तु अनुभव

विपरीत है। कारण, एक ही स्थल पर एक से अधिक पौधे बहुत ही पास-पास लगाने से उनके मूल और काण्ड परस्पर ओत-प्रोत हो ऐसे फूलते-फूलते हैं जानो वे एक ही वृक्ष की दो या तीन शाखाएँ हों। फलों अथवा बगीची की कुल आयात में इससे कोई अंतर नहीं आता। खाद और पानी की व्यवस्था भी एक थामले में एक पौधा मानकर ही करनी चाहिये, दो या तीन मान कर नहीं। यदि यह न करना हो तो एक थामले में सब पौधों के फूलने के बाद केवल एक मादा वृक्ष शेष रख कर अन्य दो या एक पौधा, वह मादा हो तो भी, काट देना चाहिए। ऐसा करने से सारी बगीची सुविभक्त लगती है तथा वृक्षों की पंक्ति भी सुन्दर बनती है।

इस बात के बहुत दृष्टान्त हैं कि, उद्भिद्बेत्ताओं ने मादा पपीते के काण्ड से कभी-कभी फूटने वाली छोटी शाखाओं को उनके तल से काट कर उसकी कलम लगायी है। इन कलम से उगने वाले पौधों के स्त्री केसरवाले फूल आकर फल भी अच्छे लगते हैं। परन्तु बगीचा लगाने के लिए इस प्रकार यथावश्यक संख्या में पौधे मिलते नहीं। अतः इस प्रकार कलमों से यथेष्ट कृषि होना शक्य नहीं।

पपीते की भेट-कलम करके स्त्री केसरवाले फूलों के वृक्ष तय्यार करने की युक्ति भी सफलता से आज-माई जाती है। इसमें छोटे-छोटे पौधों पर अभीष्ट वृक्ष की शाखा काट कर अलग कर भेट-कलम बाँधी जाती है। कलम की संधि जुड़ जाने पर पपीते की शाखा को काट कर अलग कर देते हैं। ऐसे वृक्षों के भी स्त्री केसरवाले फूल आकर अच्छे फल लगते हैं। उद्भिद् विद्या की दृष्टि से विलक्षण होने से यह रीति उपयुक्त है। परन्तु जहाँ सहस्रों की संख्या में पौधों की अपेक्षा हो वहाँ भेट-कलम से यथावश्यक पौधे सस्ते में तैयार नहीं किये जा सकते।

इन कठिनाइयों को लक्ष्य में रख पपीते के नये पौधे सदा बीज से ही तैयार किये जाते हैं। अच्छे बड़े मीठे फलों वाले वृक्ष से दो-चार फल, शक्य हो तो वृक्ष पर ही पकने देकर, उतारें। उनके बीज निकाल, उन्हें धो, ऊपर का चिकना पदार्थ साफकर, छाया-शुष्क कर लें। पपीते के बीज कई मास रख छोड़ने से उनकी उगने की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः यथासंभव ताजे बीज ही बोने चाहिये। बगीची एक एकड़ बनानी हो बीज लगभग आध सेर (कच्चा सेर) होने चाहिये।

पपीते के लिए भूमि यथाशक्य निथार वाली हो तो अच्छा। जिसमें जल भरा रहे ऐसी भूमि में पपीते जैसे उत्तम होने चाहिये ऐसे उत्तम नहीं होते। पपीते विशेषतया पीली, अनुर्वर, साधारण बजरीली भूमि में अच्छे होते हैं। बहुत काली भूमि में भी पपीते हो सकते हैं, पर होने चाहिये ऐसे अच्छे नहीं होते। तो भी बहुत अच्छे प्रमाण में देशी, सड़ी गोबर की खाद डाल कर चिकनी या काली भूमि को भी पपीते की कृषि के लिये उपयोगी बनाया जा सकता है।

ऊपर कहे अनुसार चाहे वैसे जलवायु में पपाता उग सकता है। तथापि जहाँ समय-समय पर पाला पड़ता हो, ठंड अधिक हो अथवा स्थल की ऊँचाई समुद्र तल से ४ हजार से ५ हजार फुट ऊँची हो, वहाँ वातावरण शुष्क हो तो भी पपीते अच्छे जमते नहीं।

पपीते के पौधे तैयार करने के लिये मई-जून से लेकर नवंबर तक के मास अच्छे माने जाते हैं। संभव हो तो ऊँचे चौक बनाकर उनपर श्रेणीबद्ध, आध इंच गहराई में बीज हाथ से गाड़ देने चाहिए। श्रेणियों के मध्य अन्तर नव इंच का रखना चाहिए। बहुत से लोग पपीते के बीज क्यारी में पृथक्-पृथक् बिखेर कर भी पौधे तैयार करते हैं। इस

१०६८

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

प्रकार लगाये पौध बहुत गहन उगते हैं, और उन्हें उखाड़ कर स्थायी जगह पर लगाने में कठिनाई होती है। जितनी सुगमता से चौक पर लगी श्रेणियों में उगाये पौधे उखाड़े जा सकते हैं उतनी सुगमता क्यारी में लगाये पौधे उखाड़ने में नहीं होती। यदि चौकों के स्थान पर गमलों या मट्टी की छिछली कूडियों या लकड़ी के डब्बों में बीज बोये जायँ तो भी बदल कर उगाने में बहुत सुगमता होती है और मूल टूटते नहीं।

बीज कहीं भी बोयें, उन्हें बोने के बाद मिट्टी और रेती का मिश्रण कर बीज को ढाँक दें और ऊपर सड़े-गले पत्तों का बारीक चूर्ण डाल दें। बीज भली-भाँति ढँकने के बाद तत्काल ही पानी देना चाहिये। बारीक छिद्रों वाली भारी की नली से प्रारम्भ में पानी दिया जाय तो बीज बह जाने की सम्भावना नहीं रहती।

प्रति दिन प्रातः अथवा सायं यथावश्यक पानी बीजों के चौक या क्यारी को पिलाना चाहिए। वृष्टि हो तो स्वभावतः पानी पिलाने की आवश्यकता नहीं रहता। तीनेक सप्ताह बाद बीज अंकुरित होने पर उनमें से छोटे-छोटे पौधे उखाड़ कर शेष पौधे इस तरह रहने दें कि उनमें तीन-तीन, चार-चार इंच का अन्तर रहे। अधिक पौधों को मृदुता से उखाड़ कर पृथक्-पृथक् अन्य चौकों या छोटे गमलों में बो कर बड़ा करके काममें लाया जा सकता है।

ढाई महीने बाद जब पपीते के पौधे बढ़ कर लगभग एक फुट ऊँचे हो जायँ तो उन्हें स्थायी जगह पर बोने योग्य समझा जा सकता है। पौधों को स्थायी जगह पर लगाने के लिए उखाड़ने के दो-तीन दिन पूर्व उस पर लगे प्रायः सभी बड़े पत्ते चुन लेने चाहिए। केवल मध्यवर्ती कोंपल रहने देनी चाहिए।

ऐसा करने से पौधों को उखाड़ते समय उन्हें भारी आघात या झटका न लगेगा। संभव हो तो पौधों को सायंकाल ही स्थायी जगह पर गाड़ कर तत्काल पानी पिलाना चाहिए। इस प्रकार करने से पौधों की जड़ तत्काल जम जाने से खाली स्थान बहुत नहीं रहते। आवश्यक प्रतांत हो तो दो-तीन दिन लगा कर भी, इसी पद्धति से नयी बगीची तय्यार करनी चाहिए।

कई स्थानों पर, स्थायी जगह पर ही दो-चार बीज थामलों में बोकर उन्हें पानी पिला कर नयी बगीची बनायी जाती है। परन्तु इस पद्धति में नये वृक्ष पृथक्-पृथक् होने से श्रम और द्रव्य का व्यय निरर्थक अधिक होता है। पहले से ही स्थायी जगह पर शाक-भाजी बोयी गयी हो और पानी सब जगहों पर पिलाया जाता हो तो अलबत्ता इस पद्धति में सफलता मिलती है। तथापि बगीची तय्यार करते हुए, प्रथम जुताई और थामले तय्यार कर खाद मिलाने आदि की जो व्यवस्था की जानी चाहिए वह, स्थायी जगह पर बीज बोकर पपीते की बगीची तय्यार करते हुए, की नहीं जा सकती।

अप्रैल-मई महीने में, जहाँ पपीते की बगीची बनाने का निश्चय किया हो वहाँ खेत में खड़ी, पड़ी और तिरछी जुताई तीन-चार बार करके, ढेले तोड़ खेत सपाट कर उसकी मट्टी मृदुकर लें। परचर आठ से दस फुट अन्तर चासें-चारों ओर रखते हुए थामले बना उनमें तीन-तीन फीट लम्बे, चौड़े और गहरे (३'×३'×३') गढ़े बनावें। आधा मन देसी सड़ी हुई खाद मिट्टी के साथ मिला इन गढ़ों में भर दें। इन गढ़ों में ऊपर कहे अनुसार दो-तीन पौधे बोएँ और तत्काल पानी पिलाएँ। पौधों के मूल लगाने के पाँच-मास पीछे दो से ढाई मन (कच्चा मन) देसी खाद ले प्रत्येक थामले में डालें।

पपीता या एरण्ड खबूजा

१०६६

दूसरे वर्षा वर्षा पूरी होने पर पुनः सितंबर मासमें दो से तीन मन देसी खाद प्रत्येक पपीते में डालें। कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा अस्थियों का चूर्ण अथवा राख डालते रहें तो पपीते बहुत अच्छे आते हैं। मैला पानी देने की व्यवस्था संभव हो तो सिंचाई अथवा खाद डालने की आवश्यकता नहीं रहता।

पपीते की कृषिका एक मनोरञ्जक उदाहरण लेखक के देखने में आया था। एक निथार वाली (पानी-चूस लेने वाली) भूमि में पपीते के ढाई-से तीन फुट ऊँचे पौधे तीन-तीन फुट गहरे गढ़ों में बोये गये थे। इससे भूमि पर पपीतों का शिखर-मात्र दीख पड़ता था। गढ़ों में काण्ड के आसपास मट्टी न भरी गयी थी। परन्तु पपीते जैसे-जैसे बढ़ते गये वैसे-वैसे गढ़ों में थोड़ी-थोड़ी मिट्टी डाल कर अन्त में गढ़ों भर दिये गये थे। ऐसा करने से मट्टी के अन्तर्गत काण्ड में भी मूल फूट कर वृक्ष बहुत बलवान् हो सकते हैं। यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से कितनी सफल हो सकती है, इसके अङ्क प्राप्त नहीं हुए।

पपीते के पौधे छोटे हों तब उनके बीच के रिक्त स्थानों में शाक-भाजी की सहायक फसल लगायी जा सकती है। कई बार स्वयं पपीते आम या चीकू की नयी लगायी जाने वाली बगीची में सहायक फसल के रूपमें बोये जाते हैं। पपीतों के मूल भूतल से ६ इंच ही गहरे होने से जुताई के लिए हल काम में न लाकर हलका दन्ताल उपयोगमें लाना चाहिए। निंदाई भी इसीसे की जा सकती है। पपीते के काण्ड को नीचे मट्टी के ढेर से घेर कर उसे चारों तरफ से पानी षिञ्जना चाहिए। इससे वृक्ष बढ़ रहता है।

पपीते के पौधे स्थायी जगहों पर बोने के बाद छ महीने में फूल आने लगते हैं। अगले छ मास में वे फल तोड़ने—जितने परिपक्व हो जाते हैं।

शीतकाल को छोड़ कर शेष लगभग सभी ऋतुओं में पपीतों में फूल और फल लगते रहते हैं। बीच-बीचमें बड़े-बड़े फलों के बीच दबे हुए फलों को तोड़ डालना चाहिए, जिससे फलों को बढ़ने का अवकाश मिलने से वे बड़े और सुविभक्त (सुडौल) होते हैं।

पपीते तोड़ने-योग्य हुए हैं या नहीं यह जानने के लिए दो परीक्षाएँ हैं। एक तो यह कि, फल की छाल जब हरी से कुछ पीली हो आय तो समझें कि कठिन होते हुए भी फल तोड़ कर पकाने-योग्य हो गये हैं। कई बार पपीते ऊपर से हरे होते हुए भी अन्दर से पक जाते हैं। पपीतों को नख से कुरेदने से दूध यदि गाढ़ा और चिकना न निकल कर फीका और पतला निकले तो भी समझें कि फल तोड़ने-योग्य हो गया है।

साधारणतया पपीते के वृक्ष में एक ही काण्ड होता है। परन्तु वृक्ष बहुत पुराना हो जाने पर उसमें अन्य भी शाखाएँ फूटती हैं। इन शाखाओं पर जो फल आते हैं वे कुछ छोटे होते हैं। कई लोक अधिक फलों की आशा से वृक्ष की मध्यवर्ती कोंपल तोड़ कर उसमें शाखाएँ उत्पन्न करते हैं। वृक्ष यदि पर्याप्त दूर-दूर उगाये हों तो ऐसा करने में कोई क्षति नहीं। परन्तु निकट उगाये वृक्षों में शाखा उत्पन्न करना योग्य नहीं।

फलोरीडा में पपीतों के बागों में एक अद्भुत प्रथा है। भारत में भी परीक्षण के रूप में उसे अपनाया जा सकता है। वहाँ पौधा जब डेढ़ से दो फुट ऊँचा होता है तो उस के ऊपर के शिखर को काट देते हैं। इन वृक्षों के जो शाखाएँ फूटती हैं उन्हें तीन फुट ऊँचे जाने देकर उनमें केवल एक रहने देते हैं, शेष को काण्ड के पास से काट देते हैं। यह एक शाखा लटक न जाय इस हेतु देका दिया जाता है। इस एक ही शाखा को बहुत बड़े और

१०७०

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

उत्कृष्ट फल आते हैं। यह शाखाएं काटने, एक शाखा को बढ़ाने और अन्त में उसी पर फल आने देने की क्रिया तीन ही वर्ष की जाती है। चौथे वर्ष वृक्ष को काट कर नये सिरे से पपीतों की कृषि प्रारम्भ की जाती है। इस पद्धति में पपीते बहुत ऊँचे नहीं बढ़ते और फल तोड़ना बहुत सुकर होता है।

भारत में तथा अन्यत्र भी पपीते तीन-चार वर्ष से अधिक रहने देना लाभदायी सिद्ध नहीं होता। कई स्थानों में पपीते की चालू बगीची में चौथे वर्ष बड़े-बड़े वृक्षों के मध्य पपीतों के छोटे-छोटे पौधे बोकर नयी बगीची का सूत्रपात करने की प्रथा है। यह पद्धति प्रशस्त नहीं है। कारण, तीन-चार वर्ष की सतत सिंचाई के बाद दो-चार मास भूमि खुली रहे तभी अच्छी होकर फसल अच्छी देती है। जब-जब नयी खेती करनी हो तब-तब पपीते के पौधे ताजी आराम पायी हुई भूमि में ही बोने चाहिए। इससे बगीची अच्छी खिलती है।

पपीते के एक वृक्ष पर तीन वर्ष में तीस से डेढ़ सौ तक फल लगते हैं। भार में भी एक फल एक सेर से सोलह सेर (कच्चा सेर) लगने के दृष्टान्त कम नहीं।

प्रति एकड़ भूमि में दस फुट के अन्तर से पौधों के थामले बनाये हों तो ४३५ पौधे बोये जा सकते हैं। (इस गणना में दो या तीन एक साथ बोये पौधों का थामला एक ही गिना है।)

इस ओर गुजरात में पपीते की अनेक जातियाँ होती हैं। इनमें लोटणपुरी, वाशिगटन, बंगलोर, सीलोन, मधुबिन्दु^१ इत्यादि मुख्य हैं। इनके मिश्रण से हुए संकर भी देखे जाते हैं। बगीचियाँ लगाने के लिए पूना की ओर वाशिगटन और सीलोन की

तथा काठियावाड़ की ओर बंगलोर की सलाह दी जाती है।

वाशिगटन पपीते के वृक्ष के पत्तों की डंडियाँ हलके जामुनी रंग की होती हैं। इसमें फल बहुत नीचे से लगते हैं। फल यद्यपि प्रमाण में छोटे होते हैं, परन्तु स्थिर अधिक होने से बाजार में भेजने की दृष्टि से अधिक अच्छे समझे जाते हैं।

मुम्बई के समीप चेंबूर की एक बगीची में पीले रंग के स्थान पर गुलाबी अथवा भगवे-गुलाबी रंग के फल वाले कुछ वृक्ष देखे जाते हैं। इनके फल स्वाद में मीठे और देखाव में सुन्दर होने से इनका उत्पादन बढ़ाने योग्य है।

भारत में पपीते फलों के लिए लगाये जाते हैं परन्तु श्रीलङ्का (सिलोन) में फलों से निकालने वाले पेपेन^२ नामक पाचक द्रव्य (एन्जाइम) की प्राप्ति के लिये ही इनकी कृषि की जाती है। पूना के पास भी एक स्थान पर पपीते से पेपेन निकालने का प्रयोग बहुत सफल हुआ है। अच्छे वृक्षों से एक वर्ष में पाव सेर से एक सेर तक पेपेन मिलता है। पपीते की सिंगापुर जाति से आधा सेर तक यह द्रव्य निकाला जा सकता है।

पपीते के फल से पेपेन निकालना बहुत सुगम है। बड़े कच्चे फलों के नीचे काच के चौड़े मुख वाले पात्र बांध कर, फल को लकड़ी की तीक्ष्ण छूरी अथवा हाथी दाँत की धार वाली पट्टी से खरोंचते हैं। खरोंचों से दूध जैसा द्रव बहकर काच-पात्र में संचित होता है। प्रत्येक फल के चार से छः खरोंच हल्के हाथ से मारी जाते हैं तथा पाँच-छः दिन निलंबित चालू रखी जाती है। इसके बाद द्रव का प्रवाह रुक हो जाता है। इस रस (दूध) को घूप में या सिंघात पर हलकी आँच में सुखाते हैं। १३० शतांश (सेंटोग्राम)

पपीता या परण्ड खर्बूजा

१०७१

से अधिक ताप लगने से पेपेन बिगड़ जाता है और उसकी पाचन शक्ति कम हो जाती है। पेपेन निकाल लेने के बाद भी इन फलों को पका कर खाने के काम में लिया जाता है। यह ठीक है कि इन फलों पर लगी खरोंचों से फलों का देखाव बिगड़ जाता है।

पेपेन निकालने के लिए दूध अन्य भागों से भी निकाला जा सकता है। पर मुख्यतया कच्चे फलों से ही इसे प्राप्त किया जाता है। आमाशय-रस के पेप्सीन के समान पेपेन प्रोटीनों का विघटन कर उन्हें पचाता है। पेप्सीन के स्थान पर, विशेषतया पेप्सीन जाङ्गम (जन्तुओं से प्राप्त होने वाला) होने से उसके सेवन से जब धार्मिक विप्रतिप्रति (उज्र) हो तब, पेपेन दिया जाता है। इसका उपयोग चूर्ण या गिलसगीन में घोल के रूप में किया जाता है। पेप्सीन और पेपेन दोनों गण्डूयद-कृमिघ्न भी हैं। अजीर्ण, अजीर्ण जन्य वमन, बालकों के अतिसार आदि रोगों में ये दिये जाते हैं।

पके पपीते का उपयोग प्लीहावृद्धि में पथ्य के रूप में प्रसिद्ध है। यह उष्ण और आतंजजनक माना जाता है अतः स्त्रियों में तथा रक्तस्राव जिन रोगों का लक्षण हो उनमें इसका उपयोग सावधानी से करना चाहिए। दुर्बल और ग्रहणी रोगियों को दूध फाड़

कर उसकी छाछ^१ बनानी हो तो फिटकरी के समान पपीते के दूध का उपयोग आधुनिक निघण्टुओं में विहित है।

इस और पपीते के रोगों या जन्तुओं के उपद्रव विशेष नहीं होते। उत्तर भारत में पपीतों को रोग-वश क्षति होना सुना जाता है। उनमें एक रोग में काण्ड में भूतल के समीप सड़ाई शुरू होती है। इससे वृक्ष दुर्बल होकर टूट जाता है। कई बार वृक्ष की त्वचा फटकर उससे दुर्गन्धयुक्त स्राव होकर वृक्ष मृदु हो सड़ने लगता है।

विशेषतया वर्षा में यह रोग अधिक प्रमाण में देखा जाता है। शीतकाल आनेपर रोग का बल न्यून हो जाता है।

एक अन्य रोग में काण्ड में ब्रण (जखम) हो जाते हैं। परन्तु प्रारम्भ में ही उपाय किया जाय तो रोग काबू में आ जाता है। जिस भाग में घब्वे देखे जाय उसे छील कर उस पर ५० प्र० श० क्रुड कार्बोलिक एसिड अथवा ५ प्र० श० लायसोल लगा कर ऊपर तारकोल (डामर) चुपड़ देना चाहिए। यह उपचार प्रायः सफल होता है। अच्छा निथार, गुडाई, निंदाई और नियमित सिंचाई द्वारा पपीते के वृक्षों का स्वस्थ रखा जाय तो ये रोग कदाचित ही हों।

१—Whey न्हे।

सन्निपात ज्वर चिकित्सा

[१०६४ पृष्ठ से आगे]

पसीना और कफ का आधिक्य देखकर सौभाग्यवती गरम जल के साथ दिया गया।

शरीर की दुर्बलता और बेचैनी को दूर कर नीन्द लाने के लिए रात में ताड़ के पत्ते का रस मधु अनुपान से रसरस दिया गया। तीन दिन इस प्रकार औषधि के प्रयोग करने से ज्वर का आना रुका छाती का दर्द और पेट का फूलना समूल नष्ट हो गया। किन्तु कभी कभी खाँसी से खूब कष्ट होता। रोगी को भूख मालूम हुई, किन्तु दो दिन बाद उसे पथ्य दिया गया और व्यवस्था का भी परिवर्तन किया गया। कहीं ज्वर का फिर आक्रमण न हो

जाय, इस आशंका से विद्रावण रस पूर्णवत् जारी था। अग्नि की दोषि और परिपाक-शक्ति बढ़ाने के लिये मध्याह्न में लवण भास्कर, और दुर्बलता तथा निद्रा लाभ के लिये बड़ी इलायची का चूर्ण और मधु अनुपान से "त्रैलोक्य चिन्तामणि" सेवन करने दिया। जब कभी खाँसी का दौरा विशेष होता तब "अष्टांगा-वलेह" अवलेहन के लिये दिया जाता।

पूर्वोक्त औषधि के सेवन के बाद रोगी ज्वर मुक्त हो गया। सात दिन तक औषधि सेवन करने के पश्चात् पूर्ण स्वास्थ्य लाभ कर वह औषधालय से विदा हुआ।

गर्मियों में स्वस्थ रहने के उपाय

वैद्य रामेशवेदी आयुर्वेदालंकार



शुद्धियों की तुलना में गर्मियों में हमारे शरीर में निम्न लिखित परिवर्तन होते हैं। रक्त बाह्य-निर्यो में तनाव कम हो जाता है। और मूत्र की उत्पत्ति कम हो जाती है। फेफड़े फैल जाते हैं, गरम वायु में ठंडी वायु की अपेक्षा कम अम्लजन (प्राण वायु) होने से शरीर के सामान्य मेटाबोलिज्म में भी कमी आ जाती है।

गरमी का सहन करना

गरम वायु को सहन कर सकने या न कर सकने की क्षमता वायु की आर्द्रता पर निर्भर करती है। वायुमण्डल में आर्द्रता अधिक होने पर पसीना खूब नहीं आ सकेगा जैसा कि बरसात में होता है, और इससे गरमी अधिक अनुभव होगी। बरसात की अपेक्षा इन दिनों पसीना कम अनुभव होने का कारण भी यही है कि वह वायुमंडल में भटपट मिलता रहता है।

ठंडे प्रदेशों में रहने वाले लोग जब गरम प्रदेश में रहने के लिये जाते हैं तो उनमें निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। दिमाग की कार्य करने की शक्ति में कमी, सामान्य निर्बलता, भूख मर जाना, पाचन, श्वास चक्र और रक्त संचालन में गड़बड़ी। गरम स्थानों में रहने वाले लोगों में भी गरमियों में भी ये लक्षण प्रकट हो जाया करते हैं। परन्तु उनको गरमी सहन करने की आदत अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिये ये लक्षण इतने स्पष्ट नहीं दीखते। गरमियों में इन बुरे प्रभावों से बचने के

लिये जो उपाय किये जाते हैं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण और मुख्य स्नान है।

सुबह का स्नान

सौभाग्यवश हमारे देश में अनेक शीतल जल धाराएँ बहती हैं। उनके किनारे बसने वाले लाखों व्यक्तियों को उनमें स्नान करने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इसलिये हम उनको पूरा महत्त्व देते हुए इस मौसम की चर्चा करेंगे। सुबह का स्नान पाँच और छः के बीच गंगा या नदी में अथवा बन्दे हुए कुएँ में किया जाय। इस समय जरा हवा में ठंडक होती है और पानी ठंडा होता है। इसलिये स्नान से पूर्व हल्की मालिश भी की जा सकती है। नदी में तैरने की सुविधाएँ प्राप्त हों तो जरा तेज हाथ मारते हुए दो फर्लांग तैरने का व्यायाम कर लेना चाहिये। सुबह घूमने के लिये जब आप निकलें तो तेल साबुन, अंगोछा आदि स्नान के लिये आवश्यक सामान साथ लेते जाइये।

दोपहर का स्नान

दोपहर को जब आप शाला से भोजन करने जाते हैं और नदी पास में है तो अवश्य नहा लीजिये। रात का शीतल जल आपको ताजा बना देगा। आप भोजन अधिक रुचि से करेंगे, नोकरी के लोगों और दूकानदारों को भी अवकाश मिलेगा। दोपहर का स्नान कभी नहीं चूकना चाहिये। आप घर पर ही नहा लें।

गर्मियाँ में स्वस्थ रहने का उपाय

१०७३

तैरना मौसम का आदर्श व्यायाम

इस ऋतु में कोई भी भारी व्यायाम करना अभीष्ट नहीं होता। ऋतु के अनुकूल सबसे अच्छा व्यायाम तैरना है। इससे शरीर की प्रत्येक पेशी और अंग का व्यायाम भली-भाँति हो जाता है। तैरने का सबसे अच्छा असर मैंने पेट और आंतों पर देखा है। इस ऋतु में सामान्यतया भूख मर जाया करती है। परन्तु नियमित तैरने से यह अनुभव किया है कि आँतें नियमित हो जाया करती हैं, और भूख तो इतनी तीव्र हो जाती है कि दोनों समय के भोजन और प्रातः काल को ठीक समय कर लेने के लिये उत्सुक रहना पड़ता है। फेफड़ों को स्वस्थ रखने के लिये तैरना आदर्श व्यायाम है। गहरे श्वास-प्रश्वासों में जलधारा के ऊपर के पृष्ठ से निर्मल शुद्ध वायु फेफड़ों के अन्तरात्म कोष्ठों तक पहुँच कर शरीर में प्राण फूँकती है। मेरे साथी पं० वासुदेव जी दमे से पीड़ित हैं। उनका अनुभव है कि तैरते रहने से उनकी यह शिकायत उठा नहीं करती।

घूमना

जो आदमी तैरना नहीं जानते वे सुबह पाँच-छः बजे और शाम को सात, आठ बजे के बीच में नदियों के किनारे या पार्कों की खुली हवा में घूमने निकल जाते हैं। तैरते समय ध्यान रखिये

शाम के स्नान के लिये आप सबके पास पर्याप्त समय होगा। पाँच बजे छुट्टी होते ही सीधा गंगा या नदी की ओर लपकिये, घाट पर कपड़े उतारकर नदी के किनारे मील सवा मील तक चले जाइये। इस समय लू चल रही होती है, उससे बचने के लिये शरीर को अंगोछे से लपेट लीजिये, या पतली-सी बनियान पहने रहिये। तैरने के लिये कूदने से पूर्व पाँच मिनट पास के वृक्ष की छाया में ठहर

जाइये। आपका पसीना सूख जायेगा। अब झुलांग लगा लीजिये। चार-पाँच आदमियों की टोली में आप भी मजे में बात करते हुए और पानी में खेल्ते हुए तैरते चले जा रहे हैं। हाथ लगातार मारिये, उतावलेपन से नहीं, स्थिरता से। बीच बीच में डुबकी लगाते जाइये। उलटी तैरी भी लगाइये, मील सवा मील की तैरी में आपकी त्वचा के तापमान को नदी का बर्फीला पानी नीचे ले जायगा। दिन भर की थकान, काम-काज की चिन्तायें तो जैसे हिरन हो जाती हैं, तैरते हुए जब रंग-विरंगे 'चमकीले पंखों' वाली चिड़ियाँ आपके ऊपर उतराती हैं, और नदी के पृष्ठ पर से छोटे-छोटे पतंगों का शिकार करती हुई आपका ध्यान खींचती हैं। तट के घने काले वृक्षों पर सफेद बगुले सदा निश्चल भाव से बैठे मिलते हैं, और बगल के झुरमुटों से जब कोयले तथा पपीहे पी पी की मधुर ऊँची ध्वनि में एक साथ पुकार उठते हैं तब आपको आश्चर्य होगा कि गरमियों का मौसम भी इतना भला हो सकता है।

आपका स्वास्थ्य गिरेगा नहीं

सालों से तैरने और घूमने का मेरा यही कार्यक्रम चल रहा है। मेरे एक साथी चार-पाँच बरस से गंगा में स्नान और तैरने की इस चर्चा को नियम से चला रहे हैं। १५ अप्रैल से उनका यह कार्यक्रम आरम्भ हो जाता है और महीनों पहले ही वे १५ अप्रैल से तैरने की मधुर स्मृतियों की चर्चा करके प्रसन्न हुआ करते हैं। इस मौसम में सामान्यतया लोगों का स्वास्थ्य गिर जाया करता है। परन्तु नियमित रूप से गंगा में तैरने वाले ये सज्जन कहा करते हैं कि किसी भी मौसम में मेरा स्वास्थ्य इतना अच्छा नहीं रहता जितना गरमियों में रहता है।

स्नान करते हुए शरीर को गीले अंगोछे से अच्छी तरह मल कर मैल छुड़ाना तथा पसीने की दुर्गन्धि निकालना आवश्यक होता है।

तस्मात् बहुश्रुतं शास्त्रं विजानीयात् विचक्षणः ।

ईमानदारी बनाम अज्ञान

वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेद शास्त्राचार्य

“वादे वादे जायते तत्त्वबोधः” के अनुसार आलोचना-प्रत्यालोचना होनेपर वास्तविकता सामने आ जाती है। इसी दृष्टि से गत मई के “सचित्र आयुर्वेद” में “ईमानदारी का तकाजा” शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसकी प्रत्यालोचना में वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी, आयुर्वेद शास्त्राचार्य ने अपना विचार प्रकाशनार्थ भेजा है, जो नीचे प्रकाशित है। “सचित्र आयुर्वेद” में समय-समय पर इस तरह के लेख इसी लिए प्रकाशित किये जाते हैं, ताकि विद्वान वैद्य गण अपने-अपने विचार प्रकट करें, जिससे आयुर्वेद की वास्तविकता सामने आ जाये तथा लोगो में फैले हुये गृथा भ्रम भी दूर हो जाए।

—स० सम्पादक

‘सचित्र आयुर्वेद’ का नया मई का अंक पढ़ते हुए ‘ईमानदारी का तकाजा’ लेख पढ़ कर मन में अशान्ति उत्पन्न हो गयी। इसके लेखक ‘अत्रि’ महोदय ने अपना जो निर्णय तथाकथित ईमानदारी की भावना से दिया है वह आधारहीन है।

‘नाड़ी-विज्ञान’ के केवल एक आचार्य महात्मा रावण मात्र ही उन्हें ज्ञात हैं। महर्षि कणाद के और वैदिक दिव्यभिषक् अथर्वा के नाड़ी-विज्ञान का उन्हें ज्ञान नहीं है। नाड़ी-विज्ञान के परिगणित आचार्यों में केवल महर्षि कणाद और महात्मा रावण का ही लिखा साहित्य इस समय मिलता है। परन्तु अन्य आचार्यों को भी इस तन्त्र का ज्ञान था इसके प्रमाण मिलते हैं। महर्षि आत्रेय व उनके शिष्य अग्निवेश को इसका ज्ञान था। विश्वामित्र पुत्र इसका बहुत प्रयोग कर चुके हैं। रोगों की असाध्यावस्था के वर्णन में नाड़ी-क्षीणता का सुन्दर ज्ञान इन ऋषिपुत्रों का प्रकट होता है। यह सब विस्तार से ‘सचित्र आयुर्वेद’ में भविष्य में प्रकाशित होगा। यहाँ इस

लेख का अभिप्राय केवल ईमानदारी बनाम अज्ञान का उल्लेख मात्र करने का है।

‘ईमानदारी का तकाजा’ के लेखक महोदय से हम पूछते हैं कि कितने एलोपैथिक चिकित्सक विशेषण परामर्श के बिना मूत्र में पूय का निश्चित ज्ञान करते हैं ? सब लक्षण जान कर रोगनिर्णयार्थ मूत्र को मूत्र-परीक्षा के विशेषज्ञ को भेज कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार नाड़ी-विज्ञान परीक्षा का साधन है जैसे और अष्टविध परीक्षण हैं। अष्टविध परीक्षण में भी रोगनिर्णयार्थ दर्शन, स्पर्शन और प्रत्यक्ष निरीक्षण के द्वारा रोगनिर्णय होता है। क्या आप कोई ऐसा उदाहरण बतला सकते हैं कि संसार की किसी भी पद्धति का चिकित्सक अपने साधारण परीक्षणों के आधार पर (जो कि लक्षणों के आधार पर—Symptomatic—होते हैं) रोग का अन्तिम निर्णय कर देता हो ? फिर नाड़ी-विज्ञान के अन्तिम पर ही आप का द्वेष-शिखर क्यों उन्नत हुआ है ?

जीवाणु पाजिटिव है या निगेटिव ?

महोदय, जब हम इन जीवाणुओं की विकृति उत्पन्न लक्षण बतला देते हैं और नाड़ी देख कर

ईमानदारी बनाम अज्ञान

१०७५

दोषांश-कल्पना कर चिकित्सा भी कर देते हैं तथा रोगी को लाभ भी हो जाता है, फिर पाजिटिव या निगेटिव की जानकारी की हमें क्या आवश्यकता रह जाती है? यह तो आयुर्वेद के विज्ञानगगन की अवहेलना करने वाले पाश्चात्य चिकित्साचुम्बी प्रेमी चंचुचिकित्सकगण ही हैं जो पाजिटिव व निगेटिवका ज्ञान कर अपनी सूची को संहालने की चेष्टा करते हैं।

अत्रिपुत्र और विश्वामित्र पुत्र ने तो आज के जीवाणु संसार विषयक ज्ञान-भाण्डार को भी अपने महान् त्रिदोष-विज्ञान की कसौटी पर कस कर चर्चा मात्र कर के छोड़ दिया है। रसशास्त्र की चर्चा छोड़ दी है तो आप की ईमानदारी का तकाजा है, रसशास्त्र का विशाल साहित्य छोड़ दिया जाय और आथर्वण सम्प्रदाय के भिषगों द्वारा बहुवर्णित जीवाणुओं को आयुर्वेद के बाहर का समझा जाय? आपने आचार्य नागार्जुन पर कृपा की और समादर पूर्वक उनका नाम लिया, किन्तु आपके मत से तो अमुक कम्पनी का पारद ही उत्कृष्ट होगा न? आचार्यपाद नागार्जुन की विधि चाहे वह कम्पनी न करे। ऊर्ध्वपतन की क्रिया से तो वह शुद्ध होगा ही। फिर इस पारद की उत्तमता का प्रमाण तो नागार्जुन न होकर अमुक कम्पनी ही होगी?

क्या आप बतला सकेंगे कि नाड़ी विज्ञान के कितने विशेषज्ञों से आप मिले हैं और इस विषय का कितना ज्ञान अर्जन किया है? यदि नाड़ी देख कर नाड़ी-विशेषज्ञ मूत्र में पूय बता देता है तो कितनी बड़ी सहायता रोग-निर्णय व परीक्षण में देता है आप समझ सकते हैं।

“इस पूय को उत्पन्न करने वाले जीवाणु (जर्म्स) निगेटिव हैं या पाजिटिव”

हा हन्त! जीवाणु कहीं पाजिटिव और निगेटिव होते हैं! यह किस चिकित्सा-विज्ञान की बात है? पूय को पाजिटिव या निगेटिव लिखते तो हमारी समझ में आप की ईमानदारी की बात भी आ जाती।

पुनः आप लिखते हैं।

“परन्तु पूय वृक्क से आती है, वृक्क के बस्तिगृह से आती है.....।”

यह वृक्क का बस्तिगृह क्या है?

यदि मान भी लें कि पाजिटिव और निगेटिव जर्म्स होते हैं तो भी इन के जानने की आवश्यकता क्या है?

आप के नव्य विज्ञान के उपासक इसे जान कर क्या करेंगे? वे तो पूय जान कर पेनिसिलिन का एटम बम छोड़ देंगे, आप का शरीर वेध कर रख देंगे, सल्फाम्प्र की दवा दे देंगे। अब नव्य विज्ञान में इस प्रकार की चर्चा करना बेकार है। (नव्य विज्ञान पर आप का कितना अधिकार है यह तो दूसरी बात है।) पाजिटिव-निगेटिव का आप क्या उपयोग करना चाहते हैं। नया विज्ञान तो आँख मूँद कर पेनिसिलीन देता है।

नाड़ी-विज्ञान से स्पष्ट रूप में बहुत कुछ बतलाया जाता है, और निर्भयता पूर्वक नाड़ी-यन्त्र द्वारा उसने चित्र लेने की प्रथा का आविष्कार किया है। अभी भी सन्तोष नहीं है, और यंत्र बन रहे हैं और वे भी इस की महत्ता सिद्ध कर के छोड़ेंगे और यांत्रिक नाड़ी-विज्ञान भी आप के हाथों में आ जायगा, देर थोड़ी ही है। अनुभवगत वैद्य जानते हैं और जानने की चेष्टा में हैं।

महोदय, रसतंत्र का भी आप अनुभव करें। केवल शक्ति के लिए ही पारद व स्वर्ण आदि की भरमें नहीं दी जाती। दो या अधिक वस्तुओं के मेल का विचित्र गुण होता है। यह अलग अध्ययन करने का विषय है। क्या आप ने विचारा है कि क्यों पारद, विष, काली मिर्च, सोंठ, सोहागा, गन्धक के योग से नना हुआ मृत्युञ्जय ज्वरशामक है और आनन्द भैरव रस क्यों अतीसार के वेग को रोकता है? यह आणविक संगठन का अचिन्त्य वीर्य है अथवा शक्ति संचय? अथवा दीपन है, पाचन है या प्राही?

ऋषियों के वाक्यों को समझिए।

तस्मात् बहुश्रुतं शास्त्रं विज्ञानीयात् विचक्षणः।

स्वास्थ्यमन्त्रीका आयुर्वेद के साथ सौतेला व्यवहार

सलाहकार बोर्ड के पुनर्गठन का झूठा आश्वासन

आयुर्वेद महामण्डल के प्रधानमंत्री का अनियमितताओं पर प्रकाश

❀

हैदराबाद, १६ मई—हैदराबाद राज्य आयुर्वेद महामंडल के प्रधान मन्त्री ने हैदराबाद सरकार के स्वास्थ्य विभाग द्वारा आयुर्वेद और वैद्य समाज की घोर उपेक्षा की कड़ी भर्त्सना करते हुए एक वक्तव्य में कहा है कि माननीय स्वास्थ्य मन्त्री की भेदपूर्ण नीति के कारण न केवल आयुर्वेद की दशा शोचनीय होती जा रही है वरन् राज्य की जनता को भी स्वास्थ्य विभाग से गहरी निराशा होती जा रही है। लोकप्रिय स्वास्थ्य मन्त्री की “कर्त्तव्य निष्ठा” के कुछ उदाहरण देते हुए आयुर्वेद महामण्डल के मन्त्री ने इस वक्तव्य के आगे बताया है कि—

(१) हैदराबाद राज्य आयुर्वेद महामण्डल के एक शिष्टमण्डल ने माननीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री फूलचन्द जी गांधी से मिलने के लिये ३ अगस्त सन् १९५० ई० को एक प्रार्थना पत्र भेजा था। बड़े प्रयत्न, परिश्रम और दौड़-धूप के बाद लगभग ८ महीने के अनन्तर गत २७ मार्च सन् १९५१ ई० को माननीय श्री स्वास्थ्य मन्त्री जी ने इस शिष्टमण्डल को भेंट का अवसर दिया। इस शिष्टमण्डल में है० रा० आ० महामण्डल के प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त दैनिक “मिलाप” के प्रबन्ध सम्पादक श्री युद्धवीर जी, श्री बाबा पूर्णदासजी महाराज, श्री सुब्बारावजी शास्त्री, तथा श्री गयाप्रसादजी शास्त्री थे। शिष्टमण्डल के सदस्यों ने आयुर्वेद की उन्नति के सम्बन्ध में अन्य अनेक सुझावों के साथ वर्तमान “आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड” के गठन पर आपत्ति प्रकट की, जिसका

निर्माण ४ एलोपैथ डाक्टरों और २ वैद्यों से हुआ है। इन दो वैद्यों में भी एक सज्जन गवर्नमेण्ट सर्विस में हैं और दूसरे महानुभाव अपने आप को वैद्य कहने की अपेक्षा डाक्टर कहने में अधिक गौरव अनुभव करते हैं। शिष्टमण्डल की आपत्ति पर माननीय स्वास्थ्य मन्त्री ने यह वचन दिया था कि पुराना “आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड” विघटित कर दिया गया है और भविष्य में नया बोर्ड आयुर्वेद की उन्नति के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देगा। इसके साथ ही स्वास्थ्य मन्त्री ने पं० गयाप्रसादशास्त्री को यह आदेश दिया कि वे यथासम्भव शीघ्र “आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड” का विधान (नियमावली) बना कर दें। यह विधान अप्रैल १९५१ के तीसरे सप्ताह में स्वास्थ्य मन्त्री को दे दिया गया। किन्तु आश्चर्य तथा खेद तो यह है कि स्वास्थ्य मन्त्री ने अपने वचनों की रक्षा न करके उसी विघटित बोर्ड को फिर से जीवन-दान देकर १८ मई को आयुर्वेदिक कालेज तथा आयुर्वेदिक विभाग से सम्बन्धित संस्थाओं के लिए वैद्यों की नियुक्ति का काम सौंपा है जो आयुर्वेद तथा वैद्य समाज का प्रतिनिधित्व किसी भी रूप में नहीं कर सकता है। यहां यह बतलाना आवश्यक है कि इस बोर्ड का प्रेसीडेण्ट, एलोपैथ डाक्टर, सेक्रेटरी एलोपैथ डाक्टर, मेम्बर एलोपैथ डाक्टर, आयुर्वेद विभाग का चीफ सुपरिन्टेण्डेंट एक एलोपैथ डाक्टर है, फिर भी इस बोर्ड का नाम “आयुर्वेदिक एडवाइजरी बोर्ड” है। इस अन्धेर और

तानाशाही का परिणाम यह हुआ है कि गत मार्च और अप्रैल, दो महीनों में आयुर्वेद विभाग से पांच ऐसे वैद्यों को किसी अपराध या दोष को प्रमाणित बिना पृथक् कर दिया गया है। इन वैद्यों की सेवायें ७ वर्ष से लेकर १० वर्ष तक की थीं। इन वैद्यों को किसी प्रकार की भी पेन्शन या मुआवजा नहीं दिया गया है। एक ओर आयुर्वेद विभाग से उसके पुराने सेवकों को निकाला जा रहा है, दूसरी ओर अपनी टोली के लोगों का पेट पाला जा रहा है। यही दशा आयुर्वेद विभाग के अनुदान के सम्बन्ध में भी है। कुछ लोगों का अनुदान बन्द किया जा रहा है और कुछ लोगों में बांटा जा रहा है। फलतः आज जब अन्य राज्यों में सर्वत्र आयुर्वेद की उन्नति के लिये उसके योग्य मन्त्री सब कुछ कर रहे हैं, हैदराबाद में एक लोकप्रिय मंत्री की छत्रछाया में अन्धेर-गद्दी मची हुई है।

(हि० मि०)

राजस्थान में शिक्षण-शिविर

राजस्थान आयुर्वेद सेवा मण्डल की विशेष बैठक में आयुर्वेद शिक्षण-शिविर की योजना स्वीकृत कर ली गई। इस शिविर में १५ दिन तक वैद्यों को आयुर्वेदीय विषयों की विशेष रचनात्मक शिक्षा दी जायेगी। इसमें भाग लेने वाले वैद्यों को शीघ्र अपना स्थान रिजर्व कराने का आवेदन पत्र मंगवा लेना चाहिये।

भारत के अनेक प्रसिद्ध विशेषज्ञ वैद्य तथा डाक्टर भाषण देने को निमंत्रित किये जा रहे हैं। आवेदन-पत्र मंगाने का पता—प्रधान मन्त्री राजस्थान आयुर्वेद सेवा मण्डल, ओजदू, पो० चिड़ावा (राजस्थान)। नेत्र रोगी सेवासंघ चिड़ावा (राजस्थान) की बैठक चिड़ावा (डाक से) नेत्र रोगी सेवासंघ की

काय समिति की बैठक में विगत अधिवेशन की रिपोर्ट पढ़कर सुनाने के बाद श्री सेठ वसन्तलाल बनारसीलाल सेक्सेरिया को एक प्रस्ताव द्वारा धन्य-वाद दिया गया कि उन्होंने उदारता पूर्वक “नेत्रदान यज्ञ” इस्लामपुर, केम्प का सारा कार्य भार वहन किया। तदनन्तर आगामी नेत्रदान यज्ञ के लिये आये हुए प्रार्थना पत्रों पर विचार हुआ जिसमें लुहार, बड़ागांव और मोड़की में से किसी एक स्थान को चुनने तथा अर्थ संचय के लिए एक उपसमिति बनाई गई। तारीखें शीघ्र घोषित कर दी जायेंगी।

उज्जैन जिला आयुर्वेद मण्डल

उज्जैन (डाक से) उज्जैन जिला आयुर्वेद मंडल का प्रथमाधिवेशन आयुर्वेदाचार्य पं० वासुदेव जी शास्त्री मेहता प्रिन्सिपल “अवन्तिका आयुर्वेद महा-विद्यालय” की अध्यक्षता में समारोहपूर्वक सुसम्पन्न हुआ। उस समय सर्वसम्मति से अध्यक्ष महोदय को अपनी कार्य समिति बनाने का सम्पूर्ण अधिकार दिया गया था। तदनुसार माननीय प्रधानाध्यक्ष महोदय ने अपनी कार्यसमिति एवं पदाधिकारियों की घोषणा निम्नानुसार की है। उपाध्यक्ष-आयुर्वेद व्याकरण साहित्याचार्य पं० गोपीकृष्ण जी शास्त्री तथा पं० मन्नू लाल जी जोशी। प्रधान मंत्री आयुर्वेदाचार्य श्रीकृष्ण चन्द्र जी पिण्डावाला ए० एम्० एस्०, संयुक्त मंत्रिद्वय-आयुर्वेदाचार्य डॉ० रामदत्त जी तिवारी ए० एम्० एस्० व आयुर्वेदाचार्य पं० वसन्ती लाल जी शास्त्री “विक्रम”। प्रचार मंत्री आयुर्वेदालंकार ज्योतिष-तीर्थ पं० काशीनाथ जी शर्मा शास्त्री आर० एम्० पी०। कोषाध्यक्ष श्री रमणीकलाल जी शाह वैद्य। कार्यालय मंत्री-आयुर्वेदाचार्य पं० रघु-नन्दन जी शर्मा। कार्य समिति के सदस्य वैद्य भैरव

१०७८

सचित्र आयुर्वेद, जून, १९५१

शंकर जी उज्जैन, डा० रामेश्वर दयाल जी तथा वैद्य विष्णु कुमार जी बड़नगर, वैद्य विनायक हरी-शास्त्री महत्पुर श्री रामचन्द्र जी वैद्य तराना के नामों की घोषणा हुई। शेष नाम कार्य समिति की बैठक में घोषित किये जायेंगे। उज्जैन जिला के समस्त वैद्य बन्धुओं से निवेदन है कि जो सज्जन अभी तक जिला आयुर्वेद मण्डल के सदस्य नहीं बने हों वे जिला आयुर्वेद मण्डल कार्यालय नई पेट उज्जैन से सदस्यता पत्र एवं नियमादि मंगाकर सदस्य बन जायें।

—मन्त्री

नेपाल वैद्य सम्मेलन

गत ३० अप्रैल को काठमाण्डू में वैद्य शारदानन्द जी के नायकत्व में नेपाल के वैद्यों की एक सार्वजनिक सभा हुई जिस में उपस्थित वैद्यों की सम्मति से स्थायी रूप में नेपाल वैद्य सम्मेलन की स्थापना की गयी।

—वैद्य ने० चि० पद्मश्री वज्र

१०००) एक सहस्र मुद्रा पुरस्कार

श्री लाला मदनमोहन लाल आयुर्वेदिक अनुसन्धान पीठ की कार्यकारिणी समिति ने निश्चय किया है कि प्रति वर्ष किसी निर्धारित आयुर्वेदीय विषय पर आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से सरल हिन्दी अथवा संस्कृत में सर्वश्रेष्ठ गवेषणात्मक ग्रंथ लिखने वाले विद्वान को पुरस्कृत कर सम्मानित किया जाय।

इस वर्ष के लिये ग्रन्थ का विषय रखा गया है शरीर क्रिया विज्ञान (Physiology)। ग्रन्थ का आकार फुलस्केप साइज में टाइपस्क्रिप्ट ५०० पृष्ठ के लगभग हो। आवश्यक चित्रों का समावेश अपेक्षित है। प्रतियोगियों को अपनी-अपनी रचना की ४ प्रतियाँ भेजनी हैं। प्रथम पुरस्कार की प्रतियोगिता के

लिये रचनायें १९५२ की वसन्त पंचमी तक निम्न संकेतपर आ जानी चाहिये।

अनुसन्धान पीठ की विद्वदपरिषद् (Academic Council) के तीन सदस्य रचना की श्रेष्ठता का निर्णय करेंगे।

मन्त्री—कार्यकारिणी समिति

१०१८ कनाट सरकस, नई देहली

श्री देवी सम्पद मंडल धर्मार्थ औषधालय, कन्नौज का संक्षिप्त परिचय।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी द्वारा कथित श्री मद्भगवत्गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित देवी सम्पदा के आधार पर तथा श्री गीता जी के 'सर्व भूत हिते रतः' के व्यापक सिद्धांत पर श्री देवी सम्पद मंडल की स्थापना ब्रह्मलीन निर्वाण पद प्राप्त परमहंस परित्राजकाचार्य श्री १००८ श्री स्वामी एकरसानन्द जी सरस्वती के द्वारा हुई। उनके जीवन काल से ही उनके उपदेशानुसार अनेकों स्थानों पर सतसंग मंडल स्थापित होकर चल रहे हैं। उनके निर्वाण पद प्राप्ति के पश्चात् उनके सुयोग्य शिष्य श्री १०८ श्री स्वामी शुक्रदेवानन्द जी महाराज मुख्या-आश्रम शाहजहाँपुर तथा श्री १०८ श्री स्वामी भजानन्द जी महाराज श्री एकरसानन्दाश्रम मैनपुरी, भारत के विभिन्न प्रान्तों में धूम २ कर प्रचार कर रहे हैं।

मंडल की ओर से भिन्न-भिन्न स्थानों में ब्रह्मचर्य विद्यालय, औषधालय, सतसंग मंडल, स्थापित होकर जनता की सहायता से उसकी सेवा कर रहे हैं।

श्री देवी सम्पद सतसंग मंडल की एक शाखा ब्रह्मलीन पूज्य श्री गुरुदेव की आज्ञानुसार कन्नौज भी सम्बत १९८१ में श्री १०८ श्री स्वामी नारदानन्द जी सरस्वती के प्रयत्नों से स्थापित हुई। लाला 'परहित परोपकार सर्वभूत हिते रताः' के उपदेशों को सुनकर मंडलके सदस्यों के हृदय में धर्मार्थ और

आयुर्वेद जगत

१०७६

वितरण द्वारा जनता जनार्दन की सेवा करने का भाव उदय हुआ।

अस्तु, उपरोक्त निश्चयानुसार १८ सितम्बर सन् १९३१ को श्री दैवीसम्पद मंडल धर्मार्थ औषधालय का उद्घाटन हुआ। कुछ समय तक व्ययका भार मंडल के सदस्यों पर ही रहा। रोगियों की संख्या वृद्धि होने पर नगर के सभी धनी उदार सज्जनों ने औषधालय की यथा शक्ति सेवा सहायता की और करते रहते हैं। औषधालय की ओर से प्रति वर्ष सदस्यों की संख्या में जाति भेद रहित सभी लोगों को समान भाव से सेवा देख कर नगर के विशेष २ व्यक्तियों की एक संरक्षण समिति स्थापित की गई। साथ ही म्यूनिस्त्रिपलबोर्ड द्वारा (२५) इंडियन मेडिसन बोर्ड द्वारा (१२५) तथा प्रांतीय सरकार की ओर से (३५०) की सहायता प्राप्त हो रही है। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा (१०५॥=) की औषधि प्राप्त हुई।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों की इस अनुकम्पा के लिए रोगी व औषधालय उन के आभारी रहेंगे। उन के द्वारा प्रेषित दवाइयों का प्रयोग निर्धन जनता-जनार्दन पर ही किया जायगा। उन की व उन के द्वारा आयुर्वेद की निरन्तर उन्नति हो ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है और कामना है कि वे हमारे ऊपर ऐसी ही अनुकम्पा बनाये रखेंगे।

१ अक्टूबर सन ४६ से ३० सितम्बर स० ५० तक की रोगियों की संख्या निम्न लिखित है।

नम्बर वार्षिक

नम्बर दैनिक

८४०१

२६१५६

पुरुष ८६४० स्त्री ८१८७ बालक १२३३२

वैद्य शिक्षण-शिविर रानी खेत

पैरा ४ के अन्तर्गत रजिस्ट्रेशन के आवेदनकर्ता
वैद्यों का शिक्षण-शिविर ता० १५ अप्रैल, ५१ से

प्रारम्भ होकर ता० १३ मई ५१ के दिन समाप्त हुआ। इस अवसर पर प्रान्त के डिप्टीडाईरेक्टर श्रीमान् द० अ० कुलकर्णी महोदय ने प्रमाणपत्र प्रदान किये। निकट भविष्य में पुनः शिक्षण-शिविर रानीखेत में ही खोलने का आयोजन किया गया है। इसमें भाग लेने का शुल्क २५) लिया जायगा। भोजनव्यय इसके अतिरिक्त होगा, निवास-प्रकाश, जल-स्वच्छता तथा सामान्य प्रबन्ध इस शुल्क के अन्तर्गत होगा। आगामी शिक्षण का समय ५ सप्ताह (३५) दिन का रक्खा गया है। जो वैद्य-वन्धु इसमें भाग लेना चाहें वे जुलाई के प्रथम सप्ताह तक "संचालक" वैद्य शिक्षण-शिविर, रानीखेत (अल्मोड़ा) को पत्र लिख कर अपने लिये स्थान सुरक्षित करा लें। प्रत्यक्ष-शारीर; सूची-वेध; (इंजेक्शन); कूपी पक रस निर्माण; वनौषधि विज्ञान; यन्त्र विधि; घृत-तैल-पाक निर्माण की क्रियात्मक शिक्षा दी जायगी, निवास तथा भोजन का सामूहिक प्रबन्ध होगा, शिविर के बाहर रहने की अनुमति नहीं दी जावेगी।

कविराज भोलादत्त पाण्डेय, आयुर्वेद शास्त्री
एम० आर० ए० एस० रानीखेत (हिमालय)

भूल सुधार

'सचित्र आयुर्वेद' के गत अप्रैल के अंक में विद्वद्रत्न के० एल० दफ्तरी का लेख 'अष्टांग संप्रहसूत्रस्थान अध्याय बारह में वाहट क्या कहता है' छपा था। उस में पृष्ठ ६१७ पर पंक्ति १६ में 'अन्य' की जगह 'अमु' छप गया है। पाठक कृपया सुधार कर पढ़ें।

ALL INDIA AYURVEDIC CONGRESS.

Boards of Indian systems of Medicine are being set up in various States of India but in the absence of any co-ordination amongst them and their being not under one controlling institution there are arising differences in objects, rules and regulations of these boards and seeds of mutual discord have begun to appear even at this stage.

The Governing Council of the Ayurvedic Congress strongly believes that these boards, although a step forward to-wards the progress of Ayurveda, are becoming a source of great dissension in the Ayurvedic world. Through these boards, a sense of discord regarding the standard of Ayurvedic education, knowledge and treatment amongst the practitioners of various States is being created, which is very harmful in the interest of the Science of Ayurveda.

Consequently, it is becoming difficult for a Vaidya of one State to practice in another State and on account of the difference in the standard of education, one Vaidya of a State shall be finding difficulty in exchange of views with a vaidya of another State.

Keeping in view such and other difficulties of the same nature, the Governing Council of the Ayurvedic Congress urges upon the Government of India that immediately a central Directorate of Ayurveda as a Central Board may be established without any delay which shall regulate the rules of registration of the Vaidyas and create co-ordination and similarity of the Ayurvedic teaching and research all over India. This Central Board shall determine the fundamentals of policy in the matter of Ayurvedic practice and teaching and the Provincial Boards shall follow the same. The State Board shall work, according to their special conditions and circumstances but within the principles chalked out by the Central Board. Moreover, the Central Board shall consist of the representatives of the State Boards. Further, a common register should be maintained of all the Ayurvedic practitioners of Bharat.

(मूल अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद)

भारत के कई राज्यों में भारतीय वैद्यक पद्धति के बोर्ड स्थापित किये जा रहे हैं, किन्तु उनमें एकीकरण का सर्वथा अभाव है और एक सुनियमित संस्था की देखरेख में उनका संचालन नहीं होता। इस कारण उनके उद्देश्यों, नियमों और तरीकों में बड़ा विभेद उठ रहा है—यहां तक कि उन बोर्डों के पारस्परिक फूट के बीज भी अंकुरित होने लगे हैं।

आयुर्वेदिक कांग्रेस की कौंसिल का यह दृष्टिकोण विश्वास है कि ये ही बोर्ड आयुर्वेद जगत में कलह एवं मतभेद के मूल कारण बनते जा रहे हैं, हालांकि आयुर्वेद के उत्थान में इन बोर्डों की स्थापना आगे की ओर एक कदम कही जा सकती है। इन बोर्डों के द्वारा आयुर्वेदिक शिक्षा, ज्ञान एवं उपचार सम्बन्धी मान (स्टैण्डर्ड) के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों के चिकित्सकों में एक विरोध की भावना उत्पन्न होती रही है, जो आयुर्वेद-शास्त्र के लिये अहितकर है।

फलतः एक राज्य के वैद्य के लिये दूसरे राज्य में जाकर चिकित्सा कार्य करना कठिन होता जा रहा है। शिक्षा के मान (स्टैण्डर्ड) में भिन्नता होने के कारण ही एक राज्य के वैद्य को दूसरे राज्य के वैद्य के साथ विचार-विनिमय करने में कठिनता प्रतीत होती है।

उपर्युक्त बातों और इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयों को दृष्टि में रखते हुए आयुर्वेदिक कांग्रेस की कौंसिल भारत सरकार से जोरदार अपील करती है कि वह केन्द्रीय बोर्ड के रूप में एक केन्द्रीय निदेशक बोर्ड की अविलम्ब स्थापना करे, जिसका काम वैद्यों के रजिस्ट्री सम्बन्धी नियमों का पालन और अखिल भारतीय आधार पर आयुर्वेदिक शिक्षण और अनुसंधान के कार्यों का संचालन करना होगा। आयुर्वेदिक चिकित्सा और शिक्षण सम्बन्धी नीति के आधारभूत बातों का निर्णय केन्द्रीय बोर्ड ही करेगा और उसका अनुसरण प्रान्तीय बोर्ड करेंगे। केन्द्रीय बोर्ड द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के दायरे में ही राज्य के बोर्ड अपनी-अपनी अवस्था और स्थिति के अनुसार कार्य करेंगे। केन्द्रीय बोर्ड में राज्य के वैद्यों के प्रतिनिधि ही रहेंगे। आगे कौंसिल ने सिफारिश की कि एक ऐसी बही रक्खी जाय जिसमें भारत समस्त आयुर्वेदिक चिकित्सकों का विवरण हो।

वैद्यनाथ भस्मों को श्रेष्ठता

अब तो यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि वैद्यनाथ भस्मों सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम होती हैं। हमारी भस्मों ठीक उसी प्रकार तत्काल लाभ करती हैं जैसे इन्जेक्शन लाभ करता है। इसका यह कारण है कि हमारे यहाँ रसायन और भस्म बनाने के लिए रसायनशाला एक छोटे-से गाँव में है, जहाँ रसायन और भस्म बनाने के लिए सब तरह की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इस जगह जंगल के कण्डे (वन्योपल, गोंडों) हजारों मन आसानी से मिलते हैं और मजदूरी भी सस्ती है। यहाँ से सब से नजदीक का रेलवे स्टेशन २४ मील पर है। स्टेशन पर भी पत्थर के कोयलों की बिक्री नहीं होती। इस पर देहात में बिजली या गैस का कोई प्रश्न ही नहीं। अतः शुद्ध आयुर्वेदीय पद्धति से भस्म और कूपीपक्व-रसायन बनाने का जैसा स्वतन्त्र सुप्रबन्ध हमारे यहाँ है, वैसा भारतवर्ष में किसी के यहाँ नहीं है। इस रसायनशाला के अध्यक्ष अत्यन्त उद्योग्य वैद्य हैं, जो पारद के संस्कार और भस्मों के निर्माण की विशेषता के लिए भारत में प्रसिद्ध हैं। निरीक्षण कार्य स्वयं मालिक करते हैं। इस प्रकार वैद्यनाथ रसायन और भस्मों सर्वश्रेष्ठ तैयार होकर हमारे कलकत्ता, पटना, भाँसी और नागपुर के कार्यालयों में जाकर, पैक होकर तथा सील मोहर लगाकर एजेंटों के पास बिक्री के लिए भेजी जाती हैं। भस्मों जितनी पुरानी होती हैं उतनी ही ज्यादा गुणकारी होती हैं। हमारे यहाँ वजन में मनो भस्मों एक साथ तैयार होती हैं और पुरानी होने पर ही बिक्री की जाती हैं। कई दूसरे प्रतिष्ठित औषध-निर्माता भी हैं जो भस्मों अच्छी बनाते हैं, परन्तु उनके मूल्य बहुत ज्यादा होने के कारण अमीर लोग ही खरीद सकते हैं, साधारण जनता नहीं। इसके विपरीत कई औषध निर्माता बहुत ही सस्ते भाव में भस्मों बेचते हैं, जो किसी भी हालत में विश्वसनीय नहीं हो सकतीं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा बनायी हुई भस्मों उत्तम श्रेणी की होने पर भी मूल्य में अधिक नहीं है। थोड़ा सा अधिक मूल्य देकर आप वैद्यनाथ भस्मों खरीद कर निश्चित रूप से फायदा उठायेंगे। हम आपको गारण्टी देते हैं कि वैद्यनाथ भस्मों निश्चित रूपसे फायदा दिखलाती हैं और माँ के दूध की तरह निर्दोष होती हैं। ये वैद्यनाथ भस्मों डालकर बनाये गये हमारे यहाँ के रस भी पूर्ण गुणकारी होते हैं।

हमारा यह नम्र दावा है कि जितने अधिक प्रकार के आयुर्वेदीय औषधकल्पों का निर्माण श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा होता है उतने अधिक प्रकार के कल्प अन्य कोई नहीं बनाता। साथ ही, स्वल्प मूल्य में अधिक गुण की दृष्टि से भी वैद्यनाथ दवाएँ सर्वोत्तम ठहरती हैं।

वैद्यनाथ भस्मों के बारे में अधिक जानकारी हासिल करने के लिए हमारे यहाँ से प्रकाशित "रस-भस्मों की से वन-विधि" नाम की पुस्तक पढ़नी चाहिए। यह पुस्तक हमारे सभी एजेंटों के पास मिलेगी।

इस वर्ष 'सचित्र आयुर्वेद' के ग्राहकों की सेवा में कुछ वैद्यनाथ भस्मों के नमूने भेजे गये थे। मार्ग व्यय भेज कर अन्य वैद्य-बन्धुओं ने भी ये नमूने मँगाये थे। उनके आग्रह पर हम यहाँ कुछ प्रमुख वैद्यनाथ भस्मों के नाम तथा निर्माण-प्रक्रिया के अनुसार उन के प्रमुख गुण-धर्म का उल्लेख कर रहे हैं।

अकीक भस्म—यह भस्म हृदय की निर्बलता, नेत्ररोग, रक्तप्रदर, रक्तपित्त आदि रोग दूर कर शरीर को बलवान बनाती तथा थूक के साथ रक्त आने को रोकती है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥१-), चार आना भर ॥३-

अभ्रक भस्म—हिमालय पर्वत के बज्राभ्र से बनायी गई है। हृदय, फेफड़े, यकृत, स्नायु और मन्दाग्नि से उत्पन्न रोगों की सुप्रसिद्ध दवा है। क्षय, खाँसी, श्वास, रक्ताल्पता, अम्लपित्त, संग्रहणी, पांडु, धातु-दौर्बल्य, हृदयदौर्बल्य, घुसृष्टत्वहीनता आदि में निश्चित फल दिखलाने वाली महौषध है। सहस्रपुटी कीमत—१ तोला ६४), चार आना भर १६-), दो आना भर ८-), एक आना भर ४-); शतपुटी १ तोला ६), चार आना भर २१-), दो आना भर १३-), एक आना भर ॥२-), साधारण १ तोला १॥२-), आठ आना भर ॥॥२-), चार आना भर ॥३-॥

कर्पूरक भस्म—पेट का दर्द, परिणामशूल, अम्लपित्त और अग्निमांद्य में यह बहुत गुण करती है। कीमत—१ तोला ॥), आठ आना भर १-)

कहरवा (तृणकान्त मणि) पिष्टी—कीमत—१ तोला १६, चार आना भर ४-), दो आना भर २-), एक आना भर १-)

काशीस भस्म—पांडु, रक्त की कमी, क्षय, तिछी, लीवर बढ़ जाना, आम विकार, उदर रोग, गुल्मशूल, नेत्र-विकार आदि रोगों के लिए बहुत ही उपयोगी है। रक्ताल्पता की अमोघ औषध है। कीमत—१ तोला ॥), आठ आना भर १-)

जहर मोहरा खताई पिष्टी—यह पिष्टी हृदय एवं दिमाग को बल देनेवाली तथा विषनाशक है। अजीर्ण, वमन (कै), दाह (जलन), हैजा, अतिसार एवं यकृत-विकार, दिलकी घबड़ाहट, जीर्णज्वर, बालकों के हरे-पीले दस्त एवं सूखा रोग में इसका सेवन अति लाभदायक है। भस्म से पिष्टी मातदिल है। कीमत—१ तोला १), आठ आना भर ॥२-), चार आना भर १-)

जहर मोहरा खताई भस्म—गुण उपर्युक्त पिष्टी के समान। कीमत—१ तोला १, आठ आना भर ॥२-), चार आना भर १-)

ताम्र भस्म—शत प्रतिशत विशुद्ध ताम्बे से बनाई गई है। उदर-रोग, यकृत, प्लीहा, शूलोमन्दाग्नि, अम्लपित्त, शोथ, कुष्ठ, हिचकी, मांसाबुद और गुदों के विकार आदि रोगों की मानी हुई दवा है। कलंति-भ्रांति नहीं करती। कीमत—१ तोला ३॥), आठ आना भर १॥३-), चार आना भर ॥२-)

प्रवाल भस्म—पित्त की अधिकता से होनेवाले रोगों की खास दवा है। राजयक्ष्मा, पिचज रक्तपित्त, वृणारोग, ज्वर, प्रमेह, प्रदर आदि में पूर्ण लाभ करती है। दिल की कमजोरी को मिटाने की खास दवा। उत्तम केलशियम है। कीमत—१ तोला २), आठ आना भर १-), चार आना भर ॥२-)

प्रवाल पिष्टी—भस्म की अपेक्षा यह पित्त-शामक और सौम्य होने के कारण पित्तयुक्त शुष्क

[ग]

रक्तप्रदर, रक्तपित्त, प्रमेह, अम्लपित्त, आँख की जलन, अनिद्रा, उन्माद और वमन आदि में विशेष लाभदायक है। इसी को प्रवाल भस्म सूर्यपुटित भी कहते हैं। कीमत—१ तोला २), आठ आना भर १-), चार आना भर ॥८)

प्रवाल भस्म (चन्द्रपुटित)—गुण-धर्म प्रवाल पिष्टी के समान है। इसमें पित्तशामकता और शीतलता विशेष है। कीमत—१ तोला २=), आठ आना भर १=), चार आना भर ॥९)

वज्र भस्म—धातुस्त्राव से पैदा होनेवाले सभी रोग इससे शर्तिया अच्छे होते हैं। यह वीर्य को बढ़ाती और शुद्ध एवं गाढ़ा करती है। नपुंसकता मिटाती और शरीर पुष्ट करती है तथा मूत्राशय की दुर्बलता को नष्ट करती है। कीमत—१ तोला २॥), आठ आना भर १॥-), चार आना भर ॥३)

विमल भस्म—पांडु, कामला, क्षय, संप्रहणी, बवासीर, भगन्दर आदि रोगों में रक्त की कमी की पूर्ति कर शरीर को नीरोग बनाने में उत्तम है। कीमत—१ तोला १॥), आठ आना भर ॥॥-), चार आना भर ॥३)

मण्डूर भस्म—हमारी रसायनशाला के पास हजारों मन मण्डूर पड़ा हुआ है। प्राचीन काल में वहाँ लोह बनता था। सौभाग्य से इतना पुराना मण्डूर हम को बिना मूल्य प्राप्त है। यह मण्डूर निश्चय ही १०० वर्ष से ज्यादा पुराना है। यकृत रोग, पांडु, कामला, रक्ताल्पता, मन्दाग्नि, संप्रहणी आदि की दिव्यौषध है। ऐसी सस्ती और सर्वोत्तम मण्डूर भस्म शायद ही दूसरी जगह मिलेगी। कीमत—१ तोला ॥=), आठ आना भर ॥=), चार आना भर ॥=)॥

मधुमण्डूर भस्म—पांडु रोग, रक्ताल्पता, यकृत-विकार आदि पर विशेष लाभकारी है। कीमत—१ तोला २=), आठ आना भर १=), चार आना भर ॥-)॥

मुक्ताशुक्ति भस्म—यह भी मुक्तापिष्टी के समान ही लाभदायक हैं। कीमत—१ तोला १॥=), आठ आना भर ॥॥=), चार आना भर ॥३)॥

मुक्ता भस्म (चन्द्रपुटित)—गुण और उपयोग में मोती भस्म के समान है। विशेषता में पित्त-शामकता और शीतवीर्यता अधिक है। कीमत—१ तोला ८५), दो आना भर १०॥३), एक आना भर ५॥=), दो पैसा भर २॥३)॥

मोती भस्म—दिल और दिमाग को पुष्ट करने की बेजोड़ दवा है। यह सौम्य और शीतवीर्य है। नाक, मुँह, मलद्वार, और गर्भाशय से गिरनेवाले रक्त को बन्द करती है। कीमत—१ तोला ५०), दो आना भर ६॥-), एक आना भर ३॥=), दो पैसा भर १॥=)

मोती भस्म न० १—मोती भस्म से यह विशेष गुणयुक्त है। कीमत—१ तोला ८०), दो आना भर १०-), एक आना भर ५-), दो पैसा भर ॥॥-)

मोती पिष्टी सर्वोत्तम नं० १—१ तोला ७६), दो आना भर १॥—), एक आना भर ४॥—), दो पैसा भर २॥—)

मोती पिष्टी—१ तोला ४६), दो आना भर ५॥—), एक आना भर २॥—), दो पैसा भर १॥—)

यशद भस्म—यह कफ-पित्त-शामक है। नेत्र-रोग, दाह, प्रदर, पित्तज प्रमेह, खांसी, अतिसार, संग्रहणी, क्षय, पाण्डु, जीर्ण ज्वर आदि रोगों में लाभदायक है। कीमत—१ तोला १॥, आठ आना भर ॥—), चार आना भर ॥—)

रौप्य (चाँदी) भस्म—प्रमेह, धातुदौर्बल्य, उन्माद, हिस्टीरिया, क्षय, नपुंसकता, शोथ, यकृत और प्लीहा का बढ़ना आदि में विशेष लाभकारी औषध है। वात और पित्त के विकारों को शमन करती है। आयुर्वर्द्धक और पुष्टिकारक है। उदर की वायु-विकृति में अत्यन्त लाभ करती है। कीमत—१ तोला ६), चार आना भर १॥—), दो आना भर ॥—), एक आना भर ॥—)

लोह भस्म—खून को बढ़ा कर सभी धातुओं को बढ़ाना इसका मुख्य गुण है। रक्त की कमी के तमाम रोगों में शर्तिया लाभ करती है। यकृत, प्लीहा, उदर रोग, पाण्डु, कामला, कृमिरोग, शोथ, मन्दाग्निमूलक रोग, ज्वर आदि अनेक रोगों में अच्छा लाभ करती है। आयुर्वृद्ध की भस्मों में यह सब से अधिक काम में आने वाली भस्म है। कीमत—१ तोला १॥, आठ आना भर ॥—), चार आना भर ॥—)

लोह भस्म शतपुटी—कीमत—१ तोला ६), चार आना भर २॥—), दो आना भर १॥—), एक आना भर ॥—)

लोह भस्म सहस्रपुटी—कीमत—१ तोला ६०), चार आना भर १५—), दो आना भर ७॥—), एक आना भर ३॥—)

लोह सार—लोह भस्म साधारण की अपेक्षा यह विशेष गुणकारी है। कीमत—१ तोला २॥, आठ आना भर १॥—), चार आना भर ॥—)

कान्त लोह भस्म—कान्त लोह सब लोहों में श्रेष्ठ होता है। इसलिये लोह भस्म के पूर्ण विकसित गुण इसी में होते हैं। कीमत—१ तोला ७॥, चार आना भर १॥—), दो आना भर १॥—), एक आना भर ॥—)

शङ्ख भस्म—यकृत, तिली, उदर के विकार, आमांश, संग्रहणी, पेट दर्द, अम्ल-पित्त, गुल्म, अजीर्ण आदि में विशेष उपयोगी है। नेत्र के फूले में इसके अंजन से लाभ होता है। कीमत—१ तोला ॥—), चार आना भर ॥—), दो आना भर ॥—)

शृङ्ग भस्म—निमोनिया, हृदयशूल, पार्श्वशूल और क्षयजकास में विशेष लाभ करती है तथा बालक की हड्डी बनाने में सहायक है। कीमत—१ तोला ॥—), आठ आना भर ॥—), चार आना भर ॥—)

[६]

स्वर्ण भस्म — जीर्ण ज्वर, राजयक्ष्मा, हृदयरोग, कास-श्वास, अशक्ति, दुर्बलता, उन्माद, मन्दामि, संप्रहणी आदि की महोषध है। यह दिमाग को पुष्ट करके मानसिक रोगों को नष्ट करती है। नपुंसकता के लिये अमृत है। रसायन और बाजीकरण में मुख्य है। कीमत—१ तोला १५६), दो आना भर १६॥—) एक आना भर ६॥॥—), दो पैसा भर ४॥॥—), १ रत्ती भर १॥॥—)

स्वर्णमाक्षिक भस्म—नींद न आना, दिमाग की कमजोरी, पित्तविकार, हृदय की दुर्बलता, पाण्डु, प्रदर तथा प्रमेहनाशक एवं खून बढ़ाने में अति उपयोगी है। सभी बाल-रोगों में हितकर है। सुकुमार प्रकृति वालों के लिये विशेष लाभदायक है। कीमत—१ तोला १॥, आठ आना भर ॥॥—), चार आना भर ॥—)

हजरुलयहूद भस्म—यह पथरी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में देने से पथरी को गला कर बहा देती है, पेशाब साफ़ लाती है और मूत्रकृच्छ्र, पेशाब में जलन आदि को दूर करती है। कीमत—१ तोला ॥॥—), आठ आना भर ॥—), चार आना भर ॥॥—)

हरिताल (गोदन्ती) भस्म—ज्वर, सर्दी, खाँसी, जुकाम, सिरदर्द, मलेरिया बुखार आदि में विशेष लाभ करती है। इन्फ़्लुएन्जा की अनुभूत दवा है। कीमत—१ तोला ॥—), आठ आना भर ॥—)

१ तोला, ॥) भर, ॥ भर

कांस्य भस्म ॥॥—) ॥॥॥ ॥॥॥

खर्पर भस्म ॥॥—) ॥॥ ॥॥

तीक्ष्ण लौह भस्म ५॥—) २॥॥—) १॥॥—)

दो आना भर ॥॥॥॥

त्रिवङ्ग भस्म २॥॥ १॥—) ॥॥—)

नाग भस्म २—) १—) ॥—॥

पन्ना भस्म १६) ४—)

—) भर २—) —) भर १—)

१ तोला, ॥) भर, ॥ भर

पीतल भस्म ॥॥—) ॥॥ ॥॥

वेकान्त भस्म १६) ४—)

—) भर २—) —) भर १—)

मयूरचन्द्रिका भस्म ३—) १॥—) ॥॥—)

माणिक्य भस्म १६) ४—)

—) भर २—) —) भर १—)

मुक्ताशुक्ति पिष्टी १॥॥ ॥॥—) ॥॥—)

रौप्यमाक्षिक भस्म ॥॥॥ ॥॥॥ ॥॥॥

व्यवस्थापक :

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झाँसो : नागपुर ।

डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत

मानसरोग-विज्ञान

[प्रथम खण्ड]

पर

भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा राष्ट्रनेता

महामान्य विहार-गवर्नर श्री माधव श्रीहरि अणे

की

सम्मति

डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत मानसरोग-विज्ञान का प्रथम खण्ड श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता ने सम्मत्य भेजा है। इस ग्रन्थ में डा० पाठक ने भारतीय दार्शनिकों तथा आयुर्वेद शास्त्र के मूल लेखकों द्वारा निरूपित, मानसशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इन सिद्धान्तों की तुलना उन्होंने जेम्स, फ्रायड, जोड तथा अन्य पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों के साथ की है। मन और उस की क्रियाओं के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के विचारों को एकत्र प्रस्तुत करने का जो सत्प्रयत्न उन्होंने किया है, वह सचमुच कठिन परिश्रम और आलोचनात्मक अध्ययन का प्रतिफल है। कारण, संस्कृत वाङ्मय में मानस शास्त्र पर लिखा हुआ कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है; इस विषय का समस्त ज्ञान सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग और मोमांसा के विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों तथा उन पर की गयी टीकाओं में बिखरा पड़ा है। डा० पाठक ने बड़ी ही सतर्कता के साथ चरक और सुश्रुत की प्रामाणिक संहिताओं का सूक्ष्म विवेचन किया है, जो कि यथार्थ ही आयुर्वेदीय पद्धति के प्रवर्तकों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस एक ही खण्ड में वैद्य एवं अवैद्य, सभी पाठकों को प्राच्य तथा पाश्चात्य मानस शास्त्रियों के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जायगी। प्राच्य तथा पाश्चात्य, दोनों ही पद्धतियों पर ग्रन्थकार का पूर्ण अधिकार एवं गम्भीर ज्ञान प्रदर्शित हुआ है और इस गूढ़ विषय का निरूपण उन्होंने बड़ा ही आकर्षक तथा प्राञ्जल शैली में किया है।

प्रस्तुत खण्ड में, मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही विचार किया गया है; अगले खण्ड में मानसिक रोगों तथा आयुर्वेदीय एवं अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के अनुसार उनके उपचार पर विचार किया जायगा।

मेरे विचार में, प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत ही उच्चकोटि का शोध (रिसर्च) उपस्थित किया गया है। विद्वान् और मेधावी ग्रन्थकार ने, तुलनात्मक ढंग से आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के आधारभूत सिद्धान्तों की बहुत ही युक्तियुक्त और व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ में की है। ऐसी ही व्याख्याओं की सहायता से एलोपैथिक एवं अन्य पद्धतियों के चिकित्सक तथा जनसाधारण सुप्राचीन आयुर्वेदीय पद्धति की वास्तविक महत्ता को समझ सकेंगे और कुछ क्षेत्रों में आयुर्वेद के विरुद्ध फैली हुई निर्मूल धारणाएँ दूर हो सकेंगी। मेरी सम्मति में यह ग्रन्थ भारतवर्ष के समस्त आयुर्वेदिक स्कूलों और कॉलेजों में पाठ्य-क्रम के रूप में निर्धारित होना चाहिए। मूल्य—१॥) रुपये मात्र।

आचार्य रणजितराय कृत

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

पर

भूतपूर्व सभापति निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग,
राजस्थान सरकार, 'सचित्र आयुर्वेद' के यशस्वी लेखक,

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह

की

सम्मति

अपना पृथक् प्रकाशन-विभाग स्थापित कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सञ्चालक स्थायी साहित्य के प्रकाशन का जो कार्य कर रहे हैं, यह उनके बड़े सराहनीय कार्यों में से एक है। वैद्य रामरक्षजी पाठक के 'पदार्थ-विज्ञान' का प्रकाशन करने के बाद तुरन्त ही वैद्य रणजितराय जी के 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' का प्रकाशन करना उनकी बड़ी ही उदारता और सत्साहस का परिचायक है।

वैद्य रणजितरायजी आयुर्वेद के सिद्धहस्त वैज्ञानिक लेखक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। तर्क, मनन और लेखन की आपकी शैली ऐसी उत्तम है कि प्रत्येक पाठक को उसकी ओर बलात् आकर्षित होना ही पड़ता है। आपकी लेखनशैली में अर्थगाम्भीर्य है, विवेक है, ओज है और है आयुर्वेद के भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला पथनिर्देश, जिस पर चल कर भविष्य के लेखक, परीक्षक और समीक्षक खोज (रिसर्च) कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लेखक और प्रकाशकों को मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ और वैद्य-बन्धुओं को इसका पठन-पाठन कर लाभ उठाने के लिए साग्रह परामर्श देता हूँ। मूल्य—(६) रुपये मात्र।

सुख और स्वास्थ्य की कुंजी

आरोग्य-प्रकाश

— प्रत्येक घर में रहना ही चाहिए —

भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्षों में बड़े परिश्रम से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, भोजन, ब्रह्मचर्य, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वभाग के विषयों को पढ़ कर और तदनुसार चल कर सदा बीमार रहने वाला रोगी भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तर भाग में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी सरल भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़ कर वद्य, छात्र तथा साधारण पढ़ी-लिखी जनता, सभी, समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५६ हजार प्रतियाँ छप कर बिक चुकी हैं और यह आठवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्त प्राय है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सिर्फ—१।।।), डाक खर्च ॥२), हमारे ४ निर्माण केन्द्रों, ५० बिक्री-केन्द्रों तथा १५ हजार एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

वैद्यनाथ प्राणद

वैद्यनाथ प्राणदा ही मलेरिया बुखार की दवा है।

- १-तात्कालिक लाभ वैद्यनाथ प्राणदा की २-३ खुराक पीनेसे ही मलेरियाका आ-
जाता है। यह तात्कालिक लाभ है।
- २-स्थायी लाभ वैद्यनाथ प्राणदाकी बड़ी शीशी ४ अथवा छोटी शीशी ८ पीनेसे
१०-१२ वर्षसे बराबर आनेवाला मलेरिया भी विलकुल आराम हो गया,
ऐसे सैकड़ों लिखित प्रमाण हैं। साल-छः महीने का मलेरिया तो लाखों
का चला गया।
- ३-वैज्ञानिक प्रमाण सिर्फ ३ खुराक वैद्यनाथ प्राणदा पीनेके बाद ही अणुवीक्षण यन्त्र
(खुर्दवीन) से देखने पर रोगी के खूनमें मलेरियाके कीटाणु नहीं
पाये जाते।
- ४-निर्दोषिता जर्मनी, अमेरिकन, इंग्लिश आदि मलेरियाकी विदेशी दवाओं से
मलेरिया नष्ट होनेपर भी अन्यान्य उपद्रव हो जाते हैं। पर वैद्यनाथ
प्राणदा से ऐसा नहीं होता।
- ५-विशेषता मलेरिया और मलेरियासे पैदा होनेवाले सभी उपद्रवोंमें वैद्यनाथ
प्राणदा निश्चित फायदा दिखलानेवाली दवा है।
- ६-आरोग्यता वैद्यनाथ प्राणदाके सेवनसे भूख बढ़ती है, दस्त साफ होता है, खून
बढ़ता है तथा शरीर बलवान् होकर पूर्ण तन्दुरुस्ती प्राप्त होती है, जिससे
फिर मलेरिया का आक्रमण नहीं हो सकता।
- ७-उदर-शुद्धि अंतर्द्वियों में चिपटा हुआ पुराना संचित मल निकाल कर उदर-शुद्धि
करने की क्षमता वैद्यनाथ प्राणदा में है। तिब्बी और लीवर (यकृत)
आदि उदर रोगोंकी यह सुन्दर दवा है।
- ८-कम खर्च इसके द्वारा पाँच-छह रुपयेमें ही बुखारका जैसा बढ़िया इलाज हो जाता
है, वैसा डाक्टरों पर सैकड़ों रुपया खर्च करनेसे भी नहीं हो सकता।
- ९-सुलभता वैद्यनाथ प्राणदा सब जगह मिलता है। ४ कारखाने, ५० से अधिक
विक्रीकेन्द्र तथा १४ हजार से अधिक एजेन्सियों द्वारा सब जगह एक
साथ एक ही कीमत में मिलता है।

मूल्य—४ औंस ८ खुराक का (१।।), २ औंस ४ खुराक का (१।)

सुख और स्वास्थ्य

आरोग्य 'सचित्र आयुर्वेद'

चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि प्राचीन संहिताओं के संशोधक, अ० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के भूतपूर्व सभापति, अखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन के सभापति, आयुर्वेदोद्धारक, आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) की सम्मति :—

'सचित्र आयुर्वेद' आयुर्वेदशास्त्र, वैद्यसमाज और जनता की उत्तम सेवा कर रहा है। मैं उसकी उन्नति की कामना करता हूँ।

सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता, बिहार के स्वायत्तशासन व स्वास्थ्यमंत्री माननीय पण्डित विनोदानन्दजी झा की सम्मति :—

'सचित्र आयुर्वेद' का प्रकाशन बड़ा ही सुन्दर है। विषयों का विभाजन और उनका सम्पादन अत्यन्त अच्छे ढंग से किया जाता है।

भूतपूर्व सभापति अखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग, राजस्थान सरकार, प्राणाचार्य, वैद्यरत्न, कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्यकी सम्मति :—

आज के आयुर्वेद-जगत् में जिस प्रकार की पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उनमें 'सचित्र आयुर्वेद' सर्वोत्तम है। इसकी सजधज दर्शनीय तथा पाठ्यविषय पठनीय एवं मननीय हैं।

श्रीवैद्यनाथआयुर्वेदभवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर



सांघित्र आयुर्वेद

[अंक ३]

कलकत्ता, १९५१

[अंक ३]

पुस्तकालय

समय की मांग

गुरुकुल कांगड़ी

इस शिकायत से मैं सहमत नहीं हूँ कि देशी चिकित्सा-पद्धति सम्यक्तया वैज्ञानिक नहीं है। विज्ञान की कोई सीमा नहीं है और जो ज्ञान हमें प्राप्त हो गया है उसी में उसकी इतिश्री नहीं हो गयी है। वैज्ञानिक शब्द से हम आज जो अर्थ लेते हैं उस अर्थ में हमारे वे पूर्वज भले ही वैज्ञानिक न रहे हों जो इस पद्धति का अध्ययन एवं प्रयोग करते थे; परन्तु यह एक सत्य है कि वे आजकल के लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वस्थ एवं सुदृढ़ जीवन व्यतीत करते थे। आवश्यकता यह है कि आधुनिक एवं प्राचीन दोनों ही पद्धतियों को संयुक्त रूप से विकसित एवं समुन्नत होने दिया जाय। प्रगति की भलाई के लिए देशी चिकित्सा-पद्धति का अनुशीलन आश्चर्यजनक रूप में उपकारी सिद्ध हो सकता है। देशी चिकित्सा-पद्धति के लिए कुछ अधिक सम्मान एवं जिज्ञासा की भावना ही समय की मांग है।

—डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि:

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-सहामहोपाध्याय, रसायनशास्त्रो
पं० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामणि

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति (=)

यकृत-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

शास्त्रचर्चा-परिषद्-अङ्क अप्राप्य

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

४ निर्माणकेन्द्र * ५० विक्रीकेन्द्र * १५ हजार एजेन्सियाँ

अथवा सीधे व्यवस्थापक, 'सचित्र आयुर्वेद', श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता के पते पर अपना वार्षिक चन्दा ४) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

आवेदन-पत्र

—:○:—

श्रीयुत व्यवस्थापक 'सचित्र आयुर्वेद'

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू),

पो० ब० ६८३५, कलकत्ता ।

प्रिय महाशय,

मैं 'सचित्र आयुर्वेद' के चौथे वर्ष का ग्राहक बनना चाहता हूँ । इसके वार्षिक मूल्यके लिए चार रुपये मनिआर्डर से भेज रहा हूँ । आप नीचे लिखे पते पर ^{रजि० डाक} से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज दीजिए । मेरा गत वर्ष का ग्रा० नं० है । ^{वी० पी० *}

श्री..... (पूरा पता)

मुकाम.....

पो०.....

जि०.....

हस्ताक्षर—

❧ मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मँगानेपर (३) डाक खर्च अधिक लग जायगा । यदि मनिआर्डर से मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दे' और यदि वी० पी० से मंगाएँ तो 'रजि० डाक' शब्द काट दे' ।

आवेदन-पत्र

—:○:—

श्रीयुत व्यवस्थापक 'सचित्र आयुर्वेद'

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

नं० १, गुप्ता लेन (जोड़ासाँकू),

पो० ब० ६८३५, कलकत्ता ।

प्रिय महाशय,

मैं 'सचित्र आयुर्वेद' के चौथे वर्ष का ग्राहक बनना चाहता हूँ । इसके वार्षिक मूल्य के लिए चार रुपये मनिआर्डर से भेज रहा हूँ । आप नीचे लिखे पतेपर ^{रजि० डाक} से 'सचित्र आयुर्वेद' भेज दीजिए । मेरा गत वर्ष का ग्रा० नं० है । ^{वी० पी० *}

श्री..... (पूरा पता)

मुकाम.....

जि०.....

हस्ताक्षर—

❧ मनिआर्डर द्वारा पेशगी न भेजकर वी० पी० से 'सचित्र आयुर्वेद' मँगाने पर (३) डाक खर्च अधिक लग जायगा । यदि मनिआर्डर से मंगाएँ तो 'वी० पी०' को काट दे' और यदि वी० पी० से मंगाएँ तो 'रजि० डाक' शब्द को काट दे' ।

BOOK POST.

)॥ पैसेका

टिकट लगाइए

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

पोस्ट बक्स नं० ६८२५

कलकत्ता

BOOK POST.

)॥ पैसेका

टिकट लगाइए

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

पोस्ट बक्स नं० ६८३५

कलकत्ता

कि
अङ्क
उन
हम
वन
नुक
यथ
अथ
आ
विल
फल
कर
जा
रहे
आ

स्वा
उस
सम
होव
होग
प्रोत्
की

कि
उसे
अत्
वन

भेज

आदरणीय पाठकों से

‘सचित्र आयुर्वेद’ के आदरणीय पाठकों को यह याद दिला देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि तीसरे वर्ष का यह ग्यारहवाँ अङ्क उनके हाथ में है। इसके बाद, जब उनके पास इस वर्ष का अन्तिम अङ्क पहुँचे, तबतक आगामी वर्ष का चन्दा या बी० पी० मँगाने की सूचना कार्यालय में आ जाय यह उनके ही हित में आवश्यक है। *कारण, पोस्ट आफिस के नियम के अनुसार, बिना पूर्व-सूचना मिले हम अपने किसी भी ग्राहक को बी० पी० भेजने में असमर्थ होंगे। यह नियम पोस्ट आफिस ने इसलिए बनाया है क्योंकि बहुत बार बी० पी० वापस आने पर पोस्ट आफिस का दुगुना काम बढ़ जाता है और नुकसान होता है। हमें पूर्ण आशा है कि इस नियम को ध्यान में रखकर हमारे ग्राहकगण समय पर ही, यथासम्भव मई के अन्तिम सप्ताह तक, आगामी वर्ष के लिए वार्षिक चन्दा ४) मनीआर्डर द्वारा भेज देंगे अथवा कार्यालय को बी० पी० भेजने की सूचना दे देंगे। मई के अन्त तक जो सूचनाएँ हमारे पास आ जायँगी उनको दृष्टि में रख कर ही चतुर्थ वर्ष के प्रथम अङ्क के प्रकाशन की व्यवस्था की जायगी। विलम्ब से सूचना मिलने पर बहुत सम्भव है कि हम प्रथम अङ्क से आपको ग्राहक न बना सकें और फलस्वरूप आपकी फाइल अधूरी ही रह जाय, जो कि हम नहीं चाहते, न हमारे कोई पाठक ही इसे पसन्द करेंगे। हमें आशा एवं विश्वास है कि समय पर ही हमें चन्दा अथवा बी० पी० की सूचना प्राप्त हो जायगी और हम सब कार्य सुचारु रूप से कर सकेंगे। छपे हुए दो आवेदन-पत्र इस अङ्क में दिये जा रहे हैं। उनमें से एक भरकर आप भेज दें। यदि आपके कोई मित्र ग्राहक बनना चाहें तो दूसरा आवेदन-पत्र वे भरकर भेज दें।

आगामी वर्ष के लिए आपके सुझाव

अबतक ‘सचित्र आयुर्वेद’ जैसा निकला है और निकल रहा है, आपके सामने है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि हम इसे निरन्तर अधिकाधिक उत्तम अवस्था में देखना चाहते हैं। यही बात अभी उस दिन हमने एक विद्वान से कही, तो वे बोले “पत्र तो समाज के साथ होते हैं। चाहे वे अपने समाज के साथ चलें या स्वयं अपने साथ अपने समाज को ले चलें, वे समाज से एकदम अलग होकर तो आगे नहीं बढ़ सकते। आयुर्वेद की उन्नति के साथ साथ ‘सचित्र आयुर्वेद’ की उन्नति होगी ही।” इस प्रकार के आश्वासनों से हमें प्रोत्साहन मिलता है, इसमें सन्देह ही क्या ? इन प्रोत्साहनों के बल पर ही ‘सचित्र आयुर्वेद’ आयुर्वेद के पुनरुत्थान के लिए हो रही अनवरत चेष्टाओं की सफलता के लिए साहस के साथ प्रयत्नशील रहा है।

परन्तु हम तो ‘सचित्र आयुर्वेद’ की त्रुटियाँ भी जानना चाहते हैं। हम जानना चाहते हैं कि किन दिशाओं में उसे नये कदम उठाने चाहिए, किन दिशाओं में वैद्यसमाज की सेवाओं का मार्ग अभी उसे नवीन रूप से ग्रहण करना है। इस विषय में हम अपने आदरणीय पाठकों के विचार जानने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। हमें आशा एवं विश्वास है कि ‘सचित्र आयुर्वेद’ को और भी अधिक सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए अपने सुझाव आदरणीय पाठक हमें अवश्य भेजेंगे।

- सम्पादक।

* मनीआर्डर की अपेक्षा बी. पी. से मँगाने में आपको आठ आने खर्च अधिक पड़ जायगा। दूसरे मनीआर्डर भेजने वालों को प्रथम अंक बहुत जल्दी मिल जायगा। बी० पी० में देर लग सकती है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित पाठ्यग्रन्थों की विशेषताएँ

आयुर्वेद की प्रधानता

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' तथा 'मानसरोग-विज्ञान' पर सम्मति देते हुए भूतपूर्व सभापति निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन, राजवैद्य श्री जीवराम कालिदास जी शास्त्री (गोंडल) ने लिखा था :

“वर्तमान राजतन्त्रों के नियमानुसार 'आयुर्वेदीय महाविद्यालय' नाम से प्रचलित संस्थाओं में आज-कल हो रही पढ़ाई अधिकांश में एलोपैथिक दृष्टिकोण से ही है। ऐसी संस्थाओं में आयुर्वेद को केवल २० प्रतिशत ही स्थान दिया गया दिखायी देता है। कारण, स्वयं पढ़ाने वालों को संहिता ग्रन्थों की रचना और विषय विभाग क्लिष्ट लगने से छात्रों को ये ग्रन्थ विधिवत् पढ़ाये नहीं जाते। फलस्वरूप संहिताग्रन्थों के प्रति छात्रों की उदासीनता बनी है और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद वे न तो डॉक्टर ही बनते हैं, न वैद्य ही ; एवं बहुधा एलोपैथिक पद्धति से ही अपना योग-क्षेम चलाये चलते हैं। ऐसी (वर्तमान) स्थिति में 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' तथा 'मानसरोग विज्ञान' जैसे ग्रन्थों का प्रकाशन कर के श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने आयुर्वेदीय क्षेत्र में काम करने वाले वैद्य भाईयों, अध्यापकों, विद्यार्थियों और उपचारकों का बहुत ही उपकार किया है। संहिता-ग्रन्थों के ज्ञान को आधुनिक ढङ्ग से पढ़ कर हृदय में उतारने के लिये और इस प्रकार अपने शास्त्र के प्रति अधिक सम्मान की भावना उत्पन्न करने के लिए ये पुस्तकें बहुत ही उपकारक होंगी। इन ग्रन्थों के प्रकाशकों को धन्यवाद देता हूँ।”

विषयानुसार ग्रन्थ

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' पर सम्मति देते हुए श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय, दिल्ली के प्रधानाध्यापक वैद्यराज श्री मनोहरलालजी ने लिखा है ;

“आयुर्वेदजगत् में 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' जैसे ग्रन्थों की महती आवश्यकता है जो कि एक-एक विषय पर पृथक्-पृथक् हों। परीक्षार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशकों को परमात्मा आरोग्य और ऐश्वर्य प्रदान करे।”

छात्रों के लिए उपयोगिता

'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' पर सम्मति देते हुए पीलीभीत आयुर्वेदमहाविद्यालय के आचार्य पण्डित विश्वनाथ जी द्विवेदी ने लिखा है :

“श्री पाठक जी ने त्रिदोष के सूक्ष्म स्वरूप को छात्रों के लिए सुबोध बनाने की पूर्ण चेष्टा की है जिसमें उनको सफलता मिली है।”

—व्यवस्थापक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता

वैद्यनाथ प्रकाशन :

द्वितीयावृत्ति :

मूल्य ६) मात्र

सचित्र शरीर-क्रिया-विज्ञान

(दोष-धातु-मल-विज्ञान)

लेखक : वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालङ्कार

उपाचार्य, श्री नाम्बर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

आयुर्वेदाचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति, V. V., K. R., A. V., M. A. S., अध्यक्ष, पूर्वी पञ्जाब आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा बोर्ड, अमृतसर की सम्मति :—

ऋषिप्रणीत संहिताओं के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसने आर्य शैली को उपस्थित किया है। आयुर्वेदीय छात्रों के लिए यह शिखास्थानीय ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होकर साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगा।

राजवैद्य नन्दकिशोर शर्मा शिवगाचार्य, आयुर्वेद-प्रधानाध्यापक, संस्कृत कालेज, जयपुर की सम्मति :—

मुझे विश्वास है कि शिक्षासंस्थाएँ इसे अपने विषय में प्रथम स्थान देने में गौरव मानेंगी।

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्ष पाठक F. A. I. M. (Madras), आचार्य, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय की सम्मति :—

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यग्रन्थों में 'हेलीवर्टन' का स्थान नहीं रह जाता।

श्री पी० एम० मेहता, एम० डी०, एम० एस०, एफ० सी० पी० एस०, चीफ मेडिकल आफिसर, नवानगर स्टेट की सम्मति :—

शरीर-क्रिया-विज्ञानसम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ इस ग्रन्थ में अत्यन्त सुन्दर शैली से दिया गया है।

आयुर्वेदाचार्य श्री शुकदेव शर्मा, साहित्य-सांख्य-योगाचार्य, M. O. L. (P. U.), G. A. M. S. (Bihar), प्रिंसिपल, राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर की सम्मति :—

It is a pioneer publication in the field of Ayurvedic physiology and tries to explain many phenomena elucidated by the ancients in the modern medical sense.

वैद्य श्री एस० एन० जोशी, प्रिंसिपल, एम० जी० आयुर्वेदिक कालेज, नाडियाद की सम्मति :—

There is a happy blending of the modern information with the ancient one, without marring the entity, beauty and identity of the original.

आयुर्वेदाचार्य डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी M. B. (Cal.), M. D. (Berlin), निदानाध्यापक, कारमाइकेल मेडिकल कालेज, कलकत्ता की सम्मति :—

Kindly accept my sincere congratulations for bringing out the book शरीर-क्रिया-विज्ञान which has become very appropriate and has appeared at the right time. India is now passing through a stage of regeneration and reconstruction and your book will go a long way in the resuscitation of Ayurved. I have the greatest pleasure to have a close study of your book.

पदार्थ-विज्ञान

लेखक : वैद्यराज पण्डित रामरक्ष पाठक

आयुर्वेदाचार्य, जी० ए० एम० एस० (पटना), एफ० ए० आई० एम० (मद्रास),
प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय ।

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

वैद्यराज कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्य, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग, बृहत् राजस्थान सरकार :—

श्रीमान् पण्डित रामरक्षजी पाठक की पुस्तक 'पदार्थ-विज्ञान' का मैंने साज्जोपाज्ज अनुशीलन किया। इसके प्रकाशन से पूर्व अध्यापक पाश्चात्य और पौराण्य का सम्मिश्रण कर किसी प्रकार पदार्थ-विज्ञान को छात्रों के गले उतारने का असफल प्रयत्न करते रहे थे। इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन से इस विषय का उभयपद्धतिसम्मत पठन-पाठन सरल हो गया है। इस सफल लेखन-कला-कुशलता के लिए आचार्य पाठकजी धन्यवादाह हैं।

श्री वनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय, दिल्ली के प्रधानाध्यापक आयुर्वेद-भूषण पण्डित मनोहर-लालजी वैद्य की सम्मति :—

पण्डित रामरक्ष पाठक कृत 'पदार्थ-विज्ञान' आयुर्वेदीय-साहित्य में ग्रन्थरत्न है। इसमें आर्ष ग्रन्थों से इस विज्ञान का संकलन अत्युपयुक्त और वैद्यों के लिए बोधप्रद है। प्रत्येक वैद्य इसको संग्रह कर अनुशीलन करेंगे, ऐसी मेरी भावना है।

स्वर्गीय कविराज मणीन्द्रकुमारजी मुकजी, प्राणाचार्य की सम्मति :—

महाभाग श्री रामरक्ष पाठक कृत 'पदार्थ-विज्ञान' मैंने परम प्रसन्नता से पढ़ा। शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी। इससे छात्रों और अध्यापकों का उपकार होगा। इसमें ग्रन्थकार का संग्रह-पाठ्य और व्याख्यान-सौष्ठव प्रदर्शित हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिए मैं ग्रन्थकार और प्रकाशकों को साधुवाद देता हूँ।

कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ के प्रिन्सिपल, साहित्यायुर्वेदाचार्य पण्डित गिरिजा-दयालु शुक्ल, ए० एम० एस० की सम्मति :—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'पदार्थ-विज्ञान' का अवलोकन कर मुझे हार्दिक सन्तोष हुआ। मेरे विचार से आयुर्वेदीय विद्यालयों के पुस्तकालयों, अध्यापकों एवं छात्रों के लिए यह ग्रन्थ एक अपूर्व देन है। विषय-प्रतिपादन एवं विचार-समन्वय करते समय अपने विशिष्ट वक्तव्यों द्वारा ग्रन्थकार ने इसे बहुत उपयोगी बना दिया है।

सुप्रसिद्ध विद्वान्, पत्रकार एवं नेता श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की सम्मति :—

यह ग्रन्थ विद्वत्तापूर्ण और उपयोगी है। आयुर्वेदीय छात्र और वैद्य, दोनों के काम की चीज है। ग्रन्थकार श्रीमान् आयुर्वेद-शास्त्र का निचोड़ निकाल कर रख दिया है।

डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत

मानसरोग-विज्ञान

[प्रथम खण्ड]

पर

भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा राष्ट्रनेता
महामान्य बिहार-गवर्नर श्री माधव श्रीहरि अणे

की

सम्मति

डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत मानसरोग-विज्ञान का प्रथम खण्ड श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता ने सम्मत्यर्थ भेजा है। इस ग्रन्थ में डा० पाठक ने भारतीय दार्शनिकों तथा आयुर्वेद शास्त्र के मूल लेखकों द्वारा निरूपित, मानसशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इन सिद्धान्तों की तुलना उन्होंने जेम्स, फ्रायड, जोंड तथा अन्य पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों के साथ की है। मन और उस की क्रियाओं के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के विचारों को एकत्र प्रस्तुत करने का जो सत्प्रयत्न उन्होंने किया है, वह सचमुच कठिन परिश्रम और आलोचनात्मक अध्ययन का प्रतिफल है। कारण, संस्कृत वाङ्मय में मानस शास्त्र पर लिखा हुआ कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है; इस विषय का समस्त ज्ञान सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग और सोमांसा के विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों तथा उन पर की गयी टीकाओं में बिखरा पड़ा है। डा० पाठक ने बड़ी ही सतर्कता के साथ चरक और सुश्रुत की प्रामाणिक संहिताओं का सूक्ष्म विवेचन किया है जो कि यथार्थ ही आयुर्वेदीय पद्धति के प्रवर्तकों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस एक ही खण्ड में वैद्य एवं अवैद्य, सभी पाठकों को प्राच्य तथा पाश्चात्य मानस शास्त्रियों के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जायगी। प्राच्य तथा पाश्चात्य, दोनों ही पद्धतियों पर ग्रन्थकार का पूर्ण अधिकार एवं गम्भीर ज्ञान प्रदर्शित हुआ है और इस गूढ़ विषय का निरूपण उन्होंने बड़ा ही आकर्षक तथा प्राञ्जल शैली में किया है।

प्रस्तुत खण्ड में, मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही विचार किया गया है; अगले खण्ड में मानसिक रोगों तथा आयुर्वेदीय एवं अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के अनुसार उनके उपचार पर विचार किया जायगा।

मेरे विचार में, प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत ही उच्चकोटि का शोध (रिसर्च) उपस्थित किया गया है। विद्वान् और मेधावी ग्रन्थकार ने, तुलनात्मक ढंग से आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के आधारभूत सिद्धान्तों की बहुत ही युक्तियुक्त और व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ में की है। ऐसी ही व्याख्याओं की सहायता से एलोपैथिक एवं अन्य पद्धतियों के चिकित्सक तथा जनसाधारण सुप्राचीन आयुर्वेदीय पद्धति की वास्तविक महत्ता को समझ सकेंगे और कुछ क्षेत्रों में आयुर्वेद के विरुद्ध फैली हुई निर्मूल धारणाएँ दूर हो सकेंगी। मेरी सम्मति में यह ग्रन्थ भारतवर्ष के समस्त आयुर्वेदिक स्कूलों और कॉलेजों में पाठ्य-क्रम के रूप में निर्धारित होना चाहिए।

आचार्य रणजितराय कृत

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

पर

भूतपूर्व सभापति निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग,

राजस्थान सरकार, 'सचित्र आयुर्वेद' के यशस्वी लेखक,

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह

की

सम्मति

अपना पृथक् प्रकाशन-विभाग स्थापित कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सञ्चालक स्थायी साहित्य के प्रकाशन का जो कार्य कर रहे हैं, यह उनके बड़े सराहनीय कार्यों में से एक है। वैद्य रामरक्षजी पाठक के 'पदार्थ-विज्ञान' का प्रकाशन करने के बाद तुरन्त ही वैद्य रणजितराय जी के 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' का प्रकाशन करना उनकी बड़ी ही उदारता और सत्साहस का परिचायक है।

वैद्य रणजितरायजी आयुर्वेद के सिद्धहस्त वैज्ञानिक लेखक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। तर्क, मनन और लेखन की आपकी शैली ऐसी उत्तम है कि प्रत्येक पाठक को उसकी ओर बलात् आकर्षित होना ही पड़ता है। आपकी लेखनशैली में अर्थगाम्भीर्य है, विवेक है, ओज है और है आयुर्वेद के भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला पथनिर्देश, जिस पर चल कर भविष्य के लेखक, परीक्षक और समीक्षक खोज (रिसर्च) कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लेखक और प्रकाशकों को मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ और वैद्य-बन्धुओं को इसका पठन-पाठन कर लाभ उठाने के लिए साग्रह परामर्श देता हूँ। मूल्य—(५) रुपये मात्र।

सुख और स्वास्थ्य की कुंजी

आरोग्य-प्रकाश

— प्रत्येक घर में रहना ही चाहिए —

भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्षों में बड़े परिश्रम से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, भोजन, ब्रह्मचर्य, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वभाग के विषयों को पढ़ कर और तदनुसार चल कर सदा बीमार रहने वाला रोगी भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तर भाग में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी सरल भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़ कर वध, छात्र तथा साधारण पढ़ी-लिखी जनता, सभी, समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५६ हजार प्रतियाँ छप कर बिक चुकी हैं और यह आठवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्तप्राय है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सिर्फ—१।।।), डाक खर्च ॥२), हमारे ४ निर्माण केन्द्रों, ५० विक्री-केन्द्रों तथा १५ हजार एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

अनुक्रमणिका

विषय	लेखक	पृष्ठ
सम्पादकीय ६२२
अनारोग्य का मूल : ग्राम्याहार	... वैद्य रणजितराय	... ६३२
निदान-चिकित्साहस्तामलक	... वैद्य रणजितराय	... ६३७
आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम	... वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य	... ६४५
शाक	... वैद्य ओम्दत्तराय	... ६५३
आंवला	... वैद्य रमेशवेदी आयुर्वेदालंकार	... ६६१
विदेशीय पौधों की खेती ६६४
कायाकल्प	... वैद्य राजेन्द्रप्रकाश	... ६६६
बाध्य चिन्तन की चिकित्सा	... प्रो० लालजीराम शुक्ल	... ६६६
चन्द्रकला रस ६७३
दालचीनी	... वैद्य खेमराज शर्मा छांगानी आयुर्वेदाचार्य	... ६७६
दाढ़िम या अनार	... श्रीयुत भानु देशाई	... ६७८
ईमानदारी का तकाजा	... "अन्नि"	... ६८१
पश्चिमीय और भारतीय चिकित्सा-विज्ञान	... पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा आयुर्वेदालंकार	... ६८५
आयुर्वेदिक कालेज, सीकर	... वैद्य गजानन शर्मा	... ६८७
आयुर्वेद से ही देश का विकास सम्भव ६९०
महिला आयुर्वेद विद्यालय, मेरठ ६९१
रानीखेत वैद्य शिक्षण शिविर का पाठ्यक्रम ६९१
चावल हृदयरोगनाशक है ६९३

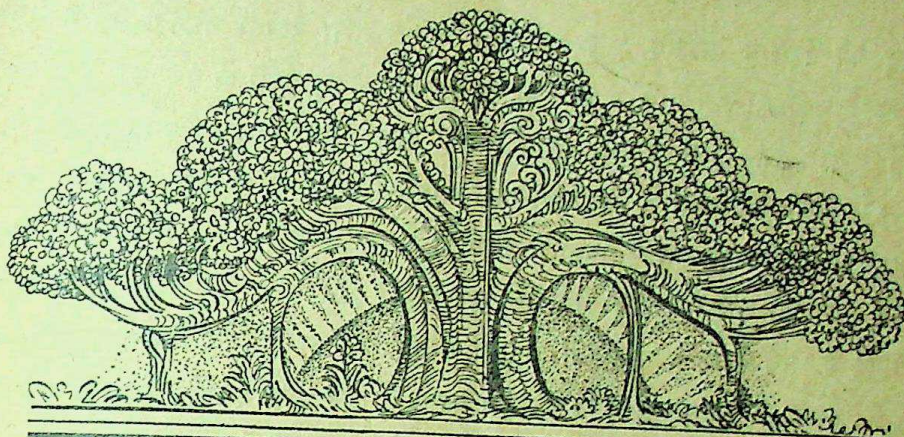
आवश्यक सूचना

पटना-परिषद् के सदस्यों के जीवन-परिचय

सम्पादक मण्डल ने गत नि० भा० आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्, पटना के सदस्यों के जीवन-परिचय चतुर्थ वर्ष के प्रथमांक से क्रमशः प्रकाशित करने का निश्चय किया है। पाठकगण कृपया नोट कर लें।

— स० सम्पादक

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



साचित्र आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३

मई, कलकत्ता, १९५१

अङ्क ११

अवैज्ञानिक धारणा

अंग्रेजी दैनिक 'अमृतवाजार-पत्रिका' की सम्पादकीय टिप्पणी

“गत २८ जनवरी १९५१ को कलकत्ता के मेडिकल कालेज में भाषण देते हुए डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कुछ ऐसे मनोरञ्जक सुझाव उपस्थित किये जिन पर कि आधुनिक चिकित्सा विशारदों को गम्भीरता से मनन करना चाहिए। डा० मुखर्जी ने इस धारणा से असहमति प्रकट की कि आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति अवैज्ञानिक है। आपने कहा कि विज्ञान असीम है और जो जानकारी हमें प्राप्त हो गयी है उसी में विज्ञान की इतिश्री नहीं हो जाती। डा० मुखर्जी यह भी कह सकते थे कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्तों का सूक्ष्म परीक्षण किए बिना ही उसे अवैज्ञानिक कहना कितना अवैज्ञानिक है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, पाश्चात्य पद्धति के किसी भी सुयोग्य वैज्ञानिक या चिकित्सक ने यह सम्यक्तया प्रमाणित नहीं किया है कि आयुर्वेद आधुनिक वैज्ञानिक की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।”

मध्यभारत में आयुर्वेद की प्रगति

वैद्यसम्मेलन में माननीय डा० प्रेमसिंह का भाषण

आयुर्वेद का विज्ञान अनादि काल से अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता चला आया है और आयुर्वेद के चरकसंहिता तथा सुश्रुसंहिता जैसे प्राचीन ग्रन्थरत्न एवं ऋग्वेद की ऋचाओं से उन का मूल सम्बन्ध होना इस के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद इन ग्रन्थों तथा आयुर्वेदीय रसशास्त्र (Ayurvedic chemistry) में वर्णित चिकित्सा के सिद्धान्तों तथा औषध-निर्माण की विशिष्ट पद्धतियों का आयुर्वेदिक चिकित्सकों द्वारा आज भी बहुतायत से व्यवहार में लाया जाना आयुर्वेद के अपने विज्ञान की चली आयी हुई परम्पराओं का प्रतीक है। आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र (Materia medica) में जड़ी-बूटियों तथा नित्य के व्यवहार में आने वाली अन्य सैकड़ों वस्तुओं के गुणधर्मों का मार्मिक विवेचन बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। उसके लिए अनुसन्धानात्मक कदम उठाने के लिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन प्रयत्नशील है। इस में आप सज्जनों के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है।

मध्यभारत शासन ने गत दो वर्षों में इस प्रान्त में आयुर्वेदीय औषधालयों की संख्या दुगुनी (११८ से बढ़ा कर २३६) कर दी है। इन औषधालयों को औषध तथा अन्य उपयोगी सामग्री देने के लिए शासन की एक अपनी फार्मसी कार्य कर रही है और साथ में एक अच्छे संग्रहालय की भी व्यवस्था की गयी है, ताकि योग्य वैद्य चिकित्सकों द्वारा जनता को समय पर अच्छा लाभ पहुंचाया जा सके। प्रादेशिक शासन ने एक आयुर्वेदिक कालेज की भी स्थापना नवीन पद्धति पर की है ताकि उसके द्वारा शास्त्रवेत्ता तथा क्रियाकुशल विद्वान् स्नातक तैयार हों जो मध्यभारत और उससे बाहर भी जनता की सेवा कर सकें।

[मध्यभारत आयुर्वेद सम्मेलन के सप्तम अधिवेशन के अवसर पर उज्जैन में गत २६ फरवरी को प्रातः १० बजे आयुर्वेद-प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए राज्य के स्वास्थ्यमंत्री माननीय डा० प्रेमसिंह ने उपर्युक्त भाषण दिया था। सम्मेलन का उद्घाटन माननीय मुख्य मंत्री श्री तरुतमल जी जैन ने किया था। स्वागताध्यक्ष श्री सेठ लालचन्द जी सेठी एवं अध्यक्ष वैद्य रामेश्वर जी शास्त्री थे।]

पटियाला राज्य संघ में आयुर्वेद की प्रगति

पटियाला राज्य संघ (पैप्सू) की पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार राज्य के प्रत्येक जिले में तीन-तीन आयुर्वेदिक औषधालयों की स्थापना प्रारम्भ हो गयी है। माननीय मुख्य मंत्री सरदार ज्ञानसिंह जी राडेवाला, आयुर्वेद विभाग के डायरेक्टर राजवैद्य वैद्यरत्न पण्डित रामप्रसाद जी शर्मा एवं उपराजवैद्य पण्डित कान्तिनारायण जी मिश्र द्वारा अब तक ६ औषधालयों का उद्घाटन हो चुका है। आशा की जाती है कि एक मास के भीतर ही योजना कार्यरूप में परिणत हो जायगी।

पैप्सू (पटियाला राज्यसंघ) के राजवैद्य पं० रामप्रसादजी शर्मा का एक पत्र भांसी के कविराज श्री कृष्णराज जी भट्टाचार्य ने हमारे पास कृपा कर भेजा है। आदरणीय पाठकों के लाभार्थ वह नीचे दिया जाता है:-

मैं आप के एक-एक शब्द से सहमत हूं। आप जो योजना की प्रतिलिपि अथवा 'सचित्र आयुर्वेद' में छपा लेख भेजेंगे वह मैं प्रेमपूर्वक ध्यान से पढ़ूंगा और अपना भाव लिख भेजूंगा।

आज पैप्सू राज्य में ५२ आयुर्वेदिक औषधालय हैं जिन में शुद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सा होती है। सरकारी आयुर्वेद विद्यालय में संस्कृत जानने वाले विद्यार्थियों को प्रविष्ट किया जाता है। जनता शुद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सा को पसन्द भी करती है। इस समय १२५ वैद्य सरकारी सर्विस में हैं।

पण्डित कमेटी की रिपोर्ट नितान्त असन्तोषजनक

चोपड़ा कमेटी की अनेक अंशों में त्याज्य, तथापि, निस्सन्देह विद्वत्पूर्ण रिपोर्ट उपस्थित किये जाने के बाद, उसके अनुसार आचरण न करके भारत-सरकार ने गत दिसम्बर १९४६ में आयुर्वेदीय अनुसन्धान तथा शिक्षण पर रिपोर्ट देने के लिये जब एक दूसरी समिति डा० सी० जी० पण्डित की अध्यक्षता में नियुक्त की थी, तभी वैद्यसमाज को इस समिति द्वारा आयुर्वेद का घोर अहित होने की आशङ्का हुई थी। हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि वैद्यसमाज की वह आशङ्का निर्मूल नहीं सिद्ध हुई है। गत मास में पण्डित-कमेटी ने अपनी जो रिपोर्ट भारत-सरकार के सामने उपस्थित की है उससे सरकार को आयुर्वेद के प्रति मनमानी करने का एक सहारा मिल गया है। रिपोर्ट प्रकाशित होते ही आयुर्वेद के अन्वेषण के लिए कोई बड़ा कदम न उठाकर केन्द्रीय स्वास्थ्य-मन्त्रिणी ने राज्य-सरकारों से कहा है कि वे कम से कम एक आयुर्वेदीय या यूनानी कालेज का स्तर ऊँचा करें यानी शिक्षार्थियों को आधुनिक चिकित्सा की आधार-भूत शिक्षा अवश्य दें।

स्पष्ट ही इस विषय में सरकार लोकमत की उपेक्षा कर रही है। गत २७ मार्च को ही संसद में मद्रास के डा० सुब्रह्मण्यम् ने कहा कि आयुर्वेद में अनुसन्धान के लिये केवल एक लाख रुपये की स्वीकृति अत्यन्त अल्प है। उसे बढ़ाकर कम से कम ३ लाख कर देने का सुझाव आप ने दिया। मध्यभारत के डा० देवीसिंह ने कहा कि स्वास्थ्य-मंत्रालय के बजट में आयुर्वेद और यूनानी के लिये जो थोड़ी सी रकम रखी गयी है, वह, प्रतीत होता है, केवल हमारी सान्त्वना के लिये है। मध्यप्रदेश के डा० आर० एल० जांगडे ने भी आयुर्वेद को दिये गये प्रोत्साहन को अत्यल्प बताया। इस प्रकार, आयुर्वेद को समुचित प्रोत्साहन न देकर हमारे स्वास्थ्य-अधिकारी, शायद अज्ञानवश, कुछ इस प्रकार चल रहे हैं कि उससे आयुर्वेद का, और उसके साथ राष्ट्र का अत्यधिक अहित होने की आशंका है।

पण्डित कमेटी की रिपोर्ट का सारांश

१—समिति के विचार में एक अन्वेषण-केन्द्र की स्थापना की ओर सम्बन्धित अधिकारियों को सर्वप्रथम ध्यान देना चाहिए। हम आशा करते हैं कि इस अन्वेषण-केन्द्र की स्थापना में सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाएँ वर्तमान आर्थिक संकट की अवस्था में भी सहयोग देंगी।

२—आयुर्वेद और यूनानी की छोटी-मोटी नवीन शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की अपेक्षा वर्तमान शिक्षण संस्थाओं का स्तर ऊँचा करने के काय को सरकार की ओर से प्राथमिकता मिलनी चाहिए। यह आवश्यक होगा कि इन संस्थाओं को रसायनशाला तथा रुग्णालय सम्बन्धी सुविधाएँ दी जायँ। आधुनिक पद्धति के अध्यापकों को देशी पद्धतियों का समुचित ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा दी जाय, ताकि वे इन संस्थाओं के शिक्षण-क्रम के सुधार में आवश्यक योगदान दे सकें।

३—समिति के विचार में चिकित्सा-विज्ञान के शिक्षार्थियों की कम से कम प्रवेश-योग्यता किसी सम्मानित विश्वविद्यालय की साइन्स में इण्टरमीडिएट (मेडिकल ग्रुप) होनी चाहिये और देशी पद्धतियों के शिक्षार्थियों को इसके साथ संस्कृत (या अरबी) का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए।

४—समिति का सुझाव है कि वर्तमान आर्थिक संकट को दृष्टिगत रखते हुए भी प्रत्येक राज्य-सरकार कम से कम एक संस्था को स्तर ऊँचा करने के लिये अवश्य चुन ले।

५—समिति के विचार में समस्त शिक्षण संस्थाओं में स्नातक-स्तर (डिग्री स्टैण्डर्ड) की ही शिक्षा दी जानी चाहिए।

६—समिति का सुझाव है कि देशी पद्धतियों की शिक्षण-संस्थाओं में मिश्रित प्रणाली का अनुसरण वर्तमान समय में अत्यावश्यक है।

अनारोग्य का मूल : ग्राम्याहार

वैद्य रणजितराय



स्वनातनी वैद्यों की यह प्रतिज्ञा (स्थापना) कि संसार की सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ आयुर्वेद से निकली हैं, कभी-कभी अपनी स्पष्ट अत्युक्ति के कारण अरति-जनक प्रतीत होती है। परन्तु बहुत बार देखा जाता है कि अन्य पद्धतियाँ जिसे अपना आविष्कृत तत्त्व कहती हैं और व्यवहार में लाती हुई यश का अर्जन करती हैं वह आयुर्वेदीय किंवा इतर भारतीय वाङ्मय में विशद शब्दों में निरूपित होता है। घटना ऐसी स्थितियों में कईबार यह होती है कि, परम्परा नष्ट हो जाने से वैद्यों का ध्यान इन तत्त्वों की ओर नहीं जाता अथवा उतना नहीं जाता। अन्य पद्धतियाँ जब प्रयत्नवश उस तत्त्व को प्रकाश में लाती हैं तब ही अकस्मात् हम भी अपने गर्भगृहगत उस रत्न के प्रति दृष्टिपात करते हैं। ऐसे तत्त्वों में वस्ति-कर्म की गणना की जा सकती है। इस अंक की पृष्ठपूर्तियों में संक्षेप में आयुर्वेद-मत से इस कर्म के अग्रपद का हेतु लिखा गया है। परन्तु नवीन ज्ञान के आधार पर पाश्चात्यों ने, विशेषतः निसर्गोपचारकों ने, इस कर्म की रोग के मूल पर प्रहारकता को प्रत्यक्ष कर जब इसे अपनी चिकित्सा का अङ्ग बनाया तभी वैद्यों ने भी इसकी महत्ता समझी। भले देर से और पाश्चात्य स्वरूप में अभी हमने इसकी महत्ता जानी है, पर अब जब कि आयुर्वेद के लिए कुछ करने का समय आया है तो वस्ति-कर्म की उपयोगिता का मूल, उसके विविध भेद इत्यादि विषयों को आयुर्वेदीय दृष्टि से समझने और

कालक्रम से क्रिया में लाने का प्रयास हमें करना चाहिए। जो हो। अगली पंक्तियों में मैं एक आर तत्त्व के प्रति वाचकों का चित्त आकृष्ट किया चाहता हूँ।

फलाहार किंवा अ-लवणाहार के प्रति इनदिनों वैद्य भी अपने रोगियों को निर्देश देने लगे हैं। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसकी दीक्षा हमें विशेषतः निसर्गोपचारकों से ही प्राप्त हुई है। सत्य यह है कि, यह तत्त्व भी आयुर्वेद में अति रमणीय शब्दों में वर्णित है और हमें चाहिए कि संहिताओं में आये मूल शब्दों का विचार करें।

चरक, चिकित्सा स्थान प्रथम अध्याय चतुर्थपाद के प्रारम्भ में देवराज के शिष्य हो भारतीय ऋषियों द्वारा रसायन औषधों के ग्रहण का इतिहास आया है। मुनि के शब्द हैं :

“ऋषयः खलु कदाचित् शालीनाः यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः सांपन्निका मन्दवेष्टा नाति-कल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासाम् इतिकर्तव्य-तानाम् असमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतम् आत्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासम् अपगतग्राम्यदोषं शिवं पुष्पम् उदारं मेध्यम् अगम्यम् असुकृतिभिः गङ्गाप्रभवम् अमर-गन्धर्वकिन्नरानुचरितम् अनेकरत्ननिचयम् अचिन्त्या-द्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतिथैर्वि-प्रभवम् अतिशरण्यं हिमवन्तम् अमराधिपतिगुण-जग्मुः भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवा-देवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥”

शालीन अर्थात् नित्य पयटन का जीवन त्याग कर घर-बार (शाला) बसा कर रहे हुए एवं यायावर (अब भी यथापूर्व भ्रमण-प्रधान जीवन बिताने वाले) ^१ दोनों ही प्रकार के ऋषि काल-क्रम से ग्राम्य अन्न का सेवन करते हुए विलासी, अल्प चेष्टा करने वाले तथाप्रायः रोग-ग्रस्त हो गये। इन अवस्थाओं में स्वभावतः वे अपने सब कर्तव्य-कर्म (इति कर्तव्यता) छोड़ बैठे। परन्तु बुद्धि और स्मृति उनकी अब भी शेष थी। उन्होंने विचार कर देखा कि : हमारे इस आरोग्य का मूल ग्राम-वास तथा ग्राम्य आहार ही है। अधिक विचार कर अपने पूर्वनिवास (भारत में आने के पूर्व जहाँ रहते थे वह स्थान) ^२, ग्राम्य-सुलभ वृत्तियों से सर्वथा मुक्त, कल्याणकर, पुण्य (पावन), मेधा (ग्रंथ, भाषणादिगत वस्तुओं के ग्रहण—समझने और धारण याद रखने—की शक्ति) के लिये सात्म्य, उदार—सब आवश्यकताओं क पूर्ति करने वाले—अपुण्यात्माओं के लिए अगम्य, गङ्गा के प्रभव (उद्गम स्थान) ; देवों, गन्धर्वों, किन्नरों, ब्रह्मर्षियों, सिद्धों और चारणों द्वारा जहाँ विहार किया जा रहा है ऐसे, अचिन्त्य और अद्भुत प्रभावशाली, दिव्य तीर्थों तथा औषधियों के मूल स्थान, शरण में आये का प्रतिपालन करने वालों में श्रेष्ठ और सब से बढ़कर देवराज इन्द्र द्वारा सुरक्षित हिमाचल को इन भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम

आदि ऋषियों ने जाने का निर्णय किया। अमरपुरी में पहुँचने पर—

“तान् इन्द्रः सहस्रहृक अमरगुरुः अब्रवीत्—स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम्। अस्ति ननु वो ग्लानिः अप्रभावत्वं वैस्वयं वैवर्ण्यं च ग्राम्य-वासकृतम् असुखम् असुखानुबन्धं च। ग्राम्यो हि वासो मूलम् अशस्तानाम्। तत् कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानाम्॥”

उनका स्वागत करते हुए स्वयं देवगुरु सहस्राक्ष बोले : ज्ञानधन और तपोधन ब्रह्मवेत्ता आप ब्रह्मर्षियों का इस नगरी में स्वागत करता हूँ। निश्चित ही, तत्काल और अनुबन्ध ^१ में (दूर कालमें-परिणाममें) दुःख ^२ और अनारोग्य करने वाले ग्राम-वास के कारण आप में ग्लानि (हर्ष का अभाव), प्रभावहीनता, स्वरनाश, तथा कान्ति-शून्यता दिखाई दे रही है। आपने वास्तव में बहुत ठीक किया जो अपने और प्रजा (जनता) के कल्याण के लिए यहाँ आये।

यह कह कर देवराज ने आयुवद के अवतरण का इतिहास बता ऋषियों को उनके गूढ़ रहस्यों का उपदेश किया। इसी अध्याय के द्वितीय पाद के आरम्भ में अत्रि-पुत्र ने ‘ग्रामवास’ और ‘ग्राम्याहार’ शब्दों से उनका क्या अभिप्राय है यह विशद किया है। देखिये

× × × सर्वे शारीरदोषाः भवन्ति ग्राम्याहारात् अम्ल लवण कटुक क्षार शुष्कमांस तिलपल्ल पिष्टान्न भोजिनाम्, विरुद्ध नवशूक शमीधान्य विरुद्धासात्म्य-रूक्षक्षाराभिष्यन्दि भोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषित-भोजिनां विषमाध्यशनप्रायाणां दिवास्वप्न स्त्री मद्य-

^१ प्राचीन इतिहास में मानवों के विकास का वर्णन करते हुए ‘शालीन’ और ‘यायावर’ ये दो प्राचीन संज्ञायें ग्रहण करने का अनुरोध इस प्रसंग में ऐतिहासिकों से करता हूँ।

^२ पूर्व-निवास शब्द इस बात का द्योतक है कि आर्य लोग आने के पूर्व हिमालय पर रहते थे। ऐतिहासिक विद्वान प्रमाणों के साथ इस प्रसंग को भी ध्यान में लें।

१—Long run लॉग रन।

२—सुख और दुःख शब्द आयुर्वेद में आरोग्य और अनारोग्य के लिए आते हैं—सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःख संज्ञितः—च० सू० ९।४।

नित्यानां विषमातिमात्र व्यायामसंक्षोभित शरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम् । अतोनिमित्तं हि शिथिली भवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं भेदः, न संधीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते क्षयम् उपेत्योजः एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टनां शारीरमानसीनां, नष्टस्मृति बुद्धिच्छायो, रोगाणाम् अधिष्ठानभूतः, न सर्वम् आयुः अवाप्नोति ॥

—अर्थात् रोग जितने भी हैं उन सब की उत्पत्ति का कारण है—ग्राम्य आहार और ग्राम्य जीवन^१ । ग्राम या नगर वासियों के भोजन में अम्ल (खट्टे), लवण, कटु (तीखे, चरपरे), क्षार (पापडखार आदि), सूखे शाक, सूखे मांस,^२ तिल, मांस, पिष्ट (आटा) के बने द्रव्यों; विरुद्ध (पानी में भिगोकर अंकुरित किये)^३ तथा नये (एक वर्ष के) शूक धान्य (गेहूं, चावल आदि) तथा शमीधान्य (मूंग अरहर आदि दालें), विरुद्ध, असात्म्य (अनुकूल), रुक्ष, क्षार, अभिष्यन्दी (स्रोतों में अपनी चिकनाई

१—ग्राम शब्द यहां शहर और गाँव दोनों प्रकार की बस्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है । संक्षेप में, इन शब्दों में आचार्य ग्राम और शहर के निवास के कारण जीवन तथा आहार में जो कृत्रिमता आ जाती है उसका तथा उससे हुई हानियों (रोगों) का निरूपण कर रहे हैं ।

२—‘शूक मांस’ शब्द से आजकल प्रयुक्त ‘डब्बे का मांस’ भी आयुर्वेद-मत से गृहीत है ।

३—Germinated—जर्मिनेटेड; Sprouted स्पाउटेड । आजकल ऐसे धान्यों को जीवनीय (वाइटमिन) ‘सी’ का अधिष्ठान कहकर विशेष सेवनीय माना जाता है । यहां तथा अन्यत्र आयुर्वेद में इन्हें असेव्य कहा है । यह भेद आयुर्वेद के विद्यार्थी स्मरण रखें ।

के कारण लेप और अवरोध करनेवाले)^४ एवं क्लिन्न (शरीर में क्लेद-द्रवत्व-उत्पन्न करनेवाले), गुरु, पूति (सड़े) और वासी आहार द्रव्यों का प्राधान्य होता है ; इनका सेवन भी विषम (स्वस्थ वृत्त में निर्दिष्ट आहार-विषयक नियमों के विपरीत) तथा अतिमात्रा में (अध्यशन) होता है ; पुरा दिनमें शयन, स्त्री समागम तथा मद्यसेवन में लीन रहते हैं ; (काम-धन्ये आदि के कारण) विकट और अत्यधिक श्रम के कारण उनके शरीर की चूल् ठीली हो गयी होती हैं ; भय, क्रोध, शोक, लोभ, मोह, आयास आदि मनोविकार उनमें पद-पद पर लक्षित होते हैं । इन सबका परिणाम यह होता है कि, उनकी पेशियां शिथिल (पोची और श्रमासहिष्णु) तथा संधियां ढीली हो जाती हैं ; रक्त का विदाह (रक्त में अम्लता)^५ होता है; मेद में अत्यन्त द्रवत्व^६ (अतएव शरीर का ढीलापन) उत्पन्न होता है ; अस्थियों में मज्जा का प्रमाण अल्प हो जाता है । मैथुन के समय शुक्र की प्रवृत्ति नहीं होती ; ओज का नाश होता है । इस परिस्थिति में उनका हर्ष (आनन्द और मैथुनेच्छा)^७ नष्ट हो जाता है, वे अवसन्न हो जाते हैं; निद्रा, तन्द्रा और आलस्य उन्हें घेरे रहते

१—महास्रोत (मुख से गुदपर्यन्त प्रणाली) में इन द्रव्यों का लेप होने से पित्तों (पाचक रसों) का स्राव, पक्व रस का शोषण तथा मलों का महास्रोत में क्षरण सम्यक् नहीं होता । अन्य स्रोतों में भी यही स्थिति होती है । परिणाम में गौरव होता है ।

२-३—विदाह का प्राकृत और वैकृत अर्थ अम्लप्राय प्रसिद्ध है । शरीर में अम्लता (Acidosis—एसिडोसिस) या Ketosis—कीटोसिस) एवं शरीर में मेद (स्नेह) के द्रवत्व या घनत्व का आधुनिक दृष्ट्य-स्वरूप जानने के लिए देखने लेखक का आयुर्वेदीय क्रियाशारीर (बैद्यनाथ प्रकाशन) ।

४—‘ग्लै हृक्ष्ये’ धातु में आये ‘हृष’ के दोनों अर्थ शान्त शुद्ध हैं ।

अनारोग्य का मूल : प्राम्याहार

६३५

हैं ; उत्साह उनमें नहीं रह जाता, (श्रम के बिना या अल्पमात्र श्रम से) उनका श्वास फूल आता है ; वे शारीर और मानस चेष्टाएँ करने में अपने आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं ; उनकी स्मृति, बुद्धि और छाया (दीप्ति) लुप्त हो जाती है ; वे सर्व रोगों के अधिष्ठान (निवास स्थान) हो जाते हैं ; अन्त में अकाल में ही मृत्यु के ग्रास होते हैं ।

उल्लिखित आहार-द्रव्यों में आये लवण द्रव्यों के विषय में संहिताकारों ने अन्यत्र विशेष रूप से चेतावनी दी है । उसका भी उल्लेख विषय पूर्ति में उपयोगी है । सू० अ० २६।४३ में चरक ने तथा सू० ४२।१० में सुश्रुत ने लवणों के अतियोग (अतिसेवन) के विपरिणाम बताते हुए कहा है :

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्पयति, मूर्च्छयति ('मोहयति' इति पाठान्तरम्), तापयति दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, बलीपलित्खालित्यम् आपादयति ; अपि च लोहित पित्ताम्लपित्त-वीसर्प वातरक्त विचर्चिकेन्द्रलुप्त प्रभृतीन् विकारान् उपजनयति ॥

—चरक

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थम् आसेव्यमानो गात्रकण्डूशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपताप सुखाक्षिपाकरक्त-पित्तवातशोणिताम्लीका प्रभृतीनापादयति ॥

—सुश्रुत

अर्थात् यद्यपि लवण के प्राकृत गुण-कर्म शास्त्र में कहे हैं, तथापि उसका अतियोग हो, किंवा अन्य रसों की उपेक्षा कर उसका ही अधिक सेवन किया जाय तो समान-योनि (समान-भूतों से उत्पन्न)

होने से पित्त और रक्त का प्रकोप^१, लृषा, मोह (मूर्च्छा-भेद), मूर्च्छा, दाह, दारण (अङ्गों में चीरे पड़ना) ; मांस, कुष्ठ (विभिन्न त्वग्रोग), शोथोंका फटना ; विष में वृद्धि ; दाँत ढीले होना (हिलना) और गिर जाना ; पुंस्त्वनाश (शुक्रक्षय) ; ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की अपने-अपने कार्य में अशक्ति ; कण्डू, कोठ (पित्ती के समान मण्डल—दड़ोड़े—पड़ना), शोथ, शरीर के वर्ण में विकृति ; बली (झुरी), पलित (बाल पकना), खालित्य (टाँट), इन्द्रलुप्त (गल्ल), मुखपाक, नेत्रपाक, रक्त-पित्त (विभिन्न मार्गों से रक्तस्राव), वातरक्त (गठिया), विसर्प, अम्लोद्गार (अम्लपाक), विचर्चिका (हाथ फटना, या सूखा अकौता-छाजन) आदि रोगों को उत्पन्न करता है । वृद्ध वाग्भट्ट में इन रोगों में किटिभ (कुष्ठ-भेद), आक्षेप, क्षत (व्रण) में वृद्धि मद-वृद्धि, बलक्षय, ओजःक्षय ये रोग तथा लघु वाग्भट्ट में कुष्ठ विशेष गिने हैं ।

चरक विमान स्थान १।१८ में प्रतिज्ञा है—तीन द्रव्यों का अधिक प्रयोग न करना चाहिए—पिप्पली, लवण और क्षार । पश्चात् व्याख्या करते हुए लवण के अतियोग के प्रकरण में आत्रेय कहते हैं :

लवणं पुनरौण्य तैक्ष्ण्योपपन्नम्, अनतिगुरु, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्रंसनसमर्थम्, अन्न

१—आधुनिकों के हाई ब्लड-प्रेसर का विचार चरक ने सूत्रस्थान अध्याय में २४ (विधिशोणितीय अध्याय) में 'रक्त प्रकोप' नाम से किया है । विचारशील महानुभाव इसके कारणों, लक्षणों, चिकित्सा में रक्तावरोधन (रक्तमोक्षण) तथा आगे इसी अध्याय में वर्णित मद, मूर्च्छा और सन्यास (Apoplexy—एपोप्लेक्सी—यह ब्लड-प्रेसर में मस्तिष्क की केशिका फटने से होता है) को विशेष रूप से लक्ष्य में रखते हुए अध्याय का पाठ करें ।

द्रव्य रुचिकरम्, आपातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धम्। तद्रोचन पाचनोपक्लेदनविस्त्र-सनाथमुपयुज्यते। तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानि शैथिल्य दौर्बल्याभिनिवृत्तिकरं शरीरस्थ भवति। ह्येनद् ग्राम नगर निगम जनपदाः सततम् उपयुज्यते ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांस शोणिताः अपरिक्ले-शसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—बाह्लीकसौराष्ट्रिक-सैन्धव सौवीरकाः। ते हि पयसाऽपि सह लवणम् अन्नन्ति येऽपीह भूमेरत्यूषराः देशाः तेषु ओषधिवीरु-द्वानस्पत्याः न जायन्ते अल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहत्वात्। तस्मात् लवणं नात्युपयुज्यते। ये ह्यति लवण सात्म्याः पुरुषाः तेषामपि खालित्य-पालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति॥

अर्थात् लवण उष्ण, तीक्ष्ण, किञ्चित् गुरु, किञ्चित् स्निग्ध, स्रोतों और धातुओं (कोषों और उनसे बने अवयवों) आदि में क्लेद (द्रवत्व) उत्पन्न करने वाला, इसी कारण स्रोतगत पदार्थों को आगे ले जानेवाला, (विस्त्रसन); अन्नपान पर रुचि उत्पन्न करनेवाला, एवं प्रयोग के आरम्भिक काल में उक्त गुण करनेवाला होने से प्रारम्भ

(आपात) में हितकर, परन्तु अनन्तर काल (अनु-बन्ध) में दोषों का संचय करनेवाला होता है। इसका सेवन रोचन, पाचन, क्लेदन तथा अनुलोमन के लिए होता है। इसका अति सेवन किया जाय तो यह शरीर में ग्लानि (मांसक्षय या हृषक्षय), शैथिल्य और दौर्बल्य उत्पन्न करनेवाला होता है। जो लोक इसका अति सेवन करते हैं वे इसी कारण बहुत ग्लानियुक्त, शिथिल (द्रवाधिक) रक्त-मांस वाले और क्लेश (शारीरिक, मानसिक श्रम अथवा रोगादि का प्रहार), के सहन में अक्षम होते हैं। जैसे—बाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धु या सुवीर देश के निवासी। ये लोक दूध में भी नमक छोड़ते हैं। प्राणियों पर ही नहीं, भूमि पर भी लवण की यही हानिकर क्रिया होती है। अति खारी भूमि में उद्भिद या तो होते ही नहीं और होते हैं तो लवण से बाधित होने के कारण अल्पवीर्य होते हैं। अत्यधिक लवण से भी पुरुष खालित्य, पलित (केशों की धवलता) तथा वलियों से अकाल में ही प्रसूत होते हैं। अतः लवण का अति सेवन न करना चाहिए।

सर्व रोगों की चिकित्सा वस्ति

रोगमात्र का कारण वायु को प्रतिपादित किया है। इस वायु की सर्वोत्तम चिकित्सा वस्ति है :

तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्। वस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित्॥

च० सि० १।३६

कारण,

वस्तिर्वतिहराणाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

तत्रास्थापनानुवासनं तु खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः। तद्धि आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते। यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्॥

च० सू० २०।१३

वायु का मूल स्थान पक्वाशय (स्थूलान्त्र) है। यहीं से उसका प्रसर और स्थानसंश्रय होकर तत्-तत् रोग होते हैं। आस्थापन और अनुवासन वस्तियां वात के इस उद्गमस्थान में ही प्रविष्ट होकर उसका मूलोच्छेद कर देती हैं। इस स्थान पर वात का प्रशमन होने से शरीर में अन्यत्र स्थित वातरोग अनायास शान्त हो जाते हैं—वैसे ही जैसे किसी वृक्ष का मूल काट दिया जाय तो उसका तना, शाखा, अंकुर, फूल, फल, पत्र आदि स्वयं और निश्चित नष्ट हो जाते हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से कुपित वात शेष दोषों के भी प्रकोप का कारण है। अतः सर्व रोगों का प्रधान कारण वायु ही है। इस वायु का श्रेष्ठतम उपाय वस्ति है। अर्थात् पित्त से, कई आचार्य कहते हैं कि एक वस्ति में ही सम्पूर्ण चिकित्सा जाती है। अन्य आचार्य कहते हैं कि, संपूर्ण नहीं तो कम से कम आधी चिकित्सा तो वस्ति है ही :

तस्माच्चिकित्साधमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके॥

च. सि. १।४०

ऐसी गुणकारी वस्ति आज चिरकाल से वैद्यों के हाथ से निकल कर अन्य पद्धतियों—विशेषतया 'निसर्गोपचार' के अनुगामियों के हाथ में सर्व रोगों में प्रधान आयुध का काम दे रही है।

—वैद्य रणजितराय

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

१०—छात्रोपयोगी निदान चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

पूर्वरूप

अन्न का विदाह (अम्लपाक), देर से पाक, अरुचि, अन्त्रकृजन, तृष्णा, बलक्षय, शरीर में गौरव तथा साद, आलस्य, कलम (भ्रम किये बिना थकान), कास, कर्णनाद ।

ग्रहणी के सामान्य लक्षण

मल प्रवृत्ति-सम्बन्धी उल्लिखित लक्षणों के अतिरिक्त ग्रहणी में नीचे लिखे लक्षण होते हैं : हाथ-पैर में शोथ, (मुखपाक), कृशता, सन्धिवेदना, लौल्य (जिह्वा की लोलुपता), तृषा, वमन, उर्वर, अरुचि, दाह—सिर के जैसे, कहुए, अम्ल एवं लोह (धातु)^१ तुल्य, धूम-तुल्य तथा आम (कच्ची सड़ाई की) गन्धवाले उद्गार ; प्रसेक (लाला-स्राव), मुख-वैरस्य, तमक (श्वास, किंवा मोह—संज्ञानाश) विष्टम्भ ।

विशेष लक्षण

वातज-ग्रहणी—निज कारणोंसे कुपित हुआ वायु अग्निको मन्द कर देता है, जिससे अन्नपान बड़ी कठिनाईसे पचता है ; तथा अग्निमान्द्य-जनित निम्न लक्षण दिखाई देते हैं : अम्लपाक, अङ्गोंकी (त्वचा आदि की) खरता, कण्ठ और मुखका शोष, क्षुधा, तृषा, तिमिर (दृष्टिमान्द्य), कर्णनाद ; पार्श्व, ऊरु, वङ्क्षण और ग्रीवामें वेदना ; निरन्तर विसूचिका (ऊर्ध्व तथा अधोभागसे आम मलकी प्रवृत्ति), हृदय में पीडा, कृशता, दुर्बलता, विरसता, परिकर्तिका (कैंचीसे काटे जाने की-सी पीडा) एवं रसोंकी लोलुपता, मनोदौर्बल्य ; भोजन पच गया हो या पच रहा

हो उस समय आध्मान ; खाने पर स्वास्थ्यका अनुभव ; कास-श्वास ; रोगीको वात-गुल्म, हृद्गोग तथा स्तीहाकी आशङ्का होना ; पुरीष कभी द्रव, कभी शुष्क, पतला, आम शब्द और फेनयुक्त तथा बार-बार प्रवृत्त होना ।

(अनुभवसे वातज-ग्रहणी असाध्य-प्राय मालूम हुई है । कारण, पुरुष जिह्वाके वशमें होता है तथा उसका मन बड़ा अवसन्न हो गया होता है । ये दो लक्षण वातज-ग्रहणीमें विशेष होते हैं) ।

पित्तज ग्रहणी—जैसे उष्ण जल अग्निके समान धर्म-वाला होता हुआ भी उसे बुझा देता है, उसी प्रकार पित्त भी अपने कारणोंसे प्रकुपित होकर अग्निको मन्दकर ग्रहणी को दूषित कर देता है । परिणामतया, रोगीका पुरीष अपक्व (जो खाया हो वही), नील, पीत तथा द्रव होता है । रोगी पीला एवं दुर्गन्धयुक्त अम्लोद्गार, हृदय तथा कण्ठमें दाह, अरुचि और पिपासासे पीडित होता है ।

कफज ग्रहणी—निज कारणोंसे कुपित हुआ कफ अग्निको मन्द करके ग्रहणीको दूषित कर देता है, जिससे रोगीका पुरीष भिन्न (फटा-फटा), आम, ग्लेष्मासे मिश्रित और गुरु होता है । रोगी कृश न होता हुआ भी दुर्बल और आलसी होता है तथा अन्नका कठिनाईसे पाक, हलास, वमन, अरुचि, मुखलेप, मुखमाधुर्य, कास, घीवन, पीनस, हृदय बद्ध-सा प्रतीत होना ; उदर गुरु तथा बद्ध (जकड़ा हुआ) मालूम होना ; दुष्ट और मधुर उद्गार, साद, स्त्रियोंके प्रति रुचिका अभाव—इन लक्षणोंसे पीडित होता है ।

सांनिपातिक या त्रिदोषज ग्रहणी—

इसमें सभी दोषोंके लक्षण होते हैं ।

^१—Metallic—मेटलिक

संक्षेप में—वातज ग्रहणीमें गुद, हृदय, पार्श्व, उदर तथा शिरमें शूल यह विशेष लक्षण होता है। पित्तज ग्रहणीमें इन्हीं अवयवोंमें दाह, कफज ग्रहणीमें इन्हीं स्थानोंमें गौरव तथा सांनिपातिकमें सभीके चिह्न होते हैं। नख, नेत्र, मूत्र, मुख तथा मल में वर्ण भी दोष-भेदसे पृथक् होते हैं।

अग्निके चार भेदोंमें समाग्निके अतिरिक्त जो तीन भेद कहे हैं वे—अर्थात् वायुसे विषमग्नि, पित्तसे तीक्ष्णग्नि तथा कफसे मन्दग्नि भी ग्रहणी-रोग ही हैं^१। ग्रहणीके सभी भेदोंमें अतिसारवत् सामता-निरामता होती है।

साध्यासाध्यता

वातरोग, अश्वरी, कुष्ठ, मेह, उदर, भगन्दर अर्शस् तथा ग्रहणी ये आठ अति कष्टसाध्य हैं। वातज ग्रहणी पूर्वोक्त कारणसे असाध्य ही है—अर्थात् रोगी जीभका बड़ा चटोरा हो जाता है, जिससे रोग बना ही रहता है। (कमसे कम छ मास निरन्तर उपाय करानेसे ही ग्रहणीमें कुछ परिणाम आता है)। अतिसारकी साध्यासाध्यताके जो लक्षण कहे हैं वे इसमें भी हैं। वृद्धकी ग्रहणी असाध्य होती है, बालकमें साध्य और युवामें कष्टसाध्य।

ग्रहणी के अन्य भेद

ग्रहणीके दो अन्य भेद प्रसिद्ध हैं—संग्रहग्रहणी और घटीयन्त्र-ग्रहणी।

संग्रहग्रहणीमें मलप्रवृत्ति दिनमें होती है, रातको शान्ति रहती है। दस दिन, पखवाड़ा या महीना रहकर अथवा अविराम रोगके वेग होते हैं। मल आम, प्रभूत, पिच्छिल, शब्द तथा मन्द वेदनायुक्त, शीत, द्रव या सान्द्र, स्निग्ध एवं कटिमें वेदना-सहित होता है। यह चिरकारी, कष्टसाध्य तथा आमवात-जन्य होती है।

घटीयन्त्र ग्रहणीमें सोते समय पार्श्वोंमें शूल तथा चलते हुए रह रहकर रहँट (घटीयन्त्र) के समान शब्द होता है।

ग्रहणी रोग प्रायः अतिसार (और प्रवाहिका) में ही अहिताहार विहारसे उत्पन्न होनेवाला होनेसे जब तक दोष-साम्य न हो तथा शक्ति न आ जाय तब तक बहुत सावधानीसे रहना चाहिये।

१—अग्निके इन भेदोंका वर्णन आगे अग्निमान्द्यके प्रकरणमें देखें।

ग्रहणी-चिकित्सा

कई लोग ग्रहणी और संग्रहणीमें नीचे लिखे अनुसार भेद करते हैं—ग्रहणी रोग निरन्तर रहता है। अर्थात्—मलकी अतिप्रवृत्ति, कभी-कभी विबन्ध, रक्त और कफकी प्रवृत्ति, उदरशूल, गुदमें परिकर्तिका, मुखकी विरसता, अजीर्ण रुचि होते हुए भी अजीर्णके भयसे खा न सकना, रोग वात-प्रधान हो तो भोजनोत्तर आध्मान, अन्नकूजन, छाती, जाँघ तथा कटिमें वेदना, मुख-कण्ठशोष, कर्णकूजन, पीठे जाकर दृष्टिमान्द्य—ये लक्षण ग्रहणी-रोगमें सदा रहते हैं। संग्रहणीमें लक्षण दो-चार दिन रहते हैं, दो-चार दिन बाद शान्त हो जाते हैं। रोगी पाँच-सात या न्यूनाधिक दिन स्वस्थ रहता है। फिर रोगका वेग, फिर शान्ति। इस प्रकार पर्याय (क्रम) चलता है। इसके सिवाय, संग्रहणीमें मल-प्रवृत्ति रातको कम, दिनमें अधिक होती है। दिनमें पन्द्रह बार तो रातको दो-एक बार। अन्न-कूजन संग्रहणीमें अधिक होता है। संग्रहणीमें मल स्निग्ध, कभी घन, मल त्याग कटि-वेदनासहित, आम अपेक्षया अधिक तथा मल पैच्छिल्ययुक्त होता है। प्रतिदिन भी यह रोग हो सकता है। दस दिन, एक पक्ष या मास रहकर भी हो सकता है।

अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणीमें औषध समान हैं। एक-दूसरेके अधिकारके औषध प्रायः प्रयुक्त होते हैं। सर्व अवस्था-भेदसे दीपन, पाचन, ग्राही औषध तथा आहार देते हैं। विबन्ध-नाशार्थ कभी रेचन भी। ग्रहणीमें बीच-बीच में यह स्थिति (विबन्ध) होती है। विरेचन तथा आम पाचनकी दृष्टिसे इस स्थितिमें हरीतकी उत्तम है।

ग्रहणीमें सामान्यतया नीचे लिखे औषध दिये जाते हैं—विल्वोदि चूर्ण (विल्व, भांग, मोचरस इत्यादि) जातीफलानि चूर्ण (जायफल, चित्रक, पिप्पली, वीस द्रव्य; सर्वसम विजया—भांग), नाही चूर्ण (लाई चूर्ण (जायफल, अतिविष, पारद, गन्धक, अन्नक, हिङ्गु आदि पैंतीस द्रव्य, सर्वसम विजया), भूनिम्बानि चूर्ण (किरात, मुस्त, इन्द्रियव, कुटजत्वक् इत्यादि) चित्रकादि वटी (चित्रक, त्रिकटु, हिङ्गु, अजमोद, इत्यादि; निम्बू-स्वरससे भावना), संग्राहक चूर्ण (मध्य या बृहत गङ्गाधर चूर्ण, लम्बाङ्गादि चूर्ण, वटी (वैद्य-जीवन, सिद्धयोग संग्रह) इत्यादि) वटिकाओंका ग्रहणीमें अच्छा प्रचार है। राल (सर्जनी समभाग सितोपला (मिसरी) मिलाकर देनेसे भी)

देखा गया है। ग्रहणी तथा अतिसारमें रक्त आता हो तो कुटजके योग उपयोगी हैं। ऊपर लिखे योगोंके सिवाय कुटजघन वटी, कुटजारिष्ट आदि दिये जाते हैं। मुस्ता और बाला पाचक और ग्राही हैं। किरात (भूनिम्ब) मलको बद्ध करता है। इन्द्रियव ग्राही है—अतिसार तथा रक्तको रोकता है। चाङ्गोरी अन्तःरक्तस्रावको रोकनेवाली होनेसे रक्तस्राव, प्रवाहिका, अर्शस् आदिमें सुविहित है। चाङ्गोरी घृत आदि इसके योग हैं।

साम्प्रत वैद्यराज ग्रहणीमें विभिन्न पर्पटीयोगों तथा दुग्धवटी और तक्रवटी के कल्प कराते हैं। पर्पटियोंका प्रकार अधिक है। सब पर्पटियोंमें रसपर्पटी और पञ्चा-मृत पर्पटी (पारद, लोह, अभ्रक, ताम्र, सर्वसम गन्धक) का विशेष प्रचार है। मात्रा—१-३ गुञ्जा। इनमें स्वर्ण पर्पटी क्षयज अतिसारमें विशेष उपयोगी है। पर्पटियोंका अनुपान दुग्ध है। पर्पटी-सेवनकालमें प्रायः वैद्य जल और लवण वर्ज्य कराते हैं। अन्य रसोंमें महागन्धक, रासबाण नृपतिवल्लभ आदिका प्रचार है। अहिफेनयुक्त योगोंमें ग्रहणी कपाट और कर्पूरादिवटी विशेष प्रयुक्त हैं।

दुग्धवटी और तक्रवटी अनेक प्रकारकी है। पर सबमें अहिफेन प्रधान द्रव्य है। इनमें भी लवण तथा जल वर्ज्य है। इनके सेवनकालमें रोगीको क्रमशः दुग्ध और तक्रपर ही रखा जाता है। प्रारम्भिक अवस्थामें इनका प्रयोग न करावे। कारण, ये शोषक हैं। पाँवोंमें शोथ, वेदना आदि हों तभी दें। जल विना रोगी न रह सके तो थोड़ा-थोड़ा नारिकेलोदक दें। नारिकेलोदक शीत, पाचक तथा ग्राही है। अतिसार, विपूचिका, श्वयथु, अजीर्ण, ग्रहणी और अम्लपित्त^१ में दिया जाता है। नारिकेलकी मञ्जा तथा जल दोनोंके गुण भिन्न होते हैं। अम्लपित्त तथा अम्लशूलमें मञ्जा मलाई-सरीखी हो तो, वह भी दे सकते हैं। नारिकेल-जल तृषाको भी रोकता है। उक्त रोगोंमें पर्पटी तथा दुग्ध-वटीके प्रयोगमें, जिनमें जलवर्जित है, रोगी प्यास न रह सके तो इसे दें। तब भी बहुत नहीं। दाह तथा विदग्धा-जीर्णमें भी यह उपयोगी है।

तक्र तो ग्रहणीमें अमृत-तुल्य है। मक्खन निकालकर हिंगु, शुराठी, जीरक आदि डालकर दें। अजादुग्ध ग्राही तथा अन्य दुग्धोंसे लघु (सुपच) होनेसे ग्रहणी आदिमें उत्तम है। गोदुग्ध लेना हो तो बिल्व-शलाह (कच्चा

बिल्व) या मुस्ता उबालकर देना अच्छा है। पित्तज ग्रहणी (सरक्त) में हिंगु अधिक न डालें।

ग्रहणी पर्पटी आदिसे भी अच्छी न हो तो कई वैद्य शोषक, दीपक, पाचक होनेसे विषतिन्दुक तथा सोमल के कल्प देते हैं। फिरङ्गजन्य अतिसार तथा आधुनिकोंकी एसीविक डिसेण्ट्री जीर्ण होकर ग्रहणीकी विकृति हो गई हो तो अनुरूप उपचार करें। जैसा कि ऊपर कहा है, वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक अग्निको भी प्राचीनोंने ग्रहणी ही कहा है। उनमें दोष-भेदको लक्ष्यमें रखकर यही चिकित्सा करें।

पूर्वाचार्योंने ग्रहणीके साम और निराम दो भेद किये हैं। विप्टम्भ, प्रलेक (लालास्राव) वेदना, विदाह, अर्हच और गौरव ये लक्षण हों तो ग्रहणी साम कही जाती है। ऐसी स्थितिमें दोषोंको आमाशयसे निकालनेके लिए वमन करावे, पक्वाशयसे निकालनेके लिए दीपन-रेचन दे। शरीरमें साम रस स्थित हो तो लङ्घन-पाचन करावे। आमाशय शुद्ध होनेपर पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी) आदिसे साधित पेया आदि लघु अन्न दें। पश्चात् दीपन योग दें। आम पक्व हो तो दीपनीय द्रव्य-साधित घृत दे। मल, मूत्र तथा वातका विवन्ध प्रतीत हो तो दो-तीन दिन स्नेहन कराके स्वेदन करावे। पश्चात् निरुह बस्ति देकर क्षारयुक्त पुराह तैलसे विरेचन करावे। पक्वाशय रुक्ष हो, मल विवद्ध हो तो दीपन, अम्लहर एवं वातहर द्रव्योंसे साधित तैलकी अनुवासन बस्ति दे। निरुह, विरेचन और अनुवासनके बाद लघु अन्नपर रखे और सिद्ध घृतका सेवन करावे। घृतादि स्नेह दुर्बल अग्निके दीपनके लिये अति श्रेष्ठ हैं।

शोथ, श्वयथु या शोफ

आयुर्वेदीय दृष्टिसे शोथके निदान और सम्प्राप्ति अध्ययन करते हुए प्रथम ही यह जान लेना चाहिए कि इरा प्रकरणमें पाक^१, व्रणशोथ, गलगुण्डिका^२, तुण्डिकेरी^३, गलगण्ड, गण्डमाला आदि एक-एक अङ्गका शोथ, त्वचाके नीचे जल भर जानेसे हुआ एकाङ्ग-शोथ^४ या सर्वाङ्गशोथ^५ ;

१—Inflammation—इनफ्लेमेशन।

२—Uvula—यूव्युला।

३—Enlarged Tonsil—एन्लार्ज्ड टॉन्सिल।

४—Dropsy—ड्रॉप्सी, या Oe (e) dema—इडीमा।

५—Anasarca—एनासार्का ; Genral Dropsy—

जेनरल ड्रॉप्सी।

१—Gastritis—गैस्ट्राइटिस ?

मूत्रवृद्धि^१, गुल्म, प्लीहा, उदर (उदरकी वृद्धि) आदि सब सम्मिलित हैं। इन सबमें उत्सेध (उभार)^२ समान चिह्न है।

शोथका निदान^३

कारणकी दृष्टिसे शोथ दो प्रकारका है। आगन्तु तथा नीज। निज वात, पित्त, कफ भेदसे तीन प्रकारका है। यों सभी निज त्रिदोषज हैं। तथापि एक-एक दोषके आधिक्यसे वातिक आदि व्यपदेश (नाम) होता है। अवयव-भेदसे शोथ एकाङ्गज, अर्धाङ्गज तथा सर्वाङ्गज (सर्वसर) होता है।

आगन्तु शोथ—विविध आवात, प्रहार, दंश, पतन विष, भल्लातकादिका स्पर्श इत्यादि बाह्य कारणोंसे होता है। इनमें शोथ अति उष्ण, रक्त वर्ण तथा पित्त के लक्षणोंवाला होता है।

निज (दोषज) शोथ—पुरुष (क) स्वभावसे, विरेचनादि संशोधनोंके कारण ; वमन, अलसक, विसूचिका, श्वास, कास, अतिसार, शोष, पाण्डुरोग, उदर, ज्वर, प्रदर, भगन्दर, अर्शस्' गर्भ इत्यादि रोगोंसे अथवा उपवास अपतर्पण^४ अति श्रमादिके कारण बहुत क्षीण हो गया हो तथापि इन रोगोंमें सहसा अतिमात्रामें अन्नपानका सेवन करे या अति गुरु, अम्ल, लवण, क्षार, तीक्ष्ण, उष्ण, पक्वान्न, फल^५, शाक, मद्य, दही, हरितक, नवधान्य,

शमीधान्य, अनूप मांस, औदक मांस और जल इनका अति सेवन करे, (ख) किंवा उल्लिखित रोगोंका उपचार ठीक न हो ; (ग) मृत्तिका आदिका सेवन करे ; विरुद्ध भोजन करे ; (घ) अजीर्ण होते हुए भी व्यवाय करे ; इन कारणोंसे तथा (ङ) दोष संशोधन योग्य हों तथापि संशोधन न करनेसे^१ ; एवं स्त्रियोंमें इन कारणों के अतिरिक्त गर्भावस्था^२, गर्भास्त्राव तथा प्रसवोत्तर मिथ्योपचार के कारण शोथ होता है।

शोथकी संप्राप्ति^३

वायु दूषित होकर कुपित हुए कफ, पित्त तथा रक्तको बाह्य सिराओं (स्रोतों) में पहुँचाता है। परिणामतया, स्वयं अवरुद्ध किया जा कर त्वचा और मांसके मध्यमें उत्सेध (उभार) उत्पन्न करता है। उत्सेधको शोथ कहते हैं। दोष जिस-जिस स्थानमें स्थित हो वहाँ—वहाँ शोथ उत्पन्न करता है।

व्यवहार रोगी-मात्रको करने लगे हैं, पर इसका रस, विशेषतया विपाक (रसोईकी क्रियामें तथा ग्रहणीमें पाकसे हुआ रस) अम्ल होनेसे यह कफकर और शोथजनक है, यह स्मरण रखना चाहिये।

१—शोथके निदानमें इस कारणके प्रति, विशेषतः इसके साथ अम्ल-लवणादि सेवी भी रहे हों तो, प्रथम ध्यान देना चाहिये। कारण, एकाङ्ग या सर्वाङ्गशोथ किंवा उसके एक भेद उदरमें शोधन (दोषोंका सञ्चय अधिक हो और रोगी बलवान् हो तो जयपाल आदि तीव्र विरेचनों द्वारा तथा संचय अल्प और रोगी दुर्बल हो तो कटुकी, अभया आदि मृदु विरेचन देकर मलोंकी शुद्धि) एवं दुग्धाहार पर रखकर दोषोंका संचय अधिक न होने देना—इन उपायोंके अवलम्बनसे अन्न पद्धतियोंकी अपेक्षया अधिक सफल चिकित्सा वैद्यजन करते हैं। संप्राप्तिमें, नव्यमतानुसार यकृत, वृक्क या हृदयकी कारणताके विचार करते हुए भी मिश्र शिक्षणप्राप्त वैद्योंको व्यवहारमें तो आयुर्वेदीय पद्धतिका आश्रय लेना चाहिए। अपरंच, इस पद्धतिसे सफलता प्रत्यक्ष होनेसे आयुर्वेदीय संप्राप्तिकी शुद्धि भी नव्यमतसे समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

२—इन स्थितियोंमें रक्तकी, परिणामतया रसरक्त के स्रोतोंमें प्रोटीनकी कल्पना होनेसे पूर्वलिखित प्रकारसे होता है।

३—च० चि० १२१८ ; अ० ह० नि० २३११।

१—Hydrocele—हायड्रोसील।

२—Swelling—स्वेलिङ्ग।

३—देखिये—च० सू० १८११-३६ ; च० चि० १२११-१६, ७४—१०२ ; सु० चि० २३११—९ ; अ० ह० नि० १३१२^०—४२ ; माधवनिदान।

४—malnutrition—मालन्यूट्रीशन। अपतर्पणसे नव्य मतानुसार होता यह है कि, भोजन द्वारा महास्रोतमें प्रोटीनका प्रमाण अल्प जानेसे रसमें और उसके कारण रक्तमें भी प्रोटीन अल्प होता है। परन्तु पूर्व भोजनोंके कारण धातुओंमें घन और द्रवका अनुपात सम रहे इस दृष्टिसे स्रोतोंसे द्रव धातु रिस कर (क्षरित होकर) धातुओंमें जाता है। यही शोथ है। सर्वाङ्ग शोथमें आयुर्वेदमें दूध देते हैं। यह लघु और प्रोटीनमय आहार है, जो अपनी प्रोटीनके कारण द्रव धातुको पुनः महास्रोत और रसरक्तवद् स्रोतोंमें आकृष्ट कर शोथको शान्त करता है।

५—पश्चात्त्योंकी देखा देखी वैद्य भी फलोंमें टमाटर का

पूर्वरूप

ऊष्मा, नेत्रादिमें उपताप (व्यथा), सिराओंमें अयामवत् (खेंचे जाने की-सी) पीडा।

शोथके सामान्य लक्षण^१

अवयवमें गुरुता, उत्सेध, ऊष्मा, सिराओंका पतलापन, रोमाञ्च, फीकापन। ये लक्षण कभी-कभी मिट भी जाते हैं। शोथोंके पृथक् लक्षण

वातिक शोथ—शोथ थोड़ी देरमें उत्पन्न होना, फिर शीघ्र ही बैठ (पटक) जाना, त्वचा पतली होना; त्वचा का वर्ण अरुण (ईपद् रक्त), कृष्ण या प्राकृत होना; रह-रहकर संकोच, विस्तार, तोड़, भेद, छेदन, पीडन, जानो सरसोंका लेप किया हो इत्यादि प्रकार की वातिक वेदनाएँ होना; बीच-बीचमें वायुकी चंचलताके कारण उपचारके बिना ही किंवा स्निग्ध-उष्ण उपचारों या मर्दनसे शोथ दब जाना; संज्ञानाश, खर रोमाञ्च, भ्रूणभ्रूणी; रुक्षता, स्पन्दन, वेदना; अंगुलीसे दबानेपर शोथ फिर उभर आना^२; शोथ रातको कम दिनको अधिक होना ये वातिक शोथके लक्षण हैं।

पैक्तिक शोथ—उष्ण स्पर्श, अति दाह, पाक, मृदुता, शीघ्र प्रसार, स्वेदन, क्लेदन (शोथमें द्रवता अधिक होना), ऊष्मा, स्पर्शासहिष्णुता^३, उष्णाशीताभिप्राय (उष्ण और अशीत वस्तुओंकी आकांक्षा), शीघ्रोत्थान प्रशमता (शीघ्र वृद्धि और शान्ति); त्वचा कृष्ण-पीत-नील-ताम्र-वर्ण होना; दुर्गन्धि; साथमें ज्वर, तृषा, प्रस्वेद, अतिसार और मद (नशा जैसा) होना; नेत्रोंमें रक्तिका—ये पैक्तिक शोथके लक्षण हैं। यह शोथ शरीरके मध्य भागमें प्रथम होता है।

कफज शोथ—त्वचाका वर्ण पाण्डु या शुक्ल (पूनी जैसा) होना; शोथ स्निग्ध, कठिन, स्थिर (शीघ्र न बैठनेवाला), शीत, गुरु, धीमे-धीमे फैलने तथा शान्त होनेवाला; दबानेसे ऊपर न उठनेवाला^४, रातको अधिक^५

अरुचि-लालास्राव-निद्रा-व्रमन-कण्डू-अग्निमान्द्य-युक्त; स्पर्श तथा उष्णताको सहन करनेवाला; चौरनेसे भी जिसमें रक्त न निकले तथा पिच्छाका स्राव कठिनाईसे हो ऐसा—ये श्लेष्मिक या कफज शोथके लक्षण हैं।

द्विदोषज-त्रिदोषज शोथ—इसमें दो या तीन दोषों के वर्ण (वातसे अरुणादि, पित्तसे रक्तादि, कफसे शुक्ल) और वेदना (वातसे तोड़-भेदादि, पित्तसे दाहादि तथा कफसे गौरवादि) होते हैं।

विषज शोथ—‘मृदु’ चल, नीचे (पैरोंकी ओर फैलने वाला और शीघ्र दाहपाकवान्—ये विषज शोथके लक्षण हैं।

शोथ का साध्यासध्यता

शोथ तरुण (नया) हो, उपद्रवयुक्त न हो, एक दोषज हो, रोगी बली हो तो वह साध्य होता है।

पुरुषोंमें शोथ प्रथम पैरों पर दिखाई दे फिर ऊपरकी ओर बढ़े^१, तथा स्त्रीमें प्रथम मुख पर प्रकट हो^२ फिर नीचे की ओर बढ़े तो, उपद्रव न होने पर भी कष्टसाध्य होता है। परन्तु पाँवोंमें शोथ यदि पाण्डु आदि अन्य रोगोंका उपद्रव-भूत हो तो कष्टसाध्य नहीं होता।

२—शोथ मध्यमार्गमें या सर्वाङ्गमें हो तो कष्टसाध्य होता है।

के साथ साम्यके शोथक हैं। चक्रपाणि ने लिखा है कि, रातके समय इन्धनवत् उपयोग न होनेसे कफकी वृद्धि होती है, अतः स्वभावतः रातमें तथा प्रातःकाल कफजन्य रोग बढ़े हुए पाये जाते हैं।

ऊपर कहे पित्तज शोथमें आया लक्षण—प्रारम्भ मध्य कायसे होना—उस शोथके आधुनिकोंके यकृजन्य शोथके साथ साम्यका सूचक है।

१—यह स्थिति हृदयके दौर्बल्यके कारण होती है, जिस से स्वभावतः यह कष्टसाध्य होता है। परन्तु, पाण्डु, आदि के कारण हृदयकी पेशीकी अल्पकालिक दुर्बलताके कारण पैरोंमें शोथ हो तो, जैसा कि आगे कहा है, वह कष्टसाध्य नहीं होता। निदानभूत रोगका उपचार करनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है।

२—मुख पर प्रथम शोथ (नव्यमतानुसार वृक्क-दुष्टि-जन्य) स्त्रियोंमें कष्टसाध्य होता है, इसका विचार चिकित्सकों को गणना द्वारा (प्रतिशतकता देखकर) करना चाहिये।

१—च० चि० १२।२१

२—गाढ़ा pitting—पिटिंग न होना।

३—Tenderness—टेंडरनेस।

४—pitting—पिटिंग होना।

५—रातको (और प्रसातमें) अधिक होना, गढ़ा पड़ना—ये लक्षण इस शोथके आधुनिकोंके वृक्क-जन्य शोथ

३—अर्धाङ्गमें^१ अर्थात् आधी नासिका, आधी छाती आधे पेट अथवा आधे शरीरमें हो^२ तो कण्ठसाध्य होता है ।

४—शोथमें श्वास, विपासा, वमन, दौर्बल्य, ज्वर, अन्नद्वेष, हिक्का, अतिसार, कास—ये उपद्रव हो तो वह असाध्य होता है ।

५—स्त्री या पुरुष दोनोंमें शोथका प्रारम्भ यदि गुह्य भाग (शिश्न, भग, बस्ति-प्रदेश आदि) से हो तो रोग अति कण्ठसाध्य होता है ।

६—शोथ यदि अन्य रोगोंके परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुआ हो, रोगी कृश और दुर्बल हो गया हो तथा उपद्रव उत्पन्न हो गये हों तो शोथ असाध्य होता है ।

७—शोथ मर्मगामी हो तो असाध्य होता है ।

८—राजिमान् (जिसपर रेखाएँ दीखती हों ऐसा) शोथ असाध्य होता है ।

९—सर्वाङ्ग शोथ-रोगी दुर्बल, बालक या वृद्ध हो और उसे अतिसार हो गया हो तो रोग असाध्य होता है ।

शोथकी चिकित्सा

शोथमें वर्ज्य—शोथ और उदरकी चिकित्सा प्रायः समान है । पिष्टान्न (अटेको मसलकर बनाये आहार्य द्रव्य), नवान्न, अम्ल, लवण, विदाही, मद्य, मृत्तिका, दिवास्वप्न, जाङ्गल-भिन्न मांस, मैथुन, घृत, तैल, जल, दही, गुरु द्रव्य, गुड, वसा—शोथ रोगमें इनका त्याग करे । पश्चात् निदान, दोष, दूष्य, ऋतु—इनके विपरीत उपचार

१—Unilateral—यूनिलेटरल ।

२—यह स्थिति पक्षाघातमें होती है । क्रियाशारीरसे विदित होगा कि सिराओं या रसवाहिनियोंसे हृदयकी ओर रक्त और रसकी प्रगति पेशियोंकी चेष्टाओंके कारण हुए पीडन (दबाव) से होती है । चिरकारी (दीर्घकालिक) पक्षवधमें चेष्टानाश चिरकालिक होनेसे रक्त और रसका प्रवाह सम्यक् न होनेके कारण उनका द्रव अंश स्रोतोंकी दीवारोंसे क्षरित हो सञ्चित हो जाता तथा शोथको उत्पन्न करता है । चिरकारी पक्षवध दुःसाध्य क्यों होता है इसका विचार आगे उस रोगके प्रकरणमें करेंगे । उसकी असाध्यताका एक लक्षण 'शोथ' कहा गया है, इतना ही यहाँ कह दूँ । और इस शोथकी संप्राप्ति ऊपर कहे अनुसार होती है । अर्धाङ्गमें हुआ शोथ चिरकालिक पक्षवधका ही एक अङ्ग होनेसे कृच्छ्रसाध्य है, यह अ । शय समस्तना चाहिए ।

करे । शोथ आमजन्य हो तो प्रथम लङ्घन-पाचन करावे । दोष अति उत्कट हों तो स्थानानुसार संशोधन करावे । यथा, शिरोगत शोथमें शिरोविरेचन, ऊर्ध्वगतमें वमन, अधोगतमें विरेचन । अपतपण-जन्य शोथ में प्रथम स्नेहन करावे । मल विवद्ध हो और शोथ वातज हो तो निरुह बस्ति करावे—एक पक्षपर्यन्त पुराण-तैलका सेवन करावे । शोथ कफजन्य हो तो क्षार, कटु-ऊष्ण तथा गोमूत्र का प्रयोग विशेष करे । शोथ तीव्र और सर्वाङ्ग व्यापी हो तो दन्ती आदि तीव्र विरेचन दे ।

प्राथमिक चिकित्साके पश्चात् नीचे लिखे योग सामान्यतः दें । शोथमें पुनर्नवा तथा काकमाची पञ्चाङ्ग अति उत्तम हैं । सम्पन्न गृहस्थको काकमाची (मकोय) का अर्क दे सकते हैं । पुनर्नवाके योगोंमें पुनर्नवाष्टक क्वाथ (पुनर्नवा, अभया, निम्ब, दावी, कटुकी, पटोल, गुडूच, नागर—गोमूत्र-सहित) का व्यवहार अनुपानके रूपमें विशेषतः किया जाता है । साथ—नवायस लोह तथा आरोग्यवर्धनी प्रयुक्त की जाती है । नवायस लोहमें यवार्क सर्वसमान लोह पठित है, तथापि गुरुपरम्परया सर्वसमान मगडूर भस्मका व्यवहार होता है । पाण्डुरोगमें प्रयुक्त पुनर्नवा-मण्डूर भी पुष्कल उपयुक्त है । मगडूर शोथमें अनिवार्य है । गोमूत्र शोथका एक ही उपाय है । मल प्रवृत्तिके सिवाय मूत्रप्रवृत्तिपर भी विशेष लक्ष्य दें । मूत्रल-कषाय (सिद्धयोगसंग्रह) उत्तम मूत्रल हजरूल यहुद (पत्थर वेर) की भस्म या पिष्टि (मात्रा-४-८ रत्ती) का व्यवहार मूत्रलके रूपमें आजकलके वैदिक करते हैं ।

त्रिफला-क्वाथके अनुपानसे शिलाजतुका प्रयोग सामान्यतः सभी शोथोंमें उत्तम है । मुख, दन्तवेष्ट, जिह्वा, गला, नेत्र, गुद, गर्भाशय, अपत्यपथ आदि अवयव मात्रके शोथ (पाक) में त्रिफला अकेला या मधुयष्टी-सहित, पिष्टक शामक और शोधक होनेसे, बहुत गुणकारी है ।

अन्य योगोंमें—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चिकित्सा अपामार्ग, पुनर्नवा—इनसे सिद्ध दूध; गुड और हरीतकी गुड और शुण्ठी आदि उत्तम हैं । प्राचीन कल्पोंमें कर्कश हरीतकी (हरीतकी, गुड, त्रिकटु, त्रिछगन्ध, मधु, यवार्क लोह) प्रसिद्ध है ।

आहारमें शोथ-रोगीको त्रिकटु तथा क्षार-साहित स्नेहयुक्त मुद्ग-यूषके साथ यव अथवा गोधूमके अन्न

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

१४३

शोथ पित्त-प्रधान हो तो लेपके लिए दशाङ्गलेप तथा कफ-
वात प्रधान हो तो दोषज्ञ लेप या वातज्ञ लेपका व्यवहार
करें।

उदर^१

सामान्य परिचय

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ विशेषात् उदराणि तु।

अजीर्णात् मलिनैश्चान्नैः जायन्ते मलसंचयात् ॥

अ० ह० नि० १२।१

जिन रोगोंमें उदर (पेट) का उत्तेध (उन्नति,
फुलावा) हो जाता है, उन्हें सामान्यतः उदर कहते हैं।
यों तो रोगमात्र अग्निके मन्द होनेसे, परिणामतया दोषों
तथा मलोंका संचय होनेसे होते हैं, परन्तु उदर-रोगोंकी
उत्पत्तिमें अग्निसामान्य विशेषतः कारणभूत है। पुरुषका अग्नि
अत्यन्त दुर्बल हो, परिणाममें वह अजीर्ण (आमाजीर्ण
विष्टग्धाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण या रसशेषाजीर्ण) से पीडित
रहता हो तथापि अहिताहार (विरुद्धाशन, समशन, अध्यशन
विषमाशन) करे; किंवा शुष्क या दुर्गन्धयुक्त (सड़े-गले)
अन्नका सेवन करे तो उसके शरीरमें दोषों तथा मलोंका
संचय हो जाता है। ये संचित दोष और मलकोष्ठमें आकर
उदरकी गुल्म-सदृश वृद्धि करते हुए उदर-रोगोंको उत्पन्न
करते हैं।

भेद

कारण-भेदसे उदर आठ प्रकारका है—पृथक्-पृथक्
दोषोंसे वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, तीनों दोषोंसे
संनिपातोदर (दूष्योदर); प्लीहा या यकृतकी वृद्धिसे
प्लीहोदर - यकृदास्युदर; बद्धगुदोदर; क्षतोदर
(परिस्त्रान्युदर, छिद्रोदर) तथा जलोदर (दकोदर)।

हेतु या निदान^२

पुरुष अति उष्ण, लवण, क्षार, विदाही, गर, रुक्ष,
विरुद्ध, अशुद्ध (सड़े-गले द्रव्य अथवा मट्टी), आहारका
सेवन करे, मिथ्या (शास्त्र-विरुद्ध) संसर्जन (मगड पेया
आदिका उपयोग) करे, वमनादि कर्मोंका असम्यक् प्रयोग

१—च० चि० १३, सु० नि० ७, चि० १४, अ० ह०
नि० १२, माधव निदान।

२—सु० नि० ७।५, च० चि० १३।९-१५।

करे, प्लीहा, अर्शस्, ग्रहणी—इन रोगोंसे अतिकृश हो
गया हो; इन रोगोंका उपचार न हो; वह रुक्ष हो; वेग
धारण करे; उसके स्रोत वातादि दोषोंसे दूषित हो गये हों
(वातसे खरत्व, स्तम्भ या संकोच; पित्तसे शोथ (पाक);
कफसे अति पुष्टि—इन अवस्थाओंके कारण स्रोतोंके विवरोंका
विस्तार न्यून होना, परिणामतया उनका अवरोध)^१;
उसमें (पुरुषमें) अजीर्णवशा आमकी वृद्धि होना; उसे
आघात (संक्षोभ) पहुँचे; वह अति संतर्पण करे; अर्शस्,
वाल या मलसे महास्रोतका अवरोध हो; अन्त्रोंका वेध या
भेद हो; किसी भी कारण दोषोंका अतिसंचय हो; पुरुष
पापाचरण करे तो, विशेषकर वह मन्दाग्नि हो तो, उदर
रोग होता है।

संप्राप्ति^२

उल्लिखित कारणोंसे दोष प्रकुपित होकर प्राण और
अपानवायुको विकृत करते हैं, तथा पहलेसे ही मन्द हुए
अग्निको और मन्द कर देते हैं। उदरकी त्वचा और मांसके
मध्य उदरको आध्मात (उभरा हुआ) कर देते हैं।
उत्तरावस्थामें दोष, मल, मूत्र, रस, स्वेद तथा जलका वहन
करनेवाले स्रोतोंको अवरुद्ध कर देते हैं। परिणामतया,
अन्नरस तथा शरीरका जलधातु इन मार्गोंसे न जाकर
उदरमें^३ क्षरित होता है तथा उदरको और फुला देता है।
इसी कारण सभी उदर अन्तको जलोदरमें परिणत हो
जाते हैं।

उदरोंके पूर्वरूप^४

अरुचि, भ्रुघानाश, पेट-भर खानेकी शक्ति न रहना,
उत्तरोत्तर बलक्षय, अल्प भी श्रमसे श्वास, वर्ण-नाश, मधुर,
अति स्निग्ध और गुरु अन्नका पूर्वापेक्षया अति चिरकालसे
पाक (हजम होना); भोजनका विदाह (अम्ल पाक);
भोजनकी जीर्णता या अजीर्णताका बोध न होना; बस्तिमें

१—स्रोतोंकी दोषोंसे दुष्टिका स्वरूप जाननेके लिए देखिये—

सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर १९५०, पृ० ३६२।

२—च० चि० १३।१०-११; सु० नि० ७।६।

३—वर्तमान प्रत्यक्षानुसार वपावहन (Peritoneum-
पेरीटोनिअम; उदरधरा कला) के अवकाशमें यह जल-संचय
होता है।

४—च० चि० १३।१६-१९; सु० नि० ७।७; अ०

ह० नि० १२।५-८।

(वस्ति-प्रदेश^१में) वेदना ; पाद-शोथ ; रुक्षता और उदावर्त (वायुकी विपरीत गति) के कारण पुरीषकी अप्रवृत्ति, संचय और वृद्धि ; आध्मान ; लघु और अल्प भोजन करनेपर भी पेट फटता या तनता हो ऐसी प्रतीति ; उदर पर रेखाओं^२का प्रादुर्भाव तथा सदृज (स्वाभाविक) वलियों (झुर्रियों) का नाश ।

सामान्य लक्षण

सर्व उदरोंमें निम्नोक्त लक्षण समान होते हैं—कुक्षि (पेट) का आध्मान, आटोप (वेदना) ; हाथ, पैर तथा अन्य अङ्गोंपर शोथ ; चलनेका सामर्थ्य न ह ; अग्नि-मान्द्य ; गाल श्लक्ष्ण (चिकने तथा चमकदार) होना ; दौर्बल्य, कृशता ; तन्द्रा, अङ्गसाद ; वात, पुरीष आदि मलोंका सङ्ग (अप्रवृत्ति) ; दाह, तृष्णा ; अन्तमें जल भरना ।

जलहीन तथा सजल उदरके लक्षण^३

चिकित्सामें भेदकी दृष्टिसे उदर जलयुक्त है या नहीं यह प्रथम जानना होता है । अतः दोनों उदरोंके भेदक लक्षण देते हैं ।

उदर रोगमें उदरमें जल न भरा हो तब उसका वर्ण अरुण होता है, शोफ नहीं होता, आकोठन^४ स-शब्द होता है^५ ; उदरमें अतिशय भार नहीं होता ; वह जालके सदृश सिरा-समूहसे व्याप्त होता है ; सदा उसमें गुड़गुड़ी होती है ; उसमें प्रकुपित वायु (समय-समयपर) अपना वेग प्रकट करता है ; वेग-कालमें वायुके कारण अन्त्र तथा नाभि स्तब्ध

१—Hypogastric region—हायपोगेस्ट्रिक रीजन ।

२—गमविस्थाके समान उदरोंमें भी त्वचा तनावके कारण फटती है, जिससे उसका व्रण-चिह्न किक्विषोंके समान दिखाई देता है ।

३—च० चि० १३।५५-५८ ।

४—Percussion—पर्कशन । इस प्रकरणमें पर्कशनके लिए यह संज्ञा आयी है । मूल ग्रन्थमें आकोठन शब्द है, आकोटन नहीं ।

५—पश्चात् कालमें जल भरनेपर शब्द नहीं होता ।

हो जाते हैं—जकड़-से जाते हैं एवं हृदय, कटि, नाभि, पुरीष और वङ्क्षणमें वेदना होती है ; अन्तमें वात और पुरीषका विसर्जन (प्रवृत्ति) करा अपना वेग दिखाकर वायु शान्त हो जाता है । इन लक्षणोंके अतिरिक्त जल-हीन उदरमें अति बहुत मन्द नहीं होता ; अध्वावायुकी सशब्द प्रवृत्ति होती है ; मल विवद्ध होता है ; मूत्र अल्प होता है ; लोलुपता होती है ; मुख विरस नहीं होता । सजल उदरमें इससे विपरीत लक्षण होते हैं । इनका निर्देश आगे जलोदरके प्रकरणमें करेंगे ।

वातोदरका निदान, लक्षण और संप्राप्ति

वातोदरमें रुक्ष या अल्प भोजन, श्रम, वेगधारा, उदावर्त एवं लङ्घनादि कृशता-कारक हेतुओंसे वायु कुपित होकर कुक्षि, हृदय, वस्ति और गुद-मार्गमें स्थित हो, अग्नि मन्द करके, कफको स्थान-भ्रष्ट करता है तथा स्वयं उससे उसकी गति रुद्ध हो जाती है । यह रुद्ध वायु उदरके त्वचा और मांसके मध्यमें स्थित हो उदरको फुला देता है । इसमें—

कुक्षि (वस्ति-प्रदेश), हाथ, पैर और वृषणपर शोथ ; पृष्ठ और नाभिकी स्तब्धता ; पेटमें विपाटन, तोड़, भेद (फटने, चुभने या कटनेकी प्रतीति) ; उदरकी वृद्धि और ह्रासका कोई नियम न होना (अर्थात् देखते-देखते पेट फूलना और देखते-देखते पटक जाना) ; कुक्षि-शूल, पार्श्वशूल, उदावर्त, अङ्गभर्द, पर्वभेद, शुष्क कास, कृशता, दौर्बल्य, अरोचक, अविपाक (अजीर्ण), अघोर्गुस्त्व ; वात, मल तथा मूत्रका संग ; नख, नयन, वदन, त्वचा, मूत्र तथा पुरीषका श्याव-अरुण होना ; उदरपर पतली, श्याव रेखाओं और सिराओंकी व्याप्ति ; आनाह ; आघात करने पर नगाड़ेके समान शब्द ; पेटमें ऊपर, नीचे और तिरफे वेदना और शब्द-सहित वायुका संचार—ये लक्षण होते हैं ।

(क्रमशः)

इस आकोठनको नवीन चिकित्सा-शास्त्रमें Dullness—ढलने कहते हैं । जल-हीन दशामें आकोठन करनेपर नीचे वायु उदरमें शब्द होता है । उसके लिए अंग्रेजीमें Resonant—रेज़ोनेण्ट शब्द है ।

नोट—अप्रैल १९५१ के सचित्र आयुर्वेदमें पृ० ८७२ पर 'विलायती इमली' का निर्देश है । निष्णातोंसे पूछनेसे विदित हुआ है कि, यह शिम्बी-वर्ग (N. O. Leguminosae—लेग्युमिनोसी नेचुरल आर्डर) का उद्भिद है । उद्भिद् विद्यानुसार इसका नाम पहले Inga dulcis (इङ्गा डल्लिस) था ; अब Pithecolabium dulce (पायथेकोलेबियम डल्लिस) है ।

—वैद्य रणजितराय

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम-२

वैद्यरत्न क० प्रतापसिंह रसायनाचार्य

❀

मधुवर्ग—मधु और मधुशर्करा के गुण

मधु के भेद—भ्रामर, पेंतक, क्षौद्र, माक्षिक इनके गुण, स्वरूप, ज्ञान और परीक्षा।

देश और पुष्पभेद से मधुभेद और उनके गुणों का ज्ञान।

इक्षुवर्ग—इक्षु के भेद, (पौण्ड्रक, वांशिक, शातपर्वक कान्तार, नेपाल आदि इक्षुओं के भेद) उनका स्वरूप और गुण। इक्षुरस, (स्वरस और यान्त्रिक) फाणित, गुड़, धौतगुड़, नवीन तथा पुरान गुड़ के भेद, मत्स्यण्डिका, खण्डसिता, शर्करा, यासशर्करा, चुकन्दर शर्करा, तालशकरा, सेकरीन, और ग्लूकोज-शर्करा, दुग्ध शर्करा।

मद्यवर्ग—मद्य और मद्य की जातियाँ और उनके गुण। सुरा, वारुणी, वैभीतकी सुरा, अरिष्ट, आसव, माद्वीका, खाजूर, शार्कर, गौड़, सीधु, (पकरस, अपकरस) मधुकासव और मध्वासव, यवसुरा, पिष्टसुरा, कोहल, किण्व, जगल, बक्कस, जाम्बक, इक्षुजन्य सीधु, आसव, सुरासव (Pincheres), मैरेय, इक्षुरसासव, मधूक-पुष्पसुरा, कांडव, त्वगासव, मद्य की प्राचीन और अर्वाचीन परीक्षाएँ—उनमें ज्वीय अंश और मद्यांश की स्थिति का ज्ञान।

Drugs acting on the nervous System—

Alcohol, Chloroform, Ether, Ethylechloride, Opium, Morphine, Codeine, Cannalus Indica, Chloralhydrate, Medrinal, Luminal, Nux Vomica, Strychnine, Physostigmine, Salicylate, Belladonna, Atropine, Hometropine, Cocaine, Stearin, Novocaine.

शूकधान्य—शालिधान्य के प्राप्त भेद।

रक्तशालि, महाशालि, दीर्घशूक, रौद्रशूक, सुगन्ध शूक, षष्ठिक, तण्डुल आदि अनेक चावलों की जातियों की पहचान।

यव, गोधूम, मकोष्ठक (मकई), उवार, चीन, सरोवरधान्य (फसई) उदालक, कंगू, कोद्रव, नीवार, श्यामाक आदि धान्यों का ज्ञान।

शमीधान्य वर्ग—मुद्गा, आढ़की, मसूर, माष, राजमाष, कुलत्थ, निष्पाव, कलाय (मटर), सोयाबीन आदि उपयोगी द्विदल धान्यों का परिचय और ज्ञान।

स्फुट वर्ग—हरीतक्यादि, कपूर, रादि, गुडूच्यादि, बटादि वर्गोक्त औषधियों का परिचय और ज्ञान। वनस्पति शास्त्र के पाठ्यक्रमोक्त द्रव्यों के गुणादि का वर्णन तथा निम्नद्रव्यों तथा उनसे सम्बन्ध द्रव्यों के ज्ञान सहित परिचय।

निम्न द्रव्यों तथा उनके सम्बद्ध द्रव्यों के ज्ञान सहित परिचय।

(१) दारुहरिद्रा, (२) कमलम्, (३) कालेय, (४) अहिफेन, (५) सर्ज, (६) गोक्षुर, (७) धन्वयास, (८) चांगेरी, (९) इंगुदी, (१०) बदरम्, (११) द्राक्षा, (१२) अस्थिसंहारक, (१३) अरिष्ट, (१४) शिम्बू, (१५) पद्मकाष्ठम्, (१६) लवङ्ग, (१७) जम्बू, (१८) हिज्जल, (१९) धातकी, (२०) दाडिमम्, (२१) तगरम्, (२२) जटामांसी, (२३) मधुकम्, (२४) बकुल, (२५) राजादन, (२६) शेफालिका, (२७) मोक्षक, (२८) जाति, (२९) यूथिका, (३०) श्लेष्मातक, (३१) अबःपुष्पी, (३२) कटका,

(३३) वास्तूकम्, (३४) सुदर्शन, (३५) वाराहीकन्द, (३६) तालः, (३७) प्लक्षः, (३८) खर्जूरः, (३९) वेतः, (४०) नारिकेलः, (४१) सूरणः, (४२) माणकः, (४३) मुस्तकः, (४४) कसेरुकः, (४५) तुवरकः, (४६) पाषाणभेदः, (४७) शिलारसः, (४८) अंकोलः, (४९) चित्रकः, (५०) विडङ्गः, (५१) पिण्डकम्, (५२) लोध्रः, (५३) पीण्डः, (५४) विषमुष्टी, (५५) केतकः, (५६) पुननवा, (५७) ईश्वरमूलम्, (५८) जातिफलम्, (५९) अगुरु, (६०) अक्षोटकः, (६१) कट्फलः, (६२) चन्दनम्, (६३) वेतस, (६४) भूर्जः, (६५) कुंकुमम्, (६६) बचा, (६७) तालमूलो ।

This class of drugs includes almost all the crude drugs commonly used in Ayurvedic practice and it covers most of the drugs which have been included in the modern Materia Medica, which are also taught but not as Separate Subject.

Identification, doses and Pharmacological actions of the following drugs—

Alkalis and Alkaline earths—Potassium citrate and Sodium citrate, Potassium chlorate, Potassium nitrate, Ammonia, ammonium carbonate and Chloride, Calcium hydrochloride, Chloride, Lactate, Phosphate, Magnesium, Carbonate, and Sulphate, Saline purgative.

Detailed Study of these with रसशास्त्र Acids—Acetic, citric, Hydrochloric, Nitric, Sulphuric, Lactic.

Drugs acting on the nervous System—

Alcohol, Chloroform, Ether, Opium, Morphine, Codeine, Cannelis Indica, Chloral hydrate Medrinal, Nux Vomica, Strychnine, Physostigmine, Salicylate, Belladonna, Atropine Homatropine, Stearin, Cocaine, Novocain.

Drugs acting on the Cardiovascular System—

Digitalin, Strophanthus, Acorite, Adrenaline, Ephedrine, Auryl vitras, Sodium nitrate.

Drugs acting on the respiratory System—

Carbon - dioxide, Oxygen, Ipecacuanha, Emetine, Lobelia, guaiacol, Creosote.

Drugs acting on the Digestive System—

Quassia, Castor oil, Aloes, Rhubarb, Senna, Cascara, galop, Croton oil, Colocynth, Podophyllum, on-bile

Astringent—Tonic Acid, Cetechu.

Anthelmintics, Santonin, Oil of Chenopodium.

Drugs acting on the kidneys—

Water, Caffeine, Urea, Sandal wood oil.

Drugs acting on the Uterus—Ergot.

Antiperiodics and Antipyretics, Quinine, Cinchona, Atehrin, Sodium, Salicylate, Aspirin, Benzoin, Sodium Benzoate.

मांस वर्ग—(१) हरिण-एण, कुरंग, भृक्ष, गोकर्ण, शशक, शम्बर, अरुषक, शरभ इनकी जातियाँ, तथा इनके मिलने के स्थान का परिचय, इनके स्वरूप का ज्ञान, प्रत्यक्ष अथवा चित्रादि से कराया जाय ।

(२) लाव, वर्तक, वारतीर, रक्तवर्तक, कुंकुम, कपिञ्जल, उदचक्र, चकोर, कुसवाह, वर्तक, वर्तिका, तित्तिरी, क्रकर, शिखी, ताम्रचूड़, बकर, गोमर्द, गिरिवर्तिका, क्षारपद, इन्द्राय, और वारठ आदि विष्कर जातियों का यथासम्भव परिचय और स्वरूपज्ञान चित्रादि से कराया जाय ।

(३) जीवङ्गजीव, दात्यूह, मृगा, शुक्र, सारिक, लट्वा (बया) कोकिल, हारीत, कपोत, चद (गोरेया) आदि प्रस्तुत जीवों का चित्रादि से परिचय तथा स्वरूपज्ञान कराया जाय ।

(४) भेक, गोधा, सर्प, श्वाविद आदि विषम जीवों का चित्रादि से परिचय ।

(५) गो, खर, अश्व, अश्वतर, उष्ट्र, श्वा, सिंह, रिश्व, बानर, मार्जार, मूषिक, व्याघ्र, बक, वृष, तरक्षु, लोपाक, जाम्बुक, श्येन, चाष, वान्ताद, शशान्नो, भास, कुरर, गृध्र, उलूक, कुलिन्दक, धूमिक, मधुहा आदि प्रसह पक्षियों का चित्र से परिचय और ज्ञान कराया जाय ।

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

६४७

(६) वाराह, महिष, न्यंकु, रुरु, रोहित, मृकर, खड्ग, गवा इन महामृगों का परिचय चित्र से कराया जाय।

(७) हंस, सारस, कादम्ब, वक, कारंडव, प्लव, बलाका, उत्क्रोश, चक्र, मद्गु, क्रौंच, आदि जलीय जीवों का चित्र आदि से यथा लाभ परिचय और ज्ञान कराया जाय।

(८) मत्स्य, रोहित, पाठीन, कूर्म, कुम्भीर कर्कट, शुक्ति, शंख, शम्बूक, सफरी, वर्मि, चन्द्रिका, चुल्की, नक्र, मकर, शिशुमार, तिमिंगिल, राजी, चिलिचिम आदि मत्स्यों का चित्र से प्रत्यक्ष ज्ञान और उक्त मांस वर्ग के जीवों के जांगल, आनूप भेद से मांस के गुणों के भेद और उनमें विशेष व्यवहार में आने वाले मांस के गुणों का ज्ञान। इसके अतिरिक्त आधुनिक जीवशास्त्र के अनुसार जीव की परिभाषा और जीवों के भेद।

उक्त वर्गों के आधार पर कस्तूरी, गोरोचन पूतिलट्टासी, पित्ताचक, मृगशृङ्ग, अम्बर, मुक्ता प्रवाल, शंख, शुक्ति, कपर्द, का विशेष वर्णन।

उलटकम्बल, चन्द्रभागा, चोवचीनी, रेवन्दचीनी, ताम्रकूट, जलाफा, इसबगोल, चालमोमरा, चाय, काफी, गुलबनफशा, गावजवां, उन्नाव, खतमी, अकीक, जहरमोहरा खताई, उसबा, कासनी, खुबकला, निर्मली, फरीदवूटी, बहमन, मस्तगी, सुरंजान आदि प्रचलित औषधि द्रव्यों की पहिचान।

Part of the Materia medica and modern Pharmacology और गुण परिचय—

उलट कम्बल (Abroma augusta)

गोंद कतीरा (Gum Katira)

सुहाव (Ruta graveolus)

हरमल (Harmal)

रुमी मस्तगी (Mestiche)

सनाय (Serenoa)

सिनकोना (Cinchona)

काली जीरी (अरण्य जीरक)

अयापान (विशलय कर्णी)

कासनी (Surpentine)

धवल वरुआ (सर्पगन्धा)

गुडमार (मधु नाशिनी)

अनन्तमूल (Tylophora asthuatica)

जितियान (Gentian)

कालादाना (कृष्णबीज)

जलापा (Jalap)

बेलाडोना (Belladonna)

कालमेघ (Andrographis Paniculata)

पुदीना (Mint)

मैदा लकड़ी (Litsca)

सालम

कुलंजन (Galangal)

सुरंजान (Calchicum)

कन्द (Urginea)

हृत्पत्री (Digilatis)

गिरिपर्पट (Podophyllum)

सत्यानाशी

उन्नाव (वर भेद)

यूकेलिप्टस

गां जिह्वा (गावजवां)

रेवन्द चीनी (Rhubarb)

इसबगोल (Isaphgula)

ममोरा (Coptisteeta)

कलम्बा (Calumba)

शरीर रचना विज्ञान

Anatomy

इसमें निम्न विषय पढ़ाने चाहियं।

१. (क) शुद्धाशुद्ध शुक्र और आर्तव के लक्षण तथा शरीर निर्मायक प्रकृति, महान् आदि पदार्थ तथा वर्णोत्पत्ति के कारण।

(ख) उत्पत्ति हेतुसहित पितृज, रसज, आत्मज आदि अवयव।

(ग) अंग, प्रत्यंग, त्वचा, कला, अपरा, आशय, कण्डरा, जाल, कूर्च, मांशरज्जु, रंघात, सीमन्त, स्नायु तथा उनके भेद।

(घ) अस्थि-उनकी संख्या, उनके भेद तथा स्थान दन्त, केश तथा नख ।

(ङ) सन्धि, उनकी संख्या, भेद तथा स्थान, पेशियाँ उनके भेद और स्थान ।

(च) कर्म, उनके भेद, स्थान तथा मान ।

(छ) शिरा, उनकी संख्या, भेद तथा व्यथ के अयोग्य शिरा, स्रोतस तथा उनके मूल-स्थान, धमनी उनकी संख्या तथा भेद, प्राण तथा प्राणायतन ।

(ज) शरीर के पार्थिवांश, शरीरावयवमान और उदक, स्वेद तथा रस का पान ।

(झ) गर्भ से जन्मपर्यन्त गर्भ के स्वरूप का परिज्ञान ।

२. (क) अस्थि स्थान (Osteology) अस्थियों का वर्णन, पेशी सम्बन्धी भिन्न-भिन्न प्रकार की सन्धियाँ, उनकी रचना, शरीर की मुख्य-मुख्य संधियाँ का वर्णन, स्नायु, सन्धि, कोष्ठ ।

(ख) मांस संस्थान—पेशी, उनका प्रभाव, और निवेश, कण्डरा, मुख्य मुख्य पेशियों की स्थिति की व्याख्या, उनकी नाडियाँ और कम ।

(ग) रक्त संस्थान—हृदय की स्थिति, उसकी रचना, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में जाने वाली मुख्य-मुख्य शिरा, उनका मार्ग तथा समीपवर्ती अंगों से सम्बन्ध, रसायनी और लसीका ग्रन्थियों का संक्षिप्त वर्णन ।

स्वर यन्त्र, श्वास नलिका तथा उनकी शाखाओं का ज्ञान, फुफ्फुस की रचना स्थिति, आवरण तथा धमनी और शिराओं से सम्बन्ध ।

मुख की रचना, जिह्वा, दन्त, कठिन और कोमल तालु, भोजन प्रणाली, आमाशय, ग्रंथी, क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, कोष (Mesentery), गुदा की रचना, उनकी स्थिति, आकार, आयाग, अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध, धमनी और शिरायें जिनके द्वारा इन अंगों में रक्त वितरण होता हो, उदरगुहा और उदर आवरण । (Peritoneum)

यकृत, ग्रीहा, वृक्क, अग्न्याशय, पौरुष ग्रन्थि, सूत्राशय, गर्वीनियों की स्थिति, आकार, रचना, धमनी, शिरा, अधिवृक्क और अंडकोष, अण्डवन्धिनी उपाण्ड, शिशन की रचना और नाड़ी । धमनी और शिराओं से सम्बन्ध ।

Osetology—Description and muscular attachment of bones.

Syndesmolology—Construction of joints in general and various important joints of the body with their surrounding muscles and action, in particular.

Mycology—Attachments and inter-relationship of all the muscles of the body with their nerve supply and action.

Angiology—Heart and its connected blood vessels of the body, their course, relation and distribution.

Respiratory System—Trachea, larynx, Bronchi and lungs with its position, Construction and blood vessels.

Gasto—Intestinal System, Mouth, Jejunum, phagus and peritoneum, Male and female genital organs, kidneys, bladder and great blood vessels and nerves.

गर्भाशय, बीजस्रोत, बीजकोष, योनि, भगोष्ठा निःस्रोत ग्रन्थियाँ—ग्रैदैयेक और वात ग्रैदैयेक, पौरुष ग्रन्थि, अग्न्याशय, उपवृक्क ।

Indocrine Glands—Thyroid, thymus, Pituitary, Pancreas, and Supra-renal.

नाड़ी संस्थान—बृहद् और लघु मस्तिष्क, उनके आवरण, उनके खंड, चक्रांग, सीतायें धवल और धूसर भाग, केन्द्र, कोष्ठ ।

मस्तिष्क का रक्त संवहन, मध्यमस्तिष्क, सेतु सुषुम्ना, मस्तिष्क से निकलनेवाली नाडियों का प्रभाव उनकी रचना तथा भिन्न-भिन्न अंगों द्वारा तथा वितरण ।

Nervous System—Cerebrum and cerebellum—

Their coverings and different lobes, Gyri and Sulci, Grey and white matter, Areas and Ventricles and their blood supply, Mid brain, Medulla oblongata, cerebral nerves, their, roots, course and distribution, Autonomic nervous system.

ज्ञानेन्द्रियाँ—नेत्रगुहा, गोलक के भिन्न-भिन्न स्तर पेशी, धमनी और नाड़ियों के साथ सम्बन्ध, नासिका, कर्ण ।

Organs of Special Senses—Eye—its Construction, muscles, blood vessels and nerves, Ear and nose etc.

क्रियात्मक—सम्पूर्ण शरीर का शवच्छेदन ।

पाठ्य ग्रन्थ—चरक, सुश्रुत, वाग्भटोक्त शारीर

सुश्रुत संहिता—शारीर स्थान, अध्याय ४,५,६,६

” निदानस्थान अध्याय ३

” सूत्र स्थान अध्याय ३५

” उत्तर तन्त्र अध्याय १

चरक संहिता—शारीरस्थान अध्याय १,३,४,६,७ ।

” सूत्रस्थान अध्याय ३६, ३०

” विमान स्थान अध्याय ५, ८

” चिकित्सा स्थान अध्याय ३०

अष्टांग संहिता सूत्रस्थान अध्याय ३, ४ ।

काश्यप संहिता सूत्रस्थान अध्याय २० ।

प्रत्यक्ष शारीर—म. म. कविराज गणनाथ सेन ।

आलोच्य ग्रन्थ—

वृहद् शरीर—वारियर कृत ।

शरीर छेदन शास्त्र—गौड़ कृत ।

शरीर-क्रिया-विज्ञान

(क) १. दोष, धातु, मलों की निरुक्ति, उनके स्थान, भेद तथा कर्म, वृद्ध तथा क्षीण वातादिकों के कर्म । चय-प्रकोप-प्रसर आदि उनकी कोष्ठशाखादि से गमन क्रिया तथा अग्नि और पित्त का विवेचन ।

२. ओज के लक्षण, उसके कम तथा उसकी विकृति ।

(१) अशितादि अन्न के पाक की व्यवस्था ।

(२) पुरुषस्थ भावों का लोकस्थ भावों से सामान्य

(३) आभ्यन्तर रोग मार्ग तथा बाह्यरोग मार्ग ।

(४) गर्भोत्पत्ति का कारण, उसकी उत्पत्ति का प्रकार, गर्भ उत्पन्न होने का कारण, गर्भ का पोषण, उसकी वृद्धि का क्रम तथा अंग प्रत्यंग की उत्पत्ति का प्रकार ।

(५) सात्विकादि प्रकृति तथा प्रकृति के लक्षण ।

(६) स्रोतस, शिरा तथा धमनियों के कार्य और हृदय के कार्य ।

(ख) जीवकोषाणु Cell), भिन्न-भिन्न प्रकार के कोषाणु, आवरण, कलाकोष (Epithelial cells), प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) उसके गुण संगठन, स्वभाव, भौतिक संगठन के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त, धातुविवरण (Tissue) संयोजक धातु (Connective Tissue) लसीका धातु (Lymphoid).

अस्थि, तरुणास्थि तथा कार्टिलेज, दन्त, उसकी रचना, मांसपेशी, नाड़ी—उसका कार्य, पेशीतन्तु का रासायनिक संगठन, उनके भौतिक गुण, संकोच तथा विकास, विद्युत का प्रभाव, मृत्युत्तर संकोच ।

Modern Physiology

Cells—Varieties of Epithelial cell, Protoplasm, its structure, nature, properties, Chemical Constituents etc.

Tissues—Description and structure of connective tissue, elastic tissue, fatty tissue, fibrous tissue and lymphoid tissue, Bone cartilage, tooth and its structure.

Muscular tissue and nerves and its function—Chemical composition of muscle, Physical properties of muscle, changes during contraction and relaxation. The effect of electric current, Rigor mortis

नाड़ियों का पेशियों के साथ सम्बन्ध, उनकी क्रिया, श्रेणीकरण, कार्यध्वंस (Degeneration) पुनरुत्पत्ति, नाड़ियों की सत्ता, उनकी गति और दिशा, विद्युत् प्रभाव ।

Nerve fibres—Function of nerves and its relation with muscles, Classification of nerves. Degeneration and regeneration of nerves. Nerve impulses, its velocity and direction. Effects of electrical stimulation.

रक्तसंस्थान—हृदय की रचना, रचना का कार्य के अनुकूल होना, हृत्कार्यचक्र (cardiac cycle) रक्त-संवहन (circulation of blood), धमनी, शिरा-केशिका, उनकी सूक्ष्म रचना, कपाटों का कार्य, हृदय का शब्द, हृदय की नाड़ियाँ, रक्त की फुफ्फुस में शुद्धि ।

श्वासोच्छ्वास संस्थान—(Respiratory system) श्वासनलिका तथा फुफ्फुस की रचना, धमनी, शिरा तथा श्वास प्रणालियों का आपस में सम्बन्ध, नाड़ियों द्वारा नियन्त्रण, श्वासकर्म के कारण, रासायनिक तथा भौतिक श्वाससहायक पेशी, धातुओं में श्वासक्रिया (Tissue respiration) श्वासावरोध (Asphyxia), श्वासकष्ट (Dyspnoea), कृत्रिमश्वास क्रिया (Artificial respiration), श्वासवायु का प्रवेशपथ, श्वास यन्त्र ।

भोजन—वर्गीकरण, मौलिक अवयव, अतिभोजन तथा उपवास के परिणाम, जीवनीयगुण (vitamins.)

पाचक संस्थान—मुख, आमाशय, क्षुद्र तथा बृह-दन्त्र की रचना, यकृत, अग्न्याशय, भिन्न-भिन्न पाचक रस और उनकी क्रियायें । उद्वेचन गुण तथा संगठन, भोजन का शोषण, मल ।

रक्त ज्ञान—रक्त का विश्लेषण, उनके भिन्न-भिन्न अवयव और रुधिराणु का ज्ञान, श्वेताणुओं की भिन्न-भिन्न जातियाँ, रक्तद्रव (Blood plasma), सीरम

(serum), प्रस्कन्दन (coagulation of blood) रोग क्षमता (Immunity) ।

लसीका—ग्रन्थियाँ तथा संवहन कार्य, मूत्र प्रक्रिया वृक्क का कार्य, मूत्र की रचना, उसके अवयव तथा उत्पत्ति ।

निःस्राव ग्रन्थियाँ—(Endocrine gland) ।

नाड़ी मण्डल—मस्तिष्क की रचना तथा कार्यकेन्द्र, उनके कार्य, उसकी रचना, ऊर्ध्व और अधोगामी तन्तुओं का प्रबन्ध, सांवेदनिक तथा संचालक सूत्रों का प्रबन्ध, उनके मार्ग, स्वतन्त्र नाड़ी मंडल ।

विशेषज्ञानेन्द्रियाँ—(organs of special senses) नेत्र और नेत्र के विभिन्न स्तर, उनकी सूक्ष्म रचना, छाया की उत्पत्ति, दूर तथा समीप दृष्टि, वर्ण, विवेक शक्ति (colour blindness) के सिद्धान्त ।

कर्णेन्द्रिय—ध्वनि और शब्द की उत्पत्ति, कर्ण-पटल पर उसका प्रभाव, अन्तःकरण तक ध्वनि का मार्ग, अन्तःकरण की रचना ।

ग्राणेन्द्रिय—रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय ।

जननसंस्थापन—का ज्ञान ।

क्रियात्मक - सूक्ष्म रचना दर्शक नमूने की परीक्षण, स्लाइड बनाना रंजन (staining), सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (Microscope), sphygmomanometer, manometer, haemoglobinometer, haemocytometer का व्यवहार ।

आलोच्य ग्रन्थ

शरीर-क्रिया-विज्ञान—वैद्य रणजितराय

मानव शरीर रहस्य—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा

बृहद्शरीर—वारियर

त्रिदोषतत्त्वविमर्श—वैद्य रामरक्षपाठक

त्रिदोषालोक—वैद्य विश्वनाथ द्विवेदी

हमारे शरीर की रचना—डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा

भेषज्य कल्पना

पारद के अष्ट संस्कारों का व्यवहारिक ज्ञान—
अनेक प्रकार के कचरूप यन्त्रादि द्वारा गन्धक का जारण। अनेक प्रकार के पारिभाषिक पारद और गन्धक सम्बन्धी शब्दों का ज्ञान तथा पर्पटी, खल्वी रस, कूपीपक रस, भस्म और सत्त्वों का पारिभाषिक और व्यवहारिक ज्ञान।

परिभाषा—मागधमान, कलिगमान, प्रचलितमान सहित शुष्कार्द्र भेद से द्रव्यमान। पंचविध कषाय-कल्पना, द्रव्यों के ग्रहणीय अंग, ग्रहणकाल, विषोप-विष शोधन, द्रव्य संरक्षण विधि, यवाग्वादि साधन, घृत, तैल, आसव-अरिष्ट, अवलेह-मोदक आदि की निर्माण विधि।

Definitions — Pharmacy, Pharmacology, Pharmacopoea, Toxicology, Therapeutic-Empirical and rational, Chemotherapy.

Weights and measures—Indian, Imperial and Metric and their relation.

औषध-निर्माण—विभिन्न प्रकार की निम्नलिखित औषधियाँ में से कम से कम दो-दो प्रसिद्ध योग बनाना आवश्यक होगा :—

१ कषाय, २ फाण्ट, ३ पुटपाक, ४ चूर्ण, ५ शीतकषाय, ६ वटी, ७ अवलेह, ८ घृत, ९ तैल, १० आसवारिष्ट, ११ पानक, १२ रसक्रिया, १३ अर्क, १४ प्रलेप, १५ गुदवर्ति, १६ पाक, १७ उप-नाह, १८ अनेक प्रकार की छानने की विधियाँ, १९ क्षार-निर्माण, २० द्रावक-निर्माण, २१ यवागू-कल्पना, २२ यूष, रस, सूप, बेसवार तथा ओदन प्रक्रिया। २३ पानीय, २४ प्रमथ्या, २५ खण्ड पाक, २६ भावना, २७ मद्य, २८ शुक्त, २९ मिश्रण, ३० स्वरस, ३१ कल्क, ३२ शोषण विधि, ३३ स्फटिकीकरण, ३४ क्षीर पाक, ३५ गुग्गुल।

Official preparations and their doses—
Definitions, Composition, Acidadiluta, Aqua, Effervescent, Emplastra, Extracts, Glycerina, Infusions, Injections, Lineaments, Liquors, Mixture, Pills, Powders, Spirits, Suppositories, Syrups, Tinctures, Ointments.

Non-official preparation—Baths, Enemas, Fomentations, Gargles, Draughts, Insufflation.

Pharmacy and Dispensing—General directions, Method of preparing waters, infusions, decoction, mixtures, pills, plasters, ointments.

Official Pharmaceutical processes—calcination, crystallisation, Dialysis, Elutriation-Expression, Melting, Levigation, Lixivation, Maceration, Percolation, Sealing, Sifting standardisation, Sublimation.

सिद्धरस

१ पञ्चामृत पपटी, २ रसपर्पटी, ३ आनन्द-भैरव, ४ स्वर्णवङ्ग, ५ त्रिवंग, ६ रससिन्दूर, ७ इच्छाभेदी रस, ८ मृत्युञ्जयरस, ९ वसन्तमालती, १० लोकनाथ, ११ संजीवनीवटी, १२ चन्द्रप्रभा, १३ शिवागुटिका, १४ मकरध्वज, १५ प्रतापलंके-श्वर, १६ विशुचिका विध्वंसन, १७ प्रवालपञ्चामृत, १८ बड़वानल रस, १९ महागन्धक योग, २० सूतशेखर, २१ नित्यानन्द रस, २२ नारायण ज्वरां-कुश, २३ चण्डेश्वर, २४ जलोदरारि रस, २५ कुमुदेश्वर रस, २६ अजीर्णकण्टक रस।

क्रियात्मक

क्रियात्मक परीक्षा में विद्यार्थी के वार्षिक क्रियात्मक कार्य के विवरण पर भी विचार किया जाय।

आलोच्य ग्रन्थ

रसार्णव,
रसहृदयतन्त्र,
रसेन्द्र चिन्तामणि,

परिभाषा प्रबोध—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल,

रसरत्न पसमुष्य,
रसतरंगिणी,
परिभाषा प्रदीप,

स्वस्थवृत्त

(क) स्वास्थ्य के लक्षण, निन्दित तथा अनिन्दित पुरुष शरीर के आधार, आहार, विधि तथा उसका निषेध, पथ्यापथ्य विधि और निद्रा के नियम ।

(ख) ब्रह्मचर्य—वीर्य रक्षा के उपाय, ऋतुमती तथा व्यवाय नियम । ऋतुमती तथा विवाह की अवस्था ।

(ग) ऋतुचर्या, दिनचर्या, वेग विधारण के दोष तथा सद्वृत्त । पानीय जल विचार, जल-दुष्टि के कारण, उनके रोकने के उपाय तथा जल-शोधन की विधि । हित तथा अहित द्रव्य, विष से दूषित मार्ग तथा जल का ज्ञान ।

(घ) मल, मूत्र, कूड़ा आदि के दूर करने के अर्वाचीन, प्राचीन उपाय तथा साधन । वास-स्थान-विचार तथा वायु संचार के प्रयोजन ।

(ङ) जन पदोर्ध्वस के कारण, संक्रामक रोग, संक्रमण प्रकार, मशक, मक्षिका और मत्कुण द्वारा संक्रमण प्रकार तथा संक्रमण रोकने का उपाय । देश और प्रकृति विचार ।

सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा, उसके नियम तथा विधान

Public Hygiene

औद्योगिक स्थानों की स्वास्थ्य-रक्षा, व्यवसायिक रोग, स्वास्थ्यनाशक व्यवसाय और उनका स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव ।

Industrial hygiene and occupational diseases—
Offensive trades—effects of offensive trades
on health.

भूप्रदेश के अनुसार ऋतु और स्वास्थ्य पर प्रभाव ।

भूप्रदेशों के अनेक भेद तथा तत्प्रान्तीय रोग ।

गृह निर्माण तथा गृह निर्माणोपयोगी स्थानों का विचार । गौशाला, अश्वशाला आदि पशुशालाओं के स्थान का विचार ।

चिकित्सालय तथा आरोग्य आश्रमों की रचना तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यकताएँ । विद्यालयों की रचना तथा उनकी स्वास्थ्यरक्षा पर विचार । ऋतु और वातावरण सम्बन्धी ज्ञान—उनके भेद और उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव । ताप और वायु का दबाव, वर्षा और आर्द्रता आदि का स्वास्थ्य पर प्रभाव ।

भोजन, उसके भेद, मात्रा और विभिन्न प्रकार के भोजनों का आनुमानिक ज्ञान ।

भोजन पाक-विधि, अविधि भोजन से उत्पन्न होने वाले रोग, भोजन के जीवन-तत्त्व (विटामिन) । उचित भोजन के आवश्यक अवयव, आयु, शारीरिक और मानसिक कार्यों के अनुसार भोजन की उचित व्यवस्था ।

जान्तव भोजन—मांस, अण्डे और मत्स्य भोजन के द्रव्य ।

Soil features influencing climate and health—
Varieties of Soil diseases arising from Soil.

Houses—Construction, Site for houses
Cowshed and stables.

Hospitals and Sanitoriums—General ideas
about hygienic conditions and requirements.

School hygiene—Climatology and Meteorology—classification, climate in relation to health effects of temperature, atmospheric pressure, rainfall, humidity.

Food classification—quantity required, relative value of foods, cooking, diseases caused by faulty dieting, vitamin, standard diet, food according to age and physical and mental work.

Animal food—meat, eggs, fish, milk—preparations of milk.

शाक (Vegetables)

वैद्य ओम्पदत्तराय

ॐ

शाकों, सब्जियों अथवा तरकारियों का हमारे दैनिक भोजन में एक बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। शाक रक्षक आहार (Protective foods) कहे जाते हैं। जिन लोगों की जेब दुग्ध या दुग्ध के बने पदार्थ और अण्डा आदि खाने की आज्ञा नहीं देती, उन्हें ए, बी, सी तथा सी विटामिन अथवा पोषक पदार्थों तथा कई तरह के खनिज लवणों की प्राप्ति के लिये (जो हमारे शरीर के लिये बहुत आवश्यक हैं) सब्जियों और विशेषतः हरी सब्जियों पर निर्भर रहना होता है। हरे शाकों में एक विशेष प्रकार का रस रहता है, जो आप के आगे परोसी हुई थाली के आकर्षण तथा उपयोगिता को बढ़ा देता है। आप के लाल-साव की वृद्धि करता है और अन्ततोगत्वा आपके स्वास्थ्य को समुन्नत करता है। यह रस आप को न गेहूं की बनी चपाती में, न चावल में और न ही दालों में मिल सकता है।

शाकों के तीन प्रकार

आयुर्वेद-ग्रन्थ चरक-संहिता में समस्त शाकों को तीन विभागों में बांटा गया है—१ पत्र शाक, २ कन्द शाक, ३ फल शाक। भाप्रकाश में छ प्रकार के शाक माने गये हैं—१ पत्र शाक, २ पुष्प शाक, ३ फल शाक, ४ ताल शाक, ५ कन्द शाक और ६ संस्वेद शाक। किन्तु आधुनिक पोषण-शास्त्र (Science of Nutrition) ने चरक के अनुसार शाकों को तीन ही श्रेणियों में विभक्त किया है। वे निम्नलिखित प्रकार से हैं:—

१. पत्र-शाक (Leafy Vegetables)
२. जड़-शाक अथवा कन्द-शाक (Root Vegetables)
३. अन्य शाक (Other Vegetables)

इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

- १ पत्र-शाक—चौलाई, बन्दगोभी, सहिजन के पत्ते, पालक, मेथी, सलाद, पोदीना, मकोय (चरपोटन), बथुवा, सरसों का साग, मूली के पत्ते, चांगेरी, पटोल पत्र, जीवन्ती आदि।
 - २ जड़-शाक—अरबी, आलू, शकरकन्द, शिमला आलू, ज़िमीकन्द, रतालू, गाजर, शलजम, मूली (सफेद या लाल), चुकुन्दर आदि।
 - ३ अन्य शाक—चौलाई की डण्डी, पेंठा, करेला, बैंगन, विलायती बैंगन (टमाटर), सेम की फली, गवार की फली, लौकी (घीया कद्दू अथवा केदार), काशीफल (कौला या मीठा कद्दू), तोरई (दो तरह की), भिण्डी, केले का तना, गोभी, खीरा, ककड़ी, आमला, आम (कैरी), सिंघाड़ा आदि।
- अब इन तीनों प्रकार के शाकों की रासायनिक रचना (Chemical Composition) पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। सुझ पाठक सुगमता से इन की पोषणात्मक तुलना कर सकेंगे।

तीनों प्रकार के शाकों की रासायनिक रचना

	पत्र-शाक	जड़-शाक	अन्य-शाक
आर्द्रता (moisture)	७५-८३%	६०-८५%	८०-८६%
प्रोटीन (protein)	२-७%	१-३%	०.३-३.०%
वसा (fat)	०-२%	स्वल्प मात्रा	स्वल्प मात्रा
कार्बोज (carbohydrates)	४-१५%	१०-३०%	२-१०%
ऊष्मकारिणी शक्ति (calorific value)	३०-१०० ऊष्म मान १०० ग्रा०	५०-१५० ऊष्ममान १०० ग्रा०	१०-५० ऊष्म मान १०० ग्रा०
कैल्सियम (calcium)	१००-५०० मिलिग्राम १०० ग्रा०	१०-६० मि० ग्रा० १०० ग्रा०	२०-१०० मि० ग्रा० १०० ग्रा०
प्रस्फुरक (phosphorus)	५०-१०० मि० ग्रा० १०० ग्रा०	२०-६० मि० ग्रा० १०० ग्रा०	२०-८० मि० ग्रा० १०० ग्रा०
लोहा (iron)	१-२५ मि० ग्रा० १०० ग्रा०	०.५-२० मि० ग्रा० १०० ग्रा०	०.५-४.० मि० ग्रा० १०० ग्रा०
विटामिन सी	२०-२०० मि० ग्रा० १०० ग्रा०	५-२५ मि० ग्रा० १०० ग्रा०	५-२५ मि० ग्रा० १०० ग्रा०
कैरोटीन (pro-vitamin A)	२५-१३० माइक्रो ग्राम ग्रा०	०-०.५ माइक्रो ग्राम ग्रा०	०-३ मा. ग्रा० ग्रा०
विटामिन बी १	०-०.५ मा० ग्रा० ग्रा०	०.५-१०.० मा० ग्रा० ग्रा०	०-१ मा० ग्रा० ग्रा०

किस प्रकार के शाक स्वास्थ्यप्रद हैं और क्यों

उपर्युक्त नक्शे को ध्यानपूर्वक देखने से पाठक स्वयं बतला सकते हैं कि किस तरह के शाक सर्वोत्तम तथा स्वास्थ्यप्रद हैं।

क पत्तीदार शाकों में विटामिन ए, विटामिन सी तथा कैल्सियम, लोहा और प्रस्फुरक प्रचुर राशि पाये जाते हैं।

ख जड़-शाकों में प्रोटीन, कार्बोज, खनिजतत्व और विटामिन बी^१ पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। किं वसा तथा विटामिन ए नाम मात्र होते हैं। गाजर इस का अपवाद है। उसमें विटामिन ए मात्रा में पाया जाता है।

ग तीसरे प्रकार के शाकों में प्रोटीन, वसा अथवा कार्बोज नाम मात्र होते हैं। और न ही पत्तीदार शाकों की तरह उनमें विटामिन और खनिज होते हैं। ये मूल-शाकों की अपेक्षा कम ताप-मात्रा उत्पन्न करते हैं। इन की मुख्य-मुख्य उपयोगिता विटामिन सी तथा विटामिन ए के रूप में है।

शाकों के कुछ गुण तथा लाभ

1. सब्जियाँ लालासाव को बढ़ाकर भूख की वृद्धि करती हैं और भोजन-पाचन में सहायक होती हैं।
2. पत्तीदार शाकों में Roughage (चोकर) अधिक होने से आंतों की गति (peristalsis) को बढ़ाते हैं, जिस से मलबन्ध नहीं रहता। कब्ज के रोगियों को इस प्रकार के शाकों का सेवन प्रचुर मात्रा में करना चाहिये।
3. शाकों में कई तरह के क्षार रहते हैं, जिन के उपयोग से रक्त के अन्दर अम्लता (Acidity) की अधिकता नहीं होने पाती। अम्ल तथा क्षार समतुलित (Well-balanced) रहते हैं।
4. शाकों में कैल्शियम तथा प्रस्फुरक होने से अस्थियों को, विशेषतः बच्चों के दाँतों को सुदृढ़ बनाते हैं। गर्भावस्था तथा प्रसूता अवस्था में कैल्शियम और प्रस्फुरक का अन्तःप्रयोग सर्वसम्मत है।

हरे शाकों में लोह होता है। इनके सेवन से रक्त में लोह की मात्रा बढ़ती है, जो कि रक्त को स्वस्थ तथा उत्तम वर्णयुक्त बनाये रखने के लिये परमावश्यक है। पाण्डु रोगी, गर्भिणी तथा प्रसूता स्त्री को जिसे (शरीर में से बहुत सा रक्त का भाग निकल जाने के कारण) लोह तथा कैल्शियम की अत्यधिक आवश्यकता होती है, हरे शाक बहुतायत से सेवन करने चाहिये।

६. हरे शाकों द्वारा हमें बहुत से खनिज तत्त्व मिलते हैं, जिनसे हमारे शरीर की रोगक्षमता (Resisting power) बढ़ती है। परिणामतः हम जल्दी से रोगों का शिकार नहीं बनते और अपना स्वास्थ्य-संरक्षण भलीभांति कर सकते हैं।

अधिक शाक उपजाओ

उपर्युक्त कथन से सुस्पष्ट है कि शाक हमारे शरीर के लिये कितने आवश्यक हैं। गत विश्व-युद्ध के प्रारम्भ से ही ग्रेट-ब्रिटेन में छोटे-छोटे बागों तथा भूखण्डों में सब्जियों की पैदावार को बढ़ाने के लिये बड़ा परिश्रम किया गया है। कृषि-विभाग (Ministry of Agriculture) ने सम्पूर्ण देश में छोटे-छोटे भूखण्डों से नियमित रूप से शाकों को प्राप्त करने के लिये सुव्यवस्थित आयोजना का निर्माण किया था। १५×२० गज के क्षेत्र में स्थित बाग आज भिन्न-भिन्न ऋतुओं में निम्नांकित मात्रा में शाक प्रदान कर रहे हैं:—

(gross weight)

पौण्ड

१७

१६

१६

२६

वसन्त

ग्रीष्म

पतझड़

शीत

इसी तरह से भारतवर्ष में भी आजकल जब कि प्रत्येक कदम पर अन्न की विषम समस्या का सामना हमें करना पड़ रहा है, प्रत्येक प्राप्य भूखण्ड पर सब्जियों को लगाने में कोई कसर बाकी न छोड़ रखनी चाहिये। 'Grow More Food' के स्थान पर 'Grow More Vegetables' का नारा बुलन्द करना चाहिये और उसे क्रियात्मक रूप देना चाहिए।

विटामिन सी

सब्जियों के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें भी ध्यान में रखनी चाहिए। तोड़ने के बाद पत्रशाक सामान्य तापांश पर रखे जाने पर पर्याप्त शीघ्रता से विटामिन-सी खोते जाते हैं। निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट है कि मेथी के पत्तों में विटामिन-सी की कमी किस प्रकार होती जाती है।—

समय (तोड़ने के बाद)

घण्टों में

विटामिन सी मिलिग्राम

प्रति १०० ग्राम

५

१३८

२४

६६

४८

६४

७२

६३

६२

१३

जब पत्र-शाकों का शीत संरक्षण-स्थान (Cold storage) में संरक्षण किया जाता है तो यह नारा कम हो जाता है। अपत्र (Non-leafy) शाकों तथा फलों में तोड़ने के बाद विटामिन सी का नारा अपेक्षया बहुत धीरे-धीरे होता है।

किस अवस्था को प्राप्त शाक परित्याज्य है

शाकों के छिलकों को बहुत अधिक काटना नहीं चाहिए। मामूली तौर से तराशना पर्याप्त रहता है। यदि छिलका बिल्कुल न काटा जाय और छिलकों सहित काम में लाया जाय तो सर्वोत्तम है। छिलकों में विशेष-रूप से विटामिन तथा खनिज तत्त्व रहते हैं। छिलकों को हटा देने से हम उनके विटामिन तथा खनिज तत्त्वों से वंचित रह जाते हैं। किस अवस्था को प्राप्त शाक परित्याज्य है? यह प्रश्न स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। बाल (अर्थात् जब तक शाक के अन्दर रस और वीर्य का सन्तुलन परित्याज्य नहीं हुआ है, ऐसा शाक सेवन करने पर किसी प्रकार का गुणोदय नहीं करता), अनर्त (अपनी स्वाभाविक ऋतु में न होकर असमय में उत्पन्न), जीर्ण (बहुत पुराना, ऐसा शाक निर्वीर्य हो जाता है, विटामिन की कमी आ जाती है), व्याधित (रोगग्रस्त), कृमिभक्षित (जीव-जन्तुओं अथवा कीटों के पतुओं से खाया हुआ), अग्न्यादि-दूषित (खरपाक होने से निर्गुण हो जाता है), अदेशज (समुचित तत्त्वों के प्रदेश में उत्पन्न न होकर अशुद्ध स्थान पर उत्पन्न हुआ), कर्कश (बहुत कठोर अथवा अनपका), कोमल (सड़ा-गला, अतिपका), शीत (बहुत अधिक ठण्डा), व्यालादिदूषित (सांप आदि जीवों से अपवित्र, ऐसा शाक सेवन करने से विष-लक्षणों की आशंका रहती है)—इस प्रकार के शाकों का सेवन सर्वथा नहीं करना चाहिए। इनसे किसी प्रकार के गुणों का उदय न होकर नानाविध व्याधियों के प्रदूषण की आशंका तथा सम्भावना बनी रहती है।

कौन शाक किस रोग में लाभदायक है

आजकल हम इने-गिने शाकों की खेती करते हैं। आयुर्वेद-ग्रन्थों में सैकड़ों शाकों का वर्णन हमें मिलता है। चरक-संहिता में ११७, सुश्रुत संहिता में ११३ तथा अष्टांगहृदय में भी ११३ शाक वर्णित हैं। इनमें से कुछ संस्कारक (मसालों) के रूप में उपयुक्त होते हैं। इन शाकों में जीवन्ती को सर्वोत्तम तथा सर्पप को निःकृष्टतम माना है। 'वरा शाकेषु जीवन्ती सर्पपास्त्ववराः परम्।' ऐसा क्यों? चक्षुषा सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिता।' 'गुरुष्णं सार्षपं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत्।' काम में न लाने से इनमें से बहुत से शाक अलभ्य व दुर्लभ हो गए हैं। भावप्रकाश में केवल ६८ शाकों का ही वर्णन मिलता है। कौन शाक किस रोग में लाभदायक है, इसकी संक्षिप्त सूची हम पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। ध्यान रहे यहाँ पर केवल उन्हीं शाकों का वर्णन किया जायगा, जो आपके दैनिक उपयोग में आते हैं।

शास्त्रीय नाम	प्रचलित नाम	रोग-नाम
वास्तूक	बथुआ	विवन्ध, अग्निमान्द्य, पाण्डु, बुद्धिमान्द्य, कृमि, प्लीहा, रक्तपित्त, अर्शस् तथा शुक्ररोग।
काकमाची	मकोय, चरपोटना	विवन्ध, स्वरभेद, कुष्ठ; रसायन तथा वृष्य।
तण्डुलीयक	चौलाई	मद, विष, रक्तपित्त, विवन्ध, कफरोग, अग्निमान्द्य, अरोचक
ककोटक	ककोड़ा	श्वास, कास, ज्वर
कलाय	मटर	कफपित्त रोग, विवन्ध
गोजिह्वा	गोभी	कुष्ठ, प्रमेह, रक्तरोग, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर
वार्ताक, वार्ताकु	बैंगन	अग्निमान्द्य, अम्लपित्त, हृदयरोग
श्वेत वार्ताक	सफेद बैंगन	अर्शस्
कलम्बी	पत्रगोभी	स्तन्यदुष्टि, शुक्ररोग।
कुलक, कारवेल्ल	करेला	ज्वर, रक्तपित्त, अग्निमान्द्य, कफरोग, रक्तदोष, पाण्डु, प्रमेह, कृमि।
आलुक (नाना प्रकार)	आलू	विवन्ध, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त; वृष्य।
कोविदार	काँचनार	रक्तपित्त, कण्ठमाला, क्षय, कास।
पालंका	पालक	विवन्ध, रक्तपित्त, विष, मद, मूत्रकृच्छ्र।
भण्डी	भिण्डी	वातपित्त रोग।
कूष्माण्ड	पैठा	रक्तपित्त, क्षय, कास, उन्माद, अपस्मार।
पर्वारुक	ककड़ी	दाह, रुष्णा, क्लम, मूत्रकृच्छ्र, विवन्ध, रक्तपित्त।
लोनिका	लूणक	विवन्ध, अम्लपित्त, अर्शस्, गुल्म, श्वास, कास, प्रमेह, शोथ, नेत्ररोग।

६५८

सचित्र आयुर्वेद, मई, १९५१

शास्त्रीय नाम	प्रचलित नाम	रोग-नाम
जीवन्ती	जीवन्ती	सर्वरोग, विशेषतः नेत्ररोग ।
त्रपुस	खीरा	मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र ।
अलावु	तुम्बी	विवन्ध, हृद्रोग, धातुक्षय ।
उत्पल	कमलपत्र	रक्तपित्त, प्रदर, शुक्रक्षय, स्तन्यक्षय ।
मृणाल	सूक्ष्म कमलनाल	"
बिस	मोटी कमलनाल	"
शालूक	कमलजड़	"
शृङ्गाटक	सिंघाड़ा	"
आर्द्रक	अदरक	वातश्लेष्म रोग, स्वरभेद, विबन्ध, आनाह, शूल, अरुचि, हृद्रोग ; तथा वृष्य ।
कुस्तुम्बरु, धान्यक	धनिया	अरोचक, वातकफरोग, हृद्रोग, तृषा, दाह ।
मूलक (लघु)	मूली	हृद्रोग, अरोचक, अग्निमान्ध, कण्ठरोग, ज्वर, श्वास, नासा तथा नेत्ररोग ।
लशुन, रसोन	लहसन	विवन्ध, बुद्धिमान्ध, कण्ठरोग, त्वचारोग, नेत्ररोग, भग्न (fracture), हृद्रोग, जीर्णज्वर (Tuberculosis in any part of the body), कुक्षिशूल, गुल्म, अरुचि, कास, शोफ, अर्शस्, कुष्ठ, अग्निमान्ध, कृमिरोग, वातरोग, श्वास, ध्वजभङ्ग, केशरोग, प्रमेह, हिध्मा, पीनस, धातुक्षय ।
पलाण्डु	प्याज	वातरोग, अग्निमान्ध, अरुचि, बुद्धिमान्ध, रसायन, रक्तपित्त, धातुक्षय ।
हरिमन्थ, चणक	चना	दन्तशोथ, ज्वर
सूय	फलियां	विवन्ध
गृञ्जनक	गाजर	रक्तपित्त, अर्शस्, ग्रहणी
सूरण (कन्देषु श्रेष्ठतमः)	जिमीकन्द	अग्निमान्ध, अरोचक, कफरोग, गुल्म, प्लीहा तथा अर्शस् (Specific for Hemorrhoids)
कोशातकी	तोरई	विवन्ध, अग्निमान्ध, रक्तपित्त, हृद्रोग, कुष्ठ, प्रमेह, ज्वर, श्वास, कास, अरुचि
शेलु	लिसोड़ा	रक्तपित्त, कफरोग, ग्रहणी
तिलपर्णी	वेर	अतिसार, प्रवाहिका

शास्त्रीय नाम	प्रचलित नाम	रोग-नाम
कदली पत्र	केले का पत्ता	रक्तपित्त, क्षय
कदलीकन्द	" कन्द	अम्लपित्त, दाह, अग्निमान्द्य, केशरोग
शोभाञ्जन	सोहाञ्जना	कुमिरोग, हृद्रोग, कफवातरोग, विद्रधि, गुल्म, प्लीहा, क्षय, श्वास, शूल
पटोल	परवल	कुष्ठ, काँस, हृद्रोग, अग्निमान्द्य
शिम्वि	सेम	वृष्य
सर्षपनाल	सरसोंकी डण्डी	वातकफरोग, व्रण, कण्डू, वमन, ददु, कुष्ठ
सपच्छत्र	खुम्भ	दाह
आमलकी	आमला	रक्तपित्त, प्रमेह; रसायन
आम्र (बालम्)	केरी	अरुचि
	पोदीना	अरुचि, अग्निमान्द्य, कुमि
	टामटर (विलायती बैंगन)	पाण्डु, अग्निमान्द्य, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र
मेथिका	मेथी	वातकफरोग, ज्वर
	सलाद	पाण्डु, विबन्ध
यवानिकापत्र	अजवायन का पत्ता	आध्मान, शूल, कुमि, वातकफरोग, गुल्म, प्लीहा

इस प्रकार हम ने देखा कि शाक हमारे लिये आवश्यक, उपयोगी तथा महत्वपूर्ण पदार्थ हैं। कितने ही प्रकार के रोगों का निवारण अथवा प्रतिकार भिन्न २ प्रकार के शाकों के समुचित उपयोग से सम्भव है। बहुत से लोग शाकों का कम प्रयोग करके दालों का प्रयोग प्रचुर तथा विशेष रूप से करते हैं। परिणामतः वृक्कसंस्थान-सम्बद्ध रोगों तथा अन्य व्याधियों के शिकार बनते हैं।

शाकों के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। कूनूर (मद्रास) आदि स्थानों पर पोषण-अनुसन्धान-परीक्षाशालाओं (Nutrition Research Laboratories) ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है। किन्तु वह अपर्याप्त है। खाद्य तथा कृषि विभाग (Ministry of food & Agriculture) से हम अपील करते हैं कि वह आयुर्वेद-विभाग की सहायता से आयुर्वेद-ग्रन्थों में प्रतिपादित शाकों की खेती बड़े पैमाने पर करवाये तथा सर्वत्र जनता को इस दिशा में प्रेरित करे जिससे बहुत से रोगों से जनता की रक्षा की जा सके। 'Prevention is better than cure'. 'प्रक्षालनाद्धि पक्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्।'।

शाकसेवन में धार्मिक विधि-निषेध

लेख को समाप्त करने से पूर्व एक बात का वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। हम में बहुत से लोग कुछ शाकों को न खाना धर्म का आवश्यक अङ्ग समझते हैं। इन में लशुन, प्याज आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन का सेवन शायद ऐसा ही समझा जाता है जैसे मांसभक्षण।

इस सम्बन्ध में इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त होगा कि लहसुन, प्याज आदि उसी तरह शाकज (Vegetable kingdom) से सम्बन्ध रखते हैं जिस प्रकार मेथी, पालक आदि। ठीक उसी तरह से खेतों में बोए जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यवन लोग लशुन आदि का प्रयोग बहुत करते हैं। इनका सेवन करने वाले व्यक्ति के मुख में से एक विशेष प्रकार की गन्ध भी आती है और ये तमोगुणप्रधान भी हैं। परन्तु ये सब ऐसी बातें नहीं हैं कि जिन के कारण से इन्हें परित्याज्य अथवा निषिद्ध या धर्मविरुद्ध पदार्थ समझ लिया जाए।

इसके विपरीत इन में गुण किस प्रकृष्टता से पाये जाते हैं! ऊपर बतलाया जा चुका है कि लशुन कितने प्रकार के रोगों में हितकर है। आधुनिक विज्ञान ने भी इसी तथ्य को सिद्ध किया है कि लशुन राजयक्ष्मा (Tuberculosis) के लिए विशेष वस्तु (Specific) है। लशुन के इन्जेक्शन बन चुके हैं और राजयक्ष्मा के रोगियों को दिए जाते हैं। इसी तरह प्याज को भी लहसुन का छोटा भाई समझना चाहिये। पलाण्डु वस्तुतः एक रसायन है। इसी को स्पष्ट करते हुए अष्टांगसंग्रह के उत्तरतन्त्र के ४६ वें अध्याय में लिखा है—

रसोनान्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम् ।

साक्षादिव म्रियतं यत्र शाकाधिपतिजीवितम् ॥

यस्योपयोगेन शक्राङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम् ।

कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥

सर्व रोगों का मूल वात

प्रायः अनुभववृद्ध वैद्य रोगमात्र में अन्य दोषों के प्रत्यक्ष लक्षण होने पर भी वात को समावस्था में लाने का प्रयत्न करते हैं। उसका कारण है :

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च ।

ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥

विष्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् ॥ च० सि० १।३८-३९

रोग यद्यपि दोषों के प्रकोप और प्रकुपित हुए उनका धातुओं, मलों और उनके आशयों में स्थान-संश्रय करने से होते हैं, तथापि देखा जाय तो यह परिस्थिति उत्पन्न होने में वायु ही कारण है। सम वायु को एक क्रिया यह है कि दोषों का प्रमाण बढ़ता जाय, वैसे-वैसे उनको अपने-अपने छिद्र से बाहर निकालता जाता है और उनको समावस्था में रखा है। वायु यदि प्रकुपित हो जाय तो इतर दोषों के समीकरण की यह क्रिया सम्यक् न होने से ही शरीर में इतर दोषों का संचय होता है। पुनश्च, अपने चरित्र (पित्त, कफ, रस, रक्तादि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना) के कारण वायु ही प्रकुपित दोषों का दूष्य-भूत धातुओं, मलों और अवयवों के साथ सम्बन्ध कराता है। सो, रोग शाक (रस-रक्तादि धातु तथा त्वचा) में हो किंवा कोष्ठ (धड़) में, मर्मस्थानों में हो, ऊर्ध्वभाग में हो, एकांग में हो या सर्वांग में, वायु ही उसकी उत्पत्ति का कारण है।

—वैद्य रणजितराय

१—ये श्लोक अष्टाङ्गहृदय में भी इसी रूप में आये हैं।

भारत का सांस्कृतिक पौधा—

आंवला

वैद्य रामेश वेदी

ॐ

देवताओं का प्रिय होने से भारतवासी आंवले के वृक्ष को बहुत पवित्र मानते हैं। पत्र, पुष्प-मालाएं आदि चढ़ाकर इसकी पूजा करते हैं^१। उनका विश्वास है कि आंवला सब पापों को दूर कर देता है^२; और इसके पानी से स्नान करने से स्वस्थ रहता हुआ मनुष्य सौ साल तक लक्ष्मी-सम्पन्न होकर जीवित रहता है^३।

आंवले के वृक्ष के बारे में एक पौराणिक गाथा इस प्रकार प्रसिद्ध है। भगवती और लक्ष्मी एक बार तीर्थयात्रा को निकलीं। भगवती ने लक्ष्मी से कहा, 'देवि ! आज मैं स्वकल्पित किसी नवीन द्रव्य से हरि की पूजा करना चाहती हूं।' लक्ष्मी ने उत्तर दिया कि 'त्रिलोचन को भी किसी नये पदार्थ से पूजने की हमारी इच्छा है।' फिर दोनों की आंखों से निर्मल अश्रुजल भूमिपर गिरा। उसी से माघमास के शुक्लपक्ष की एकादशी को आंवले की उत्पत्ति हुई। इस वृक्ष को देखकर देव और ऋषि आनन्दोलसित हो उठे। तुलसी और विल्व के समान ही यह पवित्र माना जाता है। इसके पत्तों से शिव और विष्णु दोनों की पूजा होती है। माघ मास की

एकादशी को इसकी उत्पत्ति होने से उस दिन विष्णु देव की इससे पूजा करने से देव प्रसन्न होते हैं।

यह कथा गरुड़पुराण के २१५ वें अध्याय में विस्तार से लिखी गयी है। पुराणकार ने इसमें माघ मास के साथ आंवले का विशेष सम्बन्ध स्थापित किया है। मैंने इसपर आयुर्वेदिक दृष्टि से विचार किया और माघ मास में आंवले के महत्व को जानना चाहा। करीब दिसम्बर में आंवला बाजार में बिकने आ जाता है। प्रायः मार्च के अन्त तक बिकता रहता है और उसके बाद हरे आंवले का मौसिम समाप्त हो जाता है। मौसिम के अन्तिम दिनों के आंवले को चैती आंवला कहते हैं। मौसिम के आरम्भकालीन दिसम्बर में आंवला बिकता है वह रस और वीर्य से सम्यक्तया भरपूर नहीं होता। माघ में जाकर यह पकने लगता है और आधे चैत तक यह इसी अवस्था में रहता है। यही काल है जिसमें आंवले के अन्दर रसायन और शक्ति देनेवाले गुणों का बाहुल्य होता है। माघ मास में आंवले के अन्दर गुणों का परिपाक होने लगता है, हमारी सम्मति में इसीलिए पुराणकार ने इस मास के साथ आंवले के विशेष महत्व का प्रतिपादन किया है। वृक्ष के प्रति पूज्य भाव होने से लोग इसको भली भांति सींचते रहेंगे जिससे फलों के लिए आवश्यक पोषण उन्हें मिलता रहेगा। औषधि-प्रयोग के लिए जब आंवलों को तोड़ कर भविष्य के लिए सुखाना होता है तो पूर्ण पक्व फलों को फाल्गुन या चैत में

१. नमाम्यामलकीं देवीं पत्रमालादलंताम् ।

शिवविष्णुप्रियां दिव्यां श्रीमतीं सुन्दरप्रमाम् ॥

गरुड़पुराण, अ० २१५

२. धात्री हरति पातकम् ।

स्कन्दपुराण

३. श्रीकामः सर्वदा स्नानं कुर्वीतामलकैर्नरः ॥

गरुड़पुराण, अ० २१५

वृक्षों पर से उतारना चाहिये। अच्छी तरह सुखाकर वायुरहित सूखे कनस्तरो में बन्द करके इन्हें रख लेना चाहिये।

चिकित्सा में आंवले का उपयोग

भारतीय चिकित्सा का आंवला एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। प्राचीनतम लेखक चरक-सुश्रुत से लेकर आधुनिक लेखकों तक ने इसे बहुत महत्व दिया है। अनेक योगों में यह महत्वपूर्ण भाग लेता है और बहेड़े तथा हरड़ के साथ मिलकर त्रिफला के रूप में यह प्रायः सब रोगों में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया जाता है।

ताजा फल प्यास को शान्त करनेवाला, पेशाब खुलकर लानेवाला और अनुलोमक होता है। सूखा फल संग्राही और पाचक होता है। फूल शीतल और सारक होते हैं। डाल में पके फल में संग्राहकता होती है। इस प्रकार आंवले के वृक्ष का प्रत्येक भाग चिकित्सा में काम आता है। मुसलमान हकीम इसे हिन्दू चिकित्सकों की तरह प्रयोग करते हैं। वे इसे प्राणी, तृषाशामक, हृदय के लिए हितकर और शरीर के दोषों को शुद्ध करनेवाला समझते हैं। शीतल संकोचक गुण के लिये वे इसे बाहरी प्रयोग में लेते हैं। बाहरी तथा भीतरी प्रयोग में शीतल होने से आंवला पित्त को शान्त करता है। गरमी और पित्त के प्रकोप से यदि हृदय में धड़कन और शूल हो तो आंवले के योग खिलाने चाहिये। पैत्तिक विकारों में आंवले के मुरब्बे का उपयोग किया जाता है। ऐसे रोगी इसे प्रति दिन सुबह धारोष्ण या गरम करके ठंडे किये हुए दूध के साथ लेते हैं और भोजन में भी इसे खाते हैं। रक्त प्रदर, खूनी बवासीर, नक्सीर बहना, पेशाब के रास्ते खून और पीव आना आदि पित्तप्रकोपजन्य रोगों में आंवले के योग पित्तप्रकोप को शान्त करने के लिए दिए जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में गरमी से बचने के लिए आंवलों को खाने का एक सुगम तरीका है। सूखे आंवलों को छांट कर साफ कर लें। गुठलियाँ अलग करके इसे पानी में धोकर मिट्टी छुड़ा लें। रात को शीशे के गिलास या कोरी हांडी में इसे भिगो दें। सुबह मलकर छान लें। नमक मिलाकर या ऐसे ही इसे पी जायँ। नये विचारों के धनी और शौकीन लोग जो पुराने तरीकों और पुरानी चीजों को पसन्द नहीं करते वे आंवले के इस शीत कपाय में खाँड़ या शहद मिलाकर और बर्फ में रखकर ठंडा करके इसे ले सकते हैं। जिन लोगों को गरमी बहुत सताती है, पित्त बहुत निकलता है, भूख मर जाती है और प्यास सदा बेचैन किये रहती है उन्हें आंवले का ठंडा पानी रोज सुबह पीना चाहिये।

एक लाभप्रद व्यवसाय

बड़े पैमाने पर फलसंरक्षण का काम करने वाले लोगों तथा स्कवैश आदि फल-पेयों के निर्माताओं को मैं सलाह दूंगा कि यदि वे आम, सलारू, निंबू आदि के स्कवैश की तरह आंवले के स्कवैश को भी बाजार में रखें तो जनता में इसकी अच्छी माँग पैदा हो जायगी और निर्माताओं के लिए यह अच्छा मुनाफे का धन्धा होगा। आंवला हमारे देश में बहुत-से जंगलों में स्वयं पैदा होता है। इसकी उत्पत्ति इतनी अधिक है कि पूरी पैदावार का ठीक तरह उपयोग नहीं कर पाते। जिन प्रदेशों में यह होता है वहाँ के पास के शहरों और मंडियों में बिकने आ जाता है। आचार, मुरब्बे तथा दवाओं में प्रयोग किये जाने के बाद जो पैदावार बचती है वह सुखा कर रख ली जाती है। हमारा विश्वास है कि इन उपयोगों के बाद भी पैदावार का एक हिस्सा नष्ट हो जाता है। स्कवैश के रूप में इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया जाय तो

विश्वास है कि सारी पैदावार का हम पूरा लाभ उठा सकेंगे जिससे हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति में भी वृद्धि होगी।

खाद्योज सी का प्रचुर स्रोत

आंवले में जितनी अधिक मात्रा में खाद्योज (विटामिन) सी रहता है उतना सम्भवतः किसी दूसरे फल में नहीं। ताजे आंवले के रस में नारंगी के रस की अपेक्षा बीस गुना अधिक सी रहता है। एक आंवले में डेढ़-दो सन्तरों के बराबर सी रहता है। फलों और सब्जियों को गरम करने, पकाने या सुखाने से उनके खाद्योज का अधिक भाग या संपूर्ण अंश नष्ट हो जाता है, परन्तु आंवला इस विषय का अपवाद है। पकाने पर भी इसका खाद्योज सी नष्ट नहीं होता। हमारे देश में युद्ध-जनित असाधारण परिस्थितियों के कारण फलों, शाक-सब्जियों की भी जो सामान्य कमी है उसके कारण सर्वसाधारण को जीवन के लिए यह आवश्यक खाद्य पदार्थ खाद्योज सी भी पर्याप्त नहीं मिल रहा है। इस कमी को पूरा करने के लिए हमारे पास सबसे अधिक सस्ता और बहुत बड़े पैमाने पर मिलने वाला फल आंवला ही है। भारत सरकार का जंगल विभाग गत

महायुद्ध में इसी प्रयोजन के लिए कौजियों को आंवला देता रहा है। यह आंवला सूखी शक्ल में जाता था और इसका यह रूप भोजन की अपेक्षा दवा में अधिक प्रतीत होता था। आंवला दवा के साथ-साथ एक महत्वपूर्ण भोजन भी है। इसके ताजे रस को सुरक्षित करके जो स्क्वश बनाये जायेंगे उनका भोजनों के रूप में हमारे घरों में, होटलों और रेस्तरां में बहुत उपयोग होगा। ताजे आंवले का स्वाद खट्टा होता है। इसकी खटास में जो हलका सा कसैलापन होता है उसकी अपनी विशेषता है। पंजाबी की एक प्रसिद्ध कहावत का आशय है कि वृद्धजनों की वान का और आंवले के स्वाद का महत्व बाद में ही पता चलता है। प्रकट रूप में आंवला खट्टे और कसैले रस वाला एक फल है परन्तु यह कहावत इसमें छिपे हुए उस मिठास की ओर संकेत करती है जिसका स्वाद बाद में ही आया करता है। आंवले के ताजे रस का रंग बहुत सुन्दर सफेदी लिये हरा सा होता है। स्वाद, रूप, रंग और सस्ता-पन तथा मांग आदि सभी दृष्टियों से आंवले के स्क्वैश तथा दूसरे प्रकार के पेय अच्छे लोकप्रिय होंगे, ऐसी सम्भावना है।

विदेशीय पौधों की खेती

[पृष्ठ ९६४ से आगे]

इकट्ठे किये हैं। दिल्ली में इन नमूनों की जांच हो जाने और आवश्यकतानुसार उनके बीज पैदा कर लिए जाने के बाद, वे देश के विभिन्न राज्यों को भेजे जाते हैं, जहाँ उनकी खेती होती है और देखा जाता है कि किस प्रदेश में किस पौधे की फसल अधिक अच्छी होगी। इस प्रकार, इन दिनों भारत के विभिन्न राज्यों में अमेरिका, चीन आदि देशों की ४१ किस्म की शकरकंदों की परीक्षा हो रही है।

दिल्ली में की गयी परीक्षा से विदित हुआ है कि 'ताई-शिन-तुन' नामक चीनी जाति की शकरकन्द की उपज देशी शकरकन्द की उपज से तिगुनी अधिक होती है। इसमें सन्देह नहीं कि अच्छी जाति के उपयुक्त विदेशीय पौधों के चयन और भारत में उनकी खेती द्वारा देश की खाद्य-वृद्धि सम्बन्धी योजना में भारी सहायता मिल सकती है।

पेड़-पौधों के प्रवास की कहानी

विदेशीय पौधों की खेती

❀

एक देश के लोगों के दूसरे देशों में जा बसने की कहानियां तो हम इतिहास के प्रायः आरम्भ से ही सुनते आये हैं, किन्तु एक से दूसरे देश को पेड़-पौधों के अभिगमन का अध्ययन अपेक्षाकृत अभी कुछ नया ही है। तो भी, वनस्पति-जगत् के इन प्राणियों के प्रवास की कहानी मानव-प्रवास की कहानियों से कम रोचक नहीं है।

देखा गया है कि कभी-कभी विदेशीय पेड़-पौधों के किसी देश में पहुंचने और फैलने से उस देश की आर्थिक एवं औद्योगिक स्थिति में अनपेक्षित उन्नति हुई है। क्या आप जानते हैं कि 'वेस्टइंडीज' और संयुक्त राज्य (अमेरिका) के दक्षिणी भाग में गन्ना-उद्योग की उन्नति का श्रेय बहुत-कुछ भारत के ही गन्ने को है। जो गेहूं आज अधिकांश लोगों का मुख्य खाद्यान्न बन रहा है, वह सर्वप्रथम फारस, अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिम भारत में ही पैदा होता था। धीरे-धीरे वह इन देशों के बाहर यूरोप तथा एशिया के विभिन्न भागों में फैला, और तब संयुक्त-राज्य अमेरिका व कनाडा में पहुंचा, जो आज के संसार में गेहूं के सबसे बड़े निर्यातक देश माने जाते हैं। सोयाबीन भी अमेरिका में चीन व मंचूरिया से ही पहुंचा। इसी प्रकार अमेरिका की भी कई चीजें अन्य देशों में फैलीं। कहते हैं कि कोलम्बस द्वारा अमेरिका (नयी दुनिया) की खोज से पहले पुरानी दुनिया के लोगों ने आलू, टमाटर, तम्बाकू, मूंगफली और शकरकन्द जैसी साधारण चीजों के नाम तक न सुने थे। भारत, लङ्का, मलाया

और 'ईस्टइंडीज' में रबड़ व सिंकोना के पौधे अमेरिका से ही आये बताये जाते हैं। इसी प्रकार 'लंडाना' और 'आर्गमन' जैसे सरकण्डो जाति के हानिकर पौधे और पानी में पैदा होने वाली सेवा (घास) भारत में विदेशों से ही आयी बतायी जाती है।

अमेरिका और रूस जैसे उन्नत देशों में जयोगी विदेशीय पौधों को चुनने तथा उन्हें स्वदेश में उपजाने के कार्य के लिए विशेष कार्यालय खोले जाते हैं, जो वैज्ञानिक ढंग पर कार्य करते हैं। यही कारण है कि अमेरिका में अब भारत के आम, मिर्च, खजूर और फिलस्तीन के संतरे पैदा किये जाने लगे हैं। इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका में गन्ने की मुख्य फसल भारत के 'कोयम्बटूर—२८१' जाति के गन्ने की ही होती है। किन्तु भारत में इस प्रकार जो पेड़-पौधे अब तक विदेशों से लाये गये हैं, वे बहुत सुन्दर दीखने के ही कारण लाये गये हैं, कृषि की उपज बढ़ाने की दृष्टि से नहीं। आज हमें विदेशों के ऐसे पौधों की जरूरत है, जिनसे खाद्यान्नों व पशुओं के लिए चारे की अतिरिक्त उपज की जा सके।

नयी दिल्ली की भारतीय कृषि-गवेषणा-शाला में पिछले कई वर्षों में इस दिशा में कुछ कार्य किया है। उसने पशुओं के चारे योग्य घास, औषध-वनस्पति, शकरकंद, मूंगफली, प्याज, गुआर, मोठ, बैंगन, जौ, जई, अलसी, तिल आदि के कई-कई सौ नए

(शेषांश पृष्ठ ६६३ पर)

कायाकल्प

वैद्य राजेन्द्रप्रकाश



कुटी तापिक एवं कुटीप्रावेशिक विधियों का संक्षिप्त परिचय पूर्व दिया जा चुका है। इनमें से कायाकल्प करने की दृष्टि से कुटीप्रावेशिक विधि उत्तम है। वृद्ध वाग्भट्ट ने स्पष्ट कहा है 'तत्र वीर्यप्रभाव-प्रयोगपरिहारगुरुत्वात् कुटीप्रावेशिकं महाफलतरम्'।

इस विधि के अनुसार शरीर को पुनः एक प्रकार की गर्भकालिक अवस्था में रख कर उसके प्रत्येक कोष्ठ में जीवनीय शक्ति का प्रादुर्भाव एवं विकास किया जाता है। इस हेतु शास्त्रोक्त उत्तम स्थान पर एक त्रिगर्भाकृति कुटी बनायी जाती है। प्रकाश एवं वायु के आवागमनार्थ इसमें गवाक्षां आदि का प्रबन्ध रहता है। माता के गर्भ में जिस प्रकार बालक अपरा, गर्भाशयभित्ति एवं कटिप्रकोष्ठ के तीन आवरणों के मध्य में रहता है, ठीक उसी प्रकार इस त्रिगर्भा कुटी में रोगी को रक्खा जाता है। इस कुटी का निर्माण पूर्व या उत्तर दिशा में किया जाता है। इसका कारण यह है कि इस दिशा की वायु अधिक पोषक एवं बलवर्धक होती है।

त्रिगर्भाकृतिकुटी-निर्माण का भी कुछ वैज्ञानिक रहस्य अवश्य है। इसके द्वारा तापमान का नियमन (Balance of Temperature) सरलता से किया जा सकता है। रोगी की अवस्था के अनुसार उसको अन्तः, मध्य या बहिः भाग में रख सकते हैं। आवश्यकतानुसार इस कुटी का तापमान कम या अधिक किया जा सकता है। तापमान का नियमन इस कल्प में अपना एक विशेष महत्व रखता है। इस पर

आज भी बहुत से प्रयोग हुए हैं। मधुमक्षिका को भिन्न-भिन्न तापक्रमों पर रख कर उसकी विकासावस्था का अध्ययन किया गया है और यह परिणाम निकाला गया है कि वायुमण्डल के विशेष-विशेष तापक्रम पर भिन्न-भिन्न जीवों की वृद्धि भिन्न-भिन्न होती है। यह भी देखा गया है कि एक ही समय पर गर्भित मेंढक के अण्डों को विभिन्न तापक्रम पर रखने पर जो अधिक तापक्रम पर रक्खे जाते हैं वे कम तापक्रम पर रक्खे जाने वाले मेंढकों से शीघ्र ही वृद्धावस्था एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जब कि अल्पांश पर रक्खे गये मेंढक अभी पूर्णतया युवा भी नहीं होते।

इस प्रकार इस त्रिगर्भा कुटी में प्रकाश एवं वायु से जीवन ग्रहण करने वाले सेल उनकी अनुपस्थिति या अल्पता में कम कार्य करते हैं और प्रारम्भ में उनका क्षय होने लगता है। संशोधन क्रिया द्वारा भी सेल प्रथमतः दुर्बल होने लगते हैं; इस प्रकार एक विशेष अवधि तक इनका क्षय होता है; किन्तु फिर शीघ्र ही नियमित पथ्यौषधि-सेवन और योग्य प्रकाश एवं वायु से उनकी पुनः वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है; और वह वृद्धि भी पूर्वापेक्षा कहीं अधिक होती है। इस सम्बन्ध में भी कुछ प्रयोग जल-जीवां पर हुए हैं जिसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है।

क्लेवेलीना (clavellina) नामक जल जीव को (जिसमें सब अङ्ग विद्यमान होते हैं) यदि स्वच्छ जल से निकाल कर समुद्र-जल में रख दिया जाय तो कुछ दिन उपरान्त उसका शरीर सिकुड़ने लगता

है, उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है और अन्त में जीवन के सब चिन्ह लुप्त होने लगते हैं। इस अवस्था में वह एक निर्जीव लोथड़ासा रह जाता है। यदि अब उसको पुनः स्वच्छ जल में रखें तो उसका शरीर पूर्वापेक्षा कहीं अधिक कार्यक्षम, बलवान्, गतिवान् एवं सुन्दर हो जाता है।

ठीक यही क्रिया कायाकल्प की इस कुटीप्रावेशिक विधि में घटित होती है।

चरकसंहिता में कुटी में प्रवेश करने के सम्बन्ध में शुभ मुहूर्त-तिथि-नक्षत्र आदि का विचार करने एवं कामक्रोध आदि का परित्याग कर सब के प्रति मैत्री-भाव रखने का उल्लेख किया है। इस सब का प्रभाव शरीर पर बड़ा ही अच्छा पड़ता है। वस्तुतः इस प्रकार शरीर एवं मन को पूर्णतया विश्राम मिल जाता है। यदि केवल शरीर को विश्राम दिया जाये और मस्तिष्क में किसी प्रकार की चिन्ता उपस्थित रहे तो स्पष्ट है कि इस प्रकार का शारीरिक विश्राम केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु घातक भी हो सकता है। कायाकल्प के लिए पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक विश्राम के अनिवार्य है।

पथ्यौषधि-योजना

जैसा कि पहले भी निर्देश किया है, कायाकल्प में किसी औषधि-विशेष का अथवा तन्निर्मित किसी कल्पना का प्रयोग किया जाता है। इन औषधि-योगों का ग्रन्थों में पर्याप्त विस्तार से वर्णन है। अतः पुनः यहाँ उनका उल्लेख करना एक प्रकार से विषय का पिष्टपेषण मात्र ही होगा। इन औषधों के मौलिक सिद्धांत का विचार करेंगे।

चरकसंहिता में रसायनार्थ प्रयुक्त की जाने वाली औषधियों के ग्रहण के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से कहा है।—

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः ।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥
आपूर्णासवीर्याणि काले काले यथाविधि ।
आदित्यसलिलच्छायापवनप्रीणितानि च ।
यान्यदशधान्यपूतानि निर्वाणान्यगदानि च ॥

उपरोक्त शब्दों में महर्षि ने किस सुन्दर रूप से प्रशस्त भूमि, ग्रहण काल आदि वैज्ञानिक तथ्यों का दिग्दर्शन कराया है। इतना ही नहीं, सुश्रुत ने तो 'भूमिप्रविभागीय' नाम से एक पूर्ण अध्याय में इस विषय की महत्ता प्रतिपादित की है।

आधुनिक विज्ञान की भी मान्यता है कि औषधि में विशिष्ट रासायनिक संगठन वाले गुणोत्पादक तत्व (Active Principles) होते हैं। ये विशिष्ट तत्त्व एल्कोलाइड्ज, ग्ल्यूकोसाइड्स, गम्स, रेजिन्स, वोलेटाइल ऑयलस आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। औषधि का गुण इन गुणोत्पादक तत्वों (Active Principles) पर ही आश्रित होता है। उत्तम भूमि, योग्य ग्रहण-काल आदि का प्रभाव इस तत्व पर विशेष रूप से होता है और इसी के अनुसार गुण भी प्रतिकूलित होते हैं।

रसायनार्थ औषधि का चुनाव रोगी की अवस्था, दोषप्राबल्य, प्रकृति, देश, काल आदि का विचार कर किया जाता है। भिन्न २ प्रकृतियों के होने से रसायनार्थ भिन्न २ योगों का शास्त्रों में उल्लेख है। वेद्य उनमें से योग्य द्रव्य का ग्रहण करें।

आमलक, हरीतकी, शिलाजीत, पिप्पली, मल्लिकार्जुन, ब्राह्मी, गुडुची, मधुघृष्टि, दशमूल आदि विभिन्न औषधों का रसायनार्थ प्रयोग किया जाता है। इन सम्पूर्ण औषधियों में एक रहस्य है। ये भिन्न २ औषधियां भिन्न २ कारणों से उत्पन्न वृद्धावस्था के

लक्ष्णों को दूर करती हैं। हरीतकी वृ० अन्त्र में उत्पन्न विशेष विजातीय पदार्थ (Toxins) को (जो कि मैचनीकाँफ आदि के मतमें वृद्धावस्था का कारण होता है) नष्ट कर नवीन रसोत्पत्ति में सहायक होती है। शिलाजीत मूत्रवह संस्थान पर विशेष प्रभाव डाल कर उसको बल देती है और इस प्रकार मूत्रवह संस्थान के रोगों से मुक्त कर जरावस्था-नाशक होती है। भल्लातक, ब्राह्मी, दशमूल आदि वातवह संस्थान को बल देकर रसायनकार्य करती हैं। पिप्पली आदि औषधियाँ पाचक संस्थान को बल देकर प्रसादरसोत्पत्ति में हाथ बटाती हैं। आमलक श्वाससंस्थान एवं रक्तवह संस्थान को बल देकर शरीर में जीवितिकि (vitamins) की पूर्ति करता है। मधुयष्टि आदि औषधियाँ शरीर की जीवनीय शक्ति का वर्द्धन कर मांस आदि धातुओं की वृद्धि करती हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि रसायनार्थ प्रयुक्त होने वाली विभिन्न औषधियाँ शरीर के विभिन्न संस्थानों पर प्रभाव करके जरानाशक होती हैं।

कुछ ऐसी भी औषधियों* का उल्लेख है जिनके सेवन से सहस्रों वर्ष की आयु हो जाती है किन्तु आज वे अनुपलब्ध हैं।

अब तनिक पथ्य पर भी विचारें। कल्पकालीन पथ्य लघु, शीघ्र पाचक, सरल एवं पोषक होना चाहिये। अतएव शास्त्र में दुग्ध, शांठी धान्य, मुद्ग, अल्पघृत आदि का प्रयोग करने को लिखा है।

कायाकल्प और ब्रह्मचर्य

कोई भी रसायन नगर में रहने वालों को (जो गृहस्थी के कार्य में फँसे हैं, तप और ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, संयम से नहीं रह सकते) लाभ नहीं करता है। कई स्थलों पर आचार्य ने

* सोम आदि औषधियों से तात्पर्य है।

रेतोरोग की महत्ता दर्शायी है। इतना ही नहीं, 'आचाररसायन' नाम का एक रसायन भी पृथक् रूप से वर्णन कर डाला है जो कि नियमित, प्राकृतिक एवं सात्विक जीवन यापन के अतिरिक्त और क्या है ?

आधुनिक वैद्यक में भी एक उक्ति है "Man is as old as his sexual glands." हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि sexual harmones का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है। आधुनिक आचार्यों ने इसी को आधारभूत मानकर बहुत से प्रयोग किये हैं। इस सम्बन्ध में स्टीनक, वारनौफ आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० स्टीनक ने शुक्रनलिका-खण्डन एवं शुक्रग्रन्थि-स्थापन दोनों ही विधि से वृद्ध चूहों पर प्रयोग किये हैं और परिणाम सन्तोषजनक मिले हैं। श्री वारनौफ ने बन्दरों पर और फिर मनुष्यों पर इस सम्बन्ध में प्रयोग किये हैं और फल आशाप्रद रहे हैं।

इन विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि शरीर में शुक्र को अधिक उत्पन्न किया जाय और भोगवास व कुटेवों से होने वाले शुक्रक्षय को रोका जाये तो अवश्य ही मानव-शरीर दीर्घायु प्राप्त कर सकता है।

कायाकल्प और कायचिकित्सा के सिद्धान्त

कायाकल्प एक प्रकार की कायचिकित्सा ही है। चिकित्सा का तात्पर्य होता है रोगनिवारणोपाय। इसी को धातुसाम्य-क्रिया भी कहते हैं। चरक सूत्र-स्थान में कहा भी है—'यामिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः। सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्विषजां मतम्'। कायाकल्प द्वारा भी वृद्धावस्था में हुई धातुविषमता को दूर कर धातुसाम्य लाया जाता है।

निसर्गोपचार भी कायाकल्प-चिकित्सा का एक अंश है। कायाकल्प के स्नेहन, स्वेदन, वस्ति, प्राकृतिक आहार-विहार, आचार-रसायन, विश्राम आदि निसर्गोपचार हैं।

इस प्रकार हमारा कायाकल्प का सिद्धान्त, चाहे चिकित्सा-विज्ञान की किसी भी पद्धति की कसौटी पर परख कर देखा जाये, सत्य एवं पूर्ण ही उतरता है।

कायाकल्प-चिकित्सा के लोप का कारण

आज का मानव इस कठिन चिकित्सा के चक्र में नहीं पड़ना चाहता। वह शीघ्रकारिता-प्रिय है। भले ही रोग का पुनः आक्रमण क्यों न हो, वह तो चाहता है शीघ्र लाभ।

उपसंहारः—अन्त में लेख के उपसंहार रूप में मैं इतना कह देना ही पर्याप्त समझता हूँ कि आज के इस वैज्ञानिक संघर्षमय युग में कोई भी सिद्धान्त केवल युक्ति और तर्क के बूते पर अपना अस्तित्व

कदापि नहीं रख सकता और न हमारा यह ध्येय ही होना चाहिये, क्योंकि चिकित्साशास्त्र एक क्रियात्मक शास्त्र है। ऐसी स्थिति में हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि इस अपने अप्रचलित ही नहीं, बल्कि लुप्तप्राय शास्त्र को क्रियात्मक रूप देकर संसार को इसकी महत्ता से परिचित कर दें। प्रत्यक्षवादी संसार को हम कोरे सिद्धान्तों से सन्तुष्ट कर सकें इसमें सन्देह है। साथ ही इस विषय में अनुसंधान की भी आवश्यकता है। यदि हम इतना कर सकें तो अवश्य ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है।

इस सम्बन्ध में राजकीय सत्ता, जनता एवं चिकित्सक तीनों का पारस्परिक सहयोग अपेक्षणीय है। आशा है स्वतन्त्रता के शुभ वायुमण्डल में श्वास लेने वाले तीनों ही वर्ग देश की उन्नति में योग्य रीति से हाथ बटायेंगे।

सदा रोगी पुरुष

सदाऽऽतुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः।

द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते॥

नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधाद् बहुचिन्तनाद् भयात्॥

नृचित्तवर्त्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना।

सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः॥

सदव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम्।

अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते॥

च० सि० १॥ २७-३०

रोग-परीक्षा में व्यवसाय का ज्ञान आवश्यक है। चरकप्रतिसंस्कर्ता दृढबल ने पुरोहित, नौकर, वेश्या तथा दूकानदार इन चार को सदा रोगी (सदातुर, दायमुल मरीज) बताकर उनकी इस स्थिति के कारण बताये हैं। अन्त में कहा है कि, जो भी पुरुष इनके समान मिथ्याहारविहार करें वे सदा रोगी रहते हैं।

पुरोहित पूजा-पाठ आदि में लगे होने से, नौकर अपने मालिक तथा उसके प्रेमपात्र अन्य नौकरों की इच्छा के अनुसार आचरण करने, अति चिन्ता तथा भय के कारण, वेश्या अति स्नान, पुरुषों की इच्छा का अनुवर्तन आदि कारणों से एवं दूकानदार सदा बैठे रहने तथा सौदे के लोभवश सर्वदा मूल, मूत्र और अधोवायु के वेग का अवरोध करते हैं, समय पर भोजन भी नहीं कर पाते। अतः सदा रोगी रहते हैं। अन्य भी पुरुष सदा वेगारोध और अकालभोजन करें तो बारों

मास किसी न किसी रोग से पीडित रहते हैं।^१

—वैद्य रणजितराय

१—Sedentary habit—सिडेण्टरी हेबिट। मूल में 'सदाऽऽसन' शब्द है।—२०

२—वेगारोध तथा अकालभोजन की हानियाँ उभय मतों से मानने के लिए देखिये 'शरीरक्रियाविज्ञान'। स० स० भा०

बाध्य चिन्तन की चिकित्सा

प्रो० लालजीराम शुक्ल

❀

शुभी प्रकार के मानसिक रोगों की अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति अनिवार्यतः निर्वल हो जाती है। वह अपने ध्यान को किसी विशेष दिशा की ओर जाने से रोकना चाहता है, परन्तु उसका ध्यान उसी बात पर केन्द्रित हो जाता है, जिससे वह अपने मन को रोकता है अर्थात् जिसका चिन्तन वह अपने लिये कल्याण-प्रद नहीं समझता। कितने ही लोगों का ध्यान बार-बार गन्दी वस्तुओं पर जाता है, कितने ही लोगों का ध्यान स्त्रियों की छाती अथवा उसके गुप्ताङ्गों की ओर जाता है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति का विचार किसी भी व्यक्ति को देखते ही तत्काल उसकी शौचक्रिया पर जाता था। लेखक के एक मित्र का ध्यान किसी भी व्यक्ति को देखते ही उसके निम्न भागों पर जाता है। वे इस प्रकार के चिन्तन से बहुत परेशान हैं। जितना ही वह अपने ध्यान को सामने के व्यक्ति से अलग करने की चेष्टा करते हैं, उनका ध्यान और भी उसी ओर जाता है। उनके लिये अपनी दृष्टि को व्यक्ति के निम्न भागों से हटाना कठिन हो जाता है। स्त्रियों को देखते ही उनका ध्यान तुरत उनकी छाती अथवा गुप्ताङ्गों पर जम जाता है। इस कारण उनकी दृष्टि भी उसी ओर जाती है। चाहे कितना ही वह अपने आप से लड़े, उनके मन से गुप्ताङ्गों का विचार नहीं जाता। अनायास ही उनके ध्यान में व्यक्ति के गुप्ताङ्गों का आना जैसे अनिवार्य हो गया है। वह लाख प्रयत्न करने पर भी इससे मुक्त नहीं हो सकते। निरन्तर

अन्तर्द्वन्द्वों का क्रम उनके अन्दर चलता रहता है। परिणाम स्वरूप उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनका रक्तचाप बढ़ जाता है। उन्होंने हाल ही के पत्र में अपनी कथा निम्न लिखित शब्दों में कही है।

“मैं अपना मन किसी वस्तु से हटाने का जितना ही प्रयत्न करता हूँ, वह उतना ही अधिक उस वस्तु की ओर खिंचता चला जाता है। खिंचाव सिर की नसों में होने के कारण दर्द होने लगता है। मैं उधर से सिर घुमा लेता हूँ, नेत्र हटा लेता हूँ, लेकिन मेरे नेत्र का कोई भाग बलान् उधर ही खिंचा रहता है। यहाँ तक की मस्तिष्क दुखने लगता है और बड़ी थकावट का अनुभव होने लगता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि मैं रेल में बैठ कर सफर कर रहा हूँ। मेरी दृष्टि स्वभावतः लोगों के कटिप्रदेश पर पड़ जाती है। मैं एक तरफ से हटाता हूँ तो दृष्टि दूसरे व्यक्ति का कटिस्थान ले लेती है। मैं घबरा कर अखबार से दृष्टि को छिपा कर पढ़ने का प्रयत्न करता हूँ। मैं समाचार पढ़ता ही रहता हूँ, परन्तु दृष्टि उसी तरफ खिंची रहती है। यदि अखबार के किसी कोने से दृष्टि दूसरे व्यक्ति के किसी भाग पर पड़ सकती हो तो दृष्टि उसी तरफ खिंच जाती है और बड़ी बेचैनी होती है। उससे घबरा कर खिड़की से बाहर सिर निकाल कर देखने लग जाता हूँ, परन्तु दृष्टि पास के बैठे हुए व्यक्ति की तरफ खिंची रहती है। दृष्टि के पूर्णतः बन्द कर लेने पर खिंचाव वैसा ही बना रहता है; विवश होकर दृष्टि

पुनः खोलनी पड़ती है, किसी क्रिया से मुक्ति नहीं मिलती।

उक्त मानसिक द्वन्द्व का परिणाम यह हुआ है कि इनका रक्त भार लगभग ४० अंश बढ़ा हुआ है। अपनी स्मृति के बारे में वे लिखते हैं—“मेरी स्मृति आश्चर्यजनक रूप से व्यय हो गई है यदि मैं किसी को उधार या पेशगी रुपये दे देता हूँ अथवा किसी के हिसाब का फैसला करता हूँ तो प्रातःकाल की बात को सायंकाल तक भूल जाना साधारण सी बात है।”

उक्त मित्र की अवस्था लगभग ४० वर्ष की है। वह बीस वर्ष से सन्यासी हो गये हैं और पहाड़ों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। वह बड़े अध्ययन-शील और परोपकारी व्यक्ति हैं। पर समाज में आने में आपको बड़ी कठिनाई होती है। उनमें सदा आत्म-हीनता और संकोच का भाव बना रहता है। जब कोई व्यक्ति उनकी प्रशंसा करने लगता है, संकोच का भाव और बढ़ जाता है। इस कारण वे समाज से सदा अलग रहने की चेष्टा करते रहते हैं।

उक्त मित्र से पिछले दो वर्षों से पत्र व्यवहार हो रहा है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं को जानने पर मालूम हुआ कि वे अपनी किशोरावस्था में कामुक थे। परन्तु नैतिक धारणा भी उनमें प्रबल थी। उनका विवाह अठारह वर्ष की अवस्था में हुआ। वे अपनी स्त्री से अधिक न मिल पाये। इसी बीच एक नैतिक भूल उनसे हो गई। उन्होंने किसी ऐसी स्त्री के साथ काम-क्रीड़ा की, जिसे वे बहिन के रूप में मानते थे। इसका बड़ा धक्का उनके मन पर लगा। कुछ दिन तक वे अपने आपको इस अपराध के लिये कोसते रहे। फिर इस घटना के थोड़े ही दिन बाद वे घर द्वार छोड़ कर साधु बन गये। इस

प्रकार उनकी प्रेम भावना का एकाएक दमन हो गया और उनकी काम-शक्ति एकवारगी ही अवरुद्ध हो गयी। उसके विकास का अब कोई मार्ग नहीं है। उनका ऊपरी मन तो तपस्वी है किन्तु भीतरी मन भोगी है। उनका आंतरिक मन संसार के प्रेमका इच्छुक है। वह झूठी बड़ाई नहीं चाहता। इसलिए जनसमूह में आते ही उन्हें घबराहट होती है। वे अपनी मानसिक अवस्था को भली प्रकार पहचान गये हैं। कई दिनों के विचार विमर्श के बाद उन्हें रोग का मूलकारण बुद्धिगम्य हुआ है। उनके रोग का कारण काम वासना का दमन बताया गया था, जो अभी भी वर्तमान है। उन्हें यह भी बताया गया था कि उनकी आवेगात्मक काम व्यवहार सम्बन्धी उक्त घटना ही इस दमन के मूल में है। परन्तु इस बात को हृदय स्वीकार नहीं करता था। किन्तु कल आये हुए पत्र में दूसरी ही दशा प्रदर्शित होती है। वे अपने हिमालय स्थित स्थान से लिखते हैं।—

“नैनादेवी का पर्वत लगभग ६००० फुट की ऊँचाई पर है। वहाँ एक एकान्तवास के समय अकस्मात् मुझे आप द्वारा निर्दिष्ट कारण की समुचितता का भान होने लगा। मेरे गृह-त्याग के कुछ ही दिनों पूर्व जो काम सम्बन्धी घटना हुई थी उस पर आद्योपान्त विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि संभवतः उक्त घटना ही मेरे रोग का मूल कारण है। अज्ञात दमन ही रोग का कारण होता है—इसलिये उनके कारण पर मुझे अब तक संदेह ही था। परन्तु जब घटनाओं की शृङ्खला एक दूसरे से जोड़ता गया, तब मुझे उस घटना के कारण पर अब विश्वास होने लगा है। उस घटना का आद्योपान्त सविस्तर वर्णन मैं आपके पास लिख कर भेजूँगा।”

बाध्य चिन्तन की चिकित्सा

६७१

यहाँ अपने रोग के मूल कारण को इस मित्र ने पहचान लिया है। परन्तु मानसिक रोगों का अन्त एकाएक नहीं होता। रोग स्वयं शिक्षक है। रोग से मनुष्य को आत्म-ज्ञान होता है। वह जिस उद्देश्य को लेकर आता है जब तक उसकी पूर्ति नहीं होती वह समुद्र नहीं जाता। कृत्रिम चिकित्साओं से उसका दमन अथवा रूपान्तरण मात्र होता है। उक्त मित्र की मानसिक दशा दिन-प्रति दिन सुधरती गई है। उसके जीवन से निराशा का भाव जाता रहा। वह अपने सिर दर्द के बारे में अब नहीं लिखता। उसके विचार पहले शृङ्खला बद्ध नहीं थे। वह एक साथ बैठकर लम्बे पत्र नहीं लिख पाता था। परन्तु पिछले कुछ दिनों में लेखक ने उससे तीस-तीस पृष्ठा तक के पत्र पाये; जिनमें गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक विषयों पर गवेषणापूर्ण विचार किया गया है। उनकी स्मृति, तर्क-शक्ति अद्वितीय है। स्मृति के हास की जो शिकायत है, वह प्रायः विपरीत निर्देश के कारण ही उत्पन्न हुई है।

ये मित्र यदि गृहस्थ होते या उनका फिर गृहस्थी में आना संभव होता तो उनका मानसिक रोग कभी ही दूर हो गया होता। उनका हृदय प्रेम का भूखा है। वह प्रेमिका का चुम्बन, आलिङ्गन और उससे प्रेमपूर्ण वार्तालाप चाहता है। सन्यास जीवन में यह सम्भव नहीं। जब कामवासना की आगे की ओर अर्थात् स्त्री, सन्तान आदि की ओर प्रगति रुक जाती है तो वह प्रतिगामिनी बन जाती है, अर्थात् ऐसी अवस्था में मनुष्य का ध्यान बार-बार काम-वासना की तृप्ति के निम्न कोटि के साधनों पर केन्द्रित हो जाता है। और जब उससे उसे हटाने की चेष्टा की जाती है तो मानसिक खिचाव बढ़ जाता है। बुद्धिमानी इसी बातमें है कि इस प्रकार के खिचाव को अवहेलना न कर उसके अर्थ को समझने की चेष्टा

की जाय और तत्सम्बन्धी योग्य उपचार किये जाय।

अवरुद्ध कामवासना का शोध (Sublimation)-
बाल शिक्षा, संगीत, कला, कविता आदि कार्यों से होता है। शुकदेव, नारद, व्यास आदि ऋषियों ने इसी प्रकार अपने कामवासना का शोध किया परन्तु पहले से यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति को कौन सा उपाय ठीक बैठेगा। उक्त मित्र में कविता बनाने की प्रतिभा है। यदि वे इसी के द्वारा राष्ट्र की अथवा मानव समाज की सेवा करने लगे तो वे अपना और संसार का भारी कल्याण करने में समर्थ हों। वे जैसे-जैसे अपने आपको समझ रहे हैं इस ओर प्रयत्नशील भी हैं।

बाध्य चिन्तन का दूसरा उदाहरण एक बड़े सदाचारी गृहस्थ व्यक्ति का है। इन्हें अपने समवयस्क मित्र का सदा चिन्तन होते रहता है। उनकी समझ में मित्र उनकी इतनी परवाह नहीं करता जितनी की वह अपेक्षा करते हैं। परन्तु इन्हें तो उसकी चिन्ता किये बगैर चैन नहीं मिलती। वे 'स्वयं बीसवर्ष के विवाहित व्यक्ति हैं। व्यापार में लगे रहते हैं, पर ईश्वर-ध्यान के समान उन्हें सदा अपने मित्र का ही ध्यान रहता है। उनका मित्र भी एक गृहस्थ है। उसे अपने काम रहते हैं, अतएव उसे अपने उक्त मित्र की भावनाओं का आदर करने का समय ही नहीं मिलता। इससे पहले व्यक्ति को मानसिक धक्का अवश्य लगता है फिर भी वह अपने मन को उस मित्र से अलग करने में असमर्थ है। उसे सन्देश होने लगा कि सम्भवतः कोई मानसिक रोग हो गया है। अपनी मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए उक्त सज्जन ने अपने पत्र में लेखक को ऐसा लिखा था।

पत्र के उत्तर में उक्त सज्जन को लिखा गया कि वह अपने मित्र के विचार को भला माने। उनसे मित्र

के बारे में और भी अधिक चिन्तन करने को कहा गया। चाहे मित्र उनके प्रेम की परवाह करे अथवा नहीं, उन्हें तो उनके प्रति सदा सद्भावना लाना ही चाहिये, और उन्हें जिस प्रकार हो प्रसन्न करने की चेष्टा करना चाहिये। निःस्वार्थ प्रेम में बदला पाने का भाव नहीं रहता। ऐसा ही प्रेम सच्चा प्रेम कहा जा सकता है। उन्हें कहा गया कि वे इस प्रकार के प्रेम के लिये आत्म-भर्त्सना न कर अपने आपको धन्य ही मानें। साथ ही इसी प्रकार के प्रेम का प्रसार और अधिक लोगों तक करें।

इस प्रकार की मनावृत्ति का कारण बताते हुए लिखा गया कि सम्भवतः उन्हें अपनी माँ का पूरा लाड़-प्यार नहीं मिला और उनके यहाँ बहिन का अभाव होगा, और अपनी पत्नी के साथ भी उनका पूरा मनोयोग न होगा। इससे उनकी प्रेम की भूख तृप्त नहीं हो पायी। वह अतृप्त ही रही। उसका विकास नहीं हुआ। जहाँ विषमलिंगी (Hetero Sexual) प्रेम का अभाव रहता है, समलिंगी (Homo Sexual) प्रेम प्रबल हो जाता है। यह मानसिक संतुलन को बिगड़ने नहीं देता। इसके अभाव में भी व्यक्तियों का मानसिक विकास रुक जाता है। इन्हें बताया गया कि यदि वे जान बूझकर अपने मित्र को खूब प्यार करें

और जब उनका विचार मन से चला भी जाता हो तब भी उसे वापस लावें तो उनके बाध्य चिन्तन का अन्त हो जायगा। जिस भावना से हम लड़ते हैं वह बार-बार मन में आती है। और जिसे हम मन में आने की छूट दे देते हैं अथवा जान बूझकर मन में ले आते हैं वह मन से निकल जाती है। अतएव कुछ दिनों तक मित्र के विचार को ही सदा मनमें लाते रहने का अभ्यास करने की सलाह दी गई।

इसके अतिरिक्त सबके प्रति मैत्री भावना और सोते समय भद्रभावों का अभ्यास करने को कहा गया। जो कुछ होता है सब भले के लिये ही होता है—इस प्रकार का अभ्यास शिव भावना का अभ्यास है। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की बीमारी भी उसका मित्र बन जाती है। इन्हें अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को लिखने का भी आदेश दिया गया।

लेखक के आदेशानुसार उक्त सज्जन ने अपने विचारों को बनाने की चेष्टा की। उसने अपनी पुरानी भावना को अपना दोष न मानकर गुण ही मानना प्रारम्भ कर दिया। उसने शिव भावना का अभ्यास किया। इसके परिणाम स्वरूप उनका मन शान्त अवस्था में हो गया। मनका अन्तर्द्वन्द्व समाप्त होने पर उनकी मानसिक प्रसन्नता बढ़ गई और सभी प्रकार के खिचाव का अन्त हो गया।

जैसे यह सन्ध्या निकट आ रही है तेरी शान्ति अधिक गम्भीर तथा अधिक मधुर होती जा रही है और तेरी ध्वनि मेरी सत्ता की व्यापक नीरवता में अधिक स्पष्ट सुनाई दे रही है।

हे दिव्य स्वामी ! हमारा जीवन, हमारा चिन्तन, हमारा प्रेम, हमारा सारा अस्तित्व तुझे समर्पित है। अपनी वस्तु को तू वापिस ले, हमारी सत्ता में जो हम हैं वह तू ही तो है।

अगस्त ५, १९९३

—श्री माताजी

चन्द्रकला रस

प्रत्येकं कर्षमानं स्यात् सूतं ताम्रं तथाऽभ्रकम् ।

द्विगुणं गन्धकं मुक्ता दत्वाकुर्व्यात्तु कज्जलीम् ॥

तिक्तां गुडचिक्रा सत्वं पर्पटोनीरमागधीः ।

चन्दनं सारिवां चैव दद्यात् कर्षं सुचूणितम् ॥

मुस्ता दाडिम दूर्वातैः केतकी कमल द्रवैः ।

सहदेव्याः शतावर्याः पर्पटस्य च वारिणा ॥

भावयित्वा प्रयत्नेन दिनमेकं पृथक् पृथक् ।

द्राक्षाफल कषायेण सप्तधापरिभावयेत् ॥

ततः पोताश्रयं दत्वा वट्यः कार्याश्चणकोपमाः ।

अयं चन्द्रकला नाम रसेन्द्रः परिकीर्तितः ॥

सि० यो० सं०

अर्थात्—शुद्धपारद १ तोला, ताम्रभस्म १ तोला, अभ्रक भस्म १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, मोती पिष्टी २ तोला, कुटकी गिलोय का सत्त्व, पित्त पापड़ा, खस, छोटी पीपल, सफेदचन्दन, और अनन्त मूल, प्रत्येक का कपड़लान चूर्ण १-१ तोला लें, प्रथम पारा-गन्धक की कज्जलीकर उसमें भस्म तथा अन्य द्रव्यों का चूण मिला, नागरमोथा, अनार, दूर्वा, केवड़ा, कमल, सहदेई, शतावर और पित्त पापड़ा, इन के यथालाभ स्वरस, अर्क या क्वाथ की १-१ भावना और मुनक्का के क्वाथ की ७ भावनाएँ दें, प्रत्येक भावना में १-१ दिन मर्दन करें और छाया में सुखाकर दूसरी भावना दें। अन्त में १ तोला कपूर मिला, चने बराबर गोलियाँ बना छाया में सुखाकर रख लें।

मात्रा—एक से दो गोली, सुबह-शाम ठंडा जल, अशीरासव, अशोकारिष्ट या पेठे के स्वरस से दिन में

२-३ बार दें अथवा पित्तपापड़े के क्वाथ या नीलो-फर के शर्वत से दें।

उपयोग—

यह रसायन पित्तजन्य तथा वातपित्तजन्य रोगों को दूर करता है तथा आन्तरिक एवं बाह्य दाह को शान्त करता है। यह शरद ऋतु तथा ग्रीष्म में विशेष उपयोगी है।

यह रस ज्वर, घोर सन्ताप, भ्रम, मूर्च्छा, स्त्रियों का श्वेत प्रदर, रक्त प्रदर, रक्तपित्त, रक्त की बमन, और मूत्रकृच्छ्र रोग को नाश करता है।

चन्द्रकला का विशेष प्रभाव रक्तवाहिनी नाड़ी तथा रक्त संचालनी क्रिया पर होता है। रक्त में जब दूषित पित्त मिल जाता है; तब रक्त का दबाव बढ़ जाने से भीतर जलन होना, शरीर के ऊपरी भाग में गर्मी मालूम पड़ना, चक्कर आना, मूर्च्छा होना—रक्त विकृति तथा रक्त वाहिनी नाड़ियाँ कमजोर हो अनेक प्रकार के उपद्रव पैदा कर देती हैं, ऐसी अवस्था में रक्त वाहिनी नाड़ी एवं दूषित पित्त तथा रक्त का सुधारने के लिये चन्द्रकला रस का उपयोग करना बहुत गुणकारी है।

पैत्तिक (पित्त-जन्य) मूत्र कृच्छ्र या मूत्राघात में—जलन के साथ थोड़ा पेशाब होना, पेड़ में दर्द, मूत्र नली में दाह, अन्तर्दाह ऐसी स्थिति में चन्द्रकला रस का उपयोग यवक्षार और मिश्री चूर्ण के साथ करने से विशेष लाभ होता है। मन्दाग्नि के कारण आमाशय में कच्चा अन्न (अपरिपक्व अन्न) रह जाने से कुछ दिनों के बाद उसमें से विषाक्त गैस उठती है,

और इसका ऊर्ध्वगमन होता है। अतएव मस्तिष्क में भी इसके विकार का असर पहुंचता है। जिससे कभी-कभी चक्कर आते और बेहोशी आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यह विषाक्त गैस (वाष्प) रक्त का दूषित कर ज्वरादिक उपद्रव भी उत्पन्न कर देती है। इन उपद्रवों को दूर करने के लिये चन्द्रकला रस का उपयोग किया जाता है।

रक्तचाप (रक्त दबाव) में—जब पित्त की तीक्ष्णता के कारण रक्त में उफान उत्पन्न होता है तब रक्त ऊपर की ओर चलता है। जिसमें निम्नलिखित लक्षण होते हैं। यथा—दोनों आँखें लाल हो जाना, मुँह लाल वर्ण और कुछ गम्भीर-सा हो जाना, मस्तिष्क की शिराएँ विशेषकर कपाल पर रक्त की मोटी-मोटी शिराएँ उभर आना, दाह और चक्कर, अनाप-सनाप बोलना, ज्वर हो जाना, रक्त वाहिनी शिराओं का मोटा हो जाना, आदि। इस तूफानी रक्त के दौरा को चन्द्रकला रस बहुत सरलता के साथ नीचे उतार देता है। तथा पित्त को शान्त करते हुए दूषित रक्त को भी सुधार देता है।

पित्तोत्थान (पित्ताधिक्य) सन्निपात ज्वर में—ज्वर की गर्मी इतनी बढ़ जाती है कि रोगी बर्दाश्त नहीं कर सकता। कभी-कभी इससे बेहोश भी हो जाता है। आँखें सुर्ख (लाल) हो जाती हैं। कपाल की नसें तन जाती हैं और उनमें खून उभर आने से दर्द होने लगता है। जिससे बार-बार गर्दन चलाता रहता है। बार-बार गर्दन चलाने से कुछ आराम अनुभव होता है। सिर का दर्द इतना तेज हो जाता है कि लगता है जैसे—कोई हथौड़ा से मारता हो, या भाला से खोद रहा हो। रोगी व्याकुलता के कारण बोलने में भी असमर्थ हो जाता है, ऐसे लक्षण होते हैं। ऐसी भयंकर अवस्था में सन्निपात की जो उचित दवा हो वह तो करें ही ; किन्तु उसके साथ

चन्द्रकला रस भी देते रहने से यह बढ़े हुए दोषों को शीघ्र शान्त कर देता है।

रक्तस्राव—शरीर में गर्मी विशेष बढ़ जाने से रक्त में जलन, सिर में दर्द होता, आँखें लाल हो जाती और नाक-मुँह आदि से रक्तस्राव होने लगता है। गर्मी के कारण रक्त बिल्कुल पतला हो जाता है। कभी-कभी यह स्राव रुकना कठिन हो जाता है। ऐसे लक्षण होने पर—चन्द्रकला रस १ गोली, पीपल की लाख १ रत्ती, प्रवाल चन्द्रपुटी १ रत्ती, मिश्री १॥ माशे में मिलाकर दूध के साथ दें। ऊपर से उशीरासव या सारिवाणसव बराबर जल मिलाकर पिलावें।

राजयक्ष्मा की दूसरी अवस्था में खाँसी विशेष हो, ज्वर की मात्रा भी अधिक हो, रक्त-वमन हो छाती में दर्द और कमजोरी बराबर बढ़ती जाय—ऐसी अवस्था में रक्तस्राव को रोकना तथा केवल रोगी की शक्ति की रक्षा करना—प्रथम कर्त्तव्य होता है। इसके लिये चन्द्रकलारस—प्रवालचन्द्रपुटी रत्ती, गिलोय सत्त्व ४ रत्ती में मिलाकर दाढ़िमावे अथवा शर्बत अनार के साथ देने से पूर्ण फायदा होता है।

रक्त पित्त में—पित्त की तीक्ष्णता के कारण रक्त वाहिनी नाड़ियों की श्लैष्मिक कला विकृत होकर सूख जाती है, फिर उसके द्वारा रक्त बहने लगता है। रक्त मुँह और नाक के मार्ग से निकलता है। रोग कभी स्वतन्त्र रूप से और कभी उपद्रव रूप में भी हो जाता है। यदि इस रोग के साथ उदर वेदना (दर्द) होकर वमन द्वारा रक्त गिरे, साथ ही देह में जलन, प्यास, पेट में जलन आदि पित्तप्रकोपजन्य लक्षण हों तो चन्द्रकलारस का उपयोग करें, इससे बहुत फायदा होता है।

रक्तप्रदर में—जैसे पुरुष वर्ग में आजकल प्रचलित प्रमेह और शुक्र विकार की वृद्धि होती जा रही है, वह

चन्द्रकला रस

१७५

प्रकार स्त्री वग में भी रक्तप्रदर, श्वेत प्रदर, अत्यार्तव, रजःकुच्छता आदि व्याधियों की बाढ़-सी आ गयी है। स्त्रियों के गर्भाशय-बीजकोष या अपत्यपथ (योनि) में किसी प्रकार की विकृति के कारण दूद के साथ मालिकधर्म होना या अधिक मात्रा में रजःस्राव होना तथा रक्त प्रदर आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। इसमें भी पित्त की तीक्ष्णता के कारण रक्त विकृत हुआ रहता है। अतः हाथ-पाँव में जलन, शरीर का कमजोर होते जाना, उठने-बैठने में आँखों के सामने चिनगारियाँ छूटना, भूख कम लगना आदि उपद्रव होते हैं। ऐसी स्थिति में चन्द्रकला रस अशोक की छाल के काथ अथवा अशोकारिष्ट (बराबर जल मिलाकर) के साथ देने से बहुत शीघ्र लाभ होता है।

पित्तिक (पित्त-जन्य) प्रमेह में—पित्त से उत्पन्न होने वाले प्रमेह कई तरह के होते हैं। उनमें कालमेह—जिसमें काला पेशाब होता है। नीलमेह—जिसमें नील वर्ण का पेशाब होता है। हारिद्रमेह जिसमें हल्दी के रंग के समान पीला पेशाब होता है इत्यादि हैं। इन रोगों में पित्त की तीक्ष्णता से सर्वाङ्ग में दाह, प्यास की अधिकता, बार-बार जल पीने पर भी तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। पेशाब की मात्रा में कमी तो होती है किन्तु पेशाब अधिक बार होना, कण्ठ सूखना आदि उपद्रव होते हैं।

ऐसी दशा में चन्द्रकलारस आँवले के स्वरस के साथ देने से अच्छा लाभ होता है। इससे पित्त की तीक्ष्णता कम होकर रक्त-स्थित और त्वचा स्थित दाह कम हो जाती है। और धीरे-धीरे इससे होने वाले उपद्रव भी शान्त होने लगते हैं।

इस रसायन में कज्जली - विकासी - व्यवायी (फैलनेवाली) और रसायन है। ताम्र—पित्तसारक और पित्तस्थान को शक्ति प्रदान करने वाला तथा यकृत में से अधिक पित्त स्राव को रोकने वाला है, अभ्रक—रसायन-सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करने वाला, पित्तशामक और वातवाहिनी नाड़ियों के क्षोभ को नाश करने वाला, तथा वातशामक है। नागरमोथा आम को पचाने वाला तथा मूत्र लाने वाला है। केवड़ा—मूत्रल और दाह शान्त करने वाला है। शतावरी—शक्तिवर्द्धक और मूत्र लाने वाली है। कुटकी—पित्तस्राव कराने वाली और यकृत को शक्ति देनेवाली तथा ज्वरनाशक है। गुडूची (गिलोय) सत्व—पित्त और दाहशामक तथा मूत्र लानेवाली है। पिप्पली—रसायन है। चन्दन—मूत्रल और दाह नाशक है। मुनक्का—पित्त-शामक, हृदय को बल देने वाला, शक्ति बढ़ाने वाला तथा दाह नाशक है।*

* श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० कलकत्ता से प्रकाशित "आयुर्वेद सारसंग्रह" से

ओ प्रेम ! दिव्य प्रेम ! तू मेरी सत्तामात्र को मरे दे रहा है और फिर चारों ओर बहकर जा रहा है। मैं तू ही हूँ और तू मैं और मैं तुझे सब जीवों में, सब वस्तुओं में—पवन के हल्के झोंके से लेकर तेजपुञ्ज सूर्य तक मैं जो हमें प्रकाश देता है और तेरा प्रतीक है—देखती हूँ।

ओ तू ! जिसे मैं समझ नहीं सकती, अत्यन्त पवित्र भक्ति की नीरवता में मैं तेरी पूजा करती हूँ।

—श्री माताजी

अगस्त १६, १९१३

लेखाङ्क—२

(गत नवम्बर अंक से आगे)

दालचीनी

वैद्य खेमराजशर्मा छांगाणी आयुर्वेदाचार्य



त्वचादि चूर्ण :—दालचीनी, सोंठ, छोटी इलायची के दाने सम भाग लेकर कपड़छान चूर्ण तैयार करें। यह तीन माशा शहद के साथ भोजन के पूर्व लेने पर भूख खुलकर लगती है और अपान वायु विसर्जन होने में सहायता मिलती है। इस प्रयोग को आयुर्वेद शास्त्र में 'त्वचादि चूर्ण' के नाम से कहा जाता है। यह कोटाणु नाशक, मन्दाग्नि और आम प्रकोप में लाभदायक है। इसका उपयोग मंथर ज्वर में थोड़ी मात्रा में किया जाता है।

त्रिजातः—दालचीनी, तेजपात और छोटी इलायची के दाने समभाग मिलाकर तैयार होता है। यह चूर्ण एवं काथ दोनों रीति से प्रयुक्त होता है। गले और जिह्वा के दोषों एवं दांतों के लिये तथा अन्य कई व्याधियों में चिकित्सक काम में लेते हैं।

चातुर्जातः—दालचीनी, तेजपात, इलायची के दाने एवं नागकेशर के समभाग मिलाने पर कहा जाता है। यह उपरिलिखित बातों के अनुसार कई व्याधियों के लिये रस, आसवारिष्ठ, पाक, चूर्ण, बटी आदि बनाते समय डाला जाता है। यह (चातुर्जात) सुगन्धित होने से चित्त की प्रसन्नता के हेतु भी सेवन किया जाता है।

त्वक्पानीय :—दालचीनी एक हिस्सा और जल दस हिस्सा को लेकर उसको उबाल कर बनाया जाता है। इसको नलिका यन्त्र के द्वारा अर्क के रूप में भी खींच लिया जावे, तो चिरस्थायी होता है। यह भी ज्वराधिक्य, वातश्लेष्म प्रकोप, बमन, घबड़ाहट, आदि में दिया जाता है।

त्वचादिकाथ :—दालचीनी ८ माशा, कथा तोला को ५० तोला पानी में दो-तीन घण्टा उबाल कर तत्पश्चात् शीतल होने पर छानकर १ तोले मात्रा में पिलाने से पेचिश और अतिसार में लाभदायक है।

त्वक्कषाय :—दालचीनी ४ माशा और हरेड १६ माशा को जल १० तोला में मिलाकर उबालें। तत्पश्चात् पी जाने से मलशुद्धि होकर विकार शमन हो जाता है। इससे आमाशय शक्ति मिलती है, क्षुधा बढ़ती है, कार्य करने उत्साह बढ़ता है व चित्तवृत्ति प्रसन्न रहती है।

इसके अलावा कई प्रकार के स्वादिष्ट चटनी, माजून व पना में जो कि पाचन क्रिया ठीक करने में व्यवहृत होते हैं दालचीनी मिलाई जाती है। उत्तर प्रदेश में कई जगह नमक सुलेमानी प्रसिद्ध हैं। उनमें दालचीनी का रूप से मिलती है।

“दालचीनी का तेल” गुणों में अत्युत्तम है, उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है।
दालचीनी का तेल

इसका कई व्याधियों में बाह्योपचारार्थ एवं में सेवन कराया जाता है। कुछ प्रयोग ये हैं—

शक्तिवर्धनार्थ :—३ बून्द दालचीनी का तेल रबेल के पान के बीड़े में अथवा शकर में खाये।

ज्वराधिक्य में :—५-५ बून्द दालचीनी

दालचीनी

६७७

उष्ण जल में मिलाकर सेवन करें। जब तक ज्वर का वेग कम न हो तबतक १-१ घण्टे के पश्चात् देना अच्छा है। यह प्रयोग वातश्लेष्मज्वर में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

वातविकृति में :—दालचीनी का तेल लगाना या सरसों के तेल में मिलाकर मालिश करना चाहिए; इससे वातज वेदना दूर होती है।

सिर दर्द में :—दालचीनी के तेल का फाहा सिर एवं कनपटियों पर लगाना हितकर है। इससे साधारण जलन होकर सिरदर्द में लाभ होगा।

दांत एवं दाढ़ के तोत्र बंद में :—दालचीनी के तेल का फाहा दर्द के स्थान पर रखें।

राज्यक्षमा के क्षत में :—यक्ष्मा से उत्पन्न व्रण पर दालचीनी का फाहा बांधें या अन्य किसी पुल्टिस के साथ उस स्थान पर लगाएँ। यह व्रण शोधन बहुत जल्दी करता है।

अत्यधिक रजःस्राव हाने पर :—१ से ३ बून्द तक दालचीनी के तेल को कैप्सूल में बन्द करके अथवा अन्य किसी अनुपान (दम्बुल अखवैन, ऊन की जलाई हुई राख इत्यादि) से दें।

दन्तमज्जन में :—किसी भी दन्तमज्जन में दालचीनी का अथवा लौंग का तेल थोड़ी मिकदार में

मिलाकर तत्पश्चात् उपयोग में लाना फायदेमन्द है।

उदरशूल में :—जीभ भीतर की ओर खिंचती हो तो दालचीनी का तेल उदर में सेवन कराना बहुत लाभदायक है।

मोतीभूरा में :—दालचीनी का तेल अन्य औषधियाँ के साथ मिलाकर इस व्याधि में देना बहुत गुणकारी प्रमाणित हुआ है।

तेल की विशुद्धता पर दो बातें

दालचीनी का तेल किसी विश्वस्त कार्यालय का ही खरीदना चाहिये। तेल बाजार में दो प्रकार का पाया जाता है (१) पतला और (२) गाढ़ा। पतला तेल नया होने पर पीतता लिये होता है और गाढ़ा तेल गहरे लाल-काले रंग का “चोआ” के रूप में निकाला हुआ होता है। लौंग, इलायची, दालचीनी, सौंफ, जायफल आदि कई वस्तुओं से तेल निकाला जाता है। चीन, जापान, फ्रान्स आदि देशों से यह भारतवर्ष में आता है। स्वयं हाथ से भी इनके तेल निकाले जा सकते हैं। इन तैलों का आपेक्षिक गुरुत्व प्रायः १० दशमलव ३० तक होता है। दालचीनी का तेल जल में डालने पर “जलेक्षिप्तं निमज्जति” (आत्रेय संहिता) के अनुसार डूब जाता है।

दाड़िम या अनार

[पृष्ठ ९८१ का शेषांश]

कईवार देखा जाता है। इसके लिए बोड़ों-मिश्रण का उपयोग करने से रोग काबू में आता है। मुँबई में बहुत बार वृक्षों पर ही बड़े दाड़िम रात को फट कर फल बाजार में भेजने योग्य नहीं रहते। उद्भिद् के जीवन-क्रम में, जल में अथवा जलवायु में परिवर्तन होने से उनके प्रभाव से फल फट जाते हैं।

नियमित पानी पिलाने की पद्धति द्वारा इस क्षति को अटकाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, दृढ़ फल त्वक् वाली जाति लगाने से भी कदाचित् फलों का फटना रोका जा सकता है। फल बड़े हो जाने पर उन्हें बहुत काल वृक्ष पर न रहने देकर तोड़ लिया जाय तो यह उपद्रव कम हो सकता है।

दाड़िम या अनार-३

श्रीयुत भानु देसाई



भारत में दाड़िम की कृषि उत्तर में काश्मीर से दक्षिण में मद्रास-पर्यन्त तथा पश्चिम में काठियावाड़ से पूर्व में युक्त प्रदेश तक विकीर्ण अवस्था में देखी जाती है। आम, अमरुद आदि फल-वृक्षों की तुलना में भारत में दाड़िम की कृषि उतने बड़े पैमाने पर नहीं की जाती। दाड़िम का मूल स्थान ईरान समझा जाता है। वहाँ से इसका प्रसार भूमध्य समुद्र के प्रदेशों—इटली, स्पेन आदि में हुआ। स्पेन में दाड़िम की कृषि कोई ५०० एकड़ क्षेत्र में होती है। वहाँ फल वृक्षों में इसकी कृषि का स्थान महत्त्व का है। सुनते हैं, अमेरिका में केलीफोर्निया में छोटे पैमाने पर इसकी कृषि होती है।

दाड़िम की अन्य भी जातियाँ हैं। परन्तु उन-पर फूल आकर गिर जाते हैं। इनका उपयोग बहुत से स्थानों में शोभा के लिए किया जाता है। दाड़िम की कई जातियाँ फूल की शोभा को दृष्टि में रखकर के ही उद्यानों में लगायी जाती हैं। इन पर लगे रक्त वर्ण फूल बड़े सुहावने होते हैं। उनमें भी विशेषतया डबल फूल वाली जाति, जिस पर फल आते ही नहीं, उसकी शोभा विशेष होती है।

इस ओर मुंबई तथा सौराष्ट्र में पूना, अहमदनगर, सातारा आदि जनपदों (जिलों) में तथा भावनगर, जामनगर, धोलका आदि स्थलों में दाड़िम के उद्यान बड़े प्रमाण में देखे जाते हैं। धोलका तथा भावनगर के दाड़िम अच्छे माने भी जाते हैं।

दाड़िम का वृक्ष बहुत कठिन होता है। इसके

पत्ते झड़ जाते और पुनः फूटते हैं। इन कारणों से कोई भी जलवायु इसके लिये अनुकूल होता है। अत्यंत गर्मी, अत्यन्त ठण्डक और पाले को भी यह सह सकता है। केवल ठण्डी १२° फे तक पहुँचे तो इसे हानि होने की आशङ्का होती है। नम हवा में दाड़िम बहुत अच्छे नहीं होते। फल भी छोटे रहते हैं।

जलवायु के समान लगभग प्रत्येक प्रकार की भूमि में दाड़िम लगाया जा सकता है। तथापि खूब अच्छी खुदाई हो सके ऐसी लाल या काली भूमि दाड़िम की कृषि के लिए अति अनुकूल है। अन्य फल-वृक्षों की अपेक्षया क्षार भूमि को दाड़िम अधिक सह लेता है। इधर काठियावाड़ में विशेषतया चूने वाली भूमि में दाड़िम की खेती बड़े प्रमाण में देखी जाती है। दाड़िम बंजर, बलुई (रेतोली) और निकृष्ट भूमि में भी अच्छे पनपते हैं। सच पूछें तो, जिस भूमि में अन्य कोई फल होने की आशा न हो वहाँ भी दाड़िम अल्प आयास से उगाया जा सकता है। इसकी वाटिका के लिए समतल भूमि न हो तो भी क्षति नहीं। पहाड़ियों की उतराई की तथा गढ़ों वाली जमीन भी दाड़िम के काम आ सकती है। ऐसी भूमि में सारे क्षेत्र को न जोतकर वृक्षों के लिये गढ़े खोदने एवं समीप की भूमि को खोद कर पोची कर लेने से भी काम चल सकता है। दाड़िम रोपने के लिये प्रथम क्षेत्र को दो-तीन बार सीधे और आड़े जोत कर झाड़-झंखाड़ आदि

दाड़िम या अनार

६७६

निकाल, ढेले तोड़, हल और पटरा चला भूमि को ठीक समतल करना चाहिए। पश्चात् उसके प्रकारानुसार उत्तम भूमि में बीस-बीस फुट के अन्तर से और निकृष्ट भूमि में पन्द्रह-पन्द्रह फुट के अन्तर से चार फुट गहरे और चार फुट वर्गाकार गढ़े ग्रीष्म ऋतु में तय्यार कर लेने चाहिये। इन गढ़ों में पुनः मिट्टी भरने के पूर्व उससे निकली मिट्टी में सभभाग देशी अच्छी सड़ी गोबर की खाद मिला मिट्टी से गढ़े भर देने चाहिये। सिंचाई के लिये क्षेत्र में नालियाँ बना लेनी चाहिये। एक एकड़ में दस-दस फुट के अन्तर से गढ़े खोदने से ४३५ गढ़े होंगे; १५-१५ फुट के अन्तर से १६३ तथा बीस-बीस फुट के अन्तर से १०६ गढ़े होंगे।

दाड़िम की पौध लगाने की कई पद्धतियाँ हैं। इन्हें बीज बोकर, 'दाव' कर और डाल लगाकर उगाया जा सकता है। तीनों पद्धतियों में बीज तथा शाखा लगाने की पद्धति अधिक प्रचलित है। पद्धति चाहे जो स्वीकार की जाय पौधा लगाने योग्य होनेमें समय तो सबमें लगभग समान ही लगता है। दो में से जिस भी पद्धति से पौध लगायें, पौधा कोई दो वर्ष में लगाने योग्य होता है।

दाड़िम की पौध बीज से तैयार करनी हो तो वृक्ष पर पके, बड़े, अच्छी जाति के दाड़िम चुनें। तोड़ने के कुछ दिन बाद तक फलों को रख कर पूरा-पूरा पकने दें। पश्चात् पके फल से बीज निकाल, राख में मसल कर सुखाएँ। फिर चार फुट चौड़ी और छः या बारह फुट लम्बी क्यारियाँ अथवा 'चौकी' * तैयार करें। पौध लगाने के लिये 'चौकी' बनाना अच्छा है। कारण, इससे चौमासे में जल भर कर पौधों के सड़ने की आशंका नहीं रहती।

* आस-पास की भूमि से मिट्टी डालकर कुछ ऊँचा किया स्थान।

'चौकी' पर कोई नौ इंच के अन्तर से पंक्तियाँ बना प्रत्येक पंक्ति में लगभग चार-चार इंच के अन्तर से बीज बोएँ। पौधे अनुमान से ६ इंच ऊँचे हो जायें तो अन्य क्यारियों में १-१ फुट के अन्तर से लगा दें। ऐसा करने से पौधा स्थायी जगह पर लगाने योग्य हो तब उसे मूल के साथ चिपटो हुई मिट्टी सहित निकालना सुगम होता है। बीज से तय्यार किये पौधे लगभग डेढ़ से दो वर्ष में तय्यार हो जाते हैं।

शाखाओं से पौध लगाने का पद्धति से दाड़िम उगाना हो तो लगभग आध इंच मोटी दृढ़ शाखा लेकर उसके ६-६ इंच के टुकड़े कर, उनका तिहाई भाग ऊपर रहे इस प्रकार क्यारी में १-१ फुट के अन्तर से शाखाएँ गाड़ देनी चाहिए। इन शाखाओं में नीचे मूल फूट कर डेढ़-दो वर्ष में वृक्ष उगाने योग्य हो जाता है।

'दाव' की पद्धति से पौध तैयार करने के लिये भूमि के पास की पतली शाखा ले, उसे मट्टी में दबा, ऊपर भार रख कर नियमित जल देते रहना चाहिये। इससे कुछ हो मास में मूल अंकुरित हो दाव—कलम तैयार हो जायँगी।

पौध तय्यार होने पर चौमासे के प्रारम्भ में एक वृष्टि होने के पश्चात्, एक-एक पौधा गढ़े में लगा देना चाहिए। वर्षा न हो तो जल से सींचते रहना चाहिए। जड़ पकड़ने तक दाड़िम को वर्षा न हो तब तक प्रति तीसरे-चौथे दिन पानी पिलाना चाहिए। पौधे जैसे-जैसे बड़े होते जायें वैसे-वैसे पानी पिलाने का अन्तर बढ़ाते जायें। अनुमानतः तीन से चार वर्ष पर्यन्त वृक्ष पर फल आने लगे तब तक पानी पिलाते रहें। प्रति वर्ष वृक्ष की शक्ति के अनुसार दो से चार टाकरी अच्छी सड़ी खाद डाल कर मिट्टी के साथ मिलाना चाहिए। उत्तम भूमि और शुष्क

के कारण वृक्ष यदि दो वर्षों में ही फल कर बड़ा हो जाय तो दूसरे वर्ष में भी उसमें बड़े फल आ जाते हैं।

दाडिम के फूल तीन पृथक्-पृथक् ऋतुओं में आते हैं—वसन्त-बहार—फरवरी, मार्च में; मृग-बहार—^१ जून-जुलाई में तथा हस्त-बहार—^२ अगस्त, सितम्बर में। इन तीन ऋतुओं में प्रत्येक वृक्ष पर फूल आते ही हैं। परन्तु सभी फूल रहने दिये जायें तो फल छोटे आयेंगे। अतः अच्छे बड़े फल लेने हों तो केवल ऋतु की बहार रहने देने की पद्धति रखनी चाहिए। सामान्यतया हस्त-बहार रहने नहीं दिया जाता। कारण उसकी फल लेनी हो तो चौमासे में वर्षा चालू रहने के कारण वृक्ष को यथेष्ट विश्राम नहीं मिल पाता। तथापि हस्त-बहार लेना ही हो तो सितम्बर में मूल अनावृत कर वृक्ष को विश्राम दिया जाय तो मार्च में फल तय्यार हो जायेंगे।

साधारणतया वसन्त-बहार और मृग-बहार रहने देने का प्रचार है। वसन्त-बहार के फल लेने हों तो जुलाई-अगस्त में वसन्त फल चुन लेने के पश्चात् वृक्ष को विश्रान्ति देने के हेतु दिसम्बर मास तक पानी पिलाना छोड़ दें। पानी न मिलने से उसकी जीवनी क्रिया मन्द हो जाती है, जिससे वृक्ष के सामान्यतः सभी पत्र झड़ जाते हैं। पत्र झड़ जाने पर दाडिम की पंक्तियों के मध्यमें हल चला कर उनके मूल खुले कर दें और दस-पन्द्रह दिन ऐसे ही रहने दें। जोतने की व्यवस्था संभव न हो तो कुदाल से ही मूलों को अनावृत कर दें। पश्चात् उनके छोटे-छोटे मूलों को काट कर, बड़े मूल रहने दें। फिर वृक्ष की विशालता के अनुसार तीन-चार

टोकरी खाद डाल, थामले की मिट्टी के साथ अच्छी प्रकार मिश्रित कर पानी पिलायें। जल इस प्रकार फरवरी के दूसरे सप्ताह में दिया जाता है। बाद में यथावश्यक जल देते रहना चाहिए। वृक्ष पर फल लगने पर छ-सात मास में वे तोड़ने-योग्य हो जाते हैं।

मृग-बहार लेनी हो तो वृक्ष को उक्त प्रकार से मार्च-अप्रैल तक विश्रान्ति दे, उसके मूल अनावृत कर, पतले मूल काट कर, वसन्त-बहार के प्रकरण में बताये अनुसार खाद आदि छोड़ मई मास में जल पिलाना चाहिए। एकादश मास में फूल आकर छ-सात मास में फल तोड़ने योग्य हो जायेंगे। काठियावाड़ में भावनगर आदि स्थानों में साधारणतया मृग-बहार के फल ली जाती है। शीत देशों में दाडिम के मूल अनावृत नहीं किये जाते। कारण वहाँ की प्रभाववश पत्र स्वयं झड़ जाते हैं और वसन्त में फल पल्लवित और कुसुमित होते हैं।

प्रत्येक वृक्ष पर उसके वय के अनुसार १०० फल लगते हैं। भूमि उत्कृष्ट हो और ठीक आठ से दस वर्ष का हो तो ४०० से ५०० फल मिल सकते हैं। दाडिम का वृक्ष अधिक से अधिक पच्चीस से तीस वर्ष पयन्त फल देता है। पश्चात् वृक्ष को रहने दिया जाय और उसकी श्रुषा की जाय तो भी उतने फल नहीं आते। स्थिति में दाडिम के वृक्षों को खोद डाला जाय तो क्षति नहीं। दाडिम के बगीचे में प्रारम्भ के वर्ष तक सहायक फल के रूप में शाक-भाजी लगा सकते हैं।

अन्दर के रङ्ग और बीज की कठिनायता के भेद से दाडिम का जाति-भेद किया है। मुख्यतया श्वेत और गुलाबी तथा सु

१—२—कमशः मृगशीर्ष और हस्त नक्षत्र के उदय के काल।

दाडिम या अनार

६८१

और दढ़-बीज ये भेद दाडिम के हैं। इस ओर इन्हें धोलका, जामनगरी आदि नामों से भी पुकारा जाता है। रस की दृष्टि से दाडिम तीन प्रकार का होता है मोठा, खटमोठा और खट्टा। इसके सुखाये हुए बीजों को अनार दाना या दाडिमसार कहते हैं। विशेषतया उत्तर भारत में इनका उपयोग मसालों में होता है। दाडिम की काबुली जाति देखाव में रम्य परन्तु रस में अम्ल होती है। दाडिम के फल की उपयोगिता तद्गत शर्करा और अम्ल के आश्रित है। उत्कृष्ट प्रकार के फलों में १२ से १६ प्रतिशत शर्करा और १०५ से २०५ प्र. श. अम्ल होता है। जाङ्गल (सूखे जलवायु वाले) प्रदेशों में फल विशेष होते हैं। वायु में आर्द्रता जितनी अधिक होगी, फलों में शर्करा तथा अम्लका प्रमाण उतना ही न्यून होगा।

दाडिम का फल स्वादु होता और पुष्कल खाया जाता है। मृदु-बीज दाडिम को कई लोग बीज-समेत खाते हैं। इसके रस से पानक बनाते हैं। परन्तु ताजे फलों से पानक बनाते हुए जो रस निकाला जाता है उसमें टेनीन का अंश अधिक आता है। इससे रस अ-स्वादु हो जाता है। रस में टेनीन का प्रमाण अल्प करने के लिए फलों को कुछ दिन यों ही पड़े रहने देकर पीछे रस निकालना चाहिए। दाडिम के रस का शर्वत बना कर १७५ से १८० ताप देकर शीशियों में भर कर दीर्घ काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

चिकित्सा की दृष्टि से दाडिम अति उपयोगी है। इसका फल सामान्यतः त्रिदोषहर, रोचक, दीपन और पाचन है। यह मल को बाँधता है, अतः अतिसार ग्रहणी और प्रवाहिका में यह पथ्य के रूप में दिया जाता है। हृद्य होने से वमन में भी उपयोगी है। फल की त्वचा भी ग्राही होने से अति-

सार, ग्रहणी और प्रवाहिका में जब मल को बाँधना अभीष्ट होता है, तब दी जाती है। फलत्वक् तरुण तथा जीर्ण कासों में भी प्रयुक्त होती है। अतिसार आदि रोगों में फल का पुटपाक-विधि से निकाला रस भी काम आता है। दाडिम के मूल की त्वचा उत्तम कृमिघ्न है। इसकी विशेष क्रिया ब्रध्न-कृमियों (चपटे कीड़ों) पर होती है। कृमियों का निदान होने पर प्रातः खाली पेट मूलत्वक् का क्वाथ १-२ तोला दिया जाता है। उस दिन खाना न देकर अगले दिन प्रातः विरेचन दिया जाता है। इससे ब्रध्न कृमि मर कर निकल जाते हैं।

दाडिम के रोगों में कीटकों में विशेषतया फल को कोर कर खाने वाले कीट अधिक हानि पहुँचाते हैं। ये चौमासे की वृहत् को विशेषतः हानि पहुँचाते हैं। वृक्षों पर फूल आने पर उनमें किंवा छोटे फलों में कीड़े अण्डे देते हैं। इन अण्डों से इल्ली निकल कर फलों में छिद्र कर, अन्दर घुस दानों का रस वाला भाग खाकर उन्हें बहुत हानि पहुँचाती है। इन कीटों से होने वाली हानि को रोकने के हेतु फलों पर कागज की थैलियाँ बाँधने का प्रचार है। दाडिम के फल जब बहुत छोटे हों उस काल उनपर यदि सूक्ष्म अण्डे दिखाई दें तो उन्हें साफ कर थैली बाँध देने से कीड़े अण्डे देकर फलों को बिगाड़ नहीं सकते। मुंबई राज्य में यह पद्धति प्रचलित है। इसमें श्रम अधिक होता है, यह सत्य है। मद्रास में फूल की पत्ती झड़ जाने के पश्चात् फलों से संलग्न पुष्पकोश को तोड़ कर उस पर केलिशायम आर्सेनेट छिड़कने की सलाह दी जाती है। मुंबई में दाडिम को होने वाले रोग स्वल्प मात्र हैं। परन्तु मद्रास की ओर पत्तों तथा फलों पर दाग लगने का रोग (शेषांश पृष्ठ ६७७ पर)

१—Tape-worm—टैप वर्म।

ईमानदारी का तकाजा

‘अत्रि’

२४

महर्षि अत्रिपुत्र ने अपने शिष्य अग्निवेश को उपदेश देते हुए कहा कि—

“अमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्य-मभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति ।”

अपने शत्रु का भी धन्य, यशकारी, आयुदायक, पौष्टिक (प्रमाणों से पुष्ट), लोक के अनुसार वचन सुनना चाहिये और करना चाहिये। इसी दृष्टि से आप मेरे भी वचन को सुनने की कृपा करें—

श्री वापालाल गं० शाह के नाम से आप सब परिचित हैं। आप सूरत आयुर्वेदिक कौलेज के प्रिन्सिपल हैं। आपने लगभग दो या तीन साल पहिले नाड़ी के सम्बन्ध में अपने विचार एक स्थानीय पत्र में प्रकाशित किये थे। उस पर पर्याप्त चर्चा उस समय रही। वैद्यों ने इसका विरोध भी किया। यह विरोध उसी प्रकार का था जैसा कि गैलीलियो वैज्ञानिक के यह कहने पर कि पृथ्वी गोल है; उसका हुआ था। उस समय के लोगों ने गैलीलियो को पत्थरों से मार डाला था, क्योंकि उसने बाइबल धर्म पुस्तक के विरुद्ध बात कही थी। परन्तु भगवान की दया से वापालाल इस जमाने में बच गये, इसका श्रेय इस शासन का है, या वापालाल भाई का, यह बात भाई वापालाल ही बतायेंगे।

नाड़ी के सम्बन्ध में सत्य कहना वास्तव में दुश्मनी मोल लेना है। यूँ तो प्राचीन किसी भी बात के विरुद्ध या विपक्ष में स्वतन्त्र विचार रखना आजकल आफत मोल लेना है, फिर भी कई बार यह

कम करना ही पड़ता है। मार्च के “सचित्र आयुर्वेद” में माननीय लेखक ने पूज्य गुरुजनों का नाम संकीर्तन करके नाड़ी की महत्ता बताने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं, अब भी कई वैद्य इस बात को अभिमान से कहते हैं कि हम नाड़ी से रोग निदान करते हैं, रोगी से पूछने की हमें कोई भी जरूरत नहीं।

मेरी इन पूज्य महानुभावों से प्रार्थना है कि—‘एक रोगी को मूत्र में पूय आती है। आप नाड़ी से यह निदान भले ही कर दें कि मूत्र में पूय आती है; परन्तु यह पूय वृक्क से आती है, वृक्क के वस्तिगृह से आती है, शिखर से आती है, गवीनी से आती है, मूत्राशय से आती है, मूत्रमार्ग से आती है; यह आप नाड़ी से कैसे बतायेंगे। थोड़ा और आगे बढ़िये—इस पूय को उत्पादन करनेवाले जीवाणु ‘जर्म्स’ (Germs) नैगेटिव हैं या पौजेटिव, इनमें कौन-सा जीवाणु क्षारीय माध्यम का है, या कौन सा अम्ल माध्यम का है, यह आप नाड़ी से बता सकेंगे? जिन पुस्तकों के आधार पर आपका महल खड़ा है, उनमें न तो अत्रिपुत्र ने कुछ लिखा, और न विश्वामित्र के पुत्र सुश्रुत ने कुछ कहा। मजे की बात यह है कि रस-तन्त्र के जन्मदाता नागार्जुन तो चुप हैं, उसके साथ भगवद् शंकराचार्य के गुरु भाविगोविन्दपाद भी अपने रस-हृदयतन्त्र में कुछ नहीं लिख गये। लिखने वाले हैं—रावण महात्मा।

यह बात यहाँ तक रहती तब भी संतोष था परन्तु जिस प्रकार प्लैन्बेट से आत्मा बुलाई जाती

लगी, और इसके ऊपर साहित्य छप गया, रोबिन्सन क्रूसो को लेकर एक सुन्दर कथा को जन्म देकर ३५० पृष्ठ की पुस्तक लिख दी गई, और वह पढ़ाई भी जाने लगी, उसी प्रकार 'पल्स इन आयुर्वेद' नाम की पुस्तक भी अंग्रेजी में लिख डाली गई।

नाड़ी क्या है—और इसकी कितनी जानकारी है—श्री रामचन्द्र मल्लिक ने बहुत ही सुन्दर रूप में बताया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार रत्न के खरे-खोटेकी परीक्षा होनेका अभ्यास आँखको हो जाता है; जिस प्रकार कि कान, शब्द के लिये अभ्यस्त हो जाते हैं; शब्द सुनते ही हम आदमी को या रागको पहचान लेते हैं; जिस प्रकार कि आँखें लिखा-वटको देखते ही व्यक्तिका ज्ञान कर लेती हैं, उसी प्रकार त्वक् इन्द्रिय भी स्पर्श-जनित अभ्यास से रोगका अनुमान कर लेती है। आज भी ऐसे डाक्टर हैं, जो कि जीभ और नाड़ी को देखकर टायफाइड को पहचान लेते हैं। इसलिये नाड़ी का ज्ञान अभ्यास पर है—देश में अब भी ऐसे लोग हैं, जो कि पवन से बरसात को और बादल को देखकर वर्षा होने न होने की बात बता देते हैं। मेघदूत में कालिदासने कुछ मेघों का नाम-कीर्त्तन भी किया है। इसलिये नाड़ी ज्ञान अभ्यास का है।

एक और बात लीजिये—आप किसी से पूछिये कि दोनों हाथों की नाड़ी में कब अन्तर आता है। जिन रोगों में दोनों हाथ की नाड़ी में अन्तर आता है (जैसे—वक्षमध्य अर्बुद में) उनका नाड़ी से ज्ञान नहीं होना मुझे असम्भव लगता है। मुझ जैसे और भी होंगे जो इसकी सम्भावना में सन्देह करेंगे।

रही होती कैसे सो-भी सुनिये—रोगी घरमें गये, वहाँ खरबूजे के छिठके बाहर पड़े दीखे तो यह सम्भावना हुई कि खरबूजा खाया गया। इसी प्रकार कुछ

बीमारियाँ स्वभाविक हैं—जैसे ज्योतिषियों के लिये कुछ प्रश्न मनुष्यों के स्वाभाविक हैं जैसे धन सम्बन्धी; जनसम्बन्धी आदि-ये इतने विस्तृत शीर्षक हैं, कि इनमें प्रायः सब प्रश्नों का अन्तर्भाव हो जाता है। पेटकी शिकायत होगी, कमजोरी है। कमजोरी इतना विस्तृत शब्द है, कि इसमें आँख की कमजोरी धातु की कमजोरी, पेट की कमजोरी सब का समावेश वैद्य भाई कर देते हैं। पुरुषों में धातु और स्त्रियों में प्रदर-ये दो शिकायतें तो बम्बई-गुजरात के वैद्य नाड़ी पर हाथ रखते ही कह देते हैं। जो बीमारी जहाँ अधिक हो, जिस समय चलरहो हो, उससे जानकारी रखने वाला वैद्य गढ़े में समाधि लेने वाले योगी के समान हजारों को चकित कर सकता है। इससे सुश्रुत में वैद्य को प्रत्युत्पन्नमति होने के साथ व्यवसायी और क्रिया-चतुर होने को कहा है।

नाड़ी ज्ञान यदि महत्त्व का था तो 'अत्रिपुत्र' जरूर कहते—वे तो कह गये कि—जो इसमें है वही अन्यत्र है, और जो इसमें नहीं, वह कहीं भी नहीं। खासकर इस जमाने में तो नाड़ी की एक-एक गति के फोटो लिये जा सकते हैं—फिर वैद्य बन्धु इसे अन्वेषे में क्यों रखते हैं।

नाड़ी परीक्षा और स्टैथिस्कोप की परीक्षा का सम्बन्ध मैं समझ सकता हूँ। परन्तु स्टैथिस्कोप तो मूत्र मार्ग के रोग को विशेष नहीं बताता। नूतन गनोरिया में स्टैथिस्कोप की परीक्षा व्यर्थ है। इसमें नाड़ी भी मदद करे—यह भी सन्देह का प्रश्न है।

आराम कैसे होता है—अब प्रश्न यह होता है कि आराम कैसे होता है; नाड़ी देख कर दवाई दी गई और लाभ भी होता है—फिर नाड़ी की क्या बात है?

रस सिन्दूर, स्वर्ण, लोह, अभ्रक, बंग आदि ये सब भरमें ऊपर से लेकर बाजीकरण तक के सब

रोगों में प्रायः बरती गई हैं। इन धातुओं से सब रोग नष्ट होते हैं। रोग का नाश दो प्रकार से होता है—एक तो इस प्रकार को पैन्सीलीन जाकर जीवाणु की सीधा नष्ट करती है। जीवाणु के नष्ट होने से रोग नष्ट हो गया। गनोरिया में गोनों-कोकस जीवाणु के नष्ट होने से रोग भी नष्ट हो जाता है। शरीर में यदि गोनों-कोकस नहीं मिले तो, रोग नहीं है। दूसरी विधि में शरीर को सशक्त किया जाता है कि वह रोग के कारण से स्वयं लड़े और रोग को बाहर करे। इसमें हम शरीर को बलवान करने के लिये—उसमें प्रति शक्ति पैदा करने के लिये स्वर्ण, रससिन्दूर, लोह आदि वस्तुएँ देते हैं। शरीर में पूरी शक्ति होने से वह सब बीमारियों से टकर ले सकता है। आयुर्वेद की जो भस्में या धातुएँ हैं वे सब इसी कार्य को करती हैं। पारद-देह सिद्धि को देता है। यह पारद आयुर्वेद की जान है, सब योगों में, सब भस्मों में है। इसलिये पारद के साथ दूसरी धातुएँ देने पर शरीर में शक्ति बढ़ती है और शक्ति बढ़ने से रोग नष्ट होता है। यही कारण है कि वसन्तकुसुमाकर जहाँ प्रमेह की दवाई है, वहाँ रसायन के लिये भी लोग इसका सेवन करते हैं। लिहाजा भस्म और पारद देते हैं, जो कि सब रोगों में बरते जाते

हैं। शरीर में शक्ति आने पर रोग स्वयं चला जाता है। यह स्थिति है।

रोगी को अम्ल पित्त है, यह भले नाड़ी बता दे, परन्तु अम्लपित्त के कारण आमाशय में व्रण हो गया; यह तो नाड़ी के बश का नहीं। अम्लपित्त को आप चिकित्सा करें—उससे व्रण आराम हो जाय यह दूसरी बात है। ग्रहणों में रोग दिवो-डोनस में है या अधोगासो वृहदन्त्र में है यह बात नाड़ी नहीं बता सकती। यूँ आप पर्यटो दोजिये—दोनों में ही लग जायेगी। अत्रिपुत्र ने स्पष्ट कहा है कि दोष-स्थान विशेषसे संज्ञाविशेष पाता है। इसलिए नाड़ी से कोलायटिस, स्प्रू, डायरिया, डिसेन्टरी, एम्ब्रिक डिसेन्टरी इन सब भेदों का ज्ञान होना मुझ जैसे साधारण बुद्धि की समझ में नहीं आता। इसकी पहिचान तो वर्तमान सुसम्बद्ध-बुद्धिगम्य पाश्चात्य चिकित्सा ही कर सकती है। इसमें कुछ दोष या भूल भी नहीं मानता जब कि अत्रिपुत्र स्पष्ट कहते हैं कि—

कृत्स्नोहि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्” बुद्धिमान के लिये सम्पूर्ण लोक आचार्य है और बुद्धि से रहित वालों के लिये शत्रु है। वैद्यलोक बुद्धिमान कहलाना पसन्द करेंगे—इसलिये बुद्धिमान के आधार पर नाड़ी की विभीषिका को सोचेंगे और इसके पुराने संस्कारों को बदलने का यत्न करेंगे।

पश्चिमीय और भारतीय चिकित्सा-विज्ञान

पं० दुर्गाप्रसाद शर्मा, वैद्यालंकार

❀

पश्चिमीय चिकित्सा पद्धति के कुछ ऐसे चमत्कार-पूर्ण कार्य और औषधियाँ हैं जिनसे धनिकवर्ग और मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवीवर्ग अत्यन्त प्रभावित होते रहते हैं। यद्यपि ये उपादान जनसाधारण की पहुँच के सर्वथा परे की चोजें हैं, फिर भी बुद्धिजीवी वर्ग उन्हें जनता तक पहुँचाने की जीतोड़ कोशिश करता है। किन्तु यदि इन्हें मालूम हो जाय कि जिस चमत्कार को आज पश्चिम के चिकित्सा वैज्ञानिक हमारे सामने लाकर हमें चकाचौंध में डाल देना चाहते हैं, उससे भी अधिक चमत्कार पूर्ण, उससे भी अधिक उपयोगी और अमोघ उपादान हमारे पूर्वजों ने हजारों वर्ष पूर्व ईजाद किया था और जो आज भी संसार के किसी भी चमत्कार का चुनौती देने की क्षमता रखते हैं; तो उनका भ्रम दूर हो जाय।

आज जिस स्ट्रेप्टोमाइसिन और पेनसिलिन के चमत्कार से पश्चिमी चिकित्साजगत संसार को चकाचौंधमें डाल देना चाहता है, हमारी रस-भस्में उनसे भी अधिक चमत्कारी औषधियाँ हैं। जहाँतक तत्काल रोगको बढ़नेसे रोकने और स्थायी लाभ करनेका प्रश्न है, इन पश्चिमीय इन्जेक्शन की औषधियाँ और हमारे रस-भस्मों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु एक बहुत बड़ा अन्तर है। वह अन्तर यह है कि जहाँ इन इन्जेक्शनों का बुरा परिणाम भी हो सकता है और कभी-कभी बड़ा भयानक दुष्परिणाम होते देखा गया है, वहाँ रस-भस्में माँ के दूधके समान सदा लाभ ही करती हैं और कभी भी उनसे किसी प्रकार का नुकसान नहीं होता।

यही कारण है कि आजकल बड़े से बड़े डाक्टर भी अपने रोगी को मरणासन्न अवस्था से बचानेके लिये कोरामिनका इन्जेक्शन न देकर "मकरध्वज" देते हैं, क्योंकि मकरध्वज अधिक शीघ्रता से असर करने-वाला समझा जाता है। इसी प्रकार वृहत् कस्तूरी भैरव रस है जो सन्निपातकी अवस्था में हृदय की कमजोरी दूर करने तथा तत्काल गुण करनेवाली अमोघ औषध है। मूच्छा, हिस्टोरिया, मृगी और उन्मादादि रोगपर तत्काल और स्थायी लाभ करने-करनेवाली औषध चतुर्मुख रससे अच्छी कोई भी दूसरी नहीं है। क्या वसन्तकुसुमाकर रस से कोई अच्छी औषध 'क्षय रोग' (थाइसिस) की ईजाद हुई है? इसी प्रकार भस्मों की भी बात है। लोग कहते हैं प्राचीन कालके साधु-संत ऐसे होते थे कि एक चुटकी भस्म उठाकर दे देते थे तो किसी भी प्रकार का रोगी उठ खड़ा होता था और बिल्कुल चंगा हो जाता था। वह भस्म आजकल के नकली साधुओं द्वारा दी जानेवाली भभूत (खाक) नहीं थी। पहले के अन्त-महात्मा लोग वास्तव में जन-कल्याण की चिन्ता दिनरात रखते थे। इसीसे सदा वे अपने पास रस-भस्में रखा करते थे। क्योंकि ये औषधियाँ ऐसी थीं जो आसानी से एक छोट्टेसे ढबेके अन्दर सैकड़ों रोगी के लायक रखी जा सकती थीं और जो अमोघ होती थीं एवं जिनका निर्माण महात्मा स्वयम् करते थे। इसीसे वे जिस रोगी को चुटकी भर भस्म देते थे, वह वास्तव में निहाल हो जाता था।

इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि आज रस-भस्मों की ख्याति और लोकप्रियता इसीलिए लुप्त हो गई है, क्योंकि न जनकल्याण की सच्ची भावनासे ओतप्रोत अब वेसे परोपकारी महात्मा रहे और न उन जैसा शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे भस्मों तैयार करने वाला ही कोई रह गया।

लेकिन यदि दुनिया की जनता को दवाफरोशों को लूट से बचाना है और मानव समाज को भारतीय महात्माओं की अमूल्य देनसे गरीब जनता को लाभान्वित कराना है तो इसकी पूरी जिम्मेवारी भारतपर ही है। रस-भस्मों की चिकित्सा का यदि व्यापक प्रचार हो और इनका निर्माण विशुद्ध रीतिसे हो तो निश्चित रूपसे यह चिकित्सा शीघ्र अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर लेगी और आयुर्वेद के उद्धार की कामना रखनेवालों की यह सबसे बड़ी सफलता होगी।

श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों ने आजसे कुछ वर्ष पूर्व ही इस विषयपर ध्यान दिया था। उन्होंने देखा कि यदि आयुर्वेदीय औषधियों की धाक पच्छिमीय औषधियों के मुकाबले भारतीय जनता में जमानी है तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि आयुर्वेदीय औषधियों का निर्माण शुद्ध शास्त्रीय रीतिसे हो। उन्होंने रस-भस्मों के निर्माण के लिये एक खास विभाग और निर्माणशाला जयपुर राजमें शहरू वातावरण से दूर एक अत्यन्त सुदूर गाँवमें खोला, जहाँ वन्योपल संकड़ों मन की तादादमें आसानी से मिल जाता है। वहाँ चेषा करनेपर भी कोयला नहीं मिल सकता। निर्माणशाला के व्यवस्थापक बड़े-बड़े अनुभवी वैद्यशास्त्री बहाल किये गये और अच्छे वेतनो पर जिम्मेवार कर्मचारी रखे गये। नतीजा इसका यह हुआ कि वहाँ रस-रसायन और भस्मों सर्वोत्तम प्रस्तुत होने लगीं। रस और रसायन तो षड्गुणवलिजारित हिंगुलोत्थ पारद से बनाये जाते हैं जिसे कोई भी व्यक्ति उनके निर्माणशालामें जाकर अपनी आँखों से देख सकता

है। रस और रसायनों में भस्मों बहुत पड़ती हैं। इसलिये भस्मों के निर्माण की विशुद्धता उस निर्माण-शाला का प्राथमिक कर्तव्य है। वैद्यनाथ सोना-भस्म से न जाने कितने यक्ष्मा के रोगी सदा के लिये इस रोग से मुक्त हो गये होंगे। आज सारे भारत में वैद्यनाथ रस-भस्मों की निर्माणशाला मनो भस्म तैयार करती है और वह बात की बातमें बिक जाती है। बड़े-बड़े वैद्यों, चिकित्सकों और नेताओं ने उन रस-भस्मों की विशुद्धता की प्रशंसा की है।

रस-भस्मों के व्यवहार को सुगम, सहल और व्यापक बनाने के लिये श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने “रस-भस्मों की सेवनविधि” नाम की एक सुसम्पादित पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें सभी प्रकार की रस-भस्मों के सेवन करने के शास्त्रीय नियम लिखे हुए हैं। किन रोगोंपर किस प्रकार किन उपादानों के साथ इनका व्यवहार सर्वोत्तम हो सकता है इसकी सम्पूर्ण व्याख्या उस पुस्तकमें दी गयी है। इस पुस्तक को सभी लोगों ने अत्युत्तम समझा है। क्योंकि रस-भस्मों के सम्बन्ध में अभी तक ऐसी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई थी।

इसलिये हमारा तो यह पक्का विचार है कि यदि हम आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को फिर से पुराने गौरवमय आसनपर बैठाकर इसके लिये संसार भर से आदर और यश अर्जित करना चाहते हैं तो रस-भस्मों की चिकित्सा का घर-घर प्रचार करना होगा। लेकिन यह सदा खयाल रहे कि उन्हीं रस-भस्मों का व्यवहार करना चाहिये जो शुद्ध हों, नहीं तो फल ठीक उल्टा ही होगा जैसा कि आजकल के नकल साधुओं की धूनी की भभूत का होता है। हमारा तो विचार है कि सकड़ों-हजारों ऐसी संस्थाएँ बनें, जो विशुद्ध भस्मों और रस-रसायन तैयार करें, पर जबतक ऐसी विश्वासी संस्थाएँ न बन जायँ तबतक केवल उन्हीं संस्थाओं की रसभस्मों व्यवहारमें लाई जायँ जो विश्वसनीय प्रमाणित हो चुकी हैं।

नी है,
प्राणि-
भस्म
इस
त में
भस्म
जाती
श्रोत्र
और
भवन
एक
सभी
नयम
लपा-
ता है
है।
है।
ऐसी
यदि
राने
र से
रस-
गा।
का
फल
कई
को
को
वतक
होने
अन

सचित्र आयुर्वेद

श्री परशुरामपुरिया राजस्थान आयुर्वेदिक कालेज, सोकर

अध्यापक, उच्चकक्षाओं के छात्र तथा कर्मचारिण

(मध्य में संस्था के छात्रों द्वारा प्रतियोगिताओं में विजित श्री धन्वन्तरि-प्रतिमा तथा 'वेदामृत-कलश' रखे हुए हैं।)

चित्र : ता० ३१ दिसम्बर, सन् १९५० ई०



प्रमुखपरिचय

मध्य की पंक्ति में (अध्यापक वर्ग) ; बायें से—(२) पं० देवीप्रसादजी त्रिपाठी, व्याकरणायुर्वेदार्थ, (३) वैद्य पूर्णमल्लजी भिषग्वर, आयुर्वेदाचार्य; (४) डा० दीवानचन्द्रजी; (५) वैद्य हरिप्रसादजी, भिषगाचार्य; (६) श्रीधन्वन्तरि रजतप्रतिमा तथा रजतमय अमृत-कलश; (८) वैद्यरत्न पं० प्रभुदत्त शास्त्री, भिषगाचार्य, (९) डा० त्रिलोकीनाथजी; (१०) वैद्य भवानीशङ्करजी, आयुर्वेदाचार्य।

श्रीराजस्थान आयुर्वेद सोसाइटी बम्बई के अन्तर्गत सञ्चालित श्री परशुरामपुरिया राजस्थान,
आयुर्वेदिक कालेज, सीकर (राजस्थान) का

संक्षिप्त परिचय

वैद्य गजाजन शर्मा



स्थापना—राजस्थान में जयपुर का आयुर्वेदीय गौरव सर्वदा प्रख्यात रहा है। स्व० भट्ट कुन्दनराम स्व० भट्ट श्रीकृष्णराम, स्व० श्री लक्ष्मीरामजी की शिष्य परंपरा में शतशः शिष्य-प्रशिष्य उत्तर एवं दक्षिण भारत में सुप्रतिष्ठित पदों पर स्वास्थ्य-सेवा-कार्य सम्पादन कर रहे हैं। यों तो राजस्थान बन जाने से पूर्व भी जयपुर राज्य में आयुर्वेदिक कालेजों की संख्या पर्याप्त थी किन्तु शेखावाटी प्रदेश के आस-पास प्रत्यक्ष कर्माभ्यास सहित आयुर्वेद की सर्वाङ्गीण शिक्षा प्रदान करनेवाले विद्यालयों का प्रायः अभाव ही था। इस आवश्यकता की पूर्ति के हेतु सीकर के वैद्य-बन्धुओं के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप यह विद्यालय मार्गशीर्ष शु० १० गुरुवार सं० १९६६, ता० १७ दिसम्बर सन् १९४२ को सीकर में स्थापित किया गया था।

सञ्चालन—इसके संस्थापकों में प्रमुख, सीकर निवासी एवं बम्बई प्रवासी, वैद्य पं० श्री गजाननशर्मा द्वारा संस्था के आर्थिक प्रबन्ध एवं सञ्चालन के लिये ही बम्बई में भारतीय समाज विधान की धारा २१, सन् १८६० के अनुसार रजिस्टर्ड “श्री राजस्थान आयुर्वेदिक सोसाइटी” नामक संस्था सन् १९४३ में बम्बई में स्थापित की गई, जिसका प्रधान कार्यालय रूपतरु फार्मसो, २३६, कालबादेवी रोड, बम्बई में

स्थित है। सोसाइटी के पदाधिकारियों के नाम निम्न प्रकार हैं—

सभापति—आयुर्वेद मार्त्तण्ड, वैद्य वाचस्पति, आयुर्वेदोद्धारक श्रद्धेय श्री यादवजी त्रिक्रमजी, आचार्य, बम्बई।

उपसभापति—सेठ पूरणमल बूवना, बम्बई।

” --सेठ जानकीप्रसादजी मारु बी० ए० बम्बई।

कोषाध्यक्ष—सेठ उमादत्त सूरजमल नेमाणी, बम्बई।

मन्त्री—वैद्य गजाननशर्मा, बम्बई।

सदस्य—डॉ० शिवचन्द्र शर्मा

” —श्री महावीरप्रसाद जी, दाधीच सोली-सीटर, बम्बई।

प्रबन्ध—उक्त सोसाइटी के तत्त्वावधान में तब से अबतक उत्तरोत्तर समुन्नति की अवस्था में कालेज का सञ्चालन हो रहा है। स्थानीय प्रबन्ध के लिये सोसाइटी का शाखा-कार्यालय सीकर में भी स्थापित हुआ है। निर्वाचित प्रबन्धक समिति के पदाधिकारियों की नामावली निम्न प्रकार है—

सभापति—विद्याभूषण पुरोहित श्री स्वरूपनारायणजी, बी० ए० एल० एल०, बी० सीनेटर राजपूताना विश्वविद्यालय, सीकर।

उपसभापति—गौरीलालजी वियाणी, सीकर।

कोषाध्यक्ष—गोविन्दराम जालान, सीकर।

मन्त्री—वैद्य प्रभुदत्त शास्त्री, प्रिन्सिपल।

संस्था को नवलगढ़ के सुप्रसिद्ध व्यवसायी दान-वीर श्रेष्ठिवर श्री रामरिखदासजी परशुरामपुरिया की ओर से पर्याप्त अर्थराशि प्रदान की गई है तथा भविष्य में भी देते रहने का आश्वासन प्राप्त हुआ है। अतएव संस्था के नाम के साथ उनका नाम भी सम्बद्ध कर देना आवश्यक समझा गया।

पाठ्यक्रम—संस्थामें—राजस्थान सरकार के आयुर्वेदीय शिक्षा बोर्ड का प्रायोगिक विषयों सहित ४ वर्ष का पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है। इसकी समाप्ति पर परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले स्नातकों को “भिषग्वर” उपाधि प्राप्त होती है। तदनन्तर २ वर्ष अधिक अध्ययन करने पर ‘भिषगाचार्य’ उपाधि प्रदान की जाती है। राजस्थान में आयुर्वेदीय सेवा के लिये इन्हीं उपाधियों को विशेषता दी जाती है तथा औषधालयों में भी ‘भिषग्वर’ वैद्य नियुक्त किये जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ का परीक्षाकेन्द्र भी स्थापित है। प्राईवेट रूप से छात्र विद्यापीठीय परीक्षाओं में भी सम्मिलित होते हैं।

विशेष रूप में यह संस्था गवर्नमेन्ट आयुर्वेदिक-कालेज, जयपुर का अनुसरण करती है।

अध्यापक—सुयोग्य ५ वैद्य तथा २ डॉक्टर इस समय संस्थामें अध्यापन कार्य करते हैं। सभी सुप्रतिष्ठित विद्वान् एवं सिद्धहस्त, क्रियाकुशल चिकित्सक हैं।

छात्र संख्या—विभिन्न श्रेणी के समस्त छात्रों की संख्या ७४ है।

छात्रवृत्ति एवं छात्रावास

सुयोग्य किन्तु असमर्थ २० छात्रों को संस्था की

ओर से १०-१०) रु० मासिक छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है एवं छात्रावास में निवास, जल, प्रकाश, पाचक आदि का भी प्रबन्ध निःशुल्क रखा गया है।

शिक्षा साधन

प्रायोगिक शिक्षा की व्यवस्था के लिये निम्न-द्वित विभाग भी स्थापित किये गये हैं।

१—पुस्तकालय तथा वाचनालय

२—शवव्यवच्छेदनालय

३—क्लिनिकल एवं केमिकल लेबोरेटरी

४—भेषज निर्माणशाला

५—आयुर्वेदिक चिकित्सालय

६—आयुर्वेदिक आतुरालय

७—पाश्चात्य पद्धति से शल्य शिक्षा के प्रत्यक्ष कर्म-भ्यासार्थ संस्था के छात्र सीकर के श्री कल्याण हास्पिटल में समय विभागानुसार प्रातः ८ बजे शिक्षा प्राप्त करते हैं। सरकार द्वारा यह सुविधा कालेज को दी गई है।

८—सायन्स का सामान खरीदकर इसी वर्ष संस्था में सायन्स की लेबोरेटरीज की स्थापना भी की गई है।

९—पदार्थ संग्रहालय—तथा वनस्पति संग्रह।

सभी विभागों के लिये उपयुक्त फरनीचर तथा अन्य सामान है।

स्वतन्त्र भवन

करीब २ लाख रुपये की लागत का स्वतन्त्र भवन सीकर स्टेशन के समीप बनवाया जायेगा। इसका शिलान्यास हो चुका है।

निःशुल्क शिक्षा

सम्पूर्ण विभागों में सभी प्रकार की शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। व्याकरणाचार्य तथा बी०

तक की योग्यता वाले छात्र यहाँ अध्ययन करने आते हैं।

वार्षिक व्यय—संस्था का वार्षिक व्यय इस समय १८०००) है।

आय के साधन—राजस्थान सरकार द्वारा २४००) वार्षिक तथा सीकर ठिकाने की ओर से १२००) वार्षिक प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण व्यय श्रीराजस्थान आयुर्वेदिक सोसायटी, बम्बई के कोष से तथा श्री रामरिखादासजी परशुरामपुरिया द्वारा दिया जाता है।

वनयात्रा—प्रतिवर्ष छात्र हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों में तथा अन्य स्थानों के जंगलों में प्रत्यक्ष-वनस्पति परिचयार्थ यात्रा करके ज्ञान प्राप्त करते हैं—इस काय में संस्था की ओर से भी आर्थिक साहाय्य प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार—परीक्षाफल, अध्ययन, सदाचार, खेल-कूद, व्यायाम, अन्वेषण, वादविवाद प्रतियोगिता, निबन्ध—रचना आदि में सर्वप्रथम आने वाले छात्रों को पुरस्कार दिया जाता है।

विभिन्न प्रवृत्तियाँ—संस्थामें स्काउटिंग के अतिरिक्त भी विद्यार्थियों में सेवाभाव जागृत करने के लिये प्रति वर्ष उत्सव, समारोह तथा स्वास्थ्य-सप्ताह मनाया जाता है। इसमें अध्यापक, वहाँ की स्थानीय जनता तथा आसपास के लोगों में भ्रमण कर उन्हें इस प्रान्त में होने वाली औषधियों से परिचित कराते हैं; साथ ही आरोग्य के साधन तथा चिकित्सा सेवा का प्रबन्ध भी करते हैं। सभा-सम्मेलन-सर्जिकल केम्प-नेत्र-चिकित्सा केम्प तथा मेलों में यहाँ के विद्यार्थी स्वयंसेवकों के रूप में उपस्थित होते हैं। इस संस्था के छात्रों को गत १ वर्ष में ही २ प्रतियोगिताओं में विजयी होने के फलस्वरूप, स्व० स्वामी लक्ष्मीराम

चल विजयोपहार—(धन्वन्तरि रजत प्रतिमा) (रा० प्रा० वैद्य सम्मेलन दशमाधिवेशन, सीकर में) तथा “अमृतकलश” (श्री महावीर पुस्तकालय, सीकर की ओर से) प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार अमृत कलशाभिर्भावपूर्वक श्री धन्वन्तरि भगवान का आविर्भाव इसी संस्था में माना हुआ है। यहाँ के अध्यापक तथा विद्यार्थी सभी ‘संघाय सम्भाषा परिवद्’ के रूप में “वादे वादे जायते तत्त्वबोधः” प्राप्त करने के निमित्त पाक्षिक सभा का आयोजन करते हैं। सभाओं की कार्यवाही का विवरण सुरक्षित रखा जाता है।

इस संस्था ने अपने स्वल्प जीवन में जो प्रगति की है वह यद्यपि पर्याप्त नहीं, फिर भी इस की शक्ति के अनुरूप विपुल कही जा सकती है। जयपुर की आयुर्वेदाचार्य परीक्षातक के स्नातक यहाँ से समुत्तीर्ण होकर सुप्रतिष्ठित स्थानों पर कार्य कर रहे हैं। भविष्य में भी सुयोग्य स्नातकों द्वारा इस संस्था की ख्याति उत्तरोत्तर फैलेगी। आयुर्वेद का प्राचीन गौरव एवं विशुद्ध स्वरूप सुरक्षित रहे तथा आधुनिक प्रगतियों से भी आयुर्वेद का वास्तविक समुपवृंहण हो, यही उद्देश्य इस महाविद्यालय का है। राजस्थान प्रान्त में आयुर्वेदीय स्नातकों की अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव, इस कालेज की उन्नति के लिए क्षेत्र भी विशाल है। यहाँ से समुत्तीर्ण स्नातकों में आढम्बर युक्त स्वार्थी भाव न आवे, उनमें राष्ट्र सेवा के प्रति आत्मत्याग की भावना जागरूक रहे, आयुर्वेद में नये-नये अविष्कार करने की प्रवृत्ति बढ़े—यही दोक्षान्त उपदेश उन्हें दिया जाता है। आशा है, हम अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल होंगे। इस संस्था की शोषावस्था को देखकर ही इसके समुज्ज्वल भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है।

आयुर्वेद से ही देश का विकास संभव

राजस्थान वैद्य सम्मेलन के मनोनीत प्रान्तपति

राजवैद्य श्री जसराज जोशी का वक्तव्य

जोधपुर (डाक से)—राजस्थान आयुर्वेद सम्मेलन के सुजानगढ़ में होनेवाले मनोनीत प्रान्तपति राजवैद्य श्री जसराज जोशी भिषगाचार्य ने वैद्यों एवं जनता के नाम दिव्य संदेश देते हुए बताया कि “शताब्दियों से विषम संकट काल को पार करने के बाद जो स्वराज्य या स्वतंत्रता मिली है, इससे हमें अपने को पूर्ण भाग्यशाली समझना चाहिए और परमात्मा के परम अनुग्रह को हृदय में स्मरण करते हुए श्री लोकमान्यतिलक, महात्मागांधी आदि लोकनायकों के महान उपकार के प्रति हमें चिर-कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए जिनके अथक परिश्रम और महान बलिदान के फलस्वरूप यह स्वर्णमय दिवस आया है। अब प्रत्येक भारतीय को इस प्राप्त नैतिक स्वतंत्रता को हड़मूल करने के लिये कटिबद्ध और पूर्ण सचेष्ट हो जाना चाहिए तभी हमारा स्वतंत्रता प्राप्त करना सार्थक हो सकता है।

आपने आगे बताया —“वैज्ञानिक संस्कृति में आयुर्वेदीय चिकित्साशास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि सम्पूर्ण विश्व की इसके द्वारा उस समय से सेवा की जा रही है जब कि कोई भी दूसरी चिकित्सा पद्धति शरीर रक्षा करने में अक्षम थी। यहाँ तक भी कहना उचित है कि आयुर्वेद का विकास प्राणिमात्र की पीड़ा को हरने के लिये सर्व प्रथम भारतदेश में हुआ था और संसार में प्रचलित सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ इस आयुर्वेद की पुत्रियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इस वैज्ञानिक युग में भी आयुर्वेद के द्वारा भारतीय जनता की अधिकाधिक सेवा की जा रही है और यह

अपनी अनुपम रोग निवारणी शक्ति के कारण ही बराबर संजीवनी शक्ति का स्रोत प्रवाहित कर रहा है, जब कि सरकारी सहायता मिलने पर भी डाकटरी विज्ञान भारत के चंद रईसों के घरों तक ही पहुंच सका है। साधारण जनता तो इसके खर्चि स्वभाव से संतुष्ट होती हुई आयुर्वेद की शरण में दिनोंदिन आ रही है।”

सरकार एवं वैद्यों को सलाह देते हुए आपने बताया कि —“वैद्यसमाज और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का परम कर्तव्य हो जाता है कि वे सब मिलकर आयुर्वेद को भारतीय चिकित्सा-पद्धति तत्काल घोषित करें और विरोधी आघातों से जो इसमें जीर्णता आई है उसको शीघ्र मिटाने के लिये डाकटरी आदि अन्य चिकित्सा पद्धतियों में से आवश्यक अंश संगृहीत कर इसमें सम्मिलित करें।

यह गर्व के साथ कहा जा सकता है कि आयुर्वेद को डाकटरी का स्थान मिल गया तो भारत सरकार अपने मेडिकल बजट में आधी बचत का अनुभव करेगी और भारत में रोगियों की संख्या तीव्र गति से कम हो जायगी; क्योंकि आयुर्वेद के सिद्धान्त डाकटरी की तरह सद्यः परिवर्तनशील नहीं हैं। किन्तु ठोस और भारतीय जलवायु की भित्तिपर बने होने के कारण आयुर्वेद रोगों का मूलतः विनाश करता है और आयुर्वेदीय औषधियाँ बहुत थोड़े व्यय में अधिक परिमाण में बनाई जाकर अधिकाधिक लाभ पहुंचा सकती हैं।”

अन्त में आपने वैद्यों को सलाह देते हुए उन्हें आगामी आम चुनावों में अधिकाधिक संख्यामें भाग लेने को कहा और यह भी बताया कि धनोपाय की वृत्ति को छोड़कर त्याग को अपनाना होगा। सरकार को भी सुझाव देते हुए आपने कहा कि वह अन्य चिकित्सा-पद्धतियों का व्यामोह त्याग कर

आयुर्वेद के भी रचनात्मक कार्यों की ओर सरकार को ध्यान देना चाहिए।

“महिला आयुर्वेद विद्यालय मेरठ”

विद्यालय ग्रीष्मावकाश के पश्चात् ४ जुलाई से खुल जायगा। छात्राओं का प्रवेश जुलाई भर होगा, पर आवेदन कर गर्मी की छुट्टी में भी सीट सुरक्षित करायी जा सकती है।

इण्डियन मेडीसिन बोर्ड उत्तर प्रदेश के महिलो-पयोगी “गृहस्वास्थ्य विशारदा” द्विवर्षीय पाठ्यक्रम का सुचारु रूप से संचालन होता है।

पाठ्य विषयः—विद्यालय में सभी रोगों का ज्ञान, गृहस्थ जीवन, स्वस्थवृत्त, बच्चों का पालन-पोषण व शिक्षा, रोगी परिचर्या, प्रसूतचर्या, निदान, चिकित्सा आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के साथ (Practical work) सहित कराया जाता है। विद्यालयीय पाठ्यक्रम में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

प्रावेशिक योग्यताः—हिन्दी-मिडिल या उसके समकक्ष अन्य कोई परीक्षा पास की हो। छात्राओं की आयु प्रवेश के समय १६ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। विशेष जानकारी के लिए पत्र व्यवहार कीजिए।

प्रधान मंत्राणी
बुढ़ाना दरवाजा मेरठ

रानी खेत वैद्यशिक्षण शिविर
(१५ अप्रैल से १३ मई तक चालू)

पाठ्यक्रम

शरीरक्रिया विज्ञान—शरीरपरिचय, त्रिदोष-तत्त्व, रक्तसंवहन-क्रिया, श्वासोच्छ्वास, अन्न-विपाक, मल-विज्ञान, नाड़ी-मण्डल (Nervous

System) प्रजनन क्रिया, यकृत, मूत्राशय, रक्तसञ्जन, मूत्रपरीक्षा, अन्नपान रक्षा।

त्रिविध विष विज्ञान—स्थायर, जंगम, वान-स्पतिक, वर्गीकरण, शरीर पर विषों की क्रिया-प्रभाव चिकित्सा।

व्यवहारायुर्वेद—स्वाभाविक - अस्वाभाविक मृत्यु, दुर्घटनाएँ, आत्म हत्या, मृत्युत्तर संकोच, आघात प्रकार भेद, भ्रूण-शिशु हत्या, आत्म हृत परकृत।

रसतन्त्र—रसायन, वाजीकरण, पारदका अष्टा-दश संस्कार, बन्धन, मारण, जारण, कूपीपक्क रस, अष्ट महारस, उपरस, रत्नोपरत्न प्रभृति के गुण-दोष, शोधन, मारण, द्रवीकरण, यन्त्र, मूषा, कोष्ठी, पुट, महापुट अनुपान विधि इत्यादि।

रसायन, वाजीकरण-परिभाषा-महत्त्व विधि प्रयोग-निषेध।

आधुनिक रसायन शास्त्र—आक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, क्लोरीन, कार्बन, हैलोजन, कार्बो-निक अम्ल आदि गैसों का मौलिक तथा सांयोगिक पदार्थ, अणु-परमाणुसिद्धान्त, रासायनिक संयोजन के नियम, पाराफीन, अलकोहल, सुरा, आसव-अरिष्ट, ईथर, क्लोरोफार्म, ऐसेटिक अम्ल, आकृजैलिक अम्ल, गन्धक, शोरा, लवणाम्ल, सिरका, तैल, चर्वी, शर्करा, स्टार्च, टारटेरिक अम्ल, गन्धक, हरिताल, टंकण, पारद, ताम्र, स्वर्ण, लौह, रौप्य, सीसक, कैल्सियम आदि यौगिक समूहों का ज्ञान, दंग, लौह, रौप्य, यशद, ताम्र तुल्य, हरिताल, मनः शिला, शिलाजीत, मुक्ताभस्म इत्यादि यौगिक पदार्थों का परिचय।

शल्यतन्त्र—यन्त्र-शस्त्रादि शोधन कर्मज्ञान, पूर्व कर्म, पश्चात्कर्म्म, सूची वेधन, व्रणवन्धन, शल्योद्धरण विमोहन, क्षार, अम्ल, शोणित मोक्षण, जलौकचरण, तुम्बी, शृंगी ज्ञान, सामान्य व्रण, स्तब्धता, अस्थिभ्रम

६६२

सचित्र आयुर्वेद, मई, १९५१

हनुसंधि, कूर्पर, भणिवन्ध, सन्धि, विषत, शोथ, अस्थि, मज्जा शोथ ज्ञान।

रक्तस्राव, मूत्रावरोध, मूत्राश्रमरी, वृद्धि, अर्श, भग-
न्दर, मूत्रमार्ग संकिरण, ज्ञान चिकित्सा।

कर्ण-नासा-मुख-शिर रोग परिज्ञान-चिकित्सा

प्रसूति तन्त्रम् कौमार भृत्यम्।

मानसरोग-विज्ञान—आत्म निरूपण, जीवा-
त्मा-देहासक्ति-आत्मसद्भाव, अनादित्व; साक्षित्व;
कृत् त्वभोक्तृत्व, अव्यक्त, शब्द तथा उसके विविध
अर्थ, भूत सम्बन्ध, एकत्व, अनेकत्व, सर्वासर्वजगत्त्व,
पुरुषसंयोग से प्रकृति में चैतन्यत्व, मन-इन्द्रिय,
बुद्धिस्ख्या, कार्य, भेद, अन्तःकरण की वृत्ति, विषय-
ज्ञानाभाव, एषणाओं का वर्णन, प्रत्यक्ष अनुमानादि।

प्रज्ञापराध काल कम सम्प्राप्ति, वेदना, अनुभव,
संयोग-वियोग, भ्रान्ति, उद्वेग स्थिरता-स्वप्न-तन्द्रा-
जृम्भा-कुम, आलस्य, उत्कलेश, ग्लानि-गौरव उन्माद,

अपस्मार, भ्रम-मद मूर्च्छा, योषापस्मार-हिस्टरिया
नाडीदौर्बल्य, आगन्तुज-ग्रहोन्माद-शकुनि, स्कन्दादि
ग्रह।

प्रत्येक विषय के अनुभवी आचार्यों द्वारा-मौखिक
तथा क्रियात्मक शिक्षा दी जावेगी। ता० ६ मई ५१
रविवार के दिन रजिष्ट्रेशन सम्बन्धी कार्यवाही पर
विशेष विचार होगा।

ता० १३ मई ५१ रविवार के दिन वार्षिक अधि-
वेशन के साथ ही शिविर में भाग लेने वाले वैद्यों को
यू० पी० सरकार के आयुर्वेद तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य
विभाग के डिप्टी डायरेक्टर श्रीमान् दत्तात्रेय अनन्त
कुलकर्णी, महोदय के कर-कमलों द्वारा प्रमाण पत्र
प्रदान तथा दीक्षान्त भाषण।

माननीय डिप्टी डायरेक्टर महोदय के साथ
प्रत्येक वैद्य का व्यक्तिगत परिचय होगा और चित्र
(फोटो) लिया जायगा। —संयोजक

चावल हृदयरोग नाशक है

न्यूयाक में वैद्यक विशारदों ने हृदयरोगों की जो आश्चर्यजनक चिकित्सा खोजी है उसमें चावल का प्रमुख स्थान है। अमेरिका में प्रति तीन व्यक्ति पीछे एक व्यक्ति हृदयरोग अथवा रक्तचाप बढ़ने से मरता है। वैद्यविशारदों ने आशा की है कि अब हृदयरोगों से मरनेवालों की संख्या में बहुत कमी हो जायगी। उत्तरी कैलीफोर्निया की ड्यूक यूनिवर्सिटी से प्राप्त समाचारों के अनुसार इन प्रयोगों से बढ़े हुए रक्तचाप वाले बहुत से रोगियों का रक्तचाप साधारण अवस्था में आ गया, हृदय रोगियों को आराम पहुंचा और जिन लोगों की आँखें हृदयरोग के कारण लगभग जा चुकी थीं उन्हें भी दृष्टि शक्ति प्राप्त हुई।

हृदयरोग की चिकित्सा में चावल का उपयोग एक विद्वान ने खोज निकाला। उसने देखा कि चीनियाँ तथा चावल खाने वाले अन्य एशियाइयों को रक्तचाप बढ़ने का रोग नहीं होता। अपने मरीजों को उसने दिन में चार बार उबाले हुए चावल देने प्रारम्भ किये। इससे हृदयरोग पीड़ितों में से तीन चौथाई को बहुत लाभ हुआ। आरम्भ में रोगी को चावल, ताजे फल तथा उनका रस दिया जाता है। फिर जैसे अवस्था सुधरती है, आलू, टमाटर आदि खाने को दिये जाते हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित ता० ५-४-५१ के सूचना-अनुसार

संवत् २००८ का पंचांग*

अपने एजेण्टों को सूचित करते हुए हमें हर्ष होता है कि सं० २००८ का नया पंचांग छपकर तैयार हो गया है।

यों तो हमारे यहाँ की कोई भी प्रचार सामग्री ऐसी नहीं होती जिसमें सब साधारण जनता के लिये कुछ उपयोगी बातें नहीं हों; पर वैद्यनाथ पंचांग तो उनमें सर्व-प्रमुख है। इसकी अत्यन्त लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इसे पाने के लिये हर वर्ग का हर व्यक्ति लालायित रहता है और मिल जाने पर साल भर तक अपने पास संयोग कर रखता है। वास्तव में हर गृहस्थी में वैद्यनाथ पंचांग की एक प्रति का रहना अत्यावश्यक है। हमारे देखा-देखी और भी कई लोग पंचांग छपाने लगे हैं, परन्तु जो विशेषता वैद्यनाथ पंचांग में रहती है, वह दूसरों में कहाँ? वैद्यनाथ पंचांग की एक खास विशेषता यह है कि हर साल उसमें आयुर्वेदोन्नति के लिये अहर्निश प्रयत्नशील रहने वाले और आयुर्वेद के मर्मज्ञ ज्ञाता श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर महोदय का सर्व-साधारण जनता के लाभार्थ आयुर्वेद सम्बन्धी एक विशेष लेख रहा करता है। इस साल के पंचांग में अनेक ज्ञातव्य विषयों के अतिरिक्त “आरोग्य-साधन” पर एक पठनीय और मनन करने योग्य लेख दिया गया है। उसका मनन कर उसमें बताये अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति निश्चय ही सदा नीरोग रह कर जीवन का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकता है।

जैसा कि हमारे यहाँ का नियम है और हमारे सभी एजेण्टों को मालूम है, हम सभी विज्ञापन का सामान एजेण्टों के पास उनके दवाओं के पार्सल के साथ ही भेजते हैं। अतएव एजेण्टों को चाहिये कि वह अपना नया आर्डर शीघ्रातिशीघ्र भेजें; ताकि उसके साथ ही उनके हिस्से के पंचांग भी भेज दिये जायें। बहुत चेष्टा करके हमने वर्ष प्रारम्भ होने के पूर्व ही पंचांग छपा कर तैयार कर लिया है। अब उसे प्राप्त करना एजेण्टों का काम है; क्योंकि जब वह कोई पार्सल मंगावेंगे तभी पंचांग भी भेजा जा सकेगा।

नया वर्ष आरम्भ होने के कुछ दिन बाद हर साल मौसमी रिआयत जारी की जाती है। परन्तु उसकी तैयारी (एजेण्टों को देने के लिये उपहार आदि की) पूरी करने में अभी विलम्ब है। इसलिये साल भर में कम से कम अर्थात् दो-चार पार्सल मंगाने वाले एजेण्टों के लिये भी अभी से मौसमी रिआयत की इन्तजारी में रहना भारी भूल होगी। क्योंकि अभी तो रिआयत के प्रारम्भ होने में ही देर है और उसके बाद दो महीने, तक रिआयत का समय रहता है—इस तरह मौसमी रिआयत का आर्डर भेजने के लिये कम से कम तीन महीने का अवसर रहेगा ही। अतः पंचांग प्राप्त करने के लिये आर्डर भेजने में हमारे समस्त एजेण्टों को विलम्ब नहीं करना चाहिये।

* “सचित्र आयुर्वेद” के आदरणीय सदस्यों की सेवा में ‘वैद्यनाथ पंचांग’ उपहार-स्वरूप हम शीघ्र ही भेज रहे हैं।

—व्यवस्थापक सं० आ०

एक बात और—गर्मी का मौसम आरम्भ होते ही जगह-जगह हैजा अदि बीमारियों की भी शिकायत पैदा हो जाती है। उस वक्त जगह-जगह से अर्क कपूर, अर्क पुदीना आदि दवाएँ जल्दी भेजने के लिये हमारे पास पत्र और तार आने लगते हैं। एक साथ सभी जगह की मांग पूरी नहीं की जा सकती, जल्दी करने पर भी कुछ न कुछ बिलम्ब हो ही जाता है। अतः सिजन के खयाल से भी इस मौसम में बिकने वाली दवाएँ—अर्क कपूर, अर्क पुदीना, बालामृत आदि मंगाकर एजेण्टों को अपने पास स्टॉक कर लेना चाहिये ; ताकि समय पर उनके ग्राहक लौटने नहीं पाव।

आवश्यक सूचना

नये पंचांग में दवाओं के मूल्य में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। यह मूल्य चंद्र शुक्ल पक्ष १ सं० २००८ तदनुसार ता० ७-४-५१ से लागू हो जायगा। ता० ६-४-५१ के बाद हमें प्राप्त होने वाले आर्डर का मूल्य नये पंचांग के अनुसार ही लगेगा, एजेण्टगण इसे नोट कर लें। अर्थात् सं० २००८ के नये पंचांग में लिखे मूल्य पर एजेन्सी के वर्तमान नियम के अनुसार एजेण्टों को दवाओं पर २२॥) सैकड़ा सुगन्धित तैल शरवत तथा अर्क पर १८॥) सैकड़ा तथा स्वर्ण-भस्म, केशर, कस्तूरी, शहद आदि पर १२॥) सैकड़ा कमीशन बाद कर दिया जायगा। एजेण्टगण भी अपने ग्राहकों से ता० ६-४-५१ के बाद सं० २००८ के पंचांग में लिखे अनुसार मूल्य ले सकते हैं।

हमारे अधिकांश एजेण्टों की यह ख्वाहिश और आग्रह है कि एजेन्सी नियम के अनुसार खुदरा दर पर विभिन्न प्रकार के कमीशन बाद करने में हिसाब आदि का व्यर्थ का भ्रंश होता है। अतः सभी चीजों का अलग-अलग कमीशन काट कर व्यापारी दर नियत कर दिया जाय। एजेण्टों के इस आग्रह को स्वीकार कर इस साल सभी चीजों का व्यापारी दर नियत करके व्यापारी भाव की पुस्तक छपायी जा रही है जो मौसमी रिआयत की सूचना के साथ एजेण्टों के पास भेजी जायगी। उसमें भी खुदरा दर और व्यापारी दर के अन्तर (डिफरेंस) का औसत कमीशन के वर्तमान दर के अनुसार ही रहेगा। उसके बाद से एजेण्टों के लिये वही दर लागू रहेगा। इसके बीच तबतक एजेण्टों के बीजक में सभी चीजों का दाम खुदरा दर से लगाकर ऊपर लिखे वर्तमान नियम के अनुसार कमीशन बाद कर दिया जायगा।

व्यवस्थापक—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

कलकत्ता, पटना, झांसी और नागपुर।

वैद्यनाथ प्रकाशन

गत निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदशास्त्रचर्चापरिषद् पटना के संयोजक, बिहार प्रादेशिक
वैद्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री, सचिव आयुर्वेद के यशस्वी लेखक
तथा वेङ्गसराय आयुर्वेदिक कॉलेज के आचार्य

वैद्य रामरक्ष जी पाठक

कृत

त्रिदोषतत्त्वविमर्श

पर

भूतपूर्व सभापति निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन, डायरेक्टर
आयुर्वेद-विभाग, राजस्थान-सरकार,

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह P. C. S.

की

सम्मति

आज आयुर्वेदसंसार में सत्र त्रिदोषतत्त्व पर चर्चा चल रही है। ऐसे समय में आचार्यप्रवर यादवजी त्रीकमजी महाराज द्वारा लिखित भूमिका से विभूषित तथा वैद्य रामरक्ष जी पाठक जैसे गूढ़तत्त्वज्ञ पारदर्शी पण्डितप्रवर द्वारा रचित 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' जैसी अनुपमेय पुस्तक को प्रकाशित करके श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों ने आयुर्वेद-जगत् की बड़ी सेवा की है। इसके अध्ययन से पञ्चमहाभूत सहित त्रिदोष-तत्त्व का ज्ञान सरल रीति से हो जाता है। आधुनिक सिद्धान्तों के साथ समन्वय भी पाठक जी ने बड़ी खूबी से किया है। यह पुस्तक परम उपादेय है और इसे पढ़कर उपयोग में लाना चाहिए। वैद्यबन्धु इसे अपनाकर अपना स्वयं का और अपने समाज का हित करेंगे। इसके लिए मैं लेखक और प्रकाशकों को हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

आशा है, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कर्मठ संचालक अल्पकाल में ही सभी विषयों पर आयुर्वेदीय पाठ्य पुस्तक तैयार कराकर आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल करेंगे।

उदयपुर
३-१२-५० }

क० प्रतापसिंह

‘सचित्र आयुर्वेद’

—:०:—

चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि प्राचीन संहिताओं के संशोधक, अ० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ के भूतपूर्व सभापति, अखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन के सभापति, आयुर्वेदोद्धारक, आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य (बम्बई) की सम्मति :—

‘सचित्र आयुर्वेद’ आयुर्वेदशास्त्र, वैद्यसमाज और जनता की उत्तम सेवा कर रहा है। मैं उसकी उन्नति की कामना करता हूँ।

सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता, बिहार के स्वायत्तशासन व स्वास्थ्यमंत्री माननीय पण्डित विनोदानन्दजी झा की सम्मति :—

‘सचित्र आयुर्वेद’ का प्रकाशन बड़ा ही सुन्दर है। विषयों का विभाजन और उनका सम्पादन अत्यन्त अच्छे ढंग से किया जाता है।

भूतपूर्व सभापति अखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग, राजस्थान सरकार, प्राणाचार्य, वैद्यरत्न, कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्यकी सम्मति :—

आज के आयुर्वेद-जगत् में जिस प्रकार की पत्रिकाएँ निकल रही हैं, उनमें ‘सचित्र आयुर्वेद’ सर्वोत्तम है। इसकी सजघज दर्शनीय तथा पाठ्यविषय पठनीय एवं मननीय हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर



सूचित्र आयुर्वेद

पृष्ठ ३]

कलकत्ता, अप्रैल, १९५१

[अंक १०]

आवश्यकता क्या है

तुलनात्मक विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अत्यन्त विपन्न स्थिति प्राप्त होने पर भी आयुर्वेद के पास बीसवीं शताब्दि की अत्यन्त उन्नत-पश्चात्य वैद्यक के सामने रखने योग्य अनेक विशेषताएँ हैं और यदि भविष्य में उसकी उपेक्षा करना छोड़कर हम हृदय से उसके उन्नत्यर्थ प्रयत्न करेंगे तो वह यथापूर्व सब वैद्यकशास्त्रों का अग्रणी बनेगा। यह बहुत सन्तोष का विषय है कि देश की जनता तथा शासनसंस्था के द्वारा इस समय आयुर्वेदाध्ययन के लिए विद्यालय खोले जा रहे हैं, पुराने विद्यालयों का पुनःसंघटन किया जा रहा है, पाठ्य पुस्तकें नये सिरे से लिखवाने का प्रयास किया जा रहा है, पाठ्यक्रमों में संशोधन किया जा रहा है तथा अन्वेषण की आयोजनाएँ की जा रही हैं। ये सब प्रयत्न अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक ही हैं, परन्तु जबतक सब प्रकार की साधन-सामग्री से सुसम्पन्न तथा आधुनिक नैदानिकीय प्रयोगशालाओं (Clinical laboratories) से सुसज्जित अनेक आयुर्वेदीय अन्तरंगी आशुपुत्रालय (Hospitals) नहीं स्थापित किये जायेंगे तब तक आयुर्वेद का वास्तविक उद्धार नहीं होगा। इसका कारण यह है कि अग्निवेशादि महर्षियों ने जो आयुर्वेद प्रतिपादित किया है वह आधिव्याधिपीडित रोगियों के पास बैठकर, उनके सुख-दुखों में समरस होकर, उनके अन्तरात्मा में आत्मा मिलाकर प्राप्त किया हुआ है।

—वैद्य भा० गा० घाणेकर

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः

कलकत्ता

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री

पं० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, भिषक्-चूड़ामाणि

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति (=)

यकृत-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

शास्त्रचर्चा-परिषद्-अङ्क अप्राप्य

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

४ निर्माणकेन्द्र * ५० विक्रीकेन्द्र * १५ हजार एजेन्सियाँ

अथवा सीधे व्यवस्थापक, 'सचित्र आयुर्वेद', श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता के पते पर अपना वार्षिक चन्दा ४) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

हाथी दुबला हो गया है

पर भैसे के लिए अब भी काफी है

वैद्यक पद्धतियों में आयुर्वेद की श्रेष्ठता सिद्ध करनेवाला दो अत्यन्त उत्कृष्ट निबन्ध 'सचित्र आयुर्वेद' के प्रस्तुत अङ्क में प्रकाशित हुए हैं। प्रथम है आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री भा० गो० घाणेकर जी का निबन्ध 'हाथी मरा भी तो नौ लाख का' जिस के उपसंहार में से कुछ पंक्तियाँ हमने आवरण के प्रथम पृष्ठ पर उद्धृत की हैं। विद्वान लेखक के निबन्ध से सहमत होते हुए भी यद्यपि उनके दिये हुए शीर्षक से हमें विप्रतिपत्ति थी, परन्तु शीर्षक में संशोधन करने के सम्पादकीय अधिकार का उपयोग न करके हमने लेखक द्वारा प्रदत्त शीर्षक से ही निबन्ध जाने दिया है। हमारा विरोध यह है कि हाथी अभी मरा नहीं है, दुबला जरूर हो गया है।

श्रीयुत घाणेकर जी को निबन्ध लिखने की प्रेरणा एक अन्य विद्वान मेजर टी० बहादुरी के निबन्ध 'रोगोत्पत्ति में आन्तरिक अर्थ शास्त्र' से प्राप्त हुई थी अतः उनके निबन्ध की भूमिका के समान इस निबन्ध को हमने पूर्व स्थान दिया है।

डा० टी० बहादुरी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के प्रौढ़ विद्वान और उत्तरप्रदेशीय आरोग्य-विभाग में उच्च पदाधिकारी हैं। आपने अपने निबन्ध में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की त्रुटियों और असंगतियों का दिग्दर्शन कराया है।

जो आयुर्वेद सहस्रावधि वर्ष पूर्व ही विकसित होकर स्थिर हो गया, बाद में जिसका विकास आज तक रुका हुआ है, उसमें ये त्रुटियाँ और असंगतियाँ बहुत अंशों में नहीं हैं इसका विद्वत्पूर्ण प्रतिपादन श्रीयुत घाणेकर जी ने अपने निबन्ध में किया है। चिकित्स्य पुरुष, शारीर, रोग और रोगी, वैद्यकीय परीक्षा, रोगक्रम, रोगहेतु, जीवाणुवाद, क्षेत्रप्राधान्यवाद, रोग प्रतिबन्धन, बी० सी० जी० मसूरी, यक्ष्माहेतु, रोग-चिकित्सा, और औषधियाँ इन चौदह सूत्रों में तुलना करते हुए उन्होंने आयुर्वेद को, उसकी वर्तमान अवनतिकाल में भी, आधुनिक चिकित्साविज्ञान से अत्यन्त श्रेष्ठ प्रमाणित किया है।

दूसरा निबन्ध नागपुर के विद्वद्भक्त के० एल० दफ्तरी का है 'अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय बारह में बाहट क्या कहता है।' इस अत्यन्त खोजपूर्ण लेख में मनोषी लेखक ने आयुर्वेदीय चिकित्सा के सिद्धान्तों का विवेचन किया है और ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं जो अनेक अंशों में क्रांतिकारी हैं तथा चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेद को अन्य सभी पद्धतियों से इतना श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं कि प्राचीन अन्य सब पद्धतियों को अपने पेट में समाकर भी दूज अंगुल जगह अपनी विशिष्ट श्रेष्ठता के लिए बचा कर आयुर्वेद रखे हुए है।

दोनों उत्कृष्ट निबन्धों के लिए इन के विद्वान लेखक आयुर्वेदजगत् की ओर से बधाई के पात्र हैं।

—सम्पादक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित पाठ्यग्रन्थों की विशेषताएँ

आयुर्वेद की प्रधानता

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान तथा मानसरोग-विज्ञान पर सम्मति देते हुए भूतपूर्व सभापति निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन, राजवैद्य श्री जीवराम कालिदास जी शास्त्री (गोंडल) ने लिखा था :

“वर्तमान राजतन्त्रों के नियमानुसार ‘आयुर्वेदीय महाविद्यालय’ नाम से प्रचलित संस्थाओं में आज-कल हो रही पढ़ाई अधिकांश में एलोपैथिक दृष्टिकोण से ही है। ऐसी संस्थाओं में आयुर्वेद को केवल २० प्रतिशत ही स्थान दिया गया दिखायी देता है। कारण, स्वयं पढ़ाने वालों को संहिता ग्रन्थों की रचना और विषय विभाग क्लिष्ट लगने से छात्रों को ये ग्रन्थ विधिवत् पढ़ाये नहीं जाते। फलस्वरूप संहिताग्रन्थों के प्रति छात्रों की उदासीनता बनो है और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद वे न तो डॉक्टर ही बनते हैं, न वैद्य ही ; एवं बहुधा एलोपैथिक पद्धति से ही अपना योग-क्षेम चलाये चलते हैं। ऐसी (वर्तमान) स्थिति में ‘आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान’ तथा ‘मानसरोग विज्ञान, जैसे, ग्रन्थों का प्रकाशन कर के श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० ने आयुर्वेदीय क्षेत्र में काम करने वाले वैद्य भाईयों, अध्यापकों, विद्यार्थियों और उपचारकों का बहुत ही उपकार किया है। संहिता-ग्रन्थों के ज्ञान को आधुनिक ढङ्ग से पढ़ कर हृदय में उतारने के लिये और इस प्रकार अपने शास्त्र के प्रति अधिक सम्मान की भावना उत्पन्न करने के लिए ये पुस्तकें बहुत ही उपकारक होंगी। इन ग्रन्थों के प्रकाशकों का धन्यवाद देता हूँ।”

विषयानुसार ग्रन्थ

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित ‘त्रिदोषतत्त्वविमर्श’ पर सम्मति देते हुए श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय, दिल्ली के प्रधानाध्यापक वैद्यराज श्री मनोहरलालजी ने लिखा है ;

“आयुर्वेदजगत् में ‘त्रिदोषतत्त्वविमर्श’ जैसे ग्रन्थों की महती आवश्यकता है जो कि एक-एक विषय पर पृथक्-पृथक् हों। परीक्षार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशकों को परमात्मा आरोग्य और ऐश्वर्य प्रदान करे।”

छात्रों के लिए उपयोगिता

‘त्रिदोषतत्त्वविमर्श’ पर सम्मति देते हुए पीलीभीत आयुर्वेदमहाविद्यालय के आचार्य पण्डित विश्वनाथ जी द्विवेदी ने लिखा है :

“श्री पाठक जी ने त्रिदोष के सूक्ष्म स्वरूप को छात्रों के लिए सुबोध बनाने की पूर्ण चेष्टा की है जिसमें उनको सफलता मिली है।”

—व्यवस्थापक

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता

वैद्यनाथ प्रकाशन :

द्वितीयावृत्ति :

मूल्य ६) मात्र

सचित्र शरीर-क्रिया-विज्ञान

(दोष-धातु-मल-विज्ञान)

लेखक : वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालङ्कार

उपाचार्य, श्री नाम्दार आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

कुल विशिष्ट सम्मतिः

आयुर्वेदाचार्य श्री हरदयाल वैद्यवाचस्पति, V. V., K. R., A. V., M. A. S., अध्यक्ष, पूर्वी पञ्जाब आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा बोर्ड, अमृतसर की सम्मति :—

ऋषिप्रणीत संहिताओं के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसने आर्य शैली को उपस्थित किया है। आयुर्वेदीय छात्रों के लिए यह शिक्षास्थानीय ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होकर साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगा।

राजवैद्य नन्दकिशोर शर्मा भिषगाचार्य, आयुर्वेद-प्रधानाध्यापक, संस्कृत कालेज, जयपुर की सम्मति :—

मुझे विश्वास है कि शिक्षासंस्थाएँ इसे अपने विषय में प्रथम स्थान देने में गौरव मानेंगी।

आयुर्वेदाचार्य श्री रामरक्ष पाठक F. A. I. M. (Madras), आचार्य, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय की सम्मति :—

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद आयुर्वेद-विद्यालयों के पाठ्यग्रन्थों में 'हेलीवर्टन' का स्थान नहीं रह जाता।

श्री पी० एम० मेहता, एम० डी०, एम० एस०, एफ० सी० पी० एस०, चीफ मेडिकल आफिसर, नवानगर स्टेट की सम्मति :—

शरीर-क्रिया-विज्ञानसम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ इस ग्रन्थ में अत्यन्त सुन्दर शैली से दिया गया है।

आयुर्वेदाचार्य श्री शुकदेव शर्मा, साहित्य-सांख्य-योगाचार्य, M. O. L. (P. U.), G. A. M. S. (Bihar), प्रिंसिपल, राजकुमार सिंह आयुर्वेदिक कालेज, इन्दौर की सम्मति :—

It is a pioneer publication in the field of Ayurvedic physiology and tries to explain many phenomena elucidated by the ancients in the modern medical sense.

वैद्य श्री एस० एन० जोशी, प्रिंसिपल, एम० जी० आयुर्वेदिक कालेज, नाडियाद की सम्मति :—

There is a happy blending of the modern information with the ancient one, without marring the entity, beauty and identity of the original.

आयुर्वेदाचार्य डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी M. B. (Cal.), M. D. (Berlin), निदानाध्यापक, कारमाइकेल मेडिकल कालेज, कलकत्ता की सम्मति :—

Kindly accept my sincere congratulations for bringing out the book शरीर-क्रिया-विज्ञान which has become very appropriate and has appeared at the right time. India is now passing through a stage of regeneration and reconstruction and your book will go a long way in the resuscitation of Ayurved. I have the greatest pleasure to have a close study of your book.

पदार्थ-विज्ञान

लेखक : वैद्यराज पण्डित रामरक्ष पाठक

आयुर्वेदाचार्य, जी० ए० एम० एस० (पटना), एफ० ए० आई० एम० (मद्रास),

प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय ।

कुछ विशिष्ट सम्मतियाँ

वैद्यराज कविराज प्रतापसिंहजी रसायनाचार्य, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग, वृहत् राजस्थान सरकार :—

श्रीमान् पण्डित रामरक्षजी पाठक की पुस्तक 'पदार्थ विज्ञान' का मैंने साज्जोपाज्ज अनुशीलन किया । इसके प्रकाशन से पूर्व अध्यापक पाश्चात्य और पौरात्य का सम्मिश्रण कर किसी प्रकार पदार्थ-विज्ञान को छात्रों के गले उतारने का असफल प्रयत्न करते रहे थे । इस ग्रन्थरत्न के प्रकाशन से इस विषय का उभयपद्धतिसम्मत पठन-पाठन सरल हो गया है । इस सफल लेखन-कला-कुशलता के लिए आचार्य पाठकजी धन्यवादार्ह हैं ।

श्री बनवारीलाल आयुर्वेद विद्यालय, दिल्ली के प्रधानाध्यापक आयुर्वेद-भूषण पण्डित मनोहर-लालजी वैद्य की सम्मति :—

पण्डित रामरक्ष पाठक कृत 'पदार्थ-विज्ञान' आयुर्वेदीय-साहित्य में ग्रन्थरत्न है । इसमें आर्ष ग्रन्थों से इस विज्ञान का संकलन अत्युपयुक्त और वैद्यों के लिए बोधप्रद है । प्रत्येक वैद्य इसको मंगाकर अनुशीलन करेंगे, ऐसी मेरी भावना है ।

स्वर्गीय कविराज मणीन्द्रकुमारजी मुकर्जी, प्राणाचार्य की सम्मति :—

महाभाग श्री रामरक्ष पाठक कृत 'पदार्थ-विज्ञान' मैंने परम प्रसन्नता से पढ़ा । शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी । इससे छात्रों और अध्यापकों का उपकार होगा । इसमें ग्रन्थकार का संग्रह-पाठ्य और व्याख्यान-सौष्ठव प्रदर्शित हुआ है । इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन के लिए मैं ग्रन्थकार और प्रकाशकों को साधुवाद देता हूँ ।

कान्यकुब्ज आयुर्वेदिक कालेज, लखनऊ के प्रिंसिपल, साहित्यायुर्वेदाचार्य पण्डित गिरिजा-दयालु शुक्ल, ए० एम० एस० की सम्मति :—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित 'पदार्थ-विज्ञान' का अवलोकन कर मुझे हार्दिक सन्तोष हुआ । मेरे विचार से आयुर्वेदीय विद्यालयों के पुस्तकालयों, अध्यापकों एवं छात्रों के लिए यह ग्रन्थ एक अपूर्व देन है । विषय-प्रतिपादन एवं विचार-समन्वय करते समय अपने विशिष्ट वक्तव्यों द्वारा ग्रन्थकार ने इसे बहुत उपयोगी बना दिया है ।

सुप्रसिद्ध विद्वान्, पत्रकार एवं नेता श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की सम्मति :—

यह ग्रन्थ विद्वत्पूर्ण और उपयोगी है । आयुर्वेदीय छात्र और वैद्य, दोनों के काम की चीज है । ग्रन्थकार ने मानो आयुर्वेद-शास्त्र का निचोड़ निकाल कर रख दिया है ।

डा० बालकृष्ण अमर पाठक कृत

मानसरोग-विज्ञान

[प्रथम खण्ड]

पर

भारतीय वाङ्मय के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा राष्ट्रनेता

महामान्य विहार-गवर्नर श्री माधव श्रीहरि अणे

की

सम्मति

डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत मानसरोग-विज्ञान का प्रथम खण्ड श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता ने सम्मत्यर्थ भेजा है। इस ग्रन्थ में डा० पाठक ने भारतीय दार्शनिकों तथा आयुर्वेद शास्त्र के मूल लेखकों द्वारा निरूपित, मानसशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इन सिद्धान्तों की तुलना उन्होंने जेम्स फ्रायड, जोड़ तथा अन्य पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों द्वारा निरूपित सिद्धान्तों के साथ की है। मन और उस की क्रियाओं के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के विचारों को एकत्र प्रस्तुत करने का जो सत्प्रयत्न उन्होंने किया है, वह सचमुच कठिन परिश्रम और आलोचनात्मक अध्ययन का प्रतिफल है। कारण, संस्कृत वाङ्मय में मानस शास्त्र पर लिखा हुआ कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है; इस विषय का समस्त ज्ञान सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग और मोमांसा के विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थों तथा उन पर की गयी टीकाओं में बिखरा पड़ा है। डा० पाठक ने बड़ी ही सतर्कता के साथ चरक और सुश्रुत की प्रामाणिक संहिताओं का सूक्ष्म विवेचन किया है जो कि यथार्थ ही आयुर्वेदीय पद्धति के प्रवर्तकों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इस एक ही खण्ड में वैद्य, एवं अवैद्य, सभी पाठकों को प्राच्य तथा पाश्चात्य मानस शास्त्रियों के सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जायगी। प्राच्य तथा पाश्चात्य, दोनों ही पद्धतियों पर ग्रन्थकार का पूर्ण अधिकार एवं गम्भीर ज्ञान प्रदर्शित हुआ है और इस गूढ़ विषय का निरूपण उन्होंने बड़ा ही आकर्षक तथा प्राञ्जल शैली में किया है।

प्रस्तुत खण्ड में, मनोविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों पर ही विचार किया गया है; अगले खण्ड में मानसिक रोगों तथा आयुर्वेदीय एवं अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के अनुसार उनके उपचार पर विचार किया जायगा।

मेरे विचार में, प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत ही उच्चकोटि का शोध (रिसर्च) उपस्थित किया गया है। विद्वान् और मेधावी ग्रन्थकार ने, तुलनात्मक ढंग से आयुर्वेद की विभिन्न शाखाओं के आधारभूत सिद्धान्तों की बहुत ही युक्तियुक्त और व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ में की है। ऐसी ही व्याख्याओं की सहायता से एलोपैथिक एवं अन्य पद्धतियों के चिकित्सक तथा जनसाधारण सुप्राचीन आयुर्वेदीय पद्धति की वास्तविक महत्ता को समझ सकेंगे और कुछ क्षेत्रों में आयुर्वेद के विरुद्ध फैली हुई निर्मूल धारणाएँ दूर हो सकेंगी। मेरी सम्मति में यह ग्रन्थ भारतवर्ष के समस्त आयुर्वेदिक स्कूलों और कॉलेजों में पाठ्य-क्रम के रूप में निर्धारित होना चाहिए।

आचार्य रणजितराय कृत

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

पर

भूतपूर्व सभापति निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदमहासम्मेलन, डायरेक्टर आयुर्वेद-विभाग,

राजस्थान सरकार, 'सचित्र आयुर्वेद' के यशस्वी लेखक,

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह

की

सम्मति

अपना पृथक् प्रकाशन-विभाग स्थापित कर श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के सञ्चालक स्थायी साहित्य के प्रकाशन का जो कार्य कर रहे हैं, यह उनके बड़े सराहनीय कार्यों में से एक है। वैद्य रामरक्षजी पाठक के 'पदार्थ-विज्ञान' का प्रकाशन करने के बाद तुरन्त ही वैद्य रणजितराय जी के 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' का प्रकाशन करना उनकी बड़ी ही उदारता और सत्साहस का परिचायक है।

वैद्य रणजितरायजी आयुर्वेद के सिद्धहस्त वैज्ञानिक लेखक के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। तर्क, मनन और लेखन की आपकी शैली ऐसी उत्तम है कि प्रत्येक पाठक को उसकी ओर बलात् आकर्षित होना ही पड़ता है। आपकी लेखनशैली में अर्थगाम्भीर्य है, विवेक है, ओज है और है आयुर्वेद के भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला पथनिर्देश, जिस पर चल कर भविष्य के लेखक, परोक्षक और समीक्षक खोज (रिसर्च) कर सकेंगे।

इस ग्रन्थ के लेखक और प्रकाशकों को मैं हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ और वैद्य-बन्धुओं को इसका पठन-पाठन कर लाभ उठाने के लिए साग्रह परामर्श देता हूँ। मूल्य—(५) रुपये मात्र।

सुख और स्वास्थ्य की कुंजी

आरोग्य-प्रकाश

— प्रत्येक घर में रहना ही चाहिए —

भारत-प्रसिद्ध श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर पण्डित रामनारायण शर्मा वैद्यशास्त्री ने ५-६ वर्षों में बड़े परिश्रम से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, भोजन, व्रजचर्य, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वभाग के विषयों को पढ़ कर और तदनुसार चल कर सदा बीमार रहने वाला रोगी भी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के उत्तर भाग में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी सरल भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़ कर वध, छात्र तथा साधारण पढ़ी-लिखी जनता, सभी, समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुंचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके सात संस्करणों में ५६ हजार प्रतियाँ छप कर विक्रय की हैं और यह आठवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्तप्राय है। इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है यह कहा जाय, तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ५१५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य सिर्फ—१।।।।, डाक खर्च ॥२॥, हमारे ४ निर्माण केन्द्रों, ५० विक्री-केन्द्रों तथा १५ हजार एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाकखर्च नहीं लगेगा।

विषय-सूची

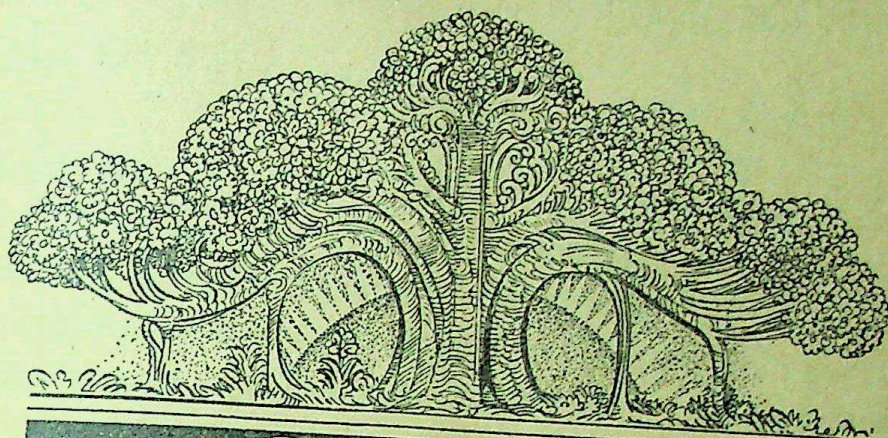
विषय	लेखक	पृष्ठ
मुम्बई सरकार का सराहनोय अनुदान	८५
विहार राज्य में देशी प्रणाली चिकित्सा विल स्वीकृत	...	८५
आयुर्वेद पर लोकमत	...	८५
दैनिक राष्ट्रवाणी (पटना) के विचार	...	८५
दैनिक नवभारत टाइम्स (दिल्ली) के विचार	...	८५
आयुर्वेद और सरकार	...	८५
कामला में बन्दाल नस्य—	श्री के० मेहता ए० बी० वी० एस०	८५
आयुर्वेदीय पाठ्य-क्रम—	वैद्यरत्न कविराज प्रताप सिंह रसायनाचार्य	८५
निदान-चिकित्सा हस्तमालक—	वद्य रणजितराय	८५
पित्त ज्वर चिकित्सा—	क० सुखराम प्रसाद आयुर्वेदाचार्य	८५
सन्तरा-मोसम्बी—	श्री भानुदेसाई	८५
मस्तिष्क और चेतासंहति—	डा० रघुवीर शरण	८५
रोगोत्पत्ति में आन्तरिक अर्थ शास्त्र—	मेजर टी० बहादुरी	८५
हाथी मरा भी तो नौलाख का—	डा० भा० गो० घाणेकर	८५
अष्टांग संग्रह में बाह्य—	वैद्य के० एल० दफ्तरी	८५
आयुर्वेद जगत—	...	८५

अपनी प्रति सुरक्षित कराना भूलें नहीं

सचित्र आयुर्वेद के प्रेमा पाठकों को यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि तीसरे वर्ष का यह दसवाँ अंक उनके हाथ में है। इस के बाद मई का अंक और फिर इस वर्ष का अन्तिम अंक उनके हाथ में होगा। जून की पहली तारीख से आगामी वर्ष के प्रथम अंक का प्रकाशन शुरू होगा। तब तक अपना आगामी वर्ष का चन्दा भेजकर आदरणीय ग्राहकगण चतुर्थ वर्ष के प्रथम अंक की अपनी प्रति सुरक्षित करा लेंगे, तो कार्यालय को सुविधा होगी और वे भी निश्चिन्त हो जाएँगे।

—न्यवस्थापक स० आ०

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



साधित आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३

अप्रैल, कलकत्ता, १९५१

अङ्क १०

मुम्बई सरकार के सराहनीय अनुदान

मुम्बई सरकार ने ता० ३१ मार्च को समाप्त होने वाले आर्थिक वर्ष में निम्न आयुर्वेदीय संस्थाओं को निम्नोक्त प्रकार से ग्रांट दी है जिसके लिए वह आयुर्वेद संसार की ओरसे धन्यवाद की पात्र है :

	नॉन रिकरिंग	रिकरिंग
१. आयुर्वेद महा विद्यालय सूरत	रु० ३३,४१५	रु० १५,०००
२. आ० म० वि० पूना	रु० २८,५००	रु० ५६,४००
३. आ० म० वि० अहमदनगर	रु० १७,५००	रु० १५,५००
४. आ० म० वि० सातारा	रु० २०,०७६	रु० २०,०००
५. आ० म० वि० नडियाद		
		टोवल ग्रांट रु० ४,०००

बिहार राज्य में देशी चिकित्सा-प्रणाली विकास बिल स्वीकृत

प्रसन्नता की बात है कि गत ३० मार्च १९५१ को बिहार-विधानसभा में देशी चिकित्सा-प्रणाली विकास बिल स्वीकृत हो गया।

प्रश्नोत्तर के पश्चात् स्वायत्तमन्त्री माननीय पंडित विनोदानन्द भा ने देशी चिकित्सा-प्रणाली विकास बिल (१९४९) पर विचार किये जाने का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा: “आयुर्वेदीय तथा यूनानी चिकित्सा-प्रणालियाँ आज देश के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं, किन्तु इनकी शिक्षा एवं प्रचार-प्रसार के लिये अभी तक कोई व्यवस्था नहीं हुई है; इधर विदेशी औषधों का मूल्य भी दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है, और देशी जड़ी-बूटियों से बनी देशी औषधियों पर नियन्त्रण रखना भी जरूरी है। इन सब उद्देश्यों से यह बिल प्रवर-समिति की सिफारिशों के साथ उपस्थित किया गया है।”

इस बिल के अनुसार बिहार में आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा देने तथा इन चिकित्सकों पर नियन्त्रण रखने एवं विकास का समुचित प्रबन्ध करने के लिए सरकार ‘बिहार राज्य आयुर्वेदिक तथा यूनानी परिषद्’ स्थापित करेगी। इस ‘राज्य-परिषद्’ के संघटन की व्यवस्था से सम्बन्धित तीसरी धारा में श्रीमहेशप्रसादसिंह का एक संशोधन मान लिया गया, जिसके अनुसार मुजफ्फरपुर के वर्तमान समाज संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल भी परिषद् में एक प्रतिनिधि स्वरूप रहेंगे। परिषद् में एक प्रतिनिधि स्थानीय बोर्डों आदि से रहेगा। कार्यावधि ३ वर्ष की होगी। ऐसा कोई व्यक्ति इस परिषद् का सदस्य नहीं हो सकेगा, जिसकी उम्र २५ वर्ष से कम हो, जो परिषद् का कर्मचारी हो, पागल हो या सजावार हो। परिषद् के अध्यक्ष सरकारी अफसर होंगे। [इस पर श्री महेशप्रसादसिंह ने संशोधन उपस्थित किया कि वर्तमान गणतंत्रिक युग में सरकारी अफसर को ही महत्त्व नहीं मिलना चाहिये। उत्तर में माननीय स्वायत्तमन्त्री ने बताया कि : महेशबाबू के सिद्धान्त से वे पूर्णतः सहमत हैं ; परन्तु इस आरम्भिक परिषद् में सरकारी अफसर, विशेषतः हाई कोर्ट के जज, को ही अध्यक्ष-पद पर रखने का निर्णय किया गया। आगे आपने बताया कि भविष्य में उपयुक्त होने पर ‘सरकारी अफसर’ की शर्त हटा दी जायगी]।

इस प्रसंग में माननीय स्वायत्तमन्त्री ने बताया कि आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सा-विज्ञान होते हुए भी दोनों के लिये संयुक्त परिषद् का संगठन सर्वप्रथम इस (बिहार) राज्य में किया जा रहा है।

राज्य-परिषद् ‘आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषध समिति’ संगठित करेगी। राज्य के सभी आयुर्वेदिक और तिब्बती कालेजों के प्रिन्सिपल तथा सरकार द्वारा मनोनीत वैद्य एवं हकीम इसके सदस्य होंगे।

इस बिल के अनुसार आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सा-प्रणाली से चिकित्सा करने वाले वैद्य-हकीम को अपने नाम की रजिष्टरी करानी होगी।

आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा-विज्ञान के विकास के लिये बिहार सरकार के इस कदम का स्वागत करते हैं और अभी इसके विषय में अपनी ओर से कुछ न कह कर आगे बिहार की सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय दैनिक राष्ट्रवाणी के सम्पादकीय विचार उद्धृत करते हैं।

आयुर्वेद पर लोकमत

स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से अवकाश मिलने पर देश के मनीषियों का ध्यान अब राष्ट्र की रीढ़ स्वरूप संस्कृति और साहित्य के पुनरुज्जीवन की ओर गया है। धूल में डाल दिये गये अपने हीरो को अब हम पहचान रहे हैं और गर्व कर रहे हैं अपने पूर्वजों की दी हुई अनमोल थाती पर। ऐसे ही उज्ज्वल रत्नों में है अपना आयुर्वेद। जनता के प्रतिनिधि प्रवक्ता एवं पत्रकार आज आयुर्वेद का प्रबल समर्थन कर रहे हैं। ऐसी दो आयुर्वेद-समर्थक सम्पादकीय टिप्पणियाँ हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। आशा है, इससे वैद्य-बन्धुओं को उत्साह मिलेगा और सरकारी अधिकारियों को मिलेगी सोचने की सामग्री।

दैनिक राष्ट्रवाणी (पटना) के विचार।

आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा-पद्धति की उन्नति के सम्बन्ध में एक विधेयक विहार-विधानसभा में स्वीकृत हुआ है। इस का उद्देश्य है आयुर्वेद और यूनानी की उन्नति, इन पद्धतियों की शिक्षा का नियमन तथा देशी औषधों और जड़ी-बूटियों की बिक्री पर नियंत्रण रखना। इस के अनुसार वैद्यों और हकीमों को अपने नामों की रजिष्टरी करानी होगी। कौन लोग अपने नामों की रजिष्टरी करा सकेंगे इस का उल्लेख विधेयक की १८ से ३६ तक की धाराओं में किया गया है।

आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा-पद्धतियों की उन्नति के लिए सरकार की ओर से किसी प्रकार की व्यवस्था न होना लोगों को बहुत खटक रहा था। इन चिकित्सा-पद्धतियों—विशेषकर आयुर्वेद—की उपयोगिता एवं उपकारिता में लोगों का अडिग विश्वास अब भी बना हुआ है। और, यह विश्वास अन्धविश्वास नहीं है, बल्कि दीर्घकाल के सफल प्रयोगों के अनुभव के ऊपर टिका हुआ है। यही कारण है कि अंगरेजी शासनकाल में किसी प्रकार का राजकीय प्रश्रय और प्रोत्साहन न मिलने पर भी देशी चिकित्सा-पद्धतियाँ अब तक जीवित हैं और इनके द्वारा लाखों-करोड़ों मनुष्यों को लाभ पहुँच रहा है। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति एक ठोस वैज्ञानिक आधार पर आश्रित है, इसमें तो अब कोई सन्देह रह ही नहीं जाता। बड़े-बड़े पाश्चात्यचिकित्साविशारदों ने भी आयुर्वेदीय औषधों के चमत्कार को स्वीकार किया है। देशी चिकित्सा-प्रणालियों को विकसित होने का मौका देना चाहिए, जिससे वे लोग जो इन की उपयोगिता में विश्वास करते हैं, अधिक से अधिक लाभ उठा सकें।

इस देश में ऐसी कितनी ही जड़ी-बूटियाँ हैं जिनके रोगनाशक गुणों के सम्बन्ध में अभी तक वैज्ञानिक ढंग से अनुसन्धान नहीं हुआ है। इसी प्रकार आयुर्वेद की शिक्षा के लिए भी सरकार की ओर से कोई समुचित व्यवस्था अभी तक नहीं की गयी है। हर जिले में देशी चिकित्सा-प्रणालियों की शिक्षा के लिए एक विद्यालय होना चाहिए, जिसके साथ संलग्न जड़ी-बूटियों का एक उद्यान भी हो। बिहार प्रदेश के किसी केन्द्रीय स्थान में आयुर्वेदीय चिकित्सा-विज्ञान का एक ऐसा महाविद्यालय अवश्य होना चाहिए, जहाँ आयुर्वेद की उच्चतम शिक्षा देने के साथ-साथ प्रयोगों और अनुसन्धान-कार्य के लिए भी सब प्रकार की

सुविधाएँ प्राप्त हों। नये-नये क्षेत्रों में अनुसन्धान करने की जितनी ही अधिक सुविधाएँ आयुर्वेद के विद्वानों को प्राप्त होंगी, उतना ही अधिक वे इस चिकित्सा-विज्ञान को समुन्नत बना सकेंगे। क्वाथ, आसव, अरिष्ट, घृत, अवलेह, रसायन, रोगनिदान, नाड़ीपरीक्षा आदि विषयों में अनुसन्धान और गवेषणा के लिए व्यापक क्षेत्र पड़ा हुआ है।

हमारा विश्वास है कि हमारे देश के विद्वान् वैद्यों को यदि अनुसन्धान करने का सुयोग प्राप्त हो तो वे देशी चिकित्सा-प्रणाली के चमत्कार से आधुनिक डाक्टरों को भी चकित एवं विस्मित कर दे सकते हैं। इसलिए उन्हें कम से कम उतनी सुविधाएँ तो अवश्य मिलनी चाहिए, जितनी कि पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली के डाक्टरों को प्राप्त हैं।

शिक्षा, अनुसन्धान और व्यावहारिक प्रयोग के क्षेत्रों में समान सुविधाएँ मिलने पर ही इस बात की परीक्षा हो सकेगी कि पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली की प्रतियोगिता में देशी चिकित्सा-प्रणालियाँ ठहर सकेंगी या नहीं। अभी तो प्रतियोगिता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कारण, सैकड़ों वर्षों से देशी चिकित्सा-प्रणालियाँ उपेक्षित रही हैं।

हमें आशा है, आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा-प्रणालियों की उन्नति के लिए बिहार-सरकार ने कानून बनाया है, उसे वह पूर्ण आन्तरिकता के साथ कार्यान्वित करने की चेष्टा करेगी, जिस से कानून उद्देश्य सफल हो।

दैनिक नवभारत टाइम्स (दिल्ली) के विचार।

सरकार के अन्यान्य मंत्रालयों की भाँति स्वास्थ्य-मंत्रालय को भी बजट में और रुपया चाहिए। लेकिन जितना रुपया दिया जाता है, उस के ठीक इस्तेमाल की तरफ किसी का ध्यान नहीं। प्रनिर्मित मकानों के रखरखाने में हुई फजूठखर्ची, लेडी हार्डिंज कालेज की बदइन्तजामी और मलेरिया-निरोधक संस्था आदि की वाहियात कार्य-पद्धति इस मंत्रालय की असफलताओं की लम्बी तफसील में कुछ मामूली मिसालें हैं। लोकहित की दृष्टि से शिक्षा के बाद सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वास्थ्य जैसे जरूरी महकमे में आधुनिक करण और व्यवस्था के नाम पर एक खिलवाड़ सा हो रहा है। जलसों, भाषणों और उद्घाटनों से कोई मुल्क स्वस्थ हो सकता, तब तो हमें भी ज्यादा दिक्कत नहीं पड़ती। किन्तु स्वास्थ्य को विदेश यात्राओं के द्वारा पेटियों में बन्द कर के नहीं लाया जा सकेगा, न विदेशी विशेषज्ञों की बहस में से तन्दुरुस्ती का दरिया बह कर निकलेगा। तन्दुरुस्ती के लिए बुनियादी जरूरत पौष्टिक खान-पान की है। लेकिन बदकिस्मती से भारत के लिए अभी अन्न का ही जुटाना एक समस्या बना हुआ है, दूध और मक्खन तो अभी बहुत बाद की बात है।

हमारी दृष्टि में इस देश की एक बड़ी मुश्किल यह है कि सरकार के कर्णधारों के दिमाग में विज्ञान और अर्वाचीनता के नाम पर अक्ल का कुहरा जरूरत से बहुत ज्यादा गहरा हो गया है। इस कुहरा में हम अपने घर में प्राप्त साधनों का इस्तेमाल करना इस लिए भूलते और छोड़ते जाते हैं कि बड़ी चीजों के बड़े वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग किसी सुदूर भविष्य में किये जाने की योजनाएँ बन रही हैं।

आभ्युदय की वे कल्पनाएँ जरूर साकार की जायँ। इस में किसी को कोई ऐतबार नहीं।...किन्तु, राष्ट्र को सदियों से नहीं, बल्कि सहस्राब्दियों से प्राप्त आयुर्वेद (और यूनानी चिकित्सा) (शेर्वाश ८५६ पृष्ठ पर)

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम—१

[सचित्र आयुर्वेद के विगत अङ्क ६ और अङ्क ९ में राजस्थान सरकार के आयुर्वेद-विभाग के डायरेक्टर वैद्यरत्न कवि-राज प्रतापसिंह जी के दो लेख आयुर्वेदीय शिक्षा के विषय में प्रकाशित हो चुके हैं। उसी लेखमाला का यह तीसरा पुष्प पाठकों को भेंट करते हमें प्रसन्नता है। आदरणीय पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी की राजपूताना विश्वविद्यालय ने ओरियण्टल फेकल्टी के साथ आयुर्वेदिक फेकल्टी भी बना दी। आशा है कि अब उद्योग करने से आयुर्वेद-विभाग विश्वविद्यालय के अधिकार में चला जायगा। तब ऐसे पाठ्यक्रम की आवश्यकता पड़ेगी ही। साथ ही, राजस्थान में इण्डियन मेडिसिन ऐक्ट बन रहा है। बोर्ड ने सर्वसम्मति से रजिष्ट्रेशन ऐक्ट बनाने की रिपोर्ट सरकार को दे दी है। ऐसी स्थिति में फेकल्टी की पाठ-विधि का दिग्दर्शन नहीं होगा, तो जयपुर कालेज की बड़ी हानि होगी। हमें आशा है कि आगामी जुलाई मास में यह नवीन पाठ्यक्रम काम में आ सकेगा। विद्वानों के विचार-विनिमय के बाद समुचित संशोधन परिवर्धन के साथ निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ की ओर से हम यह पाठ्यक्रम भारत-सरकार के सामने भी उपस्थित कर सकते हैं। आयुर्वेद-संसार की ओर से कविराज जी इस उद्योग के लिये धन्यवाद के पात्र हैं। पाठ्यक्रम का शेष अंश हम सचित्र आयुर्वेद के आगामी अङ्कों में दे रहे हैं। —स० स० आ०]

इस लेखमाला के पहले प्रकाशित दो लेखों में आयुर्वेदीय शिक्षा के विषय में अने आलोचनात्मक विचार उपस्थित करने के बाद अब मैं यह उचित समझता हूँ कि वैद्यसमाज के सामने विषयानुसार पाठ्यक्रम की रूपरेखा बना कर रखूँ ताकि वे इस पर भली प्रकार विचार कर के आयुर्वेदमहामण्डल द्वारा सर्वसम्मति से नवीन ढंग का आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम निश्चित करें।

रसशास्त्र

१—द्रव्य की तीन अवस्थाएँ—घन, द्रव और वायव्य (Solid, liquid and gaseous states of matter); इन के गुण; ताप का इन पर प्रभाव।

२—द्रव्यों की घुलनशीलता (Solubility), निस्पन्दन (Filtration), स्फटिकीकरण (Crystallization), परिस्त्रवण (Distillation), ऊर्ध्वपातन (Sublimation)।

उक्त अवस्थाएँ निम्न द्रव्यों की जाननी चाहिए: रसायन के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय—

लवणाम्ल (Hydrochloric acid), सामुद्र रेचन लवण (Magnesium), चपल (Bismuth), नीलांजन (Antimony), लवण, शोरक, खटिका कासीस, गन्धक, बालुका, नरसार, स्फटिक, कर्पूर, लाक्षा, शर्करा, यवक्षार, टंकणक्षार, स्वर्जिकाक्षार और तैल।

३—वायु का अध्ययन—पदार्थों पर वायु की क्रिया, पदार्थों का जलना, उन में मोर्चा लगना।

४—जल का संगठन, पदार्थों पर जल की क्रिया, भौतिक और यौगिक मिश्रण, रासायनिक सहयोग के नियम।

५—निम्नलिखित तत्वों और यौगिकों का अध्ययन—ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, नाइट्रोजन, क्लोरीन, कार्बन, गन्धक, कार्बन-डाई-आक्साइड, अमोनिया, शोरकाम्ल (Nitric acid), गन्धक के आक्साइड, गन्धकाम्ल।

६—निम्नलिखित पदार्थों के सम्बन्ध में सेन्द्रिय

मधुच्छिष्ट (Paraffin), अलकोहल (Alco-
hol), कांजिकाम्ल (Acetic acid), शुक्त
(सिरका), तैल और उड़नशील तैल, घृत, शर्करा
श्वेतसार (Starch), किण्वक्रिया (Fermenta-
tion) और उस में अलकोहल तथा कांजिकाम्ल का
प्राप्तिकरण, वसा और तैल में पदार्थों की विलेयता ।

७ विलेयता द्वारा मिश्रणों के अवयवों का
पृथक्करण, स्फटिकीकरण द्वारा लवणों का शोधन,
मौलिक धातु तथा लवणों का पहचान ।

पाठ्यग्रन्थ—

उपरोक्त विषयों को पढ़ाने के लिए निम्न-
लिखित ग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिए—

पदार्थविनिश्चय—श्री बी० ए० कुलकर्णी
प्रारम्भिक रसायनशास्त्र—श्री फूलदेवसहाय वर्मा
भौतिक शास्त्र—डा० एन० सी० सेठी
आयुर्वेदीय खनिजविज्ञान—कविराज प्रतापसिंह
रसतरंगिणी
रसकामधेनु

क्रियात्मक

क्रियात्मक परीक्षा में विद्यार्थी द्वारा किये हुए
वार्षिक क्रियात्मक कार्य के विवरण पर विशेष
विचार किया जाय ।

१—रस, महारस, साधारण रस, रत्नोपरत्न,
फेनाश्म, अंजनपंचक तथा मृदारशृंगादि का विशिष्ट
ज्ञान ।

२—रसशोधन प्रकार, हिंगुल से रसाकृष्टि,
गंधक का शोधन और जारण, कृष्णभस्म (कज्जली),
रसपर्वटी, मकरध्वज, रससिन्दूर, रसकपूर आदि का
निर्माण ज्ञान ।

३—सुवर्ण, रजत, ताम्र, नाग, बंग, यशद और
लोह का शोधन ; शोधन की आवश्यकता ।

४—अश्रक के भेद, शाधन और निश्चन्द्र भरमी-
करण ।

५—हरिताल और मनःशिला का शोधन, रस
माणिक्यनिर्माण, मण्डूर, माक्षिक और खर्पर
परिचय, शोधन तथा मारण ।

६—अंजनपंचक, कासीस, तुथ आदि का
शोधन ।

७—साधारण पुटपाक के लिए त्रिफलादि का
विशिष्ट पुटपाक के लिए एरण्डादि और किरा
तादि गण ।

८—सब लोहों के निरुत्थीकरण के लिए सि-
पंचक का उपयोग ।

९—मुक्ता, प्रवाल, शंख, शुक्ति, कपर्दिका, वैकृत,
राजावर्त, चुम्बक, स्फटिक, गैरिक, नरसार, रस
और शिलाजीत का शोधन, मारण और उपयोग ।

१०—विविध प्रकार के पुटनिर्माण, मूषा, वेक
वालुका, लवण, पातालादि यंत्रों का परिज्ञान ।

११—संसार के रसशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

पदार्थ-विज्ञान

निम्नलिखित पदार्थ विज्ञान के विषयों को सि-
जाने विद्यार्थी की उपयोगी ज्ञान की पूर्ति नहीं होती
बिना आधुनिक नाप तौल को जाने व्यवहार में ला-
वाले द्रव्यों की सुगमता से प्राप्ति नहीं की जा सक-
न उनको प्राचीन वीचितरङ्ग ण्याय अथवा शब्द-
आकाश का सम्यक् ज्ञान हो सकता, इसलिए नि-
विषय पढ़ाना परमावश्यक है ।

साधारण—लम्बाई, क्षेत्रफल, आयतन, तौल
समय के एकांक ; जड़पदार्थ सम्बन्धी सरल
पदार्थ की तीन अवस्थाएँ ; अणु और परमाणु ;
वृद्धि तथा बल का प्रारम्भिक ज्ञान ; साम्य ;
और भार ; गुरुत्वाकर्षण तुला ; गुरुत्वकेन्द्र ;
और उनके भिन्न रूप ; प्रवस का दान ; आर्क-
का सिद्धान्त ; तरना ; घनत्व-आपेक्षिक

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

८५६

विशिष्ट ; घनत्व नापने की रीति ; वायु का दाब ;
बैरोमीटर ; वायु का नियम ; सरल प्रकार के जल ;
तथा वायु पम्प ; साईफन ; अभिसारक दाब ।

ताप—ताप, तापक्रम, ताप का प्रभाव, प्रसार,
अवस्था, परिवर्तन, तापमापक, शरीरतापमापक
ताप की मात्रा, आपेक्षित तथा गुप्त ताप, द्रवणांक,
तथा क्वथनांक, वाष्पीभवन, द्रवीभवन तथा सावण,
बर्फ जमाना और वाष्पदाब, आर्द्रतामापक, मेघ,
वर्षा, ओस, कुहरा, ताप का चालन, वाहन और
विकरण, ताप से यांत्रिक शक्ति की उत्पत्ति ।

प्रकाश—प्रकाश का सरलरेखागमन, छाया, सम-

तल तथा गोलीय दर्पणों से प्रकाश का परिवर्तन,
वास्तविक तथा काल्पनिक प्रतिबिम्ब, निपार्श्व और
लेंसों से प्रकाश का वर्तन, वर्तनांक, प्रकाश सम्बन्धी
साधारण यन्त्र तथा दूरबीन, सूक्ष्मदर्शक, फोटो का
केमरा, चित्रदर्शन लालटेन, नेत्रदृष्टि के दोष और
उनको दूर करने के उपाय, वर्ण, नीललोहितोत्तर
प्रकाश ।

शब्द—शब्द की उत्पत्ति, कम्पन, तीव्रता, स्वर
तथा रूप, वायु में शब्द का गमन और वेग, तरंग-
दैर्घ्य, मनुष्य का कान, अनुनाद, साधारण वाद्यों का
अत्यन्त सामान्य ज्ञान ।

चुम्बकत्व—प्राकृतिक तथा कृत्रिम चुम्बक, चुम्बकीय ध्रुव, चुम्बकीय बल, बलरेखाएँ, दिक्सूचक, पृथ्वी
का चुम्बकत्व उपपादन ।

विद्युत्—घर्षण से विद्युत् की उत्पत्ति, विद्युत्-आवेश के प्रकार, वैद्युत बल, चालक तथा पृथक्कृत्यासक,
वैद्युत् उपपादन, विद्युद्दर्शक, घर्षण, विद्युत्-यन्त्र, तड़ित् और तड़िचालक ।

धारा, वोल्टीय सेल, डेनियल, कलॉश तथा पंचालक सेल, विद्युद्वाहक टैंक, विद्युत् द्वारा चुम्बकीय
प्रभाव, धारामापक, विद्युत्-चुम्बक, तार-प्रेषण तथा टेलीफोन, बिजली की घंटी, प्रतिरोध, चुम्बकीय क्षेत्र में
धारायुक्त चालक का गमन, अम्बीयरमापक तथा वोल्टमापक, विद्युच्चुम्बकीय उपपादन, उपपादन, वेष्टन
डायनमो मोटर के मूल सिद्धान्त, विद्युत् से ताप तथा प्रकाश की उत्पत्ति, विद्युद्विश्लेषण तथा मुलम्मा करना
एक्सकिरण और उसका उपयोग, रेडियम ।

नोट—जहाँ तक हो सके, इस विषय में गणित का प्रयोग कम किया जाय ।

प्रयोगात्मक कार्य

प्रत्येक विद्यार्थी को निम्नलिखित प्रयोग करना चाहिये—

लम्बाई का नाप, आयतन का नाप, तुला-प्रयोग, घन पदार्थों के घनत्व का नाप (आर्कमिडीज के
सिद्धान्त), द्रव पदार्थों के घनत्व का नाप (घनत्व बोतल तथा द्रव घनत्वमापक के द्वारा), सायफन का
उपयोग, ताप के घनों का प्रसार, ताप के द्रवों का प्रसार, द्रवणांक का नाप, क्वथनांक का नाप, प्रकाश-
परिवर्तन की परीक्षा, प्रकाशवर्तन के नियम की परीक्षा, नतोदर दर्पण के नाभ्यन्तर का नाप, चुम्बक बनाना
विद्युत्-दर्शन के द्वारा कुछ सरल प्रयोग, विद्युत्-धारा का चुम्बकीय प्रभाव, विद्युत्-धारा से ताप की उत्पत्ति ।

प्रत्येक विद्यार्थी उपरोक्त प्रयोग करे और क्रियात्मक परीक्षा में उसके वार्षिक क्रियात्मक कार्य के
विवरण पर भी विशेष विचार किया जाय ।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

प्रमाणविज्ञानीय—आयुर्वेदाभिमत प्रमाण-संख्या । सुश्रुतानुमत चतुर्विध प्रमाण (सु० सू० १११६); चरकानुमत चतुर्विध प्रमाण (च. सू. १११७); चरकानुमत त्रिविध प्रमाण (च. वि. अ. ४, च. वि. ८३६); प्रत्यक्ष का लक्षण (च. सू. ११२०, च. वि. अ. ४, च. वि. ८३६; न्यायदर्शन अ. १ आ. १ सू. ४); अनुमान का लक्षण (च. सू. ११२१, २२; च. वि. ४४; च. वि. ४४०); न्याय दर्शन १११५; आगम—आने पदेश और ऐतिह्य का लक्षण (च. वि. १११८१६, च. वि. अ. ४४, न्यायदर्शन १११७); युक्ति का लक्षण (च. सू. ११२३२४); उपमान—औपम्य का लक्षण (च. वि. ४४२, न्यायदर्शन १११६)।

द्रव्यविज्ञानीय—आयुर्वेद में ग्रहण किये गये वैशेषिकानुमत ६ पदार्थ (च. सू. १२८२६, वैशेषिक दर्शन १११४); द्रव्यों का निर्देश (च. सू. १४८, वै. द. १११५); द्रव्यों का लक्षण (च. सू. १५१, वै. द. ११२५); द्रव्यों के भेद—सचेतन और अचेतन (च. सू. १४८); परमात्मा का निरूपण (च. सू. १५६); चिकित्सा शास्त्रोपयुक्त पुरुष, जीवात्मा संयोग पुरुष, कर्म पुरुष, राशि पुरुष, सगुण आत्मा आदि का निरूपण (च. सू. १४६-४७; च. शा. ११६. १७, ३५; सु. सू. १२२; सु. शा. ११६); देहातिरिक्त आत्मा के सद्भाव का निरूपण (च. शा. १४६, ५२); परमात्मा अनादि और तत्त्व तथा कर्म पुरुष (जोव) सादि और अनित्य है (च. शा. १५३, ५६); आत्मा के लक्षण और गुण (च. शा. ७७७४; सु. शा. ११७; न्यायदर्शन ११११०; वै. द. ३२१४); बुद्धि, सत्त्व (मन) और इन्द्रियों के संयोग से आत्मा की ज्ञान में प्रवृत्ति (च. शा. १५४ ५५); चरकमत से सर्ग सृष्टि और प्रलय का निरूपण (च. शा. १६६, ६६); चरकमत से अव्यक्त (क्षेत्रज्ञ, आत्मा) और व्यक्त सृष्टि (प्रकृति) के षड्विकार का निरूपण (च. शा. १६१. ६५); पंचमहाभूत (च. शा. १२७); पंचमहाभूतों का नैसर्गिक गुण (च. शा. १२७); भूतों के अन्य भूतानुवेशकृत गुण (च. शा. १२८); पंचमहाभूतों के लक्षण (च. शा. १२६, ३०); आकाश के धर्म (न्यायदर्शन १२१२२); परमाणुवाद (न्या. द. ४२१६, वै. द. ४१११-१२); पृथ्वीनिरूपण (प्रशस्तपाद द्रव्यग्रन्थ); जलनिरूपण (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); तेजोनिरूपण (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); वायुनिरूपण (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); सृष्टि संहार विधि (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); कालनिरूपण (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); सु. सू. अ. ६; दिशानिरूपण (प्र. पा. द्रव्यग्रन्थ); मनोनिरूपण (मनोविज्ञानोक्त)

गुणविज्ञानीय—गुण लक्षण (च. सू. १५१, वै. द. १११६); गुण संख्या (च. सू. १२१, वै. द. ११११); इन्द्रियार्थ—विषय के पर्याय (च. शा. १३१); शब्दादि गुणों (विषयों) के साधर्म्य और वैधर्म्य का निरूपण (प्र. पा. गुणग्रन्थ); रूपनिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ); रसनिरूपण (च. सू. १६४, प्र. पा. गुणग्रन्थ); गन्धनिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ); स्पर्शननिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ); शब्द निरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ); गुरुत्वनिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ; वै. द. ५११७, ५११८, ५२३२)—गुरु और लघु के सापेक्ष गुण होने से गुरुत्व के निरूपण में लघुत्व के निरूपण का भी समावेश है; स्नेहनिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ); द्रव्यानिरूपण (प्र. पा. भा. गुणग्रन्थ)।

आत्म-निरूपण—आत्मा अनेक हैं (सांख्यकारिका १८), पुरुष के धर्म (सांख्यकारिका १६); गुण

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

८६१

संयोग से प्रकृति में चैतन्य (सांख्यकारिका २०); सृष्टि-निरूपण (सां का० २१, २२); महत्तत्त्व (बुद्धि) का लक्षण और कार्य (सां का० २३); अहंकार (सां का० २४); अहंकार से ११ इन्द्रियों और ५ तन्मात्राओं की उत्पत्ति (सां का० २५); ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ (सां का० २६); मन लक्षण (सां का० २७); इन्द्रियवृत्तियाँ (सां, का. २८); अन्तःकरण की वृत्तियाँ (सां, का. २९); बाह्य और आभ्यन्तर करणवृत्तियाँ एक साथ और क्रम से होती हैं (सां, का. ३०); त्रयोदशविधि करण (सां, का. ३२, ३३); इन्द्रियों के विषय (सां, का. ३४); करणों में अन्तःकरण का प्राधान्य और बाह्य इन्द्रियों का गौणत्व (सां, का. ३५-३७); विशेषों और अविशेषों का निरूपण (सां, का. ३८-३९); लिङ्गशरीर-निरूपण (सां, का. ४१)।

तत्त्वनिरूपण—आयुर्वेद में ग्रहण किये हुए सांख्यानुमत चतुर्विंशति तत्त्व—चरकानुमत चतुर्विंशति तत्त्व (च. शा. १।१७); चरकानुमत अष्टप्रकृति-षोडश विकार (च. शा. १।६३-६४) चरकानुमत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निरूपण (च. शा. १।६५); चरक के मत से सर्वोत्पत्ति और प्रलय का निरूपण (च. शा. १।६६, ६८); सांख्यमत से चतुर्विंशति तत्त्व और सर्गोत्पत्ति का निरूपण (सु. शा. १-३-४); व्यक्त और अव्यक्त का लक्षण-भेद (सां, का. १०, ११); अव्यक्त (मूल प्रकृति) का निरूपण (सु. शा. १-३-४); महत्तत्त्व (बुद्धि) का निरूपण; अहंकार-निरूपण, अहंकार के भेद, अहंकारतत्त्व से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन (सु. शा. १।४) प्रकृति और पुरुष के साधर्म्य-वैधर्म्य तथा कर्म पुरुष का निरूपण (सु. शा. १।१६); तन्मात्राओं का निरूपण, सांख्यानुमत तन्मात्रा तथा वैशेषिक-न्यायानुमत परमाणुओं का अभेद; सत्कार्यवाद (सां, का. १); गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्), उनके गुण और लक्षण (सां, का. १२-१३); अव्यक्त (मूल प्रकृति) से जगत् की उत्पत्ति (सां, का. १५।१६); पुरुष होने में प्रमाण (सां, का. १७)।

आलोच्य ग्रन्थ

पदार्थ विज्ञान—वैद्य रामरक्ष पाठक

आयुर्वेदीयपदार्थविज्ञान—वैद्य रणजितराय

प्रारम्भिक भौतिक विज्ञान—डा० एन० के० सेठी

सांख्यकारिका

वनस्पतिशास्त्र

१—सजीव और निर्जीव का भेद; जीवनमूल (Protoplasm) के विभेदक लक्षण; जन्तुओं और वनस्पतियों में अन्तर।

२—सजीव वनस्पति के शारीरिक यन्त्र की रचना तथा उसके जीवन की विभिन्न क्रियाओं का संक्षिप्त अध्ययन, जिसमें निम्नोक्त वस्तुओं का समावेश होगा :—

(क) मूल, काण्ड, पत्र, पुष्प, व्यूह (Inflorescence), पुष्पडिम्ब (ovule), फल तथा बीज इत्यादि विभिन्न अङ्गों की बाह्य रचना का प्रारम्भिक ज्ञान; बीजादिभेद (Germination) के समय इन विभिन्न भागों की उत्पत्ति और विकास।

(ख) प्रामाणिक, नवजात, वानस्पतिक कोष्ठों की रचना, तन्तुविभाग (Histological Differentiation); तन्तुओं और तन्तुसंस्थानों के भेद; पुष्पवाहक पौधों के मूल, काण्ड तथा पत्र की आन्तरिक रचना ।

(ग) शोषण (Root absorption), जलत्याग, कार्बन एसिमिलेशन, श्वास तथा वृद्धि की वानस्पतिक क्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान; वनस्पतियों की शरीर-रचना तथा उनकी कार्य प्रणाली में पारस्परिक सम्बन्ध ।

(घ) सन्तानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियाओं का प्रारम्भिक ज्ञान; उसकी मैथुनी तथा अमैथुनी विधियाँ, सेचन क्रिया तथा गर्भाधान; इन क्रियाओं के सम्पादन के विभिन्न साधन; फल और बीज की प्रसार विधियाँ ।

३- पुष्पवाहक पौधों के आधुनिक वर्गीकरण के सिद्धान्त; निम्नलिखित वर्गों के विभेदक लक्षण तथा उनकी चिकित्सोपयोगी वनस्पतियों का ज्ञान :—

अतिविषा वर्ग, जम्बीरवर्ग, सर्षप वर्ग, कार्पास वर्ग, शिम्बी वर्ग, एरण्ड वर्ग, मंजिष्ठादि वर्ग, त्रिवृत वर्ग, कण्टकारी वर्ग, कटुकी वर्ग, तुलसी वर्ग, शस्यला वर्ग, पलाण्डु वर्ग, तथागोधूम वर्ग ।

४—विकासवाद—परम्परा प्राप्ति (heredity) सम्बन्धी मेण्डल के सिद्धान्त का प्रारम्भिक ज्ञान ।

क्रियात्मक

१- निम्नोक्त औषधियों की रचनात्मक विशेषताओं का ज्ञान वर्गज्ञान सहित:—

वत्सनाभ, अतिविषा, उपकुञ्जिका (कलौंजी), गुडूची, पाठा, पातालगरुडी, सर्षप, राजिका, चन्द्रशूर मूलकम्, वरुण, हिंसा, करीर, तिलपर्णी (हुरहुर), नागकेसर, पुन्नाग, कार्पास, बलाचतुष्टयम्, जपा, लताकस्तूरी, शाली, मुचुकुन्दः, परुषकम्, धन्वनः, चाक्षुः, तम्बुरुः, निम्बुकम्, बीजपूरक, बिल्व, कपित्थ, गुग्गुलु, शल्लकी, निम्ब, महानिम्ब, तूणी, मांसरोहिणी, कौशाघ्न, भल्लातक, कर्कटशृङ्गी, अपराजिता, जिगिणी, पलाश, मधुयष्टि, गुञ्जा, अगस्त्य जयन्ती, नीली (नील), शणपुष्पी, शालपर्णी, पृष्ठिपर्णी, यवासक, मेथिका, रक्तचन्दनम्, बीजक, करञ्ज, लताकरञ्ज, शिशिपा, भूमि-कूष्माण्ड, कपिकच्छु, पारिभद्र, वाकुची, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शरपुष्पा, कुलथ, कांचनार, अशोक, आरवय, चक्रमर्द, कासमर्द, तिनिश, खदिर, इरमेद, शीरोष, लज्जालु, विभोतक, हरीतकी, अर्जुन, असन, यव, कर्कटो-त्रपु, ऐन्द्री, कटुतुम्बी, कोशातकी, देवदाली, कारवेल्लकम्, पटोल, कूष्माण्ड, बिम्बी, सर्जरस, मण्डूकपर्णी, हिण्डु, शतपुष्पा, मिश्रेया, धान्यकम्, अजमोदा, यवानी, जीरकद्वय, मंजिष्ठा, मदनफल, गन्धप्रसारिणी, भृङ्गराज, पुष्करमूल, कुष्ठ, दमनक, चौरक, छिक्किा, सहदेवी, मुण्डो, आकारकरभ, काण्टकारी, ब्रह्मदण्डी, हिलो-विका, कुटज, सप्तपर्ण, करवीर, अर्क, सर्पवाह्यम्, उत्तरमाराणी, किरात, त्रिवृत, शङ्खपुष्पी, वृद्धदारु, कण्टकारी, वृद्धी, काकमाची, अश्वगन्धा, धत्तूर, पारसीक यवानी, श्योनाक, पाटला, आटरुषक, कोकिलाक्ष, सारेयक, निर्गुण्डो, अरणी, ब्रह्मयष्टिका, गम्भारी, जलपिप्पलिका, तुलसी, द्रोणपुष्पी, मरुवक, अपामार्ग, ताण्डुलीक, मारिष, मरिच, पिप्पली, नागवल्ली, कंकोल, कर्पूर, त्वक्, पत्रम्, एरण्ड, दुग्धिका, सेहुण्ड, जयपाल, इन्दी-कम्पिल्लक, आमलकी, भूम्यामलकी, वटादि क्षीरवृक्ष, चिरबिल्व, लकुच, पनस, शाखोट, भंगा, देवशक

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम

८६३

सरल, तालीशपत्र, हृद्युषा, जीवन्ती, हरिद्रा, कर्चूर, आम्रगन्धि, हरिद्रा, एलाद्वय, शुण्डी, पलाण्डु, रसोत, कुमारी, लाङ्गली, द्वीपान्तरवचा, शतावरी, कुश, काश, शर, नल, उशीर, रोहिष, इक्षु, हंसराज, सुनिषण्णक, मयूरशिखा, शैलेय, शैवाल, छत्रकम्।

द्रव्य की परिभाषा, द्रव्यों के भेद (उद्भिज, खनिज और प्राणिज) ; द्रव्यों की उपयोगिता (तीनों द्रव्यों का वर्गीकरण) ; वनस्पतियों के चार भेद—वनस्पति, वृक्ष, वीरुष और औषधि ; वृक्ष, लता, गुल्म, क्षुभों के अवस्थानुसार वार्षिक, द्विवार्षिक आदि भेद ; मूल, काण्ड, त्वक्, निर्यास, पत्र, पुष्प और फल के भेद से वनस्पतियों के जातिभेद ; उद्भिज्ज द्रव्यों के अवयव-विशेषों की शारीरिक रचना के आधार पर जाति-भेद ; साधारण, आनूप और जांगल भेद से वनस्पतियों के भेद और गुण ; जलीय और स्थलीय वनस्पतियों के वर्गीकरण ; ऋतुओं का वनस्पतियों पर प्रभाव ; पराश्रयी वनस्पतियों का विशेष ज्ञान ; इनके पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि की रचना और आकृति के अनुसार इनका वर्गीकरण ; शाहारी तथा मांसाहारी वनस्पतियों का परिचय तथा वर्गीकरण ; वनस्पतियों के उत्पत्ति के भेद तथा उसके कारण ; काण्डरुहा, अकुर-रुहा, मूलरुहा, बीज रुहा, पत्ररुहा और छिन्नरुहा आदि का परिचय और ज्ञान ; तैलोत्पादक वनस्पतियों के विशेष वर्गीकरण ।

क्रियात्मक परीक्षा में विद्यार्थी द्वारा किए हुए वार्षिक क्रियात्मक काय के विवरण पर भी विचार किया जायगा ।

आलोच्य ग्रन्थ

द्रव्यगुण विज्ञान (दोनों भाग)—वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

वनौषधि दर्पण

निघण्टु आदर्श

वनस्पति शास्त्र—ठा० बलवन्त सिंह एम० एस० सी०

जन्तु-शास्त्र

जन्तुशास्त्र की परिभाषा तथा विषयक्षेत्र ; जीवनमूल के गुण, चैतन्यकोष्ठ की रचना ; कोष्ठ विभाजन तथा लौकिक कोष्ठों की उत्पत्ति, संयोग और गर्भाधान ; जन्तुओं की रचना तथा कार्य ; सजीव तथा निर्जीव पदार्थ ।

सजीवों की विशेषताएँ ; एक कोष्ठ से बहुकोष्ठीय शरीर की उत्पत्ति ; जीव और यन्त्र की तुलना (Performation and epigenesis) ; विशिष्टोत्पत्तिवाद (Spontaneous creation) ; जीवन-जाल (The web of life) ; सजीव सृष्टि में संतुलन (The balance of life) ; जीवन संप्राम ; योग्यता की रक्षा ; प्रकृति तथा परिस्थिति (Nature and nurture) ; प्राणी का इतिहास ; अटूट बोर्यरज प्रवाह ।

मेढ़क की शरीर-रचना, अस्थिपंजर तथा विभिन्न अंगों की क्रिया ; मेढ़क के जीवनचक्र की विभिन्न घटनाएँ ; प्रोटोजोआ ; अमीबा की शरीर-रचना तथा जीवन का इतिहास, अमीबा-हिस्टोलिटिका ; तथा मलेरिया-कीटाणु के जीवनचक्र का संक्षिप्त इतिहास ।

जन्तुसंसार का वर्गीकरण ; उसकी विभिन्न भेणियों के विभेदक लक्षण ; स्तनधारी जन्तुओं के लक्षण ।

क्रियात्मक

पाठ्यक्रम में आये हुए जन्तुओं का विच्छेद तथा उनका वर्णन ।

क्रियात्मक परीक्षा में विद्यार्थी द्वारा किये हुए वार्षिक क्रियात्मक काय के विवरण पर विशेष विचार किया जाय ।

आलोच्य ग्रन्थ

जन्तु—इलाहाबाद एकेडेमी द्वारा प्रकाशित—

Flora and Fauna of India. Published by Govt of India.

चरक, सुश्रुत, वाग्भट और भावप्रकाश का मांसवर्ग

द्रव्यगुण-शास्त्र

द्रव्यों की औषधों में उपयोगिता ; औषधि ग्रहण करने योग्य स्थान और ग्रहण करने की विधियाँ ; औषधियों को सुरक्षित रखने की अनेक विधियाँ ; द्रव्यों की उत्तमता की परीक्षा ; स्वभावतया हितकारी द्रव्य ; संयोगविरुद्ध द्रव्य ; भेषजग्रहण संकेत ; औषधियों के प्रतिनिधि ग्रहण करने के नियम ; द्रव्यों के बीस गुण ; औषध द्रव्यों में दीपन, पाचन आदि गुणों की परिभाषा ; द्रव्यों में षड्सों (मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय) का अस्तित्व, रसों की उत्पत्ति का ज्ञान ; रसों का परिचय ; रसों के गुण-अवगुण और उनके अपवाद ; रसों के अतियोग का परिणाम ; रसों के गुण ; रसों का ऊर्ध्वगमन आदि प्रभाव ; द्रव्यों के रेचन आदि गुणों का परिचय ; द्रव्यों के उष्ण, शीत आदि वीर्यों की क्रियाओं का विवरण ; द्रव्यों के प्रभाव का विवरण ; विचित्र प्रत्ययारब्धकारी प्रभाव ; चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट में वर्णित गुण तथा उनका शरीर पर प्रभाव ।

जलवर्ग—जल के साधारण गुण ; देशकालानुसार जल की परीक्षा ; गांग, सामुद्र, ऐन्द्र, आर्तव, अनर्तव और दूषित जल के लक्षणाँ एवं दूषित करने वाले द्रव्यों तथा कारणों का ज्ञान ; कूप, तड़ाग आदि के जांगल, आनूप और शैल-जलों के विवरण ; हंसोदक, क्वथितोदक, व्यूषित, नारिकेलोदक का विवरण ; जलों की प्राचीन और अर्वाचीन परीक्षा ।

दुग्धवर्ग—दूध के साधारण गुण ; गव्य, माहिष, आज, औष्ट्र, मानुष, आविक, हस्तिना, बाइब और गर्दभी-दुग्ध का विशेष ज्ञान ; धारोष्ण, क्वथित और क्वथित-शीतल दुग्धके गुण ; विकृत और अविकृत दूध की प्राचीन और अर्वाचीन परीक्षाएँ ; अविकृत और विकृत दधि, नवनीत, क्षीरोद्धव नवनीत और घृत के लक्षण और परीक्षाएँ ; पशुभेद से इनके गुणावगुण का विवरण ; तक्र के भेद और उसके गुण ।

तैलवर्ग—तैल के साधारण गुण ; तैलजातियाँ, विशेषतया—तिल, मूँगफली, जैपाल, बादाम, तारपीन, सरसों, अलसी, एरण्ड, आक्ष, कुसुम्भ, कार्पासबीज, नारिकेल, मधूकबीज, इलायची, लौंग, गन्धक (Eucalyptus oil), चन्दन, शीत उचोती, वाकुची, तुवरक, निम्ब, जम्बीर, गन्धवृण (Lemon grass), जैतून, राजिका, ज्योतिष्मती, पूतिकरंज, अजमोद, पोदिका (Peppermint), अलाबू, काहू, चमेली आदि तैलों और इन्हों का ज्ञान और पहचान ।

Volatile oil—Turpentine, Myrrh, Eucalyptus, Cajuputi, Mustard, Casium, Asafoetida, Valerian, Carryophyllum, Cardamon Dill, Cinnamon, Peppermint, Zingiber, Camphor, Mentha, Thymol. & other oils.

नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

६—छात्रोपयोगी निदान चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

चिकित्सा—

पाण्डुरोगी साध्य हो तो विभिन्न घृतों से स्नेहन कराके तीक्ष्ण वमन-विरेचन करावे। सामान्यतः हरीतकी के योग पर्याप्त होते हैं। स्नेहन घृतों में पञ्चगव्य, महात्तिक तथा कल्याणक घृत उत्तम हैं। इनके अभाव में कटुकी के योग, यथा अभया और नवसार-सहित कटुकी आदि दें। सभी योगों में हरिद्रा तथा दाहहरिद्रा मिश्रित करके देना पाण्डु तथा कोष्ठशाखाश्रित कामला में बहुत गुणकारी है। पाण्डु तथा कोष्ठशाखाश्रित कामला में घृत और तिक्त द्रव्यों और विरेचन का विधान इस लिये है कि इनमें पित्त का प्राधान्य होता है। ऊपर के योगों के अतिरिक्त दन्ती, त्रिवृत्, द्राक्षा, आरग्वध, इन्द्रवाहणी, त्रिफला, स्वर्णक्षीरी, आदि के योग दिये जा सकते हैं। जलोदर के समान पाण्डुरोग में भी सहसा (एक साथ) वमन-विरेचन द्वारा संपूर्ण दोषों को न निकाल दे। अन्यथा, दोषों के अति और सहसा निकल जाने से सर्वाङ्गशोथ हो जाता है।

सभी पाण्डुरोगियों में विरेचन के सिवाय गोमूत्र और मण्डूर का निरन्तर सेवन प्रधान उपाय है। इस दृष्टि से पुनर्नवामण्डूर, मधुमण्डूर (मण्डूर, लोह, चित्रक, विडङ्ग, हरीतकी, त्रिकटु; माक्षिक सर्वसम; गोमूत्र की भावना; मधु के साथ अवलेह), नवायस तथा कालमेघ नवायस लोह का व्यवहार वैद्यों में बहुत प्रचलित है। योगराज (शिलाजतु, माक्षिक, लोह, चित्रक आदि; मात्रा ६-१२ रत्ती) तथा मण्डूरवटक का भी व्यवहार होता है। पाण्डुरोग में विहित योगों में चित्रक, शुण्ठी आदि लेखन और कफद्रव्य भी होने से इन योगों के सेवन से पाचक और रज्जक पित्तों का क्षरण उत्तम होता है। स्रोतों का

अवरोध दूर होने से रस का शोषण भी सम्यक् होता है। इससे रस-रक्त की वृद्धि होकर पाण्डुरोग शान्त होता है। उल्लिखित योगों में पुनर्नवामण्डूर में मल-मूत्र विरेचक द्रव्य होने के कारण इसका प्रयोग शोथयुक्त पाण्डुरोग में विशेष किया जाता है। नवायस लोह के पाठ में लोह होने पर भी गुरुपरम्परा से मण्डूर ही डालने का प्रचार है। कालमेघ-नवायस वच्चों के पाण्डुरोग में विशेषतः दिया जाता है। शोथाधिकारोक्त आरोग्यवर्धिनी में ताम्र होनेसे वह, पुनर्नवा-एक काथ के अनुपान से पाण्डुरोग में तथा कटुरोहिणी विशेष प्रमाण में होने से कामला में गुणकारिणी है।

पाण्डुरोग तथा कामला में ज्वर, वमन, आघ्रमान, कास, तृषा, दाह आदि उपसर्ग हों तो तत्तदधिकारोक्त औषधों का उपयोग साथ-साथ करे। इन रोगों में उपद्रवभूत शोथ होता है। वह पाण्डुरोग के उपर्युक्त योगों (पुनर्नवामण्डूर, नवायसलोह, पञ्चामृतलोहमण्डूर) से ही हट जाता है। पाण्डुरोगी के अतिसार में भी इनसे लाभ होता है। परन्तु आवश्यकता हो तो उसके लिए अन्य योगों का उपयोग करे। सभी पाण्डुरोगों में दोषभेद से द्रव्यभेद करे। यथा, वात में स्नेह, पित्त में तिक्त-शीत और कफ में तिक्त-कटु-उष्ण द्रव्यों का व्यवहार विशेष करे।

मृद्वक्षणजन्य पाण्डु में वमन-विरेचन द्वारा मृत्तिका का शोधन करे। पश्चात् दीपन-पाचन द्रव्यों के साथ लोह और मण्डूर के योग दे। संप्रति वैद्य मृद्वारशृङ्ग (मुद्रासंग) का प्रयोग इसके लिए सिद्ध बताते हैं। तुगाक्षीरी (वंशलोचन) मृत्तिका-भक्षण की इच्छा दूर करने में उत्तम मानी जाती है।

विरेचन के पश्चात् पाण्डु तथा कामला रोगी को हितकर

१—यह विषय विशेष समझने के लिए देखिये—

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

अन्न ; यथा पुराने शालि, यव, गोधूम, मुद्ग, मसूर और तुवर के चूप, जाङ्गल रस दे। रज्जक पित्त का आश्रय होने से यकृत का रस पाण्डुरोग में अत्यधिक गुणकारी है^१। कई वैद्य इन रोगों में तक्र का पुष्कल सेवन कराते हैं। विबन्ध न हो और सात्त्व्य हो तो यह उत्तम है।

शाखाश्रित कामला की चिकित्सा—

शाखाश्रित कामला में पित्त कफ से आवृत होता है। अतः उसके पाचन, लेखन और निर्हरण के लिए जब तक पुरीष में पित्त का रज्ज न आ जाय और वायु की शान्ति न हो जाय तब तक (आपित्तरागात् शकृतः वायोश्चाप्रशमात्—च० चि० १६।१३१) कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और अम्ल उपचार करें। यथा, शर्करासहित त्रिवृत्, गुड और शुण्ठीसहित इन्द्रवाहणी दें। कटुरोहिणी, अभया और नवसार का व्यवहार सांप्रतिक वैद्य प्रायः करते हैं। देवदाली (बंदाल) के रस का नस्य लेने से नासिका द्वारा पीत द्रव का पुष्कल स्राव होकर कामला नष्ट होता है^२। दही के साथ पापड़खार देना भी सिद्ध उपचार है। शिशुपत्र-स्वरस भी कई वैद्य व्यवहार में लाते हैं। चूना भी गुड के साथ मिलाकर दिया जाता है^३। द्रोणपुष्पीस्वरस अथवा गेरू, हरिद्रा और आमला का अञ्जन नेत्रों की पीतता दूर करने में उत्तम माना जाता है। (स्मरण रहे, कई पुरुषों में जन्म से ही यत्किंचित् पीतता से लेकर हरिद्रा-वर्ण-पर्यन्त पीतता देखी जाती है, पर कोई विकार नहीं होता)।

प्रारम्भ में ही पित्त के निर्हरण और रक्त की वृद्धि को लक्ष्य में रखकर पाण्डु के समान कामला में भी गोमूत्र और

१—यकृत तथा अन्य जाङ्गम द्रव्यों का सेवन छूट जाने से वैद्यों के औषधोपचार पर बहुत अनिष्ट प्रभाव हुआ है। अब भी जो वैद्य रस आदि के रूप में इन द्रव्यों का सेवन रोगियों को कराते हैं वे विशेष यशस्वी हुए देखे जाते हैं।

२—बंदाल के प्रयोग पर एक डॉक्टर का अनुभवपूत लेख इसी अङ्क में देखिये।

३—कामला में कहरबा या गिलोय की माला गुणकारी बतायी जाती है। कोई मन्त्र से भी कामला दूर करते हैं। कई चूने के पानी से भरी थाली में रोगी के हाथ रखवा उन पर मन्त्रोच्चार-सहित अपने हाथ फेरते हैं। ऐसा करने से चूने के पानी में त्वचा से पीला अंश जाकर कुछ दिन में कामला दूर होता है।

मण्डूर का छूट से उपयोग करना चाहिए। सुवर्णमाक्षिक दे सकते हैं। मण्डूर के साथ गुडचीसत्त्व का पाठ उत्तम है।

आहार में मक्खन-निकाला तक्र और भात तथा तक्र का रस; कच्चे नारियल का रस आदि मृदुल द्रव्य दे। तक्र के पत्ते कामला में अति प्रशस्त हैं। ज्वर आदि उपद्रव हो तो उनकी भी चिकित्सा करे।

हलीमक में गुडची-स्वरस और त्रिवृत् देकर विष और पित्त का शोधन करावे। पश्चात् पित्त और वात के शमन के लिए मधुरप्राय आहारौषध दे। अगस्त्यहरीतकी का देर तक सेवन करावे।

अतिसार-प्रवाहिका

लक्षण तथा संप्राप्ति—

शरीरान्तर्गत जलधातु (रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त, रक्तादि का द्रवांश) अन्तराग्नि (जठराग्नि) को मार करके, वायु की प्रेरणा से अति मात्रा में सरण नाम (गाने) पुरीष-सहित गुदमार्ग से गमन करता है। इस व्याधि को अति (ती) सार कहते हैं।

भेद—

पृथक् दोषों से तीन, सन्निपात से एक, भय-शोक तथा आम से एक-एक—इस प्रकार छः प्रकार का अतिसार होता है। पित्तज का ही एक भेद रक्तातिसार है।

चिकित्सोपयोगी भेद—

चिकित्सा में अतिसार की दो स्थितियाँ मुख्यतः होती जाती हैं—आम तथा पक्व। आमातिसार पृथक् भी होता है। सभी अतिसार प्रथम आम होते हैं, पीछे जीर्ण होते पक्व हो जाते हैं।

निदान—

यद्यपि प्रत्येक भेद का पृथक् निदान है, तथापि अतिसार का सामान्य निदान (कारण) यह है : मात्रा, प्रकृति और दृष्टि से गुरु, अति स्निग्ध, रुक्ष, उष्ण, द्रव, सख्त (सूक्ष्म-विपरीत, महास्रोत आदि स्रोतों में जिसका स्रोत मन्दता से हो), स्पर्श तथा वीर्य में अति शीत, विषम असात्त्व्य भोजन; अध्यशन, विभिन्न अजीर्ण; स्नेह

१—च० चि० अ० १९; सु० उ० अ० ४०; नि० ८।१-१४; माधवनिदान-अतिसार (निदान)

कर्मों का मिथ्या या अति योग; विष, भय, शोक, दुष्ट जल^१, अति मद्य, सात्त्विक ऋतु का सहसा परिवर्तन, अति जल-क्रीडा, वेगावरोध, कृमि-विकार, अति जलपान, अर्शस् । बालकों में दन्तोद्गम का भी इन कारणों में समावेश किया जा सकता है । नाभि-स्खलन (नाभि खिसक जाना) की भी गणना अतिसार के कारणों में करनी चाहिए ।^२

पूर्वरूप—

हृदय, नाभि, गुद, उदर और कुक्षि में तोड़ :—अङ्गसाद वात तथा मल का अवरोध, आध्मान, अजीर्ण ।

आने को करती है । उसके दबाव से समूचा पेट उभर कर उसका कुछ अंश प्याले में उठ आता है । इससे स्खलित हुआ स्पन्दन भी निज स्थान पर आ जाता है । 'कपिंग' के लिए दिये के स्थान पर प्याले में थोड़ी 'स्पिरिट' चुपड़ उसे जला देते हैं । वह बुझने को हो कि नाभि पर रख देते हैं । इससे भी उसी प्रकार क्रिया होती है ।

कई नाभि बैठानेवाले पैरों के अंगूठे खींचते हैं । कई रोगी के पैरों को सीधा फैला, घुटनों को उठने न देते हुए रोगी का माथा घुटने पर लगाने को कहते हैं । कई अपनी अंगुलियों से ही दबा-दबाकर (सूतकर) च्युत स्पन्दन को योग्य स्थान पर ले आते हैं । मैं पिछला प्रकार काम में लाता हूँ ।

मैं समझता हूँ, स्पन्दन के च्युत होने का अनुभव तो लक्षण-मात्र है, वास्तविक च्युति (अथवा खंस—अत्यल्प मात्र स्थान-भ्रंश, जैसा कि कभी-कभी मटका लगने से जाँघ की मांस-पेशियों के एक-दूसरे पर चढ़ जाने से होता है, जिससे तीव्र वेदना होती है; जो हाथ से पेशी को बैठा देने से दूर होती है । खंस वातकृत रोग है) तो अन्तर्गत अन्त्रों की होती है । अन्त्रों के स्खलन से उनमें स्थित नाडी-सूत्र (Nerve-plexuses नर्व-प्लेक्सस) क्षुभित (Irritated-इरिटेटेड) होते हैं । परिणतया, उनकी क्रिया भी विषम होकर उक्त रोग होते हैं । अन्त्रों के स्खलन से संलग्न महाधमनी (Abdominal aorta—एब्डॉमिनल एओर्टा) स्खलित होकर तत्-तत् स्थल पर स्पर्शगम्य होता है । तत्-तत् उपचार से अन्त्र स्वस्थान पर आने से नाडी-सूत्रों का क्षोभ शान्त होता है; साथ ही धमनी भी स्वास्थान पर आकर स्पन्दन यथास्थान प्रतीत होता है । उक्त सब उपचारों में अन्तरवयव दब कर अपने प्राकृत स्थान पर आते हैं ।

सामान्यतया स्नायु-सूत्रों से सभी अवयव अपने-अपने स्थान पर सुबद्ध होते हैं । कभी उनके शैथिल्य से इनका खंस होता है । स्नायु-सूत्रों तथा मांस-सूत्रों का यह शैथिल्य कुलज भी होता है । यथा, माता को मांस-सूत्रों के शिथिल होने से उसका सबसे दुर्बल हुआ अंग गर्भाशय या योनि स्थान-भ्रष्ट होता हो तो बच्चों में गुदभ्रंश (बच्चे को विबन्ध के कारण

१—इसमें विपूचकादि प्रस्त रोगियों के मल के संपर्कवश दूषित जल का भी अन्तर्भाव करना चाहिए । नवीन स्वस्थ वृत्त में इसका विस्तार है ।

२—नाभिस्खलन—उपलब्ध आयुर्वेदीय बाह्यमय या अन्य पद्धतियों के ग्रन्थों में इस निदान का वर्णन न होने पर भी व्यवहार में यह विकार देखा जाता है । विकार यदि कोष्ठ में वायु के संचय-वश हुआ हो तो उसके निर्हरण के लिए दिये गये वातानुलोमन औषधों के अतिरिक्त अन्य औषध इसमें सफल नहीं होते । स्थान-च्युत हुए स्पन्दन को यथास्थान लानेपर विकार स्वयं नष्ट हो जाता है ।

सामान्य अवस्था में नाभि पर नाडी-परीक्षा की विधि से परीक्षा करें तो स्पन्दन ठीक नाभि के नीचे स्पर्शगम्य होता है । स्खलन होने पर यह कभी इस स्थान से नीचे, कभी ऊपर और कभी वाम या दक्षिण ओर (तिर्यक्) होता है । स्पन्दन ऊपर हो तो वमन, नीचे हो तो अतिसार और तिर्यक् हो तो दोनों होते हैं । सब स्थितियों में वेदना समान लक्षण होता है । च्युति का कारण आघात, पतन किंवा कोष्ठ में वात का संचय और स्वैर (स्वच्छन्द) गमन कहा जाता है । च्युत स्पन्दन को स्वस्थान पर लाने के लिए स्थूल उपचार किये जाते हैं; कोई मन्त्र से भी नाभि को बैठाते हैं । मन्त्रवित्त बहुधा रोगी को देखे बिना ही उसके कारण (आघातादि, किंवा वात-प्रकोप) का निदान कर तदनुरूप उपचार करते हैं । वायु का प्रकोप कारण हो तो वातानुलोमन द्रव्यों का आभ्यन्तर तथा बाह्य (उदर पर लेप के रूप में) सेवन करने की सलाह देते हैं । 'कपिंग' (Cupping) भी कराया जाता है । इसमें नाभि पर छोटा-सा दिया जलता रखते हैं । उजाला की उष्णता से स्थानीय वायु विरल (पतली) हो जाती है—कोष्ठगत वायु की अपेक्षा उसका दबाव न्यून हो जाता है । एकाध मिनट पीछे दिये के ऊपर छोटा-सा प्याला (कप, प्रायः काच का) रखते हैं । कोष्ठगत वायु भौतिक-शास्त्र के नियमानुसार—आभ्यन्तर और बाह्य वायुओं का दबाव सम करने के प्रयोजन से—बाहर की ओर

अतिसारों के लक्षण —

आमातिसार—इसमें दोषों के आम तथा गुरु होने से पुरीष जल में डूबनेवाला, अतिदुर्गन्धयुक्त तथा अल्पाल्प (टूट-टूटकर प्रवृत्त) होता है। कफातिसार में मल पक्क हो तो भी कफ के गौरव के कारण जल में डूबता है। प्रश्न-परीक्षा में मल के दुर्गन्ध को ही स्मरण रखना चाहिए। आमातिसार में दोष आमाजीर्ण के कारण कुपित हो कोष्ठ को क्षुब्धित करते हैं तथा अन्नपान-सहित अनेक वर्ण के पुरीष की बार-बार, स-शूल और कठिनाई से प्रवृत्ति कराते हैं। सामान्यतया सभी अतिसार पहले साम होते हैं।

वातातिसार—इसमें पुरीष बार-बार, अल्पाल्प, शब्द, शूल और फेनसहित, रूक्ष और श्याव होता है; तथा मूत्रावरोध, अन्त्रकृजन, गुदभ्रंश; कटि, ऊरु (जाँघ) तथा जंघा (अधःशाखा का घुटने से नीचे का भाग) में शैथिल्य होता है।

आम वातातिसार—इसमें पुरीष विजल (पिच्छिल; चिकने पानी-जैसा)^१, विप्लुत (द्रवाधिक होने के कारण प्रसरण-शील), अवसादी (भूमि में अधिकांश शोषित हो जानेवाला)^२; रूक्ष, द्रव, स-शूल, आमगन्धयुक्त, अल्प-शब्दयुक्त किंवा शब्दहीन होता है। मूत्र और वात की प्रवृत्ति नहीं होती। वायु कोष्ठ में बद्ध (अवरुद्ध) होकर शब्द और शूल सहित तिर्यक् (न मुख की दिशा में, न गुद की दिशा में—न उद्गार, न अधोवातप्रवृत्ति के रूप में निर्गमनोन्मुख) संचार करता है।

पक्क वातातिसार—इसमें पुरीष पक्क, विबद्ध, थोड़ा-थोड़ा; शूल, फेन, पिच्छा (चिकने छिछड़े) तथा परिकर्तिका (कैची से काटे जाने की-सी वेदना) और बीच-बीच में

प्रवाहण-काँखना-करना पड़े तो) या चरण-वैकल्य (Flat-Foot—पैर की नीचे की मेहराब उतनी गोल न होकर चपटी होना; यदि बच्चेको बहुत काल खड़ा रहना पड़े तो) आदि होते हैं। बच्चों में ये विकार संनिष्कृत कारण (विबन्ध, व्यवसाय-वश देर तक खड़ा रहना आदि) न होने पर भी होते हैं।

आधुनिक शल्यशास्त्र में यों कोष्ठाङ्ग-स्खलन (Viscero-ptosis—विसरोप्टोसिस) एक पृथक् रोग है पर उसमें स्थानच्युति निर्विवाद और अति स्पष्ट होती है।

१—विजलं क्लिन्नोदकप्रायम्—इन्दु।

२—अवसादी भूमौ पतितं लीनं भवति।

प्रथित (गाँठोंवाला) होता है। रोगी रोमाञ्चित, निम्न-युक्त, शुष्कमुख; कटि, ऊरु, त्रिक, जानु, घृष्ट तथा पादों से पीडित और गुदभ्रंशयुक्त होता है। गाँठोंवाले को 'अनुगन्धिक' कहते हैं।

पित्तातिसार—इसमें पुरीष अति दुर्गन्धयुक्त, उप-वेगयुक्त, मांसोदक-सदृश, फटा हुआ (भिन्न), अति तीक्ष्ण पीत (हरिद्रा-वर्ण), हरित, नील, कृष्ण या किञ्चित् रक्त (रक्त-पित्तयुक्त) होता है। रोगी स्वेद, तृष्णा, मूत्र-सर्वाङ्गदाह, गुदपाक, गुददाह और ज्वर से आक्रान्त होता है।

रक्तातिसार—पित्तातिसार का उपचार न होने पर तथा रोगी पित्तल आहार-विहार का रूपावस्था में या उसके पूर्व भी अति सेवन करे तो रक्तातिसार होता है। इसमें तृष्णा, शूल, विदाह और गुदपाक होते हैं।

कफातिसार—इसमें पुरीष स्निग्ध, श्वेत, तनुमान, पिच्छिल, सान्द्र (घन), गुरु (पानी में डूबनेवाला), कफयुक्त, विस्त्र (कोथ की गन्धवाला), शीत, शब्दहीन, थोड़ा-थोड़ा, बार-बार, शूल और प्रवाहण (जोर लगा-काँखना) युक्त होता है। मलोत्सर्ग होने पर भी वेग के आशङ्का होती है। रोगी तन्द्रा, निद्रा; उदर, गुद, बहि और वङ्क्षण में गौरव; उत्क्लेश (मिचली), सति (शैथिल्य), अन्नद्वेष और रोमाञ्च युक्त होता है।^१

सान्निपातिक अतिसार—इसमें सभी दोषों के लक्षण होते हैं। पुरीष अनेक वर्ण का, वराह के मेद या मन्त्रा मांसोदक के समान होता है। रोगी तन्द्रा, मोह (मूर्खता), मुखशोष और तृषा से पीडित होता है। यह कष्टदायक है। बालक तथा वृद्ध में असाध्य है। आगे कहे असाध्य अतिसार के लक्षण सान्निपातिक अतिसार के ही हैं।^२

अभय-शोकातिसार—ये आगन्तु मानस अतिसार हैं।

१—नव्य मत से तुलना करने से कफातिसार प्रोटीन युक्त (कफ के समान शरीर पोषक) द्रव्यों के अतिसेवन से तथा वातातिसार कार्बोहाइड्रेटों के अतिसेवन से हुए अतिसार से साम्य रखता है। तदनुसार चिकित्सा में निदान प्रोटीन या कार्बोहाइड्रेट का वर्जन और प्राणधारणार्थ द्रव्यों का मात्रावत् सेवन कराना चाहिए।

२—चरक ने सान्निपातिक अतिसार के लक्षण विस्तार से दिये हैं। उनमें तथा असाध्य अतिसार के लक्षणों में देखा जा सकता है।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

८६९

इनमें भय और शोक से वायु^१ प्रकुपित होता है, जिससे वातातिसार के चिह्न उत्पन्न होते हैं। शोक से आविष्ट पुरुष यों भी अल्प भोजन करता है, उसके अश्रु कोष्ठ में प्रविष्ट हो अग्नि को मन्द तथा रक्त को क्षुब्धित करते हैं। इससे गुप्ता के समान रक्त पुरीष के सहित या बिना, गन्धसहित या उसके बिना कठिनाई से निकलता है। यह कृच्छ्रसाध्य है।

अतिसार की निवृत्ति के लक्षण^२—

जब मूत्रोत्सर्ग के बिना भी हो (होना संभव हो), वायु भी पुरीष के बिना निकले एवं अग्नि दीप्त और कोष्ठ लघु हो जाय तो संभ्रमों, अतिसार शान्त हो गया है।

साध्यासाध्यता—

यदि अतिसार में पुरीष, विभिन्न धातुओं के निकलने के कारण, पके जामुन, यकृत-खण्ड अथवा घी, तेल, वसा, मज्जा, वेसवार (शोरवा), दूध, दही, मधु या मांस के धोवन के समान हो—अर्थात् (अतिसार पित्त-जनित न हो तो भी) काला-नीला; अरुण-वर्ण का; मेचक (रुक्ष-कृष्ण), या स्निग्ध और चितकवरा (कर्बुर); चन्द्रिकाओं या रेखाओं से व्याप्त, तनु (पतला) या सान्द्र (घन); शव की गन्धवाला तथा शीत, मस्तिष्क-सदृश, मज्जिष्ठा-सदृश, अजून के समान, पूय के समान, कर्दम (कीचड़) सदृश तथा उष्ण, अत्यधिक और सड़ा हुआ (कुथित)—इनमें एक या अनेक, प्रकार का हो एवं रोगी तृष्णा, दाह तम, श्वास, हिक्का पार्वशूल, अस्थिशूल, मूर्च्छा, अरति, मोह, गुदबलिपाक और प्रलाप से पीडित हो तो रोग असाध्य मानें। यह स्वरूप सान्निपातिक अतिसार में होता है।

२—रोगी की गुदा (गुद-गत छुपर-पेशी)^३ शिथिल हो गयी हो, रोगी क्षीण (उत्साह, बल और उपचय से रहित), अति आध्मान और उपद्रव-युक्त हो, गुदपाक हो गया हो तथा ऊष्मा नष्ट हो गया हो (शरीर ठंडा पड़ गया हो) तो रोग असाध्य समझें।

३—रोगी श्वास, शूल, ज्वर और पिपासा से पीडित, क्षीण (उत्साहादिरहित) हो, विशेष कर वृद्ध हो^४ तो अतिसार असाध्य होता है।

१—अन्त्रों की अपकर्षणी गति का कारणभूत वायु।

२—सु० उ० ४०।१६२। ३—Sphincter—स्फिक्टर।

४—वृद्धों के अतिसार को इसी लिए एंलोपेथी में पृथक् नाम दिया है—Senile diarrhoea—सिनाईल डायरिया।

४—रोगी शोथ, शूल, ज्वर, तृष्णा, श्वास, अरुचि, वमन, मूर्च्छा और हिक्का से युक्त हो तो रोग असाध्य होता है।

ज्वरातिसार—

ज्वर तथा अतिसार के निदानों से दोनों रोग साथ ही उत्पन्न हो तो रोग को ज्वरातिसार नाम दिया जाता है।

प्रवाहिका—

यह अतिसार का ही एक भेद है।^१ अहिताहार के कारण जब वायु वृद्धि को प्राप्त होकर संचित कफ, पित्त या रक्त को मल-सहित, अल्प या प्रभूत मात्रा में तथा प्रवाहण (काँखना, बल करना) के साथ गुद-मार्ग से बाहर निकलता है तो इस रोग को प्रवाहिका कहते हैं। (जैसा कि नाम से सूचित है, इस रोग में प्रवाहण नियत लक्षण है। स्रोतों की दृष्टि के कारण मलप्रवृत्ति का बार-बार और प्रायः मिथ्या वेग होता है। साथ मल, कफ या रक्त की प्रवृत्ति होती है या नहीं भी होती—और हो तो उनकी मात्रा में तर-तम-भाव न्यूनाधिकता होता है।)

भेद—

प्रवाहिका वात, पित्त, कफ और रक्त भेद से चार प्रकार की होती है। वातप्रधान या रुक्षज प्रवाहिका में शूल विशेष होता है; कफप्रधान या स्नेहज प्रवाहिका में कफ; पित्तप्रधान या तीक्ष्णोष्णज में दाह और रक्तज में रक्त का निर्गमन विशेष होता है। चिकित्सा-क्रम में अतिसार के समान प्रवाहिका के भी आम और पक्के दो भेद किये जाते हैं।

अतिसार तथा प्रवाहिका की चिकित्सा^२—

आम-पक्कमं हित्वा नातिसारे क्रिया यतः।

अतः सर्वेऽतिसारास्तु ज्ञेयाः पक्कामलक्षणैः॥

सु० उ० ४०।२४

१—‘प्रवाहिका अतिसार का ही एक भेद है’ यह तथ्य आगे ग्रहणी के लक्षण को समझने में उपयोगी होगा। बहुधा उपेक्षित प्रवाहिका ग्रहणी रोग में परिणत हो जाती है। ग्रहणी के लक्षण—‘अतीसारे निवृत्तेऽपि’ इत्यादि में केवल अतिसार शब्द पठित है। उससे प्रवाहिका का भी ग्रहण करना चाहिए।

२—च० चि० १९।१—१२७; सु० उ० ४०।२४—१६२; अ० ह० चि० ८।१—१२४।

न तु संग्रहणं दद्यात् पूर्वमासातिसारिणे ॥

च० चि० १९१९

—अर्थात् निदान-भेद से अतिसार और प्रवाहिका के अनेक भेद होने पर भी चिकित्सा में तो उनके दो ही भेद मुख्यतः लक्ष्य में रखे जाते हैं—आम और पक्व। जैसा कि ऊपर कह आये हैं, आमावस्था में मल दुर्गन्धयुक्त होता है और जल में डूब जाता है, पक्वावस्था में नहीं। आम में वेदना अधिक होती है। आमावस्था में, जब कि दोष-भेद से आहार का अपूर्ण पाक होने से आम, विदग्ध, विष्टब्ध या रसशेषाजीर्ण होता है तथा परिणाम में अतिसार होता है उस काल स्तम्भन (संग्राही) औषध सामान्यतया न दें। विपूचिका-जैसी आत्ययिक अवस्था में यह नियम नहीं। वहाँ प्रतिरोधक चिकित्सा ही करनी चाहिए। शेष अतिसारों में स्तम्भन चिकित्सा से दोष विबद्ध होकर ग्रहणीरोग, शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, हृद्ग्रह, उदर, ज्वर, आध्मान आदि रोग होते हैं। अतः संग्रहण न करके उल्टे दोष तथा अजीर्ण (न पचे हुए) आहार की अतिसाररूप में प्रवृत्ति (निर्गमन) की उपेक्षा करें। प्रवृत्ति अल्प और सकृद हो तो उनकी प्रवृत्ति के लिए अभया, या एरण्डतैल अकेले या दोनों का लेह, अथवा अभया-पिप्पली या अन्य पाचक-रेचक दें। दोष और अजीर्ण आहार के पाचन के लिए प्रारम्भ में लङ्घन करावे। पश्चात् दीपन-पाचन प्रमथ्या, यवागू दें।

चिकित्सा-विधि में यह सूत्र स्मरणीय है :

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः

प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः ।

सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते

रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम् ॥

अ० ह० चि० ८११६४

अर्थात्—अर्श, अतिसार और ग्रहणीरोग इन तीन का निदान समान है। इसके सिवाय ये रोग एक दूसरे के निदान (उत्पत्ति में हेतु) भी हो जाते हैं—उपेक्षा आदि से एक रोग बढ़कर दूसरे रोग में परिणत हो जाता है। अग्नि मन्द हो तो ये रोग होते हैं; दीप्त हो तो नहीं होते; हुए रोग नष्ट हो जाते हैं यदि अग्नि को प्रदीप्त किया जाय। अतः इन रोगों में अग्नि की दीप्ति पर सविशेष ध्यान देना चाहिए। इसके सिवाय चिकित्सा करते हुए प्रत्येक रोग में शेष रोगों के अधिकार में कहे योगों का भी व्यवहार किया जा सकता है।

अतिसार में दीपन-पाचन औषध यथा—धनिया, शुण्ठी,

मुस्ता, बाला, बिल्व (धान्यपञ्चक काथ)—इनका काष्ठ दें। अतिसार पित्तज हो तो शुण्ठी न डालें। कुटज, अतिविषा, बिल्व, नेत्रवाला (उदीच्य)—इनका काष्ठ (वत्सकादिकषाय) उत्तम संग्राहक है^१। हीवीरादिकषाय भी उत्तम है। कुटजघन वटी, उक्त काथ आदि कुटज के संग्राहक होने से आमातिसार में न देने चाहिए। बिल्वादिचूर्ण (विशेष द्रव्य—बिल्व, विजया—भाँग), संग्राहक चूर्ण (बिल्व, मायूफल, आम्रास्थि, जामुन का गुठली आदि स्तम्भन द्रव्य)^२ उत्तम दीपन, पाचन तथा संग्राहक हैं।^३

कभी-कभी नाभि-स्खलन वश अतिसार (या वमन, उदरवेदना या विबन्ध) हो तो उसका उपचार करें।

रसद्रव्यों में—विशेष करके सशूल द्रव अतिसार में अहिफेनयुक्त योग आशुकारी होने से प्रायः दिये जाते हैं। अमृतार्णव, आमराक्षसी, वेदनान्तक, कर्पूरादि वटी और कर्पूरद्वय का विशेष प्रचार है। अहिफेनासव भी दिये जाता है। अमृतधारा पाचन के लिए उत्तम है। रामयाम रस और महागन्धक पाचक तथा धारक हैं। आनन्द भैरव का भी बहुत प्रचार है। आमपाचनार्थ लवणमासक, हिमवृष्टक, लशुनादि, चित्रकादि आदि योग उत्तम हैं। संजीवनी वटी (भल्लातक, चित्रक आदि) पाचन और स्तम्भन दोनों में उत्तम है। चिञ्चामल्लातक (नमकराहि इमली तथा भल्लातक) अतिसार, वमन, विपूचिका तीनों में उत्तम है। चूने का पानी अथवा तत्सदृश शङ्खभस्म अतिसार में, विशेषतः बच्चों के अतिसार में अच्छा है। बच्चों के अतिसार में अतिविष अथवा चातुर्भद्र (अतिविष पिप्पली, कर्कटशृङ्गी, मुस्त) सुप्रयुक्त है। उनके ज्वर, कफ विकार तथा अग्निमान्द्य में भी यह गुणकारी है। बच्चों में अतिसार कृमिविकार या दन्तोद्गम के कारण हो तो उनको चिकित्सा करें। दन्तोद्गम में एरण्डतैल आदि देकर संशोधन विधेय है।

अनुपानार्थ दोषभेद, तथा सात्त्व्यासात्त्व्य को देख लक्ष्मी दही, मठा, तण्डुलोदक, भर्जित जीरक (भुना जीरा), सितो पला आदि दें।

१—देखें सिद्धयोगसंग्रह ।

२—मेरे मित्र पोदार कॉलेज, मुंबई के निदान-चिकित्सा अध्यापक वैद्य रामशिरोमणिजी ने इसे अमीबिक डिसेप्सी में द्रुतकारी पाया है।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

८७१

गुदद्वार में अतिसारजन्य अतिवेदना में—अहिफेन ४ रत्ती, कथा ४ रत्ती, मैदा ८ रत्ती—घी के साथ मर्दन कर वर्ति बनायें। एक-एक १½-१½, २-२ घण्टे पीछे गुदद्वार में डालें। अतिसरण में नाभि के चारों ओर आलवाल बना आर्द्रकस्वरस उसमें भरने से लाभ होता है।

ज्वरातिसार में विशेष औषध दें। क्योंकि अतिसार की औषधग्राही और ज्वर की भेदक-चेक होती हैं, जो परस्पर-विरुद्ध होती हैं। आनन्दभैरव दोनों दृष्टियों से उपयोगी है। अवस्था देखकर दोनों रोगों की औषध मिश्र कर दें।

रक्तातिसार में—नागकेशर ३ मापा (६ वाल), मक्खन (१ तोला) और सितोपला (६ मापा) के साथ; मोचरस; हीरादखन; ईशबगोल अथवा उसका लुआव उत्तम हैं। रक्तातिसारी के लिए भोजन में बकरी का दूध और अनुपान में तण्डुलोदक उत्तम है। अन्य उपायों से रक्तातिसार या पित्तातिसार शान्त न हो तो बट, उदुम्बर आदि कषाय तथा शतावरी, कमल आदि शीत द्रव्यों की पिच्छावस्ति दें। इनके ही घृत आदि भक्षणार्थ दें। कृष्ण-सूक्तिका का आभ्यन्तर प्रयोग भी रक्तातिसार (और रक्त-प्रदर) में किया जाता है। पञ्चमांश सितोपला मिलाकर तिलकलक बकरी के दूध के अनुपान से देने से भी लाभ होता है।

अतिसार धिरकालानुबन्धी होने का एक कारण गुद (गुदमार्ग की शुषिर-पेशी) की दुर्बलता है। बच्चों में यह स्थिति विशेषकर होती है। उनमें तरुण अतिसार में भी इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। उनमें अन्य औषधों से गुण नहीं होता। गुद को बलवान् करने के लिए वार-वार अनुवासन बस्ति दें या स्नेह का पिचु गुद में रखें।—

प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः।

तरुमादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत्॥

च० चि० १९।९९२

पैक्तिक अतिसार कभी-कभी ग्राही औषध देने से शान्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में दूध आदि मृदु विरेचन देकर पित्त का प्रवाहण कराने से अतिसार स्वयं शान्त होता है। शालमली के वृन्तों (पत्र-दण्ड) का पुटपाककर, पश्चात् उनको तेल में पका उसकी पिच्छावस्ति दें। जीर्ण अतिसार, (?) पित्तातिसार आदि के लिए इसकी बड़ी प्रशंसा है।

१—Mucilage—म्यूसिलेज।

२—सु० उ० ४०।११२ भी इस विषय के लिए देखें।

अतिसारजन्य गुदपाक (अहिपूतन; विशेषतः बच्चों में) हो तो पटोल तथा मधुयन्टी से सेचन (इनके काथ में भिगोयी रुई रखना) करें। रसवन्ती (रसाञ्जन) का लेप करें।

अतिसारियों को भोजन में—निरामातिसार में सात्म्य हो तो दही, मठा, तक दें। धुधा हो तो पतला भात साथ में दें। यथायोग्य भजित जीरक तथा सिता डालें। दाडिम अतिसार में स्वयं औषध है। साम अतिसार में लड्डुन उत्तम है।—

अक्षिकुक्षिभवा रोगाः प्रतिश्यायज्वरत्रणाः।
पञ्चैते पञ्चरात्रेण प्रशमं यान्ति लङ्घनान्॥
लङ्घनमेकं त्यक्त्वा नान्यदस्तीह भेषजं बलिनः।
समुदीर्णं दोषचयं शमयति तत्पाचयत्यपि च॥

प्रवाहिका की चिकित्सा—

प्रवाहिका में दोष-भेद से प्रायः अतिसार और ग्रहणी की ही चिकित्सा करे। आम विशेष हो—रक्त न हो तो पिप्पली और हरीतकी सुखोष्ण जल से दो-तीन वार दें। कई रोगियों को एक-एक, दो-दो, दस-दस वर्ष से केवल आम ही आता है। उन्हें पिप्पली-कलक से लाभ होता है। भ्रमणादि व्यायाम भी उत्तम है। प्रवाहिका सरक्त हो तो ईशबगोल सितोपला (मिसरी) के साथ दें। सात्म्य हो तो दही, मठा, तक स्तम्भन और रक्त को रोकने के लिए उत्तम हैं। प्रवाहिका में सामान्यतः ईशबगोल, हरीतकी, वालविल्व, इन्द्रयव, कुटज, दाडिम आदि के योग उत्तम हैं। मलोत्सर्ग के वेग तथा वेदना अधिक हों तो अहिफेन अथवा विजयायुक्त योग दें। अथवा आवश्यकता हो तो विरेचन करावे। इसके लिए एरण्ड-तैल दिया जाता है। गुदमार्ग से रक्त-प्रवृत्ति में शतावरी और गोक्षुर-पक क्षीर की प्रशंसा है।

यवान्यादि योग—अजवायन १, जीरा ३, हरीतकी २, सैन्धव ३; दही से दिन में ३-४ वार देना उत्तम है। संजीवनी वटी भी दी जा सकती है। इमली की त्वक् की राख तीन-चार मापा दही के पानी के साथ देना प्रवाहिका में बहुत गुणकारी है। वैद्यों को इसका व्यवहार करना चाहिए।

सुश्रुत ने प्रवाहिका के प्रकारान्तर से दो भेद किये हैं—स्नेहप्रभव और रुक्षप्रभव। दोनों में निदान-भेद से चिकित्सा करें। (कोई इन भेदों की तुलना आधुनिकों

की एमीबिक और वेसिलरी प्रवाहिका के साथ करते हैं।) तीव्र प्रवाहिका लङ्घन-पाचन योगों से शान्त न हो तो इसे रुक्ष-प्रभव मानें। इसमें पक्क दुग्ध, सिद्ध तैल, तिल मुख से तथा शालमलीपुटपाक आदि की पिच्छिल बस्तियाँ देने से लाभ होता है।

प्रवाहिका में वात का प्राधान्य होता है। अतः चिकित्सा में इसके शमन के लिए पान, अनुवासन आदि के रूप में तैल की तथा दीपन-पाचन योगों का उपयोग करें।

गुरु-दत्त प्रयोग—सरक्त या अरक्त प्रवाहिका में—

१—मण्डूकपर्णी-स्वरस (ब्राह्मी नहीं) दो तोला देसी खाँड डाल कर दें। या—

२—खजूर के काँटे (प्रत्येक पत्र—जिसे सामान्यतया शाखा समझा जाता है—उसके मूल में कुछ पत्र दृढ़ कण्टक-सदृश होते हैं, उनका यहाँ ग्रहण है) की भरूम १-१॥ माषा; बच्चों में ३ माषा, मण्डूकपर्णी के अनुपान से दें। या—

३—बिम्बी (शिवलिङ्गो)^१ पत्र-स्वरस एक-दो बूँद आँख, कान, नाभि में डालें। या—

४—कुकुन्दर^२ पत्र-स्वरस १-२ तोला पिलायें।

विलायती इमली^३ का बीज संपूर्ण निगल लेने से प्रवाहिका नष्ट होती है, ऐसा सुना है।

ग्रहणी^४

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताग्निः।

भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमपि दूषयेत्॥

सु० उ० ४० १९६७

अतिसार अथवा प्रवाहिका शान्त हो गयी हो या अभी चालू ही हो तथापि रोगी, मन्दाग्निपीडित होता हुआ भी, अहिताहारविहार का सेवन करे तो उसकी जठराग्नि और भी दूषित (विषम) हो जाती है तथा ग्रहणी (पित्तधरा कला—क्षुद्रान्त्र) को विकृत कर देती है। कई बार अतिसार के बिना भी अहिताहार-विहारवश अग्नि

मन्द होकर ग्रहणी को विकृत कर देती है। यह ग्रहणी जठराग्नि का अधिष्ठान (आश्रय) है। ग्रहणी का प्राकृत कर्म इस अग्नि के ही अधीन होता है। अग्नि बलवान हो तो जब तक अन्न पच नहीं जाता, उसे यह ग्रहणी रोकती है—पक्काशय की ओर जाने से रोकती है। इस कारण ग्रहणी कहाती है। पच जाने पर अन्न को यह वात पार्श्व में (?) छोड़ देती है। उक्त कारण से अग्नि कम हो जाय तो ग्रहणी भी विकृत हो जाती है और अन्न को छोड़ देती है। इस रोग को ग्रहणी (प्रकृति नाम संग्रहणी) कहते हैं। इसमें पुरीष आम (कच्चा—जो खाया हो वही) अथवा कभी-कभी पक्का, वेदनायुक्त, दुर्गन्धयुक्त, कभी बद्ध और कभी द्रव तथा वात होता है।

अतिसार तथा ग्रहणी में भिन्नता यह है कि, अतिसार में भोजन पचने के बाद ही साम या निराम पुरीष का अतिसरण होता है, जब कि ग्रहणी में अग्नि की विषमता के कारण कभी अन्न का पाक ठीक होता है, कभी नहीं। जब न पचा हो तो पुरीष साम होता है—खाया हुआ अन्न ही उसमें निकलता है। अन्न पच गया हो तो पुरीष पक्का होता है एवं, ग्रहणी में कभी-कभी तो पुरीष की प्रवृत्ति होती है नहीं—बीच-बीच में विबन्ध हो जाता है। इसी प्रकार कभी बिना कारण ही मल बद्ध और कभी शिथिल होता है। इस प्रकार ग्रहणी में रोग के आक्रमण रुक-रुक कर होते हैं। दोषों का सञ्चय जब तक होता रहता है तब तक रोग दृढ होता रहता है। सञ्चय होते ही फिर लक्षण प्रकट हो जाते हैं। अतिसार और ग्रहणी में अन्य भेद यह है कि अतिसार आशुकारी^१ रोग है तथा ग्रहणी चिरकारी^२।^३

भेद—

ग्रहणी चार प्रकार की है—पृथक् दोषों से तीन तथा समस्त दोषों से एक।

१—गुजराती नाम—आँखफुटा मणि।

२—गुजराती—कलहार।

३—हिन्दी नाम इस वृक्ष का हमें मालूम नहीं है।

४—च० चि० १५।५१—२३५, सु० उ० ४० १९६६—१८२; अ० ह० नि० ८।१५—३०; चि० १०।१—९३; माधव निदान।

१—Acute—एक्यूट। २—Chronic—क्रॉनिक।

३—इसी से, स्मरण रहे, आयुर्वेद में Chronic diarrhoea—क्रॉनिक डायरिया या Chronic Dysentery—क्रॉनिक डिसेप्ट्री जैसा कोई रोग नहीं। उन्हें ग्रहणी ही कहते हैं।

ज्वर—३

पित्तज्वर-चिकित्सा

कविराज सुखराम प्रसाद, बी० एस० सी०, आयुर्वेदाचार्य

❀

पित्तज्वर में लङ्घन या लघु पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिये। अधिक आमदोष रहने पर लङ्घन कराये; कम रहने पर लघु पथ्य दे सकते हैं। प्रायः देखा गया है कि पित्तज्वर में पेट में असाधारण जलन होती है। ऐसी अवस्था में और वमन की प्रवृत्ति होने पर नाना प्रकार के लघु पथ्यों की व्यवस्था करना उचित है। खाली पेट रहने से रोगी को किसी प्रकार का आराम नहीं मालूम पड़ता। यव का चावल ८ तोला और परवल ४ तोला एकत्र सिद्ध कर मण्ड बनाना चाहिये। उसमें रुचि के अनुसार चीनी या मधु देकर रोगी को दे। सुकोमल नारिकेल शस्य भी पित्तज्वर में उत्तम लघु पथ्य है। वमन होने पर यह विशेष लाभदायक है। लाजमण्ड, यवमण्ड वा पेया, वेदाना या अनार के रस के साथ दे सकते हैं।

पित्तज्वर में वमन-वेग अतीव कष्टदायक है। धान का लावा दस तोला, मिसरी पांच तोला, पाव भर पानी में भिगावे और मिसरी घुल जाने पर छान लेवे। इसमें थोड़ा नीबू का रस और गुलाबजल मिला कर पीने से पित्तज्वर या अन्य ज्वर में होने वाला वमन-वेग शान्त होता है। इससे भी यदि वमन-वेग शान्त नहीं हो तो नीचे लिखे अनुसार पानी बनाकर देना चाहिये। एक वर्ण से अधिक की पुरानी इसली दो तोला लेकर एक पत्थर या काँच के पात्र में रखे। इसमें पावभर पानी डाल कर कुछ देर के

लिये छोड़ दे। जब देखे कि पानी रञ्जित हो गया है तब इसे छान ले। इसमें थोड़ी चीनी डाल दे जिससे इसका स्वाद अम्लमधुर हो। इसके पीने से सब प्रकार का वमन दूर होता है। धान का लावा आध पाव, नीम का कच्चा पत्ता आध छटांक, एक पाव जल के साथ अच्छी तरह मर्दन करके छान ले। २½ भर की मात्रा से ३-४ बार पीने से वमन शान्त होता है। गुड़ची का स्वरस ४ चम्मच और मधु एक चम्मच मिला कर देने से भी लाभ होता है। रसादि बटी ३ गोली; जहरमोहरा भस्म एक रत्ती और एलादि चूर्ण ४ रत्ती एक साथ मिलाकर धनिया या बड़ी इलायची के फुलाये पानी के साथ देने से भी मैंने अच्छा लाभ होते देखा है।

पित्तज्वर में अन्तर्दाह और बहिर्दाह मालूम होने पर धनिया का बासी काढ़ा चीनी मिला कर पीना चाहिये। दो तोले धनिया को अच्छी तरह कूट कर ३२ तोले जल के साथ पाक करे। ८ तोला रहने पर उतार ले। दूसरे दिन छान कर उसमें आधा तोला चीनी मिलाकर पीने के लिये दे। सब प्रकार के दाह को दूर करने के लिये महौषध है।

रोगी को बिछावन पर चित्त मुला दे। उसकी नाभि के ऊपर ताम्बा, पीतल या काँसे की एक कटोरी रख कर उसमें धीरे २ ठंडा जल डाले। जलपूर्ण हो जाने पर कटोरी को हटाकर जल फेंक दे। पुनः कटोरी रख कर जल डाले। इससे दाह में अच्छा लाभ होता है। हिक्का भी शान्त होती है।

पित्तज्वर में प्यास दूर करने के लिये षडङ्ग पानी अत्युत्तम है। मोथा, धनपापर (शहतूत), खस, लालचन्दन, सुगन्ध वाला और सोंठ प्रत्येक द्रव्य २७ रत्ती लेकर अच्छी तरह कूट ले। पाकार्थ जल ४ सेर; दो सेर शेष रहने पर उतार कर छान ले। शीतल होने पर पीने के लिये दे। ओंटे हुए पानी को शीतल कर प्रयोग कर सकते हैं। सुलभ होने पर बर्फ के द्वारा भी जल को ठंडा कर पीने के लिये दे सकते हैं।

भूमिकूष्माण्ड, सरस दाड़िमबीज, लोध, मैथ-गुही और कलम्ब नीबू का केसर सब बराबर लेकर पानी के साथ पीसे। मस्तक के अगले भाग को केशशून्य कर के इसका लेप देने से शिरःसन्ताप, दाह तथा प्यास दूर होती है।

साम पित्तज्वर में कुटकी, मोथा और इन्द्रियव का कषाय विशेष हितकर है। प्रत्येक द्रव्य ५३-५४ रत्ती लेकर ३२ तोले जल के साथ पाक करे। ८ तोला रहने पर छान ले। यह कषाय अनुलोमक और पित्त-निःसारक है। सञ्चित मल आसानी से निकल जाने पर परमोपकार होता है। पित्तज्वर में यदि अतिसार का उपद्रव हो तब इस काढ़े का प्रयोग नहीं करना चाहिये। वहाँ पर ज्वरातिसार में बतलायी क्रिया का अवलम्बन करना उचित है। किन्तु लाक्षणिक अतिसार में इस कषाय का प्रयोग निर्भय हो कर सकते हैं।

पित्तज्वर की आमावस्था में परवल के रस के साथ सिन्दूर का प्रयोग सर्वथा लाभदायक है। दिन भर में दो-तीन बार प्रयोग किया जा सकता है। सौभाग्यवटी रक्तचन्दन के लेप के साथ देने से भी उपकार होता है।

पित्तज्वर की पच्यमानावस्था में मसूरयूष, नारंगी, वेदाना, अंगूर, मोसम्बी, अनारस, बारली, तथा

चिउड़ा फुलाया हुआ पानी पथ्यके रूपमें दे सकते हैं। रोगी की अवस्था देखकर उसकी रुचि और पाकशक्ति के अनुकूल पथ्य की व्यवस्था करनी चाहिये।

अच्छी तरह धोये हुए मसूर को उपयुक्त पानी में सिद्ध करके पानी छान ले और इसी में कागजी नीबू का रस और थोड़ा सेंधा नमक मिलाकर पथ्य दे सकते हैं। पुराने चिउड़ा को कुछ पानी के साथ फूलने के लिये छोड़ दे। कुछ देर के बाद मल छान ले। इसी चिउड़ा के पानी में थोड़ी चीनी का कागजी नीबू का रस मिला कर पथ्य के रूप में दे।

पित्तज्वर की पच्यमानावस्था या निरामावस्था यदि कोष्ठवद्धता रहे और इसकी शुद्धि की आवश्यकता मालूम पड़े तो “द्राक्षादि कषाय” का प्रयोग करे। यह कषाय सुखविरेचक, और प्रलाप, मूच्छा, दाह, मुखशोष और तृष्णासंयुक्त पित्तज्वर नाशक है। द्राक्षादि कषाय—द्राक्षा, हरड़, पित्तपाप, नागरमोथा, कुटकी इनका काथ करके इसमें अमृत ताश का गुहा मिलाकर प्रयोग करे।

लङ्घन, लघु भोजन, विरेचन और कषाय प्रयोग से पित्तज्वर की निरामावस्था शीघ्र आती है। निरामावस्था आने पर उचित पथ्य और जल कषाय का प्रयोग करना चाहिये। निरामपित्त में दुग्ध अपथ्य नहीं किन्तु शुद्ध दूध सब लोगों कोष्ठ के लिये सुपच्य नहीं है। अतः कोष्ठ में वृद्धि प्रकार के कष्ट हो जाते हैं। यद्यपि धान के कण्डू का मण्ड बनाकर इसमें दूध और चीनी मिलाकर प्रयोग कर सकते हैं।

दो तोले धनपापर (पर्पट) को ३२ तोले पानी के साथ ओंटे; जब आठ तोला रहे तब उतार कर छान ले। धनपापर ४० रत्ती, रक्त चन्दन ४० रत्ती, सुगन्धवाला ४० रत्ती, और सोंठ ४० रत्ती एक साथ (शेषांश पृष्ठ ८८० पर)

फलवृक्ष :

(गतांक से आगे)

संतरा-मोसंबी-२

श्रीयुत भानु देसाई

ॐ

संतरा-मोसंबी बोने के लिए भूमि उसी प्रकार तय्यार की जाती है, जैसे अन्य फल-वृक्षों के लिए। शीतकाल में अच्छे प्रकार से जमीन जोत, ढेले तोड़, पटरा फेर कर सम भूमि में गढ़े खोदकर तय्यार रखने चाहिए। प्रत्येक गढ़ा चार फुट गहरा, चार फुट लंबा और चार फुट चौड़ा होना चाहिए। गढ़े से निकली मट्टी में पाँच-छः टोकरी खूब सड़ी हुई खाद और ढाई सेर हड्डियों का चूर्ण मिला गढ़ों में डाल देना चाहिए। सींचने के लिए नाली तथा आलबाल (थामला) भी पहले से बना लेना चाहिए।

संतरा-मोसंबी बोने के लिए प्रत्येक पौधा कितने अन्तर से लगाना चाहिए इस विषय में विभिन्न प्रथाएँ हैं। 12×12 , 6×12 , 15×15 , 20×20 , 20×30 और 25×25 फीट इस प्रकार विविध अन्तरों से पौधे लगाने का प्रचार है।

संतरा-मोसंबी की कृषि जैसे-जैसे व्यवस्थित तथा विशिष्ट होती जा रही है वैसे-वैसे अनुभव के आधार पर पौधों में अन्तर भी अधिक रखने का प्रचार बढ़ रहा है। भूमि के स्वरूप के अनुसार 20×15 , 20×20 अथवा 25×20 फीट का अन्तर रखना चाहिए। सामान्य भूमि में 20×20 फीट अन्तर पर्याप्त समझा जा सकता है।

संतरा-मोसंबी बोने के लिए दो काल हैं—चौमासा तथा फरवरी महीना दोनों में चौमासा

ठीक माना जाता है। पौधे अगस्त-सितम्बर में लगाये जायँ तो जड़ शीघ्र लग जाती है। पौधा बोने के बाद वृष्टि न हो तो तीन-चार दिन के अन्तर से पानी देना चाहिए।

संतरा-मोसंबी के पौधे बोने के चार-पाँच वर्ष बाद फल आने लगते हैं। इसके पूर्व पौधों के बीच की भूमि में वेंगन, मिर्च, टमाटर आदि बोने में हानि नहीं। परन्तु अच्छे गले गोबर की खाद छोड़कर भूमि की सारवत्ता बनाये रखनी चाहिए। खाद न मिले तो सन, मूँग, मोठ आदि शिम्बीधान्य उगाकर वे कुछ बड़े हों कि उन्हें उखाड़कर जमीन में गाड़ देना चाहिए। उद्भिदविद्या के विद्यार्थी जानते हैं कि शिम्बीधान्यों के मूलों में छोटी-छोटी गाँठें होती हैं, जिनमें अन्तरिक्ष से प्राप्त नाइट्रोजन का उपयोग कर उसके समास बनानेवाले जीवाणु रहते हैं। संतरा-मोसंबी के वर्ग के वृक्षों के मूल अविकांश भूमि की ऊपरी सतह में होते हैं। अतः ऊपरी सतह में खाद डाले बिना अन्य वस्तुएँ बोयी जायँगी तो संतरा-मोसंबी को यथेष्ट पोषण न मिलने से उनका समुचित विकास न होगा। मूल ऊपरी तह में होने के कारण ही यह भी ठीक नहीं होता कि, निलाई के लिए बार-बार जमीन जोती जाय। बार-बार जोतने से मूल टूट जाते हैं और वृद्धि में विघ्न होता है। समग्र वर्ष में चौमासे के पूर्व एक बार जुताई तथा

१—Nitrifying bacteria—नाइट्रीफाइज़ बैक्टीरिया।

बाद में यथावश्यक निलाई करनी चाहिए। फरवरी मास में नये पर्णोद्गम के पूर्व थामले की गहरी खुदाई करने में क्षति नहीं। ऐसा करने से वृक्ष के सभी पत्र झड़कर उसे पूर्ण विश्राम मिले तो फल अधिक संख्या में आते हैं।

पौधे छोटे हों तो प्रत्येक पौधे को कोई आध से एक सेर नासीफॉस और लगभग पावसेर सल्फेट ऑफ पोटाश गोबर की खाद के साथ मिलाकर देना चाहिए। वृक्ष के तने के आसपास उसके फैलावे के अनुसार दो से तीन फीट दूर छोटी नाली बनाकर उसमें खाद डाल उसे मट्टी से ढककर पानी पिलाना चाहिए। फल आना प्रारम्भ हो तब ढाई से पाँच सेर एमोनियम सल्फेट, एक सेर सल्फेट ऑफ पोटाश तथा अच्छी गली गोबर की खाद ढाई से पाँच टोकरी भली-भाँति मिलाकर देनी चाहिए। उक्त खादें जहाँ सुलभ न हों वहाँ हड्डियों का सूक्ष्म चूर्ण एवं एरण्ड या मूँगफली का खल योग्य प्रमाण में डालने से भी काम चल सकता है।

संतरा-मोसंबी को सामान्यतया नाइट्रोजनमय खादें अधिक लाभदायी हैं। अतः फॉस्फेट वाली खादें अधिक देनी न चाहिए। नाइट्रोजनयुक्त खादें फलको मृदुल बनाती हैं तथा उनके माधुर्य में वृद्धि करती हैं। फॉस्फेटवाली खादें अधिक मात्रा में दी जायँ तो फल खुरदरे तथा कम मिठासवाले होते हैं। रासायनिक किंवा गोबर की खाद देने के बाद तत्काल पानी पिलाना चाहिए। पौधे ज्यों-ज्यों बड़े होते जायँ त्यों-त्यों पानी पिलाने के दिनों का अन्तर बढ़ाते जाना चाहिए। प्रारम्भ में भूमि और ऋतु के अनुसार सात से दस दिन का अन्तर पर्याप्त समझा जा सकता है। पश्चात् यह अन्तर पन्द्रह दिन का करें तो भी क्षति नहीं।

संतरा-मोसंबी के वृक्ष दृढ़ और घटादार बनें इस

हेतु प्रारम्भ से ही पौधों की चारों ओर की शाखाएँ भूमि से कोई चार फीट ऊपर तक काटते रहना चाहिए; तथा ऊपर की शाखायें चारों ओर फैलाकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए। अच्छी नीरोग शाखाएँ पुष्ट होती रहें इस प्रयोजन से तने पर निकलते नये अंकुरों को काटते रहना चाहिए। जो शाखाएँ रखनी हों उनकी पुष्टि होती रहे तथा वे दृढ़ हों जायँ, इस दृष्टि से निरर्थक शाखाओं को छोटी काटकर रखना चाहिए अथवा तने से ही काट देना चाहिए।

नियमित कृषिफल (फसल) पाने के उद्देश्य के लिये जहाँ शीत ऋतु लम्बी न हो वहाँ, मूलों को तथा ऊपरी अंश में शाखाओं को काटने की प्रथा है। हमारे देश में बहुधा वसन्त में बहार आती है। फरवरी में नये फूल लगते हैं, जिनके फल हमें उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में वृक्षों को यथेष्ट आराम नहीं मिल पाता। दिसम्बर-जनवरी तक फल पक कर उतारे योग्य नहीं होते। जब एक ऋतु के फल पक कर उतारे जा चुके हों तभी नये फूल आने लगते हैं। इस प्रकार कठिनाई यह खड़ी होती है कि, एक वर्ष फल चुन लेने के बाद तत्काल फसल आने दें तो वृक्ष दुर्बल हो जाता है; परन्तु दूसरी ओर वृक्ष को उर्वर होने से बचाने के लिए फसल लगने न दें तो वर्षा ऋतु में फल स्वभावतः कम लगते हैं। इस स्थिति में स्थानीय अनुभव पर ही आधार रखना पड़ता है। तथा भूमि के प्रकार के अनुसार दिसम्बर के अन्त में सम्पूर्ण फल चुन कर, एकाध महीना आराम देने के लिए, पानी देना बन्द कर, कुदाल से थामलों की नींद दें; पीछे वृक्ष के सभी पत्ते झड़ने तक पानी न पिलाएँ। सभी पत्ते झड़ जाने के बाद ऊपर कहे अनुसार खाद देकर पानी दिया जायँ तो वृक्ष एकदम पल्वित होकर उसपर फल

सन् १९५१]

संतरा-मोसंबी

८७७

लगते हैं। अपने यहाँ के जलवायु में साधारणतया वसन्ती बहार के ही फल मिलते हैं। तथापि चौमासे की बहार की फल भी पानी हो तो चौमासे के पहले पानी पिलाना बन्द कर, थामलों को नींद कर, वृक्षों को आराम दे, खाद छोड़ कर पानी दिया जाय तो वह फल भी मिल सकती है।

सन्तरे-मोसंबी के मूलों से भी अंकुर फूटते और बाहर आते हैं। इन अंकुरों को काटते रहना चाहिए, जिससे मूल द्वारा मिलने वाले संपूर्ण रसका लाभ वृक्ष को प्राप्त हो सके।

कई लोग वृक्ष को आराम देने के लिए मूलों की काट - छाँट करते हैं। कई इस बात को पसन्द नहीं करते। कुदाली से थामलों को नींदकर, पतले मूलों के जाल निकाल दिये जायँ तो इससे काट-छाँट का ही प्रयोजन सिद्ध होता है। ऐसा करने में श्रम भी विशेष नहीं होता। शीत ऋतु लम्बी न हो तथा भूमि बहुत सारवती न हो तो पानी देना बन्द करते ही वृक्षों को आराम मिल जाता है और मूल अनावृत करने या उन्हें काटने-छाँटने की आवश्यकता नहीं रहती।

संतरा-मोसंबी के फूलों की गन्ध मोगरे के फूलों के समान अत्यन्त सुरभि होती है। उनका वर्ण श्वेत होने से उनके कारण वृक्ष का देखाव भी बड़ा रम्य होता है। प्रकृति का नियम है कि फलवृक्षों पर जितने फूल लगें वे सभी जीते नहीं। सभी फूल फल में परिणत हों तो इतना भार वृक्ष न सहन कर सके और दुर्बल हो जाय। सामान्य परिणाह (विस्तार) के वृक्ष से २५० से ५०० फल मिलते हैं। भूमि सरस हो तथा खुदाई, खाद आदि की व्यवस्था अच्छी हो तो ७०० से १००० फल भी लगते हैं। इतने अधिक प्रमाण में फल लगें तभी संतरा-मोसंबी की कृषि आर्थिक दृष्टि से अच्छी कही जा सकती है।

भार के खयाल से प्रति-एकड़ ५० से ७५ मन फल प्राप्त किये जा सकते हैं।

संतरा-मोसंबी को फलों से पहचानना बहुत सुगम है। सन्तरे की ऊपर की छाल अन्दर की फाँकों से पृथक् होने के कारण उसका उतारना सरल होता है। प्रत्येक फाँक को भी एक-दूसरे से अलग किया जा सकता है। रङ्ग भी सन्तरा या नारङ्गी का केसरिया होता है। पर मोसंबी पीली होती है। मोसंबी की छाल अन्दर की फाँकों से संसक्त होने से सुगमता से छीली नहीं जा सकती। मोसंबी की फाँकें भी सन्तरे के समान सरलता से अलग नहीं की जा सकती। मोसंबी को छीलने के लिए चाकू की आवश्यकता होती है। अनुभव से सन्तरे और मोसंबी के वृक्षों का भेद जाना जा सकता है। सन्तरे के वृक्ष के पत्ते मोसंबी की अपेक्षया सँकरे होते हैं। मोसंबी के पत्ते संतरे के पत्तों की अपेक्षया जरा चौड़े और गहरे हरे रङ्ग के होते हैं।

संतरा, मोसंबी तथा इस वर्ग के अन्य वृक्षां पर जीव-जन्तु और अनेक रोग पाये जाते हैं। जीव-जन्तुओं में नीवू के इल्ली, नारङ्गी के पत्ते खानेवाले कीड़े, तना कुतरनेवाले कीड़े, नारङ्गी के टालाओ नामक कीड़े तथा फल खाने वाले कीड़े, (गुजराती में फुशीनो तथा मव) और रस चूसने वाले कीड़े (दीमक) विशेषतया होते हैं।

नारङ्गी के पत्ते खानेवाला कीड़ा बहुत ही कुशलता से पत्ते खा जाता है। यहव हुत ही छोटा होने से सुगमता से दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए खाये गये पत्तों को तोड़ कर नष्ट करने को छोड़ और उत्तम उपाय इसके लिए नहीं है। तना खानेवाले कीड़े के लिए तने में जहाँ छिद्र दिखाई दें वहाँ सलाई से छिद्रों को साफ कर, पेट्रोल छोड़ कर, बाहर से छिद्रों को बन्द कर दें। पेट्रोल के वाष्प से कीड़े मर जाते हैं। ढालीआ नाम के (गुजराती नाम) कीड़ों द्वारा

खाये गये वृक्षों को जड़ से नष्ट कर नये वृक्ष लगाने के सिवाय अन्य उपाय नहीं। नारंगी के फलों को खाने वाले कीड़ों का उपद्रव रोकने का विशेष उपाय नहीं है। परन्तु अच्छे फलों को बारीक मलमल की या कागज की थैली में लपेट देने से उपद्रव से रक्षा की जा सकती है। छिद्रित फलों को तोड़ कर बगीचे में इधर-उधर न फेंक कर ढेर करके जला देना चाहिए, जिससे कीड़े मर जायँ और उपद्रव आगे बढ़ने न पावे। इसके लिए क्रुड ऑयल इमल्शन अथवा निकोटीन सल्फेट या तमाकू का पानी उपयोगी है। मक्खन बहुत ही सूक्ष्म होते हैं और पत्तों से रस चूस कर वृक्ष को दुर्बल बनाते हैं। अतः ऊपर कहे उपाय से उसका नाश करना आवश्यक है। रस चूसनेवाले श्वेत कीड़े के लिए चूने और गन्धक का मिश्रण जल के साथ मिलाकर छिड़कने से गुण होता है। दीमक के लिए पानी देते समय ठीक सावधानी रखी जाय तो दीमक नहीं लगती। तो भी दीमकों का उपद्रव देखने में आवे तो खाद में एरण्डबीज की खली का मिश्रण दीमकों के अटकाने में उपयोगी होता है। हाल में इनके नाश के लिए डी० डी० टी० तथा गेमीकसीन उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

रोगों में मुख्यतया गमोसिस (गुजराती गूंदिया), पल्लव तथा कोमल शाखाओं का नाश करने वाला कैंकर, खरसर (गुजराती-डाघीओ), रेड ब्लॉच, डाईवेक आदि मुख्य हैं।

कैंकर रोग होने पर वृक्ष के तने, पत्ते, फल इत्यादि पर छोटे, खुरदरे, नसवारी और पीले रंग के दाग पड़ जाते हैं। इस रोग से बचने के लिए प्रतिवर्ष बगीची में से विकृत पत्ते, शाखा, फल आदि को तोड़ कर तथा बीनकर नष्ट कर देना चाहिए। बोर्डो नामक मिश्रण छिड़कने से भी लाभ होता है।

विगर-टिप जिसमें पल्लव मर जाते हैं, उसमें भी बोर्डो मिश्रण उपयोगी सिद्ध हुआ है। विगर-टिप से ग्रस्त हुए वृक्ष को पोटाश सल्फेट प्रतिवृक्ष आव से एक रतल देने से लाभ होता है। गमोसिस रोग वृक्ष के तने पर जहाँ आँख लगायी गयी होती है वहाँ होता है। इस स्थल से गोंद-जैसा द्रव भरता है। इस प्रकार हानि प्राप्त करने वाले तने से गोंद दूर कर आसपास का स्वस्थ भाग थोड़ा छील कर ऊपर क्रियोज़ोट अथवा कार्बोलिक एसिड अथवा वह न मिले तो जिंक सल्फेट एक पाँड, नीला थोथा एक पाँड तथा चूना दो पाँड इन सबका मिश्रण जल में मिला घाव पर चुपड़ना चाहिए।

डाईवेक (सूखा रोग) में शाखाएँ धीमे-धीमे मरती जाकर अन्त को सारा वृक्ष नष्ट हो जाता है। इसका कारण बहुधा कम नितार वाली और चिकनी मट्टी होता है। इस रोग के निवारणार्थ बगीची के चारों ओर तथा अन्दर यथायोग्य नालियाँ खोद कर पानी निकलने की व्यवस्था करनी चाहिए।

कई प्रकार की भूमियों में अमुक तत्त्व न होने अथवा न्यून होने के कारण रोग होने के प्रति तज्ज्ञों का ध्यान गया है। इनमें एक रोग में पत्ते ग्लान तथा चित्तियों वाले दिखाई देते हैं। इस रोग पर प्रयोग करने से विदित हुआ है कि, फेरस सल्फेट का जल में ०.०००१ प्रतिशत मिश्रण अथवा सौ गैलन जल में तीन घन सेण्टीमीटर जिंक ऑक्साइड डालकर यह द्रव छिड़कने से रोग नष्ट होता है। जिंक सल्फेट के साथ चूने का उपयोग किया जाय तो भी अच्छा लाभ होता है। यह मिश्रण बनाने के लिए दस पाँड जिंक सल्फेट और पांच पाँड चूना सौ गैलन जल में मिला छानकर उपयोग करना चाहिए।

बगीची में अच्छी तरह उगाये गये फलों के

सन् १९५१]

संतरा-मोसंबी

८७६

उत्तम पद्धति से बाजार में बेच, अधिक से अधिक अर्थ लाभ हो इसीमें फलों के बाग लगाने की चरितार्थता है। इनमें भी मोसंबी, संतरा, आम तथा अन्य मूल्यवान् फलों को बाजार में बेचने के लिए तय्यार करने में खास सावधानी रखनी चाहिए।

जहाँ इन फलों को बड़े पैमाने पर उगाया जाता हो, वहाँ से जिन्हें ताजा बेचने से बाजार-भाव अच्छा मिले, ऐसे अच्छे फलों को बेचने को भेजना चाहिए। परन्तु हलके फल, जो देखाव में अच्छे न हों और जिनका भाव अच्छा उपजने की आशा न हो, उनका रस निकाल कर विभिन्न बनावटें बना लेनी चाहिए। शरबत, मुरब्बे आदि तय्यार कर भरणियों में वे बिगड़ न जायँ इस प्रकार भर कर बाजार में बेचने को भेजना अच्छा है। बाजार में भेजने के लिए ताजे फल वृक्ष से तोड़ते समय उनका वृन्त (डंडी) टूट जाय इस तरह न तोड़कर कैंची से ऐसे काटना चाहिए कि वृन्त थोड़ा-सा शेष रहे। वृन्त बहुत बड़ा होगा तो अन्य फलों को घिसकर क्षति पहुंचायागा। छोटे वृन्त के साथ तोड़े गये फल चिरकाल रहते हैं। इसके सिवाय फल उतारते हुए उन्हें जमीन पर न फेंकना चाहिए, किन्तु टोकरी या थैली में धीमे से रखना चाहिए।

फलों को बाजार में भेजने के पूर्व उनमें के सरस, भेजने योग्य ही फलों को अलग बिनकर टोकरियों में अच्छी तरह पैक कर भेजना चाहिए। फल रेलवे-द्वारा बाहर भेजने हों तो प्रत्येक फल को पृथक् पतले चीनाई कागज में लपेट, लकड़ी के ढबों में उन्हें नुकसान न पहुंचे इस प्रकार पैक कर भेजना चाहिए। हलके कागज का उपयोग न करना चाहिए। अन्यथा रंग कच्चा होगा तो फलों को लगकर उनका रंग बिगाड़ दिगा।

अमेरिका से मोसंबी तथा अन्य देशों से नीबू आदि सिट्रस फलों का आयात भारत में होता है। जिन्होंने ये फल देखे होंगे उनका ध्यान उनके एक समान रंगपर गया होगा। फलों को वृक्ष पर ही लगा रहने देने से उनका रंग निखरता है, यह अनुभव प्रत्येक कृषक तथा बगीचे लगानेवाले को होगा। परन्तु इससे वृक्ष दुर्बल हो जाता है। साथ ही नयी बहार आने को हो तो उसमें भी विघ्न होता है। भारत में मोसंबी के फलों की वृक्षों पर ही रहने देते हैं। इससे रंग के सिवाय रस भी उत्तम होता है। पुराने बहार की मोसंबी को लोग अधिक भाव देकर खरीदते भी हैं। अमेरिका में फलों को इसी प्रकार रंगीन बनाया जाता है। उससे इनके रस में कोई फल नहीं आता।

प्राचीन काल में चीन में नासपाती के फलों का कमरों में भर कर धूनी करते थे तथा इस धूनी द्वारा फलों को पकाते थे। हमारे यहाँ केले के कई थोक व्यापारी, तहखानों में केले की ढालें भर कर उनमें जलती लालटेन रख कर केले पकाते हैं। अमेरिका में भी एक प्रकार की भट्टी जैसा ही मकान बना उसमें मोसंबी तथा नीबू को रंग चढ़ाते हैं।

मिट्टी के तेल तथा अन्य इन्धन जलाने से उनमें से इथीलीन नामक गैस निकलती है। इस गैस में कच्चे फल के हरे रंग को नष्ट करने का सामर्थ्य होता है। इस गैस को फलों पर से गुजारा जाता है तो उनका हरापन उड़ कर नैसर्गिक रंग खिल उठता है। इसीसे हरे केले पीले बनते हैं। टमाटरों का अच-कचरा रंग उड़ कर वे लाल हो जाते हैं। संतरा-मोसंबी तथा नीबू में हरेपन के स्थान पर नारंगी और पीला रंग इस प्रकार आता है। निसर्ग में रंग बदलने की इस क्रिया में समय लगता है। इथीलीन गैस से रंग का परिवर्तन बहुत ही थोड़े समय में

हो जाता है। इसके सिवाय इथीलीन गैस कंपनी कच्चे फलों में से टेनीन दूर कर शर्करा का भाग भी अंशतः बढ़ाती है। इथीलीन से विटामीन में कोई भेद नहीं आता। उलटे फल की शोभा में वृद्धि होकर बाजार में बेचने के लिए आकर्षक स्वरूप उसमें आ जाता है। हमारे कृषक, किंवा संतरा-मोसंबी और नींबू के व्यापारियों के लिए उपयोगी प्रतीत होने से इथीलीन गैस देने की प्रक्रिया यहाँ संक्षेप में देते हैं।

फलों को प्रथम साधारण गरम पानी के कुण्ड में धोकर सूखने देते हैं। अमेरिका में तो सोडे के पानी से ब्रश द्वारा धो, सुखा, ऊपर मोसंबी एक तह चढ़ा, पीछे गैस की कोठरी में छोड़ते हैं। यह सब क्रिया यन्त्र से ही होती है। सुखाये फलों को हवा न जाय ऐसी कोठरी में रख कर उसमें से इथीलीन गैस गुजारते हैं। इथीलीन गैस बनाने के लिए २० भाग अलकोहल को ६० भाग गन्धकाम्ल के साथ मिला १६०° सेण्टीग्रेड तक गर्म करते हैं।

इस प्रकार उत्पन्न गैस को कॉस्टिक पोटाश के मर्तवाओं में से गुजार कर शुद्ध करने के बाद ही गैस की कोठरी में नली द्वारा पहुंचाते हैं। बारह घण्टों के फलों का रंग बदल जाता है। गैस की कोठरी में ८५ प्रतिशत विष रहने देने के लिए जलभरी पत्र तश्तरी रखते हैं। इस कोठरी को ६५ से ७५ अंश फेरनहीट से अधिक गर्म नहीं होने देते। प्रति बारह घण्टों में एक घण्टा शुद्ध ताजी हवा इन फलों को देते हैं। इस प्रकार फलों के न्यूनाधिक कच्चेपन के अनुसार तीन-चार दिनों में वे सुन्दर रंगवाले हो जाते हैं।

हाल ही में एक पारदर्शक कागज बना है। अब यह भारत में भी आयात होने लगा है। इस कागज में संतरा-मोसंबी के फल लपेट कर रखने से महीनों वे बिगड़ते नहीं। ये प्रयोग हमारे देश के अन्य फलों के विक्रेता भी अपने फलों पर आजमा सकते हैं।

पित्तज्वर-चिकित्सा

[पृष्ठ ८७४ से आगे]

३२ तोले जल के साथ औंटे ; जब आठ तोला रहे तब उतार कर छान ले। दोनों ही कषाय पित्तज्वर नाशक हैं।

जयावटी को यदि पित्तज्वर का महौषध कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। पच्यमान और निराम पित्तज्वर में प्रयोग करना चाहिए। अनुपान - दुग्ध या परवल कारस या धनियाँ और परवल के पत्ते

को एक साथ पीस कर उसीके रस के साथ प्रयोग कर सकते हैं।

पित्तज्वर में आँखें पीली रहने पर दारुहल्ली के काढ़े के साथ जयावटी का प्रयोग करना चाहिये। जल के साथ दारुहल्ली घिसकर उसके लेप के साथ भी प्रयोग कर सकते हैं।

मस्तिष्क और चेतासंहति

डा० रघुवीर, एम० ए०, पी० एच० डी० (लण्डन) डी० लिट (इंग्लैण्ड) भूतपूर्व-सदस्य संविधान सभा

ॐ

सूक्ष्मसार में मनुष्य के बनाए जितने बड़े से बड़े और सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र हम देखते हैं उनमें और ईश्वर की उन समस्त कृतियों में जिनसे मनुष्य परिचित है, मानव शरीर सबसे जटिल यन्त्र और सबसे सुन्दर रचना है। मनुष्य अत्यन्त प्राचीन काल से इस यन्त्र का अध्ययन करता आ रहा है और उसने इस अद्भुत रचना का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त भी कर लिया है। इसके यन्त्रों की बनावट के अध्ययन को शारीर और इन यन्त्रों के कार्य या व्यापार के अध्ययन को व्यापारिकी कहते हैं। शारीर का विषय मानव-शरीर की निर्माण-कला का अध्ययन है। यह भवन कैसे बना और इसकी भित्तियाँ किस वस्तु की बनी हैं, शारीर में इन्हीं बातों की छान-बीन की जाती है। किन्तु इससे हमें यह पता नहीं चलता कि यह कार्य कैसे करता है और न इस भवन के भीतर रहने वाले परिवारों के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण ही इससे प्राप्त होता है। यह कार्य व्यापारिकी के लिए छोड़ दिया गया है। फिर भी जब एक भवन-निर्माता किसी भवन का निर्माण करता है तो वह इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि यह भवन अपने भीतर रहने वालों के ऊपर ही कहीं न बैठ जाय और इसके लिए उसे इस सम्बन्ध की अनेक बातों का ज्ञान पहले से ही प्राप्त करना पड़ता है। शारीर वास्तव में शरीर का मूगोल है। किन्तु यदि हम इसके यन्त्रों की कार्य-रौखी और प्रत्येक पुर्जके क्रिया-कलाप की ओर भी

ध्यान दें और साथ ही यह भी देखते जाय कि विभिन्न प्रकार के यन्त्र किस प्रकार एक साथ मिलकर कार्य करते हैं तो हमें यह विषय और भी अधिक रुचिकर प्रतीत होगा।

इस शरीर की रचना के सम्बन्ध में कुछ जानने से पूर्व कोशा के सम्बन्ध में जानना आवश्यक है। जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ (एलिमेण्ट) का सबसे छोटा भाग परमाणु है उसी प्रकार शरीर की सबसे छोटी इकाई कोशा है। जिस प्रकार परमाणु के विद्युदणु और न्यष्टि आदि कई भाग किए गए हैं और फिर न्यष्टि को भी कई भागों में विभाजित कर डाला गया है उसी प्रकार कोशा के भी न्यष्टि और प्ररस आदि कई भाग किए गए हैं और फिर न्यष्टि और प्ररस को भी कई भागों में बांटा गया है। किन्तु यहाँ हम इतनी सूक्ष्मता में जाना नहीं चाहते।

कोशाएँ स्वयं ही बहुत सूक्ष्म होती हैं। जीवन वाली प्रत्येक वस्तु कोशाओं से ही मिलकर बनी है। वनस्पति हो चाहे कीट-पतंग और चाहे पशु-पक्षी या स्वयं मानव सबका निर्माण-कोशाओं से ही हुआ है। वनस्पति और मनुष्य की कोशा की रचना में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। अति सूक्ष्म होते हुए भी कई बार वनस्पति-कोशाएँ इतनी बड़ी भी मिल जाती हैं जिन्हें हम अपनी आँख से किसी प्रकार के उपकरण की सहायता के बिना ही देख सकते हैं। एक पके हुए किन्तु अभी कुछ कड़े रागालु (टमाटो) को बीच से चीर कर यदि देखा जाय तो हमें फल

के ढण्ठल से एक श्वेत सा पदार्थ फल के भीतर जाता हुआ दिखाई देगा और फल के चारों ओर का लाल गूदा सूक्ष्म कणिकाओं की संरचना मात्र मिलेगा। यदि हम गूदे की इन कणिकाओं को किसी साधारण हस्त-वीक्ष से देखें तो हमें पता चलेगा कि गूदा इस प्रकार कणी अथवा रवेदार (ग्रैन्यूलर) इसलिए है कि उसमें अनेक छोटी छोटी गोलिकाएं हैं जो परस्पर सटी हुई नहीं हैं। इन गोलिकाओं को ही कोशा कहते हैं। प्रत्येक गोलिका एक-एक कोशा है। ये कुछ फूली हुई चमकती सी दिखाई देती हैं। इनके भीतर कोई द्रव होने के कारण ही ये इतनी फूल गई हैं।

किन्तु कोशा को रसायनिक क्रिया द्वारा ऐसा निर्जीव करके कि उसके ढाँचे में किसी प्रकार का अन्तर न पड़े और उसे रंग कर उच्च शक्ति के किसी अण्वीक्ष अथवा विद्युद्वीक्ष की सहायता से देखने से कोशा के सम्बन्ध में अन्य भी कई बातों का पता चलता है। इस रीति से देखने पर हम प्रत्येक कोशा को सूक्ष्म किन्तु सुदृढ भित्ति से घिरा हुआ पाते हैं। इसके भीतर भित्ति से लगा हुआ नन्हीं-नन्हीं रंगहीन गोलिकाओं से पूर्ण अलग तरल का एक स्तर होता है। यह तरल जलानुविद्ध प्ररस है। अण्डे के अन्दर जो एक प्रकार का श्वेत द्रव होता है, साधारण रूप से उसी के समान इस प्ररस को भी समझना चाहिए। इसकी प्रकृति अभी तक अज्ञात है। यह जटिल पदार्थों की एक जटिल संहति प्रतीत होता है। कोशा के इसी भाग में वह रहस्यमयी वस्तु रहती है जिसे हम जीवन कहते हैं। कोशा का यह प्ररस-स्तर एक गुहा को चारा ओर से घेरे रहता है, जिसे रसधानी कहते हैं। इस रसधानी में पानी के समान एक रस रहता है जिसमें शर्करा, खनिज लवण तथा अन्य अनेक

पदार्थों के विलयन भरे रहते हैं। यदि कोशा को रंग आदि से भली प्रकार निष्पन्न कर देखा जाय तो रंजित धब्बे यह बताते हैं कि प्ररस में एक गोल वस्तु और है और वह न्यष्टि है। किसी न्यष्टि में न्यष्टि से छोटी एक गोल वस्तु होती है जिसे निन्यष्टि कहते हैं।

न्यष्टि प्ररसक का सर्वाधिक आवश्यक भाग है क्योंकि कोशा की समस्त चेष्टाओं का यह नियन्त्रण करती है। इतना ही नहीं, पित्त गुणों का संश्लेष करने में भी न्यष्टि ही प्रमुख अभिकर्ता प्रतीत होती है। अधिकांश कोशाओं में प्ररस का एक छोटा-सा भाग न्यष्टि होती है और शेष बड़ा भाग कोशा-प्ररस कहलाता है।

कोशाओं का आकार परस्पर इतना भिन्न होता है कि उनकी औसत लम्बाई-चौड़ाई के अंक भी बतलाए जा सकते हैं। किन्तु न्यष्टि के सम्बन्ध में जहाँ तक अनुमान किया गया है यह कहा जा सकता है कि यदि २५०० न्यष्टियाँ माला के दानों के समान एक साथ पिरोई जाय तो वे केवल एक प्ररस धागे में ही आ जायँगी।

एक कोशा वाले जीव जिनको आज का विज्ञान पृथ्वी पर जीवन का आदि प्रतिनिधि मानता है, अपनी कोशा के किसी भाग के भी उद्दीपक के संपर्क में आते ही पूरी कोशा में उद्दीपन का अनुभव करते हैं। उस एक कोशा में एक स्थान से दूसरे स्थान तक सम्बन्ध स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं आती। किन्तु जब हम विकास के सिद्धान्त के अनुसार कुछ आगे बढ़ते हैं तो हमें एक से अधिक कोशा वाले जीव मिलते हैं। उस समय एक कठिनाई उत्पन्न आती है। अपने अस्तित्व के लिये जीवन-संरक्षण शरीर के समस्त अङ्गों को एक इकाई के रूप में करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। यदि

हानिकारक रसायनिक पदार्थ अथवा कोई शत्रु शरीर की किसी एक कोशा का स्पर्श करता है तो शरीर की अन्य सब कोशाओं को मिलकर उससे बचने की चेष्टा करनी चाहिये। इसके लिए प्रत्येक कोशा में और प्रत्येक कोशा का दूसरी कोशाओं के साथ सम्पर्क आवश्यक है। इस सम्पर्क को चेता (नर्व्स) कहते हैं और इस समस्त सम्पर्क-संहति को चेता-संहति।

आरम्भ में यह चेता-संहति विशेष कोशाओं में ही होती थी। ये कोशाएँ पशुओं के चर्म में पाई जाती थीं और बड़ी लम्बी रोति से मांस पेशी की कोशा के भीतर तक जाती थीं। किन्तु इससे केवल दो कोशाओं में ही सम्पर्क स्थापित होता था। इस प्रकार प्रत्येक मांस पेशी स्वतन्त्र रूप से अकेली ही सिकुड़ती या कार्य करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि विशेष कोशाओं में शाखाएँ फूटने लगीं जिससे कतिपय पेशियों के तन्तु परस्पर सम्बद्ध हो गये। शनैः शनैः शाखायें लम्बी होती गईं और उन की संख्या भी बढ़ती गई। इस प्रकार वृद्धि होने पर इनके लिये एक ऐसी कोशा का होना आवश्यक हो गया जो इनका नियन्त्रण भी कर सके और इनका पोषण भी। इसलिये तन्तुओं का जाल जैसे-जैसे बढ़ा वैसे-वैसे चेता-कोशाएँ भी बनती गईं। इस प्रकार प्रारंभिक चेता-संहति का निर्माण उन तन्तुओं से हुआ जो विशेष चर्म-कोशाओं से उन पेशी कोशाओं तक जाते थे जो सम्पर्क-तन्तुओं के शाखित जाल के द्वारा परस्पर जुड़े हुए थे। इन तन्तुओं के कारण पेशी-तन्तुओं में भी शाखाएँ फूट गयीं। किसी सीमा तक यह प्रणाली ठीक थी। कई निम्न श्रेणी के जीवों में आज भी इसी प्रणाली से कार्य होता है। किन्तु आगे बढ़ते हुए विकास के लिये इसमें एक बड़ी असुविधा यह

थी कि शरीर के किसी एक भाग पर उत्तेजक वस्तु का प्रयोग करने पर उत्तेजना को समस्त जन्तु-संहति का बहुत लम्बा और जटिल मार्ग तय करना पड़ता था, तब कहीं वह उस स्थान पर पहुँचती थी जो उस भाग के सर्वथा सन्निकट भी होता था जिस पर उत्तेजक लगाया गया था। ऐसी स्थिति में एक केन्द्रीय समा-शोधन स्थात्र (क्लीअरिङ्ग स्टेशन) अथवा विनिमय (एक्सचेंज) की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो प्रणोदों (इम्पल्सेस) का समन्वयन कर सके और उन्हें सही मार्ग से उनके गन्तव्य स्थान को भेज सके। जो तन्तु इस केन्द्रीय संहति में प्रवेश करते हैं वे संवेदि-तन्तु (सेन्सरी फाइबर्स) और जो इसमें से बाहर निकलकर पेशियों अथवा प्रतिक्रिया करने वाले अन्य अङ्गों की ओर जाते हैं प्रेरक-तन्तु (मोटर फाइबर्स) कहलाते हैं। इस प्रकार पशु के संवेदि-तन्तु उसकी त्वचा में रहते हैं और केन्द्रीय विनिमय को प्रणोद भेजते हैं। केन्द्रीय विनिमय इन प्रणोदों को प्रेरक तन्तुओं द्वारा पेशियों अथवा अन्य अंगों को भेज देता है। पशु की आवश्यकताओं के अनुकूल यह केन्द्रीय विनिमय एक लम्बी रज्जु के रूप में शरीर के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है। आद्य पृष्ठरज्जु के निर्माण का यही इतिहास है।

संवेदि-अंग से जा मार्ग केन्द्रीय चेता-संहति में स्थित चेता-कोशा में से होता हुआ प्रेरक अंग को जाता है उसे प्रतिक्षेप चाप (रिफ्लेक्स आर्क) कहते हैं और संवेदि-अंग पर प्रयुक्त उद्दीपक के प्रति प्रेरक अंग के प्रतिचार (रेस्पॉन्स) को प्रतिक्षेप प्रतिचार (रिफ्लेक्स रेसपोन्स) कहते हैं। सृष्टि के आरंभ काल के पृष्ठवंशी पशुओं और गेंडुए आदि उनके पूर्वजों की देह कई भागों या खण्डों से मिलकर बनी होती थी। प्रत्येक खण्ड में केन्द्रीय चेता-रज्जु का

एक टुकड़ा अवश्य होता था जिससे प्रतिक्षेप चाप के द्वारा उनकी हलचल का नियन्त्रण होता था। अर्थात् पशु के छठे खण्ड का संवेदि-अंग चेता-संहति के छठे खण्ड को संदेश भेजता था जिससे पशु के छठे खण्ड की पेशी में प्रतिचार उत्पन्न होता था। साथ ही यह भी आवश्यक था कि चेता-संहति के प्रत्येक खण्ड का अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती सभी के साथ सम्पर्क रहे। इसलिए सम्पर्क स्थापित करने वाले तन्तुओं या लम्बे पथों का निर्माण हुआ जो केन्द्रीय चेता-संहिता के एक छोर से दूसरे छोर तक जाते थे और समूचे शरीर का समन्वयन करते थे। इसका फल यह हुआ कि अब छठे खण्ड पर प्रयुक्त उत्तेजक एक ही खण्ड में अथवा सब खण्डों में एक साथ प्रतिक्षेप प्रतिचार उत्पन्न कर सकता था।

शरीर का प्रथम खण्ड अर्थात् सिर यदि अपने चारों ओर की परिस्थिति, शत्रु और खाद्य पदार्थ आदि पहले से ही किसी प्रकार जान ले तो शरीर-धारी के लिए बड़ी भारी सुविधा हो जाय। शत्रु के मुख में पहुंच कर यदि शत्रु का ज्ञान हुआ तो उससे कोई लाभ नहीं। शत्रु को अपने पास तक पहुंचने से पहले, दूर से ही ताड़ लेना आवश्यक है जिससे अपने बचाव का प्रयत्न किया जा सके। भागकर, छिपकर अथवा शत्रु का सामना करने के लिए पहले से सावधान और सन्नद्ध होकर ही प्राणी अपनी रक्षा कर सकता है। यही कारण है कि सिर में परमात्मा ने विशेष ज्ञानेन्द्रियों की स्थापना की। प्रकाश की विभिन्नताओं को ताड़ने वाली आँखें, आवेप को सुनने वाले कान, गन्ध से खाद्य-पदार्थों की विद्यमानता को समझ जाने वाली नाक और जिनकी सहायता से प्राणी परिमा में अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है; वे अंग सिर में

रक्खे गए। इस प्रकार सिर में इतने आवश्यक विशेष अंगों की स्थापना होने पर इस बात की शक्यता हुई कि इनके लिये पर्याप्त बड़ी, शरीर के अन्य खण्डों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, केन्द्रीय संहति सिर में ही होना चाहिए। शरीर के भाग की विशेष रूप से प्रवर्धित इस केन्द्रीय संहति को ही मस्तिष्क कहते हैं। मस्तिष्क सावधान करने और उसके अनुरूप समूचे शरीर प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता पर ही अस्तित्व के संघर्ष में प्राणी का जीवित रहना निर्भर है। मस्तिष्क जितने ही काम का सिद्ध होता है उतना ही प्राणी को जीवित रहने का अवसर मिले। आरम्भ काल के अनेक विशाल काय प्राणियों आज कहीं पता भी नहीं चलता। इसका कारण यही है कि परिस्थिति के अनुसार उन्होंने हाथ-पांव को विशेष भारी और विशाल बनाने की आवश्यकता समझी जिससे वे अपने शत्रुओं को दबाते और खा जाते थे। इसमें किसी प्रकार विशेष कौशल, चातुर्य या सोच-विचार की शक्यता नहीं थी। इससे हाथ-पांव का आकार भार तो बहुत बढ़ा किन्तु मस्तिष्क की कोई उन्नति न हो सकी। फल यह हुआ कि शनैः-शनैः पृथ्वी तल से सर्वथा लुप्त हो गए। उन्होंने में बल तो बहुत एकत्र किया किन्तु उस बल उचित प्रयोग के लिए मस्तिष्क के कार्य-कौशल कोई उन्नति न हो सकी। दूसरी ओर उनके धियों ने अपनी पेशियों और शरीर के अन्य भागों को तो अपनी देख-भाल आप करने के लिए दिया और अपने मस्तिष्क को उन्नत बनाने प्रयत्न किया। वास्तव में इस जीवन संघर्ष में अस्तित्व बनाये रखने के लिये यही आवश्यक मनुष्य का निस्तार इसी में था कि वह देह को

देख-भाल स्वयं करने के लिये छोड़कर मस्तिष्क को उन्नत बनाने में विशेष प्रयत्नशील हो। विकास-वाद के अनुसार आज का मानव-मस्तिष्क इसी प्रयत्न का परिणाम है।

चर्म में, मांस-पेशियों और सन्धि-स्थानों में अनेक विभिन्न संवेदि-अंग होते हैं। इन्हीं सब स्थानों से चैता-तन्तु सूचनाएँ एकत्र करते हैं। प्रत्येक अंग से एक तन्तु आता है, और पीछे ये सब तन्तु एकत्र होकर चैता-स्कन्धों के रूप में बन्ध जाते हैं जो पृष्ठ-रज्जु तक जाते हैं और वहाँ से अपनी सूचनाओं का परिसारण (रिले) करते हैं।

पृष्ठ-रज्जु में प्रवेश करते समय प्रत्येक संवेदि चैता-तन्तु में एक छोटी-सी शाखा निकल आती है। यह शाखा एक कोशा तक जाती है जो तन्तु के पोषण का कार्य करती है। यह कोशा-चैता का अविभाज्य अंग है। जो तन्तु संवेदि-अंगों से आते हैं और पृष्ठ-रज्जु में प्रवेश करते हैं, वास्तव में वे इसी कोशा के दीर्घित भाग हैं। इस प्रकार वहाँ कोशाओं का एक संग्रह हो जाता है जिससे पृष्ठ-रज्जु में प्रवेश करते समय चैता-स्कन्ध पर एक प्रगण्ड-सा बन जाता है। इसे पीछे के मार्ग का प्रगण्ड कहते हैं। क्योंकि संवेदि-मार्ग पृष्ठ-रज्जु में पीछे हैं और प्रेरक आगे।

पृष्ठ-रज्जु में एकबार प्रविष्ट होकर संवेदि-चैताएँ कई काम करती हैं। पृष्ठ-रज्जु में धूसर वर्ण के एक पदार्थ का पुंज केन्द्र में रहता है जिसमें चैता-कोशाएँ बहुत अधिक संख्या में होती हैं। पुंज के चारों ओर श्वेत वस्तु की एक खोली-सी होती है। यह और कुछ नहीं, रज्जु में ऊपर नीचे जाने-आने वाले तन्तु हैं। इनमें कुछ सीधे मस्तिष्क तक और मस्तिष्क से नीचे तक जाते-आते हैं। कुछ संवेदि-तन्तु भीतर जाते ही धूसर वर्ण के पदार्थ में

घुस जाते हैं और जिस भाग में घुसते हैं उसी भाग के धूसर पदार्थ के सामने की ओर चैता कोशाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। इन से तन्तुओं की जो शाखाएँ फूटती हैं वे आगे के प्रेरक मार्ग से बाहर निकल कर चैताओं में चली जाती हैं और पेशियों के अन्दर घुसकर उन्हें चेतन करती हैं और क्रिया के लिये उत्तेजित करती हैं। इसी प्रकार अन्य संवेदि तन्तु भी कोई नीचे से ऊपर और कोई ऊपर से नीचे आते-जाते हैं और आसपास के खण्डों तक पहुँच जाते हैं। इनमें कई एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में पहुँच कर अन्य खण्डों के साथ प्रतिक्षेप-चाप बना लेते हैं। कई संवेदि-तन्तु ऐसे भी हैं जिनमें कुछ पीछे वाले धूसर पदार्थ की कोशाओं से अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं और कुछ सीधे ही ऊपर की ओर बढ़ जाते हैं और रज्जु में से होते हुए मस्तिष्क के विभिन्न भागों में जा पहुँचते हैं। स्पर्श, पीड़ा, गर्मी, सर्दी आदि के प्रणोद इन्हीं तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क के महान् संवेदि-क्षेत्र में, जिसे बाह्यक कहते हैं, पहुँचते हैं।

पृष्ठ रज्जु के कार्य कलाप का अध्ययन करने के लिये मस्तिष्क को पहले नष्ट कर देना आवश्यक है; क्योंकि पृष्ठ-रज्जु के प्रतिक्षेपों पर मस्तिष्क का नियंत्रक प्रभाव बहुत कुछ पड़ता है और इससे वे संपरिवर्तित हो जाते हैं। किसी मेंढक का मस्तिष्क यदि नष्ट कर दिया जाय तो उसे भैरव (स्पाइनल) प्राणी कहते हैं। क्योंकि अब उसके शरीर का नियन्त्रण केवल पृष्ठ रज्जु के द्वारा होता है। यह मेंढक अब किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव किये बिना पर्याप्त समय तक जीवित रहता है। इसलिए पृष्ठ-रज्जु के क्रिया कलाप का अध्ययन इसमें भली प्रकार किया जा सकता है।

मस्तिष्क के अभाव में यह देह केवल आकोचों

और प्रतिक्षेपों की देह रह जाती है। समूचे शरीर पर भैरव प्रतिक्षेपों का अधिकार हो जाता है। किन्तु मस्तिष्क इन प्रतिक्षेपों पर बड़ा शक्तिशाली नियंत्रण रखता है। इनको संपरिवर्तित कर वह हमारे अस्तित्व पर इनका प्रभुत्व स्थापित नहीं होने देता। मस्तिष्क ने आकोचन प्रतिक्षेप को दबाकर उसे एक नये प्रतिक्षेप से बदल दिया है। जब रज्जु मस्तिष्क के नियन्त्रण से मुक्त हो जाती है उसी समय आकोचन-प्रतिक्षेप प्रकट होता है अन्यथा छिपा पड़ा रहता है। यह बात समूची केन्द्रीय चेता-संहति में दिखाई देती है और मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों में भी जो सद्यः विकसित शक्तियों पर दृष्टि रखते हैं पाई जाती है।

कई औषधियाँ ऐसी हैं जो मस्तिष्क के सद्यः विकसित सर्वोच्च व्यापार को अस्थायी रूपसे स्तम्भित कर देती हैं और निम्न श्रेणी के विचारों को जो पहले दबे हुए थे मुक्त कर देती हैं। ऐसी औषधियों में मद्य का उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है। मद्य वास्तव में शक्तिदायक नहीं है अपितु सर्वोच्च केन्द्रों को स्तम्भित कर देने वाली है। इसके प्रभाव से मस्तिष्क के विवेचन-क्षमता और सूक्ष्मतर सामाजिक नियमों वाले केन्द्र स्तब्ध हो जाते हैं और हमारी निम्न श्रेणी की प्रकृति और नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ निरंकुश होकर उभर आती हैं। मद्य के सम्बन्ध में यह बात कई बार कही गई है कि इसकी सहायता से मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान बड़ी सरलता से हो सकता है।

पृष्ठ-रज्जु जब कपाल (स्कल) में प्रवेश करती है तो वहाँ यह फूल जाती है और एक चौड़े पुँज में परिवर्तित हो जाती है। इसे मस्तिष्क-पुच्छ (मेडुला आर्ब्लॉगैटा) कहते हैं। वास्तव में यह पृष्ठ-रज्जु का ही एक विशेषित भाग है और उसी की रीति से

कार्य करता है। संवेदि-चेताएँ इसके पिछले भाग में प्रवेश करती हैं और प्रेरक चेताएँ इसके आगे भाग से निकलती हैं। श्वसन को नियन्त्रण में रखने वाले श्वसन-केन्द्र और हृदय को चलाने वाले हृदय-केन्द्र जैसे जीवनावश्यक केन्द्र इसी में हैं। संवेदि-चेता-तन्तु प्राणेशा चेता में प्रविष्ट होते हैं और हृदय और फेफड़ों से सूचनावाही प्रणोद लाते हैं। ये तन्तु मस्तिष्क-पुच्छ की कोशाओं से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं तब उन कोशाओं से प्रेरक तन्तु निकलते हैं। इनमें जो तन्तु हृदय की ओर जाते हैं वे वहाँ से सि इसी मस्तिष्क-पुच्छ में स्थित प्राणेशा-चेता में लौट आते हैं और जो श्वसन की पेशियों की ओर जाते हैं वे पृष्ठ-रज्जु में से होकर जाते हैं और आवश्यकतानुसार उससे स्थान-स्थान पर अलग होकर अपना निर्दिष्ट पेशी की ओर चले जाते हैं। ये चेता-केन्द्र जीवन के अस्तित्व के लिये पूर्णरूप से आवश्यक हैं इनके नष्ट होने से प्राणी की मृत्यु तुरन्त हो जाती है।

सिर के संतुलन की देख-भाल करने का केन्द्र भी इसी प्रदेश में है। कान में विशेष संवेदि-अंग होते हैं जो परिमा में सिर की स्थिति की सूचना और किस समय सिर किस ओर को झुकता या हिलता डुलता है इत्यादि सूचनाएँ इन केन्द्रों को देते रहते हैं। ये सूचनाएँ सर्वथा पूर्ण होती हैं। इस गतिविधि की छोटी-सी-छोटी बातकी भी सूचना आरम्भ से अन्त तक इन केन्द्रों में पहुँचती रहती है। योंही शरीर की प्रत्येक पेशी की हलचल की सूचना इन केन्द्रों में पहुँचती है। पर सिर के संतुलन और परिमा में उसकी स्थिति की सूचना कान के द्वारा पहुँचती है। निम्न श्रेणी के समस्त पृष्ठ-वंशियों में संतुलन के अंग अधिक कार्यकुशल होते हैं। किन्तु मानव में इनकी दक्षता आँखों के कारण कम हो जाती है।

सन् १९५१]

मस्तिष्क और चेतासंहति

८८७

है। फिर भी ये अंग मनुष्य के लिये बहुत आवश्यक हैं। मछली और पक्षियों में संतुलन-अंगों की दक्षता बहुत उच्च श्रेणी की होती है। इसका कारण यह है कि ये प्राणी जल और आकाश में स्वच्छन्द विचरते हैं। कभी-कभी तो एक ही समय विमात्रय (थ्री डाइमेंशनस) में स्वच्छन्द विचरते दिखाई देते हैं। किन्तु मनुष्य को अभी तक केवल चपटे धरातल पर ही चलने-फिरने का अवसर मिला है। यदि उसे आँखों के उपयोग से वंचित कर दिया जाय तो उसका संतुलन सर्वथा अनिश्चित और सन्दिग्ध हो जाता है। घने कोहरे या बादलों के बीच उड़ते समय विमान चालक को परिमा में अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं रहता। कभी-कभी तो यहाँ तक होता है कि उसका विमान सर्वथा उलट जाता है और उड़ता रहता है किन्तु उसे पता भी नहीं चलता।

मस्तिष्क वास्तवमें चेता ऊतियों का एक खोखला पुँज है जिसके मध्य में एक प्रकार के तरल से पूर्ण एक गुहा है। यह तरल नीचे की ओर परिवहण करता हुआ मस्तिष्क पुच्छ तक पहुँचता है और वहाँ एक छोटे से छिद्र से निकलकर मस्तिष्क के ऊपरी तल पर जा पहुँचता है।

यह गुहा पृष्ठ रज्जु की मध्यवर्ती कुल्या के रूप में नीचे तक चली गई है। गुहा चारों ओर असंख्य श्वेत तन्तुओं के पुँज से घिरी रहती है। ये तन्तु सारे शरीर में दूर-दूर तक जाते और उसके प्रत्येक अवयव का मस्तिष्क के साथ और मस्तिष्क के सब केन्द्रों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस पुँज के ऊपर धूसर वर्ण के एक पदार्थ का मोटे पट्ट (प्लेट) के समान स्तर चढ़ा रहता है इस धूसर पदार्थ में असंख्य चेता-कोशाएँ होती हैं। इस पदार्थ को बाह्यक कहते हैं। यह मस्तिष्क का बाह्यक सर्वोच्च और सर्वाधिक विशेषित भाग है। इसी के द्वारा

हमें ज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है। अपना क्षेत्र बढ़ाने के लिये यह कई तहों में तहाया हुआ रहता है।

संवेदि-तन्तु पृष्ठ-रज्जु से मस्तिष्क में पहुँचकर फैल जाते हैं और अन्ततः बाह्यक के एक भाग में पहुँच जाते हैं। यह भाग बाह्यक के पार्श्व-तल के मध्य के ठीक पीछे उद्ग्रोन्मुख और उद्ग्राधोमुख होता है। संवेदि-बाह्यक परिशुद्ध रूप से कई क्षेत्रों में बंटा हुआ है। ये क्षेत्र शरीर के पृथक्-पृथक् अपने निर्दिष्ट भागों से सूचनाएँ प्राप्त करते हैं और सब मनुष्यों में एक से ही होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है संवेदि-तन्तु इस भाग में पहुँचने से पूर्व एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर जाते हैं। यही कारण है कि यदि बाह्यक के बायें पार्श्व में स्थित हस्त-क्षेत्र पर उत्तेजक का प्रयोग किया जाय तो उसका प्रभाव दाहिने हाथ पर होता है।

संवेदि-बाह्यक के ठीक सामने धूसर पदार्थ की लम्ब रूप एक पट्टी होती है। इसे प्रेरक बाह्यक कहते हैं। इसमें त्रिकोण अथवा कोण स्तूपाकार बड़ी-बड़ी कोशाएँ होती हैं जिनमें से लम्बे-लम्बे प्रवर्ध निकलकर सीधे मस्तिष्क और पृष्ठ रज्जु में से होते हुए उन प्रेरक कोशाओं से जा मिलते हैं जो पृष्ठ रज्जु के धूसर पदार्थ के अगले भाग में हैं। ये लम्बे तन्तु भी नीचे की ओर आते समय संवेदि-तन्तुओं के समान एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व की ओर जाते हैं जिससे दाहिनी ओर के प्रेरक बाह्यक की कोशा पृष्ठ-रज्जु में स्थित प्रेरक कोशा के द्वारा शरीर के बाईं ओर की पेशी का नियन्त्रण करती है। यही कारण है कि मस्तिष्क में बाईं ओर के प्रेरक बाह्यक में रक्त-स्राव होने पर शरीर में दाहिनी ओर का कोई अंग पक्षाघात से पीड़ित होता है। मस्तिष्क के ये सबसे साधे सादे दो सरल भाग हैं जहाँ शारीरिक संवेदनाएँ ज्ञान में परिणत होती हैं और इच्छा

या संकल्प की हलचल आरम्भ होती है। शेष बाह्यक में भी इसी प्रकार के अनेक क्षेत्र बने हैं जो अपना-अपना निर्दिष्ट कार्य करते रहते हैं। जो कुछ हम देखते हैं, उसका हमें बोध कराने वाला दार्ष्टिक क्षेत्र मस्तिष्क में पीछे दोनों ओर है। श्रवण-शक्ति का क्षेत्र निचली ओर पार्श्व में और विशेष वाक्-क्षेत्र मस्तिष्क के वाम भाग में है। मस्तिष्क के सामने डाला भाग बुद्धि, विचार, स्मृति तथा अन्य उच्च मानसिक क्रियाओं के काम आता है। मस्तिष्क के सब क्षेत्र तन्तुओं के द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। ये तन्तु मस्तिष्क के दोनों ओर के सब क्षेत्रों के बीच गए हुए हैं जिससे किसी एक क्षेत्र पर उत्तेजक का प्रयोग करने से कोई एक अंग अथवा सब अंग प्रतिक्रिया करते हैं।

उक्त वर्णन से अब तक जो संकेत मिलता है उससे यह पता चलता है कि शरीर की प्रत्येक चेष्टा के लिए प्रतिक्षेप की आवश्यकता है और प्रतिक्षेप उत्पन्न करने के लिए कोई न कोई उत्तेजक अवश्य होना चाहिए। कई बार देखा जाता है कि मनुष्य के मस्तिष्क में सर्वथा नए विचार आते हैं। उनके लिए कोई उत्तेजक साधारणतया दिखाई नहीं देता। किन्तु यदि कुछ गहराई तक विचार कर देखा जाय तो कोई न कोई बात ऐसी अवश्य मिलेगी जिसका इन विचारों की उत्पत्ति से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इस प्रकार के उदाहरणों में तो इस सिद्धान्त के मानने में कोई कठिनाई नहीं है। असली कठिनाई स्मृति के सम्बन्ध में आती है। आज से एक वर्ष आगे की तिथि और समय हम किसी से मिलने के लिए नियत करते हैं। एक वर्ष के पश्चात् ठीक उसी दिन उसी समय हमें उसका स्मरण कैसे हो जाता है? साधारण प्रतिक्षेप को इसका कारण मानना कठिन है। इसके लिए विद्वानों ने एक दूसरे प्रकार का प्रतिक्षेप माना है

जिसे प्रसीमित (कण्डीशन्ड) प्रतिक्षेप कहते हैं। एक कुत्ते को खाना दिया जाता है, तुरन्त ही उसके मुख में पानी भर आता है। अर्थात् उसके मुख में लाला (सालिवा) का उदासर्जन होता है। यदि पहले घंटी बजाई जाय और कुछ देर बाद कुत्ते को खाना दिया जाय तो फिर उसके मुख में लाला प्रतिक्षेप के कारण लाला का उदासर्जन होता है। किन्तु यह विधि कई बार दोहराने पर एक अनोखी बात दृष्टिगोचर होती है। खाना न मिलने पर भी केवल घंटी बजने से ही कुत्ते के मुख में लाला उदासर्जित होने लगती है। यह कहा जाता है कि घंटी बजाने से लाला का उदासर्जन प्रसीमित हो गया है और जिस प्रतिक्षेप से लाला का इस प्रकार उदासर्जन होता है उसे प्रसीमित प्रतिक्षेप कहते हैं। अतः घण्टी के बजने से लाला का उदासर्जन होता प्रसीमित प्रतिक्षेप है। यह तो निश्चित रूप से बात है कि जो चेता कोशाएं प्रसीमित प्रतिक्षेप को आगे बढ़ाती हैं वे सब मस्तिष्क-बाह्यक में ही स्थित हैं। क्योंकि यदि इसे नष्ट कर दिया जाय तो उनमें प्रसीमित प्रतिक्षेप की कोई क्रिया दिखाई नहीं देती। ऐसा माना जाता है कि निर्दिष्ट बाह्यक को कोशाओं के बीच नए मार्ग बन जाते हैं अर्थात् नवीन तन्तुओं का उत्पादन होता है और वे दूसरी कोशा में पहुंचकर उनका परस्पर सम्पर्क स्थापित कर देते हैं। प्रकाश, ध्वनि अथवा अन्य कोई वस्तु उत्तेजक के रूप में इसी मार्ग से उन कोशाओं तक पहुंचती है जो प्रसीमित प्रतिक्षेप उत्पन्न करती हैं। संसार में हम जितने भी अनुभव प्राप्त करते हैं प्रत्येक के नए मार्ग उन सहस्रों कोशाओं के बीच बनते रहते हैं जिनका यह बाह्यक बना हुआ है। हमारी स्मरण शक्ति और बौद्धिक तथा मानसिक हलचलों का यही रहस्य है।

रोगोत्पत्ति में आन्तरिक अर्थशास्त्र

(Internal Economy In Disease Production)

मेजर टी० बहादुरी एम० वो० बी० एस०, डी० पी० एच०



[बनारस मेडिकल एसोसिएशन में डा० बहादुरी ने जो प्रबन्ध पढ़ा था उस का यह हिन्दी उलथा है। डाक्टर साहब के क्रान्तिकारी विचार उस सभा में उपस्थित डा० गी० भा० घाणेकर को आयुर्वेद के सिद्धान्तों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते मालूम पड़े और सभानेत्री जी के आग्रह से आप ने इस प्रबन्ध के समर्थन में भाषण दिया था। उस भाषण की बाद में डा० घाणेकर ने स्वयं सुविस्तृत लेख के रूप में परिवर्तित किया जो इस लेख के आगे प्रकाशित हो रहा है। डा० घाणेकर के लेख के विषयों का ठीक से आकलन होने के लिए डा० बहादुरी का मूल प्रबन्ध भी साथ-साथ पढ़ना आवश्यक था। अतः डा० घाणेकर जी ने इस को अपने लेख के साथ प्रकाशित करने की अनुमति एसोसिएशन के मंत्री डा० मैत्रजी से प्राप्त की। उसी अनुमति के आधार पर यह अनुवाद डा० घाणेकरजी के लेख के साथ-साथ छपा जा रहा है। इस के लिए हम एसोसिएशन के मंत्री तथा डा० घाणेकरजी को हृदय से धन्यवाद देते हैं। डा० बहादुरी आप आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के विद्वान् और उत्तरप्रदेश-आरोग्य-विभाग के उच्च पदाधिकारी हैं।

—स० स० आ०]

वर्तमान युगमें वृथा अभिमान (Vanity) की भावना सर्वोपरि है और इस युगमें रहने वाले हम लोग अपने आप को वैज्ञानिक मान कर अपनी बौद्धिक अपरिपक्वता को प्रतिपादित करते हैं।

वृथा अभिमान की इस स्थिति में, जिसको पागलपन (Insanity) ही कहना अधिक उचित होगा, हम शीघ्र गति से उन्मत्ता की भाँति दौड़ रहे हैं। इस दौड़ में हम वस्तुओं के आधारभूत मूल्यों की ओर अन्धे हो रहे हैं, जिस अन्धेपन को कोई भी दृष्टिविशारद ठीक नहीं कर सकता। इसके लिए युक्तियुक्त विचारशीलता के आधार पर संपूर्ण परिस्थिति का पुनर्विचार (Reorientation) करने की आवश्यकता है।

इसलिए 'हमारी चिकित्सा पद्धति तर्कसंगत (Rational) है और तदनुसार हम चिकित्सा

करते हैं' यह जो ध्वनि आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के बारे में चारों ओर से सुनाई देती है इसके लिए मैं केवल यही सूचित करना चाहता हूँ कि हम जरा रुकें और इस ध्वनि के ध्वन्यार्थ पर विचार कर।

हमलोगों ने धातुगत परिवर्तनों पर रोगों का निदान करना सीखा है। इसलिए जिसे हम अँगुलियों से स्पर्श नहीं कर सकते, आँखों से देख नहीं सकते एवं ज्ञानेन्द्रियों तथा यन्त्रों की सहायता द्वारा प्रतीत नहीं कर सकते उसे हम स्वीकार नहीं करते। हम लोग सूक्ष्मदर्शक यन्त्र और शारीरिक विकृतियों को ही आदि तथा अन्त समझते हैं। इसके पूर्व किसी बात को हम मानने के लिये तैयार नहीं होते। जब तक यह चलता है तब तक ठीक है। परन्तु आज मैं आपके सम्मुख एक दूसरा ही दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न करूँगा।

अब हम 'रोगी का क्या अर्थ है' इस बात पर विचार करें। मेरी समझ में पुरुष ही रोगी होता

है जिसको पुनः स्वस्थ करना है, न कि उसका शरीर अथवा शरीर के धातु। हमें कितने ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो कहते हैं—‘मैं रोगी हूँ’। वे आपके सामने लक्षणों के पृष्ठ के पृष्ठ कह जायेंगे। वे आपको यह भी कहेंगे कि मैं अमुक-अमुक के पास गया था। मैंने अपने हृदय और वक्ष की परीक्षा करवायी है। मैं नेत्र-विशेषज्ञ तथा स्त्री-रोग-विशेषज्ञ के पास भी गया था, और वे सब लोग कहते हैं कि कोई विकृति नहीं मिली। इसका अर्थ क्या है ? उसको किसी तरह मनोदुर्बल (neurasthenic) कह कर नहीं छोड़ा जा सकता। वस्तुस्थिति यह है कि इस समय रोगी में जो विकार हैं उनके बढ़ने पर लक्षण और चिन्ह प्रकट होंगे जिन्हें विकृति-वैज्ञानिक बाद में मालूम कर सकेंगे। परन्तु इस समय विद्वान् डाक्टर कहता है कि रोगी रुग्ण नहीं है। वह ऐसा इस धारणा से कहता है कि रोगों के स्थान-संश्रयण के पूर्व रोग शरीर में नहीं होता है। उसकी यह धारणा बिल्कुल गलत है क्योंकि जरा-सा विचार करने पर पता चलेगा कि शरीर के धातु तभी विकृत हो सकते हैं जब शरीर में उनके पहले कोई वैषम्य या वैगुण्य प्रारम्भ हो, अन्यथा नहीं। इससे यह स्पष्ट होगा कि रोग अन्तरात्मा (Inner man) में प्रारम्भ होता है।

संभव है, आप में से कुछ लोग मुझपर संदिग्ध और मूढ़ (Mystical) होने का दोषारोपण करें। फिर भी मैं आगे बढ़ता हूँ। पुरुषमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे हम अन्तरात्मा कह सकते हैं। वह क्या वस्तु है जिसे हटाने से केवल शारीरिक या भौतिक (Physical) पीछे बच जाता है। हम कहते हैं कि पुरुष चल बसता है और अपने शरीर को पीछे छोड़ जाता है। इस शरीर का हम जब विच्छेदन करते हैं तब हमें वे सब अंग मिलते

हैं जो उसकी जीवितावस्था में हमें स्पर्शन और दृष्टि के द्वारा प्राप्त हुए थे। अतः वास्तव में रुग्ण विकृत शरीर से पहले होता है और अन्त में कहना ही पड़ता है कि रुग्ण पुरुष उसी भाग में चाहिए जो पीछे नहीं रहा है। संक्षेप में, जो जाना जाता है वह प्राथमिक या प्रधान (Primary) जो पीछे रह जाता है वह अवशिष्ट या पौ होता है।

इससे यह निर्णय हमको स्वीकार करना पड़ेगा कि विकृति-विज्ञान में हम वास्तव में रोग के परिणाम (Disease result) देखते हैं। यकृत-विद्रधि ल फुफ्फुस-विवर (Cavity) इसलिए रोग नहीं, का फल है। वैज्ञानिक बनने के अत्युत्साह में समझता हूँ, नैमित्तिक को निमित्त समझने की करना (To confuse sequence to be consequence) पागलपन है।

आजकल का डाक्टर यह कहने में गर्व करता कि ‘मैं तुम्हारे लक्षणों के बारे में कुछ भी चिन्ता करता, मुझे तुम्हारा हृदय और यकृत देखने चाहिए और रक्त एवं थूक की जांच करनी चाहिए क्योंकि ये ही तुम्हारे सब कष्टों के कारण हैं। इनके लिये तुम्हें औषधियाँ लिख दूँगा।’ सैद्धांतिक प्रशिक्षण (Dogmatic training) से कलुषित हुए दुराग्रह (prejudice) के कारण हम इस का अनुभव नहीं कर सकते कि ये धातुगत रोग के वास्तविक स्वरूप या कारण को नहीं प्रकट करते, वे केवल इतना ही बतलाते हैं कि पुनः भीतरी वैगुण्य या वैषम्य के कारण कुछ वर्तन हुए हैं। जब कभी रोगी कहता है कि मुझे ऐसा-ऐसा अनुभव हो रहा है, मुझे ऐसा-ऐसा हो रहा है, मैं चिड़चिड़ा हो गया हूँ, मुझे लगता है कि मैं मर जाऊँगा तो विद्वान् डाक्टर

उपेक्षा कर देता है। क्योंकि वह उनको न तो सूक्ष्म-दर्शक के नीचे और न उष्णपोषक यन्त्र (incubator) में रख सकता है। परन्तु वास्तव में इन्हीं सूक्ष्म लक्षणों से एक स्वस्थ और रुग्ण पुरुष की वास्तविक स्थिति का पता चलता है। इस प्रकार का दुराग्रह और प्रवृत्ति होने का साफ-साफ कारण यह है कि हमारी चिकित्सा औषधियों और उनके प्रयोगों की दृष्टि से अत्यन्त हीन है। हमें यह न भूलना चाहिये कि आधुनिक विज्ञानों में चिकित्साशास्त्र ही सर्वाधिक अपूर्ण है।

इसलिये यदि हम वास्तविक रोग तथा उसके अन्तिम परिणाम में भेद करना सीख लें और दोनों को एक न मानें तो हमलोगों के सामने दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रोग के कारण क्या हो सकते हैं। यहां रोगों के कारणों को, जिन पर चिकित्सा निर्भर है, निश्चित करने में वैद्यक से तर्क-शास्त्र का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। यदि चिकित्सा को, रोग के कारण को हटाने की तथा उसके परिणामों के दूर करने की कल्पना पर किसी मर्यादा तक निर्धारित करना है तो उसकी सफलता, रोग के कौन से वास्तविक कारण हो सकते हैं—इस विषय के उचित निर्णय पर निर्भर होगी। हम सब इस बात पर सहमत हैं कि प्रत्येक कार्य के लिये कोई न कोई कारण अवश्य है। परन्तु हम भूलते हैं कि प्रत्येक कार्य के एक नहीं अनेक कारण होते हैं जिन सबों का विचार सही निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए आवश्यक होता है। ऐसा कदाचित होता है कि निमित्त नैमित्तिक के तौर पर केवल एकमात्र कारण का किसी एक कार्य से ऐकान्तिक (Invariable) सम्बन्ध रहे। साधारणतया अनेक पूर्वकारणों के सम्मिलित प्रभाव से कोई एक कार्य हुआ करता है।

प्रत्येक रोग के लिए केवल एक ही कारण होता

है, इस प्रकार की धारणा करके उसीके विरुद्ध चिकित्सा के सब प्रयत्न और साधन प्रयुक्त करना एक अतिसाधारण और अतिघातक प्रमाद है। चिकित्सा के आधारार्थ जीवाणुवाद का समर्थन करने वालों के विरुद्ध सबसे बड़ा जो अभियोग लगाया जाता है वह यह है कि उसमें कार्यकारण सम्बन्ध का अज्ञान या दुराग्रह भरा हुआ है। जीवाणु-जन्य रोगों में इतर कारणों की पूर्ण उपेक्षा करके केवल जीवाणु पर ध्यान और प्रयत्न केन्द्रित करने की घातक प्रवृत्ति से चिकित्सा में भूल और असफलता हो रही है। उदाहरणार्थ, विस्फुल्लिका में विस्फुल्लिकाणु (Cholera vibro) को एक कारण मानने पर भी हमें व्यक्ति की शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति, जीवनचर्या इत्यादि अनेक बातों का विचार करना पड़ता है क्योंकि ये सब कारण आपस में मिलकर किसी न किसी रूप में व्यक्ति की ग्रहणशीलता (susceptibility) या अग्रहणशीलता बनाने में या बिगाड़ने में आवश्यक होते हैं और इनके अनुकूल संयोग के बिना जीवाणु स्वयं निर्बल रहकर रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। जीवाणुजन्य रोगों में ये सब कारण जीवाणु के समान महत्त्व के होते हैं।

जैसे रोहिणी (Diphtheria) रोग किसी समाज में भले ही प्रचलित हुआ हो और अनेक व्यक्तियों के गले में रोहिणी दण्डाणु (Klebs Löffler bacillus) भले ही उपस्थित हों, परन्तु यदि उन व्यक्तियों में रोहिणी प्रतिकारक शक्ति विद्यमान हो तो रोहिणी उनमें उत्पन्न नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि जीवाणुओं के अतिरिक्त अन्य कारणों की अनुकूलता उनमें नहीं है।

इस प्रकार उपसर्गकारी (Infectious) जीवाणुओं की रोगोत्पादक शक्ति सदैव अन्यसापेक्ष या परिस्थिति सापेक्ष होती है, ऐकान्तिक नहीं। अतः

जीवाणुजन्य रोगों में जीवाणु एकमात्र कारण नहीं माने जा सकते हैं किन्तु उन सब कारणों अथवा परिस्थितियों के संयोग में एक संभाव्य कारण हो सकते हैं। रोगोत्पत्ति के पूर्व इन सब कारणों का एकत्र होना अनिवार्य है। यद्यपि विशिष्ट जीवाणु उनसे उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट रोगों की उत्पत्ति में सन्निकृष्ट कारण (Immediate cause) रूपमें आवश्यक होते हैं तथापि वे केवल सापेक्षतया ही कार्यकर होते हैं और सामान्यतया रोगोत्पत्ति में उनको जो स्थान दिया जाता है उससे उनका वास्तविक स्थान भिन्न है जो कि अन्य सहायक तथा सम्बन्धित कारणों के समान रहता है। जैसे यक्ष्मदण्डाणु किसी व्यक्ति में यक्ष्मोत्पत्ति की दृष्टि से उसकी परिस्थिति, प्रकृति, प्रवृत्ति, कुलजता इत्यादि अनेक कारणों के समान रहते हैं। इसलिये राज-यक्ष्मा (Tuberculosis) प्रतिबन्धनार्थ उसकी उत्पत्ति के उपयुक्त अन्य समान महत्त्व के कारणों की ओर ध्यान न देकर केवल यक्ष्मदण्डाणुओं के विरुद्ध सभी प्रयत्नों को केन्द्रित करना व्यर्थ और निराशाजनक है। हम सब लोग यदि विसूचिका-वक्राणु-दूषित पानी का एक-एक प्याला पी लेंगे तो हम में से कुछ लोगों में पचनसंस्थान के क्षोभ के लक्षण उत्पन्न होंगे, कुछ लोगों में विसूचिका उत्पन्न होगी और कुछ लोगों में कुछ भी नहीं होगा। इससे यह स्पष्ट होगा कि पुरुष की आन्तरिक स्थिति का ही रोगोत्पत्ति में विचार होना चाहिये। पर इतना सब जानते और देखते हुए भी हम राजयक्ष्मा प्रतिबन्धनार्थ बी. सी. जी. मसूरीकरण के आन्दोलन में (B. C. G. vaccination campaign) संलग्न हैं। कोई भी इतना अन्धा नहीं कि यह कुछ न देख सके। क्या हम प्रतिदिन ऐसे रोगियों के संपर्क में नहीं आते जिनको जीवाणु विरोधी (Antibacterial) चिकित्सा से कुछ भी लाभ नहीं होता और यदि कुछ

लाभ होता भी है तो आगे चलकर पुनरावर्तन (Relapse) नहीं होता ? और इतना होते हुए भी हम चिकित्सारूपी अपनी बन्दूकों का लक्ष्य दृढ़तापूर्वक केवल जीवाणुओं पर लगाने से विरत होते हैं।

हम प्रतिदिन 'जीवाणुनाशन से रोगनाशन' के पूर्वप्रतिपादित मत का वैयर्थ देखते हैं और फिर भी वैसा ही करते रहते हैं। जो कुछ भी हो, मैं इस ज़रूर कहूंगा कि प्रतिजैविक द्रव्य (Antibiotics) इस दिशा में एक सुधार है।

जो कुछ मैंने ऊपर कहा है उसमें मैंने यही प्रस्तावित करने का प्रयत्न किया है कि अब समय आ गया है जब हम अपने दुराग्रहों का वहिष्कार कर तथा अपनी असफलताओं पर विचार कर सभी सबक सीखना प्रारम्भ करें। यही समय है जब हम प्राणियों और परीक्षा-नलिकाओं (Test tubes) से सुसज्जित प्रयोगशालाओं को छोड़ दें और चिकित्साला में रोगियों के पास बैठकर उनके सुख तथा दुःख, वेदना तथा कष्ट, इच्छाएँ तथा अनिच्छाएँ इनको सहानुभूति से अनुभव करने का प्रयत्न करें। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप किसी भी आधुनिक चिकित्सालयके रोगियों के आँकड़ों (statistics) पर दृष्टिपात करें तो आपको आश्चर्य तथा दुःख होगा कि बहुसंख्यक रोगी पूर्ण चिकित्सित रोग के पुनराक्रमण से या उसके उपरान्त से पीड़ित होकर भरती होते हैं। मानवजाति के दुःख जिनको हम रोग शब्द से संबोधित किया करते हैं, उनके निदानोपचारार्थ जिस दृष्टि से हम उनकी ओर देखते हैं उसमें निःसन्देह मूलतः भारी त्रुटि है। हम इस सम्बन्ध में अधिक अन्वेषण करके एक स्थिति क्यों है, इस विषय पर अधिक विचार प्रारम्भ न करेंगे ?

हाथी मरा भी तो नौ लाख का

श्री आ० गो० घाणेकर आयुर्वेदाचार्य, बी० एस० सी०, एम० बी० बी० एस्

❀

आयुर्वेद भारतीयों का चिकित्साशास्त्र रहा है, जो सहस्रावधि वर्षों से उनके स्वास्थ्य रक्षण और व्याधि निराकरण के कार्य को अव्याहत-रूपेण करता आया है। इसके अतिरिक्त उसने यूनानी तथा एलोपैथी को भी अनुगृहीत तथा प्रभावित करके उनको तथा उनके द्वारा अन्य देशों के निवासियों को उपकृत किया है। बाद में दुर्भाग्यवश भारत में मुसलमानों का आधिपत्य होने पर यूनानी तिब्ब एवं अंग्रेजी राज्य कायम होने पर एलोपैथी के द्वारा आयुर्वेद को अपने राष्ट्रीय पद से च्युत होना पड़ा। अंग्रेजों को इससे भी सन्तोष न हुआ तो एलोपैथी के हितार्थ एवं आयुर्वेद के विनाशार्थ उस को अवैज्ञानिक (Unscientific) कुवैद्यक (Quackery) कह कर बदनाम करना प्रारम्भ किया और आंग्लभाषा विभूषित पाश्चात्य वैद्यकोत्तीर्ण भारतीय डाक्टरों ने वैसा ही समझकर अंग्रेजों से भी अधिक उत्साह के साथ आयुर्वेदका विरोध करना शुरू किया। इस तरह राज्याश्रय न मिलने तथा शिक्षित जनता के इस ओर से विमुख हो जाने के कारण इसकी उन्नति के सभी मार्ग बन्द हो गये। धीरे-धीरे उसकी प्राचीन परम्परा लुप्त होने लगी और स्थिति विपद्ग्रस्त हो गई।

इधर यूरोप में राज्याश्रय एवं शिक्षित वर्ग की पूर्ण सहानुभूति प्राप्त होने के कारण एलोपैथी का विकास बहुत होने लगा। उसमें नये-नये आविष्कार होने लगे, नये-नये यन्त्र और उपकरण बनने लगे,

नयी-नयी सद्यःफलदायी औषधियाँ बनने लगीं। भारत में अङ्गरेजी-राज्य होने के कारण यहाँ इसका प्रचार भी खूब जोरों में हुआ। इससे प्रभावित होकर हमारे भारतीय चिकित्सक भी आयुर्वेद की अपेक्षा एलोपैथीको ही अधिक समुन्नत तथा वैज्ञानिक सिद्ध करने लगे और साधारण शिक्षित जनता भी प्रायः वैसा ही समझने लगी। परन्तु उसकी गहराई तक पहुँचकर उसकी थाह लेने वाले पाश्चात्य विवेकी विद्वान् चिकित्सक उसकी सर्वतोमुखी उन्नति होते हुए भी उससे असंतुष्ट रहे। इनमें कुछ लोगों ने होमियोपैथी, वायोकेमिस्ट्री, नेचरोपैथी इत्यादि दूसरी दूसरी चिकित्सा पद्धतियों को जन्म दिया और कुछ लोग उसकी परम्परा में रहते हुए समय-समय पर उसकी कड़ी आलोचना करते रहे, जिसका कुछ निदर्शन नीचे किया जाता है—

(1) The treatment of disease is not a science nor even a refined art, but a thriving industry.

Sir James Barr

(2) By far the greatest part of all chronic diseases is created or complicated through the suppression of acute diseases by means of drugpoisons and through the destructive effect of drugs themselves.

Sir William Osler

(3) The taunt that has been so long levelled against the doctor is as true to-day as when it was first uttered that he gives drugs

whose actions he does not understand for conditions of which he is ignorant.

Sir James Mackenzie

- (4) The medical practice of our day is at the best a most uncertain and unsatisfactory system. It has neither philosophy nor common sense to commend it to confidence.

Prof. Evans

भारतवर्ष में भी एलोपैथी के जानकारों तथा चिकित्सकों में उपर्युक्त स्वरूप के विचार प्रकट करने वाले असन्तुष्ट लोग रहे हैं। उनमें जो आयुर्वेद के ज्ञाता रहे वे सदैव आयुर्वेद को श्रेष्ठ बताते हुए उसके सिद्धान्तों के अनुसार उसकी औषधियों द्वारा यथा-शक्ति चिकित्सा करते आये हैं। यह स्थिति केवल भारत में ही नहीं; अपितु विदेशों में भी पायी गई है। इसके लिए फिलाडेल्फिया के डॉ० जार्ज क्लार्क एम० ए० एम० डी० का उदाहरण दिया जा सकता है। आपने चरक संहिता के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर जो विचार प्रकट किए हैं, वे सर्वश्रुत होते हुए भी यहाँ दिए जाते हैं—

“As I go over each fasciculus I arrive at one conclusion and that is this—If the physicians of the present day would drop from the pharmacopeia all modern drugs and chemicals and treat their patients according to the method of CHARAK, there would be less work for the undertakers and fewer chronic invalids in the world.”

ऊपर मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उनकी पुष्टि अभी हाल में मेजर बहादुरी के बनारस मेडिकल एसोसियेशन के सामने पठित प्रबन्ध से भी होती है। आप एलोपैथी के उच्च पदवीधारी एवं उत्तर प्रदेशीय आरोग्य विभाग के उच्च पदाधिकारी हैं। आपने अपने प्रबन्ध में वर्तमान-कालीन एलोपैथी की चिकित्सा के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं,

वे उपर्युक्त पाश्चात्य चिकित्सकों के समान अलग क्रान्तिकारी तथा एलोपैथी के चिकित्सकों की ओर खोलकर उनको अपने व्यवसाय पर नयी दृष्टि से विचार करने के लिये प्रवृत्त करने वाले हैं। मेरे कथन की पुष्टि के लिये प्रबन्ध का आदि और अन्तिम निम्नलिखित दो ही वाक्य पर्याप्त हैं।

“Vanity reigns supreme in this world today and we who live in this present age have lost our heads labelling ourselves as ‘scientists.’

“There is obviously something wrong in our entire approach to the nature of human ailments that we call disease. Shall we not start probing in and reasoning out why?”

सभा के दिन एसोसिएशन के मन्त्रीजी के निमन्त्रण के कारण मैं भी उपस्थित था। डॉक्टर साहब के क्रान्तिकारी विचार आयुर्वेद के सिद्धान्तों के साथ बहुत-कुछ मिलते-जुलते मुझे मालूम हुए। जब प्रबन्ध पढ़ने के पश्चात् सभानेत्री श्रीमंत थुंगम्मा के आदेशानुसार मुझे भी इस पर दो शब्द बोलने का अवसर मिला तो मैंने सर्वप्रथम यही कहा कि “डॉक्टर साहब ने अपने प्रबन्ध में जो विचार प्रकट किए हैं, उन्हें सुनकर मुझे मालूम हो रहा है कि मैं आज डॉक्टरों की सभा में न होकर वैद्यों की सभा में हूँ, और यदि इस प्रबन्ध में प्रकट किए गए विचारों के अनुसार डॉक्टरवर्ग व्यवहार करेंगे, तो उससे जनता को अधिक लाभ होगा।”

उसके पश्चात् अपने भाषण में डॉक्टर साहब के विचारों का समर्थन आयुर्वेद के सिद्धान्तों के अनुसार संक्षेप में किया। अपने उसी भाषण को कुछ विस्तार के साथ नीचे दे रहा हूँ।

कुछ वैद्यकीय विषयों का तुलनात्मक विवरण

(१) चिकित्सक पुरुष—प्रत्येक मानवी चिकित्सा शास्त्र में चिकित्सा का अधिष्ठान पुरुष ही होता है।

परन्तु पुरुष की परिभाषा प्रत्येक शास्त्र में भिन्न-भिन्न रूप में दी गई है। दर्शनशास्त्र में चेतन अव्यक्त आत्मा को पुरुष कहते हैं—“चेतना-धातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः” ॥ चरक ॥

भौतिकवादी पंचमहाभूतात्मक धातुसमुदाय को पुरुष कहते हैं। एलोपैथी तथा अन्य पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों का यही चिकित्स्य पुरुष होता है। आयुर्वेद महर्षियों ने मध्यम मार्ग स्वीकार कर पांच-भौतिक शरीर और आत्मा के समुदाय को अपने शास्त्र में पुरुष मान लिया है—“अस्मिन् शास्त्रे पञ्च-महाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया, सोधिष्ठानम् ॥ सकर्म पुरुषश्चिकित्साधिकृतः

॥ सुश्रुत ॥

“खाद्यश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ॥ चरक ॥

इसका कारण यह है कि आयुर्वेदमहर्षि आत्म-ज्ञान के बिना केवल पांचभौतिक शरीर का ज्ञान चिकित्सा में पूर्ण सफलता प्राप्त करने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं समझते थे।

(२) शरीर—इस प्रकार चिकित्स्य पुरुष के दो विभाग हो जाने के कारण उसका विवरण जिसमें होता है, उस शरीर को भी आत्मज्ञान या दैवसंपद और स्थूलशरीर मानुष संपद करके दो विभाग हो जाते हैं।

“शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसंपदा।

सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छरीरं स्थानमुच्यते।”—“चरक”

प्रथम आत्मज्ञान विभाग होता है, जिसमें आत्मा का, विविध योनियों में उसके अवतीर्ण होने के कारणों का, अवतीर्ण होते समय उसके साथ आने वाली सत्त्वादि सामग्री का और भौतिक शरीर में अवतीर्ण होने पर उसमें मिलने वाले उसके लक्षणों का विवरण रहता है। शरीर का यह दार्शनिक भाग आयुर्वेद की विशेषता है।

शरीर के उत्तर भाग में एलोपैथी शरीर के समान शरीर के अंग-प्रत्यंगों का तथा धातूपधातुओं का विवरण रहता है। सुश्रुतशरीर में अङ्ग-प्रत्यंगों के वर्णन के पश्चात् उनको प्रत्यक्ष करने के लिए शव-च्छेदन-पद्धति का भी वर्णन मिलता है और उसके अन्त में शरीरज्ञान में आत्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए इस बात का स्मरण दिलाया है कि पुरुष के भौतिक शरीर का प्रत्यक्ष ज्ञान इस पद्धति से हो जाता है, परन्तु उसके आत्मा का ज्ञान इस प्रकार नहीं हो सकता। वह ज्ञान प्रत्येक चिकित्सक को ज्ञानचक्षु से प्राप्त कर लेना चाहिए—

“तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं इत्रा शक्यस्य वाञ्छता।

शोधयित्वा मृतं सम्यग् द्रष्टव्योऽङ्गवनिश्चयः ॥

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः।

दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भवेत् च” ॥ सुश्रुत।

(३) रोग और रोगी—दर्शनशास्त्र में भौतिक शरीर को क्षेत्र और उसमें रहकर सुख-दुःखादि का ज्ञान प्राप्त करने वाले आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ गीता ॥ पुरुष के विकार उसके पांच-भौतिक शरीर में और मन में होते हैं और उनका ज्ञान आत्मा को होकर, वह कहता है कि हमें अमुक रोग हो गया है। इसलिए यद्यपि व्यवहार में शरीर को रोगी कहते हैं, तथापि वस्तुतः शरीर रोगी न होकर आत्मा रोगी (Sick man) होता है। रोगों की जो संवेदना आत्मा को होती है, वह दुःखद होने के कारण “तद् दुःखसंयोगा व्याधय उच्यन्ते”—सुश्रुत। इस प्रकार आयुर्वेद में रोग की परिभाषा की गई है।

(४) वैद्यकीय परीक्षा—रोग का सम्यग् ज्ञान प्राप्त करना वैद्यों का प्रथम कर्तव्य है। इसके लिए पुरुष का सम्यक् परीक्षण करना पड़ता है। यह परीक्षण पंचज्ञानेन्द्रियों, प्रश्न, आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान—इन साधनों द्वारा करने के लिए आयुर्वेद ने कहा है—

“षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः

तद्यथा पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन च”। सुश्रुत।

“त्रिविधं खलुरोगविशेषविज्ञानं भवति,

तद्यथा—आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं चेति।”

चरक।

इन साधनों द्वारा चिकित्स्य पुरुष का अच्छा परीक्षण होकर रोग-सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। चिकित्स्य पुरुष में भौतिक शरीर और अन्तरात्मा (Inner man) दोनों का समावेश होता है। आयुर्वेदीय वैद्यकीय परीक्षा केवल भौतिक परीक्षण से भूण नहीं होती। यह अन्तरात्मा अव्यक्त और इन्द्रियातीत होने के कारण इसके परीक्षण में ज्ञानेन्द्रिय और प्रत्यक्ष—ये साधन अनुपयोगी हैं। प्रश्न, अनुमान और आप्तोपदेश के साथ आत्मज्ञानबुद्धि की आवश्यकता होती है। शारीरिक परीक्षण का विवरण करके चरक में लिखा है कि जो वैद्य ज्ञान-बुद्धि-प्रदीप से अन्तरात्मा तक नहीं पहुँचता, वह सफलता से रोगों की चिकित्सा नहीं कर सकता।

“आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।

अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग् विद्या द्विच्छक्षणः ॥

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्।

अथाध्ययस्येतत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नविशति तत्त्ववित्।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगान् चिकित्सति ॥”

॥ चरक ॥

आत्मा निर्विकार है, तथा यह सम्पूर्ण प्राणियों में पाया जाता है। ऐसी अवस्था में चिकित्स्य पुरुष की किस विशेषता पर परीक्षण में ध्यान दिया जाए जिससे वैद्यकीय परीक्षा में पूर्णता उत्पन्न हो सके—यह एक बहुत व्यावहारिक प्रश्न है। इस व्यावहारिक प्रश्न का उत्तर चरक महामुनि भी व्यावहारिक दृष्टि को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार से देते हैं। “गर्भोत्पत्ति के समय जो अन्तरात्मा शुक्लशोणित संयोग में अवतीर्ण होता है, वह पूर्वजन्मावृत्ति विशिष्ट संस्कार युक्त सत्व या मन के साथ अवतीर्ण होता है। अतः साँगोंपाँग सत्व का परीक्षण करने से अन्तरात्मा के परीक्षण का फल मिल जाता है।”

“अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्नवियुक्तरूप।

न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः।

निर्विकारः परस्वात्मा सवेभूतानां निर्विशेषः।

सत्वशरीरयोस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धः ॥” चरक।

इसके अतिरिक्त रोगों की संवेदना आत्मा को मन के द्वारा ही होती है।

“संयोगेपि च आत्मादीनां मनस्येव वेदना भवति, सा तु मनःसंयुक्ते आत्मन्यपि संबद्धेत्युच्यते।” चक्रपाणिदत्त।

इसलिए आयुर्वेदीय शारीर में सत्व के विविध भेद और उनके असंख्य भेद विविध कार्यों या प्रकृतियों के रूप में वर्णन किए गए हैं और चिकित्सा से पूर्व आत्मपरीक्षणार्थ उनका उपयोग करने का उपदेश दिया है—

“महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्वतमः कृताः।

प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग् भिषक् तांश्च विभावयेत् ॥

कायानां प्रकृतिर्ज्ञात्वा त्वनुरूपं चरेत् क्रियाम्।

॥ सुश्रुत ॥

चरक में भी लिखा है—

“इत्यपरिसंख्येयभेदानां त्रयाणामपि सत्वानां भेदैर्देहैः

व्याख्यातः। कथं च यथा सत्वमुपचारः स्यात्। (इत्येवम्)

सन् १९५१]

हाथी मरा भी तो नौ लाख का

८६७

मुद्राहरणरूपा अभी सत्वभेदा व्याख्याता इति वाक्यार्थः ॥)'
चक्रपाणिदत्त ॥

एलोपैथी में भी वैद्यकीय परीक्षा आयुर्वेद के समान ज्ञानेन्द्रियों और प्रश्नों द्वारा की जाती है। इसको भौतिक या शारीरिक परीक्षा (Physical examination) कहते हैं। इस परीक्षण में ज्ञानेन्द्रियों की सहायता करने के लिए बढ़िया यन्त्र-शस्त्र-उपकरण भी प्रयुक्त होते हैं, जिससे प्राचीन काल की अपेक्षा वर्तमान काल में शारीर-परीक्षण कार्य अधिक अच्छा होता है। परन्तु, आत्मा (सत्व) इन्द्रियातीत होने के कारण इन उत्तमोत्तम उपकरणों द्वारा किए हुए शारीर परीक्षण से आत्मपरीक्षण का काम नहीं होता। न हो एलोपैथी में आत्मपरीक्षण के लिए कोई स्थान है। इसलिए एलोपैथी पद्धति से किया हुआ पुरुष-परीक्षण आयुर्वेद की दृष्टि से अपूर्ण ही होता है। पिछली अर्धशताब्दि में पाश्चात्य देशों में मन, उसके विकार तथा उनकी चिकित्सा की ओर काफी ध्यान दिया गया, जिसके फलस्वरूप उन देशों में मनोविज्ञान (Psychology), मनःक्रिया-विज्ञान (Psychophysiology), मनोविकृतिविज्ञान (Psychopathology) मनश्चिकित्सा, (Psychotherapy)—इनके स्वतन्त्र शास्त्र निर्मित हुए हैं। यद्यपि आयुर्वेद की दृष्टि से इनको आत्मज्ञान के विषय नहीं कह सकते; तथापि ये आत्मज्ञान के अच्छे प्रतिनिधि हो सकते हैं—इनसे आत्मपरीक्षण का बहुत कुछ काम निकल सकता है, रोगनिदान में तथा चिकित्सा में बहुत लाभ पहुँच सकता है। परन्तु अभी तक एलोपैथी और मन सम्बन्धी उपर्युक्त विषयों में सहयोग नहीं हुआ है। मैं समझता हूँ, यह होना आवश्यक है। इससे एलोपैथी पद्धति के द्वारा किए हुए वैद्यकीय परीक्षण में जो त्रुटियाँ

रह जाती हैं, उनकी बहुत कुछ पूर्ति होने के साथ-साथ उसके चिकित्सकों को अपने व्यवसाय में अधिक सफलता मिलेगी, तथा उनके रोगियों को भी उनसे अधिक लाभ प्राप्त होगा।

५ रोगक्रम—आयुर्वेद के अनुसार पुरुष के शरीर में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे अनेक अवस्थाओं में से विकसित होते हैं। इनमें पूर्वपूर्वावस्थाओं के विकार सूक्ष्म या अप्रकट और उत्तरोत्तर अवस्थाओं के अधिकाधिक स्थूल, सुलभ इन्द्रियग्राह्य प्रकट या प्रत्यक्ष होते हैं। इन अवस्थाओं के रोगों का सम्यक् ज्ञान होने की दृष्टि से मानवीय शरीर के सम्यक् परिचय की आवश्यकता होती है। शरीर में सम्पूर्ण रोगों का विनाश ध्यान में रखने की दृष्टि से आयुर्वेद का—“दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्” यह सूत्र बहुत ही उत्तम है। इसका अर्थ यह है कि शरीर वातादि दोष, रसादि धातु और विष्ठादि मल इनसे बना है।

शरीर में जितने भी रोग होते हैं, उन सबों का प्रारम्भ वातादि दोषों में अर्थात् उनके वैषम्य में होता है और आयुर्वेद की दृष्टि से वही वास्तविक रोग (Real disease) माना जाता है—“विकारो धातु वैषम्यम्”—चरक। “रोगस्तु दोषवैषम्यम्” वाग्भट। “सर्वेषां च व्याधीनां वात पित्तश्लेष्माण एव मूलम्”—सुश्रुत। यह दोष वैषम्य यदि प्रारम्भ में ही साम्य में परिवर्तित न हो जाये या किया जाय तो वह सञ्चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति और भेद इन छः अवस्थाओं में होकर बढ़ता है। आयुर्वेदीय व्याधितत्व-परिज्ञान की दृष्टि से दोष-वैषम्य की इन सब अवस्थाओं का सम्यग् ज्ञान जिसको हागा, वही पूर्ण वैद्य होता है, इतर लोग “नीम हकीम” ही कहे जा सकते हैं।

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।

व्यक्तिभेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्विषक् ॥

—सुश्रुत

दाषवैषम्य जब स्थानसंश्रय की अवस्था में पहुंचता है, तब शरीर के विविध धातूपधातु तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग विकृत होते हैं और उनके विकृत होने से विष्टा, मूत्र, थूक इत्यादि मलों में भी विकृतियां उत्पन्न होती हैं—“दोषा दुष्टा रसैर्धातून् दूषयन्त्युभये मलान्” वाग्भट । इस अवस्था की विकृतियों में स्थान, लक्षण इत्यादि में बहुत विविधता होकर वे इन्द्रियग्राह्य तथा प्रकट भी होती हैं ।

“त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि ।

रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥”

—चरक

इसलिये व्यवहार में इसी अवस्था के विकार को रोग कहने की प्रथा हो गयी है और स्थान-लक्षणा-नुसार उनका संज्ञाकरण भी किया गया है । वास्तव में देखा जाय तो जिनको हम रोग कहते हैं, वे रोग न होकर रोग के उत्तरकालीन परिणाम (Disease result) होते हैं । वास्तविक रोग उसके बहुत पहले शरीर में रहता है, परन्तु वह सूक्ष्म होता है ; इन्द्रियग्राह्य कम होकर बुद्धिग्राह्य होता है और सामान्य जनता समझ सके उस प्रकार का उसके लिये कोई भी नाम नहीं होता । उसका अर्थ यह नहीं कि शरीर में कोई रोग ही नहीं है । रोगनिदान में रोगों के नामकरण को विशेष महत्त्व देनेवाले और समझने वाले लोगों की दृष्टि से चरकाचार्य ने इसी-लिए कहा है—“विकारनामाकुशलो न जिह्वीयात् कथंचन । न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः ।” इसका तात्पर्य यह है कि रोगी की परीक्षा करने पर उसको होने वाले रोग का लौकिक नाम बताने में असमर्थ होने पर वैद्य को लज्जित होने का

कोई कारण नहीं है ; क्योंकि प्रत्येक रोग की ऐसी अवस्था होती है, जिसमें उसके लिये लौकिक नाम नहीं हो सकता । चिकित्सा की लता एवं वैद्य की बुद्धिमानी लौकिक नाम प्राप्त करने की स्थिति में पहुंचने के पूर्व अर्थात् धातुमलों की विकृति होने से पूर्व विकार को पहचानने में है, क्योंकि उत्तर अवस्थाओं में विकार बलवान और बुद्धि-कित्स्य हो जाते हैं—

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतिः ।

ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः ॥

—सुश्रुत

इन पूर्वावस्थाओं के विकारों में यन्त्रोपकरणों द्वारा की हुई शारीरिक परीक्षा बहुत उपयोगी होती । उसमें प्रश्नों द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर और अपने पूर्वानुभवों पर अधिष्ठित आत्म-परीक्षण ही अधिक उपयोगी होता है । इस अवस्था के लिये सुश्रुत में लिखा है—

“दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत् ।

अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ॥”

इस अवस्था के रोगों के निदान करने की शक्ति ज्ञान-बुद्धि-प्रदीप से रोगियों का सतत सूक्ष्म परीक्षण करने से ही प्राप्त होती है । लिखा है—“अभ्यासात् प्राप्यते दृष्टिः, कर्मसिद्धिः प्रकाशनी । रत्नादिसदृशज्ज्ञानं न शास्त्रादेव जायते”—वाग्भट । संक्षेप में धातुमलों में विकृति होने से पहले शरीर में रोग होता है और ज्ञान-बुद्धि-प्रदीप से उस अवस्था में रोग का सूक्ष्म निरीक्षण करके रोग का निदान हो सकता है तथा होना चाहिए—इस अवलोकन में रोग की विशेषता है । एलोपैथी की परम्परा अतन्त्रवादी तथा प्रत्यक्षपरायण होने के कारण उस परम्परा में पड़े हुए चिकित्सक धातुमलों की विकृति को ही रोग (Disease as characterised

सन् १९५१]

हाथी मरा भी तो नौ लाख का

८६६

changes in the tissues) मानते हैं और उस कल्पना के आधार पर जब कोई पुरुष उनके पास अपनी अस्वस्थता की शिकायत लेकर पहुंचता है, तब वे अपनी आधुनिक साधन-सामग्री से सुसज्जित होकर स्वयं या अपने तज्ज्ञ मित्रों द्वारा उसके धातुमलों की खूब जांच करते हैं। यदि उन्हें उससे धातुमलों में कोई विकृति मालूम हुई, तो उसको रोग समझते हैं, और यदि विकृति मालूम नहीं हुई तो रोगी के हजार बार कहने पर भी उसे रुग्ण मानने को तैयार नहीं होते। उनके लिए रोगी में ज्वरांश तब होता है, जब वह ज्वर-मापक यन्त्र पर दिखाई दे, अन्यथा ज्वर नहीं मानते। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही होती है। शरीर में रहने वाला चेतन अन्तरात्मा शरीर के बाहर रहकर शरीर का परीक्षण करनेवाले अचेतन ज्वरमापक की अपेक्षा शरीरगत परीक्षणों को अनुभव करने में अधिक सूक्ष्मवेदी (sensitive) होता है। आयुर्वेद में इसीलिये रोगी के कहने पर विश्वास करके उसकी भीतरी विकृति का पता लगाने का प्रयत्न उसके अन्तरात्मा के सूक्ष्म परीक्षण के द्वारा करने के लिये कहा है—

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत् ।

अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य कुशलो पुरुषं भिषक् ॥ सुश्रुत ।

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित् ।

आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥ चरक ॥

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एल्लोपैथी का रोगक्रम स्थानसंश्रय से प्रारम्भ होता है, इससे पहले नहीं, जिससे आयुर्वेदीय व्याधितत्व-परिज्ञान की दृष्टि से एल्लोपैथी के चिकित्सक पूरा वैद्य न होकर अधूरे ही रहते हैं। अतः यदि उनसे उसकी पूर्वावस्था के रोगों का निदान न हो सके तथा “नीम हकीम खतरेजान” इस कहावत के अनुसार कभी-कभी रोगी को धोखा हो जाय तो आश्चर्य की बात नहीं है।

(६) रोगहेतु—“पूर्ण स्वस्थ रहने पर पुरुष को कोई रोग नहीं हो सकता, अस्वस्थ होने पर ही सब प्रकार के रोग हो सकते हैं”—यह आयुर्वेद का रोगोत्पत्ति का मूल मन्त्र है। स्वस्थ तथा नीरोग पुरुष कैसे होता है, उसका बहुत ही सुन्दर वर्णन सुश्रुत के निम्न श्लोक में दिया है।

“समदोषः समान्निश्च, समधातुमलक्रियः ।

प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

इसमें प्रथम श्लोकार्ध में पुरुष के अचेतन पांच-भौतिक शरीर के स्वास्थ्य के और द्वितीय श्लोकार्ध में पुरुष के चेतन आत्मिक अंश के स्वास्थ्य के लक्षण संक्षेप में वर्णन किए गए हैं। स्वस्थ की इस परिभाषा से आयुर्वेद के चिकित्स्य पुरुष की विशेषता (जो लेख के प्रारम्भ में ही बतायी गई है) स्पष्ट हो जाती है। इसके विपरीत एल्लोपैथी में की गई स्वस्थ की निम्न परिभाषा देखिये।

Health may be defined as that state of organs in which both structure and function are in the condition which experience has taught us to regard as normal

(Hewlett's Pathology)

स्वास्थ्य खराब होने के जो असंख्य कारण होते हैं, उनका निचोड़ आयुर्वेद में निम्न प्रकार से दिया गया है—“द्वयोस्तु खल्वागन्तुनिजयोः प्रेरणमसात्मेन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ।”

चरक

कार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः ।

सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारोम्यैककारणम् ।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिताः मलाः ॥

तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।

रोगाः सर्वेऽपि जायन्ते वेगोदीरणधारणैः ॥

वाग्भट

इसका तात्पर्य यह है कि आहार-विहारादि के हीनमिथ्यादि योग से पुरुष में दोषवैषम्य उत्पन्न होकर उससे कारणानुरूप तथा स्थानानुरूप अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

“स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।

स्थानान्तर गतश्चैव जनयन्त्यामयान् बहून्॥”

चरक

(७) जीवाणुवाद—भारतीय ऋषि तथा विचारक अत्यन्त प्राचीन काल से ही आत्मवादी, दिव्यदृष्टि तथा आस्तिक थे, और प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष पर भी आगम, अनुमान, युक्ति इत्यादि की सहायता से विश्वास किया करते थे। यही कारण है कि सूक्ष्म दशक यन्त्र के आविष्कार के सहस्रों वर्ष पहले ही भारतीय ग्रन्थों में आँखों से अदृश्य जीवों के उल्लेख किए गए हैं। महाभारत में सूक्ष्म अदृश्य जीवोंको सर्वव्यापी बताकर अहिंसा की अशक्यता बतलायी गई है—

“उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि भारत ॥

पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्दपर्ययः ॥”

आयुर्वेद के चरक-सुश्रुतादि ग्रन्थों में इनमें से कुछ सूक्ष्म जीवों का विकारी प्रभाव भी स्पष्टतया बतलाया है—“सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः। षट्ते कुष्ठैककर्माणः।”—॥ वाग्भट ॥ “रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकाराञ्जनयन्ति ते।” सुश्रुत। केवल यही नहीं, इन कुष्ठादि रोगों की संक्रमणशीलता का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।

“कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च (राजयक्ष्मा) नेत्रामिष्यन्द एव च।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रमन्ति नरान्तरम्॥” सुश्रुत

पाश्चात्य लोग अनात्मवादी एवं प्रत्यक्षपरायण होने के कारण षोडश शताब्दि तक जीवाणुओं का अस्तित्व नहीं जानते थे, फिर रोगों की उत्पत्ति के

साथ उनका सम्बन्ध मानना तो दूर की बात थी। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र का आविष्कार होने के डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् सन् १८४० में वर्लिन के हेनल नामक शास्त्रज्ञ ने सर्वप्रथम जीवाणुओं का रोगोत्पत्ति के साथ सम्बन्ध सूचित किया। उसके पश्चात् जीवाणुओं के सम्बन्ध की जानकारी इतनी तेजी से बढ़ गई कि अल्पकाल में उनका एक स्वतन्त्र शास्त्र ही बन गया और जो जीवाणु कुछ ही वर्ष पहले अज्ञात थे वे अनेक रोगों की उत्पत्ति के प्रधान कारण माने जाने लगे। कुछ लोगों को तो “सर्व रोगाणुमयं रोगजन्य” का स्वप्न दिखाई देने लगा।

आयुर्वेद में यद्यपि प्राचीन कालसे जीवाणु रोगोत्पत्ति के एक कारण माने गए हैं, तथापि एलोपैथी के समान रोगों के प्रधान कारण कभी भी नहीं माने गए हैं। यदि वस्तुतः देखा जाये तो वे रोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। कुष्ठ का ही उदाहरण लीजिए - कृमियों के विवरण में रक्तजकृति कुष्ठविसर्पादि के कारण होते हैं—इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। परन्तु कुष्ठ के निदान-हेतु में उनका उल्लेख करके कुष्ठ में शरीर में जो विकृतियाँ होती हैं, उनका उल्लेख है—“सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि च भवन्ति—सुश्रुत

वैसे ही चरक में कुष्ठोत्पादक कृमियोंकी उत्पत्ति कुष्ठोत्पादक हेतुओं से होती है—ऐसा स्पष्ट लिखा है—“शोणितजानांतु कुष्ठैः समानं समुत्थानम्”।

आयुर्वेद में संक्षेपतः यद्यपि जीवाणुओं की रोगों के कारणों में बताया गया है; तथापि रोगसंक्रामिक दृष्टि से वे रोग के परिणाम ही समझे जाते हैं। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद की रोगोत्पत्ति की उपपत्ति एलोपैथी की रोगोत्पत्ति की उपपत्ति के

तथा विरोधी है। इस विरोध के बोधन की दृष्टिसे बीजक्षेत्र दृष्टान्त बहुत उपयोगी है।

इस दृष्टान्त के अनुसार एलोपैथी बीजप्राधान्यवादी अर्थात् रोगोत्पत्ति में जीवाणुरूप बीज को प्रधान समझने वाली है और आयुर्वेद क्षेत्रप्राधान्यवादी अर्थात् शरीररूपी क्षेत्र को प्रधानता देने वाला है। क्षेत्रप्राधान्यवाद तथा विकारी जीवाणुओं को रोगों का कारण न समझना ये दोनों बातें बीसवीं शताब्दि की कुछ चिकित्सा पद्धतियों में भी पायी जाती हैं।

(८) क्षेत्रप्राधान्यवाद—वृक्ष उत्पन्न होने के लिये बीज और क्षेत्र दोनों की समानावश्यकता होती है। केवल बीज या केवल क्षेत्र से वृक्षोत्पत्ति नहीं हो सकती। भारतीय महर्षियों ने लिखा है—

“अक्षेत्रे बीजमुत्पद्यन्तरेव विनश्यति।

अवीचकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत्॥

—मनुस्मृति

दोनों की उपस्थिति होते हुए भी यदि क्षेत्र बीज अंकुरित होने योग्य न हो तो बीज स्वयं अपने बल पर अंकुरित होने में असमर्थ होता है, तथा जलवायु की अनुकूलता होने के कारण न्यूनाधिक अंकुरित होकर भी वृक्ष के रूप में परिवर्द्धित नहीं हो सकता। कृषि-शास्त्र के इस अनुभव के आधार पर आयुर्वेद-महर्षियों ने बीज को गौणता और शरीररूपी क्षेत्र को प्रधानता प्रदान की है। उनका कहना है कि शरीर और आत्मा स्वस्थ और बलवान रहे, तो विकारी जीवाणु उस पर परिवर्द्धित नहीं हो सकते और यदि अन्य सहायक कारण अनुकूल भी हों तो कुछ अंश तक प्रगुणित होने पर भी वे किसी रोग को उत्पन्न नहीं कर सकते। आधुनिक अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि मनुष्यों की बस्ती के आसपास के वातावरण में, जल में, खाद्य वस्तुओं में अनेकबार विकारी

जीवाणु रहकर मनुष्य के शरीर में बराबर प्रवेश किया करते हैं, कुछ प्रवेश कर कुछ काल तक शरीर में रहते हैं और कुछ सदा के लिये शरीर में रहकर सहभोजी (Commensal) बनते हैं। इस प्रकार स्वयं अस्वस्थ न होते हुए विकारी जीवाणुओं का संवहन करने वालों को स्वस्थ वाहक (Healthy carrier) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यों के शरीररूपी क्षेत्रों से विकारी जीवाणुरूप बीजों का बराबर सम्बन्ध होता रहता है। अगर उनसे कोई सम्बन्धविच्छेद करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। फिर भी संसार के अधिकांश लोग इनसे साफ बचे रहते हैं या उपसृष्ट होने पर भी रोगों से पीड़ित नहीं होते। इसका अर्थ यह है कि मानवीय शरीरों में प्रविष्ट जीवाणुओं को अंकुरित न होने देने की या अंकुरित जीवाणुओं को दवाने की शक्ति रहती है और इस आधुनिक अन्वेषण से आयुर्वेद के क्षेत्रप्राधान्यवाद की पुष्टि हो जाती है। यह स्पष्ट है कि यह वाद सवसामान्य रोगसंप्राप्ति पर अधिष्ठित है, विशेष रोगसंप्राप्ति पर नहीं। अतएव एलोपैथी का बीज प्राधान्यवाद सामान्य-रोग-संप्राप्ति पर अधिष्ठित न होकर रोगों के अन्तिम परिणाम पर विशिष्ट स्वरूपों पर दृष्टि रख कर बनाया गया है। इसका कारण यह है कि यदि देह रोगोत्पत्ति के लिये अनुकूल रहा तो वह विकारी जीवाणुओं की जाति के अनुसार होनेवाले रोग से पीड़ित होगा। यानी विसूचिका वक्राणु (Cholera vibrio) से हैजा और तन्द्रामदण्डाणु (B. Typhosus) से आन्त्रिकज्वर ही होगा, विपर्ययेण या अन्यथा न होगा।

एलोपैथी के बीजप्राधान्यवाद के पीछे जो तत्त्व निहित है—यानी गेहूं से गेहूं और चने से चने का उत्पन्न होना—उसको भारतीय महर्षि पहले ही जान

चुके थे—‘नान्यस्माद्बीजादन्यस्योत्पत्तिरिति’ । चरक ।
 “ब्रौह्मयः शालयो मुग्दास्तिला माषास्तथा यवाः ।
 यथा बीजं प्ररोहन्ति लघुनानीक्ष्वस्तथा” । मनु ॥

परन्तु रोगसम्प्राप्ति की दृष्टि से पुरुष में विकार जात (Disease in general) जिसमें विशिष्ट (specific) रोग भी समाविष्ट होते हैं की उत्पत्ति क्यों हाती है—यही मूलप्राही एवं प्रथम प्रश्न होने के कारण और आधुनिक रोगसंप्राप्ति की दृष्टि से भी उसका उत्तर शरीर की व्याधिक्षमता, अक्षमता या ग्रहणशीलता (susceptibility) होने के कारण आयुर्वेद महर्षियों का रोगोत्पत्ति का क्षेत्रप्राधान्यवाद एलोपैथी के बीजप्राधान्यवाद की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है ।

९ व्याधिक्षमता—उत्पन्न होने वाले रोगों को रोकने की तथा उत्पन्न हुए रोगों का सफल प्रतिकार करनेकी शक्ति जो शरीर में रहती है, उसको व्याधिक्षमता, रोगक्षमता या केवल क्षमता (Immunity) कहते हैं । “व्याधिक्षमत्वं व्याधिवलविरोधकत्वं व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमितियावत्” ॥ चक्रपाणिदत्त ॥ इस शक्ति से युक्त पुरुष को व्याधिक्षम, रोगक्षम या केवल क्षम (Immune) कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार ऊपर स्वस्थ की परिभाषा में बताये हुए पुरुष व्याधिक्षम होते हैं । उनके अतिरिक्त क्षुधा-तृषा-शीत-उष्ण-कृष्ट को सहन करने वाले मांसल, सुसंगठित, सुसंविभक्तगात्र, पाचन प्रचूषण ठीक होने वाले और दृढेन्द्रिय पुरुष भी क्षम होते हैं ।

क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः ।

समपक्तः समजरः सममांसचयो मतः ।

सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः ॥

दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते ॥ चरक ॥

इसके विपरीत जो पुरुष अतिस्थूल, अति कृश, क्षीणरक्त, क्षीणमांस, दुर्बल, भीरुप्रकृति, असात्म्या-हारविहार-सेवी होते हैं, वे अव्याधिक्षम रहते हैं । लिखा है—“शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्य निविष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोप-

चित्तान्यलपाहाराण्यल्पसत्वानि च भवन्त्यन्यत्रि सहानि” ॥ चरक ॥

इसका तात्पर्य यह है कि पुरुष की व्याधिक्षमता उसके शरीर और मन के सर्वसाधारण स्वास्थ्य (general condition) और आहार-विहार पर निर्भर करती है । एलोपैथी में भी व्याधिक्षमता की परिभाषा आयुर्वेद के समान ही है, तथा उसके लिए रोगी की सर्वसाधारण स्थिति तथा आहार-विहार पर विचार किया जाता है । परन्तु आयुर्वेद के विपरीत एलोपैथी में इसको उतनी प्रधानता नहीं दी जाती । एलोपैथी में क्षमता के अधिष्ठान शरीरगत प्रतियोगी (Antibodies) द्रव्य माने जाते हैं । इसलिये रोगक्षमता में वह प्रतियोगीप्राधान्यवादी हो गई है ।

इसमें सन्देह नहीं कि अनेक रोगों की क्षमता शरीरगत प्रतियोगियों की उपस्थिति तथा निर्मिति पर निर्भर करती है, परन्तु यह बात सर्वत्र नहीं पायी जाती । अनेक रोगों की क्षमता का अधिष्ठान क्या है—इसका ज्ञान अभी तक ठीक नहीं हो सका है । परन्तु जिन प्रतियोगियों पर क्षमता आश्रित है, वे प्रतियोगी यकृत, प्लीहा, मज्जा इत्यादि शरीर के अनेक अङ्गों के द्वारा निर्मित होते हैं और इनका मात्रा इन अङ्गों के स्वास्थ्य पर निर्भर करती है । इन अङ्गों की जिन कोशाओं (cells) द्वारा यह कार्य होता है, उनके समूह को जालिकान्तशब्दादीय संस्थान (R. E. System) कहते हैं । यह संस्थान प्रतियोगी निर्माण के अतिरिक्त शरीररक्षक जीवाणु भक्षकायाणुओं (phagocytes) उत्पन्न करने शरीर को व्याधिक्षम बनाने में सहायक होता है । आधुनिक अन्वेषण की इन बातों से भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि व्याधिक्षमता प्रतियोगियों पर निर्भर करती है तथापि जालिकान्तशब्दादीय संस्थान के द्वारा अन्ततोगत्वा शरीर रूपी क्षेत्र ही उसका अधिष्ठान बनता है । इससे भी आयुर्वेद के क्षेत्रप्राधान्यवादी की पुष्टि होती है ।

सन् १९५१]

हाथी मरा भी तो नौ लाख का

६०३

(१०) रोगप्रतिबन्धन—शरीर रोगक्षम होने से या बनाने से रोगों का प्रतिबन्धन होता है। एलोपैथी रोगक्षमता की दृष्टि से प्रतियोगी प्राधान्यवादी होने से प्रतियोगियों को निर्माण करके रोगों का प्रतिबन्धन करने का प्रयत्न करती है। इसके लिए उसके पास अनेक औषधियां हैं जिनको मसूरी (Vaccines) कहते हैं। एलोपैथी में रोगक्षमता उत्पन्न करने का सर्वश्रेष्ठ साधन मसूरीकरण (Vaccination) है। इनसे शरीर में विशिष्ट प्रतियोगी उत्पन्न होकर तथा उनको उत्पन्न करने की शरीर की शक्ति बढ़कर विशिष्ट रोगों के लिए शरीर क्षम बनाया जाता है। एलोपैथी में क्षमता उत्पन्न करने का जो यह साधन है वह प्रत्येक रोग के लिए स्वतन्त्र होता है, अनेक रोगों के लिए यह अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, उससे उत्पन्न हुई क्षमता अल्पकालिक होने से प्रत्येक समय उस को प्रयुक्त करने की आवश्यकता होती है तथा उसमें जो द्रव्य प्रयुक्त होते हैं वे स्वयं विषैले होने के कारण स्वास्थ्य पोषक न होकर अनेक बार स्वास्थ्यनाशक हो जाते हैं।

आयुर्वेद रोगक्षमता में भी क्षेत्रप्राधान्यवादी होने से प्रत्येक मनुष्य को उचित आहार विहारादि द्वारा शरीर और मन को स्वस्थ और सुदृढ़ बनाने के लिए प्रारम्भ से ही कहता है—

त्यागः प्रज्ञापरोधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः ।

देशकालात्मविज्ञानं सद्बृत्तस्यानुवर्तनम् ॥

अनुत्पत्यै समासेन विधिरेष प्रकीर्तितः ।

निजागन्तु विकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये ॥ वाग्मट ॥

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः ।

दाता सप्तः सत्यपरः क्षमावान्नातोपसेवी च भवत्य रोगः ॥

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धी सत्त्वं विधेयं विशदाच बुद्धिः ।

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्तितं नानु पतन्ति रोगाः ॥

॥ चरक ॥

आयुर्वेद के जनपदोद्ध्वंसनीय (Epidemiology and prevention of diseases) प्रकरण में महामारी (Epidemics) के तौर पर फैलकर जनता का संहार करनेवाले संपूर्ण रोगों का समष्टि-

रूपेण प्रतिबन्धन की दृष्टि से बहुत सूक्ष्म विचार किया गया है। वहाँ पर जनपदोद्ध्वंसक रोगों का बाह्य कारण देशकाल जलवायु इनका वैगुण्य और अभ्यन्तरीय कारण जनता का अधर्म बताया है—

तत्रवाय्वादीनां यद्गुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः,
तन्मूलं वाऽपत्कर्म पूर्वकृतं, तयोर्गोनिराज्ञापराध एव ॥

॥ चरक ॥

यहाँ पर राजा, राज्याधिकारी, प्रजा इत्यादि का अपना कर्तव्य न करना इस प्रकार अधर्म का अर्थ है—यदा वै देशनगरनिगमजनपदप्रधानाधम-मुत्कम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिता पौर जनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति ततः सोऽधर्मः ॥ चरक ॥ वहाँ पर जनपदोद्ध्वंसक रोगों से बचने के लिए दूषित स्थानादि के परिवर्जन के साथ शरीरबल तथा मनोबल बढ़ाने वाले पौष्टिक आहार, धार्मिक आचार और रसायन औषधियों का सेवन करने के लिए ही कहा गया है—

चतुर्ध्वपितु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नरः ।

भेषजेनोपपद्यन्ते न भवन्त्यातुरास्तदा ॥

रसायनानां विधिवच्चोपयोगः प्रशस्यते ।

शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजैः पूर्वमुद्बृत्तैः ॥

सत्यं भूते दया दानं बल्यौ देवतार्चनम् ।

सद्बृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः ॥

हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम् ।

सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम् ॥ चरक ॥

यहाँ पर औषधियों में गेहूँ, चावल, चना इत्यादि का समावेश (औषधयो गोधूमचणकशाल्यादयः ढल्हण) होता है और वे परिणतवीर्यवान् होनी चाहिए इसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आयुर्वेद की इस पद्धति के द्वारा प्रतियोगीनिर्माण का शरीर का बल बढ़ाकर जो रोग प्रतिबन्धन होता है वह स्थायी, सब रोगों के लिए उपयोगी, फिर वे रोग चाहे निज हो या आगन्तुक, जीवाणुजन्य हो या अजीवाणुजन्य, अज्ञात कारणिक हो या ज्ञात कारणिक, होते हैं और उसके आचरण से स्वास्थ्य की वृद्धि ही होती है, स्वास्थ्य हानि कदापि नहीं होती।

(११) बी० सी० जी० मसूरी—रोग प्रतिबन्धन के साधनों का तुलनात्मक विचार करने की दृष्टि से राज-यक्ष्मा प्रतिबन्धन का उदाहरण उत्तम है। एलोपैथी में उसका कारण यक्ष्मकवक्त्रेण (Mye. tuberculosis) माना गया है और उसके प्रतिबन्धनार्थ कालमेरी और ग्यूरेन नामक शास्त्रज्ञ द्वय ने एक टीका द्रव्य निर्माण किया है जिसको बी. सी. जी. मसूरी (B. C. G. vaccine) कहते हैं। इस टीका द्रव्य में राजयक्ष्मा के ही कारणभूत सजीव अनुग्र दण्डाणु होते हैं जिनमें विशिष्ट संस्कार के कारण क्षमतोत्पादन शक्ति तो बनी रहती है परन्तु रोगोत्पादन शक्ति नगण्य होती है जिससे शरीर में प्रविष्ट होने पर ये शरीर को राजयक्ष्माक्षम तो बना सकते हैं, परन्तु क्षय पीड़ित नहीं कर सकते। इन जीवाणुओं के इस गुणधर्म का अनुभव लेने के प्रयोग योरोप के कुछ देशों में किये गये और उसके जो वृत्तान्त प्रकाशित हुए उससे यह स्पष्ट हुआ कि यह मसूरी राजयक्ष्मा प्रतिबन्धन में उपयोगी हो सकती है।

इन वृत्तान्तों से प्रभावित होकर (भारतीय पाश्चात्यों के वृत्तान्तों से जल्दी प्रभावित होते हैं) भारत सरकार ने अपने आरोग्य विभाग द्वारा इस टीका का प्रयोग भारत में तेजी से फैलनेवाले राज-यक्ष्मा के प्रतिबन्धनार्थ करने का संकल्प किया और अपने अधिकारियों द्वारा उसको कार्यान्वित करना भी प्रारम्भ किया। यह संकल्प भारत के लिए लाभ-दायक होगा या न होगा और यदि होगा तो कहाँ तक होगा यह एक बहुत ही विचारणीय प्रश्न है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मसूरी योरोप के कुछ देशों में क्षय प्रतिबन्धनार्थ उपयोगी सिद्ध हुई, परन्तु उन देशों के अनुभव भारत के लिए अनुकूल ही होंगे यह नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि जलवायु, आर्थिक स्थिति, समाजिक पद्धति,

रहन सहन, खाद्य समस्या, तथा सरकारी सार्वजनिक आरोग्य प्रबन्ध इत्यादि आरोग्य सम्बन्धी अनेक बातों में भारत और उन देशों में आकाशपात का अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त इसके प्रयोग के समय अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है जिसमें लापरवाही करने से टीका लगाये हुए व्यक्ति का स्वास्थ्य नाश या जीवनाश हुए बिना नहीं रह सकता। अभी इसका अधिक प्रयोग भी न हो पाया फिर भी जीवितनाश की कुछ किम्बदन्तियाँ कानों तक आने लगी हैं। संक्षेप में बी. सी. जी. का लाभ संदिग्ध और भविष्यकालीन है और उससे होनेवाली हानि निःसंदिग्ध और सद्यः कालीन है।

(१२) यक्ष्मा हेतु—इस टीका के प्रयोग के सम्बन्ध में आयुर्वेदीय दृष्ट्या कुछ कहने से पहले उसके आयुर्वेदीय कारणों का कुछ विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। आयुर्वेद में लिखा है कि यक्ष्मा रोगों का राजा है और राजा के आगे पीछे अनेक सहचर लोग बराबर रहते हैं; वैसे ही इसके भी आगे पीछे अनेक सहचर रोग बराबर लगे रहते हैं—अनेक रोगानुगत रोग पुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराट् चरमृतः॥वाग्भट्ट॥ यथाहि राजा प्राक्पश्चाज्जनते तथैव गम्यते तथाऽयं रोगो रोगैः॥ अरुणदत्त॥ यक्ष्मा लिये राजा की यह उपमा काव्य दृष्ट्या जितनी हृदय-गम है रोग विज्ञान दृष्ट्या उतनी ही वस्तुस्थिति निर्देशक भी। ऐसा यह रोगों का राजा अनश्वर अल्पाशन, रुक्षान्नाशन, विषमाशन शक्ति से अधिक परिश्रम, शुक्रक्षय इत्यादि कारणों से पुरुष में उत्पन्न होता है—यदा वा पुरुषो रुक्षान्नपानं सेवी भवति तदा दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति यदा पुरुषो दुर्बलोऽस्ति अतिमात्रं वा भारमुद्ब्रूहति अन्यथा किंचिदपि न भवति तदा शोषमाप्नोति॥ चरक॥

सन् १९५१]

हाथी मरा भी तो नौ लाख का

६०५

साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजःस्नेहसंक्षयः ।
अन्नपानविधित्यागश्चत्वारस्तस्य हेतवः ॥

वाग्मट ॥

इन जन्मोत्तर कारणों के अतिरिक्त आयुर्वेद के अनुसार राजयक्ष्मा में कुलज प्रवृत्ति (Hereditary diathesis) भी होती है—

तत्रादिवलप्रवृत्ता शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शप्रभृतयः

॥ सुश्रुत ॥

प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादयः ॥ उल्हण ॥

पाश्चात्य वैद्यक में यक्ष्मा का प्रधान कारण यक्ष्मदण्डाणु माना जाता है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु आयुर्वेदोक्त उपर्युक्त कारण उसमें भी सहायक माने गये हैं और कुछ लोगों ने आयुर्वेद के समान उनपर जोर भी दिया है।

आज भारतवर्ष को खाद्य की कमी, दैनान्न (Ration) विभाग का अंधाधुन्द व्यवहार और महंगी का त्रिदोष हो गया है। खाद्य की कमी से प्रत्येक भारतीय को अनशन, अल्पाशन, रुक्षाशन करना पड़ रहा है; दैनान्न विभाग की अव्यवस्था से प्रत्येक का विषमाशन तथा दूषितअन्नाशन हो रहा है और महंगी से कुछ अपवाद छोड़, प्रत्येक को वदभरणार्थ अपनी शरीर-शक्ति तथा आहार-शक्ति से बहुत अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता हो रही है। इसके अतिरिक्त शृंगारिक तथा कामुक कथा-नाटक - उपन्यास तथा चलचित्रपट - बोलपट (Talky) के अनियन्त्रित प्रचार से जवान जनों में धातुक्षीणता भी काफी बढ़ रही है। संक्षेप में आयुर्वेद के अनुसार राजयक्ष्मा उत्पन्न होने की दृष्टि से सब प्रकार की अनुकूलता है। ऐसी अवस्था में बी० सी० जी० के टीके द्वारा उसको दवाने का प्रयत्न करने पर वह तो भले ही दब जाय, परन्तु उसके बढ़ने समाज में अन्य अनेक रोग फूट निकल

कर इसका संहार किये बिना नहीं रहेंगे। इसके अतिरिक्त उससे जो स्वास्थ्य-हानि और जीवित-नाश होगा सो अलग रहेगा। इसका कारण यह है कि जो कारण राजयक्ष्मा को उत्पन्न करते हैं वे ही अन्य अनेक रोगों को भी उत्पन्न करने वाले होते हैं। यदि राजयक्ष्मा उत्पन्न न हुआ तो वे कारण शरीर में वैसे चुप नहीं रहेंगे, कुछ न कुछ खुराफात जरूर करेंगे और यही सिद्धान्त 'यथा हि राजा' इत्यादि काव्यमय हृदयंगम भाषा में आयुर्वेद-महर्षियों ने प्रदर्शित किया है। इस लिए यदि राजयक्ष्मा की रोक-थाम करनी हो तो वह बी० सी० जी० टीके से न होगी, बल्कि उपर्युक्त त्रिदोषवैषम्य को दूर करके, अर्थात् महंगी को घटा कर, जनता को पौष्टिक अन्न पर्याप्त मात्रा में जिस प्रकार मिल सके उस प्रकार प्रबन्ध करके तथा शृंगारिक एवं कामुक चित्रपटादिका नियन्त्रण करके ही होगी।

(१३) रोगचिकित्सा—रोगोत्पत्ति में क्षेत्रप्राधान्य-वादी होने के कारण आयुर्वेद रोगप्रतिबन्धन के लिए आहार-विहार-रसायनादि के द्वारा स्वस्थ शरीरका बल बनाये रखने का प्रयत्न करता है तथा रोग-चिकित्सा में आहार-विहार-औषधियों द्वारा शरीर के बल को बढ़ा कर उसमें उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने का प्रयत्न करता है। चिकित्सा का प्रारम्भ निदान-परिवर्जन से होता है—

संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्

॥ चरक ॥

अर्थ—जिस आहार-विहारादि से दोषवैषम्य होकर रोग उत्पन्न हुआ है उसका परित्याग करना। इसीको पथ्य कहते हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा में पथ्य के महत्व की कल्पना—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम् ।

पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणम् ॥

—इस सुभाषित से हो जाती है। इसमें जरा सा भी सन्देह नहीं है कि मनुष्यों में जितनी व्याधियाँ होती हैं उन की जड़ अपथ्यसेवन ही होता है और यदि वे बहुत अधिक न बढ़ गयी हों तो पथ्यसेवन और अपथ्यवर्जन से ठीक भी हो जाया करती हैं, उनके लिए औषधियों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे : व्यायामाभाव और आहारतियोग से मधुमेह होता है। यदि उसका निदान होते ही व्यायाम और आहारनियन्त्रण किया जाय तो अधिक-संख्यक रोगी बिना औषधि के ठीक हो जाते हैं। उसके साथ संशोधन-संशमन के द्वारा दोषवैषम्य को साम्य में परिवर्तित करने का तथा शरीर का बल बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके लिए वमन, विरेचन, बस्ति, लंघन, आहार, औषधियाँ इत्यादि अनेक साधन प्रयुक्त किये जाते हैं। उनके प्रयोग के समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि रोगी का बल अदपांश में भी न घटने पावे। इसके लिए दो-तीन उदाहरण दिये जाते हैं। चिकित्सा में लंघन का प्रयोग अनेक बार किया जाता है। लंघन बलक्षयकर होता है। इसलिए लिखा है कि जिस प्रकार बलक्षय न हो उस प्रकार रोगी को लंघन करावे :

प्राणाविरोधिना चैव लंघनेनोपपादयेत् ।

बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥

इसी दृष्टि से ज्वरित को भोजन के समय लघु-पौष्टिक भोजन देने के लिये कहा है—

ज्वरितो हितमश्नीयाद्यद्यस्यारुचिः भवेत् ।

अन्नकाले ह्यभुजानः क्षीयते म्रियतेऽथवा ॥

स क्षीणः कृच्छ्रतां याति यात्यसाध्यत्वमेव च ।

तस्माद्रक्षेद्बलं पुंसां बले सति हि जीवितम् ॥ सुश्रुता ॥

राजयक्ष्मा की चिकित्सा में स्पष्ट लिखा है कि

जिससे क्षयी का बल और मांस बढ़े उससे (क्षयी) की चिकित्सा करनी चाहिये—

यक्षिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥ चरक ॥

संक्षेप में बलरक्षण और बलवर्धन आयुर्वेद चिकित्सा का मुख्य महामन्त्र है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी रोगों के कुछ लक्षणों और उपद्रवों की भी स्वतन्त्र चिकित्सा करने के लिए आयुर्वेद में कहा है जब वे लक्षण या उपद्रव उपर्युक्त चिकित्सा से शान्त नहीं होते और रोगी को अधिक पीड़ा देते हैं। इसको आवस्थिकी चिकित्सा (Symptomatic treatment) कहते हैं।

एलोपैथी में भी रोगों की चिकित्सा के उपर्युक्त तीन विभाग होते हैं, परन्तु उनमें बहुत अन्तर है। आयुर्वेद में निदान-परिवर्जन या पथ्य को बहुत महत्त्व दिया गया है, एलोपैथी में वह अत्यन्त गौण है। आयुर्वेद में आवस्थिकी चिकित्सा होती है परन्तु वह गौण है तथा उसकी साधन-सामग्री आयुर्वेद के पास बहुत नहीं है। एलोपैथी चिकित्सा का लाक्षणिक चिकित्सा एक प्रधान अंग है। रोगों की मुख्य चिकित्सा में भी क्षेत्र-प्राधान्य तथा बीज-प्राधान्य के कारण काफी अन्तर होता है जिसका विवरण आगे दिया है। संक्षेप में आयुर्वेद एक नैसर्गिक-पथ्यप्रधान-रोगनिवारक और एलोपैथी अनैसर्गिक-औषधिप्रधान-पीड़ानिवारक चिकित्सा-पद्धति है।

(१४) औषधियाँ—रोगों की मुख्य चिकित्सा औषधियों के द्वारा ही होने के कारण दोनों में अन्तर्गत औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं, परन्तु चिकित्सा के सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होने से दोनों के औषधि-संसार भी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ होती हैं। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि रोग के कारण एक हों या अनेक वे शरीर में ही होते हैं, और यदि शरीर बलवान्

सन् १९५१]

हाथी मा भी तो नौ लाख का

६०७

रहा या किया गया तो रोग हो नहीं सकता, या हुआ हो तो ठीक हो जाता है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद का यह भी कहना है कि बलवान् शरीर जैसे स्वयं रोग का निवारण करता है वैसे रोगनिवारण में प्रयुक्त औषधियों को उनके कार्य में सहायता करता है। औषधि कितनी भी सिद्ध और अच्छी क्यों न हो स्वयं कुछ नहीं कर सकती। रोगों के साध्या-साध्यत्व के विवरण में इसी दृष्टि से लिखा है कि—

चिकित्स्यमानः सम्यक् च विकारो योऽभिवर्धते ।

प्रक्षीणबलमांसस्य लक्षणं तद्गतायुषः ॥ सुश्रुत ॥

विज्ञातं बहुशो यच्च विधिवच्चावचारितम् ।

न सिद्धत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ चरक ॥

चिकित्सा का सिद्धान्त इस प्रकार का होने के कारण आयुर्वेद की उत्तमोत्तम तथा प्रसिद्ध औषधियाँ बलवर्धक या बल्य (Tonic) स्वरूप की होती हैं, जिनमें चरकोक्त च्यवनप्राश्यादि रसायन तथा रस-शास्त्रोक्त सुवर्ण-मौक्तिक-अभ्रक-युक्त खनिज रसायन निर्देश करने योग्य हैं। आयुर्वेदीय औषधियों की यह प्रथम विशेषता है।

आयुर्वेद की औषधियाँ केवल बल्य ही नहीं, अपायी भी होती हैं। आयुर्वेद-महर्षियों ने औषधियों के सम्बन्ध में यह नियम बनाया है कि औषधि वर्तमान रोग को दूर करें, परन्तु स्वयं अपनी ओर से कोई नया रोग या उपद्रव पैदा न करें। रोगोत्पत्ति के कारणों में मनुष्यकृत इन अपप्रयोगों का स्पष्ट निर्देश किया गया है—

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योन्यमन्यमुदीरयेत् ।

नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

प्रयोगापरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसम्भवात् ।

एवं कृच्छ्रतमा नृणां हृद्यन्ते व्याधिसंकराः ॥ चरक ॥

आयुर्वेदीय औषधियों की यह दूसरी विशेषता है और इससे, यदि कोई वैद्य शास्त्रोक्त योगों को शास्त्रोक्त

पद्धति से देकर रोगियों को अपाय करना भी चाहे, तो वह कर नहीं सकता। इस विशेषता के कारण अनपढ़ वैद्यों से भी औषधियों द्वारा अपाय होनेवाले या मरने वाले रोगियों की संख्या डाक्टरों की तुलना में नगण्य होती है। इसका श्रेय आयुर्वेदशास्त्रकार-महर्षियों को है।

आयुर्वेद की औषधियाँ रोगी के बल को बढ़ाकर और साथ-साथ दोषों को घटाकर रोगों को ठीक करती हैं। इससे रोग ठीक होने में समय तो अधिक लगता है; परन्तु 'देर आय दुरुस्त आय' कहावत के अनुसार शरीर बलवान और पूर्णक्षम होने के पश्चात् ही रोग का निष्कासन होने के कारण उसके पुनरावर्तन का कोई डर नहीं रहता। यदि शरीर बलवान होने से पहले रोग का नाश औषधियों द्वारा किया जाय तो वह कुछ काल के पश्चात् फिर से उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। यही कल्पना निम्न-श्लोकों में वर्णित है—

क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः ।

नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥ वाग्मट ॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।

संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ चरक ॥

इसका तात्पर्य यह है कि वैद्यकशास्त्रानुसार रोगों की चिकित्सा में चमत्कार के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक विकार ठीक होकर शरीर यथापूर्व होने के लिए विकारवृद्धि के अनुसार न्यूनाधिक काल की आवश्यकता होती है जो उसको मिलना चाहिए।

इस प्रकार आयुर्वेद की औषधियाँ साधारणतया बलवर्धक, अपाय न करने वाली और धीरे-धीरे शरीर को निरोग करनेवाली होती हैं।

एलोपैथी की औषधियाँ इसके पूर्ण विपरीत होती हैं। उनका प्रथम तथा प्रधान गुण जीवाणु-

नाशन है। रोगोत्पत्ति में जब से जीवाणुओं का सम्बन्ध निश्चित हुआ तथा अनेक रोगों के रोगाणुओं का पता लगा तब से पाश्चात्य लोग उपलब्ध औषधियों के जीवाणुनाशक गुण मालूम करने के पीछे पड़े तथा नयी नयी जीवाणुनाशक औषधियाँ खोजने लगे। इसके फलस्वरूप एक से एक बढ़कर जीवाणुनाशक औषधियाँ सामने आ गयीं तथा निर्माण भी हुईं जिनमें कुछ औषधियाँ रामबाण के समान विकारी जीवाणुओं का अचूक नाश करने वाली भी हैं। इनको विशिष्ट (specific) औषधियाँ कहते हैं। एलोपैथी औषधि-संभार की विशेषता इन विशिष्ट औषधियों में है। इनसे प्रभावित हुए कुछ लोग तथा एलोपैथी के चिकित्सक अनेक बार वैद्यों से पूछते हैं, 'क्या आपके आयुर्वेद में एलोपैथी की विशिष्ट औषधियों के समान विशिष्ट औषधियाँ हैं?' यह प्रश्न आयुर्वेद की जानकारी के लिए नहीं बल्कि एलोपैथी की तुलना में आयुर्वेद को नीचा दिखाने के लिए प्रायः पूछा जाता है। इससे आयुर्वेद तो नीचा नहीं होता, परन्तु पूछने वालों का मौख्य, अज्ञान या ज्ञानलवटुवैदग्ध्य प्रकट हो जाता है।

जीवाणुनाशक औषधियों द्वारा रोगों की चिकित्सा इस धारणा (Presumption) से प्रारम्भ हुई कि मनुष्यों को होनेवाले रोग केवल विकारी जीवाणुओं से होते हैं। आगे चलकर जब इनके प्रयोग से चिकित्सा में कुछ अधिक सफलता मिलने लगी तब वह धारणा 'रोगाणुनाशन से ही रोगनाशन (Kill the germ and you kill the disease)' इस प्रकार के एक सिद्धान्त (Dogma) में परिणत होकर चिकित्सा केवल उन्हीं के बल पर होने लगी। इसमें सन्देह नहीं है कि राजयक्ष्मा यक्ष्मदण्डाणु के उपसर्ग से और हैजा विसूचिका वक्राणु (Vibrio-cholera) के उपसर्ग से होता है। परन्तु वे रोग

केवल उन्हीं से होते हैं इस प्रकार का सैद्धान्तिक रोगों के कारणों का साकल्येन विचार करने किसी भी निःपक्षपाती व्यक्ति को जँचनेवाला है, और वास्तविकता भी ऐसी नहीं है। प्रत्येक रोग के लिए अनेक कारण होते हैं। उन सबों का विचार करके चिकित्सा होनी चाहिए, और उनमें से कारण रोगोत्पत्ति की दृष्टि से महत्त्व का हो उस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक रोग के विविध कारणों में कौन सा कारण महत्त्व का है यह प्रत्येक जितना विचारणीय है उतना ही विवाद्य है। आयुर्वेद ने शरीर को और एलोपैथी ने जीवाणु को महत्त्व दिया है। इनमें कौन सा पक्ष युक्तियुक्त है इसका विवरण पीछे बीजक्षेत्र-दृष्टान्त के आधार पर किया गया है।

तर्कशास्त्र (Logic) में कारणों के समवायी असमवायी और निमित्त ऐसे तीन वर्ग किये गये हैं। समवायी कारण वह होता है जो कार्य के साथ अभेदरूपेण (यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते) संयुक्त रहता है। जैसे लोहे की वस्तुओं के साथ लोहा सोने के आभूषणों के साथ सोना। यही कारण से महत्त्व का होता है क्योंकि अन्य दो कारण बिना व्यर्थ होते हैं। इसको उपादानकारण (Causa materialis) कहते हैं। रोगों के कारणों में उपादान कारण शरीर होता है, जीवाणु नहीं; इसलिए शरीर ही सब से महत्त्व का कारण मान लिया है, और चिकित्सा में उसी पर अधिक ध्यान दिया जाता है। असमवायी कारण से उपादान कारण में कार्य का प्रारम्भ होता है; इसलिए इसका आदि कारण कह सकते हैं। महत्त्व की दृष्टि से इसका क्रम दूसरा होता है। इसमें असात्म्येन्द्रियार्थसंवेदन आदि कारण आते हैं। तीसरे कारण को निमित्त कारण कहते हैं। इससे उत्पन्न हुए रोग में विविध

स्वरूप उत्पन्न होता है। विकारी जीवाणु इस वर्ग में आते हैं। रोगों के विविध कारणों में यह असाधारण (Specific) कारण जरूर है, परन्तु प्रधान नहीं है। असाधारण इसलिए है कि इसी के अनुसार रोगों का अन्तिम स्वरूप बदलता है। तर्कशास्त्र में इसी को कारण कहते हैं—तदेतत् त्रिविधकारण-मध्ये यदसाधारणकारणं तदेव कारणम् ॥

ऊपर 'रोगाणुनाशन से रोगनाशन' का जो सिद्धान्त बताया गया है वह रोगविकृति की दृष्टि से कहाँ तक ठीक है इसका प्रथम विचार किया जाय। फुफ्फुसपाक (Pneumonia) फुफ्फुसगोलाणुओं (Pneumococci) से होता है। इसमें फुफ्फुस घन हो जाता है। इस रोग के लिए शुल्फोषधियाँ (Sulpha drugs) और कूर्चकि (Penicillin) विशिष्ट औषधियाँ हैं। एलोपैथी में इन्हीं का प्रयोग होता है। इनसे रोगियों को जल्दी आराम मिलता है ऐसा चिकित्सकों का कहना है। इनसे फुफ्फुसगत जीवाणुओं का नाश होता है। परन्तु जिस समय नाश होता है उस समय फुफ्फुसगत विकृति में कोई फरक नहीं होता, वह ज्यों की त्यों ही रहती है, तथा इनसे विकृति ठीक होने में कोई सहायता भी नहीं मिलती। वह विकृति शरीरबल से धीरे-धीरे ठीक होती है, और उसके लिए रोगी के शरीरबल के अनुसार न्यूनाधिक काल लगता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि अचिकित्सित या आयुर्वेदीय औषधियों से चिकित्सित रोगियों की अपेक्षा इन एलोपैथिक औषधों से चिकित्सित रोगियों में रोग के पुनरावर्तन अधिक दिखाई देते हैं। सबल शरीर रोगाणुनाशक औषधियों के बिना रोगाणुओं का नाश करके भीतरी विकृति को भी ठीक कर सकता है। परन्तु निर्बल शरीर रामबाण रोगाणुनाशक औषधियों के प्रयोग से

भी बच नहीं सकता और यही तत्त्व ऊपर उद्धृत किये हुए 'विज्ञातं बहुशो यच्च' इस श्लोक में बताया गया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि 'रोगाणुनाशन से रोगनाशन' का एलोपैथिक चिकित्सा का मन्त्र केवल अर्धसत्य है।

एलोपैथी की औषधियों का दूसरा अवगुण उनका विपैलापन है। एलोपैथी में केवल विकारी जीवाणुओं के लिए ही नहीं, अनेक पीड़ादायक लक्षणों के लिए भी अनेकों रामबाण औषधियाँ हैं जो अपना लक्ष्यवेध करने में अचूक तथा आशुकारी होने से प्रयुक्त करने पर जादू का सा असर करती हैं। ये सब औषधियाँ भयानक विषैली होती हैं जो स्वस्थ शरीर पर भी विषैला परिणाम किये बिना नहीं रहती, फिर रोगग्रस्त दुर्बल शरीर इनके विपैलेपन से कैसे बच सकते हैं? इस अवगुण के कारण उनके निर्माता सदब पहले से कम विषैली और अधिक प्रभावी औषधियों की खोज में रहते हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप उस प्रकार की नयी नयी औषधियाँ चिकित्सा-क्षेत्र में बराबर आती रहती हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण एम० बी० ६६३ है। यह औषधि अभी अभी फुफ्फुसपाक तथा उस प्रकार के अन्य रोगों के लिए डाक्टरों की सर्वप्रिय थी; अब इसका कोई नाम नहीं लेता। केवल यही नहीं, अधिकृत औषधियों से वह निष्कासित भी हो गयी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नयी औषधियाँ विषैली नहीं होती। इतना ही कह सकते हैं कि पहले की अपेक्षा नयी औषधियाँ कुछ कम विषैली होती हैं। परन्तु इस कथन में भी पूर्ण सत्य नहीं होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक औषधि प्रत्येक रोगी के लिये प्रत्येक अवस्था में विषैली नहीं होती। अवस्थाविशेषों में कभी-कभी विषैली होती है। इसलिए प्रत्येक औषधि के विपैलेपन का पूर्ण ज्ञान होने के लिए उसका प्रयोग बहुत

अधिक काल तक जारी रहना चाहिए। परन्तु आज-कल इन औषधियों की आयु इतनी छोटी हो गयी है कि उनसे चिकित्सक पूरी तरह परिचित भी नहीं हो पाते कि दूसरी औषधियाँ उनका स्थान ले लेती हैं।

एलोपैथी की औषधियाँ अत्यन्त वीर्यवान् होने के कारण अनेक बार ये भीतरी विकृति को कुछ काल के लिए दबा देती हैं, जिस से बाह्यतः रोग अच्छा हुआ प्रतीत होता है, परन्तु तत्पश्चात् उसका पुनरावर्तन (Relapse) हो जाता है। कभी-कभी ये मूल रोग का तो निर्मूलन कर देती हैं, परन्तु कोई नया उपद्रव या रोग उत्पन्न कर के पूर्व रोग से भी बदतर (Remedy worse than the disease) सिद्ध होती हैं और 'बाप मरा घर बेठा हुआ, इसका टोटा उसमें गया' वाली कहावत सार्थ कर देती हैं। कभी-कभी ये साध्य रोगों को बिगाड़ती हैं और कभी असाध्य रोगों का काम स्वयं कर देती हैं। एलोपैथी-चिकित्सकों द्वारा चिकित्सित रोगियों का यदि अनुसारी (Follow up) अवलोकन किया जाय तो पता चलेगा कि ऐसी अनेकों दुर्घटनाएँ प्रतिदिन हो रही हैं, जिनका अर्थ अधिकसंख्य भुक्तभोगी तथा उनके सम्बन्धी समझते नहीं और स्वार्थी चिकित्सक बताते नहीं। परन्तु जानकारों में, इन दुर्घटनाओं का उत्तरदायित्व किस के ऊपर है इसके सम्बन्ध में जरा-सा भी सन्देह नहीं है; यह बात प्रारम्भ में ओस्लर का जो उद्धरण दिया है उस से तथा डा० जान मासन गुड के निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है—Our medicines are in the highest degree uncertain except indeed they have destroyed more lives than war, pestilence and famine combined.' इन दुर्घटनाओं की जिम्मेदारी औषधियों पर

जितनी है उतनी ही चिकित्सापद्धति के ऊपर भी है। एलोपैथी औषधि-प्रधान चिकित्सा-पद्धति रही और रसायनशास्त्र की उन्नति के साथ उसका औषधिप्रधान्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ता गया। अतः उसकी परम्परा में पढ़ा हुआ चिकित्सक जब रोगी के पास पहुँचता है तब वह कुछ न कुछ वीर्यवान् औषधि देकर चमत्कार उत्पन्न करने में सोचता है।

इसके विपरीत आयुर्वेद की वीर्यवान् औषधियाँ बल्य हैं और जो इतर हैं वे भी विषैली या हानिकारक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि हानिकारक औषधियाँ अशुद्ध या निषिद्ध मानी गयी हैं जिस से आयुर्वेद के शास्त्रोक्त योग अनपायी होते हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद औषधि-प्रधान चिकित्सा-पद्धति न होने के कारण प्रारम्भ में जो चिकित्सा होती है वह जैसे पूर्व बताया गया है अपथ्यवर्जन और पथ्य-सेवनसे की जाती है और उसके साथ मामूली काथ स्वरस का उपयोग किया जाता है। यदि उसके काम न हुआ तो औषधियाँ दी जाती हैं।

इसका उल्लेख ऊपर पथ्य में किया है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—

सदा दोषौषधादीनि वीक्ष्य द्वादशतत्त्वतः।

कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलैः॥

ये द्वादश तत्त्व निम्न हैं—

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।

सत्वं सात्म्यं तथाऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥

इन तत्त्वों का विचार न करके केवल औषधियों द्वारा चिकित्सा करना आयुर्वेदसंमत नहीं है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है। एलोपैथी चिकित्सक रक्तपरीक्षा से विषम ज्वर का निदान होते ही इधर-उधर न देख कर रोगी को विषम

(Quinine) मुख द्वारा या बहुधा सुई द्वारा दिये बिना न रहेगा। आयुर्वेद चिकित्सक आहार-विहार के साथ सामान्य ज्वरहर काथ या वटी देगा। यदि विज्वरी देना हो तो प्रथम रोगी के दूष्यदोषादि का विचार कर के विज्वरी ऐसी तेज औषधि उसको अनुकूल होगी या नहीं इसका विचार करेगा। यदि प्रतिकूल मालूम हुई और देना आवश्यक हुआ तो प्रवाल, गुडुची सत्व, हरड़, दूध इत्यादि द्रव्यों में से किसी एक के साथ मिलाकर देगा। इससे यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद की चिकित्सा द्वारा एलोपैथी की चिकित्सा के समान दुर्घटनाएँ उत्पन्न होने की संभावना नगण्य होती है।

आयुर्वेद में घातक औषधियों का प्रयोग नहीं होता है, परन्तु चरकसंहिता में असाध्य जलोदरी के लिए सर्पविष जैसी प्राणान्तक औषधि का प्रयोग करने के लिए लिखा है। उस जगह चरकाचार्य ने जो विचार प्रकट किये हैं वे एलोपैथी के प्रत्येक चिकित्सक को वर्तमानकालीन रामबाण औषधियाँ का प्रयोग करते समय ध्यान में रखने योग्य हैं।—

ज्ञातीन् स सुहृदो दारान् ब्राह्मणान् नृपतीन् गुरुन्।

अनुज्ञाप्य मिषक् कर्म विदव्यात् संशयं ब्रुवन् ॥

अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्।

एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातं सुहृद्गणैः ॥

पानमोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत् ॥

इसका व्यावहारिक तात्पर्य यह है कि ऐसी विषैली प्राणान्तक औषधियाँ केवल उस अवस्था में प्रयुक्त की जायँ जब अन्य सामान्य औषधियों से बचने की आशा न हो और इनके प्रयोग से बचने की थोड़ी सी भी संभावना हो; इनका प्रयोग केवल घण्टे-आधे घण्टे के लिए 'अशुभस्य कालहरण' करने के लिए न किया जाय। इसके साथ-साथ उनके प्रयोग से रोगी की, रोगजन्य शक्तिपात या क्षीणता

से मरने के समय से पहले मरने की अधिक संभावना होने के कारण उनका प्रयोग करने का निर्णय चिकित्सक अपने उत्तरदायित्व पर न करके रोगी के समीपवर्ती सम्बन्धियों और उत्तराधिकारियों को औषधिप्रयोग के दोनों के प्रकार के फलों का ज्ञान कराके उनकी अनुज्ञा मिलने पर करें। एलोपैथी में सर्पविष-सम या उससे भी अधिक विषैली अनेक औषधियाँ हैं जिनका प्रयोग उसके चिकित्सक अपने उत्तरदायित्व पर बराबर किया करते हैं। इससे अनेक बार रोगी समय से पहले चल बसता है और परिवार के लोग डाक्टर को बुलाने में की हुई अपनी मूर्खता पर जन्म भर पछताते रहते हैं। यदि आयुर्वेद के आचार्यों की उपर्युक्त सूचनानुसार डाक्टर व्यवहार करेंगे तो इन विषैली औषधियों के प्रयोग से उन्हें जितना पाप इस समय लग रहा है उसके आधे से तो वे जरूर मुक्त हो जायँगे।

उपसंहार

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अत्यन्त विपन्न स्थिति प्राप्त होने पर भी आयुर्वेद के पास बीसवीं शताब्दि की अत्यन्त उन्नत पाश्चात्य वैद्यक के सामने रखने योग्य अनेक विशेषताएँ हैं और यदि भविष्य में उसकी उपेक्षा करना छोड़कर हम हृदय से उसके उन्नत्यर्थ प्रयत्न करेंगे तो वह यथापूर्व सब वैद्यकशास्त्रों का अग्रणी बनेगा। यह बहुत सन्तोष का विषय है कि देश की जनता तथा शासनसंस्था के द्वारा इस समय आयुर्वेदाध्ययन के लिए विद्यालय खोले जा रहे हैं, पुराने विद्यालयों का पुनःसंघटन किया जा रहा है, पाठ्य पुस्तकें नये सिरे से लिखवाने का प्रयास किया जा रहा है, पाठ्य क्रमों में परिवर्तन किया जा रहा है तथा अन्वेषण की आयोजनाएँ की जा रही हैं। ये सब

प्रयत्न अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक ही हैं, परन्तु जब-तक सब प्रकार की साधनसामग्री से सुसंपन्न तथा आधुनिक नैदानिकीय प्रयोगशाला से (Clinical labortary) से सुसज्जित अनेक आयुर्वेदीय अन्तरंगी आतुरालय (Hospitals) नहीं स्थापित किये जायेंगे तब तक आयुर्वेद का वास्तविक उद्धार नहीं होगा। इसका कारण यह है कि अग्निवेशादि महर्षियों ने जो आयुर्वेद प्रतिपादित किया है वह आधिव्याधिपीडित रोगियों के पास बैठकर, उनके सुखदुःखां में समरस होकर, उनके अन्तरात्मा में आत्मा मिलाकर प्राप्त किया हुआ है।

यदि इस प्रकार अन्तरंगी (Indoor) आतुर-

रालयां में आयुर्वेद की शिक्षा देने का पूर्ण प्रयत्न किया जाय तो आयुर्वेद फिर संसार के सामने अपना सिर ऊँचा किये बिना न रहेगा और जैसे संसार की विज्ञानसन्त्रस्त जनता भारतीय तत्त्वज्ञान की ओर सुखशान्त्यर्थ मार्गदर्शन के लिए देखती है वैसे ही आधिव्याधिपीडित जनता आयुर्वेद की ओर व्याधिशान्त्यर्थ मार्गदर्शन के लिए देखे बिना न रहेगी। यह केवल स्वकपोलकल्पना नहीं, वस्तुस्थिति की पूर्वकल्पना है और इस की पुष्टि भूमि में दिये हुए फिलाडेल्फिया के डा० क्लार्क के वचन से हो जाती है।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः॥

इस लेख को लिपिबद्ध करने का सब श्रय बनारस मेडिकल एसोसिएशन के मन्त्री श्री डा० मैत्र जी को है। यदि आप मेरे पीछे न पड़ते तो, अन्य लेखनकार्यों में व्यस्त रहने के कारण, इसको लिपिबद्ध करने का कार्य मुझसे न हो पाता। अतः, समा के दिन निमन्त्रण देकर और समा के पश्चात् लेख लिखने के लिए पीछे पड़ कर, आपने मुझे आयुर्वेद की सेवा करने का जो सुअवसर प्रदान किया उसके लिए मैं आपका हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

—लेखक

अष्टाङ्गसंग्रह सूत्रस्थान अध्याय वारह

में

वाहट* क्या कहता है

वैद्य के० ल० दत्तरी

अनुवादक—प्रोफेसर गोपाल गुप्त

ॐ

भारत को स्वातन्त्र्य प्राप्त होते ही आयुर्वेद के पुनरुत्थान का आन्दोलन जोर पकड़ रहा है। इसी के साथ प्रचलित सभी वैद्यक पद्धतियों का समन्वय करके एक राष्ट्रीय वैद्यक पद्धति की स्थापना के लिये भी आन्दोलन शुरू हुआ है। नागपुर में तो उसके पहले से ही वैद्यकसमन्वयपरिषद् अस्तित्व में आकर उसने समन्वय की कार्यसिद्धि के हेतु एक स्थायी "भारतीय वैद्यकसमन्वय समिति" की भी संस्थापना कर दी है जिसका काम आज भी जारी है। ऐसी परिस्थिति में आयुर्वेद का असली रहस्य क्या है यह जान लेने की नितांत आवश्यकता है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत लेख में इस विषय पर यथामति प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता है।

आयुर्वेद का रहस्य किस ग्रन्थ से जाना जाय ?

आयुर्वेद के रहस्यज्ञापक ग्रन्थ का ही पहले विचार करेंगे। आयुर्वेदीय ग्रंथों में आयुर्वेद का जो इतिहास उपलब्ध है वह इस प्रकार है। आयुर्वेद का निर्माण ब्रह्मदेव ने किया। उसने प्रजापति को पढ़ाया, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारों ने इन्द्र को, इन्द्र ने आत्रेय पुनर्वसु को और आत्रेय ने अग्निवेश, भेल, जतुकर्षा, पराशर, हारीत, क्षारपाणि इन छः शिष्यों को सिखलाया। शिष्यों ने आयुर्वेद का अध्ययन तो एक साथ किया था; किन्तु उसका प्रणयन स्वतन्त्र रूप से प्रत्येक ने पृथक्-पृथक् किया। इस प्रकार आयुर्वेद की छः संहिताएँ प्रस्तुत की गईं। विचारियों पर इन सभी संहिताओं के अध्ययन का श्रम न पड़े इस दृष्टि से वाहट ने एक ऐसे गद्यपद्यात्मक "अष्टाङ्गसंग्रह" नामक ग्रंथ की रचना की जिसके द्वारा उक्त सभी संहिताओं का अर्थ सुलभ हो जाय। उस 'अष्टाङ्गसंग्रह' का ही पद्यात्मक सार 'अष्टाङ्गहृदय' नामक ग्रन्थ में किसी वाग्भट नामक अन्य व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसी 'अष्टाङ्गहृदय' का अध्ययन प्रायः सर्वत्र आज किया जाता है। आयुर्वेद की छः संहिताओं में एक मात्र अग्निवेश की ही संहिता आज प्रसिद्ध है। अन्य संहिताएँ प्रायः दुर्लभ ही हैं। अग्निवेश की संहिता भी मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। उस पर चरक और दृढबल ने संस्कार किये हैं किन्तु वाहट ने उन सभी संहिताओं का अष्टाङ्गसंग्रह में एकत्रीकरण किया है। उसके पश्चात् निर्मित सभी ग्रंथों में प्रायः उसी का अनुवाद ही है। अतः वाहट का अष्टाङ्गसंग्रह ही प्रस्तुत इतिहास के आधार पर आयुर्वेद का प्रमाणग्रन्थ माना जा सकता है। अर्थात् यही ग्रन्थ आयुर्वेद के असली रहस्य का परिचायक है। चरकसंहिता का भी अनेक अवसरों पर उपयोग किया जा सकता है क्योंकि वाहट के कई वचनों का मूलरूप उस में वर्तमान है।

* अष्टाङ्गसंग्रह के ग्रन्थकार को संप्रति 'वृद्धवाग्भट' कहते हैं। किन्तु इन्दु टीकाकार उसे 'वाहट' कहता है। हम ने भी तदनुसार उसे 'वाहट' कहा है। क्योंकि हमारे मत से अष्टाङ्गहृदय का कर्ता वाग्भट वाहट से भिन्न है।

मुख्यतः दो बातें ध्यान में रखी जायँ

इस रहस्य का निर्णय करते समय मुख्यतः दो बातों की ओर हमारा ध्यान रहे। (१) भाषा कई स्थलों पर निश्चित अर्थ का बोध कराने में असमर्थ होती है, इसी कारण उपनिषदों के कई वचनों का अन्यान्य आचार्यों ने विनिर्दिष्ट किया है। अतः भाषा का अर्थ अनिश्चित और अनेकार्थसूचक होने पर प्रत्यक्ष अनुभव से मेल खानेवाला अर्थ ही मानने में बुद्धिमानी है, क्योंकि जिस भारतवर्ष में कुछ महर्षियों ने तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में 'जीवब्रह्मवैय' तथा 'सर्वज्ञोक्ति' सिद्धांत तक कल्पना के पंख फैलाये उसी भारत में अन्य महर्षि वैद्यकक्षेत्र में प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर समुचित सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं कर सकते थे यह मानना हमारी बड़ी भारी नासमझी है। अतः उनकी भाषा का अनुभव से निर्धारित सिद्धांतों से मिलता-जुलता अर्थ यदि खींच-तान किये बिना कर सकते हैं तो वही अर्थ मान्य होना चाहिए। (२) आयुर्वेद में चिकित्सा के सामान्य तत्त्वों के साथ-साथ औषधिप्रयोग भी बताये गये हैं। उन दोनों में विरोध भाव परिलक्षित होने पर कितने प्रमाण माना जाय यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है। पहली कठिनाई का सुलझाव इस प्रकार अनुभव की कसौटी पर किया गया वैसा यहाँ नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ अर्थ की सन्दिग्धता का प्रश्न है ही नहीं। विरुद्ध वचनों का अर्थ निश्चित है। यहाँ सवाल यह है कि आयुर्वेद का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये विरुद्धार्थसूचक वचनों में से किसे प्रमाण माना जाय। इसका उत्तर यही है कि चिकित्सा के तत्त्वों का वर्णन करनेवाले वचन ही स्वीकार्य हैं; क्योंकि उन महर्षियों द्वारा कथित प्रयोगों के आधार पर हम जो आज चिकित्सा के सामान्य तत्त्वों का निर्धारण करेंगे इसकी अपेक्षा महर्षियों ने स्वयं जो निर्धारित किये हैं उन (चिकित्सातत्त्वों) को अधिक प्रामाणिक मानना हमारी बुद्धिहीनता का द्योतक निश्चय ही न होगा। औषधिप्रयोग और उनके बताये चिकित्सा तत्त्व इन दोनों में आज जो विरोध दृष्टिगत होता है वह विरोध उस समय महर्षियों को अपने अनुभव के अल्पत्व व अभाव के कारण दृष्टिगत न हुआ होगा ऐसी उस विरोध की उपपत्ति हम लगा सकते हैं। तात्पर्य उनके बताये चिकित्सा के सामान्य तत्त्व ही प्रमाणभूत हैं।

वाहट के बारहवें अध्याय का मुख्य भाग

अब वाहट के सूत्रस्थान के बारहवें अध्याय का प्रमुख भाग नीचे दिया जाता है।

द्विविधमौषधं ऊर्जस्करं रोगघ्नं च। रोगघ्नमपि द्विविधं प्रशमनमपुनर्भवकरं च। पुनरपि च त्रिविधम्। व्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं सत्त्वावजश्चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं मंत्रौषधिमंगलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्वयनप्रणिधानगमनादीनि। युक्तिव्यपाश्रयम् आहारौषधयोजनादि। सत्त्वावजयः पुनरहितान्मनोनिग्रहः। पुनरपि त्रिविधं अपकर्षणं प्रकृतिविघातो निदानत्यागश्च। ते पुनरपकर्षणादयो द्विविधा बाह्याभ्यन्तरभेदेन। तत्र बाह्यमपकर्षणं ग्रन्थिदोषपक्षमक्रिमिशल्यादिषु शस्त्रहस्तयंत्रादिभिः। आभ्यन्तरं पुनर्वसनविरेचनादिभिः। प्रकृतिविघातः संशमनं तद्बाह्यमपकर्षणं श्वेदप्रदेहपरिषेकोपमर्दनादि। आभ्यन्तरं यदंतरमनुप्रविश्याविक्षोभयद्दोषान् शमयति। निदानत्यागो यथा दोष शीतोष्णशानव्यायामादीनां वर्जनम्। स्निग्धरुक्षायनभ्यवहारश्च। पुनरपि त्रिविधं। हेतुविपरीतं व्याधिविपरीतम् उभयकारि च। तत्र हेतुविपरीतं गुरुस्निग्धशीतादिषु व्याधौ लघुरुक्षोष्णादि। तथेतस्मिन्नितरत्। व्याधिविपरीतं हि मूलोपक्रमौ लघनवृंहणे पञ्चकर्माणि वमनादीनि सधूमधूपांजनादीनि च तथा विमलापनोपनाहनपाटनादीनि च। यच्च दोषशमनत्वे सत्यपि ज्वरे विशेषतो हितं मुस्तापर्पटकं यवाग्वश्च प्रमेहे रजनी यवान्नं चेति। रक्तपित्ते चोर्ध्वो विरेचनं

सन् १६५१]

वाहट क्या कहता है

६१६

वमनं । उभयार्थकारि पुनर्देवव्यपाश्रयमौषधम् । तथा छर्द्यां छर्दनम् अतिसारे विरेचनम् मदात्यये मद्यपानं क्षुत्थदग्धे अग्निप्रतनं पित्तेऽन्तर्निगूढे विभागगे वा स्वेदः कट्वमल्लवणतीक्ष्णाभ्यवहारश्च बद्धिः प्रवर्तनाय स्वमाणापादनाय च । श्लेष्मणि चांतर्निगूढे स्तब्धे शीतोपचारः तत्तरीडितस्योष्णोऽन्तःप्रवेशेन कफो विलयतामुपयाति । एवंविधं ह्यविपरीतमेव सद् भेषजं हेतुव्याधि विपरीतमर्थं करोति ।

इन्दु टीका का मुख्य भाग

वाहट के ग्रन्थ पर इन्दुकृत टीकात्मक ग्रन्थ है । उस टीका का एकमात्र मुख्य भाग यहाँ उद्धृत किया जाता है ।

“तत्र देवव्यपाश्रयं यत् पापस्योपघातकत्वेन जठराग्निसंयोगेन विना धातुसाम्यकरं मंत्रौषध्यादि । अत्रौषधीनां धाममेवाभिप्रेतं । तत्र हेतुविपरीतं यद् व्याधिविशेषविवक्षायां व्याधिजनकदोषकारणविपरीत-गुणं । यथा गुर्वादिगुणयुक्तद्रव्यजे व्याधौ लब्धादिगुणां औषधं । उभयार्थकारि यदुभयस्य हेतुविपरीतस्य व्याधिविपरीतस्य च संबन्धनमर्थं रोगोपशमलक्षणां एतद्गुणमपि करोति तदुभयार्थकारि । यथा छर्द्यां तत्स्वरूपमेव वमनम् एवमपि स्वबुद्ध्या विकल्प्यम् । एवमनेन प्रकारेण रोगादविपरीतमपि विपरीतार्थं रोगस्य शमनं करोति ।”

पुनर्भवकर और अपुनर्भवकर औषधियाँ

उक्त उद्धरण को पढ़कर जो पहिली बात ध्यान में आती है वह यह है कि रोगग्र औषधियों के दो प्रकार हैं । एक प्रशमन और दूसरा अपुनर्भवकर । अपुनर्भवकर का अर्थ रोग पुनः उत्पन्न न करने वाला रोगग्र औषधियों का दो प्रकार से विभाजन कर एक वर्ग को ‘अपुनर्भवकर’ कहा गया है । अतः दूसरे वर्ग की औषधियाँ ‘पुनर्भवकर’ याने रोग पुनः उत्पन्न करने वाली होनी चाहिये । अर्थात् प्रशमन रोग का प्रथमतः शमन करनेवाली होकर भी रोग उत्पन्न करती हैं ऐसा अनुमान किया जाता है । हमारे इस अनुमान एवं गृहीतार्थ का समर्थक एवं परिपोषक साक्षात् अनुभव भी है । रेचक या सारक औषधि से मलबद्धता यद्यपि आरम्भ में नष्ट होती है तथापि फिर से वह उत्पन्न होती ही है । अफीम से निद्रानाश या अतिसार यद्यपि शुरु में नष्ट-सा दिखाई देता है तथापि पुनः वह प्रकट होता ही है । शीतजलोपचार से पहिले तो ज्वर शांत हो जाता है किन्तु बाद में प्रकट होता ही है । इस प्रकार के अनुभव पूर्ववियों ने किये ही होंगे । कुछ आयुर्वेद में भी बताये गये हैं जो नीचे टिप्पणी में दिये गये हैं । सोके आधारपर उक्त वर्गीकरणके किये जाने की संभावना प्रतीत होती है ।

सुश्रुत ज्वरचिकित्सा में कहता है :—

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् । शोधनं शमनीयं च करोति विषमज्वरम् ॥

१२१-१२२ उत्तरतंत्र अ० ३६

कहा है—

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् । दोषावहाः कषायेन स्तम्भित्वा तरुणज्वरे ॥१५६॥ ज्वरचिकित्सा

अर्थ :—आमज्वर पर यदि औषधि अर्थात् शोधन या शमन न करने वाली याने अपुनर्भवकर दी गई तो उससे

वाहटकृत दूसरा वर्गीकरण

वाहट ने रोगजन औषधियों का दूसरा भी वर्गीकरण हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी ऐसे तीन करके किया है। इन तीन चिकित्साओं के स्वरूप एवं व्याप्ति का सर्वप्रथम विचार किया जाता है। हेतुविपरीत क्या? कोई कहेंगे—रोग के जो कारण हुए उनका त्याग करना, उदाहरणार्थ, खटाई से यदि खाँसी हुई तो खटाई छोड़ दिया जाय। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। यह वाहट के पूर्वोक्त वचन में बताये गये 'निदानत्याग' का उदाहरण है। रोग के कारण का वर्जन 'निदानत्याग' है और रोग के कारण के विपरीत जो होगा उसका उपचार करना ही विपरीत चिकित्सा है। उदाहरणार्थ ठंडे पानी से यदि खाँसी हुई तो गरम पानी पीना ही विपरीत चिकित्सा है अधिक ठंडा भी नहीं, अधिक गरम भी नहीं ऐसा पानी पीना 'निदानत्याग' है। यह "गुरुस्निग्धशीतादिजे लघुरूक्षोष्णादि" इस वाहट के उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है।

हेतुविपरीत और दोषविपरीत

कोई ऐसा कहते हैं कि सभी रोगों का कारण दोष ही हैं अतः हेतुविपरीत का अर्थ दोषविपरीत किया जा सकता है किन्तु यह भूल है। सभी रोगों का कारण यद्यपि दोष है तथापि दोषों का भी कारण विविध अहितकर पदार्थों का है ऐसा निदानस्थान अध्याय एक के "तत्र निदानं वाय्वादिप्रकोपः। तस्य पुनरहिताहारविहारसेवा" इस वचन से स्पष्ट कर दिया है। अतः हेतुविपरीत में 'हेतु' शब्द से दोष अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत 'अहिताहारविहार' इन्द्रुरचित टीका में भी "व्याधिजनकदोषकारणविपरीतगुणम्" इन शब्दों से यह सूचित किया गया है। वाहट के 'गुरुस्निग्धशीतादिजे' इत्यादि उद्धरण से भी यही निश्चित होता है।

हेतुविपरीत चिकित्सा की व्याप्ति

अब हेतुविपरीत चिकित्सा की व्याप्ति बताई जाती है। हेतुविपरीत चिकित्सा हर समय नहीं की जा सकती क्योंकि हेतु के विपरीत क्या है इस का बहुधा पता नहीं चलता जैसे खटाई खाने से खाँसी हुई तो खटाई के विपरीत हो यह कोई नहीं बता सकता। शीत के विपरीत उष्ण यह जैसे सबकी समझ में आता है उसी प्रकार विपरीत कटु, मधुर, नमकीन या कषाय है ऐसा कुछ समझ नहीं सकते। अतः ऐसी अवस्था में हेतुविपरीत चिकित्सा नहीं सकती।

व्याधिविपरीत चिकित्सा

अब व्याधिविपरीत चिकित्सा का वर्णन किया जाता है। उपचर्य व्याधि के विपरीत व्याधि उत्पन्न करने वाली जो चिकित्सा वही व्याधिविपरीत चिकित्सा है। जैसे मलस्तंभ पर रेचक, अतिसार पर स्तंभक, निदानाश पर विषम अफीम या ज्वरपर शीतजलस्नान। किन्तु वाहट ने जो व्याधिविपरीत के उदाहरण दिये हैं उनमें से कुछ विशेष हैं, जैसे मुखद्वार से रक्तस्राव होता हो, तो विरेचन देना और गुदद्वार से होता हो, तो वमन देना। पूर्वोक्त व्याधि के विपरीत हेतु की कल्पना जैसे कभी-कभी नहीं की जा सकती, उसी प्रकार व्याधिविपरीत व्याधि की भी कल्पना नहीं की जा सकती।

ज्वर बहुत जोर से (भूयः) बढ़ता है। किन्तु शोधन या शमन औषधि दी गई तो वह विषमज्वर उत्पन्न करता है अर्थात् ज्वर प्रथम कम करके अनंतर वह बढ़ाती है। (सुश्रुत)

नवीन ज्वर में कषाय औषधि से वहमान (वहाः) दोष स्तंभित होते हैं अर्थात् उनका बाहर आना रुक जाता है। पकते नहीं और विषमज्वर अर्थात् प्रथम कम होकर बाद में बढ़ने वाला ज्वर उत्पन्न होता है। (चरक)

कई अवसरों पर नहीं की जा सकती, जैसे रक्तस्राव, खुजली, दुःख, लाली, हरापन, खेतता, कड़वापन, मधुरता, खाँसो, हिचकी, वमन आदि के संबंध में। इनके अभाव को वैपरीत्य नहीं कहा जायगा, यह हम न भूलें।

विपरीत कल्पना करते नहीं बनती

मलस्तंभ के विपरीत जैसे अतिसार या निद्रात्वता के विपरीत जैसे निद्राधिक्य उसी प्रकार रक्तस्राव या वमन या खुजली के विपरीत की कल्पना ही नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में व्याधिविपरीत चिकित्सा का कैसे अवलम्ब करें, यह एक जटिल समस्या ही है। वाहट ने उसे यह कह कर सुझाया है कि दूसरा कोई भी रोग उत्पन्न करनेवाली औषधि दी जाय जैसे रक्तस्राव या खुजली के वैपरीत्य के अभाव में पंचकर्मान्तर्भूत रेचक औषधि या वमन औषधि दी जाय। ऐसी औषधि को भी वाहट व्याधिविपरीत औषधि समझता होगा ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः उसे व्याधिविपरीत औषधि न कहकर नामांतर से उसका अभिधान किया जाय। उपचर्य व्याधि के समान व्याधि उत्पन्न करनेवाली औषधि उभयार्थकारी या सम चिकित्सा है। उपचर्य व्याधि से भिन्न रोग उत्पन्न करनेवाली औषधि उस व्याधि के विपरीत होगी या न भी होगी। पहली को विपरीत चिकित्सा कहा जाय और दूसरी को विषम चिकित्सा। उदाहरणार्थ, ज्वर पर ज्वरोत्पादक उभयार्थकारी या सम चिकित्सा है, ज्वर पर शरीर को ठंडक पहुँचाने वाला वर्फ व्याधिविपरीत चिकित्सा है, और ज्वर पर रेचक देना यह व्याधिविषम चिकित्सा है। व्याधिविषम चिकित्सा यह व्याधिविपरीत चिकित्सा से भिन्न है तथापि वाहट ने उसका व्याधि-विपरीत चिकित्सा में ही अन्तर्भाव किया है ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है।

वाहट द्वारा गृहीत 'विपरीत' और 'अन्य' शब्दों के अर्थ

अन्य रोगों के विपरीत और विषम ऐसे दो प्रकार हैं तथापि इस उद्धरण में दिये हुये उदाहरण यह बतलाते हैं कि वाहट ने विपरीत में ही विषम को भी अन्तर्भूत कर लिया है अर्थात् उसके मत से विपरीत माने 'अम्बु'; और 'अन्य' शब्द सूत्रस्थान अध्याय २३ (जिस पर कि आगे विचार किया गया है) के 'संशमनानि तु' आदि वचन में जो प्रयुक्त हुआ है वह विपरीत और विषम के अर्थ में है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वाहट को अभिप्रेत विपरीत चिकित्सा का अवलंबन सर्वदा संभवनीय है।

उभयार्थकारी चिकित्सा

अब उभयार्थकारी चिकित्सा के संबंध में चर्चा की जाती है। वाहट ने इसके उदाहरण दिये हैं "छर्चा छर्दन अतिसारे विरेचनं" अर्थात् वमन पर वमनोत्पादक और अतिसार पर विरेचन (जिससे पतले दस्त होते हैं) औषधियाँ हैं। इन्दु ने भी टीका में यही कहा है कि "एवमपि स्वबुद्ध्या विकल्प्यं" अर्थात् इसी प्रकार अपनी बुद्धि से सोच-समझ कर प्रयोग किया जाय याने ज्वर पर ज्वरोत्पादक और खुजली पर खुजली उत्पन्न करने वाली औषधियाँ दी जायें। इससे रोगनाश होता है ऐसा वाहट और इन्दु दोनों आगे कहते भी हैं। यही उभयार्थकारी या सम चिकित्सा है जिसे अङ्गरेजी में Homoeopathy कहते हैं। सम रोगों की कल्पना ही नहीं करनी पड़ती, वह रोग बिना कल्पना किये स्वयंसिद्ध ही है। अर्थात् यह सम चिकित्सा सर्वदा संभवनीय ही है, इस संबंध में द्विमतकी संभावना ही न होनी चाहिये।

एक विचारणीय प्रश्न

इस प्रकार उर्युक्त वर्गीकरणगत हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी चिकित्साओं के स्वरूप एवं व्याप्तिपर विहंगावलोकन करने के उपरान्त यह प्रश्न उपस्थित होता है कि पूर्वोक्त वर्गीकरण से प्रस्तुत वर्गीकरण का क्या संबंध है।

अर्थात् उभयार्थकारी औषधि अपुनर्भवकर है या प्रशमन है ? उसी तरह हेतुविपरीत या व्याधिविपरीत औषधि अपुनर्भवकर है या प्रशमन है ? ऐसा भी एक प्रश्न सामने आता है। हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी इन तीन चिकित्साओं में से कम से कम कोई एक भी तो अपुनर्भवकर तथा अन्य कोई एक पुनर्भवकर होनी ही चाहिये। तथापि अपुनर्भवकर कौनसी और पुनर्भवकर कौनसी यह प्रश्न रहता ही है जो कि अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ; क्योंकि अपुनर्भवकर चिकित्सा ही सचिचित्सा अर्थात् सच्ची चिकित्सा हो सकती है यह निर्विवाद है। संहिताओं में यदि इस प्रश्नका उत्तर न पाया जाता हो तो हमें अनुभव के आधारपर प्राप्त करना होगा।

सौभाग्य से वाहट में यह प्रश्न सुलझाया गया है। वाहट सूत्रस्थान अध्याय २३ में कहता है—“संशमनानि तु व्याधिबलादधिकानि तमुपशमय्य व्याधिम् व्याधिक्षपितदेहे शीघ्रमन्ययावहन्ति। शरीरबलाधिकानि ग्लानिमूर्च्छामदमोहबलक्षयान्। अग्निबलाधिकानि ग्लानिमग्निसादं च।”

अर्थ:—“रोगको तीक्ष्णता से अधिक तीक्ष्ण हो गई संशमन औषधि* उस रोग का शमन कर के रोग से क्षीण देह में शीघ्र ही दूसरा रोग उत्पन्न करती है। संशमन औषधियाँ शरीरबल से ज्यादा जोरदार दी जाने पर ग्लानि, मूर्च्छा, मद, मोह और बलक्षय उत्पन्न करती हैं और पचनशक्ति से अधिक शक्तिशाली दी जाने पर ग्लानि पैदा कर के पचनशक्तिका नाश करती हैं।”

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय ३६ में भी संशोधन और संशमन औषधियोंकी तालिका देकर उस सम्बन्ध में भी ऐसा ही विधान किया गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि संशमन औषधियों में अन्यरोगोत्पादक शक्ति होती है तथा वह शक्ति ज्यादा जोरदार औषधि दी जाने पर अन्य रोग उत्पन्न करती है। कमजोर संशमन औषधि अन्य व्याधि उत्पन्न नहीं करेगी। तथापि बारहवे अध्याय के ‘रोगघ्नमपि द्विविधं रोगस्थ प्रशमनं अपुनर्भवकरं च’ इस पूर्वविधेचित वचन के अनुसार वह औषधि पुनर्भवकर सिद्ध होती है अर्थात् अन्यरोगकारक औषधि प्रशमन याने पुनर्भवकर होती है। ‘व्याधिविपरीत’ शब्द ‘अन्यरोगकारक’ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ऐसा पहिले ही बताया जा चुका है अर्थात् वाहट के मतानुसार व्याधिविपरीत औषधि पुनर्भवकर होती है।

यह स्वतन्त्र चिकित्सा नहीं है।

उदाहरण से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि हेतुविपरीत चिकित्सा का पृथक् रूप में अस्तित्व ही नहीं है। शीतजल से रोगोत्पत्ति होने पर उष्णजलोपचार करना हेतुविपरीत चिकित्सा है। शीतजल जैसा रोगकारक

* इनको ही पूर्वोक्त उद्धरण में ‘प्रशमन’ कहा गया है यह स्पष्ट है। शम् धातु का मूल अर्थ है रोग नष्ट करना। इससे अल्प काल के लिये या हमेशा के लिये रोग नष्ट करना ऐसे दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। अर्थात् पुनर्भवकर शमन या अपुनर्भवकर शमन ये दोनों ही अर्थ द्योतित होते हैं। आयुर्वेद में शम् धातु तथा उससे बने हुए शब्द उक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त पाये जाते हैं। वाहट ने “प्रशमनमपुनर्भवकरं च” इस वाक्य में ‘प्रशमन’ शब्द स्पष्टतः पुनर्भवकर के अर्थ में प्रयुक्त किया है। “शोधनं शमनं चेति समासादौषधं द्विधा” इस पहिले अध्यायके वाक्य में वाहट ने ‘शमन’ शब्द से दूसरा अर्थ अर्थात् अपुनर्भवकर ग्रहण किया है ऐसा लक्षित होता है। विचार्य वचन में ‘संशमन’ शब्द औषधि के ‘किसी भी वर्ग’ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः वर्गीकरण के बारहवे अध्याय में जो वर्ग दिये गये हैं उन में से ही वह कोई एक होना चाहिये और वह ‘प्रशमनं अपुनर्भवकरं च’ वाक्य में आया हुआ ‘प्रशमन’ ही हो सकता है।

सन् १८५१]

वाहट क्या कहता है

६१६

उसी तरह गरम पानी भी रोगकारक ही है ['कालार्थकर्मणां योगो' इत्यादि (वाहट सूत्रस्थान अध्याय १) से यह स्पष्ट ही है] अर्थात् शीतजल जो रोग उत्पन्न करता है वही रोग गरम जल भी पैदा करता हो तो वाहट ने जो उभयार्थकारी चिकित्सा के उदाहरण दिये हैं उसके अनुसार वह उभयार्थकारी चिकित्सा ही होगी। शीतजल जो रोग उत्पन्न करता है उससे भिन्न रोग यदि उष्ण जल से होता है तो वाहट जिसे विपरीत चिकित्सा कहता है वही वह चिकित्सा होगी। तात्पर्य, हेतुविपरीत चिकित्सा का स्वतंत्र अस्तित्व ही प्रमाणित नहीं होता।

पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर

तात्पर्य, वाहट ने जो हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और उभयार्थकारी इन तीन चिकित्साओं का वर्णन किया है उनमें से हेतुविपरीत चिकित्सा का स्वतंत्र अस्तित्व ही सम्प्रमाण बाधित होता है और, व्याधिविपरीत चिकित्सा पुनर्भवकर है ऐसा निर्णीत होता है। अतः रही-सही तीसरी उभयार्थकारी चिकित्सा ही अपुनर्भवकर हो सकती है। हमारे इस कथन को अनुभव का भी समर्थन है। रेचक आदि औषधियों के जो पहिले उदाहरण दिये गये हैं वे सब व्याधिविपरीत चिकित्सा के हैं। उन उदाहरणों से व्याधिविपरीत पुनर्भवकर है ऐसा भी प्रमाणित होता है। रसायनों की पुनर्भवकारिता भी अनुभवसिद्ध है। वे एक रोग का शमन करते हैं तो साथ में उष्णता आदि भी पैदा करते हैं किन्तु जब उष्णता आदि चिह्न मिट जाते हैं तो पूर्वरोग पुनः प्रकट होता है। इसी को 'रसायन का असर जाता रहा' कहते हैं। उभयार्थकारी चिकित्सा व्याधिसमान चिकित्सा ही है जिसे अंग्रेजी में Homoeopathy कहते हैं यह पहिले ही बताया जा चुका है।

अब लगभग सार्धशतक से Homoeopathy स्वतंत्र चिकित्सापद्धति के रूप में अस्तित्व में आकर प्रासयश से लोकपरिचित हो रही है। इस पद्धति की औषधियों से रोग प्रथम बढ़ता है किन्तु अन्त में क्षीण होकर हमेशा के लिये (रोगकारण पुनरपि उत्पन्न होने से वह रोग पुनः हो, तो वह बात न्यायी है) निर्मूल होजाता है। आयुर्वेद में भी ऐसे अनुभवसूचक कई वचन हैं। अतिसार-चिकित्सा में बालहारा रेचक औषधि से रोग प्रथमतः उग्र होता है तदनंतर पूर्णतः मिट जाता है ऐसा "तथा प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः, जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ॥ २१ ॥" (चरक चि० स्था० अ० १०) में कहा गया है। ज्वर की सत्क्रिया से याने सच्ची औषधि से ज्वर कभी-कभी अत्यधिक बढ़ता है किन्तु पश्चात् वह जड़ से निकल जाता है ऐसा "ज्वरप्रमोक्षे पुरुषाः ... विसंज्ञो ज्वरवेगात्: ... लिगान्येतानि जानीयात्, ज्वरमोक्षे विचक्षणः। बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रिया दोषपक्ष्याचेत् विमुचति सुदारुणं कृत्वा दोष-वशाद्देहम्। क्रमादुपरमंति ये तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिकारिणाम् ॥ ३१९-३२३ ॥ चरक चि० अध्याय ३" में उल्लेख है।

तात्पर्य, उभयार्थकारी याने व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा अपुनर्भवकर चिकित्सा है तथा व्याधिविपरीत चिकित्सा पुनर्भवकर है ऐसा वाहट का स्पष्ट कथन है। और अपुनर्भव चिकित्सा ही असली चिकित्सा है यह भी सुस्पष्ट है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि चरक ने "यथास्वं सर्वविकाराणमपि च निग्रहे हेतुव्याधिविपरीतमौषधमिच्छन्ति-कुशलास्तदधिकारि वा" (हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत और हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी या उभयार्थकारी या व्याधिविपरीतार्थ-कारी चिकित्साओंका विद्वान् लोग उस चिकित्सा के योग्य अवसर पर प्रयोग करते हैं) ऐसा विमान स्थान अध्याय दो में क्यों कहा है ?

उभयार्थकारी ही अपुनर्भव होने के कारण सच्ची चिकित्सा है। इन्द्रु भी “एवमपि स्वबुद्ध्या विकल्प्य” वाक्य में वमन पर वमनोत्पादक तथा दस्तपर दस्तावर औषधियों की तरह अन्य सभी रोगोंपर अपनी बुद्धिसे औषधियों की योजना करें आर्थात् ज्वर पर ज्वरोत्पादक, खुजली पर खुजली पैदा करने वाली आदि औषधियों को नियोजना की जाय ऐसा कहता है। सारांश, इन्द्रुके ही कथनानुसार (“एवमनेन प्रकारेण रोगाद्विपरीतमपि विपरीतार्थं रोगस्य नाश करोति”) इस प्रकार रोग के विपरीत न रहनेवाली औषधि रोग के विपरीत परिणाम अर्थात् नाश उपस्थित करती है। यह यद्यपि सत्य है तथापि उभयार्थकारी प्रथमतः रोगको बढ़ाती है और व्याधिविपरीत याने प्रशमन औषधि पुनः रोग उत्पन्न करने वाली होकर भी प्रथमतः रोग कम करती है।

रोग की तीव्र अवस्था में सम चिकित्सा नहीं की जाती

इस बात को ध्यान में रखने से उभयार्थकारी चिकित्सा का अवलंबन रोग की आत्यंतिक तीव्रतावस्था में हितकर नहीं जान पड़ता क्योंकि उसके द्वारा रोग अत्यधिक वृद्धिगत होने से मृत्यु की संभावना रहती है। ऐसी दशा में सौम्य प्रशमन चिकित्सा करके रोगको कुछ कम होने दिया जाय और इस प्रकार रोगके कम होने की अवस्था में ही उभयार्थकारी चिकित्सा, रोग का पुनरुद्भव न हो, इस लिये की जाय। चिकित्सा की यही प्रणाली अभीष्ट है। और यही वाट ने “यथास्वं” शब्द से सूचित किया है। वाहट ने भी सूत्रस्थान अध्याय ११ के “एवमन्येषामपि ... तदर्थकारि वा” में यही समर्थित किया है। उसी अध्याय में अलसक की व्याधिविपरीत चिकित्सा की जाय ऐसा कहा गया है। अन्य रोगोत्पादक कोई भी औषधि सौम्य प्रमाण में दी गयी तो वह मूल रोग का कुछ काल के लिये संशमन करती है किन्तु ज्यादा जोरदार दी गई तो वह दूसरा रोग उत्पन्न करती है यह पूर्वउद्धृत वाहट के वचन (सूत्रस्थान अध्याय २३) से सुस्पष्ट ही है। इस आधार पर भी कुछ चिकित्साएँ आयुर्वेद में बताई गई हैं। उदाहरणार्थ वाहट रक्तपित्तचिकित्सा में कहता है कि “संतर्पणोत्थं बलिनो बहुदोषस्य साधयेत्। ऊर्ध्वभागं विरेकेण वमनेन त्वधोगतम्॥” अर्थात् रक्तपित्त ज्यादा जोरका (बहुदोषस्य) हो तो ऊर्ध्वगत रक्तस्त्राव पर रेचन दिया जाय और अधोगत रक्तस्त्रावपर वमन दिया जाय सारांश, रोग अधिक शक्तिशाली हो तो अन्यरोगकारक पुनर्भवकर संशमन दी जाय परन्तु सूची औषधि अपुनर्भवकर अर्थात् उभयार्थकारी जो होगी वही है ऐसा वाहट का अर्थात् आयुर्वेद का कथन है।

हमारे इस उपर्युक्त सिद्धांत को पढ़कर पाठक हम पर अत्यधिक क्रुद्ध होंगे। वे कहेंगे कि आयुर्वेदगत तीन दोषों तथा उनकी चिकित्साओं का, “वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः” का, “दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लघनपाचनैः। तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः” का और वस्तु में रोगहारक प्रभाव है इन चार बातों का जो आयुर्वेद में वर्णन है उस पर क्यों नहीं विचार किया गया ? अतः अब इस संबंध में पाठकों का समाधान किया जाता है।

प्रथमतः “वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः” इसका विचार किया जाता है। “यथास्वं सर्वविकाराणामपि त्रिग्रहे” इत्यादि वचन के पूर्व ही “सतित्वबुबन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निग्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौषधमातङ्कविपरीतमेवावचारयेत्” ऐसा वाक्य आया है। इस वाक्य में “आतंकविपरीत” की टीका करते समय चक्रमणि कहता है कि “विपरीत शब्द में विपरीतार्थकारी का भी अन्तर्भाव करना चाहिये क्योंकि यदि अन्तर्भाव न होता तो अगले ही वाक्य में ग्रंथकार ने ‘तदर्थकारि’ शब्द प्रयुक्त न किया होता।” इसी प्रकार “विपरीतैर्विपर्ययः” के ‘विपरीत’ शब्द में विपरीतार्थकारी भी अंतर्भूत है ही। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो चरक सूत्रस्थान अध्याय १ श्लोक ५८ से ६१ तक में दोषों

नाशक उपाय बताते समय ग्रंथकार “विपरीतगुणैः” शब्द का प्रयोग न कर केवल ‘विपरीतैः’ शब्द प्रयुक्त करता। “विपरीतगुणैः” की टीका में स्वयं चक्राणि ही कहता है “अत्र यत् प्रभावादपि विपरीतं भवति तदपि ग्राह्यम्” (जो प्रभाव के कारण विपरीत होता है उसका भी ‘गुण’ शब्द से यहाँ अन्तर्भाव हो जाता है)। विपरीतार्थकारी औषधि का रोगनाश करना जो धर्म है वह उसका प्रभाव ही है। अर्थात् “विपरीत गुण” शब्द में और “विपरीतैः विपर्ययः” के ‘विपरीत’ शब्द में विपरीतार्थकारो का अन्तर्भाव है ही।

“वृद्धिः समानेः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः” यह वचन चरक के जिस वचन का अनुवाद है वह यह है “सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणं हासहेतुर्विशेषश्च” किन्तु इसके आगे ही “तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः” ऐसा भी वचन है। इसका अर्थ यह है कि “सामान्य” स्वरूपतः सामान्य न होकर अर्थतः अर्थात् परिणाम में सामान्य है और पूर्वश्लोक में जो ‘विशेष’ शब्द है उसका अर्थ “विपर्यय” याने विपरीतता है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि चक्र ने सामान्य को परिणाम के आधार पर निर्णीत किया है, स्वरूप के आधार पर नहीं। यही विपर्यय को भी लागू किया जाना चाहिये अतः विपरीत में विपरीतार्थकारो सदैव वर्तमान है ऐसा चरक का आशय है। समान या समानार्थकारो से वृद्धि और विपरीत या विपरीतार्थकारो से क्षय हाता है ऐसा इसका अभिप्राय है। तथापि यह शरीरगत वृद्धि या क्षय अत्यकालिक है या हमेशा के लिये यह प्रशमन और अपुनर्भवकर के वर्गीकरण से निर्णीत होता है। उनमें से अपुनर्भव वृद्धि या क्षय ही ग्राह्य है यह स्पष्ट है। यह अपुनर्भव वृद्धि या क्षय करने का प्रभाव समान या विपरीत में न हो कर समानार्थकारो या विपरीतार्थकारो में ही है यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है और यही प्रभाव है। तथा यह प्रभाव कैसे उत्पन्न होता है यह चरक के “योगादपि विषं तीक्ष्णं उत्तमं भेषजं भवेत्” इस वचन में (जिस की चर्चा आगे की गई) बताया गया है।

अब “दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति” इत्यादि वचन का विचार किया जाता है। कोई विद्वान् इस वचन का आधार लेकर ऐसा कहेंगे कि संशोधन चिकित्सा हो अर्थात् रेचन, वमन, नस्य, बस्ति और रक्तमोक्ष ये ही अपुनर्भवकर हैं।” इस पर विचार करना जरूरी है। एतदर्थ उक्त वचन का सच्चा अर्थ क्या है यह देखना होगा। अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय चौदह में लघन के शोधन और शमन ऐसे दो प्रकार बताये गये हैं। अर्थात् लघन में ही शोधन का याने संशोधन का अन्तर्भाव हाता है। इस प्रकार यहाँ लघन को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर “संशोधन” से लघन के विपरीत परिणाम हाता है ऐसा नहीं कहा जायगा। अतः यहाँ लघन का संकुचित अर्थ करना पड़ता है। जो दोषों का पचन करने वाला हो वह लघन, ऐसा ‘लघन-राचन’ का अर्थ करना चाहिये। किन्तु ऐसा लघन कौन सा? यह यहाँ पर प्रश्न है। दोषपचन करने के मुख्यतः दो उपाय हैं। (१) लङ्घन और (२) औषधि-उपचार चक्रमहिता उत्रचिकित्सा श्लोक १३६ ‘लघनं त्वेदं काला यवारवस्तिक्तो रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणैर्वरे’ इसमें लघन दोषपाचक है ऐसा कहा गया है। और लघन का अर्थ वहाँ टीकाकार ने उपवास अर्थात् कुछ भी न खाना ऐसा किया है। किन्तु उसका अधिक व्यापक भी अर्थ किया जा सकता है। अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय १४ में लघन के ही क्षुत्, तृट् और व्यायाम ऐसे तीन प्रकार बताये गये हैं। और इनसे भी दोषपचन होता है ह अनुभवसिद्ध है। अतः विचार्य वचनगत लघनपाचन शब्द में क्षुद् याने भूख अर्थात् अन्न न खाना, तृट् याने प्यास अर्थात् पानी न पीना और व्यायाम याने श्रम ये तीनों अभिप्रेत हैं ऐसा निर्णीत हाता है। ज्यादा या अगड्ढा खाना, ज्यादा या बिल्कुल ही ठंडा पानी पीना और श्रम न करना ये तीन रागों के प्रमुख कारण हैं। उनका त्याग करने से दोषपचन का सहायता मिलती ही है। अर्थात् उक्त वचनगत लघनपाचन निराभ्यास का ही एक प्रकार साबित होता है। उक्तवचन के लङ्घनपाचन में या निदानत्याग में अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय १४ में क्षुत्तृट् के साथ ही बताये गये आतप याने सूर्यप्रकाश में रहना और मासत याने खुली हवा में रहना इनका भी अन्तर्भाव किया जायगा, क्योंकि इनसे भी दोषपचन को मदद मिलती

है। अंधरे में तथा बन्द हवा में रहना भी रोगकारक ही होने के कारण प्रकाश में एवं खुली हवा में रहना निवृत्त्योग ही है। तत्पर्य उक्त वचन के लंघनप चन शब्द से अन्न न खाना, पानी न पीना, श्रम करना, खुली हवा में तथा स्थान पर उजाले में रहना इन पांच बातों का बोध होता है। और इनके द्वारा विजित दोष पूर्णतः परास्त न होने के कारण कदाचित् पुनः प्रवृत्त होंगे यह जो कहा गया है वह सर्वथा समीचीन है क्योंकि केवल निदानत्याग अर्थात् अपर्याप्त है अतएव हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, या व्याधिसमान चिकित्साएँ कही गई हैं। अब विचार्य वचन 'संशोधन' शब्द पर विचार किया जाता है। वाहट के बारहवें अध्याय के वचन से व्याधिविपरीतार्थकारी याने व्याधिसमान ही चिकित्सा अपुनर्भवकर है ऐसा जब साबित होता है तो इस वचन की वाहट के उस वचन से संगति भी होनी चाहिये। अतः यह संशोधन व्याधिसमान ही होना चाहिये यह निश्चित है। अर्थात् अतिसार पर दिया हुआ तेल और वमन पर दिया हुआ वमन ही इस संशोधन का अर्थ होना चाहिये। इसी में खाँसी पर खाँसी बढ़ाके कफ को खुराने वाला या खुजली पर खुजली बढ़ाकर खुजली के स्त्राव को बाहर निकालनेवाली औषधों का भी अन्तर्भाव किया जायगा। संशोधन व्याधिविपरीत भी हो सकता है और व्याधिसमान भी। अतः अन्य वचनों से इस वचन की सङ्गति दिखाने के लिये यह संशोधन व्याधिसमान ही संशोधन है ऐसा मानना आवश्यक है। यह अनुभव भी किया गया है कि व्याधिविपरीत संशोधन पुनर्भवकर है, उदाहरणार्थ मलस्तंभ पर रेचक। अर्थात् उपर्युक्त उद्धरण के संशोधन शब्द में व्याधिसमान ही संशोधन अभिप्रेत है। मलस्तंभ पर मलस्तंभक औषधि ही अन्त में मलशोधक होती है अतः वह भी व्याधिसमान संशोधन में अन्तर्भूत है। तात्पर्य, उक्त वचन हमारे सिद्धांतों का विरोधी न होकर उसका सच्चा अर्थ करने पर पोषक ही दिखाई देता है। संक्षेप में इसका अर्थ यह है कि निदानत्याग चिकित्सा से कभी-कभी रोगहरण कार्य पूर्णतया सम्पन्न नहीं होता किन्तु व्याधिसमान संशोधन से वह पूर्णतः सम्पन्न होता है। यह अर्थ हमारे सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है।

अब तीन दोषों का विचार किया जाता है। हमारे उपर्युक्त निर्णीत सिद्धान्तों के अनुसार चिकित्सा करते समय अनेक प्रत्यवाय आते हैं। रोग अनन्त हैं और उनकी औषधियाँ भी अनन्त रहेंगी। एक ज्वर के ही कितने प्रकार और त्रे सब प्रकार उन्ने रोग हो हैं। इस प्रकार अनन्त दृश्यमान रोगों के कारणों, लक्षणों और औषधियों का वर्णन करते बैठना असम्भव है। इसलिये उन अनन्त रोगों की जड़ में पाये जानेवाले समान अल्पसंख्यक दोषों को ध्यान कर उन दोषों के कारणों, लक्षणों और चिकित्साओं के वर्णन करने की युक्ति आयुर्वेदीय महर्षियों ने अपनई इसका पता हम अष्टांगहृदय के सूत्रस्थान अ० १२ के "नानारूपैरसंख्यैर्विचारैः कुपिताः मलाः। तापर्यात तनुतस्मात् दृष्टत्वाकृतिसामान्यैर्नैकशोक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥ दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम् ॥" इस वचन से चलता है। "दोषा एव सर्वारागैकारणं" ऐसा वाहट भी सूत्रस्थान अध्याय २२ में कहता है।

सारांश, दोष अनंत रोगों की जड़ में विद्यमान अल्पसंख्यक मूल रोग ही हैं। उनकी चिकित्सा भी उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुसार ही होनी चाहिये, और वह पुनर्भवकर या अपुनर्भवकर ही तथा व्याधिविपरीत या व्याधिसमानैः सर्वेषां विपरीतैर्विषयः" में यद्यपि व्याधिविपरीत चिकित्सा ही परिलक्षित सी होती है तथापि इसमें व्याधिविपरीतार्थकारी चिकित्सा का भी अन्तर्भाव होना आवश्यक है। (इसके प्रमाण हमने ऊपर दिये भी हैं)। इनो प्रमाणों के दूषाङ्गक्रमणोपेक्ष्य य में कही हुई दोषों की चिकित्साएँ कुछ व्याधिविपरीत और पुनर्भवकर तथा व्याधिविपरीत और अपुनर्भवकर हानी चाहिये। और उनका वैसा स्पष्टतः निर्देश न किया गया हो तो अब हमको अपना बुद्धि से भी अनुभव से समझ लेना चाहिये। रस, वीर्य और विपाक को परास्त कर खुद का ही रोगहारक सामर्थ्य दिखानेवाला प्रकृत

सन् १९५१]

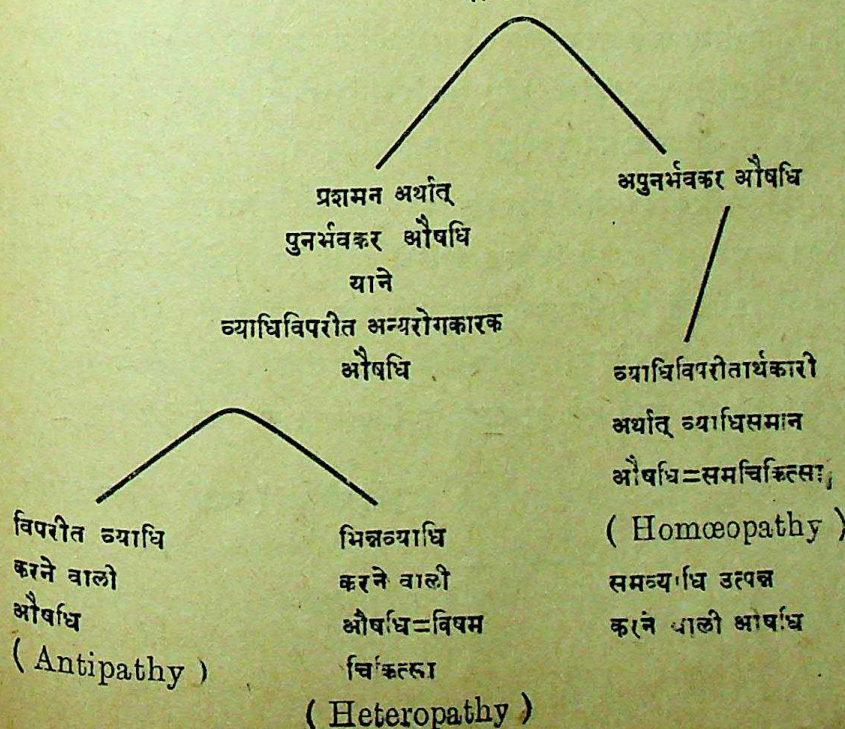
वाहट क्या कहता है

६२३

भी विरोगव्याधिकारत्व या समानव्याधिकारत्व से भिन्न हो ही नहीं सकता यह सुस्पष्ट है। कड़वी चीज से पित्त-शमन किन्तु वातोद्भव होता है। ऐसे विधान में भी अन्यरोगकारक पुनर्भवकर शमन चिकित्सा मात्र कही गई ऐसा हमको समझ लेना चाहिये। वाहट के सभी वचनों का यदि हम समन्वय करना चाहते हैं तो वह इसी प्रकार हो सकता है। आयुर्वेद में बताये हुए अनेक औषधिप्रयोगों में से जैसे “प्रमेहे रजनो यत्रान्नं च” व्याधिविपरीत हैं और कुछ जैसे “पित्तेऽन्तर्निगूढे कट्वस्त्वल्लवणनीङ्गाम्यवहारश्च” उभयार्थकारी है ऐसा जब वाहटका ही स्पष्ट कथन है तो आयुर्वेदोक्त औषधि प्रयोगों के कुछ व्याधिवपरीत और कुछ उभयार्थकार होने में कोई संदेह नहीं रहता। “योगादपि त्रिषु तीक्ष्णं उत्तमं भेषजं भवेत्” अर्थात् विष याने रोगकारक द्रव्य कौशल (योगात्) से दिया गया तो उत्तम भेषज अर्थात् अपुनर्भव रोगहारक होता है, ऐसा चरक ने सू० अ० १ में स्पष्ट कहा है और कौशल का (योग का) मतलब विषस्य तु तिलं दद्यत् (विष तिलमात्र अर्थात् अत्यल्प दिया जाय) यहो है ऐसा टोकाकर कहता है। इस प्रकार उभयार्थकारी चिकित्सा ही आयुर्वेद के अनुसार सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा प्रमाणित होती है; इसी कारण पार, सामल आदि अनेक विष आयुर्वेदोक्त औषधिप्रयोगों में प्रयुक्त दिखे देते हैं। वे उभयार्थकारी ही हो सकते हैं। एक ही औषधिप्रयोग में कभी कभी संशमन और अपुनर्भवकर दोनों प्रकार की औषधियों का मेल करने को पद्धति आयुर्वेदियों की परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ हेमगम में ताम्र या स्वर्ण वात को अपुनर्भवकर औषधि है और पारा ज्वरकारक अर्थात् वात को पुनर्भवकर औषधि है। यह विधि यद्यपि आज हमको पसंद नहीं है तथापि यह उनको कार्यपद्धति थी जिससे कई औषधिप्रयोग उत्पन्न हुए होंगे।

तात्पर्य, यह सुस्पष्ट है कि दोष-चिकित्सा, प्रभाव-चिकित्सा, षड्रस-चिकित्सा तथा ‘वृद्धिः समाप्ताः.....’ ‘दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति.....’ आदि वचन वाहट के बाहर्वे अत्र्याय के आधार पर निश्चित किये गये हमारे सिद्धान्तों के विरोध में नहीं हैं। उन सिद्धान्तों को निम्न वर्गीकरण वृक्ष द्वारा समझाया जाता है।

रोगघ्न औषधि



अब तीसरा एक वर्गीकरण जो बाहट ने दिया है उस पर विचार करेंगे। “पुनरपि त्रिविधं अपकर्षणं, प्रकृति-विघातो, निदानत्यागश्च..... स्निग्धरूक्षाद्यभ्यवहारश्च” यही वह वर्गीकरण है। इस में आये हुए ‘प्रकृतिविघात’ ‘संशमन’ तथा ‘अविक्षोभयत्’ शब्दों का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। प्रकृति-विघात याने, रूग्णवस्था में शरीर होनेवाली अस्वाभाविक क्रियाओं का नाशक। इस अर्थ के ग्रहण में किसीको भी संदिग्धता मालूम न होनी चाहिये। किन्तु संशमन शब्द का अर्थ संदेहात्मक प्रतीत होता है क्योंकि ‘प्रशमन’ पुनर्भवकर है ऐसा पहले ही बताया जा चुका है, तदुसार संशमन को भी पुनर्भवकर समझना चाहिये क्या? ऐसी आशंका मन में उत्पन्न होती है। किन्तु अविक्षोभयत् शब्द से हमारा भ्रम निवारण हो जाता है। ‘अविक्षोभयत्’ शब्द से वही दोष पुनः उत्पन्न करना ऐसा ही अभिप्रेत होना चाहिये। क्योंकि बाहट ने औषधियाँ पुनर्भवकर हैं या अपुनर्भवकर ऐसा स्पष्ट कहा है। यहाँ आया हुआ संशमन अपुनर्भवकर संशमन है यही सिद्ध होता है। शब्द धातु के द्विधार्थ के सम्बन्ध में पहले ही कह चुके हैं। उस से भी अविक्षोभयत् संशमन याने अपुनर्भवकर रोगहारक यही अर्थ निर्णीत होता है। सारांश, प्रकृतिविघात उभयार्थकारी चिकित्सा है और अपकर्षण व्याधिविपरीत।

उक्त तीनों वर्गीकरणों का विवेचन करने के उपरांत बाहट का कथन साररूप में यही जान पड़ता है कि (१) निदानत्याग याने रोग के कारणों का त्याग किया जाय; (२) रोग की आत्यंतिक अवस्था में अन्यरोगकारक विभिन्न सौम्यरूप से की जाय; (३) रोग के निर्मूलन के लिये व्याधिसमान चिकित्सा की जाय। यही आयुर्वेद के सारतत्त्व हैं। इन तत्त्वों के अनुसार आयुर्वेदोक्त औषधि प्रयोग का शुद्धीकरण करना ही आयुर्वेदीयों का कर्तव्य है। पुरानी रोगी मनुष्यों को औषधि देकर उससे कौन से दाषचिन्ह या रोग उत्पन्न होते हैं यह स्वयं अनुभव करके देखना होना अथवा दूसरों ने अनुभव प्राप्त करके जो लिखकर रखा है उसका उपयोग करना होगा। बिना ऐसा किये औषधि-प्रयोगों में जो प्रशमन और अपुनर्भवकर औषधियों का मिश्रण हुआ है उसका विभाजन अशक्यप्राय है। आयुर्वेदीयों को इस ओर दृष्टिचित्त होना चाहिये। कार्यारम्भ करते समय सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अध्याय ३६ में जो वातसंशमन, पित्तसंशमन, और कफसंशमन औषधियाँ बताई गई हैं वे संशमन अर्थात् पुनर्भवकर हैं अर्थात् तद्विपरौषधियाँ अपुनर्भवकर अर्थात् व्याधिविपरीतार्थकारी हैं ऐसा मानकर उनका यथानुभव शुद्धीकरण किया जाय।

आयुर्वेद के जो उपर्युक्त तत्व निर्धारित किये गये हैं वे ही अनुभव से मेल खाते हैं ऐसा उस दृष्टिकोण से अनुभव करने वालों को दृष्टिगत होता है। और इसलिये अन्य चिकित्सा-पद्धतियों का भी इन आयुर्वेदीय तत्त्वों के साथ अनुभव समन्वय करके एकमात्र राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति की संस्थापना में सहायता प्रदान करना होगी। सारांश, यदि आयुर्वेद उचित विचार कर आयुर्वेद के तत्त्वों का निर्धारण करेंगे और उन तत्त्वों के अनुसार संशोधन करेंगे तो वे आयुर्वेद की विजयी पायेंगे। हम भी उसकी विजय की कामना करते हुए पाठकों से लेखसमाप्ति की आज्ञा लेते हैं।

(‘आयुर्वेद-पत्रिका’ (मराठी) के सौजन्य से)

पंजाब राज्य के कर्णधारों तथा पंजाब विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियों की सेवा में
आयुर्वेद प्रसार तथा फैकल्टी के लिये

निवेदन

विश्व स्वास्थ्य संसद द्वारा नियत Advisory pi-
Panel on Unification of Pharmach-
es के सदस्य के रूप में लिये जानेवाले विख्यात भार-
तीय मेडिकल स्कालर क. रामनाथ चोपड़ा ने एक बार
'कैलोमल' के आधार पर मकरध्वज को भी दस्तावर
कहा था क्योंकि वह पारद का योग है। कलकत्ता
ट्रापिकल स्कूल के एक विद्यार्थी द्वारा उन्हें जानकारी
हुई कि मकरध्वज बलदायक औषधि है। उस विद्यार्थी
ने अपने वैद्यपिता द्वारा प्रतिदिन प्रयोग में लाये जाने
के आधार पर प्रिंसिपल महोदय को ऐसा कहने का
साहस किया था। फिर तो क० चोपड़ा महोदय
को अपना विचार बदलना पड़ा। हमारा कथन है
कि पुरातन महर्षियों अथवा विद्वानों द्वारा अपनी
दिव्यदृष्टि और स्वानुभव द्वारा प्रकट किये गये उप-
देश में जो तत्त्व हैं, उनके आधार पर यदि आज का
'रिसर्चवर्क' हो तो देश का समय, धन अथवा मस्तिष्क
व्यर्थ में कम खर्च करना पड़ेगा।

उदाहरण के लिये आज के निर्धन भारतवर्ष में
बढ़ रहे क्षय (तपेदिक) रोग के निवारण के लिये नवा-
विष्कृत औषधी बी० सी० जी० (B. C. G.) के
टीके लगाने पर हजारों रुपये व्यय किये जा रहे हैं,
व्यय यूरोप के विद्वान इसे तिलांजली दे रहे हैं।
Dr. W. H. Bradley, Senior Medical
Officer, Ministry of Health, England
महोदय ने बी. सी. जी. का विरोध करने की घोषणा
की है। Dr. Harry Beckman की पुस्तक

The treatment in General Practice जो
W. B. Saunders, Philadelphia and
London द्वारा सन् १९४८ में छपी है, के पृष्ठ
३६२ पर छपे लेख में कई डाक्टरों के विस्तृत क्षेत्रों में
प्रयोग करने के बाद अप्रमाणिक घोषित किया है।
इसके अतिरिक्त हमारे यहां डा० घोष महोदय ने
अपने Meteria Medica (पृ. ७६१ आवृत्ति १९४६)
में इसे बुरा कहा है। इस विषय पर एक स्वतन्त्र
अध्याय लिखा है। आदि आदि।

“यस्य देशस्य यो जन्तुः तज्जंतस्यौषधं हितम्।”
और उसके साथ ही “आयुर्वेदोऽदेशेषु विधेयः पर-
मादरः” ऐसा महर्षि वाग्भट का कथन है। यह
कथन पुराने कह कर “पितरम् सुलतान बूद” की
कहावत कह कर टाले जा सकते हैं, परन्तु आज के
भारत में भी उस संस्कृति तथा साहित्य का अवलोकन
करने वाले अनेक महापुरुषों के वक्तव्य हम पत्रों में
पढ़ते हैं।

पिछले दिनों मध्य प्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री डा०
बालिङ्गे ने एक भाषण में कहा :—

“हम लोग सत्य के पुजारी हैं, आयुर्वेद में सत्य है
यह बात निर्विवाद है।

अतः मैं और मेरे साथी उसकी रक्षा का भरसक
प्रयत्न करेंगे इसमें कोई संदेह का कारण नहीं।”

एक विशाल सभा में भाषण देते हुए अ. भा.
कांग्रेस के प्रधान श्री पुरुषोत्तम दास टंडन ने कहा:—
“मैं अपने लम्बे अनुभव के आधार पर कहता
हूँ कि आजकल की चिकित्सा-प्रणाली एकदम अवै-

ज्ञानिक है। आज प्रगतिशील चिकित्सा के नाम पर जो कुछ किया जा रहा है, वह लोगों को अधिक से अधिक बीमार बनाना है। विगत १०० वर्षों के अंग्रेजी दवाइयों के इतिहास से पता लगता है कि अनेक दवाइयाँ रोगनाशक न हो कर स्वास्थ्य विधातक सिद्ध हुई हैं जब डाक्टर कम थे, लोग हष्ट-पुष्ट रहते थे। जब डाक्टर बढ़े तो लोग कम-जोर हो गये। जिन दवाइयों की यहां प्रसिद्धि है, यूरोप में उनका बहिष्कार है।

टीके या तो अज्ञान के फल हैं अथवा लालच के। मेरा स्पष्ट मत है कि आज विज्ञान के नाम पर लोगों को बहकाया जा रहा है।”

नि० भा० आयुर्वेद मण्डल द्वारा दिये गये मान पत्र के उतर में देशगौरव राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने कहा :—

“एक यही बात कि आयुर्वेद प्रणाली इतनी शताब्दियों तक प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवित रही है, यह प्रकट करती है कि उसका एक वैज्ञानिक आधार है। विज्ञानसिद्ध आविष्कारों को आत्मसात् करने के हम विरोधी नहीं हैं किन्तु आयुर्वेद के नाम से जनता पर ऐलोपैथी लादने की केन्द्रीय सरकार की नीति के हम जरूर विरोधी हैं।”

यहां तक ही नहीं, मेडिकल संसार के विश्व-प्रसिद्ध वही डा० चोपड़ा महोदय पटना अधिवेशन में अपने ३० वर्ष के अनुभव के परवात्, जिस निर्णय पर पहुंचे हैं उसके सम्बन्ध में कहते हैं।—

“ऐलोपैथी की चिकित्सा-पद्धति में अनेक दोष हैं और उन दोषों की पूर्ति आयुर्वेद की शरण लिये बिना नहीं हो सकती।”

इस समय जब भारत के अग्रगण्य नेता आयुर्वेद के पक्ष में अपने विचार रखते हों, देश की ८०-६० प्रतिशत जनता इस पद्धति से लाभ उठा रही हो, समय समय पर सरकार द्वारा नियत १३-१४ कमे-

टियों की सिफारिशें इसके पक्ष में हो रही हों, तो पंजाब स्टेट की सरकार इस ओर ध्यान क्यों नहीं देती?

अब उत्तर प्रदेश में आयुर्वेद को प्रोत्साहन देने के लिये अथवा अनुसंधान करने के लिये १० लाख रुपया व्यय हो रहा है। बम्बई ३ लाख, मद्रास १ लाख से अधिक राशि इसके लिये लगा चुका है। सौराष्ट्र में आयुर्वेद का स्वतंत्र विभाग बना कर उसके अधीन आयुर्वेदिक कालेज, औषधालय और ग्राम सुधार योजना रखी गई है। पेंसू सरकार २५ औषधालय प्रतिवर्ष खोल रही है और एक सर्वोत्तम आयु० कालेज तथा अनुसंधानशाला बना रही है। उत्तर प्रदेश ने देशी चिकित्सा पद्धतियों के विकास के लिये ३५ कक्षा से हाई कूठ के स्तर तक की पाठ्य पुस्तकों में ऐसे ऐसे पाठ सम्मिलित कर दिये हैं जिनमें आयुर्वेदीय पद्धति के अनुसार स्वास्थ्यरक्षा के नियम बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदनुसार अस्पतालों में रोगीशय्या (Beds), सेनोटोरियम स्थापना, कुष्ठरोगियों के लिये अस्पताल खोलना और जिला अस्पतालों में पृथक् आयु० विभाग खोलना आरम्भ कर दिया है। इस तरह भारत में सर जगह यह कार्य आरम्भ हो गये हैं और विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद फैकल्टी बन गई हैं।

हम पंजाब राज्य के कर्णधारों से निवेदन करेंगे कि पंजाब राज्य में भी आयुर्वेद कालेज खोलें, औषधालय बनायें, चल रहे आयु० कालेजों की सहायता करें, म्युनिसिपल कमेटियों तथा जिलाबोर्डों में आयुर्वेदीय औषधालय खोलें। भारत भर के स्वास्थ्यविभाग अधिवेशनों में स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित करने की योजना बनायें। राज्य विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों से भी प्रार्थना करेंगे कि वे भी अपने कर्मों का पालन करें। आर्ट्स फैकल्टी, मेडिकल, साइंस आदि फैकल्टियों की तरह एक आयुर्वेद फैकल्टी

सन १९५१]

आयुर्वेद जगत

६२७

बनाये, जिससे राज्य के आयुर्वेद-स्नातकों का प्रति-निधित्व विश्वविद्यालय में हो सके। (जहाँ हम आयुर्वेद कहते हैं, यूनानी अथवा अन्य देशीय चिकित्सा पद्धतियों को इसके अन्तर्गत समझते हैं।)

हम राज्य के प्रधान मंत्री से निवेदन करेंगे कि स्व० स्वास्थ्य मंत्री डा० लहना सिंह जी द्वारा वैद्यों को दिये गये आश्वासनों को पूर्ण करें और राज्य की जनता के लिये सस्ता इलाज तथा सस्ती स्वास्थ्य-रक्षायोजना बनाने में किसी अन्य प्रदेश से पीछे न रहें।

इस कार्य को कार्यान्वित करने के लिये हमने महता रणवोरसिंह जी M. L. A. तथा आचार्य विश्वबन्धु जी फेलो विश्वविद्यालय से प्रार्थना की है कि वह हमारी आवाज अधिकारी-वर्ग तक पहुँचायें। हमें आशा है कि अन्य सहयोगी उनको सहयोग देकर दीन-हीन पंजाबी जनता की आशीष लेंगे।

—वैद्य धर्मदत्त चौधरी

आयुर्वेद व देशी चिकित्सा बोर्ड

देश के विभिन्न प्रान्तां में देशीय चिकित्सा पद्धतियों की शिक्षण-व्यवस्था तथा उन पद्धतियों के चिकित्सकों के रजिष्ट्रेशन का कार्य “बोर्ड आफ इण्डियन मेडिसिन” नामक संस्थाएँ कर रही हैं। अवश्य ही इनसे देशी चिकित्सा पद्धतियों को कुछ लाभ हुआ है पर उनको वास्तविक उन्नति इनके द्वारा नहीं हो सकी। सभी अच्छे कार्यों की भाँति इनमें भी कुछ बुराइयाँ प्रवेश कर गई। दूरदर्शिता और प्रगतिशीलता को न अपना कर यह अपनी परिधि पर ही घूमती रहीं। इन्होंने अपने शिक्षणस्तर को उन्नत करने के स्थान पर अशिक्षित, अर्धशिक्षित तथा अनानुभवी वैद्योंका रजिष्ट्रेशन करना तथा प्रतिदिन नए-नए खुलने वाले साधनविहीन तथाकथित विद्या-लयों को सम्बन्धित करना प्रारम्भ कर दिया। इतना

ही नहीं, इनसे संबद्ध अनेक शिक्षा संस्थाओं में अध्यापक जैसे महत्त्वपूर्ण पदोंपर प्रातिष्ठनिक शिक्षा से शून्य तथा अर्धशिक्षित वैद्यों को नियुक्त कर दिया जाता है नियुक्ति के विषय में किसी नियम व अनु-शासन का पालन नहीं किया जाता। ऐसी ही एक प्रमुख शिक्षासंस्था में महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्ति के समय विद्वान वैद्यों का परीक्षण, संसार की सभी चिकित्सापद्धतियों से सर्वथा अपरिचित अधिकारियों द्वारा होते मैंने स्वयं देखा है। इस प्रकार के घृणित आचरण के कारण यह संस्थाएँ सुयोग्य कर्मचारियों से, एवं देश के सुयोग्य व्यक्ति अपने अनुरूप कार्यों से वंचित रह जाते हैं। इन बोर्डों का इस विषय में कोई नियंत्रण दिखाई नहीं देता। इस अनुशासन-हीनता का कुत्सित परिणाम इन संस्थाओं के स्नातकों के अन्धकारमय भविष्य के रूप में समु-स्थित है।

इन बोर्डों में पारस्परिक संबन्ध भी नहीं है। एक बोर्ड के विद्यालय का छात्र दूसरे बोर्ड के विद्या-लय में सम्बन्धित श्रेणी में प्रवेश नहीं पा सकता। इसी प्रकार एक प्रांतीय बोर्ड का स्नातक दूसरे प्रांत में चिकित्सा सम्बन्धी अधिकारों तथा वहाँ की वैभागिक नियुक्तियों से वंचित रह जाता है। इनके पाठ्यक्रम, शिक्षण की अवधि तथा उपाधियाँ भी परस्पर भिन्न हैं। अधिक दुःख की बात तो यह है कि इन बोर्डों में इनके स्नातकों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है; जबकि इनका कार्य विश्वविद्यालयों की भाँति है, जिनमें उनके स्नातकों का यथोचित प्रति-निधित्व रहता है। देश में एक ओर तो पाश्चात्य चि० प० की शिक्षा में एकरूपता लाने का प्रयत्न किया जा रहा है और दूसरी ओर देशी चिकित्सा-पद्धति के शिक्षण में विभिन्नता उत्पन्न की जा रही है।

—वैद्य रघुनन्दन शास्त्री

संक्षिप्त समाचार

♦ वैद्यसभा, जम्मू (काश्मीर) के मंत्री वैद्य राजाराम जी सूचित करते हैं कि गत २०-२-५१ को आ० पं० गंगाधर शास्त्री गुणे के देहावसान पर काश्मीर के वैद्यपरेषदों ने शोकसभाएँ कीं और परमात्मा से प्रार्थना की कि दिवंगत आत्मा को सद्गति तथा दुःखी परिवार को सान्त्वना प्रदान करे।

♦ पुखरायां तहसील वैद्य परिषद् (कानपुर) का द्वितीय वार्षिक अधिवेशन गत १७ मार्च १९५१ को बाबा वैद्यनाथ जी वैद्य के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। एक प्रस्ताव द्वारा परिषद् ने उत्तर प्रदेशीय सरकार तथा प्रादेशिक इण्डियन मेडिसिन बोर्ड से अनुरोध किया कि पैरा ४ के अन्तर्गत रजिष्ट्रेशन अभी कुछ समय तक और चालू रखा जाय और प्राचीन वैद्यों को उससे लाभान्वित होने का अवसर दिया जाय। गत वर्ष की रिपोर्ट में बताया गया है कि आय की कुल रोकड़ ३६५॥—) रही जिसमें से २८२॥३) खर्च हुआ और १२३) रोकड़ बाकी रही पिछली रोकड़ १०६॥॥ थी। परिषद् की सदस्य-संख्या ७३ है। वर्षा ऋतु में मलेरिया-प्रकोप पर परिषद् ने मुफ्त दवा बाँटा थी।

♦ राजस्थान आयुर्वेद-सेवा-मण्डल, ओजट्टू (चिडावा) की संयोजक-समिति के अध्यक्ष वैद्य विरञ्चिलाल ने २७-२-५१ को एक वक्तव्य देते हुए कहा है कि मण्डल की संयोजक-समिति ने अपनी हाल की एक बैठक में मण्डल को वार्षिक अधिवेशन तथा नवीन चुनाव शीघ्र करने का निश्चय किया है। जो वैद्यबन्धु मई मास के अन्त तक नियमानुसार मण्डल के सदस्य बन जायेंगे, वे आगामी चुनाव में भाग ले सकेंगे। मण्डल की सदस्यता का शुल्क प्रति वर्ष साधारण सदस्यों के लिए ११) रु०, विशिष्ट सदस्यों के लिए ५१) रु०, आश्रयदाताओं के लिए

१०१) रु०, आजीवन सदस्यों के लिए ५०१) रु० तथा संरक्षक सदस्यों के लिए ५०००) रु० है।

♦ सिकन्दराराऊ तहसील वैद्य सभा (जिला अलीगढ़) की बैठक गत १७ मार्च १९५१ को हुई जिस में आगामी वर्ष के लिए पदाधिकारियों का चुनाव हुआ।

♦ स्व० अवधबिहारी सहाय जी द्विवेदी के स्मारक 'अवधेश आयुर्वेदाश्रम' (प्रेमकुटीर, रीवन) का उद्घाटन गत ४-३-५१ को श्री सरयूसहाय जी द्विवेदी ने किया। मध्याह्न में आ० पं० श्री जगन्नाथ प्रसाद जी शुक्ल के सभापतित्व में विराट् सभा हुई। आपोजन हमीरपुर जिला वैद्य सम्मेलन ने किया था।

**बिहार के वैद्यसमाज से
महासम्मेलन के प्रधान मंत्री वैद्य गुरुदत्त की
अपील**

♦ आयुर्वेद और वैद्यसमाज का भविष्य हम लोगों की संगठित कार्यशीलता से ही बन सकता है। इसलिए बिहार के वैद्यसमाज से मेरी अपील है कि वे अपने प्रादेशिक वैद्य-सम्मेलन के भीतर संगठित होकर कार्य करें। आप के भीतर हुए वैद्यसमाज की जाँच-पड़ताल कर के मैंने सब बातें स्थायी समिति के समक्ष उपस्थित की थीं, जिन पर विचार करने स्थायी समिति ने सर्वसम्मति से उस प्रादेशिक वैद्य-सम्मेलन को मान्यता दी है जिस के सभापति पं० गङ्गाधर शर्मा और प्रधान मंत्री पं० रामरक्ष पाण्डेय हैं। बिहार के अपने वैद्य बन्धुओं से मेरा अनुरोध है कि पास्परिक मतभेद को भुला कर अब वे एक बद्ध होकर कार्य करें। मुझे आशा है कि वे महासम्मेलन के निर्णय का स्वागत करेंगे। निम्नलिखित भारवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन हर प्रकार से सहयोग देने के लिए प्रस्तुत है।

वैद्यनाथ प्रकाशन

गत निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेदशास्त्रचर्चापरिषद् पटना के संयोजक, बिहार प्रादेशिक
वैद्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री, सचित्र आयुर्वेद के यशस्वी लेखक
तथा वेगूसराय आयुर्वेदिक कॉलेज के आचार्य

वैद्य रामरक्ष जी पाठक

कृत

त्रिदोषतत्त्वविमर्श

पर

भूतपूर्व सभापति निखिलभारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन, डायरेक्टर
आयुर्वेद-विभाग, राजस्थान-सरकार,

वैद्यरत्न कविराज प्रतापसिंह P. C. S.

की

सम्मति

आज आयुर्वेदसंसार में सर्वत्र त्रिदोषतत्त्व पर चर्चा चल रही है। ऐसे समय में आचार्यप्रवर यादवजी त्रीकमजी महाराज द्वारा लिखित भूमिका से विभूषित तथा वैद्य रामरक्ष जी पाठक जैसे गूढ़तत्त्वज्ञ पारदर्शी पण्डितप्रवर द्वारा रचित 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' जैसी अनुपमेय पुस्तक को प्रकाशित करके श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों ने आयुर्वेद-जगत् की बड़ी सेवा की है। इसके अध्ययन से पञ्चमहाभूत सहित त्रिदोष-तत्त्व का ज्ञान सरल रीति से हो जाता है। आधुनिक सिद्धान्तों के साथ समन्वय भी पाठक जी ने बड़ी खूबी से किया है। यह पुस्तक परम उपादेय है और इसे पढ़कर उपयोग में लाना चाहिए। वैद्यबन्धु इसे अपनाकर अपना स्वयं का और अपने समाज का हित करेंगे। इसके लिए मैं लेखक और प्रकाशकों को हार्दिक धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

आशा है, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के कर्मठ संचालक अल्पकाल में ही सभी विषयों पर आयुर्वेदीय पाठ्य पुस्तकें तैयार कराकर आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल करेंगे।

उदयपुर
३-१२-५० }

क० प्रतापसिंह

महाराष्ट्र के विद्वद्गत
वैद्य पु० वि० धामणकर
की

शुभकामना

औषधों की खपत के लिए विज्ञापन एवं उनके शास्त्रशुद्ध निर्माण के लिए शास्त्रीय वाङ्मय का प्रकाशन अत्यन्त आवश्यक है। इस सूत्र से सुभिज्ञ श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के संचालकों ने 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' व 'त्रिदोषतत्त्वविमर्श' जैसे ग्रन्थों तथा 'सचित्र आयुर्वेद' जैसे मासिक पत्र को, मुनाफा न होते हुए भी, किं बहुना पुष्कल अर्थ व्यय करके, नित्य नियम से प्रकाशित करने का उपक्रम प्रारम्भ किया है। शास्त्र तथा औषधों को तेजस्वी रखने का यह मार्ग अभिनन्दनीय है। उनकी इस प्रवृत्ति के लिए मैं उनको अनेकशः धन्यवाद देता हूँ तथा उनके बढ़ते हुए यश, कीर्ति एवं समृद्धि की कामना करता हूँ। यही हमारी शुभकामना है।

पनवेल
२४-२-५१

—वैद्य पु० वि० धामणकर

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर



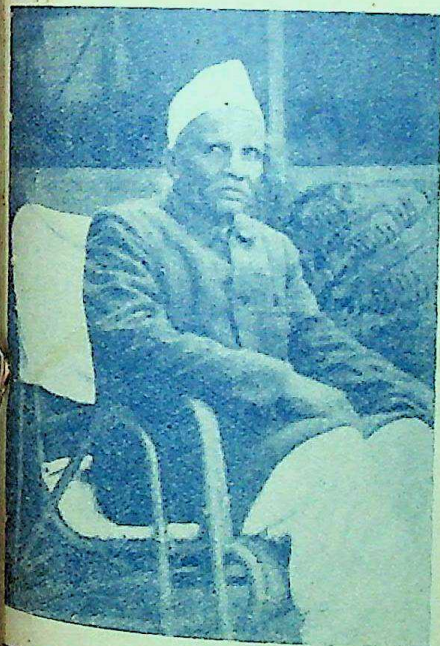
गुरुकुल-पत्रिका,
गुरुकुल धौगढ़ी.

३]

कलकत्ता, मार्च १९५१

[अ

स्व० वैद्य पं० गंगाधर शास्त्री गुणे



जन्म १८८२

मृत्यु २०-२-१९५१

गुरुकुल-पत्रिका,
गुरुकुल धौगढ़ी.

स्व० कविराज नलिनीरंजन सेन



जन्म १८९०

मृत्यु १५-२-१९५१

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि

महाराष्ट्र के विद्वत्
वैद्य पु० वि० धामणकर
की

शुभकामना

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति 1=)

यकृत-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

शास्त्रचर्चा-परिषद्-अङ्क अप्राप्य

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

४ निर्माणकेन्द्र * ५० विक्रीकेन्द्र * १५ हजार एजेन्सियाँ

अथवा सीधे व्यवस्थापक, 'सचित्र आयुर्वेद', श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०,
कलकत्ता के पते पर अपना वार्षिक चन्दा ४) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

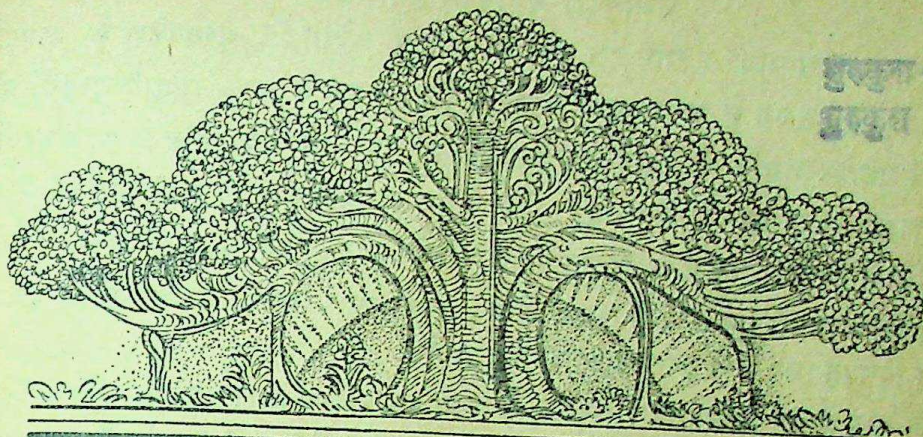
दो विभूतियों का स्वर्गवास

गत फरवरी मास में दो महनीय विभूतियों का स्वर्गवास हो जाने से आयुर्वेद जगत् की अपूरणीय क्षति हुई है। १५ फरवरी को रात्रि में लगभग ११ बजे कलकत्ते के यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेद कालेज के प्रिंसिपल कवि-राज नलिनीरञ्जन सेन का देहावसान अचानक हृदय-गति बन्द हो जाने से हो गया। यह बात बिल्कुल ताजा ही था कि २० फरवरी को पूना में वैद्यपंचानन पं० गंगाधर शास्त्री गुणे के देहावसान का दुःखद समाचार सुनने को मिला। दोनों ही विभूतियों के गम्भीर शास्त्रज्ञान, ब्रिष्ट, उदात्त, रहन-सहन, सतत उद्योग आदि अनमोल गुण सबको सर्वदा स्मरण रहेंगे। दोनों महान पुरुषों के बन्धु-बान्धवों के दुःख में हम 'सचित्र आयुर्वेद' परिवार और वैद्यनाथ परिवार के सब सदस्य सहभागी हैं।

अनुक्रम

विषय	पृष्ठ
सम्पादकीय	...
उ० प्र० लोकल बोर्ड्स आ० यू० एसोसियेशन	...
आयुर्वेद ही राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति क्यों हो ?	...
वै० पं० गंगाधर शास्त्री गुणे	...
क० नलिनीरजन सेन	...
झुंमनू जिला जनस्वास्थ्य योजना	...
आयुर्वेद-शिक्षण-शिविर, भागलपुर	...
श्वासरोग और सोमल	...
नमक और घी युक्त दूध	...
निदान-चिकित्सा हस्तामलक—८ (गतांक से आगे)	...
आयुर्वेदीय शिक्षा—२ (अङ्क ६ से आगे)	...
आयुर्वेद में संशोधन और संवर्द्धन—४ (अङ्क ५ से आगे)	...
रक्तज प्रवाहिका एवं उरोग्रह चिकित्सा	...
पर्पटी कल्प—२ (गतांक से आगे)	...
आयुर्वेदीय वृक्षारोपण	...
आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान	...
प्राचीन यूनानी वैद्यक तथा अरबी हकीम —४ (गतांक से आगे)	...
सन्तरा-मौसम्बी—१	...
आयुर्वेदिक शिक्षा-सुधार-योजना	...
राजस्थान में आयुर्वेद	...

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



शाचिन आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३

कलकत्ता, मार्च १९५१

अङ्क ६

उत्तर प्रदेश में आयुर्वेद की प्रगति

❀

उत्तरप्रदेश की सरकार ने आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा-पद्धतियों का विकास करने के लिए जो योजनाएँ गत वर्ष प्रारम्भ की थीं उन के सुपरिणामस्वरूप राज्य के एक बड़े क्षेत्र में, जहाँ पर विगत साल तक चिकित्सा की कोई सुविधा जनता को उपलब्ध न थी, अब ये सुविधाएँ उपलब्ध हो गयी हैं। राज्य में आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों की लोकप्रियता बढ़ रही है। आयुर्वेदीय और यूनानी सरकारी चिकित्सालयों की संख्या जो १९५० के प्रारम्भ में ४४२ थी अब बढ़ कर ५१६ हो गयी है। इन चिकित्सालयों की सुव्यवस्था के लिए इनके निरीक्षकों की संख्या बढ़ा दी गयी है। ग्रामीण क्षेत्रों के इन चिकित्सालयों को सरकार ने शल्यचिकित्सा के उपकरण भी दिये हैं और इनके अध्यक्ष वैद्यों एवं हकीमों को जिला-अस्पतालों में शल्यचिकित्सा की ट्रेनिङ्ग देने की योजना सरकार के विचाराधीन है।

सरकार एक राज्य आयुर्वेद फेकल्टी भी स्थापित करने जा रही है जिसका कार्य होगा आयुर्वेद और यूनानी पद्धतियों की शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करना, उनकी परीक्षा लेना तथा आधुनिक वैज्ञानिक शोधों के अनुसार इन प्राचीन पद्धतियों का प्रतिसंस्कार करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय चिकित्सा अधिनियम (इन्डियन मेडिकल ऐक्ट) में आवश्यक संशोधन किये जायेंगे।

मध्यप्रदेश-आयुर्वेदयूनानी-बोर्ड

आयुर्वेदजगत् बहुत लज्जा के साथ इस तथ्य को स्वीकार करेगा कि मध्यप्रदेश के आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा-बोर्ड में बहुत समय से अव्यवस्थाएँ चल रही हैं। राज्य के आयुर्वेदमहाविद्यालयों को मान्यता देने के विषय में एक उपसमिति की रिपोर्ट जब अस्वीकृत की गयी थी तब बोर्ड के ७ सदस्यों ने उसके विरोध में संयुक्त रूप से त्यागपत्र दे दिया था। बोर्ड के एक हकीम सदस्य तो कभी बोर्ड की किसी मीटिंग में उपस्थित ही नहीं हुए और अब वे पाकिस्तान पहुँच चुके हैं। बच गये हैं केवल नौ सदस्य जिनका कार्य-काल सामान्यतया आगामी जून मास में समाप्त होता। परन्तु यह कार्यकाल समाप्त होने से पूर्व ही सरकार द्वारा बोर्ड का विघटन किये जाने का भय उपस्थित हुआ है।

बोर्ड के कार्य में छह अव्यवस्थाएँ सरकार ने अपने एक परिपत्र द्वारा बोर्ड को सूचित की हैं, जो कि सरकार की दृष्टि में बहुत गम्भीर हैं। सी० पी० और बरार आयुर्वेदीय चिकित्सक ऐक्ट १९४७ (जिस के अनुसार सरकार ने बोर्ड की नियुक्ति की थी) की धारा ३१ के अनुसार सरकार ने बोर्ड को यह भी सूचित किया है कि गत १७ जनवरी से २ महीने की अवधि तक यदि बोर्ड इन अव्यवस्थाओं को दूर नहीं करेगा तो बोर्ड को भंग करने के लिए कार्यवाही की जायगी। सरकार ने बोर्ड के कार्य में जो अव्यवस्थाएँ बतायी हैं वे पाठकों की जानकारी के लिए नीचे दी जाती हैं।—

(१) सी० पी० और बरार आयुर्वेदीय चिकित्सक ऐक्ट की धारा १५ में जो कर्तव्य रजिष्ट्रार के बताये गये हैं उनको बोर्ड ने अपनी १७ दिसम्बर १९४६ की मीटिंग में स्वयं ग्रहण कर लिया और इस प्रकार प्रार्थियों को सत्रहवीं धारा में निदिष्ट अपील के अधिकार से वञ्चित किया। (२) अपनी १५ मार्च १९४१ की मीटिंग में बोर्ड ने एक ऐसे आयुर्वेदिक कालेज को मान्यता देने का निश्चय किया जिस को कि एक उपसमिति ने एक निरर्थक संस्था बताया है। (३) बोर्ड के अध्यक्ष रजिष्ट्रेशन-प्रार्थियों से इन्टरव्यू करते रहे हैं, यद्यपि बोर्ड ने उनको इसका अधिकार नहीं दिया था। (४) उक्त क्रमसंख्या २ में उल्लिखित कालेज के प्रिंसिपल की हैसियत से बोर्ड के अध्यक्ष ने रुपया लेकर अपनी संस्था के प्रमाणपत्र दिये हैं। (५) इन्टरव्यू के लिए प्रार्थियों को बुलाने में पक्षपात किया गया है। (६) रजिष्ट्रेशन के लिए आये हुए प्रार्थनापत्रों का निर्णय करने में असामान्य विलम्ब हुआ है।

बिहार-राज्य-संसद में आयुर्वेदीय स्नातकों की मान्यता पर प्रश्नोत्तर

श्री गणेश शाह के एक प्रश्न के उत्तर में माननीय स्वायत्तमंत्री पण्डित विनोदानन्द झा ने बताया कि काशी विश्वविद्यालय के आयुर्वेदीय कालेज का अध्ययनक्रम ६ वर्ष का है। आपने यह भी बताया कि इन छात्रों को प्राचीन आयुर्वेद के अतिरिक्त उन सब विषयों की भी शिक्षा दी जाती है जो कि आधुनिक मेडिकल कालेजों में पढ़ाये जाते हैं। एक अन्य प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वायत्तमंत्री ने कहा कि यदि उत्तर प्रदेश की सरकार ने काशी विश्वविद्यालय के आयुर्वेदीय स्नातकों (ए. एम. एस.) को एलोपैथ स्नातकों की बराबरी का स्थान दिया हो तो बिहार-सरकार को भी ए. एम. एस. उपाधि प्राप्त वैद्यों को एम. बी. बी. एस. उपाधि प्राप्त डाक्टरों की बराबरी के दर्जे में रखने में कोई विप्रतिपत्ति (ऐतराज) नहीं है। स्वायत्त-मंत्री ने एक पूरक प्रश्न के उत्तर में बताया कि इस वर्ष से एक ऐसी योजना कार्यान्वित की जा रही है जिसके अनुसार आयुर्वेद तथा एलोपैथी की व्यापक शिक्षा एकत्र ही छात्रों को मिल सकेगी, परन्तु ये वैद्य तो ६ वर्ष के बाद ही कार्यक्षेत्र में आ सकेंगे।

“देश के लिए आयुर्वेद सब से अधिक उपयोगी चिकित्सापद्धति”

—श्री अनन्तशयनम् आर्यंगर

भारतीय संसद के उपाध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आर्यंगर ने दिल्ली के तिब्बिया कालेज की आयुर्वेद-सम्भाषा-परिषद् द्वारा आयोजित वसन्तोत्सव के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए कहा कि “आयुर्वेद एक वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति है और अनेक कारणों से यह देश के लिए सब से अधिक उपयोगी है”। आगे आप ने तिब्बिया कालेज की वर्तमान स्थिति पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि “जिस शिक्षणसंस्था का उद्घाटन गान्धी जी द्वारा हुआ था, और जो देश की केन्द्रनगरी में विद्यमान है, उस की उपेक्षा सरकार को नहीं करनी चाहिए।”

कालेज के आयुर्वेद-विभाग के अध्यक्ष कविराज उपेन्द्रनाथ दास ने कालेज की वर्तमान दशा पर प्रकाश डाला। आप ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि एक ओर राष्ट्र के कर्णधारों द्वारा स्थापित तिब्बिया कालेज जैसी संस्थाएँ मिटती जा रही हैं और दूसरी ओर नई-नई संस्थाओं की योजनाएँ बना कर उन पर करोड़ों रुपया व्यय किया जा रहा है। क० दास ने अपने भाषण के अन्त में आयुर्वेद के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए तिब्बिया कालेज के अभ्युत्थान के लिए सरकार से अपील की।

उत्सव में वेदमंत्रों द्वारा सरस्वतीपूजन हुआ। क० हरिरंजन मजूमदार, कविराज जमनादास महेन्द्र, श्री हरिविलास शारदा तथा श्री राधारमण आदि के भी भाषण हुए।

आयुर्वेदीय औषधें विक्री कर से मुक्त की जायँ

असम राज्य आयुर्वेद सम्मेलन की कार्यकारिणी समिति ने अपनी २३-१-५१ की बैठक में सर्वसम्मति से स्वीकृत एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से अनुरोध किया है कि आयुर्वेदीय औषधों को वह विक्रीकर से मुक्त रखे; “क्योंकि आयुर्वेदीय औषधों से अधिकांश में गरीब भारतीय जनता की चिकित्सा होती है, जिनको कि अधिकतर बिना मूल्य में या अत्यल्प मूल्य में ही ये दवाएँ वितरित की जाती हैं। सरकारी कर-भार के कारण जनता को स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा की सुविधा से वंचित रहना पड़ेगा।”

एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा कार्यकारिणी समिति ने असम-सरकार से अनुरोध किया कि गौहाटी मुनिकुलाश्रम वैदिक विद्यालय में सरकार की तरफ से प्राचीन आदर्श के अनुसार जो आयुर्वेद-शिक्षण-विभाग स्थापित किया गया था, उस को स्थायी रूप से जारी रखा जाय और सरकार को असम राज्य आयुर्वेद सम्मेलन की तरफ से उसमें आवश्यकीय समुचित सहायता देने का आश्वासन दिया।

भारत में कुष्ठ-रोगी

◆ भारतीय संसद में एक प्रश्न के उत्तर में स्वास्थ्य-मंत्रिणी ने बताया कि भारत में कुष्ठरोगियों की संख्या लगभग बारह लाख है। यह आनुमानिक गणना भारत-सरकार द्वारा नियुक्त एक विशेषज्ञ-समिति ने दी है। पूरक प्रश्नों के उत्तर में स्वास्थ्यमंत्रिणी ने बताया कि कुष्ठ का अधिक प्रसार मद्रास, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और बम्बई में है।

भारत में जन्मसंख्या और मृत्युसंख्या

◆ स्वास्थ्यमंत्रिणी ने बताया कि १९४९ में भारत में जन्मसंख्या, मृत्युसंख्या और शिशुमृत्युसंख्या इंग्लैंड तथा अमेरिका से अधिक थी। उक्त वर्ष में जन्मसंख्या भारत में हजार पीछे २६ दशमलव ७, अमेरिका में २४ दशमलव १ तथा इंग्लैंड में १७ थी। शिशुमृत्युसंख्या हजार पीछे भारत में १२३ दशमलव १, अमेरिका में ३१ तथा इंग्लैंड में ३२ थी।

संक्षिप्त समाचार

♦ श्री गोविन्दराम सेक्सरिया चेरिटी ट्रस्ट (२१, यशवन्त निवास रोड, इन्दौर) ने अपने इस वर्ष के बजट में निम्न प्रकार से दो पुरस्कार रखे हैं। एक नकद एकमुश्त पारितोषिक एक हजार रुपये का उन वैद्य महानुभावों को दिया जायगा, जो किसी रोग पर ऐसी औषध प्रस्तुत करेंगे, जो निर्दिष्ट रोग पर कम से कम ८० प्रतिशत लाभ करे, और जो उनका निज का अनुसन्धान कही जा सकती हो। दूसरा पुरस्कार (५०) प्रतिमास छात्रवृत्ति के रूप में ऐसे सत्पात्र को दिया जायगा, जिनकी आयुर्वेदीय अनुसन्धानकार्य में लगन हो, किन्तु साधनों के अभाव में जो अनुसन्धानकार्य करने में असमर्थ हों।

♦ इटावा जिला वैद्य सभा द्वारा संचालित नेत्रचिकित्साशिविर, औरैया में गत ३०-३१ जनवरी को लगभग दो हजार नेत्ररोगियों को मुक्त दवा दी गयी, जिनमें लगभग २५० व्यक्ति मोतिविन्द, जाला, माड़ा, फूला, परवाल, रोहे आदि भयंकर नेत्ररोगों से पीड़ित थे।

♦ निखिलभारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन दूसरे देशों की जनता तथा अपने देश की अंग्रेजीभाषी जनता तक आयुर्वेद की आवाज पहुंचाने के लिए एक अंग्रेजी भाषा के पत्र की आवश्यकता दीर्घकाल से अनुभव करता था। अतः महासम्मेलन ने अंग्रेजी की आयुर्वेदीय मासिक पत्रिका 'जरनल आफ आयुर्वेद' का अपने तत्वावधान में प्रकाशित करने का निश्चय किया है। इसका वार्षिक शुल्क सामान्यतया साढ़े सात रुपये और छात्रों के लिए पांच रुपये है। महासम्मेलन के प्रधान मंत्री वैद्य गुरुदत्तजी ने वैद्यसमाज से अपील की है कि जरनल के अधिक से अधिक सदस्य बनाकर महासम्मेलन के इस कार्य को सफल बनाने की कृपा करें।

♦ निखिल भारतीय आयुर्वेदमहासम्मेलन की स्थायी समिति के अधिवेशन में २८-१-५१ को निखिल भारतीय आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्, पटना के सम्बन्ध में निम्नोक्त प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ—

“निखिल भारतीय आयुर्वेद महासम्मेलन की स्थायी समिति का यह अधिवेशन वैद्यराज श्री पं० रामनारायण जी शर्मा, मैनेजिंग डायरेक्टर, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, लिमिटेड, को गत २४ से ३१ दिसम्बर १९५० तक पटना में सम्पन्न नि० भा० आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद् के सम्पूर्ण कार्यभार को वहन करने के लिए हार्दिक धन्यवाद देता है तथा आयुर्वेद की सम्यक् उन्नति के लिए उन की सेवाओं की सराहना करता है।”

♦ श्री महाराणा आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर की छात्रसमितिने प्रस्ताव पास किया है कि वैद्यमात्र को अपने नाम के आगे 'वैद्य' (या 'वैद्या') विशेषण का उपयोग करना चाहिए (जैसे एलोपैथ चिकित्सक 'डाक्टर' विशेषण का प्रयोग करते हैं—स० स० आ०)।

♦ गव० आयुर्वेदिक कालेज, पटना की छात्रसमिति की ओर से गत १२ फरवरी को ८ बजे रात्रिसे 'अपना गाँव' नाटक अभिनीत हुआ जिसका उद्घाटन माननीय चिकित्सामंत्री पं० विनोदानन्द भा ने किया।

३० प्र० लोकल बोर्ड्स आ० तथा यूनानी एसोसिएशन स्थापना-अधिवेशन

गत १४ जनवरी को लखनऊ के मूलचन्द रस्तोगी कालेज में एकत्रित होकर उत्तर प्रदेश के लोकल बोर्डों के आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषधालयों के चिकित्सकों ने अपना एक संगठन स्थापित किया और नवस्थापित संस्था का नाम उत्तर प्रदेशीय लोकल बोर्ड्स आयुर्वेदिक तथा यूनानी एसोसिएशन रखा।

१४ जनवरी को सायं लगभग ३ बजे एसोसिएशन का उद्घाटन समारोह प्रारम्भ हुआ। समारोह में श्रद्धेया श्रद्धा माता, आयुर्वेद डायरेक्टर वैद्य दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी आदि गण्यमान्य सज्जन उपस्थित थे। मनोनीत सभापति श्री राणा साहब खजूरगांव के न आ सकने पर उनके लघु भ्राता श्री हरिशंकरसिंहजी को सभापति चुना गया। अपने उद्घाटन भाषण में आयुर्वेद डायरेक्टर वैद्य कुलकर्णी जी ने आयुर्वेद के गौरव पर प्रकाश डालते हुए कहा कि कोई कारण नहीं है कि सरकार आयुर्वेद को मान्यता न दे। श्रद्धेया श्रद्धा माता ने आयुर्वेद के पुनरुत्थान पर विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि यह अवश्यम्भावी है।

एसोसिएशन के इस प्रथम अधिवेशन में निम्नोक्त मुख्य प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए।

१—यह सम्मेलन उत्तर प्रदेश की सरकार तथा लोकल बोर्डों के अधिकारियों से अनुरोध करता है कि वे लोकल बोर्डों के अधीन समस्त आयुर्वेदीय तथा यूनानी औषधालयों में निम्नोक्त दुर्व्यवस्थाओं को दूर करने के लिए अविलम्ब सक्रिय व्यवस्था कर—

- (क) बोर्डों के प्रत्येक औषधालय में कम से कम एक कम्पाउन्डर, एक नौकर तथा एक मेहतर अवश्य रखा जाय, जैसा कि सरकारी चिकित्सा-विभाग में है।
- (ख) लोकल बोर्ड औषधालयों की इमारतें ठीक से बनवायी जायँ।
- (ग) सरकार द्वारा तथा लोकल बोर्डों द्वारा संचालित एलोपैथिक औषधालयों के चिकित्सक, कम्पाउन्डर तथा अन्य कर्मचारियों के समान लोकल बोर्डों के आयुर्वेदीय तथा यूनानी औषधालयों के कर्मचारियों को भी औषधालय के पास मकान दिया जाय या हाउस अलाउन्स दिया जाय।
- (घ) लोकल बोर्डों के समस्त आयुर्वेदीय तथा यूनानी चिकित्सकों का वेतनक्रम कम से कम १५०) से आरम्भ करके ३००) तक रखा जाय।
- (ङ) वर्तमान समय की महँगाई को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक लोकल बोर्ड के आयुर्वेदीय तथा यूनानी चिकित्सालय को कम से कम १८००) सालाना की औषधें दी जायँ।
- (च) बोर्ड औषधालयों के समस्त कर्मचारियों को ५ वर्ष की सर्विस के बाद ३ मास का वेतन बोनस के रूप में दिया जाय, जैसा कि अन्यान्य विभागों के कर्मचारियों को दिया जाता है।
- (छ) जिन ग्रामों की आबादी दो हजार से ऊपर है, वहाँ यदि अभी तक कोई आयुर्वेदीय या यूनानी

औषधालय नहीं खोला गया है, तो वह खोला जाय।

२—इस सम्मेलन का निश्चित मत है कि लोकल बोर्डों में आयुर्वेद तथा यूनानी के कम्पाउन्डरों को २५—१—३०—१३—३६ का ग्रेड देकर उनके साथ अन्याय किया जाता है जब कि एलोपैथी तथा होमियोपैथी के कम्पाउन्डरों को ४०—२—६० अन्-टेण्ड को तथा ४२—२—६५—३—८०—४—१०० का ग्रेड ट्रेण्ड को दिया जाता है। यह सम्मेलन सरकार तथा बोर्डों के अधिकारियों से अनुरोध करता है कि आयुर्वेदीय तथा यूनानी के कम्पाउन्डरों को भी इसी क्रम से वेतन दिया जाय।

३—यह सम्मेलन अधिकारियों से अनुरोध करता है कि लोकल बोर्डों के आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सालयों के कर्मचारियों को सरकारी गजटेड छुट्टियाँ दी जायँ।

४—यह सम्मेलन एसोसिएशन की कार्यकारिणी को शल्यचिकित्सोपयोगी औषधों की सूची तैयार करने का भार देता है। वह सूची बनने पर अधिकारियों से उसके अनुसार औषधालयों में औषध रखने की प्रार्थना की जाय।

५—बोर्डों के औषधालयों में औषधों की प्राप्ति की जो अव्यवस्था है उसे दूर करने के लिए एक योजना बनाने का तथा उसको कार्यान्वित करने का भार यह सम्मेलन एसोसिएशन की कार्यकारिणी को देता है।

६—इस सम्मेलन का मत है कि औषधालयों में आरोग्य-नियमों की जानकारी कराने वाले नकशे तथा चार्ट रहने चाहिए। इन नकशों तथा चार्टों की रूपरेखा तैयार करने के लिए एसोसिएशन की कार्यकारिणी योग्य व्यक्तियों की एक समिति बनावे।

आयुर्वेद ही राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति क्यों हो

[पृष्ठ ७७३ से आगे]

शास्त्र-चर्चा-परिषद् जो गत दिसम्बर मास में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० पटना में हुई थी उसके लिये मध्य प्रान्त के स्वास्थ्य मन्त्री वारलिंगेजी की यह उत्कट इच्छा थी कि यह परिषद् नागपुर में हो। उस समय तक परिषद् की समस्त तैयारियाँ पटना में हो चुकी थीं। किन्तु इससे माननीय वारलिंगेजी के आयुर्वेद-प्रेम का पता चलता है।

अपनी राष्ट्रीय सरकार से आज देश की मांग है कि बिना किसी आनाकानी के देश के करोड़ों प्राणियों की स्वास्थ्य-रक्षा कायम रखने, देश के धन

की बचत और चिकित्सा-क्षेत्र में फिर से भारत का गौरव संसार में उज्ज्वल एवं समुन्नत करने के लिये यह उचित है कि शीघ्रातिशीघ्र आयुर्वेदीय चिकित्सा को अधिक से अधिक सब तरह से बढ़ावा दिया जाय।

चोपड़ा-कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार आयुर्वेद की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति के लिये शीघ्रातिशीघ्र कार्य करना चाहिये। देखना है कि आयुर्वेद-प्रेमी राष्ट्र-पति डा० राजेन्द्र प्रसाद जी की अध्यक्षता में हमारी सार्वभौमी जनतन्त्र सरकार इसके लिये कितना कर्तव्य-पालन करती है।

आयुर्वेद ही राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति क्यों हो

श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा



भारत के स्वतन्त्र होते ही देश के सर्वतोमुखी विकाश की योजनाएँ बनने लगीं। परन्तु आज स्वतन्त्रा के बाद राष्ट्रीय सरकार पर सबसे बड़ी जिम्मेदारी लोगों को स्वस्थ और रोगमुक्त रखने की है। स्वतन्त्रता दिवस समारोह पर बोलते हुए हमारे राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसादजी ने भी जनता की चिकित्सा और स्वास्थ्य-रक्षा पर ठीक ही अधिक जोर दिया था। चिकित्सा-पद्धति के बारे में भी कई बार विचार हुआ और योजनाएँ बनीं। नेशनल प्लानिंग कमिटी एवं चोपड़ा कमिटी आदि ने पहले से ही अपनी सम्मति प्रकट की थी। सभी प्रकार की जांच-पड़ताल का नतीजा यह निकला कि देशी चिकित्सा-पद्धति विशेषतः आयुर्वेद में ही इतनी क्षमता एवं योग्यता है कि वह जनता की चिकित्सा व स्वास्थ्य-रक्षा का भार वहन कर सके। जैसा कि अमेरिका के डा० जी० एच० क्लार्क एम० ए०, एम० डी० ने कहा है, यदि इस जमाने में डाक्टर लोग अपनी फार्मोकोपिया से नवीन दवाइयाँ और रासायनिक पदार्थ निकाल दें और चरकसंहिता में कही हुई रीति से चिकित्सा करना शुरू कर दें तो जीर्ण रोगियों की संख्या ही कम हो जाय। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के पटना-निर्माण-केन्द्र द्वारा आयोजित धन्वन्तरि-जयन्ती के अवसर पर बोलते हुए बिहार-राज्य के स्वास्थ्य मन्त्री माननीय पंडित विनोदानन्दभा ने आयुर्वेद पर जोर देते हुए कहा ही था कि “स्वाधीनता को खोने के साथ ही हम राष्ट्रीय संस्कृत भी खो बैठे और उसके

प्रमुख अंग आयुर्वेद का विकास रुक गया। विदेशी सरकार की ओर से इसके विनाश के प्रयत्न किये गये जिनके बावजूद भी बने रहना आयुर्वेद की विशाल जीवनीशक्ति का द्योतक है। अब राष्ट्रसंचालन राष्ट्र के अपने हाथ में है और आयुर्वेद के विकास की चेष्टाएँ प्रयत्नशील हैं।”

हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता देहातों और ग्रामों में ही अपना जीवन-निर्वाह करती है, बहुत ही कम लोग शहरों में रहते हैं। उन ग्रामों में रहनेवालों को एलोपैथिक या अन्य चिकित्सा सुलभ नहीं, उन्हें सुलभ है केवल आयुर्वेद। हाँ इतना जरूर है कि हमारे कर्णधार और योजना बनानेवाले शहरों में ही रहते हैं जिनको उस दुर्दशा का पता नहीं लग पाता है, जो उन प्राकृतिक किन्तु संकीर्ण एवं बीहड़ पथों में रहने वाले देहातियों की है।

किन्तु देश में पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना का उद्भव हो चुका है और जनता अपना हित-अहित पहचानने लग गयी है। समस्त देश से वैद्यों के संगठनों तथा जनता की संस्थाओं ने यह मांग प्रारम्भ की है कि आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति घोषित किया जाय।

प्रसन्नता का विषय है कि मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश एवं बिहार राज्य के स्वास्थ्य-मन्त्रियों का झुकाव आयुर्वेदोन्नति पर है। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन की तरफ से आयोजित नि० भा० आ० (शेषांश पृष्ठ ७७२ पर)

परमपूज्य गुरुवर्य वैद्यपंचानन गङ्गाधर शास्त्री गुणे

डा० अ० वि० केतकर

❀

ता० १६-२-५१ त्रयोदशी की लगभग पूर्णिमा की रात्रि पूना के 'पूर्णमा' बैंगले में आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से अन्धकारमय कालरात्रि सिद्ध हुई। 'हा हन्त हन्त नलिनी गज उज्जहार' यह सुभाषित अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुआ। 'आयुर्वेद का इतिहास' इस नियोजित बारह पुष्पों की व्याख्यानमाला का तीसरा पुष्प गूँथ कर वै० पं० गुणेशास्त्री घर आये। और... वाकी पुष्प कुम्हलाने के लिए रह गए। अनेक भ्रमर पुष्पों के कुम्हलाने की बाट देख रहे थे।

यह व्याख्यानमाला पूना स्थित वी० जे० मेडिकल कालेज में कालेज के विद्यार्थी, प्रोफेसर वर्ग तथा गांवों के डाक्टर लोगों के लिये थी। जिस वैद्यवर्ग को पाश्चात्य विद्या विभूषित डाक्टर अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं उनमें से एक विशेषज्ञ के खास व्याख्यान उनके लिए दिए जायँ, इस उद्देश्य से यह अपूर्व आयोजन किया गया था।

व्याख्यान के लिए जाने के पूर्व अहमदनगर में सिविल सर्जन डा० पवार की अध्यक्षता में हुए सत्कार-समारंभ में उत्तर देते हुए, ये बारहो व्याख्यान पुनः अहमदनगर में देने का और उन्हें लिखकर प्रकाशित करने का उन्होंने आश्वासन दिया था। परन्तु देवी योग कुछ और ही था! मनसा चिंतितं कार्यं दैवमन्यच्चिंतयेत्!! आयुर्वेद शास्त्र की अपरिमित हानि हुई यह सत्य है।

गुरुवर्य गुणे शास्त्री का यह पहला ही सम्मान नहीं था। सन् १९३८ में अखिल भारतीय आयुर्वेदीय सम्मेलन के वे नियोजित अध्यक्ष थे। उस

बार का उनका संस्कृत-भाषण चिरस्मरणीय रहेगा।

अहमदनगर शहर का उनसे सम्बन्ध लगभग ५० वर्षों का था। इन चार तपों में उनकी तपश्चर्या विभिन्न स्वरूपों में दृष्टिगोचर हुई है:—उनका असामान्य वक्तृत्व, पाठान्तर, लेखनशैली और विभिन्न संस्थाएँ उनके कर्तृत्व की साक्षी दे रही हैं।

वैद्य पं० गुणेशास्त्री का जन्म कोल्हापुर में हुआ। घर की अत्यन्त गरीबी। ई० सन् १८६७ में अंग्रेजी पांचवीं कक्षा होने पर प्लेग के जाल में फँस जाने से कोल्हापुर उन्होंने छोड़ दिया। उस समय अत्यन्त मेधावी विद्यार्थी होने की छाप शिक्षकों पर पड़ी और विशेष रूप से उनकी पाठान्तर शक्ति—घंटों श्लोक कहते जाने की शक्ति—पड़ोस में रहने वाले सुशिक्षितों को दृष्टिगोचर हुई। उसके लिए उन्हें पुरस्कार भी मिले। यही पाठान्तर शक्ति आयुर्वेदीय ग्रन्थों के पूर्ण पाठान्तर के लिए उन्हें उपयोगी पड़ी।

सन् १८६८ से १९०४ तक उन्होंने पूना में वैद्य रंगनाथ शास्त्री वाकणकर के पास वैद्यक का सम्पूर्ण अध्ययन किया। अन्तिम दिन रात को ग्रन्थ पढ़ना आरम्भ किया तो दूसरे दिन प्रभात होने तक अस्लित मुँह से पाठ करते ही गए।

सन् १९०५-६ में अहमदनगर में आकर उन्होंने अपना धन्धा शुरू किया और आरम्भ से ही उन्हें रोगियों को अच्छा करने में उत्तम यश मिलने लगा।

पहले से ही आज तक उनकी दिनचर्या निम्न लिखित रूप में थी। प्रभात में ३॥ से ४ के लगभग उठना। तत्पश्चात् पाठान्तर, पढ़ना और लिखना

सन् १९५१]

व० पं० गङ्गाधर शास्त्री गुणे

७७५

लगभग २११-३ घण्टे, उसके बाद स्नान-संध्या-व्यायाम (विशेषतः योगासन) और उसके बाद फिर पढ़ना और रोगी-परीक्षा। दोपहर को थोड़ी-सी विश्रान्ति और उसके बाद पुनः पढ़ना, शिक्षा आदि। आयुर्वेद-महाविद्यालय स्थापित करने के पूर्व भी उन्होंने कुछ शिष्य शिक्षा देकर तैयार किये थे।

इस तरह की नियमित दिनचर्या के फलस्वरूप उनका ज्ञान-भंडार दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक समृद्ध होता गया। प्रतिदिन के परीक्षित रोगियों की स्व-तन्त्र सम्पूर्ण वास्तविकता वे लिखकर रखते थे। ग्रंथों में देख कर उसका समग्र अभ्यास करते थे। इस प्रकार के लिखे हुए हजारों रुग्ण-चिकित्सा के कागज एकवार अग्नि के भक्ष्यस्थ में पड़ने से आयुर्वेद की अत्यन्त अधिक हानि हुई थी।

सन् १९१७ में डा० पु० मो० सप्तर्षि L. R. C. P., M. R. C. S. तथा स्वर्गीय माणकचंद मुथा वकील की सहायता से आयुर्वेद विद्यालय आरम्भ किया गया। उसीके साथ आगे अगस्त माह में सेठ मुलतानचंद मूलचंद आयुर्वेदीय धर्मार्थ दवा-खाने की स्थापना हुई। वै० पं० गुणेशास्त्री संस्थापक तो थे ही, परन्तु कई वर्ष सेक्रेटरी, प्रमुख तथा पहले संस्था के अध्यक्ष भी थे। संस्था के कार्य में उन्हें विभिन्न व्यक्तियों की बहुमूल्य सहायताएँ मिलीं। विशेषतः श्री भाऊ साहेब फिरोदिया तथा स्वर्गीय भाऊ साहेब चौकर का उल्लेख अवश्य करना चाहिए।

सन् १९१८ में इन्फ्लुएन्जा फैलने के समय में सुश्रूषा पथक की स्थापना करके गावों में रुग्णोपचर्या विद्यार्थियों ने की।

इसी समय सोलापुर के भिषग्विलास मासिक के आद्य संपादक स्व० महादेव रामचन्द्र रानडे ने उनकी लेखनकला पर मुग्ध होकर मासिक का संपादकत्व

स्वीकार करने का आप्रह किया और तब से अब तक अत्यन्त स्थित्यन्तर होकर भिषग्विलास संपूर्ण रूप से अहमदनगर का हो गया है।

सन् १९२१ में असहकारिता के देशव्यापी आन्दोलन में आमलनेर में राष्ट्रीय शिक्षण संस्था स्थापित हुई और स्वामी कुवलयानन्द आदि व्यक्तियों के साथ वै० पं० गुणेशास्त्री से भी आयुर्वेदीय विभाग की प्रमुखता स्वीकार करने का अनुरोध किया गया और उन्होंने अपना धन्धा छोड़ कर उसे स्वीकार किया भी।

दो वष आमलनेर का कारवार ठीक चला, उत्कृष्ट विद्यार्थी भी तैयार हुए। परन्तु संस्था का राष्ट्रीयत्व स्थिर न रह सका। और सन् १९२३ में वै० पं० गुणेशास्त्री पुनः अहमदनगर वापस आ गए। उस समय वहाँ के विद्यार्थियों में से किसीकी एक, किसी की दो वर्षों की शिक्षा पूर्ण हो चुकी थी। वै० पं० गुणेशास्त्री की शिक्षण-शैली पर मुग्ध हो कर वे विद्यार्थी भी नगर आए और नगर के आयुर्वेद महा-विद्यालय में उस समय से एक विचित्र ही प्रकार का जोश आया।

सन् १९२५ में इन विद्यार्थियों का समूह अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। राष्ट्रीय वृत्ति के इन विद्यार्थियों ने आयुर्वेद-सेवा-संघ नामक संस्था की स्थापना विजयादशमी के मुहूर्त पर की। अर्थात् अध्यक्ष स्थान पर वै० पं० गुणेशास्त्री ही थे। आयुर्वेद-सेवा-संघ ने विद्यालय की स्थायी आर्थिक व्यवस्था के लिए आयुर्वेदश्रम औषधि शाला की नई भूमि पर स्थापना की। अर्थात् वहाँ भी सलाहकार वै० पं० गुणेशास्त्री ही थे।

वै० पं० गुणेशास्त्री की कोशिशों के फलस्वरूप १९२५ में आयुर्वेद विद्यालय संस्था को स्वतंत्र जगह मली और शक्लेदन शाला की स्वीकृति मध्यवर्ती

सरकार द्वारा मिली। यह जगह भी अब संस्था की हो गयी है।

नगर के इस आयुर्वेदीय कार्य के साथ-साथ ही देश में आयुर्वेदीय कार्यों की ओर वै० पं० गुणेशास्त्री का लक्ष्य था। १९१६ के लगभग निखिल भारत-वर्षीय वैद्य सम्मेलन पूना में हुआ था। उस बार वे वहाँ उपस्थित थे और इसके बाद के सभी सम्मेलनों में उन्होंने प्रमुख भाग लिया। सन् १९३८ में नागपुर में हुए अधिवेशन के वे अध्यक्ष थे। सन् १९२८ में मङ्गलूर में हुए कर्नाटक प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के वे अध्यक्ष थे। उस बार के उनके भाषण को आयुर्वेद के तत्त्वज्ञान का एक प्रबन्ध ही 'कहा जा सकता है। बाद में वह भाषण उन्होंने 'An Introduction to Ayurveda or the Fundamentals of Bio-psycho-pathy' इस नाम से छोटी सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। चालीस-गाँव में १९३८ वर्ष में हुए महाराष्ट्र प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के वे अध्यक्ष थे।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेद शास्त्र के परीक्षण के लिए और अध्ययन आदि व्यवस्थाओं के परिशीलन के लिए जो जो मंडल व समितियाँ स्थापित हुईं उनके वे सभासद रहे ही। पञ्चमहाभूत व त्रिधातु परिषद् (काशी), योध-समिति, वैद्यक बोर्ड आदिके वे सभासद थे। योध-समिति के साथ उन्होंने शिक्षण-संस्थाओं के निरीक्षण के लिए अखिल भारत का दौरा किया। आज भी वे स्टेट फेकल्टी के सभासद थे।

शास्त्राभ्यास—आयुर्वेद शास्त्र का पूर्ण अभ्यास तो उन्होंने किया ही था पर उसके साथ प्रसङ्ग-वश जो-जो शास्त्र अवलोकन करने पड़े उनका भी

उन्होंने आमूलाग्र अभ्यास किया। ज्योतिष शास्त्र में भी वे निष्णात थे। योगशास्त्र, होमियोपैथी, वायो-केमिस्ट्री आदि शास्त्रों का अभ्यास तथा अनुभव उन्होंने किया था। पाश्चात्य वैद्यक का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। संस्कृत काव्य, नाटकों का भी उन्होंने अभ्यास किया था। रघुवंश के कितने ही सर्ग उन्हें कण्ठस्थ थे। धर्मशास्त्र का उन्हें उत्कृष्ट अभ्यास था।

अन्य सार्वजनिक कार्य

शहर के सार्वजनिक कार्यों में भी वे भाग लेते थे। सेण्ट्रल बैंक के वे कई वर्ष तक डायरेक्टर थे। कुछ समय तक चेयरमैन थे। अहमदनगर एज्युकेशन सोसायटी के कार्यकारी मण्डल के सभासद थे। मुनिस्पैलिटी के सभासद थे। सनातन धर्म के प्रथम-कार्यकारी मण्डल के सभासद तथा पिछले कई वर्ष अध्यक्ष थे।

विद्यार्थी वर्ग—आयुर्वेद महाविद्यालय से उत्तीर्ण हुए लगभग ४०० विद्यार्थी महाराष्ट्र, मध्यप्रान्त, बरार, कर्नाटक आदि भागों में फैले हुए हैं और उनके हाथों उत्कृष्ट रीति से जन-सेवा हो रही है।

कार्य करते हुए आयो हुई यह मृत्यु रणांगण में आयो हुई मृत्यु की तरह स्वर्गप्रद है ऐसा मानें तो उम्र के लगभग ७० वें वर्ष में वह व्याख्यान देने के लिए उनका सब तरह की तैयारी करना, इसके अतिरिक्त पारंगत के शिक्षाक्रम के व्याख्यान दोपहर में देना, और विश्रान्ति के समय किसी को भी जरा सा भी त्रास न देते हुए सदा के लिए विश्रान्ति लेना यह भाग्य-लाभ थोड़े ही लोगों को मिलता है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे।

[भिषग्विलास से सामार]

स्व० कविराज नलिनीरञ्जन सेन

सन् १८९० में वारिसाल जिलान्तर्गत फुलश्री ग्राम में जन्म ग्रहण किया था। उनके पिता का नाम श्रीशरच्चन्द्र सेन एवं स्नेहमयी माता का नाम क्षीरोदा सुन्दरी देवी था। पिता की इच्छा से और उनके कथनानुसार उन्होंने अंग्रेजी विद्या का अध्ययन प्रारम्भ किया परन्तु कुछ समय बाद वह छोड़ कर भारत विख्यात कवीन्द्र कालेज, गइला में संस्कृत व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया एवं इन दोनों विषयों में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण होकर स्वर्णपदक प्राप्त किया। तत्पश्चात् मूलाजोड़ विद्यालय में दर्शन शास्त्र का और बनारस में पण्डितकुलतिलक वामाचरण तर्कतीर्थ के समीप रहकर नव्य न्याय का सम्यक्-तया अध्ययन किया। छात्रजीवन में प्रत्येक विषय में उनकी प्रतिभासम्पन्न विलक्षण तीक्ष्ण मेधा को अवलोकन कर अध्यापकों ने भविष्यवाणी की थी कि यह छात्र भविष्य में कर्मजीवन में एक विशिष्ट स्थान ग्रहण करेगा। शास्त्र की विद्वत्ता के साथ ही साथ व्यायाम, मल्ल कीड़ा एवं आधुनिक फुटबाल आदि क्रोड़ाओं में वे न केवल रुचि ही रखते थे, अपितु इन विद्याओं के विशेषज्ञ भी थे।

आयुर्वेद के प्रति उनका प्रगाढ़ अनुराग था। अगरतल्ला में स्व० राजवैद्य कविराज ललितमोहन कविसागर के समीप रहकर उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया। फिर कलकत्ता में कुछ समय तक कविराज-शिरोमणि श्री श्यामादास वाचस्पति से सम्यक्तया आयुर्वेद-शिक्षा ग्रहण की। उसके बाद प्रत्यक्ष आयुर्वेदीय कर्मशिक्षा अध्यापक आयुर्वेद कालेज के प्रतिष्ठाता स्व० कविराज पं० यामिनीभूषण के निकट सम्यक्तया प्राप्त की।

उनकी विद्या की गम्भीरता एवं आयुर्वेद के प्रति कर्तव्यपरायणता को देख कर कविराज यामिनीभूषणरायजी ने उनको सन् १९२५ में स्वस्थापित अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापक-पद पर सम्मान-पूर्वक नियुक्त किया। सन् १९२६ में क० यामिनीभूषणरायजी का स्वर्गारोहण होने पर जब महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन जी ने अ० आ० विद्यालय के अध्यक्ष पद को ग्रहण किया था, उस समय कविराज नलिनीरञ्जन को सब प्रकार से योग्य शास्त्रज्ञ मान कर स्वप्रणीत 'प्रत्यक्ष-शरीर' ग्रन्थ के अध्यापन का भार उन को दिया था।

अष्टाङ्ग आयुर्वेदिक कालेज में अध्यापन करते हुए कविराज नलिनीरञ्जन ने कालेज के शवच्छेदागार में प्राच्य एवं पाश्चात्य मतानुसार मनुष्य शरीर के अंग-प्रत्यङ्ग की प्रत्यक्षमूलक पुंखानुपुंख शिक्षा प्राप्त की थी।

इसके बाद अपने अध्यापन के द्वारा योग्य शास्त्रज्ञ तैयार कर और उनके ऊपर अपने विषय के अध्यापन का भार दे कर उन्होंने स्वयं अपने ऊपर कायचिकित्सा विषय का भार लिया था। अनेक वर्षों तक विद्यालय में उनके अध्यापन की विशिष्टता देख कर विद्यालय के संचालकों ने उनको आतुरालय के प्रधान परिदर्शक एवं प्रधान चिकित्सक के स्थान पर सम्मान-पूर्वक नियुक्त कर अपने को गौरवान्वित समझा था।

इसके बाद उनको इस विद्यालय के अध्यक्ष-पद पर नियोजित कर विद्यालय के संचालकों ने उनकी शास्त्रगमिता को गौरवान्वित किया था। उनका व्यक्तित्व असाधारण था। उनका चिकित्सा-नैपुण्य कलकत्ते के नागरिकों के लिए अविदित नहीं था। उनके अन्तःकरण में एक विशिष्ट गुण था कि जो भी मनुष्य उनके साथ एक बार वार्तालाप करता था वह सदैव के लिए उनका अन्तःप्रेमी और स्नेहपात्र बन जाता था। उनका प्रवेश धनवानों के महाप्रासादों से लेकर निर्धन असहाय जनता की कुटियों तक था। चिकित्सकों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हुए उन्होंने प्रभूततम अर्थ एवं यश उपार्जन किया था।

जनता-जनार्दन के प्रति उनकी सेवा देख, प्रसन्न हो, भगवान ने उनको अक्षय मण्डार अर्पण कर दिया था। गरीबों के वे सच्चे मित्र थे। गरीबों से एक कौड़ी भी न ग्रहण कर वे उनकी सेवा में निरन्तर संलग्न रहते थे। जो आश्रयहीन, असहाय थे, वे लोग भी उनसे नियमित अर्थ-सहायता प्राप्त करते थे।

उन में विभिन्न सद्गुणों का सुन्दर सामंजस्य था। रूप, स्वास्थ्य, साहस, पाण्डित्य और सब से बड़ कर चिकित्सा-नैपुण्य एवं सहज सरल जीवन-यात्रा की पद्धति थी। अहंमन्यता उनमें लेशमात्र भी न थी। कालेज में सभी उनको सदा प्रसन्न एवं हँसमुख देखते थे।

आज हम लोगों के मध्य में वह चिकित्सककुलतिलक महापुरुष नहीं है। उनका अभाव छात्र एवं अध्यापक वर्ग तथा कलकत्ता के नागरिक, सभी अनुभव कर रहे हैं। किन्तु विधाता के निष्ठुर विधान का अतिक्रमण करने की शक्ति किसी में नहीं है। अतः हम लोग उनका आदर्श ग्रहण करें एवं आर्तसेवा का व्रत ग्रहण करें। यही उनके प्रति श्रद्धा-निवेदन होगा और इसके दिवंगत आत्मा को शान्ति मिलेगी। हम लोगों की भगवान से प्रार्थना है कि उनके दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करें एवं उनके शोकमग्न परिवार एवं बन्धु-बान्धवों को सान्त्वना प्रदान करें।

[स्व० कविराज नलिनीरञ्जन सेन की उर्पयुक्त जीवनी गत २५ फरवरी १९५१ को अ० आ० कालेज की शोकसभा में कालेज के अवैतनिक मंत्री श्री मैत्र ने पढ़ी थी।]

शेषांश]

झुंभनू जिला जनस्वास्थ्य योजना

[७७९ वें पृष्ठ का]

सेवक के पास रख दी जाय आय और धीरे-धीरे इन गांवों में औषधालय खोले जायँ। ५० पेटियाँ बनवाने में लगभग ५००) रु० खर्च लगेगा और लगभग १२००) रु० की आषधें लगेंगी।

४—संक्रामक रोग-निरोध

संक्रामक रोगों को फैलने से कैसे रोका जा सकता है, उन उपायों का प्रचार जनता में भाषणों और पत्रकों द्वारा किया जाय। उचित आहार-विहार का ज्ञान सचित्र पत्रकों द्वारा जनता को कराया जाय। इस कार्य के लिए प्रचारक का वेतन लगभग

७५) — १००) रु० रखा जाय और बुलेटिन आदिके प्रकाशन के लिए ५००) रु० स्वीकार किये जायँ।

५—निर्माणशाला

इसकी देखरेख प्रधान चिकित्सक करेंगे। बना बनाने में जिले में होने वाली जड़ी-बूटियों से विशेष सहायता ली जायगी।

कुल खर्च

इस योजना में प्रारम्भ में एकमुश्त खर्च ३०००) रु० और प्रथम वर्ष का चालू खर्च ६४४८०) रु० होगा।

राजस्थान के एक जिले में

झुंझनू जिला जनस्वास्थ्य योजना

[आयुर्वेद प्रगति सङ्घ, इस्लामपुर (जयपुर) के मन्त्री वैद्य नागरमल शर्मा ने सूचित किया था कि राजस्थान के झुंझनू जिला बोर्ड ने अपने जनस्वास्थ्य विषयक कार्यों में आयुर्वेद को सम्मान्य स्थान दिया है। गत ३ दिसम्बर की अपनी मीटिंग में बोर्ड ने शीतला और मलेरिया की प्रतिरोधक आयुर्वेदीय औषधों के वितरण के लिए ५००) पाँच सौ रुपये स्वीकार किये थे। अपनी जनस्वास्थ्य समिति का संयोजक इस बोर्ड ने एक वैद्य (आयुर्वेदाचार्य पं० विरद्विलाल शर्मा) को चुना है। वैद्य विरद्विलालजी ने झुंझनू जिले के लिए एक आयुर्वेदीय जनस्वास्थ्य योजना तैयार करके जिला बोर्ड के विचारार्थ प्रस्तुत की है। वह नीचे दी जाती है।—स० स० आ०]

देहातों में आबाद देश को अपने खेत और जंगल की जड़ी-बूटियों का उपयोग करते हुए प्रत्येक नागरिक तक स्वस्थता का सन्देश पहुँचाना है। इस दृष्टिकोण को सामने रख कर झुंझनू जिले के लिए निम्नोक्त जनस्वास्थ्य योजना प्रस्तुत की जाती है।

१—प्रधान चिकित्सालय

प्रारम्भ में झुंझनू जिले में एक प्रधान चिकित्सालय खोला जाय जिसमें नीचे लिखे अनुसार कर्मचारी रहें (अनुमानित मासिक वेतन भी दिया जाता है) :—

- | | | | |
|------------------|-------------|------------|----------------|
| १. प्रधान वैद्य | १५०)—२५०) | ६०) | प्रतिमास विशेष |
| २. उप वैद्य | १००)—१५०) | | |
| ३. सहायक वैद्य | ७५)—१००) | | |
| ४. वैद्या | १००)—१५०) | | |
| ५. कंपाउन्डर (२) | ४०)—६०) | (प्रत्येक) | |
| ६. भृत्य | (२) ३०)—४५) | (प्रत्येक) | |

सहायक वैद्य देहातों में चलते-फिरते औषधालय चलाएंगे। उनके लिए एक ऊँट का तांगा और एक नौकर रखा जाय। चिकित्सालय के लिए निजी मकान जब तक न बन सके, तब तक ग्रामवासियों से सहयोग लिया जाय। औषध प्रधान चिकित्सालय की निर्माणशाला से लेनी चाहिए। ५ वर्ष में

चलते-फिरते औषधालयों की संख्या प्रति १०० गांव पीछे १ हो जानी चाहिए। इनमें प्रत्येक में १० तक रोगियों के भी रखने की व्यवस्था होगी। चिकित्सालय के लिए एकमुश्त खर्च—फर्नीचर १०००) रु०, १ ऊँट ६००) रु०, १ तांगा १५०) रु०। चालू मासिक खर्च यों होगा—

१. कर्मचारी-वेतन	४१०) रु०
२. ऊँट का खर्च	६०) रु०
३. औषध खर्च	२००) रु०
योग	६७०) रु०

२—औषधालय

प्रारम्भ में प्रति तीस गांवों के लिए एक औषधालय के हिसाब से २५ औषधालय खोले जाय जिनकी संख्या बाद में इतनी बढ़ा दी जाय कि प्रत्येक औषधालय का कार्यक्षेत्र केवल ५ मील के भीतर रह जाय। अनुमानित मासिक खर्च—

१. प्रधान वैद्य	७५) रु०
२. सहायक वैद्य	४५) रु०
३. भृत्य अलाउन्स	१०) रु०

३—औषधपेटिका

जो गांव औषधालय से पाँच मील या अधिक दूर पड़ते हों वहाँ एक-एक औषध-पेटिका किसी जन-

आयुर्वेद-शिक्षण-शिविर, भागलपुर

कविराज श्रीनारायण शर्मा



भारत के अन्दर ४ लाख से अधिक आयुर्वेदीय चिकित्सक हैं। हर प्रान्त में पुस्त-दर-पुस्त से खानदानी काम, आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर, हजारों परिवारों के लोग आयुर्वेद की चिकित्सा प्रणाली से इलाज करने का करते हैं। बंगाल में सेनगुप्त, दत्त, दत्तगुप्त, दासगुप्त आदि, विहार में मिश्र परिवार, राजपूताने में गोस्वामी परिवार, तथा इसी तरह अन्य प्रान्तों में अनेक परिवारों के लोग परम्परागत अनुभव, विद्वत्ता, सेवा, त्याग, दान और कर्तव्य की भावना से दुखी और रोगपीडित मानव को रोग-मुक्त करते रहे हैं और कर रहे हैं।

इसी कारण गरीब हिन्दुस्थान में, जहाँ विदेशियों ने हिन्दुस्थान का सब तरह से शोषण किया, खासकर अङ्गरेजों ने चिकित्सा के मामले में व्यापारिक लाभ की दृष्टि से ही करोड़ों रुपयों की आमदनी के रूप को कायम रखने के लिए केवल ऐलोपैथी चिकित्सा को ही बढ़ावा दिया, और बहुत कम लोग ही इससे लाभ उठा सके, अधिकांश जनता बिना चिकित्सा के लाखों की संख्या में मर रही है, एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी देश की स्वास्थ्य समस्या बढ़तर होती जा रही है तथा हमारे हिन्दुस्थान को विदेशियों ने दवा के मामले में आज भी गुलाम बना रखा है, केवल आयुर्वेदीय चिकित्सकों ने ही यहाँ की अधिकांश जनता की जीवन-रक्षा की है और कर रहे हैं। उपरोक्त कार्य बिना सरकारी सहयोग के केवल जनता की सहानुभूति और सहयोग के बल पर

आयुर्वेदीय वैद्य गण हर तरह की तकलीफें सहकर कर रहे हैं।

इस वक्त देश प्रधानतः स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आर्थिक कष्ट, अन्न समस्या, काश्मीर प्रश्न तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से घिरा हुआ है। आज अगर विदेशी लोग हिन्दुस्थान में दवा भेजना बन्द कर दें, जो कि आज की परिस्थिति में किसी भी समय सम्भव है, तो देश के सामने इलाज सम्बन्धी समस्या भयंकर रूप धारण कर लेगी। इस लिए चिकित्सा के मामले में देश को स्वावलम्बी बनाना आवश्यक है। वर्तमान में सब से अच्छी, शीघ्र लागू होनेवाली तथा सब से अधिक सफलता के साथ जल्दी फल देने वाली तथा स्वास्थ्य समस्या को हल करने वाली एक ही योजना है; वह है आयुर्वेद को सब तरह से बढ़ावा देकर केन्द्र और प्रान्तों में आयुर्वेदीय योजनाओं को सफल करना।

ऐसा करने से विदेशी दवाओं की खपत कम होने से जो देश का मूल धन बचेगा, उसका उपयोग स्वस्थ रहने के ज्ञान के प्रचार तथा चिकित्सा कार्य में हो सकता है।

देशी जड़ी बूटियों की खेती की वृद्धि से, जंगली दवाओं के उपयोग से तथा आयुर्वेदीय रसायन-शालाओं की वृद्धि से एक तो लोगों की बेकारी दूर होगी, मजदूर एवं किसानों की आमदनी बढ़ जायगी तथा सरकार की आमदनी भी पहाड़ों एवं जङ्गलों की दवाओं के उपयोग से बढ़ जायगी।

सन् १९५१]

आयुर्वेद-शिक्षण-शिविर, भागलपुर

७८१

अनेक प्रान्तों की सरकारों ने इन बातों पर ध्यान भी दिया है, तथा आंशिक रचनात्मक कदम भी उठाया है, पर अधिकांश शासकगण, खासकर केन्द्र का स्वास्थ्य विभाग, इस मामले में बिल्कुल उपेक्षा से एवं असहयोग के रूप में कार्य कर रहा है।

यही कारण है कि चोपड़ा समिति की रिपोर्ट खटाई में फँक दी गयी है, जिसको तैयार करने में जनता का असंख्य रुपया खर्च हुआ।

फल यह है कि यहां की स्वास्थ्य-समस्या बदतर होती जा रही है। ऐसी हालत में जनता और खास कर वैद्य-समाज का कर्तव्य है कि खुद आगे बढ़ कर त्याग और सेवा-भावना से प्रेरित होकर आयुर्वेदीय चिकित्सा का संगठित प्रचार कर यहां की स्वास्थ्य-समस्या को हल करें तथा इसको सफल बनाने के लिए आन्दोलन कर सरकार को इस योजना को मानने के लिये जनमत द्वारा बाध्य करें।

इस कार्य के लिये बड़े-बड़े अस्पतालों में पूर्णरूप से विशिष्ट आयुर्वेदीय चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा-फल-प्राप्ति से जनता की जानकारी बढ़ानी चाहिए, जिनसे कि जनता यह जाने कि भयंकर से भयंकर रोगों को ठीक करने में आयुर्वेद द्वारा सरलता और कम खर्च से पूर्ण सफलता मिल सकती है। प्रत्येक अस्पताल के साथ खोज-सम्बन्धी कार्यों के लिए गवेषणागार निर्माण, निर्णय और चिकित्सा-फल के लिए रहना जरूरी है।

विद्यालय में शास्त्रीय और व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध होना जरूरी है। इसमें अनुभव-प्राप्त विद्वान और चिकित्सकों को त्याग की भावना से कार्य करना चाहिए। जबतक पूर्णरूप से शिक्षाप्राप्त चिकित्सक तैयार न मिलें, तबतक शीघ्र चिकित्साक्रम ठीक करने और जनलाभ के लिए वर्तमान आयुर्वेदीय चिकित्सकों को शास्त्रीय, व्यावहारिक आव-

श्यक शिक्षा, आधुनिक विज्ञान का जन-स्वास्थ्य-सम्बन्धी ज्ञान, संक्रामक-रोग-चिकित्सा जैसे हैजा, चेचक, प्लेग आदि रोगों की विशिष्ट चिकित्सा के साथ पूर्ण अनुभव से अगदतंत्र की हाल की चीड़फाड़-सम्बन्धी शिक्षा, काय-चिकित्सा सम्बन्धी चाल आयुर्वेदीय चिकित्सा-क्रम-ज्ञान, शालाक्य-तंत्र, प्रसूति-तंत्र, शारीर विज्ञान, त्रिदोष तत्त्व आदि विषयों की आवश्यक शिक्षा का प्रबन्ध शिविर के रूप में व्यावहारिक रूप से अस्पतालों के साथ करना चाहिये, जिससे कि उन वैद्यों के निजी अनुभव में आवश्यक ज्ञान का समावेश हो जाय। ऐसे शिक्षा प्राप्त वैद्यगण अच्छी योग्यता के साथ ग्रामों में स्वास्थ्य-प्रचार-कार्य, संक्रामक रोगों की आवश्यक चिकित्सा एवं साधारणतः सब तरह के चिकित्सा-कार्य में विशेष योग्यता के साथ बहुत ही कम खर्च में जनसेवा कर सकते हैं।

ऐसे शिक्षा-प्राप्त वैद्यगण ग्राम की पंचायतों के सम्पर्क से एक औषधालय चला सकते हैं। औषधालयों को चलाने के लिए अधिकांश दवाइयाँ उसी ग्राम के अन्दर और आस-पास की जड़ी-बूटियों से प्राप्त हो जावेंगी, जो ताजा होने से अधिक लाभप्रद सिद्ध होती हैं। थोड़ी आवश्यक औषधियाँ खरीदनी पड़ सकती हैं। ग्रामीण जनता पर ऐसे चिकित्सालयों का बहुत कम खर्च पड़ेगा। इस तरह से प्रत्येक ग्राम को चिकित्सा के मामले में स्वावलम्बी बनाया जा सकता है। उसी चिकित्सक का यह भी कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह स्थानीय जनता को उपदेश देकर स्वस्थ रहने की आदत सिखावे। ऐसी अच्छी आदत पड़ने पर तालाब, कुओं आदि की गन्दगी न रहने से हैजा वगैरह महामारी के रूप में होनेवाले रोग कम हो जावेंगे। साधारण बीमारियों का इलाज तो वहां की शुद्ध हवा, धूप, और मिट्टी ही

कर देती है, बाकी का इलाज करने के लिए भगवान ने जड़ी-बूटियां उगायी हैं। उनके उचित उपयोग की व्यवस्था वैद्य द्वारा होने पर जटिल से जटिल व्याधि भी ठीक हो जाती है। प्रसूति-कार्य ग्रामों की दाइयां क्षमता के साथ करती हैं, उनका अनुभव भी क्रिया द्वारा बढ़ जाता है। ऐसी दाइयों को खास कर आयुर्वेदीय अस्पतालों में आवश्यक आधुनिक ज्ञान के साथ शिक्षा देने से, वे प्रसूति-कार्य अधिक दक्षता के साथ कर सकती हैं।

ग्रामों में ऐसे बहुत से शल्य-चिकित्सक भी पाये जाते हैं। वे भी अपने अनुभव से जनता का बहुत बड़ा लाभ करते हैं। इनको भी शिविरमें विशेष शिक्षा देकर शल्य के काम के लिए अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इसके अलावे परिवारों में मिलने वाली साधारण चीजों से साधारण इलाज की परिपाटी को भी बढ़ावा देना चाहिए। अभी भी घर की बड़ी-बूढ़ी औरतें घर का साधारण इलाज कर लेती हैं। पर यह प्रथा दिन पर दिन विलीन होती जा रही है। ऐसे शिविरों में शिक्षाप्राप्त वैद्य अपने ग्रामों में घरेलू चिकित्सा को फैला सकते हैं। इससे उनका बोझ भी हल्का हो जाता है। इस तरह वर्तमान में वैद्यक करने वाले लाखों चिकित्सकों को विशेष ज्ञान देकर अधिक से अधिक रोगियों और स्वस्थों की सेवा का शीघ्र प्रबन्ध किया जा सकता है।

ऐसे शिविर प्रत्येक प्रान्त में स्थान-स्थान पर स्थानीय वैद्यों को संगठित करने चाहिए। इस तरह एक व्यवस्थित योजना सारे भारतवर्ष में लागू होने पर स्वास्थ्य-समस्या का समाधान किया जा सकता है।

इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर भागलपुर में बिहार प्रान्त के वैद्यों के सहयोग से स्थानीय वैद्यों ने आयुर्वेद-शिक्षण-शिविर हाल ही में चलाया।

शिविर में सारे प्रान्त से वैद्य शिक्षार्थी ५० की संख्या में पहले-पहल लिये गये। इनकी उम्र प्रायः ३० से ५५ वर्ष के बीच थी। बहुत से वैद्यों का व्यावहारिक अनुभव बहुत अच्छा था। शिविर में सुबह ५ बजे काम आरम्भ होता था। सवेरे पहले ईश-प्रार्थना होती थी, बाद में शौचादि से छुट्टी पाकर क्रम से सारे शिक्षार्थी स्थानीय सदर अस्पताल जहाँ शल्य-चिकित्सा, कायचिकित्सा, प्रसूति-विभाग, चक्षु-रोग आदि का प्रबन्ध है, स्थानीय आयुर्वेदीय महाविद्यालय अस्पताल तथा अन्य अस्पतालों में जाकर रोगी की परीक्षा कर चिकित्सा-व्यवस्था सीखते थे। दिन ११ बजे से ४ बजे तक व्यवस्थित ढङ्ग से सारे विषयों की पढ़ाई चलती थी। पढ़ानेवाले अधिकांश स्थानीय वैद्य, डाक्टर और सारे प्रान्त से विशिष्ट चिकित्सकों में से थे।

शिक्षार्थियों को व्यावहारिक ज्ञानके साथ शारीर विज्ञान, शारीर क्रिया-विज्ञान, विकृतशारीर-विज्ञान, त्रिदोष-तत्त्व, द्रव्य-गुण, रसायन-निर्माण, कायचिकित्सा, शल्य-तन्त्र, शालाक्य-तन्त्र, प्रारम्भिक चिकित्सा, प्रसूतितन्त्र, अगदतन्त्र, संक्रामक रोग, स्वर्य-वृत्त आदि विषयों की आवश्यक शिक्षा दी गयी।

स्थानीय रसायन-शालाओं में रसायनिर्माण-सम्बन्धी ज्ञान कराया गया। भागलपुर के पास मन्दार पर्वत पर जाकर शिक्षार्थियों को जड़ी-बूटी पहिचानने का ज्ञान कराया गया। शिविर-भवन में एक स्वास्थ्य-प्रदर्शनी की गयी, जिसमें खान-पान सम्बन्धी, तथा सफाई-सम्बन्धी सारा ज्ञान बताया गया था। शिविर के शिक्षार्थियों ने आदर्श ग्राम कैसा हो इस विषय में भी ज्ञान प्राप्त किया।

औषधियों में काम आने वाली जड़ी-बूटियों को भी दवा पहिचानने के ज्ञान के लिए रखा गया था। शिक्षार्थियों ने संक्रान्ति के अवसर पर बौसी

सन् १९५१]

आयुर्वेद-शिक्षण-शिविर, भागलपुर

७८३

मेले में जहाँ लगभग ५० हजार आदमी जुटे थे, शिविर का औषधालय चलाकर स्थानीय एवं बाहर से आये हुए लोगों की सेवा की।

शिक्षण-शिविर को स्थानीय नागरिकों, कांग्रेस जनों, म्युनिसिपैलिटी, जन-स्वास्थ्य-विभाग एवं सरकार सब का सहयोग मिला। शिविर-समिति के सदस्य स्थानीय वैद्य, डाक्टर, माननीय नागरिक थे। जिला कांग्रेस के सभापति श्री राघवेन्द्रनारायण सिंह जी शिविर समिति के सभापति थे। शिविर का उद्घाटन-समारोह बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति के सभापति श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' जी के कर-कमलों द्वारा होना मंजूर हुआ था। स्वर्गीय श्री सरदार पटेलजी के निधन के कारण से समारोह कार्य स्थगित कर देना पड़ा। स्थानीय नागरिकों, वैद्यों और शिक्षार्थियों की एक महती सभा में श्री पशुपति सिंहजी, चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सभापतित्व में शिविर का कार्य आरम्भ हुआ।

चेयरमैन महोदय ने यह वचन दिया कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अब जितने भी चिकित्सालय खोलेगा, वे सब आयुर्वेदीय ही होंगे। उन्होंने ग्रामपंचायतों के सम्पर्क से आयुर्वेदीय औषधालय खोलने पर जोर दिया और यह भी कहा कि आयुर्वेदीय चिकित्सकों को ग्राम-सेवक का वैतनिक पद सरकार दे और वे चिकित्सक पंचायत-कार्य और औषधालय में चिकित्सा-कार्य कर सकें। इस तरह चिकित्सक का प्रभाव जनता पर होने से पञ्चायत का काम भी सुचारु रूप से चलेगा और चिकित्सा तथा जन-स्वास्थ्य-रक्षा-सम्बन्धी काम भी बिना अधिक खर्च के सुसंगठित रूप से चलेगा। आपने उपरोक्त विचारों को कार्यान्वित करने के लिए पूर्ण सक्रिय सहयोग देने का वचन दिया।

पं० विनोदानन्द झा, मन्त्री स्वायत्त शासन

विभाग ने २६ जनवरी को शिविर का निरीक्षण किया। आपके साथ बिहार प्रान्तीय पञ्चायत सम्मेलन के प्रतिनिधि आदि अनेक गण्यमान्य सज्जनों ने शिविर को देखकर भूरि-भूरि प्रशंसा की। सबों की यह राय थी कि ऐसी योजना से रोगों से पीड़ित मानवों की चिकित्सा का संगठित समाधान निकल आयेगा। उन लोगों ने अपने-अपने क्षेत्र में ऐसे शिविरों को प्रोत्साहन देने तथा आयुर्वेदीय चिकित्सालय खोलने का मत प्रकट किया। पं० विनोदानन्द झा जी ने, जिन्होंने बिहार में आयुर्वेद को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दिया है तथा जिन्होंने तृतीय स्वास्थ्य-मन्त्री-सम्मेलन में आयुर्वेद के सम्मान और अस्तित्व की रक्षा की थी, कहा कि ऐसे रचनात्मक कार्यों से देश की गरीब जनता की जीवन-रक्षा की जा सकती है। ऐसे शिक्षार्थी सेवाभाव और त्याग से लोगों का बहुत बड़ा कल्याण कर सकते हैं। आपने बताया कि देश को तपस्या के बल पर ही उठाया जा सकता है। आपने कहा कि हिन्दुस्तान में आयुर्वेद ही स्वास्थ्य-समस्या को हल कर सकता है और स्वतन्त्र भारत में इसके सर्वतोमुखी विकास के लिए सरकार और जनता दोनों का सहयोग अवश्य मिलेगा। आपने घोषणा की कि सरकार ऐसी योजना को प्रत्येक जिले में चलाकर आयुर्वेद की उन्नति और जन-स्वास्थ्य-रक्षा में उचित कदम आगे बढ़ाने जा रही है। सरकार यहां के स्थानीय अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय को एक बृहत् आयुर्वेद महा-विद्यालय के रूप में बढ़ा रही है। स्थानीय म्युनिसिपैलिटी ने आयुर्वेद महा-विद्यालय को १० बीघा जमीन प्रदान की है। सरकार १५ हजार रुपये विद्यालय-शिक्षा-कार्य चलाने के लिए प्रति वर्ष दे रही है।

स्थानीय नाथनगर स्थित श्री सूर्यनारायण सिंह दातव्य औषधालय को, जिसमें ४० रोगी रहने

का स्थान है तथा बाहरी रोगियों का प्रबन्ध है, आयुर्वेदीय महा-विद्यालय के साथ आयुर्वेदीय अस्पताल के रूप में चलाने को मंजूर कर चुकी है। सरकार ने कुल ६० हजार रुपये महाविद्यालय का छात्रावास बनाने के लिए मंजूर किये हैं तथा सब तरह से आयुर्वेद को बिहार-सरकार बढ़ावा देगी।

पटना के प्रसिद्ध चिकित्सक बाबू सुखराम प्रसाद बी० एस० सी० आयुर्वेदाचार्य तथा अखिल भारतवर्षीय वैद्यसम्मेलन के प्रधान मंत्री पं० गुरुदत्त जी शास्त्री ने भी शिविर का निरीक्षण किया। आपने कहा कि भागलपुर में ऐसे शिविर को योजना सारे भारत के लिए आदर्श है। आपने अखिल भारतीय पैमाने पर चलाने की इच्छा प्रकट की।

पंडित-कमिटी के सदस्य और बिहार प्रान्तीय वैद्यसम्मेलन के मंत्री श्री रामरक्ष पाठक, प्रिन्सिपल वेगूसराय आयुर्वेद महाविद्यालय ने त्रिदोषतत्त्व और पञ्चमहाभूत-विज्ञान पर शिविर में चार दिनों तक लगातार श्रीवैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना में सम्पन्न निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-शास्त्र-चर्चा-परिषद् के कार्यों का सिंहावलोकन किया। आपने कहा कि ऐसे रचनात्मक कार्यों से वैद्य-संगठन, वैद्यों की ज्ञानवृद्धि तथा रोगी-सेवा सब सम्भव है। समावर्तन समारोह के अवसर पर सभापति-पद से बोलते हुए पारलियामेन्टरी सेक्रेटरी बिहार, बाबू सुखलाल सिंह जी ने कहा कि आयुर्वेद को उठाना सरकार का कर्तव्य है। वैद्यों को जनमत तैयार कर आयुर्वेदीय औषधालयों की स्थापना और जनसेवा के काम में त्याग से काम करना चाहिए। आपने कहा कि वे जन स्वास्थ्य विभाग में आयुर्वेद-चिकित्सकों को स्थान दिलाने की पूरी चेष्टा करेंगे।

पं० हरिनारायण चतुर्वेदी सुपरिन्टेन्डेन्ट देशी चिकित्सा पद्धति ने दीक्षान्त भाषण देते हुए कहा कि सरकार की यह योजना है कि वर्तमान असेम्बली

अधिवेशन में आयुर्वेदीय ऐक्ट पास होने पर ऐलो-पैथी के उपाधि-प्राप्त डाक्टरों की तरह उन्हें समान अधिकार महाविद्याय से परीक्षोत्तीर्ण होने पर मिल जायगा। सरकार सम्पूर्ण बिहार में शिविर खोलकर पुराने चिकित्सकों को भी आवश्यक ज्ञान देकर सरकारी ग्रामीण चिकित्सालयों में स्थान देगी। सरकार की यह योजना है कि प्रत्येक जिले में आयुर्वेदीय चिकित्सालय खोले जायें। भागलपुर श्री विक्रमशिला आयुर्वेद शिक्षण शिविर को सरकार ने मान्यता दे दी है और इसके स्नातकों को उचित सम्मान मिलेगा। आपने कहा कि पं० विनोदानन्द झा जी के तत्वावधान में बिहार में आयुर्वेद की उन्नति अधिक से अधिक होगी।

स्वागताध्यक्ष कविराज श्रीनारायण शर्मा ने कहा कि जनता और सरकार का सहयोग लेकर आयुर्वेद-प्रचार और रोगी-चिकित्सा का कार्य सफल किया जाय। शिविर-मंत्री कविराज विद्यानारायण सिंह जी ने बताया कि शिविर-संचालन में कुल खर्च ३०००) लगे, जो कि करीब-करीब शिक्षार्थियों से तथा कुछ समिति के सदस्यों के चन्दे से पूरा होकर लग गया।

बंगाल आयुर्वेदीय संस्कृति का केन्द्र है। यहाँ उच्चकोटि के आयुर्वेदीय चिकित्सक रहते हैं। सरकार को चाहिए कि वह आयुर्वेद की पूरी उन्नति का शेष भारत के लिए आदर्श रखे। वर्तमान में अपनी सरकार होते हुए भी बंगाल अन्य प्रान्तों की तुलना में आयुर्वेद के मामले में बहुत पीछे है। आशा है यहाँ की जनता सब तरह का सहयोग देकर आयुर्वेद को राष्ट्रीय चिकित्सा के रूप में प्रतिष्ठित करेगी, एवं यहाँ की आर्थिक दशा के कारण गिरती हुई स्वास्थ्य समस्या को आयुर्वेद द्वारा पूरी करने में सफल होगी। आशा है यहाँ की सरकार समय चूकने के पहले आयुर्वेद की समुचित उन्नति करेगी।

एक व्यावहारिक प्रश्न

श्वासरोग और सोमल

वैद्य रणजितराय

‘शरीरक्रियाविज्ञान’ के प्राक्कथन में प्राचीन और नवीन मतों के समन्वय का विचार करते हुए मैंने लिखा है :—

“अब, एक-दो शब्द ग्रन्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में। कहा नहीं जा सकता, चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों के कर्ता तथा प्रतिसंस्कर्ता आज के युग में कौन-सा मार्ग ग्रहण करते। परन्तु हम अल्पबुद्धि वालों के लिए तो वर्तमान ज्ञान-विज्ञान से भी बहुत कुछ ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे ज्योतिष, संगीत, चित्रकला, स्थापत्य, अर्थनीति, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञानों और रहन-सहन आदि पर अर्वाचीन युग का निश्चित और गहरा प्रभाव हुआ है। आयुर्वेद को भी उससे अलिप्त नहीं रखा जा सकता। मौलाना अबुलकलाम आजाद ने अपने कुरान-भाष्यकी भूमिका में लिखा है : ‘प्राचीन और अर्वाचीन की तुलना करने की पद्धति ही दूषित है। प्राचीन तो हमें अपने पूर्वजों से मिला उत्तराधिकार-मात्र है। हमें उसी के बन्धन में न रह कर अपनी अन्वेषण-शक्ति का उपयोग करते हुए योग्य मार्ग बनाना चाहिए।’ आयुर्वेद के सम्बन्ध में मुझे ये वचन बहुत उपयुक्त जँचते हैं। भावी पीढ़ी को किसी भी कारण से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से वञ्चित रखना वस्तुतः एक महान् पाप होगा।

“परन्तु, इस विषय में एक चेतावनी देना आवश्यक है। हमें प्रायः इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन भारतीय भी अपनी शैली से बुद्धि का प्रयोग करते हुए कई सचाइयों को जान सके थे। अवश्य ही उनके द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान का बहुत-सा अंश काल-ग्रस्त हो गया। तथापि, उपलब्ध भाग में भी कितनी ही बातें ऐसी हो सकती हैं जो वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में यथार्थ नहीं प्रतीत होतीं, परन्तु व्यवहार में सत्य सिद्ध होती हैं। कई बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनकी सहायता से वर्तमान विज्ञान की कई बातों को हम पूर्ण कर सकते हैं। दोनों प्रकार की वस्तुओं का यथायोग्य उपयोग करके हमें उनसे लाभ उठाना चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ में यही दृष्टि रखी गयी है।”

वास्तव में, आयुर्वेद और ऍलोपैथी के वर्तमान वर्षण में यही न्याय्य और कालानुरूप मार्ग है। किसी समय हिन्दु-मुस्लिम-कलह के निवारणार्थ जो सीख दोनों जातियों को दी जाती थी वही चिकित्सा की इन दोनों शाखाओं के अनुसर्ताओं को भी आज दी जा सकती है—“दोनों पद्धतियों की जड़ भारत-भूमि में जम गयी है। वर्षण अटकाने के लिए दोनों में एक का समूल नाश न सम्भव है, न योग्य। अतः प्रयत्न इस बात का होना चाहिए कि ‘अपनी-अपनी रविश-पै तुम नेक रहो।’ दोनों का ध्येय रोग-पीड़ित जनता का कल्याण है। एक-दूसरे की अच्छाई का उपयोग करते हुए, इस ध्येय को ही अविस्मृत रखकर

चिकित्सा-कार्य करना योग्य है।" इस दृष्टि से उदाहरणीय एक विचार वैद्य-वृन्द के समक्ष उपस्थित करता है।
 'आरोग्य-प्रकाश' में वैद्य रामनारायणजी शर्मा ने श्वास-आधिकार में लिखा है :

“शास्त्रोक्त श्वासकुठार रस का हम भी व्यवहार करते हैं। पर जब से इस (आगे कहे) श्वास-कुठार का प्रभाव हमने देखा है, तब से यह निश्चय हो गया है कि श्वास के लिए सचमुच यह कुठार (कुल्हाड़ी) है। एक रत्ती सखिया (सोमल) में १५ रत्ती खाने का सोडा (सोडा-बाय-कार्ब) मिलाकर अच्छी तरह पीसकर १६ पुड़िया बाँध लो। एक पुड़िया सुबह और एक पुड़िया शाम को जल के साथ या मलाई में खिलाओ। रोगी को अनुकूल होने पर १६ पुड़िया की जगह (कुल औषध की) आठ ही पुड़िया बना सकते हो। शीत के समय दमा के रोगी को ४० दिन या ६० दिन यह दवा खिलाओ। भगवान की दवा से दमा एकदम जाता रहेगा। मेरे अनुभव में दमारोग में स्थायी लाभ पहुंचानेवाली दवा इससे उत्तम अभी तक नहीं आयी है। इस दवा को सेवन करा और साथ में आहार-विहार ठीक रखकर मैंने कई दमा के रोगियों को एकदम ठीक किया है। रोगी को अग्नि के बलानुसार ताजा घी पिलाना चाहिए। सावधान, दवा को अच्छी तरह मिलाकर तय्यार करो। कहीं एक ही खुराक में मात्रा से अधिक सखिया रोगी के पेट में पहुंच जायगा तो रोगी प्राण-त्याग कर सकता है (पृ० २१९-२०)।”

श्वासरोग पर सोमल की उपयोगिता के विषय में जो अनुभव-पूत सत्य शर्माजी ने उक्त पंक्तियों में दिया है वह सभी प्रथितयश वैद्यों का है। यह सत्य है कि उक्त योग में सोमल को उड़ाने की कल्पना न होने से प्रत्येक पुड़िया में उसकी अधिकतम मात्रा निश्चित रहती है, जिससे उसकी गुणवत्ता अन्य कल्पों की अपेक्षया अधिक है, जैसा कि ऊपर के महाप्राण शब्दों से व्यक्त है। स्वतन्त्र सोमल प्रायः उड़ाकर फूलों के रूप में वैद्य महानुभाव देते हैं। सुचिर काल से श्वासरोग में सोमल का व्यवहार प्रचरित है। संहिता-काल में जब कि खनिज द्रव्यों का व्यवहार विशेष न होता था, तब भी मनःशिला श्वासरोग में स्वतन्त्र या अन्य द्रव्यों के साथ दी जाती थी। यथा, च० चि० अ० १७ तथा सु० उ० अ० ५१ में मनःशिला के घृत, लेह और धूस विहित हैं। रसों का उपयोग प्रारम्भ होने पर विशेषतः श्वासकुठार (शास्त्रोक्त) एवं महा-श्वासकुठार के रूप में मनःशिला का उपयोग अधिक प्रचार में आ गया। मनःशिला सोमल और गन्धक का समास है। इसमें सोमल दो भाग तथा गन्धक तीन भाग होता है। सोमल का ही गन्धकमिश्रित अन्य समास हरताल है। इसमें सोमल दो भाग और गन्धक भी दो भाग होता है, यह इसका मनःशिला से भेद है। नव्य रसायन में इनका रासायनिक नाम इसी कारण क्रमशः सोमल का 'ट्राइसल्फाइड' और 'वाई-सल्फाइड' है। इस ओर गुजरात में हरताल के बनाये रसमाणिक्य का वच्चों के कफप्रधान श्वास-कास आदि में खुले हाथ उपयोग होता है। यह रसमाणिक्य कूपीपक रसमाणिक्य से भिन्न है। इसे बनाने के लिए हरताल का सूक्ष्म चूर्ण लेकर उसे श्वेताभ्र के दो पत्रों के मध्य रखकर, चूर्ण बिखर न जाय इस हेतु गुंदे आटे से पत्रों को संपुटित करके, किंवा उसके बिना भी, पत्रों को दहकते कोयलों पर रखते हैं। दो-तीन मिनटों में हरताल माणिक्य-वर्ण का हो जाता है। इसे चूर्ण कर व्यवहार में लाते हैं, किंवा घिस कर दिया जाता है। कोई वैद्य विगड़ गये बिजली के गोलों को कोर उनके अन्दर हरताल-चूर्ण भर करके

सन् १९५१]

श्वासरोग और सोमल

७८७

भी इसी प्रकार रसमाणिक्य बनाते हैं। बच्चों के रोग में यह अति उपयोगी है। बहुत से गृहस्थ स्वयं इसे घर में बना अपने तथा अन्यो के बच्चों को देते हैं। अन्य प्रान्तों के, विशेषतः आनूप देशों के, वैद्य इसे अपना सकते हैं। सोमल का अंश इसमें होने से ज्वर, अग्निमान्द्य, दौर्बल्य, रक्तक्षय, अतिसार आदि बाल-रोगों में भी यह परमोपयोगी है।

आशय यह है कि सोमल तथा उसके समास—मनःशिला और हरिताल का श्वास पर उपयोग चिरकाल से वैद्यों में प्रसिद्ध है। डॉक्टर बन्धु भी श्वासरोग में कुछ वर्षों से सोमल के कल्प एन० ए० बी० (पूर्ण नाम—नीओ आर्सिनो विलॉन) की शिरा में सूचीवस्ति एवं एसिटिल आर्सन की पेशी में सूचीवस्ति विशेषतया देते हैं। कई वैद्य इन रोगों के अतिरिक्त यक्ष्मा में भी सोमल का व्यवहार करते हैं। श्वास-रोग और राजयक्ष्मा में सोमल के उपयोग को नवीन चिकित्सा-शास्त्र का आधार मिला है, जो प्रत्येक वैद्य के लिए ज्ञातव्य है।

रक्त में कोष मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—रक्त और श्वेत। श्वेत कणों के अनेक भेद हैं, जिनमें एक का नाम 'इयोसिनोफिल' है। सम्पूर्ण श्वेत (या कर्मानुसार क्षत्र) कोषों में सामान्यतः दो-तीन प्रतिशत प्रमाण इन इयोसिनोफिलों का होता है। कई रोगों में, यथा गण्डूपदकृमिरोग में, रक्त में ये कोष या कण बढ़े हुए पाये जाते हैं। इनकी वृद्धि का कारण क्या है यह विदित नहीं हो सका है। इतना ही विदित हुआ है कि यह वृद्धि अमुक रोगों की सहचारिणी है। इन रोगों के सिवाय स्वतन्त्र रूप से भी इन कणों की वृद्धि होती है। 'इयोसिनोफिलों' की वृद्धि को 'इयोसिनोफिलिया' यह विशेष नाम दिया गया है। वृद्धि कभी-कभी ८०-८५ प्रतिशत तक भी हो जाती है। विदित हुआ है कि, फिरङ्ग की विशेष परीक्षा 'वाँसरमेन्स टेस्ट' इयोसिनोफीलिया में भी साधक (पॉज़ीटिव) होती है। अतः इस परीक्षा से फिरंग का निर्णय करना शक्य नहीं रह गया है। दूसरी परीक्षा 'कान्ह टेस्ट' फिरङ्ग के लिये निश्चित मानी जाती है। जो हो, 'इयोसिनोफीलिया' का एक लक्षण श्वास है। यह श्वास एन० ए० बी० या एसिटिल आर्सन से अचूक शान्त होता है। इस अन्वेषण से तज्ज्ञों का मत हुआ है कि, अब तक के इतिहास में जो श्वास-रोगी सोमल के कल्पों से स्वस्थ हुए वे शुद्ध श्वास-रोगी न थे, किन्तु 'इयोसिनोफीलिया' से आक्रान्त थे। शुद्ध श्वास-रोग का अर्थ होता है वह रोग, जिसमें प्राणवह स्रोतों का स्तम्भ होकर श्वास-कृच्छ्र (श्वास लेने-छोड़ने में कठिनाई) होता है। गणना से विदित हुआ है कि, श्वास या दमा नाम से प्रसिद्ध रोग से पीड़ित व्यक्तियों में ७५ प्रतिशत रोगी वास्तव में 'इयोसिनोफीलिया' से आक्रान्त होते हैं।

हाल ही में यह भी विदित हुआ है कि, 'इयोसिनोफीलिया' के कई रोगियों में ठीक वही लक्षण देखे जाते हैं, जो राजयक्ष्मा में होते हैं। प्रलेपक ज्वर (सायंकाल ज्वरमान, रात को स्वेद-सहित मोक्ष), अरुचि, क्षुधानाश, भार में कमी, कास, श्वास, कफ-निष्ठीवन आदि लक्षण इनमें यक्ष्मा के सदृश होते हैं। प्रयोगशाला-परीक्षा से 'इयोसिनोफीलिया' का निर्णय होने पर ये भी सोमल की सूचीवस्ति से ठीक हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे चिकित्सकों ने भी कई बार 'इयोसिनोफीलिया' को यक्ष्मा मानकर भूल की है। वैद्यों के जिन रोगियों को सोमल के कल्पों से लाभ हुआ, सम्भवतः वे भी 'इयोसिनोफीलिया' से ही पीड़ित रहे होंगे।

ईयोसिनोफीलिआ तथा तज्जनित श्वास पर सोमल का यह प्रभाव होते हुए भी यह इसकी अनु-
प्रति-शत औषध नहीं कही जा सकती। कारण, कई रोगियों को सोमल का सेवन विरुद्ध^१ होता है।
ऐसे रोगियों में प्रथम तो वे पुरुष हैं जिनके लिये सोमल प्रकृति-विरुद्ध होता है। जैसे क्वीनाइन की
अल्पतम मात्रा के सेवन से भी कड़्यों में कोठ (ददोड़े) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा कड़्यों को
घर में भल्लातक का कोई कल्प बन रहा हो तो, इसके सेवन की बात जाने दीजिये, तन्मिश्रित वायु से ही
कण्डू, रक्तिमा आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, किंवा अन्यो में अन्य औषध प्रकृति-विरुद्ध होती हैं, वैसे कई
व्यक्ति सोमल प्रारम्भ से ही सहन नहीं कर सकते। फिर कई पुरुषों को सोमल इस प्रकार जन्मतः विरुद्ध
नहीं होता, परन्तु कई रोगों की विद्यमानता में उसका सेवन नहीं कराया जा सकता। यथा, विशेषतः वृक्को
के शोथ आदि रोग, उनके कारण मूत्र में एल्ब्यूमिन जाना, अतिसार, मुखपाक आदि रोगों में सोमल नहीं
दिया जा सकता। ऐसे रोगी श्वास या अन्य सोमल-साध्य रोगों से आक्रान्त हों तो उन्हें क्या सेवन
कराया जाय यह प्रश्न चिकित्सक-समाज आयुर्वेद के उपासकों से कर सकता है, करता है। देखना चाहिए
ईयोसिनोफीलिआ से आक्रान्त इन रोगियों में सोमल के सूचीवस्ति से जितना लाभ होता है, उतना ही सोमल
के आयुर्वेदोक्त कल्पों से भी होता है ?—एक बात। सम्भव है, सूचीवस्ति में सोमल का प्रमाण अधिक हो
और शरीर में उसकी ग्राह्यता विशेष हो। जिन रोगियों को सोमल की सूची से अवगुण होना सम्भव है,
उनमें आयुर्वेदोक्त कल्पों से भी क्षति होती है ?—दूसरी बात। क्षति न होने का कारण सोमल का शोषण
ही कहा जा सकता है। तीसरी बात—यदि अधिक काल सेवन से भी सूचीवस्ति का गुण आयुर्वेदोक्त
कल्पों में न हो तो, अथवा वे भी विरुद्ध-प्रकृति पुरुषों में अवगुणकर्ता हों तो सोमल की प्रतिनिधि-भूत
अनपायी वनस्पति के अन्वेषण का कार्य वैद्यों का है। हमारा औषध-भण्डार अन्य सब पद्धतियों की
अपेक्षया विशाल है। आधुनिक पद्धति से जनकल्याण का यह एक मार्ग है। विशेषतः जिन वैद्यों को
प्रयोग-शाला सुलभ हो वे इस कार्य में भाग ले सकते हैं। ईयोसिनोफीलिआ से निश्चित आक्रान्त रोगियों
को एक-एक श्वासाधिकारोक्त द्रव्य (योग की बात में नहीं करता। योग देने से निश्चित पता नहीं लगता
किस द्रव्य से गुण हुआ है।) का सेवन कराकर परिणाम देखना चाहिये। पुष्करमूल, कुष्ठ, कण्टकारी-
द्रव्य, भार्गी, वासा आदि द्रव्य श्वास-प्रकरण में सुविहित हैं। प्रथम पुष्करमूल को ले सकते हैं। कदाचित्
उसकी गुणवत्ता की अधिकतम प्रतिशतकता का प्रत्यक्ष कर चरक ने कहा है—

पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम् ।

च० सू० २५४

हिक्का, श्वास, कास और पार्श्वशूल में उपयोगी द्रव्यों में पुष्करमूल सर्वोत्तम है।

सद्यःस्नेहन के लिए—

घी और नमकयुक्त दूध

वय अत्रिदेव गुप्त

चरकसंहिता के स्नेहाध्याय में—सद्यःस्नेहन के विचारणीय प्रश्न
दिये योगों में निम्न श्लोक है—

“धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सशर्करं पयः ।

नरः स्निह्यति पीत्वा वा सरं दध्नः सफाणितम् ।

चरक सूत्र अ० १३

इसका जो अर्थ मेरी दृष्टि में है, वही मैं लिखता हूँ : धारोष्ण दूध को स्नेह और शर्करा के साथ पीने से मनुष्य का स्नेहन होता है, दही की मलाई को फाणित (राव) के साथ खाने से भी स्नेहन होता है ।

परन्तु चरक की प्राचीन प्रतियों में “धारोष्णं स्नेहसंयुक्तं पीत्वा सलवणं पयः” यह पाठ है । यही पाठ श्री जीवराम, कालीदासजी ने उपचारपद्धति में भी दिया है । परन्तु दूध के साथ नमक का मेल ठीक न देख कर सम्भवतः ‘सलवणं’ के स्थान में ‘सशर्करं’ पाठ किया गया है ।

परन्तु अष्टांगसंग्रह में भी ‘सलवणं’ पाठ है, यथा—

सर्पिलवणयुक्तं वा सद्योदुग्धं तथा पयः ।

पेयां वा पञ्चप्रसृतां स्नेहैस्तन्दुलपञ्चमैः ॥

यह पाठ इस प्रकार भी मिलता है—

सर्पिलवणयुक्तं वा सद्यःस्निग्धं तथा पयः ।

पेयां वा पञ्चप्रसृतां स्नेहैः तन्दुलपञ्चमैः ॥

दूसरी पंक्ति में कोई भेद नहीं और उसका विचार भी नहीं । विचारणीय वस्तु प्रथम पंक्ति है । प्रथम पंक्ति का सुन्दर अर्थ तो यही है कि—सर्पि और लवण ये सद्यः स्नेहन करते हैं ; तुरन्त का दुहा दूध भी वैसा ही सद्यःस्नेहन है । दूसरे पाठ में घी और लवण सद्यःस्नेहन हैं ; दूध भी सद्यःस्नेहन है ।

१—अष्टांगसंग्रह में कहे ये दो योग हैं या एक ही योग है ? दो योग मानने से चरक के पाठ से भेद हो जाता है ; जब कि कर्त्ता का कहना है कि इसमें एक भी मात्रा आगम के विरुद्ध नहीं है और प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में प्रतिज्ञा है कि “इतिहस्माहुः भगवानात्रेयः” । यह प्रतिज्ञा विसंवाद तो नहीं होती ?

२—इसमें शर्करा या लवण का दूध के साथ मेल नहीं होता । या खाली सद्योदुग्ध दूध स्नेहन करता है ? जब कि इससे ऊपर के पाठ में सिता और घी का पाठ किया है । यथा—

पेयां सुखोष्णां क्षैरेयां पात्रे वा ससिताघृते ॥

इससे स्पष्ट है कि घी और शर्करा के साथ ही तुरन्त का दूध सद्यःस्नेहन करता है ।

३—दूसरे पाठ में यदि केवल दूध वह भी भले ताजा दुहा न हो स्नेहन करता है, तब चरक के पाठ से भेद होता है, और फिर ‘धारोष्णं’ या ‘सद्यो’ ये दोनों विशेषण व्यर्थ होते हैं । साधारण दूध भी स्नेहन तुरन्त देता हो तो फिर ‘सद्यः’ विशेषण व्यर्थ होता है ।

४—चरक में आगे हम पढ़ते हैं—

‘लवणोपहिताः स्नेहाः स्निह्यन्त्यचिरान्नरम्’ ॥

लवण से मिले स्नेह शीघ्र ही मनुष्य को स्निग्ध करते हैं । इसीलिये तो अंग्रेज लोग ब्रेड के ऊपर मक्खन और नमक लगा कर खाते हैं । देहात में मातायें रोटी के ऊपर मक्खन या घी लगा कर नमक डाल कर खाने को देती हैं । इसलिये स्नेह के साथ नमक का उपयोग प्रशस्त भी है ।

अब तो यही प्रश्न रहा कि दूध के साथ नमक का मेल भी विधेय है वा नहीं। चरक विमान स्थान में पढ़ते हैं—

‘लवणानातिभुञ्जीत’ इस प्रकरण में—“तदत्यर्थ-मुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यं दौर्बल्याभिनिवृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येतद्ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्तवः शिथिलमांस-शोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—वाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः। ते हि पय-सापि सदा लवणमश्नन्ति।” चरक. वि. अ १.

इसके शब्दों पर विचार करिये—वाह्लीक (काबुली), सौराष्ट्रिक (काठियावाड़ी), सैन्धव (पेशावर के, जहाँ से सैन्धव आता है), सौवीर (कच्छ और सिंध देश का कुछ भाग); ये दूध के साथ सदा नमक खाते हैं। (और आज भी खाते हैं—काठियावाड़ी खिचड़ी और दूध आज भी खाते हैं। पेशावरी लोग आज भी हरी चाय में घी-नमक डालकर पीते हैं; दूध मिल गया तो वह भी डालते हैं; परन्तु नमक जरूर डालते हैं। अच्छे खानसामों का कहना है कि चाय में जरा-सा नमक छोड़ दिया जाय तो साहेब को चाय बहुत पसन्द आती है।)

१—नमक का दूध के साथ विरोध ठीक है; परन्तु घी की उपस्थिति में भी क्या विरोध रहता है? लहसुन और दूध विरोधी हैं, परन्तु श्वास रोग में वे विधेय हैं; तो क्या सद्यःस्नेहन क्रिया में इनको विधेय न मानें? यह पांचवीं समस्या है।

६—मधु और घी समान मात्रा में जरूर विरोधी हैं। परन्तु सितोपलादि या अन्य किसी तीसरी वस्तु को बीच में रखकर उनका प्रयोग कर सकते हैं। कारण, शेर बकरी को तभी खतरनाक है, जब बीच में दीवार नहीं। दीवार होने पर शेर बकरी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यहाँ पर भी सितोपलादि

चूर्ण दोनों के मध्य में रहता है। इसी प्रकार दूध और लहसुन में श्वास रोग बीच में रहता है। इसलिये विरोध भी लाभप्रद हो जाता है।

७—बच्चों को दूध न पचने में सबसे सुन्दर उपाय डाक्टर हैचिन्सन ने जो बताया है, वह मुझे तो बहुत पसन्द आया। अर्थात् दूध में थोड़ा-सा ‘सोडियमसायट्रेट’ $\frac{1}{2}$ रत्ती या $\frac{1}{4}$ रत्ती या १ रत्ती की मात्रा में दे देना चाहिये। इससे दूध का चक्का (Clot) कड़ा नहीं बनता; दूध की कैजीन जल्दी पच जाती है।

इससे मिलता-जुलता रिवाज देहात का है। इसमें दूध पिलाने से पूर्व या पीछे टंकण को भून कर उसकी खील बच्चे को चटा देते हैं। इससे भी वही लाभ होता है। आखिर टंकण भी लवण है।

यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि चरक की दृष्टि में क्षार या दूसरे सब नमक लवण वर्ग के अन्दर आते हैं। इसलिये यह समझना कि सोडियमसायट्रेट क्षार या भिन्न नमक है, अधिक सुन्दर नहीं होगा।

८—दूध में घी पड़ने से दूध भारी हो जाता है। इस भारीपन को कम करने के लिये नमक का मेल यदि किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। नमक के मिश्रण से दूध जल्दी पचेगा, क्योंकि इससे उसका चक्का (clot) कठिन नहीं बनता। अन्यथा घी के कारण तो वह बहुत भारी हो जायगा।

९—दूध-घी और नमक यह सद्यःस्नेहन है। रोज तो लगातार बरतने की वस्तु नहीं। इसलिये विमान स्थान में “सदा लवणमश्नन्ति” यह जो कहा है, कि सदा खाते हैं, उसका भी परिहार हो जाता है। साथ ही ‘लवणोपहिताः स्नेहा स्निहन्ति अचिरान्नरम्’—लवण से मिश्रित स्नेह जल्दी स्नेह शीघ्र स्नेहन, करते हैं, यह भी ठीक है।

सन् १९११]

घी और नमकयुक्त दूध

७६१

१०—एक और भी बात। इसमें नमक के साथ दूध को उबालने का प्रश्न भी नहीं है। दूध को उबालना नहीं चाहिये। केवल धारोष्ण सद्योदुग्ध (तुरंत का दुध) दूध लेना उत्तम है। इसलिये नमक के योग से दूध फट जायेगा, यह कल्पना सुचारु नहीं। सोडियमसायट्रेट डालकर हम दूध को उबालते नहीं, परन्तु बच्चे को दूध देते समय उसमें मिला देते हैं, या मुख में डाल देते हैं। इसी प्रकार नमक को दूध में मिलाकर गरम नहीं करना चाहिये। चाय में भी नमक की चुटकी पीछे से मिलाते हैं; अग्नि पर रखकर नमक नहीं डालते।

११—इसलिये इस पाठ को सद्यःस्नेहन के विचार से विचारना चाहिये। दूध, घी और शर्करा के मेल के लिये तो संग्रह का “क्षैरेयी पात्री” वाला पाठ उत्तम है। इसमें दूध की उष्णिमा भी बनी रहती है, और घी तथा शर्करा भी तुरन्त मिल जाती है। इससे चरक में सलवण पाठ विचारणीय जरूर है।

मेरी अपनी मान्यता यह है कि सद्यःस्नेहन के लिये तुरन्त दुधे धारोष्ण दूध में थोड़ा-सा घी और थोड़ा-सा नमक मिलाकर देना कोई हानिकारक नहीं। वह भी एक या दो बार ही। लगातार चालू नहीं रखना चाहिये। कारण, सद्यःस्नेहन योग्य सद्यःक्षीण व्यक्तियों के लिये ही हैं। यह तो कुछ समय के लिये ही बरता जाता है। जिस प्रकार लब्धद्रांसप्युजन (रक्त देना) आत्याधिक स्थिति है,

उसी प्रकार सद्यःस्नेहन भी आवश्यक रूप है। अथवा, पीने के साथ तुरन्त स्नेहन मिलता है, इसमें देरी नहीं, इसलिये प्रतिदिन बरतना अर्थ भी हो सकता है। उसमें भी थोड़ा-सा नमक कोई हानि नहीं करेगा क्योंकि घी साथ में है। काठियावाड़ी या कच्छी जो खिचड़ी दूध के साथ खाते हैं; पेशावरी जो दूध या चाय में नमक मिलाते हैं; उनमें वे घी बरतते हैं। मसूरी के तथा चक्रौते के पहाड़ी या हरी चाय पीने वाले भूटानी घी और नमक मिलाते हैं, दूध मिल जाय तो वह भी मिलाते हैं। चीनी और गुड़ वहां महंगा और कष्टप्राप्य है। साथ ही चीनी यदि एक सेर चाय में एक छटांक चाहिए वहां नमक आधा या चौथाई तोला पर्याप्त है। इस दृष्टि से भी नमक बरतते हैं। परन्तु नमक के साथ घी अवश्य बरतेंगे। घी वैसे ही विष-नाशक है; घी से उत्तम विषनाशक दूसरी वस्तु नहीं है। ऐसी अवस्था में, घी की उपस्थिति में नमक दूध में विकार करे, यह सम्भव नहीं, अपितु उसके पाचन में मदद करेगा, जिस प्रकार कि सुहागा या सोडियम सायट्रेट दूध के पचने में मदद देता है।

अब रही देकर देखने की बात, सो सच यह है कि मुझे तो जब सुभीता होगा, मैं करूंगा। जिनको सुभीता है वे इसे देकर देख लें। इससे कोई अपयश का भय नहीं, चूँकि कई देशों में यह आज भी बरता जाता है। चरक संहिता के विद्वान विशेष प्रकाश डालें तो उत्तम है।

नामूलं लिख्यते किञ्चिच्चानपेक्षितमुच्यते ।

८—छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

❀

साध्यासाध्यता—

क्षयरोगी के मांस और रक्त का क्षय (भार में न्यूनता, पाण्डुरोग, श्वास आदि से ग्रस्य) न हुआ हो, वह बलवान् हो—व्याधि तथा औषध के बल को सहन कर सकता हो, शारीरिक, मानसिक, वाचिक शक्ति भी उसमें पर्याप्त हो—उसका अग्नि बलवान् हो और अरिष्ट (नियत मरणख्यापक चिह्न) प्रादुर्भूत न हुए हों तो, उसमें सभी (ग्यारहों) लक्षण प्रकट हो गये हों तो भी, वह साध्य होता है ;

उक्त लक्षण तथा ज्वर के अनुबन्ध (बीच-बीच में मोक्ष न होना) से रहित रोगी साध्य होता है ;

नि० चि० हस्तामलक के लेखाङ्क ७ का शेषांश

—❀—

राज्यक्षमा के ग्यारह लक्षणों में कफ के कारण अरुचि, वमन, प्रतिश्याय, कास, शिर तथा शरीर की गुरुता, लाला-स्राव, श्वास, स्वरभङ्ग और मन्दाग्नि होते हैं ; पित्त के कारण हाथ-पैर के तल तथा कन्धों में दाह, अतिसार, रक्तवमन, मुख-दौर्गन्ध्य, ज्वर और मद होते हैं ; तथा वात के कारण शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसमर्द, अङ्गमर्द, कण्ठोद्ध्वंस (स्वर विकृत होना) तथा स्वरभंग होते हैं ।

छः लक्षण—कास, अतिसार, पार्श्वशूल, स्वरभेद, अरुचि, ज्वर । अथवा—अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्तवमन, स्वरभेद ।

तीन लक्षण—ज्वर, कास, रक्तवमन ।

रोगी आत्मवान् (जितेन्द्रिय) हो, दीप्ताग्नि हो, कृमि न हो, रोग नवीन हो तो सुखसाध्य होता है ;

इसके विपरीत—रोगी दुर्बल हो, उसका बल, मांस और रक्त अति क्षीण हो गये हों, अग्नि मन्द हो, ऐसे रोगी में अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न न भी हुए हों—लक्षण भी थोड़े ही हों तथापि उसे बहुलक्षणयुक्त एवं असाध्य ही मानें ; कारण, रोग अथवा औषध का बल सहन करने की शक्ति न होने से अल्प काल में ही अरिष्ट तथा शेष लक्षण भी प्रादुर्भूत हो जाते हैं ;

यक्ष्म-रोगी खूब खाता हो तथापि क्षीण होता जाय ; अथवा—

वह अतिसार से पीडित हो जाय ; अथवा—

उसके वृषणों और उदर पर शोथ आ जाय ; अथवा—

उसके नेत्र श्वेत हों ; अथवा—

अन्नपर उसे तिरस्कार उत्पन्न हो जाय ; अथवा—

वह ऊर्ध्वश्वास से पीडित हो जाय ; अथवा—

उसे मूत्रप्रवृत्ति बहुत कठिन हो ; अथवा—

रोगी पार्श्वशूल, आनाह, रक्तवमन और अंसताप से पीडित हो तो रोग असाध्य होता है ।

रोगी में ग्यारहों, छहों अथवा तीनों लक्षण प्रकट हो गये हों तो रोग को प्रत्याख्येय समझें ।

निदान—

यक्ष्मा के निदानों के दो वर्ग किये जा सकते हैं—

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

७६३

१—अहिताहारविहार तथा, २—अन्य रोग ।

(१) प्रथम वर्ग के चार भेद हैं—(क) साहस—अर्थात् शक्ति से अधिक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक या वाचिक श्रम, आघात, पतन इत्यादि । (ख) भय, लज्जा, कार्य-व्यग्रता आदि किसी भी कारण से अधोवायु, मूत्र या पुरीष के वेग का अवरोध । (ग)—धातुक्षय; इसके दो भेद हैं, जिन्हें अनुलोमक्षय तथा प्रतिलोमक्षय कहते हैं; अनुलोमक्षय में रसधातु का क्षय होकर उससे पुष्ट होने-वाले अन्य धातुओं का क्रमशः क्षय होता है; प्रतिलोमक्षय में प्रथम शुक्रधातु का क्षय होकर पश्चात् अन्य धातुओं का क्षय होता है । अनुलोमक्षय का कारण यह है कि, पुरुष का हृदय जब किसी कारण अति चिन्ता और शोक से व्याप्त होता है अथवा क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा (कामेच्छा) आदि से आविष्ट रहता है; किंवा वह क्रश होता हुआ भी रुक्ष अन्नपान का सेवन करे; अथवा दुर्बल होता हुआ भी उपवास या अल्पाहार करे तो उसका हृदय-स्थित रस-धातु क्षीण होता है । पश्चात् अन्य धातु भी क्षीण होकर राजयक्ष्मा होता है । प्रतिलोमक्षय अति मैथुन के कारण अति शुक्रक्षय होने से होता है । होता यह है कि प्रकृति रसधातु का उपयोग सविशेष क्षीण हुए शुक्र के पोषणार्थ ही करती है, जिससे स्वभावतः अन्य धातुओं की पुष्टि यथावत् न होकर उनका क्षय होता है । (घ) विषमाशन—अन्नपान के शास्त्रोक्त नियमों का त्याग । द्रव्यों की प्रकृति (गुरुता-लघुता, स्निग्धता-रूक्षता आदि गुण), करण (संस्कार, रांधने की विधि), संयोग, मात्रा, देश, काल, आहार-सेवन के नियम (स्निग्ध तथा ऊष्ण, मात्रावत्, प्रथम भोजन पच जाने पर, वीर्य के अविच्छेद, मनोरम वातावरण में, शान्ति से, अन्न के गुणों का विचार करते हुए भोजन करना) तथा भोक्ता—इन सबका विचार अन्न-पान के सेवन में करना चाहिए । इनपर ध्यान न देना विष-माशन कहा जाता है ।

(२) यक्ष्मा के निदान-भूत रोगों में उरःक्षत मुख्य

३

है । जीर्ण कास, प्रतिश्याय, रक्तपित्त और ज्वर से किंवा धातु-मांस बलक्षयकारी किसी भी रोग के परिणाम-स्वरूप क्षय होता है ।

कई आचार्य तत्-तत् कारण को प्राधान्य देते हुए शोष अथवा क्षय के निम्न भेद बताते हैं—व्यवाय-शोष (शुक्र-क्षयजन्य शोष), शोक-शोष, जराशोष (वृद्धावस्था-जन्य शोष), अध्वशोष, (अति चलने के कारण हुआ शोष), व्यायाम-शोष, व्रणशोष (व्रण से रक्त की अति स्रुति होने से हुआ शोष), उरःक्षत शोष । वस्तुतः ये सब क्षयजन्य शोष ही हैं, भिन्न नहीं ।

संप्राप्ति—

स्मरण रहे, प्रत्येक कारण से उत्पन्न लक्षण स्वरूपतः कुछ भिन्न होते हैं, परन्तु लक्षणों की पूर्ण संख्या तो ग्यारह ही रहती है ।

१—पुरुष अपनी शक्ति से अधिक काम, श्रम या व्यायाम करे तो उसकी छाती में क्षत (उरःक्षत) होता है । इस क्षत में वायु व्याप्त होकर वहाँ के कफ और पित्त को भी दूषित कर, सर्व शरीर में विचरण करता हुआ नाना रोग उत्पन्न करता है; यथा—संधियों में प्रवेश कर जृम्भा, अङ्गमर्द (हड्फूटन), ज्वर; आमाशय में—हृद्द्वं^३, शूल आदि छाती के रोग; कण्ठ में कण्ठोद्ध्वंस और स्वर-साद; प्राणवह स्त्रोतों^३ में श्वास, प्रतिश्याय; पाश्वों में पार्श्वशूल; शिर में शिरःशूल; गुद में अतिसार; उरःक्षत, वायु की ऊर्ध्वगति तथा कण्ठोद्ध्वंस के कारण कास; उरःक्षत से कास के साथ रक्तवमन तथा उरःशूल; रक्तवमन के कारण दुर्बलता—इन सबके परिणामस्वरूप सर्वाङ्गशोष ।

१—एकीय मत से क्षय के ये भेद, इनके पृथक् लक्षण तथा इनकी धातुक्षय से अभिन्नता जानने के लिए देखिये—सु. त. ४११६—२८ ।

२—Palpitation—पेल्विटेसन, हृत्कम्प ।

३—श्वासपथ; Respiratory passage—रेस्पिरेटरी पैसेज ।

२—किसी भी कारण पुरुष वात, मूत्र, पुरीष के उत्पन्न वेग का अवरोध करे तो वायु का प्रकोप होता है। प्रकुपित हुआ वायु पित्त तथा कफको साथ ले सर्व शरीरमें विचरता हुआ तत्तत् अङ्गमें तत्तत् रोग उत्पन्न करता है—यथा शूल, अतिसार या विड्विबन्ध (मलबन्ध), पार्श्वमें अति रुजा (वेदना), अंसावमर्द, कण्ठ में अवधमन, उर में अवधमन (धौंकनी के समान सशब्द श्वसन), शिरःशूल, कास, श्वास, ज्वर, स्वरभेद, प्रतिश्याय।

३—व्यवाय (मैथुन) के अतिभोग से शुक्र का अतिक्षय होनेपर भी पुरुष संयम न रखे तो शिश्न से रक्त का स्राव होता है। शुक्र तथा रक्त के क्षय से पेशियां शिथिल होती हैं, रुक्षता होती है, दुर्बलता एवं वायु का प्रकोप होता है। प्रकुपित वायु शरीरमें विचरण करता हुआ श्लेष्मा और पित्त को भी कुपित कर मांस और रक्त को शुष्क करता है एवं श्लेष्मा तथा पित्त का स्राव कराता है। परिणाम में तत्तत् अङ्ग में स्थित हुए दोषों से पार्श्वशूल, अंसमर्द, कण्ठोद्वंस, शिर में श्लेष्मा का संचय, संधिपीडा, अङ्गमर्द, अरोचक (अरुचि), अविपाक (अजीर्ण), ज्वर, कास, श्वास, स्वरभेद, प्रतिश्याय, कास में उरःक्षत तथा रक्तवमन, उससे दौर्बल्य की वृद्धि, अतिसार—ये लक्षण होते हैं।

४—पुरुष प्रकृति, मात्रा, देश, काल आदि का विचार किये बिना अन्नपान का सेवन करता है तो उसके वातादि दोष विषम होकर रक्तादि के स्रोतों के मुख को आवृत कर देते हैं, जिससे खाये अन्नपान का पुरीष और मूत्र ही मुख्य-तया बनता है। पुरीष के द्वारा ही उसका जीवन टिकता है। अतः इन रोगियों के पुरीष की (अतिसार या विरेचन से) विशेषतया रक्षा करनी चाहिए। विषमाशनजन्य दोषों में वात से शूल, अङ्गमर्द, कण्ठोद्वंस, पार्श्वशूल, अंसावमर्द, स्वरभेद और प्रतिश्याय; पित्तसे ज्वर, अतिसार, अन्तर्दाह; तथा श्लेष्मा से लालाप्रसेक, प्रतिश्याय, शिरोगौरव, अरुचि, कास, वमन, कास में रक्तछीवन, तज्जन्य दुर्बलता और उससे यक्ष्मा होता है।

यक्ष्मा में धातुक्षय का स्वरूप^१

यक्ष्मा में (क) यक्ष्मोत्पादक दोष धातुओं के स्रोतों को अवरोध कर देते हैं, (ख) स्रोतों के अवरोध एवं पोषण रस की क्षीणता से रक्तादि धातुओं का क्षय होता है तथा (ग) धातुक्षय और दोष के प्रभाव से धातुधियों की मन्दता होती है। इन कारणों से खाये गये अन्नपान का रस अत्यल्प ही बनता है, मल ही विशेष कर बनता है। यक्ष्मा में धातुक्षय की इस संप्राप्ति को ध्यान में रखते हुए स्रोतों के बन्ध और मन्दाग्नि को दूर करने के लिए विभिन्न आसवारिष्ट दिये जाते हैं, तथा धातुक्षय के निवारणमें विभिन्न प्राणियों, विशेषतया मांसभक्षी प्राणियों, के मांस का विधान है।

यक्ष्मा में तीनों दोषों का प्रकोप होते हुए भी धातुक्षय जन्य वात का प्रकोप ही मुख्य और प्रधानतया चिकित्स्य होता है। प्रकृति स्वयं इस पद्धति का चिकित्सा में अनुसर करती है। प्रायः रोगी इतिवृत्त देते हैं कि भोजन खाने से रोग के लक्षणों का बल न्यून होता है तथा न खाने से रोग में वृद्धि होती है। इस इतिवृत्त से क्षय की कल्पना कर चुधा, रुचि आदि जिससे बढ़ें वही उपचार करना चाहिए।

उरःक्षत या क्षतक्षीण^२

शक्ति से अधिक भार उठाना, फेंकना, तेरना, चलना, अति बली से युद्ध करना इत्यादि कठिन कर्मों के कारण किंवा अति व्यवायशील होते हुए भी रुक्ष, अल्प आहार तथा एक रस का सेवन या असमय में भोजन करने वाले पुरुष के उरस् (फुफ्फुस) में क्षत हो जाता है, जिससे छाती में विभिन्न प्रकार की वेदनाएँ होती हैं; पार्श्व स्राव जाते हैं, अङ्गों में कम्प होता है; क्रमशः शक्ति, मांसपुष्टि, वर्ण, रुचि और अग्नि का हास होता है; ज्वर, अङ्गमर्द

१—देखिये-च० चि० ८।३८—४७

२—च० चि० ११

सन् १६५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

७६५

मनोदैव्य, अतिसार, मन्दाग्नि तथा कास में कृष्ण-वर्ण, दुर्गन्धि, पीत, गुथित (जमा हुआ) पुष्कल मात्रा में रक्त-युक्त कफ पड़ता है। क्षत के कारण पुरुष क्षीण हो जाता है। इस की उपेक्षा करने से यक्ष्मा होता है।

पूर्वरूप—छातो में वेदना, रक्तवमन, कास, रक्तयुक्त मूत्र, पार्श्व-पृष्ठ-कटिग्रह।

साध्यासाध्यता—लक्षण अल्प हों, अग्नि दीप्त हो, व्याधि नया हो, रोगी बलवान् हो तो रोग साध्य होता है; रोग को वर्ष हो गया हो तो याप्य और सर्वलक्षणयुक्त हो तो असाध्य होता है।

राजयक्ष्मा तथा उरःक्षत की चिकित्सा—

जैसा कि निदान-प्रकरण में कह आये हैं, राजयक्ष्मा में विषमाशन, अतिमैथुनादि अहिताहारविहार के कारण रोगोत्पादक तीन स्थितियाँ होती हैं—स्रोतों का अवरोध^१, रक्तादि धातुओं का क्षय तथा जाठराग्नि और वातग्नियों की मन्दता।

स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।

धातूष्मणां चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥

च० चि० ८४०

अतः संक्षेप में, चिकित्साक्रम भी इन कारणों का विरोधी होना चाहिए। चरक ने कहा है कि, पुरुष मांस का ही सेवन करे, माध्वीक (मधूकारिष्ट) का पान करे तथा जितेन्द्रिय और आशावादी रहे तो शोष उसके शरीर में चिरकाल नहीं रहता। अन्य भी कहा है : पुरुष वारुणी (ताड़ो) के मण्ड (ऊपर के स्वच्छ जल) का नित्य सेवन करे, वहिःशुद्धि^२ रखे, एवं वेगों का धारण न करे तो यक्ष्मा

१—च० चि० अ० ८ ; सु० उ० अ० ४१।

२—तत्तत् दोष द्वारा स्रोतों के अवरोध का विशद स्वरूप जानने के लिए पुनः देखिये 'सचित्र आयुर्वेद' नवम्बर १९५०, पृ० ३६२, द्वितीय स्तम्भ में इसी लेखमाला के अन्तर्गत दी टिप्पणी।

३—इसका अर्थ इसी लेख में आगे देखिये।

का उसमें बहुत प्रसार नहीं हो पाता। मांस सर्वोत्तम मांसपोषक है, वह भी मांसमक्षी प्राणियों का हो तो अधिक सामर्थ्य होता है। विभिन्न पशु, पक्षी, कृमि (यथा गण्डूषद) आदि का मांस रोचक बना, रोगी को प्रलोभित करके तथा अन्य वस्तुओं का नाम लेकर खिलाएँ। अण्ड समान-गुण होने से शुक्र और मांस दोनों धातुओं के क्षय में उत्तम गुणकारी हैं। दोषभेद से मांस भिन्न-भिन्न प्राणियों का लेना विहित है। यथा, वातज में जलचरों का मांस उत्तम है। कैंकड़े का मांस आहाररूप में तथा उसकी अस्थि की भस्म औषध के रूप में धितोपलादि के साथ बहुत प्रशस्त है। लङ्घन राजयक्ष्मा में विशेषतया वर्जित है।

मद्य अपने तीक्ष्णोष्णादि गुणों के कारण धातुओं के पोषक स्रोतों का अवरोध खोल देता है, जिससे धातुओं का पोषण अबाधित रूप से होता है। इस दृष्टि से पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी (पत्रकोल) तथा यव-क्षार से साधित दूध और घृत भी उत्तम हैं। इस से अग्नि भी दीप्त होता है। पिप्पलीवर्धमान का प्रयोग भी उत्तम है। जीर्ण ज्वर, प्लीहा आदि रोगों में भी इसका व्यवहार होता है।

धातुपोषण के सम्बन्ध में आयुर्वेद का एक अन्य भी मत है। अग्निमान्द्य के कारण यक्ष्म-रोगी जो भी खाता है उसका मल ही बनता है। अतः उसके मल की रक्षा विशेष रूप से करे :

सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विट्बलम् ॥

च० चि० ८४२

यक्ष्मा के प्रकोप के कारण भिन्न-भिन्न दोषों के प्रकोपक होते हैं; पर अन्त में तो तीनों ही दोषों का प्रकोप उसमें होता है। अतएव किसी भी कारण से हुए यक्ष्मा में अन्त में भेद करना दुष्कर होता है। सो जिस-जिस दोष का प्रकोप विशेष लक्षित हो उसी की तथा जो लक्षण दृष्टिगोचर हो उसे ही दृष्टि में रख कर चिकित्सा करे।

ऊपर सामान्य चिकित्सा में एक उपाय बाह्य शुद्धि

कहा है। उसका आशय यह है कि, त्वचागत तथा आभ्यन्तर स्रोतों के विबन्ध के मोक्ष के लिए एवं बल को पुष्टि के लिए अभ्यङ्ग, अवगाहन (सिद्ध तेलादि में डुबकी), मर्दन, उत्सादन (उद्धर्तन, उबटन) तथा औषधों के क्वाथ से स्नान करावे । संप्रति महालाक्षादि तैल तथा श्रीगोपाल तैल का एतदर्थ व्यवहार विशेष प्रचलित है ।

रोगी के मन की प्रसन्नता के लिए इष्ट गन्ध, शब्द तथा इष्ट गोष्ठो की व्यवस्था करे ।

बकरी की यक्ष्मा के निवारण में विशेष प्रशंसा है :

अजाशकृन्मूत्रयोधृतस्तृङ्-
मासालयानि प्रतिसेवमानः ।
स्नानादिनानाविधिना जहाति
मासादशेषं नियमेन शोषम् ॥

सु० उ० ४१।५६

अर्थात् पुरुष एक मास निरन्तर बकरियों के साथ उन्ही के मध्य रहे, उनके ही दूध, घृत, मांस, मूत्र का भोजन, स्नानादि के रूप में सेवन करे, तो वह अय से निश्चित मुक्त होता है ^२ ।

१—रोगी का मन यों भी बलहीन हो जाता है । उसे सान्त्वना देने के स्थान पर, विशेषतया हिन्दुओं में, आगन्तुक मित्र अपने मुख-विकार, संभाषणादि से उलटे घबरा देते हैं । चिन्ता हृदय और रसधातु को क्षीण कर रोग की अभिवृद्धि करती है । गणना से विदित हुआ है कि यक्ष्मा भिखारियों को प्रायः नहीं होता । उसका कारण उनका चिन्तशून्य जीवन ही बताया जाता है ।

२—आधुनिकों ने बकरी को यक्ष्मा के लिए अगम्य कहा है । इस कारण किसी अचिन्त्य प्रकार से उनका उक्त विधि से उपयोग करने से यक्ष्मा में लाभ होता है, या बकरियों के दूध, मांसादि में सर्वौषधिभक्षणजन्य रोगहारिणी शक्ति से गुण होता है, अथवा उनके साथ रहने से सूर्य, वायु, अविकृत भूमि आदि के कारण स्वास्थ्य होता है, यह विचारणीय है । परीक्षा करके देखना चाहिये ।

कई वैद्य अजारक्त भावित अभूक भस्म को स्वयं विशेष गुणकारी बताते हैं ^१ ।

इसो प्रसंग में सुश्रुत ने आगे कहा है—विधिवत् रसोन-योग का सेवन, दूध के साथ नागबला का उपयोग, पिप्पला का प्रयोग किंवा शिलाजतु के गिगभित सेवन से यक्ष्मा दूर होता है । रसोन के विधिवत् सेवन की विधि यह है—“एक कलीका लहसुन छिलका उतारा हुआ तथा दो सौ दाने यवकूट विडङ्ग दोनों को बीस तोले गाय के दूध तथा समांश जलमें डाल मन्दाग्नि पर पकावे । क्षीर शेष रहने पर छान, सितोपला (मिसरी) और एलाबीज डाले । प्रयोग जैसे-जैसे सहन होता जाय वैसे-वैसे दोनों द्रव्यों की मात्रा बढ़ाए । बढ़ाकर १५ कली लहसुन तथा ५०० दाने विडङ्ग तक ले जायँ ^२ ।

उक्त सामान्य चिकित्सा में यक्ष्म-रोगी के जितेन्द्र होने का आशय यह है कि, उसे शोक, क्रोधादि आवेशों तथा मैथुन से ^३ विशेषतया बचकर रहना चाहिए ।

१—कइयोंके मत में अश्रक का किसी भी रूप के क्षय में उपयोग व्यर्थ होता है ।

२—देखिये—सिद्धयोगसंग्रह ।

३—हॉस्पिटलों में स्त्री-परिचारक आयुर्वेद-विरुद्ध व्रणप्रकरण में सुश्रुत ने लिखा है—

गम्यानां च स्त्रीणां संदर्शनसंभाषणसंस्पर्शनानि दूरतः परिहरेत् ।

स्त्रीदर्शनादिभिः शुक्रं कदाचित्चलितं भवेत् ।
ग्राम्यधर्मकृतानां दोषान् सोऽसंसर्गोऽप्यवाप्नुयात् ॥

सु० सू० १९।१३-१४

—व्रणरोगी को स्त्रियों के दर्शन, संभाषण और संस्पर्श से भी दूर से बचकर रहना चाहिए । इन क्रियाओं से स्त्री चलित होकर संसर्ग-समान ही हानि होती है ।

यक्ष्मादि जिन भी रोगों में मैथुन वर्जित है, सब के लिए आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है । ऐसी स्थिति में आतुराल्लों में स्त्री-परिचारिकाओं (नर्सों) का स्थान आयुर्वेद-विरुद्ध सामाजिक दृष्टि से भी यह विचारणीय है ।

धातुक्षय बहुत बढ़ न जाय अतः पूर्ण शारीर-मानस विश्राम आवश्यक है।

यक्ष-रोगी के ज्वर में सामान्यतः अमृता (गिलाय) उत्तम है। इसके घन (रसक्रिया) की बटी (संशमनी) का उपयोग करे, किंवा शीत-कषाय (हिम) का सेवन करावे। यक्ष-रोगी को श्वाप उरस् (प्राणवह स्रोतों) के वात या ग्लेष्मा से विवद्ध होने से होता है। अतः दोषों की अधिकता होने से आवश्यकता हो तो प्रथम मृदु वमन-विरचन द्वारा कोष्ठ-शोधन करे। इसके लिए प्रथम स्नेहन-स्नेदन कर ले। वमन-विरचन भी स्नेह-युक्त दे।

श्वास के लिए सितोपलादि चूर्ण, तालीसादि चूर्ण तथा वासा के योग उत्तम हैं। कफ का प्राधान्य होनेपर त्रिकटु, पञ्चकोल, पुष्करमूल, कण्टकारी आदि उत्तम हैं।

धातुक्षय (रक्तक्षय, मांसक्षय, शुक्रक्षय) के लिए उप-युक्त मांस के प्रकार उत्तम हैं। अण्डों का सेवन भी सयः फलदायी है। कई वैद्य दूध में अज्जीर उबलवा कर देते हैं। अनुपान रूप से नवनीत (मक्खन) और सितोपलादि का व्यवहार कराने से धातु पुष्ट होने से औषध यथार्थतः गुण-वती सिद्ध होती है, उसके बिना प्रायः नहीं। ये विबन्ध को भी दूर करते हैं। मांस का सेवन न करना हो तो अश्व-गन्धा, बला, सिता, द्राक्षा, दूध, घी आदि बृंहण द्रव्यों तथा लक्षादि तैल का आश्रय ले। चक्रदत्त ने दूध के साथ नागबला के मूल की बहुत प्रशंसा की है।

उरःक्षत में अथवा यक्ष्मा के उपद्रवरूप में रक्तवमन हो तो लाक्षा-सिद्ध दूध का उपयोग करे। दो-तीन मापा तुवरी (फिटकरी) भी दूध से तत्काल फँकायी जाती है। पैक्तिक रक्तवमन में लाक्षा के अतिरिक्त वासा का निरन्तर उपयोग अति प्रशस्त है। अपत्यपथ आदि किसी भी मार्ग से रक्त या पित्त के प्रकोप (शरीर में उष्णता) के कारण रक्त का स्राव (रक्तपित्त) हो तो वासा का प्रयोग करना चाहिए। रक्तवमन न होने देने के लिए प्रारम्भ से ही

तुवरी का प्रयोग करे। पित्ताशान्ति तथा पित्तजन्य ज्वर, वमन, रक्तवमन आदि के उपचाररूप में मुक्ता, प्रवाल आदि का उपयोग करे। ये द्रव्य संधानीय होने से क्षयजन्य वर्णों का रोहण भी करते हैं। स्वरभङ्ग तथा द्विका में ऊपर कहे द्रव्यों का यथादोष उपयोग करे। दाह में भी वासाघृत आदि वासा के योगों का आभ्यन्तर उपयोग करे। बने तो शतधातु घृत का अभ्यङ्ग करे।

हाल में वैद्य लोग राजयक्ष्मा में रसयोगों का पुष्कल उपयोग करते हैं। इन में सर्वाङ्गमुन्दर, जयमङ्गल, वसन्तमालती—इन सुवर्ण के योगों का विशेष व्यवहार होता है।

हेमगर्भ तथा चतुर्मुख की भी प्रशंसा है। अम्रक, मृगाङ्ग तथा लोकनाथ (पिछले दो में कपर्द तथा शङ्ख पड़ते हैं) भी काम कर जाते हैं। च्यवनप्राश और एलादिरसायन का कृशता आदि के लिए व्यवहार उत्तम है। अमृतप्राशा-वलेह, जो एक प्रकार का सिद्ध घृत है, उसका भी अच्छा प्रचार है। इसमें बृंहण औषधों के अतिरिक्त अजा-यकृत भी डाला जाता है।

सस्ते और अपेक्षया अधिक गुणकारी होने से सितो-पलादि चूर्ण और अमृता का ही व्यवहार ग्रामवैद्य यक्ष्मा में करते हैं। इतना भी द्रव्य-व्यय रोगी न कर सके तो उसे अमृता का शीतकषाय स्वयं घर पर बनाकर नियम से लेने की सलाह दी जाती है। विशेष गुणाधान के लिए अमृता-चूर्ण के साथ कृष्ण-जीरक और किराततिक्ता भी मिला सकते हैं। परन्तु ये द्रव्य तभी गुण कर करते हैं, जब अनुपान में नवनीत-सितोपला हों। भोजन में अण्ड और मांस का सेवन, किंवा अज्जीर-सिद्ध दूध गुणवत्ता को और बढ़ा देते हैं।

१—इन तथा अन्य सुवर्ण के योगों का यक्ष्मा या अन्य किसी भी रोग में व्यवहार करते हुए स्मरण रखना चाहिए कि, सुवर्ण कड़्यों के लिए प्रकृति-विरुद्ध होता है—उनमें इससे सेवन से विकार उत्पन्न होते हैं।

पाण्डुरोग तथा कामला^१

पाण्डुरोग का सामान्य परिचय—

दोष, मुख्य करके पित्त, अपने-अपने (प्रकोपक) कारणों से प्रकुपित होकर, हृदय में पहुँच वहाँ से दस धमनियों द्वारा सारे शरीर में पहुँचते हैं। कफ, वात, त्वचा, रक्त और मांस इस पित्त द्वारा विकृत होते हैं। यह पित्त त्वचा और मांस के मध्य में स्थित हो त्वचा को पाण्डु, हरिद्रातुल्य, हरित इत्यादि विभिन्न वर्ण की कर देते हैं। इनमें पाण्डुता विशेष होती है, अतः इस रोग को पाण्डुरोग कहते हैं^२। इसमें रोगी शिथिल; वर्ण, बल और स्नेह-रहित; क्षीण ओजवाला; अल्प रक्त और मेदवाला तथा निःसार होता है।

दोष-दृश्य—

पाण्डुरोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा मृदक्ष्ण इन पाँच कारणों से होता है। इनमें मृत्तिका भी दोषों को प्रकुपित करके ही पाण्डुरोग का कारण होती है। सर्व दोषों में पित्त मुख्य दोष तथा रक्त मुख्य दृश्य होता है। व्यायाम, अम्ल, लवण, मद्य, मृत्तिका, दिवास्वप्न, अतितीक्ष्ण पदार्थ—मुख्यतः इन कारणों से दोष प्रकुपित होकर त्वचा में आकर पाण्डुरोग को उत्पन्न करते हैं।

पूर्वरूप—

हृदय-स्पन्दन^३, रूक्षता, स्वेदनाश, श्रम, त्वचा का अवदरण (स्फुटन, फटना), ष्ठीवन (थूक पड़ना) अङ्ग-

१—च. चि. १६; स. उ. ४४; वा. नि. १३।१—२०।

२—प्रायः पाण्डुरोग के लिये Anæmia—एनीमिया शब्द का व्यवहार होता है। परन्तु एनीमिया का शुद्ध पर्याय 'रक्तक्षय' है। रक्त के अतिनाश से उसके मूलभूत पित्त की वृद्धि होकर त्वचा में पाण्डुता तथा अन्य लक्षण पाण्डुरोग में विशेष होते हैं। रक्तक्षय पाण्डुरोग का एक अंग है।

३—इसमें हृदय के वाम ग्राहक प्रकोष्ठ से वाम क्षेपक कोष्ठ में जानेवाले रक्त के प्रतिसरण (Regurgitation-रोगजिटेशन पीछे लौट आना) की भी गणना करनी चाहिए। इसके कारण हुए शब्द-विशेष को Hoemic murmur—'हीमिक मर्मर'

साद, मृदक्ष्ण की इच्छा,^१ अक्षिकूट (आँख के ऊपर का भाग, जिसपर भौं रहती है) का शोथ,^२ मलमूत्र को पीतता, मन्दाग्नि, अजीर्ण।

सामान्य लक्षण—

कर्णनाद, अग्निमान्द्य, दौर्बल्य, साद (शैथिल्य), अन्न-द्वेष, श्रम, भ्रम, गात्रशूल, ज्वर, श्वास, गौरव, ओजोनाश, अरुचि; शरीर मर्दित, पीडित या मथित प्रतीत होना; अक्षिकूट का शोथ; त्वचा हतप्रभ तथा हारित होना, रोष गिरना, क्रोधयुक्तता (खीज), शीतद्वेष,^२ निद्रा, ष्ठीवन, अल्पवाक्, पिण्डिकाओं में (जाँघों में) उद्वेष्टन (मरोड़े जाने की-सी वेदना); कटि, ऊरु, तथा चरणों में वेदना और साद (पैर पानी-पानी हो जाना); आरोहण (सीढ़ी आदि उच्च स्थान पर चढ़ना) तथा श्रम से इन लक्षणों में वृद्धि।

दोष-भेद से पाण्डुरोग के लक्षण—

वातज पाण्डुरोग—नख, त्वचा, पुरीष, मूत्र, नेत्र और खिराओं की रूक्षता, तथा कृष्ण-अरुणवर्णमिश्र पाण्डुता; तोद, कम्प, भानाह; भ्रम, अंगमर्द, शूल, पार्श्वशूल, शिरःशूल, पुरीष की शुष्कता, मुख-वैरस्य, शोफ, बलक्षय।

पित्तज पाण्डुरोग—रोगी के नख, नेत्र, त्वचा, सिरा, पुरीष, मूत्र, मुख पीत, हरित-सदृश होना; ज्वर, दाह, तृषा, पिपासा, मूर्च्छा, स्वेद, शोतेच्छुता, अन्नद्वेष, मुख का रस कटु होना; उष्ण तथा अम्ल अनुपशय होना; अन्न पचने पर अम्लोद्गार, विदाह; दौर्गन्ध्य; पुरीष रव या अर्धद्रव होना; दौर्बल्य, तम।

कहते हैं। द्रव द्रव्यों के प्रवाह की विपरीत गति का वाचक प्रतिसरण शब्द प्राचीन है। देखिये: प्रकुपित बाह्य वायु के कर्मों में च० सू० १२।८ में—प्रतिसरणमापगानाम्।

१—Chthonophagia—थॉनोफेजिया।

२—मोजन के पश्चात् यह लक्षण विशेष देखा जाता है। उस काल रक्त अग्निस्थान में जाने से त्वचा में उसका प्रमाण अल्प हो जाता है, अतः शीत-प्रतीति होती है।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

७६६

कफज पाण्डुरोग—त्वचा, नख, नेत्र, मल, मूत्र, सिरा इनकी शुक्लता^१; गौरव, निद्रा, वमन, प्रसेक (लालास्राव), रोमाञ्च, साद, मूच्छा, अम, क्लम (श्रम-विना थकावट), श्वास, कास, तन्द्रा, आलस्य, अरुचि, वाणी का ग्रह (प्रवृत्ति न होना), स्वरग्रह; कटु, रुक्ष, उष्ण की इच्छा; श्वयथु (शोथ), मुखमाधुर्य।

सन्निपातज पाण्डुरोग—इसमें सर्व दोषों के प्रकोप के लक्षण होते हैं। रोगी ज्वर, अरुचि, हृत्तास (लाला-स्राव), छर्दि, वृष्णा और क्लम से पीडित, क्षीण और ज्ञानेन्द्रियों के सामर्थ्य से शून्य होता है। यह असाध्य है।

मृदुभक्षणजन्य पाण्डुरोग—भिन्न-भिन्न मृत्ति-काओं के भक्षण से भिन्न-भिन्न दोष कुपित होते हैं। कषाय मृत्तिका से वायु, ऊपर (खारी) से पित्त तथा मधुर से कफ प्रकुपित होता है। यह रसादि को कुपित करती है, रुक्षता से अन्नपान को रुक्ष एवं स्रोतों को अव-रुद्ध करती है तथा इन्द्रियों की शक्ति, अग्नि आदि को नष्ट करती है। रोगी के गाल, अक्षिकूट, भ्रू, पैर, नाभि और शिश्न पर शोथ; कोष्ठ तथा पुरीष में कृमि^२, अतिसार एवं मल में रक्त और कफ की प्रवृत्ति ये लक्षण होते हैं।^३

१—इस ओर ऐसे पाण्डुरोग में रोगी के लिए 'पूनी-जैसा' शब्द का व्यवहार करते हैं। वय कफप्रधान होने से बालकों में यह विशेष होता है।

२—कृमि गुद या मुखमार्ग से बाहर न निकल कर कोष्ठ में रह कर ही तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करें तो विकार को कृमिकोष्ठ कहते हैं।

३—कई विद्वान् इस रोग का साम्य आधुनिकों के बडिश-कृमि (Hook worm-हुक वर्म; *Ankylostoma duodenale*—एन्कायलोस्टोमा डुओडिनेल) से हुए पाण्डुरोग (*Ankylostomiasis* एनकायलोस्टोमिएसिस अथवा *Uncinariasis*—अनसिनिरिएसिस) से करते हैं। इसमें कृमि ग्रहणी में अपना मुख गाड़कर रक्त चूसते रहते हैं तथा पाण्डुरोग को उत्पन्न करते हैं।

साध्यासाध्यता—

नीचे की स्थिति में पाण्डुरोग असाध्य होता है। १—रोग चिरोत्पन्न एवं रोगी अत्यन्त रुक्षधातुयुक्त हो; २—चिरकाल होने के कारण अंगों में शोथ हो जाय; ३—रोगी यदि वस्तुओं को पीला देखे^४ एवं उसके दन्त, नेत्रादि पीत हों; ४—मल ग्रथित (गाँठोंवाला), अल्प, हरा, कफ-युक्त और पुनः-पुनः आवे; रोगी दीन, श्वेत अवयवोंवाला तथा वमन, मूच्छा और तृषा से पीडित हो; ५—रक्त के क्षय से पाण्डु वर्ण यदि श्वेत में परिणत हो जाय; ६—रोगी के हाथ-पैर तथा मुखपर शोथ हो, परन्तु मध्य भाग (घड़) क्षीण हो; ७—अथवा, इसके विपरीत मध्य भाग शोथयुक्त और हाथ-पैर तथा मुख क्षीण हों; या ८—गुद, शिश्न तथा वृषण पर शोथ हो; ९—वार-वार मूच्छा आवे; १०—रोगी अविरत अर्धमूर्च्छित रहे; ११—रोगी अतिसार तथा ज्वर से पीडित हो जाय।

कामला के भेद तथा लक्षण—

कामला^२ आयुर्वेद में दो प्रकार का कहा गया है : कोष्ठ-शाखाश्रित तथा शाखाश्रित। इन में कोष्ठशाखाश्रित कामला सामान्यतया पाण्डु का ही प्रवृद्ध रूप है। पाण्डुरोग की विद्यमानता में पुरुष पित्तल आहार-विहार का अत्यधिक सेवन करे तो उसका पित्त अति वृद्ध होकर रक्त और मांस को दग्ध (नष्ट) कर देता है। परिणामतया, रोगी के नेत्र, त्वचा, नख और मुख हरिद्रावर्ण हो जाते हैं। उसका मल-मूत्र, रक्त-पीतवर्ण, वर्ण मण्डूक सदृश और ज्ञानेन्द्रियों की असमर्थता—ये लक्षण होते हैं। रोगी दाह, अजीर्ण, दौर्बल्य, साद और अरुचि से पीडित होता है। इस कामला

१—पीला देखना इस विकृतिको अंग्रेजीमें *Xanthopsia*—जेन्थोप्सिया या *Yellow vision*—यलो विज़न कहते हैं।

२—*Icterus*—इक्टेरस: *Jaundice*—जॉण्डिस। कामला शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है।

में पित्त की वृद्धि अत्यधिक होती है। इसमें समस्त शरीर में पित्त का आधिक्य होने से त्वचा, नख, नेत्र और मुख भी पित्तवर्ण होते हैं, साथ ही पुरीष में भी विकृत पित्त के वर्ण दिखाई देते हैं। इस कामला को कोष्ठशाखाश्रित कामला कहते हैं।

कोष्ठशाखाश्रित कामला पाण्डुरोग के बिना भी होती है। पुरुष में पित्त का आधिक्य हो तो, अथवा वह किसी रोग के अनन्तर सहसा अम्ल अन्न का सेवन करे अथवा अन्य अपथ्य करे तो वह कामला-ग्रस्त हो जाता है। उसका मुख विशेष पीतवर्ण तथा तन्द्रा और बल का क्षय होता है। कोष्ठशाखाश्रित कामला की चिकित्सा पाण्डुरोग के समान ही होती है।^१

विरकाल होने पर कोष्ठशाखाश्रित कामला ही असाध्य हो जाता है। तब इसे कुम्भकामला^२ कहते हैं। इसमें धातु अत्यन्त रुक्ष, शरीर शोथयुक्त तथा संधियों में पीड़ा होती है।

शाखाश्रित कामला में पित्त का प्रकोप अल्प होता है। उसका मार्ग शीत, गुरु, मधुर अन्न आदि प्रकोपक कारणों से कोष्ठ^३ में प्रकुपित हुए कफ से अवरुद्ध हो जाता है। परिणामतया, वह महास्रोत में पहुंच नहीं पाता,

१—इस कामला का साम्य Haemolytic Jaundice—हीमोलाइटिक जॉण्डिस से किया जा सकता है। उसमें तत्-तत् कारण से रक्त (रक्तकणों) का विनाश होकर उनके विघटन से याकृत पित्त (Bile) की प्रभूत उत्पत्ति होती है तथा उसके वर्ण त्वचा आदि में फैलते हैं।

२—गुजराती में इस स्थिति का 'कमरी' यह विशेष नाम है।

३—प्रत्यक्ष से विदित हुआ है कि विकृति इस कामला में यकृत में होती है। अतः कोष्ठ शब्द से कोष्ठाङ्गविशेष—यकृत—का ही ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद-मत से उसमें कफ-प्रधान विकृति (शोथ) होकर पित्तवह स्रोतों (Bile capillaries—बाइल कैपिलरीज़) का अवरोध होता है। पहले एंजेलोपेथी में भी ग्रहणी या पित्त-प्रसेक (Bile-Duct—बाइल-डक्ट) में ही कफ का प्रकोप मान कर इसे Catarrhal Jaundice—कटारल जॉण्डिस कहते थे। अब नवीन संप्राप्ति के अनुसार इसे Infective Jaundice—इन्फेक्टिव जॉण्डिस कहते हैं।

जिससे मलरज्जक पित्त का मल से संपर्क न होने से रोगी का मल तिल के कलक (लुगदी) के समान (किंचित् श्वेत-नील)^१ होता है। अवरुद्ध हुए पित्त को रुक्ष, शीत अथवा व्यायाम, वेगावरोध—इन कारणों से कुपित हुआ पाण्डुराखाओं^२ में फँकता है, जिस से रोगी की त्वचा, मूत्र और नेत्र हरिद्रावर्ण होते हैं; परन्तु पूर्वोक्त कारणवश मल श्वेत-नील होता है, कोष्ठशाखाश्रित के समान पित्त वर्ण नहीं। विशेषतः रोगी आटोप (वेदनासहित आध्मान), विष्टम्भ (वात-मल की अप्रवृत्ति तथा उदर में तनाव), हृदय में गौरव, दौर्बल्य, मन्दाग्नि, पाश्चेशूल, ह्रिका, श्वास, अरुचि और ज्वर—इन लक्षणों से पीडित होता है। इसमें कफ का प्रकोप विशेष होने से चिकित्सा भी कफ के प्रशमन को लक्ष्य में रख कर करनी चाहिए।^३

साध्यासाध्यता—

१—पुरुष का मल-मूत्र कृष्ण-पीतवर्ण हो गया हो, शोथ अत्यधिक हो; अथवा २—उसके नेत्र, मुख, वसन, पुरीष और मूत्र सरक्त हों; उसे रलानि (उदासी) खूब हो; ३—रोगी दाह, अरुचि, तृषा, आनाह, तन्द्रा, मूर्च्छा से पीडित हो, उसका अग्नि नष्ट हो गया हो तो उसकी शीघ्र मृत्यु होती है।

हलीमक—

पांडु का वर्ण यदि हरा-सलेटी (श्याव) - पीला हो, बल और उत्साह का नाश, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मृदुज्वर, स्त्रियों के प्रति आकर्षण का अभाव, अङ्गमर्द, श्वास, तृषा, अरुचि और भ्रम हों तो यह वात-पित्तप्रकोपजन्य हलीमक नामक रोग कहाता है।^३ (क्रमशः)

१—Clay-coloured—क्ले-कलर्ड।

२—शाखा शब्द का अर्थ यहाँ रक्तादि धातु तथा त्वचा है—हाथ-पैर नहीं।

३—सामान्यतया इसे Chlorosis—क्लोरोसिस समझा जाता है। परन्तु कई विज्ञ इसका साम्य Addison's disease एडीसनस डिसीज़ से करते हैं। इस में अधिवृक्क ग्रन्थि के क्ल (Cortex—कोर्टेक्स) की विकृति होकर त्वचा के वर्ण में विकृति, बल और उत्साह का क्षय, स्त्रियों पर आकर्षण न होना आदि चिह्न होते हैं। विशेष जानने के लिए देखिये—

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

आयुर्वेदीय शिक्षा-२

कविराज प्रतापसिंह

ॐ

रसशास्त्र

रसशास्त्र के आचार्यों ने पढ़ाने की एक विशेष शैली नियत की थी जिसकी अभिव्यक्ति निम्नोक्त पद्य में अत्यन्त सुन्दर भाषा में मिलती है।

“अध्यापयन्ति यदि दर्शयितुं क्षमन्ते—

सूनेन्द्र कर्म गुरवो गुरवस्त एव।

शिष्यास्त एव रचयन्ति पुरो गुरुणां—

शेषास्त्वभयामिनयं भजन्ते ।”

पर आज के रस शास्त्र के अध्यापक को यह भी पता नहीं है कि रसाणव, रस-हृदय-तन्त्र, रस-रत्न-समुच्चयोक्त परिभाषाओं का उपयोग कहाँ और कैसे होता है, यही दशा पारद के संस्कारों की है। पारद को शुद्ध कर या हिंगुल से निकाल कर व्यवहार तो किया जाता है पर जारण सारण आदि क्रियाएँ किये बगैर पारद की आणविक शक्ति का उद्बोधन नहीं हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि क्या किसी ने शतगुण गन्धक जारण करके चन्द्रोदय बनाने का यत्न किया है। एक तो इसदिशा में प्रयत्न हुआ नहीं, फिर जिस किसी ने भी पारद के संस्कारों का कार्य किया है वह नगण्य ही है; क्योंकि आयुर्वेद की पाठशालाओं में इस प्रकार की शिक्षा न होने से उस ज्ञान का वास्तविक प्रचार नहीं हो सकता। अतः सर्व प्रथम हमारे वर्तमान आयुर्वेदीय शिक्षणालयों में इस शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन एवं शास्त्रीय रीति से पठन-पाठन का सक्रिय अभ्यास होना चाहिये। इस प्रकार विधिपूर्वक बनी हुई औषधियाँ आतुरालय में रोगियों पर प्रयोग कर विद्यार्थी को उसका फल दिखाना चाहिये और उस औषध की व्यवस्था के साथ-साथ अनुपान, सहपान और पथ्य की व्यवस्था

भी ऐसी सुन्दर और सुगम हो कि विद्यार्थी सर्वत्र उस का उपयोग कर रोगी की सेवा कर सके।

सिद्ध प्रयोगों की आयुर्वेद में कमी नहीं। कमी है उन के प्रयोग करने वालों की। यदि आयुर्वेद के धुरीण सबत्र एक ही पाठ्यक्रम का निर्माण कर सिद्धि प्राप्त कर लें तो आज आयुर्वेद-चिकित्सा में युगान्तर उपस्थित किया जा सकता है। ऐसे ही योगों से आज भी आयुर्वेद जीवित है। यदि इस जीवनी शक्ति को प्रोज्ज्वलित नहीं किया गया तो पंचमूल का कितना ही ज्ञान आप प्राप्त कर लें पर आयुर्वेदीय जीवनलता को आप कुसुमित और फलित नहीं कर सकते। यदि आयुर्वेद की सच्ची उन्नति अभीष्ट है तो सच्चे खनिजों का संग्रह, रासायनिक विश्लेषण का ज्ञान, द्रव्यों के घटक, और शास्त्रीय रीति से उनका शिक्षण परीक्षण विद्यार्थियों को सिखाया जाना चाहिए ताकि भस्म योग्य द्रव्य और भस्मीभूत द्रव्य के अन्तर का ज्ञान उन्हें हो सके।

रस-द्रव्यों के शोधन और मारण की प्रक्रियाएँ आयुर्वेद में बड़े महत्त्व की हैं। कहीं शोधन से ग्राह्य धातु का केवल मृदुत्व प्राप्त करने का ही उद्देश्य होता है—जैसे स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह, आदि। कहीं धातु के अन्दर विद्यमान द्रव्यान्तरों का पृथक्करण होता है, जैसे खपरिया और नाग बंग। इनके खनिजों में से गन्धकादि द्रव्यों को पृथक् करना परमावश्यक होता है, इसीलिये नागबंग को पूरी लौह कह कर स्पष्ट कर दिया है, क्योंकि उस में गन्धक का संयोग रहने से धातु का पृथक्करण अत्यन्त कठिनता से होता है। इस सम्बन्ध में मैंने अपने अभ्रकादि “खनिज विज्ञान” नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा

है, पाठक उसका अवलोकन करें] कहीं शोधन मारण से द्रव्यान्तर संयोजित करने का विधान है, जैसे ताल, शिलाजतु आदि, जिन के संशोधन से गुणान्तर हो जाता है। ऐसी बातें रसशास्त्र में जबतक आधुनिक रसायन शास्त्र के द्वारा विद्यार्थी को समझाई न जावें तबतक रस औषधिनिर्माण कला में सच्ची उन्नति नहीं हो सकती।

निघण्टु

यही दशा हमारे निघण्टु के पढ़ाने की है। जब तक विद्यार्थी को यह न बताया जाय कि काली मिर्च किस और कैसी भूमि में उत्पन्न होती है और किस ऋतु में संग्रह करने से इसमें औषध-गुण अधिक होता है, इसके कितने भेद हैं, श्वेत मिर्च वस्तुतः कृष्ण मिर्च को धो कर, छिलका उतार देने से बनती है, अथवा सहजन के बीज श्वेत मिर्च के नाम से बाजार में बिक रहे होते हैं, आदि बातों का ज्ञान जबतक न हो तबतक औषध-निर्माण में गुण-विधान नहीं हो सकता।

लौंग, जायफल, जावत्री, इलायची, कूठ, अज-वायन और सौंफ की दशा तो यह है कि इन से तेल निकाल लिया जाता है और फिर तेल निकले हुए बाकस को सुखा कर किसी विशेष मात्रा में असली द्रव्यों के साथ मिला कर बाजारों में भेजा जाता है। ऐसे द्रव्यों को व्यापारी सस्ता बेचते हैं। अज्ञ वैद्य जब ऐसे द्रव्य सस्ते के लालच में खरीद कर औषध निर्माण करता है तब भला उत्तम औषध कैसे तैयार हो सकती है? और बिना उत्तम औषध के चिकित्सा में सफलता कैसे मिल सकती है? चिकित्सा

चिकित्सा के विषय में भी थोड़ा विचार करना आवश्यक है। आज जो चिकित्सा प्रणाली प्रचलित है वह पूर्ण शास्त्रीय नहीं है। इसका कारण है शिक्षालयों के साथ परीक्षालयों का अभाव। बिना परीक्षण के विद्यार्थी चिकित्सा-क्रम को समझ नहीं सकता।

उदाहरणार्थ एक क्षय का रोगी ले लीजिये। उसके मुंह से रक्तमिश्रित श्लेष्मा का निर्गम होता है, अंश-पार्श्व में ताप होता है और सर्वाङ्ग-ज्वर रहता है। ऐसी दशा में वैद्य उक्त तीनों लक्षणों को दूर करने का यत्न करता है किन्तु परीक्षणालय के अभाव में वह विद्यार्थी को यह नहीं बता सकता कि फुफ्फुसों में परिवर्तन होने से ज्वर में न्यूनता हुई है अथवा रक्त के अन्दर शक्ति-वर्धन से ज्वर पर प्रभाव पड़ा है और रक्त का निर्गम बन्द हुआ है। यदि फुफ्फुस और रक्त की परीक्षा उसे सिखा दी जावे तो उसे अपनी औषधियों के प्रभाव का दृढ़ विश्वास हो सकता है और वह अपने रोगी की अच्छी तरह चिकित्सा कर सकता है। यही दशा प्रमेह रोग की है। आज का भारत इस रोग से अधिक पीड़ित है, विशेष कर धनिक वर्ग। इस वर्ग को बार-बार मूत्र-परीक्षा कराने की आवश्यकता रहती है। यदि वैद्य स्वयं मूत्र परीक्षा कर यह सिद्ध कर देता है कि उसकी औषध सेवन करने से मूत्र में जाने वाले शर्करादि क्रमशः न्यून हो रहे हैं तो रोगी चिर काल तक चिकित्सा का लाभ उठाता है अन्यथा वह भटक जाता है और अन्य चिकित्सा-प्रणालियों का सहारा लेता है। इस दशा को सुधारने के लिये प्रत्येक वैद्यक-विद्यार्थी को रक्त और मूत्र की परीक्षा सिखा देनी चाहिये। इसका सिखाना कठिन नहीं है। बाजार में सब सामान बना-बनाया तैयार मिलता है। केवल उसका उपयोग मात्र सिखाने की आवश्यकता है और उसके उपयोग से जो ज्ञान होगा उससे नवीन आविष्कार करने की प्रवृत्ति होगी और इन परीक्षणों का भारतीयकरण सहज में हो सकेगा, क्योंकि अनेक परीक्षण तो इतने सरल हैं कि केवल द्रव्यों के नाम और गुण जानने की आवश्यकता है।

आशा है कि वैद्य समाज इन परामर्शों पर तत्परी-रता से विचार कर पाठ्यशैली के सुधार में सहयोग प्रदान करेगा क्योंकि बिना पाठ्यक्रम में सुधार किये आयुर्वेद की उन्नति नहीं होगी।

आयुर्वेद में संशोधन और संवर्द्धन

वैद्य ब० स० येरकुण्टवार

ॐ

कृत लेख में प्रत्यक्षदृष्टता के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से संक्षेप में विचार प्रकट किये गये हैं। यद्यपि क्रमानुसार प्रस्तुत लेख में शास्त्र-दृष्टता पर ही विचार करना समीचीन है, किन्तु उसके पूर्व एक नवीन विषय का विवेचन यहाँ अत्यावश्यक हो जाता है। वह विषय है वैद्यक-शास्त्र और समाजशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध। वैद्यक शास्त्र के इतिहास (History of medicine) के पाठकों को यह बात भलीभाँति विदित है कि वैद्यकशास्त्र का समाज रचना से गहरा सम्बन्ध है। समाजशास्त्र के अध्ययन का महत्व आधुनिक युग में अधिक समझा जाने लगा है और इस शास्त्र में लोगों की अभिरुचि दिनानुदिन बढ़ती जा रही है। वैद्यक शास्त्र और समाजशास्त्र में कितना गहरा सम्बन्ध है, यह डा० डनवार की समालोचना 'Rapproachment of Sociology and Psycho-somatic medicine (Emotions and Bodily changes)' से प्रकट होता है।

वैद्यक शास्त्र की ऐतिहासिकता प्रसिद्ध है। सामाजिक घटना प्रवाहों के प्रभावों से वैद्यकशास्त्र इस कारण थोड़े बहुत रूप में प्रभावित होता रहा है। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही विभिन्न वैद्यक-पद्धतियों की प्रकृति और तदनुरूप संशोधनात्मक उपायों के सम्बन्ध में विचार किया जा सकता है। किन्तु रोना इस बात का है कि विचारवानों का ध्यान इस ओर नहीं है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार

करने पर यह कहना पड़ता है कि मार्क्सवाद को कुछ अंश तक ग्रहण करना होगा। यह स्वीकृत सत्य है कि मानव जीवन की रचना में वैद्यकशास्त्र का बड़ा हाथ होता है। वैद्यकशास्त्र के आधार एवं दिग्दर्शन पर ही संस्कृति और समाज की रचना अभीष्ट है। वैद्यकशास्त्र चूँकि विज्ञान है, इसलिए उसमें समयानुसार परिवर्तन होते ही रहते हैं। किन्तु इस परिवर्तन से वैद्यक शास्त्र की महत्ता घटती नहीं, प्रत्युत बढ़ती ही है। समाज और संस्कृति के स्वरूप को परिवर्तित करने वाला वैद्यकशास्त्र भी साथ ही साथ बदल जाता है—इस सत्य की प्रतीति होने पर नव्य और पुराणवाद का ममेला बहुत अंश तक दूर हो प्रायेगा।

एलोपैथी, होमियोपैथी और आयुर्वेद—इन तीनों ही पद्धतियों के कुछ आधारभूत तत्वों एवं दृष्टांतों को समन्वित रूप में लेकर चलने से विषय का निरूपण स्पष्ट होगा। इस तरह के स्पष्टीकरण से संशोधन और समन्वय—इन दोनों की दिशाओं का बोध हो सकेगा। इन तीनों पद्धतियों के तात्त्विक निदान-विषयक छोटे-छोटे सिद्धान्त देखे जायँ तो यह मालूम होगा कि वैद्यक-शास्त्र के अपरिवर्तनीय अंग में ये तीनों ही पद्धतियाँ परस्पर समन्वित हैं। किन्तु उन अंगों में, जिनमें परिवर्तन के लिये गुंजायश है, इन पद्धतियों में जहाँ कुछ विरोध और औदास्य मलकता है, वहाँ समता भी लक्षित होती है। इनके परिवर्तनीय अंगों पर ही सामाजिक तथा ऐतिहासिक

परिवर्तनों की छाप रहती है। आधुनिक विज्ञान के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक तथा शास्त्रवेत्ता जे० डब्ल्यू सुलिब्हन ने अपने ग्रन्थों में इस तत्व की संक्षेप में अति सुन्दर व्याख्या की है। यह विद्वान अपने एक ग्रन्थ में कहता है—

The history of science is not the history of some sort of automatic developement. The actual course that science has persued depends very largely on the types of mind which, as historical accidents, happen to have risen to the level of genius at favourable instants ("Limitations of Science" P. 220)

यही विद्वान अपने दूसरे ग्रन्थ में लिखता है—

The history of Science, even as it has been sketched in this volume, makes us suspect that science is fairly flexible construction. One very important conditioning factor of scientific theories the contemporary state of scientific instruments. A scientific theory has reference to observations and these observations are conditioned by the instruments used in making them. But there is no convincing reason to suppose that a given set of observations uniquely determined a scientific theory. We have to allow, also, for the type of mind which, as an historical accident, attains the level of genius at that moment" (The Basis of Modern Science, P. 197)

सुलिब्हन का प्रतिपादन अत्यन्त मार्मिक, गंभीर और सुन्दर है। प्रत्येक काल खण्ड में जो कुछ शास्त्रीय उपकरण और सामग्री रहती है, उसका और प्रभावशाली प्रज्ञावन्तों के उत्कृष्ट विचारों का प्रभाव शास्त्र-सिद्धान्तों के उद्भव एवं विकास पर अनिवार्य रूपसे पड़ता ही है। गो कि उसने (डा० सुलिब्हन) पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में ही ऐसा कहा है, तथापि अंगभूत व्यापकता के कारण अन्यान्य विज्ञानों के लिए भी यह लागू होता है। आयुर्वेद की शास्त्र दृष्टता इन्हीं दो कारणों के वैशिष्ट्य से पैदा हुई है —

उसे आगे विस्तार से कहेंगे। विषय को अच्छी तरह समझने के लिये मार्क्सवाद का अपघात और नियति के बारे में जानकारी प्राप्त करना अधिक सहायक सिद्ध होगा, अतएव पहले इसी विषय की विवेचना प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मार्क्सवाद के अपघात और नियति (Accident and necessity) के सम्बन्ध में जो विसंवादा है उसे यहां हम छोड़ देते हैं। किन्तु यह मानना होगा कि इतिहास के प्रवाह में अपघात और नियति मूलतः अथवा आपाततः अवश्य रहती है और इन दोनों का स्वतंत्र रूप से उसपर प्रभाव पड़ता है। वैद्यक शास्त्र के इतिहास में यह सत्य नितान्त प्रतीत होता है। डा० सुलिब्हन का यह प्रतिपादन कि शास्त्रीय-ज्ञानसम्पादन में साधन-सामग्री और प्रज्ञावानों की व्यापक बुद्धि आवश्यक होती है, वैद्यक क्षेत्र में लागू होता है। यों तो पदार्थ-विज्ञान (Physics) पूर्णतया विषयरूप (objective) होता है, फिर भी वैयक्तिक अंश (personal factor or element) उस में भी रहता ही है, इसका युक्तियुक्त विवेचन सुलिब्हन ने किया है। पाइन्के नामक एक फ्रेंच गणितज्ञ ने उसी तत्व का प्रतिपादन किया था। उसका प्रतिपादन यह था कि गणित के क्षेत्र में तात्त्विकों की भिन्न-भिन्न मनोजातियाँ रहती हैं। यही कारण है कि एक शास्त्रज्ञ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त एवं तर्क प्रणाली का दूसरे शास्त्रज्ञ के लिये खण्डन करना चाहे संभव न हो, किन्तु उसे वह पसन्द नहीं करता। शास्त्रज्ञों में जो भिन्नता दिखायी देती है, वह पाइन्के के मत से मूलगामी है। वर्तमान युग में आइन्स्टीन, एडिंगटन प्रभृति शास्त्रज्ञों (वैज्ञानिकों) के सम्बन्ध में यह कथन लागू होता है। एक वैज्ञानिक किसी दूसरे वैज्ञानिक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा सत्त्यों (truth) को सच्चा

सन् १९५१]

आयुर्वेद में संशोधन और संवर्द्धन

८०५

गलत नहीं बता सकता। हाँ, तर्क प्रणाली से उसका मतभेद हो सकता है। वस्तुतः देखा जाय तो सब तरह के शास्त्रज्ञों को प्रचलित शास्त्रीय उपकरणों का साहाय्य प्राप्त करना ही होता है। किन्तु ऐसा होते हुए भी सिद्धान्त भेद होता है। अतएव, यह भेद अधिकांश में भिन्न मनोजातिमूलक है, ऐसा मानना पड़ता है। आधुनिक शास्त्रीय विवादों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मनोजाति की विभिन्नता शास्त्रीय उपकरणों से भी महत्वपूर्ण होती है।

शास्त्रीय उपकरणों की इतिहासाधीनता और प्रज्ञावानों के तद्विषयक नियम उपनियम अन्यान्य विज्ञानों की भाँति वैद्यक विज्ञान में भी लागू है। वलिक ऐसा भी कहा जा सकता है कि वैद्यक शास्त्र में शास्त्रीय उपकरणों की अपेक्षा प्रज्ञावानों एवं मेधावी शास्त्रज्ञों की व्यापक मनीषा का अधिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि विभिन्न मनोजाति के कारण ही ऐतिहासिक प्रवाह में समाज और संस्कृति की रचना में भिन्नता पैदा हो जाती है। आंशिक रूप में मार्क्सवाद भी इस बात को स्वीकार करता है। वैद्यक विज्ञान के सम्बन्ध में भी यही बात है। पदार्थ विज्ञान की तरह वैद्यक विज्ञान के क्षेत्र में भी विषय-रूपता (Objectivity) की सम्भावना नहीं। कारण यह है कि विषय ही स्वभावतः अधिकांश में विषयीरूप (Subjective) है। सधारणतया यह बात ध्यान में नहीं आती। इसलिए ऐसा प्रश्न उठाया जाता है कि मानव शरीर की भौतिक सृष्टि की एक स्पष्ट वस्तु होते हुए भी उसके सम्बन्ध में ज्ञान देने वाली विभिन्न वैद्यक शाखाओं में भेद और विरोध क्यों है? सामने रखे हुए नमक के ढेले के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारवान लोग एक राय रखते हैं और तदुत्तरूप विचार भी व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार

मानव शरीर के सम्बन्ध में भी क्यों न हो? विभिन्न वैद्यक शाखाओं के निर्माण में मनोजाति की मौलिकता कैसी रहती है, इस तत्त्व के विवेचन में अभी जाना अभीष्ट नहीं। यहाँ पर अभिप्राय मात्र इतना ही है कि शास्त्र रचना तथा शास्त्रों के विकास में मानव मन का प्रभाव पड़ता है।

वैद्यक विज्ञान, निदान-चिकित्सा की पद्धति तथा तन्त्रादि के परिवर्त्तनीय अंगों में वैद्यक विज्ञान के परिवर्त्तनीय अंग का समावेश रहता ही है। मानव शरीर की आलोचना करने का जो दृष्टिकोण होता है, वही पूर्णत्व पा जाने पर अपरिवर्त्तनीय अंग बन जाता है। पाश्चात्य वैद्यक विज्ञानों में चाहे वह एलोपैथी, होमियोपैथी, वायोकेमिक हो या और कोई सभी में पूर्णता न होने के कारण उनमें अपरिवर्त्तनीय बातें बहुत कम देखी जाती हैं। परिवर्त्तनीय बातें ही बहुत कम दिखायी देती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जिस मनोजाति से उन पद्धतियों का जन्म हुआ है वह मूलतः अपरिपक्व, अस्थिर, किंवा एकांगी है। इन सभी वैद्यक पद्धतियों का दृष्टिकोण कम या अधिक रूप में गैलीलियो द्वारा प्रवर्तित गणित की पद्धति (mathematical system) का परिपाक है। इसी कारण उन वैद्यक पद्धतियों में मापन, घटनाओं के पृथक्करण एवं विश्लेषण (isolation and analysis) आदि बातों पर ही विशेष जोर दिया गया है। क्षारों के पृथक्करण से आनेवाली परिमितता यद्यपि वायोकेमिक में दिखायी पड़ती है, तथापि होमियोपैथी की ही सन्तान होने के कारण थोड़े बहुत रूप में उस पर भी पाश्चात्यों का दृष्टिकोण ही हावी दिखायी देता है। आयुर्वेद के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता उसका स्वरूप सर्वथा विपरीत है।

आयुर्वेद में दर्शन-स्पर्शन-प्रश्न, कुछ ऐसा ही

रोग परीक्षण का क्रम है। लक्षणों की अनावश्यक सूक्ष्मता और जटिलता आयुर्वेद में नहीं है। इसका कारण यह है कि उसमें 'एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञानं भवति' इस मूल्य के सर्व तन्त्र-सिद्धान्त मौजूद हैं। उसमें औषधियों का संकोच और विस्तार दोनों ही हैं। साथ ही पृथक्कृत औषधियों की अपेक्षा योग, कल्प (Complex, synthetical and not analytical) जैसी संयुक्त औषधियाँ ही अधिकांश में हैं। आयुर्वेद की विशिष्टता को विज्ञापित करने वाली ऐसी अनेक बातें हैं, जो उसकी महनीयता को सिद्ध करती हैं। जिस समाज और संस्कृति में आयुर्वेद प्रतिष्ठित हुआ, वह स्थिर (Stable) था, निगमावस्था (Deductive stage) के कारण अन्तर्मुख था। आयुर्वेद 'श्लोकार्थेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः' इस तरह की अर्थगर्भ वाणी बोलता था, आहार-विहार का आकलन किया हुआ होने के कारण सभी रोगों का मूल उसी में देखता था। एलोपैथी की तरह आयुर्वेद मनुष्य शरीर का ज्ञान जड़-जीव-विहीन यन्त्र के रूप में नहीं रखता था। फलतः साकल्य दृष्टि से (Organisational view) शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा इत्यादि को विभक्त नहीं समझता था। इसी कारण आयुर्वेद में शास्त्र-शाखाओं का अनर्गल विस्तार नहीं हुआ। जटिलता की अपेक्षा सरलता के साथ-साथ उसमें विपुल मूलग्राहिता है। होमियोपैथी के समान आयुर्वेद यंत्रों पर निर्भर नहीं करता; क्योंकि जिस मनोजाति से उसका निर्माण हुआ, उस मनोजाति के लिए यह अशक्य है। दृष्टान्तस्वरूप स्त्री रोगों को ले लीजिये। स्त्री रोगों के बारे में होमियोपैथी जिस प्रकार प्रश्नों की झड़ी लगादेता है, वैसा आयुर्वेद के लिये कर सकना कठिन है। कठिनता इसलिए भी उपस्थित होती है, क्योंकि होमियोपैथी और आयुर्वेद

में दृष्टिकोण का अन्तर है—वह दृष्टिकोण सांस्कृतिक दृष्टिकोण है। पाश्चात्य समाज और भारतीय समाज में स्त्री सम्बन्धी सामाजिक मूल्यों में विभिन्नता है। इसी कारण स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में जीवनमूल्यों के निरूपण में पश्चिम अपने सांस्कृतिक विवेक की उपेक्षा कर देता है, जबकि भारतवर्ष अनेक सहस्र वर्षों से प्रवाहित होनेवाली सांस्कृतिक धारा के साथ बहते रहने का आग्रही है। यही बात बाँयोकेमिक के सम्बन्ध में भी कहनी पड़ती है। होमियोपैथी का ही वह एक प्रतिबिम्ब है। आयुर्वेद में आहार विहार का जो गंभीर और सूक्ष्म विवेचन दिखाई देता है वह अन्य वैद्यक विज्ञान में प्राप्य नहीं है। इसका कारण भी आयुर्वेद का एक विशिष्ट मनोजाति का होना है। उस दृष्टि से आयुर्वेद एक परमोच्च ध्येय का साधन है। यह ध्येय संपादन कर देने में आयुर्वेद यशस्वी है—और आयुर्वेद की प्रतिष्ठा का यही मूल कारण है। इस विशिष्ट मनोजाति के कारण ही उसको तात्त्विक परिपूर्णता प्राप्त हुई है। भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध डा० मूसकर ने उत्तर प्रदेशीय सरकार की एक समिति की प्रश्नावली के उत्तर में जो वक्तव्य दिया था, उसमें वह आयुर्वेद के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखते हैं—

It is a great mistake that any one can commit, when attempts are made to put Ayurveda on the same footing as western medicine. Its theoretical portion will stand the challenge of western medicine for all eternity, for the Tri-dhatu theory with its philosophic and spiritual implications was evolved, like Newton's law of gravitation, for all eternity. Einstein's theory as also the latest atomic theory, may find their seeds of origin in texts of the ancient sages not because the "texts" is discovered after the

(शेर्बा १८०८ वें पृष्ठ पर)

स्वानुभूत चिकित्सा

रक्तज प्रवाहिका एवं उरोग्रह

कविराज अमलाचरण सेन

❀

रक्तज प्रवाहिका चिकित्सा

३० वर्ष की एक हिन्दू रोगिणी ता० २६-६-४३ को आरोग्यशाला में प्रविष्ट हुई। रोगिणी दारुण, रक्तज, प्रवाहिका से ग्रसित होकर रोगारम्भ के आठ दिन बाद आरोग्यशाला में आई। गृहस्थाश्रम में रहने के कारण आहार-विहार का अनियम प्रायः होता ही है। इसी कारण इस रोग ने विशेष रूप से ग्रसित किया। पहले उसे पेट में दर्द होता फिर कई बार आँव संयुक्त मल (दस्त) निर्गत होता। उसके बाद रक्तयुक्त मल निकलने लगा। पहले रोगिणी ने एक होमियोपैथिक डाक्टर की शरण ली परन्तु फिर भी जब रोग उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया, तो उसने एक एलोपैथिक चिकित्सक द्वारा तीन इन्जेक्शन लिए, परन्तु उससे भी रोग के कुछ भी उपशमन न होने पर रोगिणी मेरे चिकित्सालय में भर्ती हुई।

यहाँ भरती होते समय रोगिणी को बीस-पच्चीस बार आमसंयुक्त दस्त हुए और पेट में अत्यन्त दर्द, १०३ डिग्री दो प्वाइण्ट ज्वर, हाथ, पाँव और आँखों में ज्वाला, अत्यधिक दौर्बल्य, हृत्पिण्ड का शीघ्र स्पन्दन, प्रभृति उपद्रव थे। नाड़ी की गति क्रमशः क्षीण से क्षीणतर हो रही थी।

इस अवस्था में पहले मल का गतिरोध, आम-पाक और रक्त बन्द करने के लिए प्रातः मोथा रस और मधु अनुपान से “पीयूषवल्लो रस” सेवन करने दिया गया। ज्वर, पेट की ज्वाला और रक्त-क्षरण बन्द करने के लिए “उशीरादि पाचन” शीतल

करके आठ बजे पीने के लिये दिया गया। पेट दर्द ज्वरवेग और रक्तरोध के लिए “रामबाण” और “श्वेतचूर्ण” एकत्र कर कच्चा दाढ़िम (अनार) के पत्ते और दुर्वा के रस के साथ मध्याह्न में दिया गया। चार बजे श्वेतधूमन और शुद्ध फिटकरी सम-भाग लेकर चार रक्ती मात्रा गुड़ची काथ सहित सेवन करने को दिया। हृत्पिण्ड की दुर्बलता और संध्या समय में नाड़ी अत्यन्त क्षीण होने के निमित्त लवङ्ग-चूर्ण और मधु के अनुपान से “नागार्जुनाभू” एक बटी सेवन करने को दिया जाता था। लवंग हृद्य और आमपाचन, होने के कारण अनुपान रूप में दिया जाता था। पेट की यन्त्रणा असह्य होने पर यवक्षार घोल के साथ पीस करके पेट पर प्रलेप दिया जाता था।

पहले दिन औषधि सेवन के बाद ही रोग अनेक परिमाण में कम देखा गया। दस्त पच्चीस बार की अपेक्षा १५ बार ही हुआ और रक्त का क्षरण भाव भी बहुत कम था। औषधि पूर्ववत् चालू थी। तीन दिन औषधि सेवन के बाद देखा गया कि दस्त चार-पाँच बार हो रहा है वह भी स्वाभाविक रूप में। मल के साथ रक्त बिल्कुल नहीं निकलता। तापमान भी घट कर ९८ डिग्री ४ प्वाइण्ट हो गया। हृत्पिण्ड का दौर्बल्य भी कम था। अब मैंने पाचन बन्द कर दिया परन्तु आमदोष खतम करने के लिए दूसरी औषधियाँ पूर्ववत् चालू रहीं। और सात दिन औषधि सेवन के बाद रोगिणी स्वस्थ होकर चिकित्सालय से चली गयी।

उरोग्रह चिकित्सा

[इस प्रकार के रोगी अत्यल्प देखे जाते हैं]

रोगी की उम्र २८ वर्ष। जाति का उड़िया हिन्दू (नौकर)। ता० ५-३-४२ को चिकित्सालय में प्रविष्ट हुआ।

यहाँ आने के आठ-दस दिन पहले बाएँ हाथ की एक अँगुली में शोथ हुआ। शोथ को छुरी द्वारा चीर देने के कारण ज्वर हो गया और साथ-साथ प्लोहा-यकृत के मध्यस्थल में शोथ और वेदना होने लगी, तब रोगी हमारे चिकित्सालय में आया। निदानादि के द्वारा परीक्षण कर भावी उरोग्रह हम लोगों ने निश्चित किया। क्योंकि रोगी अत्यधिक जल पीता था। और निरंतर पर्युषित (बासी) मांस इत्यादि प्रिय होने के कारण यहाँ आने पर मांस खाने का अत्यधिक जिक्र करता था। दूसरे दिन देखा गया कि क्षत स्थान में विशेष शोथ युक्त एक काला वर्ण कच्छ-प्राकृत मांस-पिंड के रूप में परिणत हुआ है, पिपासा अत्यन्त थी, मल-परिष्कार नहीं होता था। भूख कम हो गयी थी और मांस के अतिरिक्त वह कुछ खाना नहीं चाहता था। रोगी अत्यन्त क्रुश और दुबल होकर पड़ा था।

प्राथमिक चिकित्सा में हाथ के क्षत और ज्वर

को देखते हुए प्रातः शृंगहार के पत्ते का रस और मधु अनुपान से “विद्रावण रस” ३ रत्ती, “माणिक्य रस” एक रत्ती एकत्र कर सेवन कराया गया। अत्रि-उद्रेक और पूर्वोक्त शोथ की वेदना के लिए मध्यह्न में शङ्ख भस्म और “श्वेत-चूण एकत्र कर गर्म जल के साथ दिया गया। अग्रमांस का शोथ और दर्द को नष्ट करके उसे स्वाभाविक अवस्था में लाने के लिये शृंगहार के पत्ते का रस और मधु अनुपान से “रोहितकाच लौह” सेवन करने दिया गया। शोथयुक्त स्थान में गेहूँ, मूँग और यव को अच्छी तरह पीस कर फिर गर्म कर दर्द के स्थान पर प्रलेप की व्यवस्था की गयी। दो सप्ताह के बाद रोहितकाच लौह की जगह “महालक्ष्मी विलास” सहिजना छाल के रस और मधु अनुपान से दिया गया। प्रथम मास के बाद श्वेतचूण और शङ्खभस्म की जगह रोहितकारिष्ट दो तोला दिया जाने लगा। प्रलेप की जगह सहिजना छाल, देवदारु कांजी द्वारा पिसा हुआ गर्म करके दर्द स्थान पर लगाने और चित्रक घृत की मालिश करने की व्यवस्था की गयी। अन्यान्य व्यवस्थाएँ पूर्ववत् चालू रहीं। इससे ही रोगी स्वस्थ हो गया और कच्छप्राकृत पदार्थ भी विलीन हो गया।

शेषांश]

आयुर्वेद में संशोधन और संवर्द्धन

[८०९ वें पृष्ठ का]

latest discovery but because there are none or exceedingly few to read the texts aright. Ayurved and other philosophic sciences had been taken to such extremes of perfection that it is no wonder that nothing new would be added to the same, during the last two thousand years, and nothing new would be added to it during the next ten thousands years. Hyperbolic language this I admit, but it is indeed too true.

डा० म्हासकर के प्रतिपादन में संभव है अतिशयोक्ति हो, परन्तु यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि आयुर्वेद की विशिष्टता का गुणगान सत्य के आग्रहियों को करना ही पड़ेगा।

ऊपर वर्णित सारी बातों का निचोड़ यह है कि भिन्न-भिन्न मनोजाति के कारण ही वैद्यक शास्त्र में भिन्नता उपस्थित होती है। अतएव इस सुलभता को ध्यान में रखकर ही विभिन्न वैद्यक शास्त्रों का समन्वय और संशोधन के द्वारा मंथन होना चाहिए। विषय के विवेचन में बहुत-सी बातें अपूर्ण रह गयी हैं और कई बातों की त्रुटियों का उल्लेख भी हो चुका है। ऐसा विस्तार भय के कारण ही किया गया। आशा है, मर्मज्ञ पाठक प्रस्तुत विवेचन से लाभान्वित होंगे।

पर्पटीकल्प

वैद्य पु. वि. धामणकर



पात्र—पर्पटी-निर्माण में लोह, ताम्र और माहेय पात्र प्रशस्त माने गये हैं, परन्तु ४३१० पर्पटी का द्रव्य-संग्रह समान होनेपर भी अगर ताम्र-पात्रमें बनाई जाय तो ताम्रपर्पटी और लोहपात्र में बनाई जाय तो लोह-पर्पटी इस प्रकार केवल पात्रभिन्नता से उनके नाम भी भिन्न हो जाते हैं। जहाँ पात्रविशेष का उल्लेख नहीं है वहाँ लोह पात्र लेना चाहिये यह साधारण नियम है। कहीं ताम्रपात्र का विशेष उल्लेख किया गया है, उदा० ७८ रसपर्पटी।

माहेय-मिट्टीका—मिट्टीका पात्र भावना सुखाने और उसे दृढ़ बनाने के लिये व्यवहार किया जाता है। आज कल कांचलित चीनी मिट्टी की मूषा कज्जली-पाचन के लिये स्वीकार की जाय तो कोई हानि नहीं है।+

पर्पटी-विधि में पात्र का अर्थ है पलिका। यह दो प्रकार की होती है। एक आड़े में से दण्ड की, दूसरी खड़े दण्डे वाली जैसी कि घी के दूकानदार टीन भेस पी खींचने के काम में लाते हैं। खड़ी दण्डिकावाली पलिका पर्पटी-निर्माण में योग्य नहीं होती है।

+पात्र—लोहपात्रे विनिक्षिप्ता लोहपर्पटिका भवेत्।

ताम्रपात्रे विनिक्षिप्ता ताम्रपर्पटिका भवेत्॥

४३१० पर्पटीरस० मा० म० २० २० २० स०

लोहपात्रेऽथवा ताम्रे । ७७ रसपर्पटी. र. यो. सा. यो.

म. (रसायने)

लोहपात्रे समरसं मर्दितं कज्जलीकृतम्।

५०० विजयपर्पटी० भै० २० २० सु०

प्रदाव्य ताम्रस्य तु भाजने तत्। ७८ रसपर्पटी र. दी.

कारण, द्रव्य गरम हो जानेपर आंच हाथ पर लगनेका भय रहता है, दूसरे कभी कज्जली आग पकड़ ले तो पलिका पर ठकन रखकर आग बुझाने में खड़ी दण्ड की पलिका पर दूसरा पात्र भी नहीं रखा जा सकता है। इसलिये आड़े दंड की पलिका श्रेष्ठ मानी गई है। यह पलिका मजबूत और अन्दर से चिकनी होनी चाहिये, खुरदरी न हो।

बड़ी मात्रा में पर्पटी-निर्माण के लिये कहीं कड़ाही का भी उपयोग करते हैं : पर्पटी तो बनती है परन्तु उसमें एक दोष रहता है—इसमें पर्पटिकाएँ अधिक बन जाती हैं, और खरपाक की सम्भावना अधिक रहती है; अगर यह दोनों दोष बचाये जा सकते हैं तो कड़ाई का उपयोग बुरा नहीं है।

×चषक—का अर्थ है पल। पल=४ तोले। पल शब्द से ही पलिका बना है। अर्थात् पलिका चार तोले की होनी चाहिये। इससे बड़े आकार वाले को 'पला' कहते हैं।

†दंड—पलिका के द्रव्यों को ठीक से मिलाने के लिये तथा द्रव को निःशेष उडेलने के लिये इसकी आवश्यकता होती है। यह कार्य लोह के पतले छड़

+पात्र—चषकं वर्तुलं लौहं विनयोताप्रोर्ध्वदंडकम्।

एतद्धि पलिकायन्त्रं बलिजारणहेतवे। र. र. स.

†दंड—(१) विलोच्य लघुलोहशलाकया।

४३० सु० पर्पटी० वै० क०; २० चं०, नि० २०, यो० २०

(दण्ड पर शेष उद्धरण पृ० ८१० पर देखें)

से या लोह की छुरी से हो सकता है, परन्तु सुधासार आदि में लकड़ी के दण्ड का उपयोग करना चाहिये ।

लोह के गोल छड़ों की अपेक्षा, लोहे के लचीले एवं चपटे छड़ जिनमें लकड़ी का दस्ता लगा हो, कजली मिलाने के लिए उत्तम होते हैं । लकड़ी का दस्ता न होने से लोह का दण्ड गरम हो जाता है । छुरी का सिरा भी गोल नहीं होना चाहिये ; चपटा सिरा होने से द्रव्य मिलाने और उडेलने में सुविधा होती है ।

पात्र, पत्र, काष्ठ आदि का निर्धारण करने के पूर्व उनके द्रव्यसमूह और उससे होनेवाले संयोग की ओर भी अवश्य ध्यान देना चाहिये । उ० ग्रहणीगजकेसरी, सुधासार (अतिसारे) व मृगांकपर्पटी में काष्ठदण्ड का प्रयोग है । ग्रहणी और अतिसार में कुटज-काष्ठ उत्तम माना गया है, इसलिये उन दो पर्पटियों के लिये कुटज काष्ठ-दण्ड का उपयोग करना चाहिये, अर्थात् टेंदू, अनंता, लोध्र के काष्ठ का भी दंड प्रयोग में लाया जा सकता है । ग्रमेहविकार में इस पर्पटी का उपयोग करते हैं अर्थात् मूत्रमात्रा कम करने का कार्य यह पर्पटी करती है, इसलिये तिलनाल, बरगद, उंबर, पीपल आदि के काष्ठ का दण्ड काम में लाना चाहिये, ऐसा उल्लेख किया गया है । इन वृक्षों में यह गुण होते भी हैं ।

(दण्ड पर शेष उद्धरण पृ० ८०९ से आगे)

(२) काष्ठेनालोच्य तत्सर्वम् ।

४२० सुधासार रस० र० र० स० र० कौ० (अतिसारे)

काष्ठेनाऽऽलोच्य तत्सर्वं सद्वंहि समाहरेत् ।

१४३ मृगांग पर्पटी र० र० स० र० कौ० र० सु० (ग्रमेहे)

काष्ठेनाऽऽलोच्य तत्सर्वं क्षिपेत्कुटजपत्रके ।

४२० सुधासार पर्पटी र० कौ० र० सु० (अतिसारे)

तत्काष्ठेन विलोच्य निक्षिपेत्कदलीदले ।

५३८ ग्रहणीगजकेसरी० र० र० स० र० का० (ग्रहण्याम्)

घृत * — का उपयोग स्नेहन कार्य के लिए करते हैं । पलिका, छुरी, पत्र को स्नेह लगाया जाता है, अत्यंत अल्पमात्रा में यह लगाते हैं परन्तु इसका कार्य बड़े महत्व का है । स्नेह से गंधकादि पदार्थ पात्रों को नहीं चिपकते हैं, पत्र को स्नेह लगाने से पत्र गलने नहीं पाता है और कलक भी शीघ्र फैल जाता है, पर्पटी भी पतली बनती है ।

स्नेह कार्य के लिए गौघृत श्रेष्ठ होता है । ७८ रस पर्पटी ६१३१ आ० भै० र० में घत्तूर का संस्कार संयोग करने के लिये कहा गया है, इसलिए वहां घत्तूरबीजतैल का उपयोग करना चाहिए । स्नेह अल्प मात्रा में लगाया जाता है और उसे भी पर्पटी शीत हो जाने पर कपड़े से पोछने को कहा गया है । अगर स्नेह स्वच्छ न किया गया तो कुछ दिनों के पश्चात् घृत की दुर्गन्ध आने लगती है । कभी-कभी पलिक में स्नेह अधिक हो जाने पर उसके कजली में मिल जाने से पर्पटी पूर्ण शुष्क नहीं बनती है और मृदु तथा भरभरी हो जाती है । इस अवस्था में उसे पीसकर ब्लाटिंग पेपर में स्नेह सुबाने के लिए दबाना चाहिये या फिर उसमें अधिक कजली मिलाकर उसका सिन्दूर बना लेना चाहिये ।

* संपुट—दो पात्रों के मुख एक पर एक रख कर

* घृताक्ते लोहपात्रेऽग्नौ दस्तत्वादेकतां गतम् ।

१४१ अत्रपर्पटी

किंचिक्षिपेत्तैलमतश्च बहौ प्रद्रव्य ।

७८ रसपर्पटी

१ गोमयस्यालवालेन स्थापिते कदलीदले ।

४२४ गंधकपर्पटी व० से० र० का०

महिषमलविन्यस्ते तत्र तत् कदलीदले । ७१ रसपर्पटी

१० प्र० सु०

समविनिहितपकंस्थाधिरम्मादलस्थम् । ५० पं० पर्पटी

१० का० र० यो (कासनासे)

दालयेत्कदलीपत्रेऽथवा स्विन्नपटे क्षितौ । ७७ रसपर्पटी

यो० म० (रसावने)

सन् १९४१]

पपटीकल्प

८११

जोड़ देने से संपुट बनता है। परन्तु पर्पटीविधि में इसके लिये गोमय, महिषमल, कर्दम, भूमि इन चार वस्तुओं का आधार लेना पड़ता है। इसमें गोमय का प्रयोग अधिक होता है। पर्पटीद्रव को शीघ्र फैलाने तथा शीघ्र ठण्डा करने के लिये गोमय ही अति उपयोगी है। गोमय विपचिपा, मृदु, कंकड़-पत्थर-रहित होना चाहिये तभी वह इच्छानुसार आकार में फैलाया जा सकता है।

पात्र—पलिका का गंधक अगर आग पकड़ ले तो पलिका को ढकने के लिये (पलिका को दूसरे पात्र से ढक देने पर वायुनिरोध होगा जिससे जलनेवाला गंधक बुझ जायगा) तथा अग्नि तीक्ष्ण होने पर जल छिड़क कर बुझाने के लिये, इन दोनों कामों के लिये जल तथा पात्र की आवश्यकता होती है।

‡ अग्नि—पर्पटी सिद्धि के लिए बेर और खदिर काष्ठ का अग्नि उपयुक्त माना गया है। कहीं बेर (बदरी), कहीं खदिर का वर्णन है। पर्पटी को अग्नि काष्ठ का नहीं देना है अपितु वर्णित काष्ठ के कोकिल (कोयले) का देना होता है; कारण, पर्पटी मिश्रण में गंधक ज्वालाग्राही पदार्थ है इसलिये कोयले का अग्नि प्रशस्त माना है। इस कार्य के लिये मंदाम्नि

‡ निर्धूमांगारके वहौ। १४ ताम्रपर्पटी २० २० स०
गामार्धमृदुनाग्नि ७३ २० पर्पटी

बादरवह्निनातिमुदुना। ४३ पं० पर्पटी २० चं० मै०
१० २० चि० यो० स०

लोहपात्रे खदिराग्नौ। ४८ पं० पर्पटी ० २० (मा)
अग्निमाद्ये।

शुष्कं पुटेष्ठु। आगंधखर्परे। २० चि० २३० मा०
२० २०

कज्जलीरसगंधोत्था सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा। २० २० स०
नष्टसूतं यदाचूर्णं भवेत्कज्जलसंनिभम्। ७१ २० पं०
२० यो० सा०

ही श्रेष्ठ माना गया है, बालुकाग्नि पर अगर यह कार्य किया जाय तो अग्नि का मन्दत्व और स्थिरत्व स्थिर रह कर ज्वालाग्रहण की संभावना भी नहीं रहेगी।

पर्पटी सिद्धि में अग्नि की चार प्रकार से सहायता आवश्यक होती है: (१) खरल करते समय घर्षण कार्य में, (२) पाक करते समय, (३) भावना शुष्क करने के लिये, (४) भावना दृढ़ करने के लिये। पर्पटीबंध स्वयं दृढ़ बंध है फिर भी उसकी भावनाओं को स्थिर रखने के लिये कुछ पर्पटियों को आगन्ध लघु पुट देने के लिये कहा गया है। पर्पटी को भावना देने के पश्चात् धूप में रख कर पूर्ण शुष्क कर लेना चाहिये। फिर पात्र में रख कर मंदाम्नि पर पाक करने से वह पुनः द्रव होगी व गन्धक की गन्ध आने पर भावनाद्रव्य पर्पटी से समिश्र हो गया है यह स्पष्ट होगा। इसलिये गन्धक की गंध आने तक मंदाम्नि चाहिये, यह आगन्ध खर्पर-पर्पटी-विधि है।

प्रक्रिया—(१) पहिले प्रत्येक वस्तु को शुद्ध व शुष्क कर लेना चाहिये। फिर भावना देकर पुनः शुष्क कर लेना चाहिये। पश्चात् फिर प्रथम पारा या स्वर्ण या पारागंधक एकत्र खरल करना चाहिये। पारा-गंधक का मिश्रण कज्जलवत्, चमकरहित होना चाहिये। यह क्रिया होने के पश्चात् उसमें अन्य औषधियां मिलानी चाहिये (उनके सूक्ष्म-चूर्ण को क्रमशः मिलाना चाहिये)। पुनः खरल करना चाहिये। खरल उत्तम होने पर पर्पटी उत्तम बनती है।

(२) गोमय को भली प्रकार से मलकर दो समान भाग करना चाहिये। एक भाग समतल जमीन पर तथा दूसरा भाग कागज पर फैलाना चाहिये।

(३) पलिका, छुरी और पत्र को घृत लगाना चाहिये।

(४) एक पत्र जमीन पर फैलाये गोमय पर इस प्रकार रखे कि वह बीच में कुछ गहरा परंतु सपाट आकार का हो जाय जिससे कज्जली इधर-उधर न बहे।

वेसन के लड्डू (मगद के लड्डू) दो प्रकार से बनाये जाते हैं : (१) वेसन को भूनकर तथा शर्करा मिला कर (२) शर्करा के पाक में भुना वेसन डाल कर, (इस प्रकार का लड्डू अधिक मजबूत बनता है)। इसी तरह पर्पटी-विधि के भी दो प्रकार हैं।

+ शास्त्रीय विधि—प्रथम पलिका में गन्धक को पतला करके फिर पारद मिलाना। इसका मिश्रण हो जाने पर अन्य चूर्ण मिलाएं। यह मार्ग कुछ अट-पटा है, तथा सरल भी नहीं है, इसलिए परम्परा-विधि ही उत्तम मानी गई है।

परम्परागत विधि—पलिका में सर्व द्रव्य मिश्रित कर कज्जली डाल तथा अग्नि पर रख कर जब गन्धक द्रव होने लगे तब छुरी से सब द्रव्य मिलाकर पर्पटी बनाना। छुरी से मिलाते समय कज्जली का कोई अंश बाहर न गिरे इस ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो आग लगने का भय रहता है। अगर आग लग जाय तो पलिका पर दूसरा पात्र रख देना चाहिये जिससे अग्नि बुझ जायगी; नहीं तो पर्पटी भरभरी बनती है। कज्जली का रूपान्तर कीचड़ जैसा होकर उसका रूपान्तर तल जैसे द्रव्य × में होते ही कदलीपत्र पर उसे फैलाकर दूसरे पत्र से दबा कर उसे फैला देना चाहिये।

+ बलिवसां...अति कृशाग्नि कृते द्रवति स्वयम्।

तदनु ताम्ररसौ विनिवेद्य तां तयामिदं सरसं च विमर्दितम्।

६०६६ मा० मै० २० २० ५० २० प्र० सु०

× तावच्च स्थाप्यते यावत्तौलाभो जायते रसः।

१४ ताम्रपर्पटी २० यो सा०

सोरा, गन्धक, फिटकरी, नवसागर यह पदार्थ जिसमें हों उसमें सोरे को प्रथम द्रव करके युक्तिपूर्वक अन्य द्रव्य मिलाना चाहिये, कारण सोरे का द्रव्य बिन्दु ३३६.६ है। सोरे के साथ दूसरे पदार्थ मिलाकर मिश्रण करनेसे अग्निपर रखनेसे सोरा जल तक द्रव नहीं होता, उसके पूर्व ही अगर गन्धक जलने लगता है, नवसागर उड़ने लगता है, फिटकरी का फूला बन जाता है, यह तीनों प्रकार अनिष्ट हैं। इसलिये पर्पटी-द्रव्यों के तापमानों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। अगर भावना देनी है तो उसे खरल में ही घोटते-घोटते सुखाना चाहिये। पुनः मन्दान्नि पर रख कर पूर्ण शुष्क करके उष्णपात्र ही में बोतल में भर कर रखना चाहिये।

सब पर्पटियों में पारागंधक होता ही हो यह आवश्यक नहीं है। कहीं एक होता है, कहीं दोनों ही नहीं। उदा० ६० र. यो. सा. मल्लपर्पटी में पारागंधक नहीं है। उसी प्रकार र. यो. सा. १३१ शीतलपर्पटी में केवल गंधक है। एक बात और भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि बोलपर्पटी और लोहपर्पटी में समगंधक कहा है, वह कम पड़ता है। वहाँ गंधक की मात्रा अधिक लेनी पड़ती है, बादामपाकदि में कहीं कहीं ग्रंथोक्त प्रमाणानुसार शर्करा लेने पर पाक की बड़ी नहीं जमती है। वहाँ शर्कराप्रमाण ठीक कर लेना पड़ता है। साधारणतः अन्य मिश्रणानुसार गंधक लेने पर गंधक का द्रव अच्छा होता है, उसका बंध भी दृढ़ होता है, यह परिवर्तन करने से उसके गुणों में परिवर्तन नहीं होता है।

पाक—शर्करा का पाक (चाशनी) करते समय जैसे परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार पर्पटी के रस के भी होते हैं। पाक के ३ प्रकार होते हैं। उसी प्रकार

÷ अङ्गारैः स्वेदयेत्पश्चात्। ७३ रसपर्पटी २० यो. सा०

सन् १९५१]

पर्वटीकल्प

८१३

पर्वटी के भी मृदु, मध्य और खर पाक होते हैं। यह दो समय पहिचाने जा सकते हैं। (१) अग्निपर पाचन होता है उस समय, (२) पर्वटी तैयार हो जाने पर। अग्निस्थायी रसपाक का दबाव और रंग जिस तरह दो प्रकार का होता है उसी प्रकार सिद्ध पर्वटी की कठिनता और छेद (भंग) से उसका परीक्षण होता है।

अग्निस्थायी रसमृदुपाक—मयूरपंख के रंग का दिखाई देता है।

अग्निस्थायीरस का मध्यपाक—तैल जैसा द्रव बनना।

अग्निस्थायीरस का खरपाक—ताम्राभ रंग का, भर-भरा हो जाना।

सिद्ध पर्वटीपाक—

(१) मृदुपाक—यह भरभरा होता है। इसका भंग समान नहीं होता है। यह पाक टिकाऊ भी नहीं होता है तथा ग्राह्य भी नहीं है।

(२) मध्य पाक—यह कड़ा होता है, शीघ्र टूटता है, टूटते समय 'कट' ऐसा नाद होता है, इसका छेद (भंग) घनत्व के कारण रौप्यसमान श्वेत दिखाई देता है, यह पाक गुणवान तथा प्रशस्त माना जाता है।

(३) खरपाक—अधिक पाक होने से कज्जली में रासायनिक परिवर्तन होने लगता है, अर्थात् कज्जली व पर्वटी के स्वरूप का परिवर्तन सिन्दूर रूप धारण करने लगता है। यह पदार्थ वजन में भी भारी, छेदन में रुक्ष, रंग में ताम्राभ, रूप में चिकना होता है। यह प्रकार त्याज्य ही नहीं, विष समान माना जाता फिर भी कहीं कहीं उसे ग्राह्य माना गया है। उदा० रसपर्वटी वृ. नि. र. भा. भै. र.

पाकोऽस्यास्त्रिविधः प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।

आद्योर्दृश्यते सूतः खरपाके न दृश्यते ॥

त्रिपाकः—पाकोऽस्यास्त्रिविधः प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।

मृदुः—मयूरचन्द्रिकाकारं लिंगां यदि दृश्यते।

पञ्चामृतपर्वटी—४३२ वो० सा० र० चं० भै० र० र०
चि० र० सु० वै० क० र० रसायन सं० रससार सं० र०
का० यो० र०

उपरोक्त श्लोक का दूसरा चरण अनेक ग्रन्थों में इसी तरह मिलता है। मैं इसका स्पष्ट आशय नहीं समझ सका हूँ। कारण, पारद का दिखाई देना सदा ही अनिष्ट है। वह तो पर्वटी का दोष है, क्योंकि पारद-गंधक को खरल कर पारद का अदृश्य हो जाना आवश्यक है, तभी खरल ठीक हुआ माना जाता है। गंधक को द्रव करके फिर उसमें पारद मिलाकर उसे गंधकाधीन करना आवश्यक होता है, इसलिये मृदु या मध्य पाक में पारद कैसे दिखाई देगा? शीतल पर्वटी और मल्लपर्वटी में तो पारद नहीं है, वह पारद दिखाई देगा यह तो संभव ही नहीं है।

सिद्धि प्रमाण—औषधि तैयार करने के लिये जितना द्रव्य लिया जाता है उससे तैयार औषधि कितनी बनी यह तो प्रत्यक्ष प्रयोगाधार से ही निश्चित होता है, उसके स्थूल मान की कल्पना से हानिलाभ का पता चल जाता है।

सिद्ध प्रामाण्य—औषधि का वजन स्पष्ट होता है, अर्थात् वह कितना होना चाहिये और कितना है यह स्पष्ट हो जाता है, परन्तु उसकी उत्तमता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। उस सम्बन्ध में कुछ चिन्ह यहाँ दिये जाते हैं।

तत्र सिद्धिं विजानीयात् वैद्यो नैवात्र संशयः। र० प०
६०६३ मा० भै० र०

मध्यः—तावच्चस्थाप्यते यावत्तैलमो जायते रसः।

१४ ताम्रपर्वटी र० स० चि० र० क० ली० (उवरे)

खरः—रक्तवर्णं भवेद्यावत्तावत्पाच्यं प्रचालयेत्।

६१५४ रुद्रपर्वटी सा० भै० र० वृ० नि० र० र० का० धे०

(१) मृदौ न सम्यग् भंगोऽस्ति (२) मध्ये मल्लद्वय रौप्यवत्।
४३ पं० पर्वटी र० स० र० क० (३) खरेऽलघुर्भवेद्भक्तो रुक्षः
श्लक्ष्णोऽरुणच्छविः। र० चं० र० का०। मृदुर्मध्यौ तथा स्वाद्यौ
खरस्त्याज्यो विषोपमः। भै० र० वै० क० र० चि० र० सु०

पाक—पर्पटी का पाक पहिचानने के लिये विधि पहिले ही लिखी जा चुकी है, अब यहां रसपर्पटी का उदाहरण देकर पाक के कस स्पष्ट किये जाते हैं।

(१) रसपर्पटी तवे पर खुब तपाने पर निःशेष होती है।

(२) रसपर्पटी का पारा बद्ध नहीं हुआ तो पर्पटी स्वर्ण पर घिसने से पारद की कलई सोने पर चढ़ जाती है और सोना श्वेत दिखाई देने लगता है।

(३) रसपर्पटी का चूर्ण काला, जड़, गंध व रुचि-रहित होता है।

(४) आकारमानानुसार वजन।

साधारणतः पर्पटी व चूर्ण में घट-बढ़ नहीं होती है, परन्तु जहां भावना-विधि का उल्लेख है वहां भावना-द्रव्य के जलविद्राव्य कार्यकारी द्रव्यांश या क्षारके मान की वृद्धि होना अपरिहार्य है।

परिगणन—तैयार औषधि के मूलद्रव्य, भावना-द्रव्य, भावनाद्रव्यक्षार का प्रमाण क्या होना चाहिये एवं तैयार औषधि में प्रत्येक द्रव्य कितना होना चाहिये, इसका उल्लेख परिगणना में आता है। उदा० ७७ रसपर्पटी में गंधक $\frac{1}{4}$ व पारा $\frac{3}{4}$ होता है, परन्तु इस प्रमाण से बनाने पर पर्पटी जमती नहीं है।

रोग—पर्पटी का कार्यक्षेत्र भी मर्यादित है। साधारणतः पाचन संस्थान के अन्न की विकृति पर इनका उपयोग किया जाता है; कुछ पर्पटियां केवल एक-एक रोगविशेष के लिये ही उपयोगी होती हैं। उदाहरण :-

रोग.	पर्पटी.
कफज्वर.	रसपर्पटी ६०६५ भा. भै. र.
अन्तर्विद्रधि,	" ७३ र. यो. सा.
मूत्रकृच्छ्र	शीतल पर्पटी १३१, र. सो. सा.
चर्मदल कुष्ठ	चर्मभेदी-कुष्ठान्तप, ८६ र. यो. सा.

रोग, पर्पटी.
उन्माद उन्माद पर्पटी (६१३१ भा. भै. र.)
जिह्वारोग अभ्रपर्पटी १४० र. यो. सा.
गजकर्ण (दाद) पंचामृत पर्पटी, ४४२ र. यो. सा.
स्वरभेद स्वरभेदहर रस, ५६८ र. यो. सा.
काल—के अनेक प्रकार हैं। (१) पर्पटी तैयारी

का काल (कल्पकाल) (२) पर्पटी-सेवनकाल (सेवन काल)। कल्पकाल के विषय में निर्बंध विशेष नहीं है, परन्तु सेवनकाल के विषय में अनेक हैं। उदा०

(१) समय प्रातः ५८१, विजय पर्पटी, र. यो. सा.
(२) नक्षत्र, भरणी, ६०६३, रसपर्पटी, भा. भै. र.
(३) मुहूर्त, ३ दिन, १४ ताम्रपर्पटी, र. यो. सा.
कफ-वात ज्वर के लिये

(४) " ३० दिन, व अन्यरोगों के लिये,
(५) " ४६ दिन, १४१ अभ्रपर्पटी, र. यो. सा.
(६) " ७ दिन ४४ पंचामृत पर्पटी, र. यो. सा.
(७) " २१ दिन, ७३ रसपर्पटी, र. यो. सा.

मात्रा—सेवन-मात्रा का निर्देश कहीं-कहीं ग्रन्थों में अवश्य है फिर भी चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार योजना करनी चाहिये। साधारणतः रोगी को किसी प्रकार का कष्ट न होकर रोग-परिहार शीघ्र हो। इस प्रकार मात्रा और काल का निश्चय करना चाहिये। १ रत्ती से १० रत्ती तक १-१ रत्ती करके बढ़ाकर उसी क्रम से कम करना चाहिये। यह वर्द्धमान-क्रम कहाता है। (१) हीनमात्रा १ रत्ती, (२) मध्यमात्रा

१. प्रभाते भक्षयेदनाम्।

२. भ्रूणावदनीया।

३. त्रिभिर्दिनैः ज्वरो याति श्लेष्मवातादिसंभवः।

वातरक्ते हाजीणेषु ग्रहण्यां कुष्ठरोगिषु।

मासेकैः नियन्त्याशु रोगानेतात् सुदारुणात्।

४. दिनानां सप्तसप्तकैः सेव्या।

५. सप्ताहमेवं भजेत्।

६. त्रिसप्ताहप्रयोगेण चांतस्था चिद्रधिं जयेत्।

सन् १९५१]

पर्पटीकल्प

८१५

२ रत्ती, (३) श्रेष्ठमात्रा ३ रत्ती, (४) अंतर्विद्रधि पर ८ रत्ती तथा कफज्वर पर यही मात्रा ४ रत्ती। कुछ पर्पटियों की मात्रा १ रत्ती की है, यानी ११२।४।८ रत्ती यह मात्रा एक समय दी जाय, या एक दिन में आदि चिकित्सक निश्चित करे।*

अनुपान—शब्द कैसे बना यह पता नहीं, परन्तु औषधि सेवन के साथ जिन पदार्थों की योजना की जाती है उन्हें अनुपान कहते हैं।

उदा० शहद, शहद व पीपल, काथ, इत्यादि अनुपान द्रव्य योजना में संरक्षक, प्रतिबंधक, सेवन सरल, योगवाही इत्यादि अनेक हेतु होते हैं। पर्पटी के लिये अनुपानों का स्वतन्त्र वर्णन है। उदा० अंतर्विद्रधिपर ॥ वायवर्णा काथ, कफज्वर पर अहूसा, हरड, सोंठ काथ, (५०० र.यो. सा.) विजय-पर्पटी पर २८ अनुपान भिन्न-भिन्न रोगों के लिये वर्णित हैं।

* १. हीन मध्योत्तमा मात्रा गुंजैकद्वित्रिमानतः।
अत्रपर्पटी १४१ र० यो० सा०

२. प्रत्यहं वर्धयेत्तस्या एकैर्का शक्तिकां भिषक्।

नाऽधिकां दशगुजातो भक्षयेत्तां कदाचन।

एकादशदिनाऽऽरंभात्तां तथैवापकर्षयेत्।

एवमेतां समश्रीयान्नरो विंशतिवासरान्।

७१ रसपर्पटी र० यो० सा०

३. अष्ट गुजा प्रदातव्यं अन्तर्विद्रधौ। ७३ रस पर्पटी
र० यो० सा०

४. क्लृप्तगुग्मपरिमाणकस्त्वयम्। ७४ " "

॥ वरुणस्य त्वचोमूलं काथयित्वा पिबेदनु। ७३ रस
पर्पटी र० यो० सा०

† पथ्य—रोगी अगर पथ्य का सम्यक् पालन नहीं करेगा तो औषधि भी क्या लाभ करेगी? औषधि, आहार तथा विहार का निश्चय रोगी के लिये वैद्य को करना चाहिये। अंतर्विद्रधि में M, शुष्कान्न का सेवन करना चाहिए; जल सेवन त्यागना चाहिए; वह भी वायवर्णा काथ रूप में (७३ रसपर्पटी।)

पर्पटी-कल्पों की औषधियों को छोड़कर दूसरी बातों पर समालोचन करने पर निम्न स्पष्टीकरण होता है।

गंधक	पत्र	मांड	दण्ड	संगुट	पाक
गंधक	एरंड, कुड़ा	कांच	काष्ठ	गोमय	मृदु तंतु
राल	कमल, कैला	ताम्र	लोह	महिषमल	मय्यविन्दु
सोरा	नागवल्ली,	लोह,		कदर्म	खर-चिकना
	अर्कइ०	मिट्टी			

नाम	अग्नि	प्रामाण्य
आद्यौषध	जाति, दर्जा(वर्ग)	शब्द, भारवत्त्व
प्रधानौषध	खदिर, मन्द	स्पर्श, चन्द्रिका
रोगसूचक	वेर, मध्य,	रूप, अंशांश
कार्यबोधक	बालुका, खर, दृढ़	रस, निकस
संख्याबोधक संयोजक नाम		गंध, काठिन्य
दैवत नाम		छेद, मार्दव

पर्पटी कल्प और पर्पटी विधान का सरल भाषा में ऊहापोह करने का यत्न किया है, विद्वान् वाचकों के इस विषय पर लेखक को आवश्यक सूचना लिख भेजने पर लेखक उनका आभारी होगा।

[लेखक के आयुर्वेद औषधिकरण ग्रन्थ से]

† पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेधणम्। वैद्यजीवन
M शुष्कान्नं पथ्यमाचरेत्। ७३ रसपर्पटी र० यो० सा०
(आयुर्मीमांसा, सतारा के सौजन्य से)

आयुर्वेदीय वृक्षारोपण

श्री मानु देसाई

मुंबई राज्य की आयुर्वेदीय स्टेट-फेकल्टी (परीक्षा-समिति) द्वारा अक्तूबर में ली गयी परीक्षाओं में द्रव्यगुण के प्रश्न-पत्र में एक प्रश्न इस आशय का देखने में आया :—

वनमहोत्सव में शोभा के अतिरिक्त आयुर्वेदीय उपयोग को भी दृष्टि में रखकर बोये जा सकें ऐसे दस वृक्षों के नाम लिख कर उन के आयुर्वेदीय उपयोग (गुणकर्म), उपयोगी अङ्ग, कल्प तथा मात्रा लिखिये ।

समाचार यों साधारण है । परन्तु इस बात का द्योतक है कि, वैद्यजन जहाँ देश की सामान्य आवश्यकताओं को देख रहे हैं वहाँ अपने विषय-संबन्धी विशेष आवश्यकताओं पर भी उनका ध्यान है । सचित्र आयुर्वेद के अक्तूबर, १९४६ के अङ्क में यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि : आयुर्वेद-जगत के एक सुप्रतिष्ठित और विद्या-व्योमूढ नेता डा० लक्ष्मीपति ने एक शाला के उद्यान में आचार्य विनोबा भावे आदि जननायकों के हाथों भलातक, अशोक, पलाश आदि वृक्षों का आरोपण कराया तथा उनको उपयोगिता समझायी । हाल ही में सूरत के श्री ओच्छवलाल नाम्बर आयुर्वेद महाविद्यालय के संचालकों ने सूरत की सीमापर एक आरोग्यधाम (सेनेटोरियम) खोलने का निश्चय किया है । उस के प्राङ्गण में वे एक 'बोटनिकल गार्डन' लगाना चाहते हैं । इस में प्रत्येक वर्ग के उद्भिदों में से ऐसे ही नमूने पसन्द किये जायेंगे जिनका चिकित्सा में उपयोग होता है । इसके लिए संचालकों ने मुंबई राज्य के उद्यान-विभाग की सहायता भी माँगी है ।

आयुर्वेदीय चिकित्सा की ओर जनता का कुछ ध्यान गया है । फार्मेशियों की संख्या भी बढ़ रही है । ऐसी स्थिति में उनकी मांग पूरी करने के लिए एवं उद्भिदों के सस्तेपन को भी बनाये रखने के लिए वन-उपवनों में चिकित्सोपयोगी उद्भिद् लगाने के कार्य को बड़े वेग से उत्तेजन दिया जाना चाहिए । ऊपर दिये उदाहरणों से बिदित होता है कि वैद्य-समाज का ध्यान इस ओर है अवश्य, परन्तु यह कार्य अभी कई गुणा बड़े पैमाने पर करने योग्य है ।

यों प्रचीनों ने 'अफालकृष्ट' (न जोती हुई भूमि में उगी) आदि वनस्पतियों का ही विधान किया है (देखिये —च० क० १।६) तथापि वने इतनी प्राकृतिक परिस्थिति कायम रखते हुए उद्भिदों को उगाने में कदाचित् कोई क्षति नहीं है । अरण्यों में भी उद्भिद् बोये जा सकते हैं । कृष्णगिरि उपवन में हम बोज आदि डालकर बाहर से उद्भिद् लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

अब्धिर्लघितो वानरजनैः किन्त्वस्य गम्भीरतामापादतलानिमग्नपीवरतनूः जानाति मन्थराचलः ॥

गत फरवरी के 'सचित्र आयुर्वेद' में बन्धु श्री रणजितराय देसाई का लेख 'यदर्थं ब्राह्मणी सूते...' पढ़ा । सुन्दर और मननीय है । इसके लिए लेखक और प्रकाशकों को मैं बधाई देता हूँ । परन्तु उस लेख में कुछ अनौचित्य भी मुझे मालूम पड़ा : वह है वह विचारधारा जिसके फलस्वरूप आज के बहुत से आयुर्वेदीय सभा-सम्मेलनों में उन्हीं की एकमात्र पूछ होती है जो जन्मना ब्राह्मण हैं, जन्मेतर वैयों की आवभगत नहीं होती, भले ही अत्रिपुत्र चिल्ला रहे हों कि 'न वैद्यः पूर्वजन्मना' ।

एक बात और । आयुर्वेद का सागर सेतु के द्वारा पार कर जाने वाले वानर बहुत से हैं जो अपनी सन्तति को आयुर्वेद पढ़ाने की 'भूल' नहीं करते । आवश्यकता है आपादतलनिमग्न होकर आयुर्वेद की यथार्थता समझने की ।

आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान

साहित्यायुर्वेदाचार्य पं० सोमदेव शर्मा सारस्वत, ए० एम० एस०



आयुर्वेद चिकित्सा-शास्त्र की आधारशिला, त्रिदोष विज्ञान पर और आधुनिक पाश्चात्य एलोपैथिक चिकित्साशास्त्र, प्रधानतया जीवाणु-विज्ञान पर अवलम्बित है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र, सूक्ष्मदर्शक यंत्र (माइक्रोस्कोप Microscope) की सहायता से अनेक रोगों के जीवाणुओं का निदर्शन भी करा देते हैं एवं उनकी प्रतिषेधक तथा नाशक चिकित्सा से जनता को लाभ भी पहुंचाते हैं, श्री अवस्था में सूक्ष्मदर्शक यंत्र से प्रत्यक्षसिद्ध, इन जीवाणुओं की रोग कारणता तथा उनका वातादि से सम्बन्ध आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्र की दृष्टि सम्भव है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर विचार परम् आवश्यक प्रतीत होता है।

जीवाणुओं का अस्तित्व—

आयुर्वेद में यद्यपि 'जीवाणु' नाम नहीं मिलता, परन्तु कृमि शब्द आयुर्वेद और अथर्ववेद में आता है— जिसके अदृश्य* और दृश्य+ यह दो भेद सुश्रुत

- * (१) सूक्ष्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः । (चरक. वि० अ० ७।११)
- (२) सूक्ष्मत्वाच्चैचिददर्शनाः । (अष्टांगहृदय निदान)
- सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मत्वात्कारणात्केचिददर्शनाः प्रत्यक्षप्रमाणा-
समधिगम्याः कार्येणैवानुमीयन्ते । (अरुणदत्त)
- (३) केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते ।

दृश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु कृमीणां परिकीर्तिताः ।

(सुश्रुत आ० अ० ५४।१७)

मुनि ने लिखे हैं। इनमें से आँखों से न दिखनेवाले (Invisible इनविजिबल) सूक्ष्म अदृश्यकृमि शब्द जीवाणु (बैक्टेरिया Bacteria तथा प्रोटोजुआ Protozoa) का तथा कृमि शब्द वर्म (Worm) का बोधक है। अथर्ववेद में इनका क्रम से अदृष्ट+ और दृष्ट नाम से निर्देश किया गया है तथा इनकी पुरुष और स्त्री जाति का भी निर्देश किया गया है। यथा—

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम् ।

(अथर्व० काण्ड ५।२३।१३)

अथर्ववेद तथा महाभारत में इनके पर्वत, वन, औषधि, पशु, दूध, मन्थ भोजन, जल फल तथा पृथ्वी में रहने का भी उल्लेख मिलता है। यथा—

इनके हमारे शरीर में प्रवेश करने का भी वर्णन मिलता है। यथा—

१—ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वौषधीषु पशुष्वपरचन्तः ।

ये अस्माकं तन्व माविशिशुः सर्वे तदन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥
(अथर्व० काण्ड, २।३१।५)

२—अमि सुपक्वे शबले विपक्वे योमापिशाचो अशने ददम्भ ।
तंदात्मना प्रजया पिशाचा वियातयन्ता मगदोऽयमस्तु ॥
क्षीरे मा मन्ये यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्येय ।
(अथर्व काण्ड ५।२९।६-७)

३—ये अन्तः क्रिमयोगवि । (अथर्व को० २।३२।६)

४—उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु वै ।

५(अ) दृष्टश्च हन्यतां कृमि स्तादृष्टश्च हन्यताम् ।

(अथर्व० काण्ड ५।२३।२७)

(अ) दृष्टमदृष्टमनुहम्... (अथर्व० काण्ड २।३१)

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि भारत ।

पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषांस्यात्स्कन्दपर्ययः ॥ (महाभारत)

इन जीवाणुओं (अदृश्य या अदृष्ट क्रिमियों) के आँख, नाक तथा दाँतों में घूमने का वर्णन भी अथर्ववेद में मिलता है । यथा —

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।

दंतां यो मध्यं गच्छति तं किमिं जन्मशामसि ।

(अथर्व. काण्ड ५।२३३)

महर्षि चरक ने इनके सहज, अर्थात् अवैकारिक (नानपैथाजनिक+ Non pathogenic) तथा वैकारिक भेदों का भी निर्देश किया है ।

(अ) विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेनप्रविभागेनान्यत्र सहजेभ्यः । (चरक० विमान अ० ७।९)

(आ) अन्यत्र सहजेभ्य इत्यनेन सहजारत्ववैकारिकाः

क्रिमयो विंशते रप्यधिका भवन्तीति दर्शयति ।

(चक्रपाणिदत्त)

(इ) विंशत्यतिरिक्ताश्चातिसूत्रमाः क्रिमयश्चरकेणोक्ताः, ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते । (मधुकोशव्याख्या)

वैकारिक कृमियों (जीवाणुओं) का स्थान^१ तथा स्वरूप—

इनका स्थान प्राणियों के शरीर में रक्तवाहिनियों और महास्रोत है, तथा यह आकार में अणु स्वरूप, गोल अथवा दीघवृत्त, पादरहित, चपटे, ताम्र या

+ Pathogenic पैथाजनिक ।

१—(अ) स्थानं रक्तवाहिन्यो धमन्यः । संस्थानमणवोः वृत्ताश्चापादाश्च वर्णस्ताम्रः ।

(चरक० विमान० अ० ७)

(आ) ते सरक्ताश्चकृष्णश्च । रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकारान्जनयन्ति हि ॥ (सुश्रुत० उत्तर० अ०-

५४।१४)

(इ) रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः । अपादाः वृत्ताम्राश्च ।

कृष्णवर्ण होते हैं, ऐसा मुनिवर चरक, सुश्रुत^१ वाग्भट का मत है ।

प्रभाव^१ तथा संक्रमण—

प्राणियों के शरीर में इन सूक्ष्म कृमि (जीवाणुओं) के द्वारा गलित कुष्ठ, केश, श्मश्रु, नाक, दन्त, रोमकूप तथा पक्ष्म (पलक) का विनाश कंठ आदि त्वचा के रोग, कास, श्वास, प्रतिश्याय, राजयक्ष्मा, नेत्राभिष्यन्द, पक्ष्मशात, विट्प्रित्ति, विस्फोटक ज्वर, मसूरिका, विसप, मुखपाक, कलिका, कृमिदन्त आदि रोग उत्पन्न हुआ करते हैं तथा इन रोगों का संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर मैथुन^२ से, शरीर का स्पर्श करने से

१—(क) सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि, सपित्तानि, सस्लेपानि सकृमीणि च भवन्ति ।

(सुश्रुत० निदान० अ० ५।३)

(ख) केशश्मश्रुनखलोमापध्वंसो व्रणगतानि च कण्डूतोदसंसर्पणान्यतिवृद्धानां चासृक्शिरास्तमांसतरुणास्थि भक्षणमिति ।

(चरक० विमान० अ०)

(ग) केशरोमनखादाश्च दन्तादाः ।

(सुश्रुत० उत्तर१ अ० ५४।१४)

(घ) प्रपद्य धातून् व्याप्यान्तः सर्वान् संक्लेष्य चान्ते सस्वेदक्लेदसंकोथान् कृमीन् सूक्ष्मान् सुदृक्लान् लोमत्वक्क्ष्मायुधमनीतरुणास्थीनि येः कर्मा भक्षयेत् (अष्टांगसंग्रह० निदान० अ० १०।१४)

(ङ) षट्ते कुष्ठैककर्माणः (")

(च) कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्चनेत्राभिष्यन्द एव च औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नराजस्य ॥ (सुश्रुत० नि० अ० ५।३)

(छ) औपसर्गिक रोगाश्च-मसूरिकाश्च रोमान्यो वीसर्प एव च । उपदंश्च कण्डूवाया औपसर्गिक संक्षिप्तः

(ज) कासश्वाय प्रतिश्यायज्वरमसूरिकादयः (ह) प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शा-जिःश्वासात्सहभोजनानां सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमात्यानुलेपनानां

सन् १९५१]

आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान

८१६

दूषित वस्त्र एवं वर्तन आदि का उपयोग करने से, श्वास-प्रश्वास से, साथ में भोजन करने और विछौने पर सोने से, रुग्ण व्यक्ति के जूते और माला आदि के धारण करने से तथा मक्खियों द्वारा कृमि ले जाने से भी होता है।

यदि रोग संक्रमण के इन उपर्युक्त कारणों पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि प्रधानतया त्वचा, श्वास, प्रश्वास और मुख द्वारा ही जीवाणु प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट कर रोगों का संक्रमण करते हैं। यथा—

(१) त्वचा द्वारा—

त्वचा में सैद्युन, गात्रसंस्पर्श, सहशय्यासन, वस्त्र-

कुष्ठं ज्वरद्वयोश्चनेत्राभिष्यन्द एव च ।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

(निदान० अ० ५।३०)

(अ) स्पर्शकाहारशय्यादि सेवनात्प्रायशो गदाः ।

सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्बिकाराविशेषतः ॥

(अष्टांग संग्रह)

(इ) त्वग्क्षिरोगापस्मारराज्यक्ष्म मसूरिकाः ।

दर्शनात्स्पर्शनाद्यानात् संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

(उरध्र)

(ई) कण्डू कुष्ठोपदंशाश्च भूतोन्माद्व्रणज्वराः ।

औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

(भावप्रकाश० मध्यखंड)

(उ) तत्र नासारन्ध्रानुगतेन वायुनाश्वासकासप्रतिश्या-

त्वग्निद्रियगतेन ज्वरमसूरिकादयः । (उल्लङ्घन)

(ऊ) अस्माकं शरीराणि व्रणमुखेन, अन्नपानादिद्वारेण

प्रविष्टाः । (सायणाचार्य)

(ए) मक्षिका व्रणजातस्य निक्षिपन्ति यदा कृमीन् ।

(सुश्रुत संहिता)

(ए) मक्षिकोपसर्पणात् व्रणे कृमयः पतन्ति । (उल्लङ्घन)

१-इसोलिए मनुस्मृति में अन्य व्यक्ति के धारण किये गये

जूते तथा वस्त्रों का व्यवहार निषेध किया गया है ।

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्नधारयेत् ।

(मनुस्मृति)

माल्यानुलेपन और व्रणमुख का समावेश हो जाता है । जैसे—

(अ) श्लेष्मल त्वचा द्वारा—फिरंगोपदंश तथा सूजाक आदि ।

(आ) त्वचा के क्षत द्वारा—विसर्प तथा धनुस्तंभ आदि ।

(इ) त्वचा में कृमिदंश द्वारा—जैसे मशक दंश द्वारा त्वचा में प्रविष्ट जीवाणु द्वारा विषम ज्वर, श्लेष्मद तथा पीतज्वर आदि ।

(२) मुख द्वारा—

विशूचिका, अतिसार तथा आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु मुख द्वारा खाद्य और पेय वस्तुओं के साथ प्रविष्ट होकर रोगों का संक्रमण किया करते हैं ।

(३) श्वास प्रश्वास द्वारा—

वातश्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्लूज़ा) न्यूमोनिया (श्वसनक ज्वर) राजयक्ष्मा तथा फुफ्फुसगत प्लेग के जीवाणु श्वास के साथ शरीर में प्रविष्ट होकर रोगों का संक्रमण करते हैं ।

संक्रामक रोगों का प्रतिषेध—

इन सूक्ष्म कृमियों (जीवाणुओं) से संक्रान्त होने वाले रोगों से रक्षा करने के लिये आयुर्वेद में रसायन के प्रयोगों एवं ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से शरीर और मन को सबल बनाना, स्थान परित्याग तथा स्वस्थ स्थान का सेवन करना, खाने-पीने की वस्तुओं की मलमूत्रादि से दूषित होने से रक्षा करना, शुद्ध जलवायु का सेवन करना और व्रत यमनियम आदि का पालन करना आदि उपाय संक्रामक रोगों के प्रतिषेध के लिये बताये गये हैं ।

संक्रामक रोगों की चिकित्सा—

अन्य रोगों की भांति इन संक्रामक रोगों की चिकित्सा भी, निदान परिवर्जन, संशोधन तथा संश-

मन आदि उपायों के द्वारा करने का निर्देश आयुर्वेद में दिया गया है। यथा—

अपकर्षणमेवादौ किमीणाभेषजं स्मृतम् ।

ततो विधातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम् ॥

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम् ।

एतावद्विषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि ॥

अथर्ववेद में जीवाणु वर्णन—

आयुर्वेद की अपेक्षा उसके मूलभूत अथर्ववेद में इन जीवाणुओं (सूक्ष्म कृमियों) का वर्णन अधिक विस्तार से मिलता है तथा इनका कृमि, रक्षः, राक्षस यातुधान, पिशाच, गन्धर्व, अप्सरा आदि नामों से वर्णन किया गया है, तथा उनका जल दूध आदि में निवास हम प्राणियों के शरीर में प्रवेश, रोगोत्पत्ति, सूर्यकिरण, अग्नि, गूगल, पीलू धातुकी जटामांसी, पीपल, वट, अजभृंगी (मेठासिमी) आदि से उनके विनष्ट होने का वर्णन विस्तार से ८० मन्त्रों में मिलता है।

अथर्ववेद में आये हुए इन रक्ष, राक्षस, यातुधान पिशाच, अप्सरा गन्धर्व आदि शब्दों का अर्थ वैदिक साहित्य में रक्त तथा मांस खाने वाले सूक्ष्म कृमि (जीवाणु) हैं। यथा—

रक्षम् (राक्षस)—रुधिर पीने वाले सूक्ष्म कृमि जिनसे प्रत्येक प्राणी को अपनी रक्षा करनी चाहिये।

यातुधान, पिशाच—वेदनोत्पादक कृमि मांस को खाने या चाटने वाला सूक्ष्म कृमि—

अप्सरस्—जल में घूमने वाले कृमि गन्ध वाले स्थान में रहने वाले।

गन्धर्व—रूप पर गिरने वाले, सुन्दर रूप पर गिरने वाले।

इस प्रकार ऊपर की व्युत्पत्ति से रक्षः आदि शब्द सूक्ष्म कृमि वाचक सिद्ध होते हैं जिनका विनाश सूर्यकिरण, अग्नि, गूगल तथा अजभृंगी,

आदि औषधियों की धूप के गन्ध से होता है। राक्षस शब्द का पर्यायवाचक निशाचर बहुत प्रसिद्ध है। सुश्रुत ने सुश्रुत संहिता में व्रण के रोगी की जीवाणु रूपी पिशाचरों से ही रक्षा करने का निर्देश किया है। यथा—

निशाचरेभ्यो रक्ष्यस्तु नित्यमेव क्षतातुरः ।

(सुश्रुत उत्तरतन्त्र अ० ६५)

१ गूगल, अगुरु, राल, वच, सरसों, नमक नीम के पत्र तथा घृत की रक्षोघ्न धूप से व्रण को धूपित करने का निर्देश भी सुश्रुत ने किया है। इस गुग्गुलु आदि की रक्षोघ्न धूप से सूक्ष्म कृमि रूप—

२ रक्षोघ्नैर्धूपैर्धूपयेद्दक्षोघ्नैश्च मन्त्रै रक्षां कुर्वीत ।

गुग्गुलुव गुहसर्जरक्ष वचागौर सरपप चूर्णैर्लेवण निम्बपत्र

व्यामिश्रै राज्ययुक्तैर्धूपैर्धूपयेत् । सुश्रुत सूत्र अ० ५१३१३

राक्षसों का ही विनाश सम्भव है, पौराणिक साहित्य में वर्णित महाकाय राक्षसों का विनाश इनसे नहीं हो सकता है। सुश्रुत मुनि ने व्रण के रोगी के समीप व्रण का रुधिर पान करने के लिये राक्षस पिशाच नाम गन्धर्व पितर तथा यक्ष आदि के आने का उल्लेख किया है, यह सब अनेक प्रकार के सूक्ष्म कृमि ही हैं, इनके लिये भूत तथा भूतप्रेत देवग्रह, देवयोनि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इन विभिन्न जातियों के सूक्ष्म कृमि रूप भूतों या प्राणियों के आक्रमण से अनेकों रोगों की उत्पत्ति हुआ करता है। जैसे पागल कुत्ते तथा शृगाल के काटने से कुत्ते और शृगाल के समान मनुष्यों में भूकने के लक्षण मिलते हैं ऐसे ही इन जीवाणुओं के आक्रमण होने पर भी उन जीवाणुओं की प्रकृति के अनुसार ही लक्षण मनुष्यों तथा स्त्रियों में उत्पन्न हुआ करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद तथा अथर्ववेद में सूक्ष्म अदृश्य कृमियों के

सन् १६५१]

आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान

८२१

रूप में जीवाणुओं का अस्तित्व सदैव ही माना जाता रहा है, हाँ इतना अवश्य है कि यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त एवं स्पष्ट है। कीट दंशसे रोग कृमियों के संक्रमण का बिल्कुल निर्देश नहीं है।

जीवाणुओं की रोग कारणता

आयुर्वेद में रोगों के कारण (हेतु) बाह्य तथा आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकार के माने गये हैं। यथा—

स च हेतुरनेकधा—बाह्याभ्यन्तर भेदाच्चद्विधा।

(साधवनिदान-मधुकोश व्याख्या)

इनमें बाह्यहेतु (कारण) से उत्पन्न रोग को आगन्तुक तथा आभ्यन्तर (दोष) हेतु से उत्पन्न रोग को निज रोग के नाम से निर्देश किया गया है। यथा—

(अ) निजागन्तु विभागेन रोगाश्च द्विविधामताः।

(अष्टांग संग्रह सूत्र० अ० १४०)

(आ) बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः।

(अष्टांग संग्रह सूत्र० अ० २२)

महर्षि कश्यप चरक सुश्रुत तथा वाग्भट सब आचार्य इस विषय में एक मत हैं।

(१) निजागन्तु निमित्ता च द्विविधा प्रकृति रुजाम्।

(२) स पुनर्द्विविधो व्याधिरान्तुर्निज एव च।

(काश्यपाखिल)

(३) द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाभागन्तु निजविभागतः।

(४) रोगानी के द्वे निमित्त भेदेन स्वधातु वैषम्य निमित्तं चागन्तुनिमित्तं च।

(चरक नि० ६ ई)

(५) तद्वदुत्पत्तयसंयोगा व्याधय इत्युच्यन्ते। ते चतुर्विधा आगन्तुवः शारीरा मानसाः स्वाभाविकाश्चेति।

(सुश्रुत सूत्र अ० १२०)

(६) निजागन्तु विभागेन तत्र रोग द्विधा स्मृताः।

(अष्टाङ्ग हृदय सूत्र अ० १२०)

अथर्ववेद के 'ये अस्माकं तन्वमा विविशुः' इस

मन्त्र में बतलाया गया है कि ये जीवाण (सूक्ष्म कृमि) बाहर से हमारे शरीर में प्रवेश करके रोग उत्पन्न किया करते हैं। इस प्रकार यह जीवाणु रोगों के बाह्य कारण सिद्ध होते हैं और इनके संक्रमण से उत्पन्न होने वाले रोग 'आगन्तु' कहलाते हैं। यह चरक के मत में प्रज्ञापराध तथा सुश्रुत के मत में आधिभौतिक माने जाते हैं।

आगन्तु रोगों के कारण—

चरक मुनि के मत में आगन्तु रोगों के कारण नख, दंश, पतन, अभिचार, अभिशाप, अभिष्यङ्ग व्यध, वध, बन्ध, पीड़न, रज्जु, दहन, मन्त्र, अशनि (विजली) भूतोपसर्ग आदि तथा विष, वायु, अग्नि सम्प्रहार हैं यथा—(अ) मुखानि खल्वगन्तोर्नख दशन पतन भिचाराभिशापाभिषङ्ग व्यधवध बन्ध पीड़न रज्जुदहन मन्त्राशनि भूतोपसर्गादनि।

(चरक सूत्र भ० २० १४)

(आ) ये भूतविषावट्त्रि सम्प्रहारादिसम्भवाः।

गुणमागन्तवो रोगाः प्रज्ञातेष्वपराध्यति॥

(चरक सूत्र अ० ७५१)

यद्यपि चरक के उपर्युक्त वचनों में जीवाणु वाचक कृमि शब्द का नाम नहीं मिलता है तथापि 'भूत' शब्द का अर्थ 'कृमि' मान लेनेपर अथवा अन्त के आदि शब्द से कृमि (जीवाण) को ग्रहण कर आगन्तु रोगों के कारण समूह में कृमि गिना जा सकता है।

इस प्रकार आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से जीवाणु, संक्रामक आगन्तु रोगों के बाह्य कारण सिद्ध होते हैं।

जीवाणुओं के वातादिदोष प्रकोपकवर्ग—

जिस प्रकार निजरोग, मिथ्याहार-विहार अथवा ऋतुओं के प्रभाव से दोषों के प्रकुपित होने पर उत्पन्न हुआ करते हैं उसी प्रकार आगन्तु संक्रामक

रोगों में भी, इन जीवाणुओं (सूक्ष्मकृमियों) से दोष कुपित होते हैं, परन्तु इतना हुआ करता है कि निजरोगों में उनकी उत्पत्ति होने के पूर्व ही दोषों का वैषम्य शरीर में हो जाता है और आगन्तु रोगों में जीवाणु आदि बाह्य कारणों से उन रोगों की उत्पत्ति होने के पश्चात् वातादि दोषों का प्रकोप होने से उन में विषमता हुआ करती है। जिसके परिणामस्वरूप उन दोषों से उत्पन्न हुए लक्षण उन आगन्तु रोगों में मिलते हैं। इसलिये आगन्तु रोगों में भी दोषों के लक्षण मिश्रित पाये जाते हैं अर्थात् कुछ समय तक तो वह रोग अकेला 'आगन्तु' रोग कहलाता है परन्तु फिर जब उसमें कुपित वातादि दोषों के लक्षण मिल जाते हैं, तब आगन्तु और निज दोनों के लक्षणों से युक्त होने पर मिश्रित हो जाता है। इसी कारण आगन्तु रोगों के प्रारम्भ में उनकी विकृति की चिकित्सा करने के पश्चात् फिर दोषों के सम्बन्ध के अनुसार चिकित्सा करने का आयुर्वेद में निर्देश मिलता है। यथा—

(१) आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यवातपित्त श्लेष्मणां वैषम्यमापादयति ।

(चरक, सूत्र, अ. २०७)

(२) आगन्तु बधिते पूर्वं पश्चादोषान् प्रपद्यते ।

तस्मादागन्तु रोगाणां पश्यन्ति निजवत्क्रियाः ।।

(काश्यप, खिलस्थान अ. ३)

(३) आगन्तुरन्वेति निजं विकारं,

निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः ।

* (अ) अभिघातादिना दोष प्रकोप आगन्तुः ।

(इन्दुकृत शशिलेखा व्याख्या)

(आ) अभिघातभूतादिना दोष प्रकोपजः स आगन्तुः ।

(दास पण्डित कृत वाग्भट व्याख्या)

* विंशतिविध्यास्तु क्रिमियो दोष प्रकोपणद्वारेण ज्वर-शूलादीनि जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ।

(मधुकोष व्याख्या)

तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यक्,

जात्वाततः कर्मसमाभेत ॥

(चरक, सूत्र, अ. १६१७)

(४) यथा—आगन्तुर्हि व्यथापूर्वोत्पन्नो ज्वरोऽप्यभ-
वति, सकिञ्चित् कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चान्निजदोषै-
रनुबध्यते ।

(माधव निदान, मधुकोष टीका)

(५) कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात् पित्तत्रयो मलः ।

भूतामिषज्जातुकृप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥

(चरक, चि० अ० ३)

इस उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से प्रमाणित होता है कि जीवाणुओं द्वारा वातादि दोषों की विष-
मता हमारे शरीर में हुआ करती है। यह विषमता दोषों के प्रकोप से अथवा क्षयरूप में होती है, इसलिये इन जीवाणुओं से वातादि दोषों का प्रकोप या क्षय हुआ करता है, यह सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में आयुर्वेदिक शास्त्रानुसार चिकित्सा करने वाले वैद्यों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि इन जीवा-
णुओं से किस-किस दोष का प्रकोप या क्षय होता है यह निश्चय किया जाय। ऐसा निश्चय हो जाने पर जीवाणुओं से प्रकुपित दोषों के लक्षणों के आधार पर जीवाणु से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा करने में वैद्य को सरलता हो सकती है। इसलिये हम यहाँ पर यथामति जीवाणुओं से उत्पन्न लक्षणों के आधार पर उनका वातपित्त कफदोष प्रकोपक या शामक होना बतलाते हैं। जैसे स्टैफिलोकोका पायोजीनस आरस नाम का जीवाणु पूयजनक है और पूय, कफ के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती है इस कारण हमने इस जीवाणु को कफ प्रकोपक लिखा है। इसी आधार पर हम वातादि दोषप्रकोपक जीवाणुओं की आनुमा-
निक तालिका प्रस्तुत करते हैं।

सन १९५१]

आयुर्वेद में जीवाणुओं का स्थान

८२३

जीवाणु	लक्षण	दोष प्रकोपक
१ स्ट्रेफ्टोकोकस पायोजीनस आरस	पूयोत्पत्ति	कफ प्रकोपक
२ स्ट्रेफ्टोकोकस हिमालिटोकोस	उपत्वचा, अस्थि, सन्धि, मज्जा, मस्तिष्कावरण, मध्यम कर्ण, रसायनी, प्रसनि का गलान्तर्गत ग्रन्थिका शोथ, लालज्वर सूतिकाज्वर विसप तथा त्रांकोन्यूमोनिया	"
३ स्ट्रेफ्टोकोकस विरिण्डक	विद्रधि, दंतमांस हृदन्तर शोथ आमवात	कफ वात प्रकोपक
४ न्यूमोकोकस	लोवरन्यूमोनिया, फुफ्फुसावरण हृदयावरण हृदन्तर, सन्धि, उदरकला तथा कर्णशोथ, पूयोरस (Empyema) नेत्राभिध्यन्द, सत्रणशुक	कफ वातोल्वण सन्निपात प्रकोपक
५ सीनिंगोकोकस	मस्तिष्क सुषुम्नावरण शोथ (मेनिंजाइटिस)	वातोल्वण सन्निपात प्र०
६ गोनोकोकस	औपसर्गिक पूयमेह नवजात नेत्राभिध्यन्द	कफ रक्त प्रकोपक
७ मैक्रोकोकस कटारालिस	प्रतिश्याय, नासांशोथ, कास, पूयदन्तादि	कफ प्रकोपक
८ वैसीलस टायफोसिस	आंत्रिकज्वर, अस्थिमज्जा, अस्थ्यावरण, कर्णमूल, मस्तिष्कावरण, शोथसन्धि, शोथ मस्तिष्क, त्वचा तथा पेशियोंमें विद्रधि	कफोल्वण सन्निपात प्रकोपक
९ वैसीलस डिसेण्टरी	अतिसार	कफ पित्त प्रकोपक
१० " पैराटायफोसिस	पैरा टाइफाइड	त्रिदोष प्रकोपक
११ " एण्टरीटीडस	वमन, प्रवाहिका, उदरमें ऐंठन, दौर्बल्य, हृदयावसाद तथा पिण्डकोट्रैष्टन	वात कफ प्रकोपक
१२ कोमावैसीलस	विशूचिका	वातोल्वण त्रिदोष प्र०
१३ वैसीलस ट्यूबरकुलोसिस	राज्यक्ष्मा	त्रिदोष प्रकोपक
१४ " लेप्री	गलित कुष्ठ	"
१५ " टिटैनी	धनुस्तम्भ	वात प्रकोपक
१६ " इन्फ्लूएन्जा	इन्फ्लूएन्जा (वातश्लेष्मिक ज्वर)	वात श्लेष्मोल्वण स०प्र०
१७ " ड्यूक्रे	उपदंश	कफ रक्त प्रकोपक
१८ " पट्यूसिस	कुकुरखांसा (हूपिंगकफ Hooping cough)	कफ वात प्रकोपक
१९ " पैस्टिस	प्लेग	त्रिदोष प्रकोपक
२० " डिप्थीरिया	रोहिणी (डिप्थीरिया)	कफोल्वण सन्निपात प्र०
२१ लीशमनिया डोनोतनी	कालाजार	रक्त प्रकोपक
२२ ट्रेपोनेमा पालीडा	फिरसोपदंश	रक्त तथा त्रिदोष प्र०

	जीवाणु	लक्षण	दोष प्रकोपक
२३	लेप्टो स्पाइरा इक्टरोइडीज	पोत ज्वर हारिद्रक सन्निपात	पित्तोत्पन्न स० प्र०
२४	प्लेज्मोडियम	विषम ज्वर (मैलेरिया)	वातोत्पन्न त्रिदोष प्र०
२५	तंतुकृमि (थ्रेडवर्म)	गुदकंडू प्रवाहिका शय्या मृत्र	कफ पित्त प्रकोपक
२६	अंकुश मुख कृमि (हुकवर्म) (एंकिलोस्टोमा ड्यूनल)	भीषण पांडु	पित्त प्रकोपक
२७	गण्डूपद कृमि (अर्थवर्म) (राउण्डवर्म)	कृशता अरुचि	कफ प्रकोपक

यह जीवाणुओं की दोष प्रकोपक तालिका अनुमानिक है। इसलिये अभी इसमें संशोधन की आवश्यकता है इससे चिकित्सा में वैद्यों को कुछ सहायता मिल सकती है।

उपसंहार—

इस लेखमें यथामति आयुर्वेदिक शास्त्रीय दृष्टिकोण से जीवाणुओं की रोग कारणता एवं उसके द्वारा दोष प्रकोपक वर्ग की तालिका बना कर प्रस्तुत की गयी है। वास्तविक रूप से जीवाणुओं की चिकित्सा तो व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा के प्रयोगों द्वारा ही उत्तम हो सकती है। ऐसे प्रयोग ही आविष्कृत होने पर जनता को लाभ हो सकता है। तब तक हेतु प्रत्यनीक चिकित्सा से ही सहायता लेनी चाहिये। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रमें प्रयुक्त वैक्सीन और सीरम चिकित्सा पर यहां समय एवं स्थानाभाव से विचार नहीं किया गया है। आशा है कि इस निबन्ध से वैद्य बन्धुओं को कुछ सन्तोष होगा।

अजा-क्षीर

चरक ने तत्-तत् कर्म करने वाले द्रव्यों या विहारों के वर्ग में एक-एक प्रधान द्रव्य या विहार की गणना सूत्र-स्थान के पच्चीसवें अध्याय में की है : इसी प्रकरण में एक वचन है।

अजाक्षीरं शोषन्नस्तन्यसात्म्यरक्त सांग्राहिक रक्तपित्त प्रशमनानाम् ॥

च० सू० २५।४०

अर्थात्—यक्ष्मा के हरण करने वाले, रक्त को रोकने वाले एवं रक्तपित्त (किसी भी मार्ग से होने वाले रक्त स्राव) के प्रशमन करने वाले द्रव्यों में अजा-क्षीर (बकरी का दूध) सर्वोत्तम है। सब दूधों में सबसे अधिक सात्म्य (सबको अनुकूल पड़ने वाला) दूध बकरी का ही है।

रक्तातिसार, पित्तातिसार आदि में तथा यक्ष्मा में, विशेषतः बच्चों के शोष में वैद्यों को अजा-क्षीर का प्रयोग कराना चाहिए।

—वैद्य रणजितराय

प्राचीन यूनानी वैद्यक तथा अरबी हकीम

वैद्यराज ठा० दलजीत सिंह

(गतांक से आगे)



नुत्रूलुमाड (मोतियाबिन्द) का उपचार

एक प्रकार के सृष्टु मोतियाबिन्द (कैटरक्ट) की चिकित्सा वे एक सुषिरपूर्ण (नालीदार) शलाका से चूसकर किया करते थे । उक्त चिकित्सा पद्धतिको इससे ग्रहण कर पश्चिम ने ग्रहण किया है और साभिमान इसे उपस्थित किया जाता है । किन्तु अभ्यासानुसार दयानतदारी के साथ इस बातका निर्देश नहीं किया जाता कि यह उपपत्ति कहाँ से ग्रहण की गई है ।

(ऐनक) का उपयोग

ऐनकें यूरोप से निर्मित होकर आती हैं । अतएव प्रत्यक्षतया प्रत्येक व्यक्ति यही विश्वास रखता है कि यह यूरोप का आविष्कार है । हालांकि अरबों के कालमें विविध प्रकार के ऐनक या उपनेत्र (चश्मे) निर्मित और उपयोग किये जाते थे । अस्तु, नुत्रूलुमाड (मोतियाबिन्द) के वणन में अस्वाव के भाष्यकार ने इस प्रकार के ऐनकों या उपनेत्रों (चश्मों) का उल्लेख किया है ।

वस्तिके अन्दर पथरी का तोड़ देना

(तहनुल्लुहेसाद फिल्मसाना)

शल्यतन्त्र में अरबोंने जो परिवर्धन किये हैं, उनमें से एक यह भी है कि उन्होंने ऐसे यन्त्र आविष्कृत किये जिनकी सहायता से वस्तिके अन्दर पथरी तोड़ी जा सके । इसका श्रेय शल्यतन्त्र के पिता अबुलकासिम जह्रावी को है जिसने ऐसे

प्रयोग का वर्णन 'अत्तसरीफ' नामक स्वरचित ग्रंथमें किया है^१ तथा उक्त यन्त्र का चित्र भी दिया है ।

सम्मोहन अर्थात् मनुष्य को मूर्च्छित कना (बीनज)

अरबों के ही खोजी स्वभाव तथा आविष्कार करने की शक्तिने सर्वप्रथम ऐसे उपाय एवं साधन ढूँढ़ निकाले जिससे रोगी मूर्च्छित हो जाय और इसी मूर्च्छितावस्थामें उच्च शल्यकर्म किये जायें ।

उक्त प्रयोजन के लिये वे खुरासानी अजवायन (बंज), भंग (किन्नव हिंदी—कनाबिल इण्डिका) शैलम (अगट), यवरुज (पट्टोपा), अहिफेन आदि विभिन्न प्रकार से मद्य के साथ उपयोग करते थे । उनमें से दो योग शैख प्रणीत कानून नामक ग्रंथ में भी उल्लिखित हैं । कतिपय इतिहासकारों ने लिखा है कि अरबों को ऐसे द्रव्योंका ज्ञान हो गया था, जिनके आघ्राण मात्र से रोगी मूर्च्छित हो जाय जैसा कि अलिफ लैला (सहस्ररजनी) के उपाख्यानों से प्रकट होता है । सुतरां सम्मोहन इस्पंज (अस्पंजा मुलबिन्ता (Soporific sponge) जो थियोडोरिक ऑफ बोलवाना (Theodoric of Bologna) (फ्रांस सन् १२६६—१०६८ ई०) के नाम से निर्दिष्ट है, उसका योग भी अरबों से गृहीत था ।^२ रोगीको

१. मौखवी सय्यद मुईनुद्दीन साहब रहबर फारूकी द्वारा संकलित 'इसलामो तिब' (पृ० ६४) ।

२. हैदरावाद दक्कनकी अनुवादकसमिति के अन्यतम सदस्य डॉ० मोहम्मद उस्मान खाँ साहब द्वारा लिखित ऐतिहासिक निबंध ।

मूर्च्छित करने का कोई उल्लेख या विचार यूनानी कालमें नहीं पाया जाता।

जंगमावयव चिकित्सा (एलाज विलूअज)

(Organo-therapy)

आरब्य चिकित्सक "जंगमावयव चिकित्सा" से परिचित थे, जिसे आधुनिक परिभाषामें ओपो-थेरापी (Opoththerapy) ओपो=स्वरस जैसे मांस-रस, थेरापी=चिकित्सा) कहा जाता है। उक्त चिकित्सा पद्धति से यह अभिप्रेत है कि शरीर का जो अवयव रुग्ण हो, चिकित्सा में उसी अवयव का उपयोग किया जाय अथवा उसका रस शरीर में पहुंचाया जाय। यथा यकृतद्वारा यकृत का उपयोग किया जाय तथा प्लीहाके रोगमें प्लीहा का उपयोग किया जाय।

माजून अनानासिया के योगमें इसी विचार से यकृतद्वारा की चिकित्सा के समय भेडिये की कलेजी (कब्रिदुज्जनब) योजित करने का आदेश किया जाता है। (मेअत मसीही यकृतद्वारा पृष्ठ ३६१—हस्तलिखित)।

डॉक्टर तौफीक सौसा लिखते हैं— इस चिकित्सा विधिको ब्राउनन सीक्वार्ड (Brown Sequard) ने पचास वर्षसे प्रचलित किया है जो अखिल विश्व में उसकी ख्याति का साधन बन गया है। हालांकि उक्त विधि अद्यावधि श्याम आदि देशों के लोगों में प्रचलित है। अस्तु, जिस व्यक्ति का यकृत विकृत हो जाता है उसे यकृत (कलेजी, जिगर) खिलाते हैं तथा जिसका वृक्क रुग्ण वा दुर्बल हो जाता है उसे वृक्क सेवन कराते हैं। (पृ० ७३ खुत्वा सौसा)।

इसी नियमसे अरबी हकीमोंने भेजे को मस्तिष्कबलदायक तथा वृषणों को बाजीकर लिखा है और भारतवर्ष में यह ज्ञात है कि यकृत यकृत के लिये उपकारक तथा प्लीहा प्लीहा रोग में गुणकारी है।

सुतरां मस्तिष्क आदिके संबंधमें भी यही साधारण ख्याल है। यही कारण है कि ये समस्त वस्तुएं इन अवयवों की दुर्बलता में खिलाई जाती हैं।

उदर से मृतभ्रूण का निःसारण

अरब चिकित्सक शल्यतन्त्र के प्रसूतितन्त्र विषयक अङ्ग (कवालत—मिडवाइफरी) में इतनी उन्नति कर चुके थे कि वे यन्त्रकी सहायता से गर्भस मृतभ्रूण को गर्भाशय से निकालना जानते थे। अस्तु उक्त प्रक्रिया एवं उक्त यन्त्र का उल्लेख अबुल्कासिम जहरावी ने 'अत्तसरीफ' नामक स्वरचित ग्रन्थ में किया है।

प्रसूतिशास्त्र (इल्मुल्काबिला—कवालत) तथा

अरबी हकीम

शल्यतन्त्र के प्रसूतितन्त्र विषयक अङ्ग (इल्मुल्काबिला, कवालत—मिडवाइफरी) में अरबों ने इतनी उन्नति की थी कि वे "इस आवश्यकीय अङ्ग के प्रवर्तक समझे जाते थे।"

यूरोपीय इतिहासकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि "वर्तमान प्रसूतितन्त्र का मूलाधार अबुल्कासिम जहरावी प्रणीत 'अत्तसरीफ' नामक ग्रन्थ ही है।" प्राचीन यूनानियों ने एतद्विषयक कोई आवश्यकीय तथ्य नहीं छोड़ा कि उन्हें इस प्रधान विद्या का प्रवर्तक स्वीकार किया जाय और इस अवसर पर उनका नाम लिया जाय।

जहरावी न केवल इस तन्त्र का ज्ञाता था, अपितु वह प्रयोजक (आमिल) भी था। उसने स्वरचित ग्रन्थ में अपने निजी अनुभव, प्रयोग और घटनाओं का उल्लेख किया है जिसे साम्प्रत वाल्चर्स पोजिशन (Walcher's position) कहा जाता है, जिसमें रुग्णा अपने पृष्ठ पर इस प्रकार लेटी रहती है कि उसके नितम्ब मेजके किनारे के समीप होते हैं और दोनों टाँगें छटकी रहती हैं।

सन् १९५१]

प्राचीन यूनानी वैद्यक तथा अरबी हकीम

८२७

आमाशय नलिका (उम्बू वा मेदिया)
(Gastric tube or Stomach pump)

अरबी हकीम आमाशय नलिका (उम्बूवा-मेदिया) से परिचित थे और विषों की चिकित्सा में इसका उपयोग कर आमाशय का प्रक्षालन किया करते थे, इसका उल्लेख अबुल्हसन सहल बिन रब्बन तवरीने स्वरचित ग्रन्थ 'फिरदौसुल् हिकमत' (पृ० ४४६) में किया है जिसे डॉक्टर मोहम्मद ज़वीर सिद्दीकी ने बड़े परिश्रम और विशेष प्रबंध द्वारा जर्मनी में प्रकाशित कराया है। यह उक्त काल में हौलदारनी से निर्मित किया जाता था जिसे कण्ठ-मार्ग से आमाशयिक द्वार पर्यन्त अवतीर्ण कर दिया जाता था तथा उसमें जल भर दिया जाता था। वर्तमान युग ने उसमें यह वृद्धि की है कि यह रबड़ जैसी नरम लचकदार वस्तु से निर्मित की जाती है। अरबों का शल्यतन्त्र (जराहियात) अबुल्कासिम जहरावी)

डॉक्टर गुस्तादलेवान लिखता है—

अरबों में सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ शल्यतान्त्रिक कुनुवा (cardova) का अबुल्कासिम है, जिसको स्पेनदेशीय लेखकगण 'अल्कासिन' के नाम से स्मरण करते हैं, जिसका निधन ईसवी सन् ११०७ में हुआ। उसने शल्यतन्त्र विषयक अनेक यन्त्रों का आविष्कार किया; जिनके चित्र उसके रचित ग्रन्थ (पृ० ४५१) में दिये गए हैं। समस्त विश्वमें एतद्विषयक यह सर्वप्रथम सचित्र रचना है। इससे पूर्व संसार की किसी भाषा में शल्यतन्त्र विषयक लिखित सचित्र ग्रन्थ विद्यमान नहीं है।

अश्मरिनिःसारण (एखराज हसात)

शल्यतान्त्रिक प्रयोगों में उसने अश्मरिनिःसारण (वस्ति से पथरी निकालने) की जिस विधि का उल्लेख किया है, वह उस समय सर्वथा नवीन प्रयोग समझा जाता है। (तमहुन अरब पृ० ४५१)।

रासायनिक द्रव्यों का उपयोग प्रथमतः अरबों ने किया

पश्चिमाय इतिहासकार यह स्पष्टतया मानते हैं कि "चिकित्सा में रासायनिक द्रव्यों का उपयोग सर्वप्रथम राजी ने किया है।" रासायनिक द्रव्यों (कीमियावी अदविया) से वे नवीन योग विवक्षित हैं जो रसायनशास्त्र की दृष्टि से निर्मित किये गए हों; जैसे—गन्धकाम्ल, शोरकाम्ल, लवणाम्ल, मुरासार (अलकोहल) इत्यादि।

निफ्त अव्यज (पेट्रोल)

अरब निफ्त अव्यज (पेट्रोल) से अनभिज्ञ थे। अस्तु, अबुल्हसन सहल बिन रब्बन तवरी ने फिरदौसुल् हिकमत नामक ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख किया है कि निफ्त अव्यज प्रकृति की अद्भुत एवं विलक्षण वस्तुओं में से है जो दूर से अग्नि को पकड़ लेता है। यह अत्यन्त स्वच्छ और उज्ज्वल होता है। अतएव इसे निफ्त अव्यज (श्वेत निफ्त) कहते हैं। यहाँ अव्यज का अर्थ स्वच्छ (उज्ज्वल) है। जिस प्रकार स्वच्छ जल को उपलक्षण-स्वरूप श्वेत कह दिया जाता है। अंगरेजी में निफ्त निफता (Nephta) के रूप में प्रचलित है। (अपूर्ण)

फल-वृक्ष—

संतरा-मौसम्बी

श्री भानुदेसाई

❀

सुतत ज्वरों (टायफॉयड आदि) में पथ्य रूप में तथा यों भी मौसम्बी भारत में सर्वत्र सुव्यवहृत फल है। संतरा, मौसम्बी और इनके वर्ग के अन्य फलों की गणना भारत में तथा अन्यत्र भी सर्वोत्तम फलों में की जाती है। इस विशाल वर्ग का नाम अंग्रेजी में 'सिट्रस'^१ है। संस्कृत वाङ्मय में भी इस वर्ग का यत्र तत्र निर्देश किया गया है। विशेषतः मत्स्यपुराण में इस वर्ग का 'जम्बीर' नाम से उल्लेख हुआ है। इसी वर्ग के एक कुटुम्बी विजौरे का आयुर्वेद में तथा कचित् कर्मकाण्ड में उपयोग होता है। संस्कृत में इसके बीजपूरक, मातुलङ्ग आदि नाम हैं। निम्बूक, नारंग या नागरङ्ग, अम्लवेतस इत्यादि इस वर्ग के अन्य फलों के नाम भी प्राचीन साहित्य के रसिकों और औषध-संग्राहकों के अविदित नहीं हैं। इससे इतना निश्चित है कि इस वर्ग के वृक्ष अति प्राचीन समय में भी होते थे और लोक इनका उपयोग भी जानते थे।

आधुनिक रसायन शास्त्र ने इस जम्बीर या सिट्रस वर्ग के समस्त फलों का विश्लेषण कर उनके आहारीय तथा औषधीय गुण-धर्मों का प्रकाशन करके इनकी महत्ता में सविशेष वृद्धि की है। इन फलों में जीवनीय 'सी' की विद्यमानता तथा उसके कारण स्कर्वी के निवारण के सामर्थ्य का परिचय तो अब किसे न होगा ? इसके सिवाय इन फलों में सुधा (केलशियम), प्रस्फुरक (फॉस्फोरस) तथा

अयस् (लोह) जैसे शरीर के उपयोगी द्रव्य भी होते हैं। यथा, संतरे में नीचे लिखे प्रमाण में विभिन्न द्रव्य होते हैं : भोज्य द्रव्य—५३.० प्रतिशत; रस—४५.४ प्रतिशत, कुल घन द्रव्य (१०० मिली-ग्राम में) १०.७ प्रतिशत, अम्ल (१०० मिलीग्राम में) ०.७६ प्रतिशत, विभिन्न लवण ११.१ प्रतिशत, घन और अम्ल—१५.१, शर्करा (१०० मिलीग्राम में) ७.२८ प्रतिशत, अम्ल और लवण—४.१ प्रतिशत, जीवनीय सी (१०० मिली ग्राम में)—४६.१ प्रतिशत, सुधा (केलशियम) १०० ग्राम में ३७.० मिली-ग्राम, प्रस्फुरक १०० ग्राम में २८.७ मिलीग्राम।

मौसम्बी, ग्रेपफ्रूट, निम्बू आदि में भी उपर्युक्त द्रव्य उत्तम प्रमाण में होते हैं।

ब्राजील में कहावत है कि—'संतरा प्रातः खाना सोने जैसा, मध्याह्न में चांदी जैसा और रात को विष जैसा होता है।'

भारत में मौसम्बी की कृषि नहीं होती सो नहीं, पर उसका प्रमाण बहुत अल्प है। विदेशों में, विशेषतया कैलीफोर्निया और फ्लोरीडा में, जम्बीर या सिट्रस वर्ग के फलों की कृषि मीलों के मीलों दृष्टिगोचर होती है। भारत में भूमि है, जल है; केवल साहसी कृषक हों तो कैलीफोर्निया-सी स्थिति यहाँ भी अवश्य उत्पन्न की जा सकती है। भारत में, बड़े पैमाने पर संतरा मौसम्बी की कृषि पश्चिम में, पंजाब में नहरें खोदी जाने पर प्रारम्भ की गयी। मोण्टगोमरी जिले में इण्डियन मिलहुरा फ्रूट फार्म

सन् १९५१]

संतरा-मौसम्बी

८२६

जानो कैलीफोर्निया का ही एक खण्ड बन गया। आज भी वहां लगभग साढ़े सात मील क्षेत्र में मौसंबी की कृषि होती है। यह भाग पाकिस्तान के हाथ में जाने से भारत के हिस्से में संतरा-मौसम्बी की कृषिका क्षेत्र बहुत अल्प हो गया है। इस ओर गुजरात के समृद्ध फलवृक्षों में आम, अमरुद, अनार और चीकू के साथ मौसंबी का भी नाम लिया जा सकता है। गुजरात में इस वृक्ष की कृषि थोड़े दिनों से ही अच्छी होने लगी है। एक ही कृषक ने साहस कर के गुजरात में मौसंबी और परवल की कृषि प्रारम्भ की और धीमे-धीमे अन्यत्र उसका अनुकरण किया जाने लगा है।

संतरा, मौसंबी और जम्बीर वर्ग के फलों का कृषिका क्षेत्रफल सारे भूमण्डल पर की दृष्टि से सर्व फलों की कृषि में तीसरा स्थान है। प्रथम स्थान द्राक्षा का तथा द्वितीय जैतून की कृषिका है। जम्बीर वर्ग का कुल क्षेत्रफल २००,००० एकड़ आंका गया है। इसका ४० प्रतिशत तो केवल अमेरिका में है। भारत में कुल क्षेत्रका ६३ प्रतिशत है। अमेरिका और भारत के सिवाय संतरा-मौसम्बी की कृषि स्पेन, ब्राजील, इटली, जापान, चीन, पेलेस्टाइन, दक्षिण अमेरिका आदि देशों में भी होती है। अन्य देशों में इसकी कृषि भारत से ही गयी है। भारत से जाकर वास्को-डो-गामा ने प्रथम स्पेन में संतरा-मौसंबी की कृषि प्रारम्भ की थी।

भारत में संतरा-मौसंबी तथा जम्बीर वर्ग के सब फलों की कृषि कुल मिलाकर १३०,००० एकड़ भूमि में होती है। किस राज्य में कितनी कृषि होती है यह नीचे की सूची से विदित होगा—मद्रास-३१२७०, मध्यप्रान्त-२२६४७, पंजाब-१७१५०, मुम्बई-१६४००, आसाम-१४०२५, कुर्ग १००७१, अन्य स्थल-१८१४८।

आम की कृषि में बारह वर्षों तक फसल हाथ आती नहीं; फूल लगने के बाद से बाजार में फल पहुंचने तक प्रकृति के कोपों का अनेक प्रकार से सामना करना पड़ता है; अन्त में प्राकृतिक परिस्थिति पर आधार रखने के पश्चात् क्या उपलब्धि होगी सो अनिश्चित ही रहता है। परन्तु, ऋतु, जलवायु और बाजार में मांगके अनुसार संतरा-मौसंबी की कृषि विभिन्न ऋतुओं में करके नियमित आय की जा सकती है। आम वर्ष में एक ही बार फल देता है, जब कि संतरा-मौसंबी वर्ष में दो-तीन बार कृषि-फल दे सकते हैं। भारत में आम की कृषि के प्रति विशेष लक्ष्य दिया जा रहा है, सो ठीक है; पर संतरा-मौसंबी के प्रति भी ध्यान देकर इन्हें नियमित आयका एक साधन बनाया जाना चाहिए।

संतरा-मौसम्बी की जातियों में बॉशिंगटन नेवल मेंडेरिन, वेल्नशिआ और शामुती प्रसिद्ध हैं। शामुती पेलेस्टाइन में होती है और विश्व भर में श्रेष्ठ मानी जाती है। इधर चवन्नी-झाप मौसंबी अच्छी समझी जाती है। मौसंबी नाम 'मोजांबीक' का अपभ्रंश है। मद्रास की ओर चीनी और पंजाब में माल्टा प्रख्यात है। पंजाब में सर्वोत्तम जाति अमेरिका से आनीत पाइन एरल समझी जाती है। एक्सेलनसीस, वेनीला, सेविल और वेल्नशिआ इन जातियों में रस कुछ कम और किंचित अम्ल भी होता है। परन्तु अन्य जातियाँ जनवरी-फरवरी में बाजार में आती हैं जब कि ये जातियाँ मार्च मास में परिपक्व होने के कारण जब बाजार में अच्छी मौसंबी का तोड़ा होता है उस काट लम्ब होने से इनका भाव अच्छा रहता है। मौसंबी की अन्य जातियाँ में जाका, मेडोटेरेनीअन, स्वीट क्रैफ्टन आदि भी अच्छी समझी जा सकती हैं।

मौसंबी फलक वायुमण्डल प्रदेशों में अधिकतर होता

है। विश्व के समशीतोष्ण कटिबन्ध में यह तथा इसके वर्ग के फलों की कृषि विशेषतया देखी जाती है एवं शुष्क वायुवाले प्रदेशों की अपेक्षया समशीतोष्ण वायुवाले प्रदेशों में इसके फल भी अच्छे होते हैं। समुद्र तथा नदी के तट के निकटवर्ती भीनी वायु में भी इसके बाग अच्छे होते हैं। यह वृक्ष पाला सहन नहीं कर सकता। पाले जैसी ठण्डी से इसे हानि भी होती है। एक बार पाला लग जाने पर वृक्ष को अपना जीवन-क्रम पुनः यथावत चालू करने में बहुत समय लगता है। फूल लगते समय गरम वायु भी हानिकर है। इससे फल कम आते हैं। ग्रीष्म की तीव्र गर्मियों भी फलों को हानि पहुँचाती है। इसके प्रतिकार के लिए कभी-कभी 'सेसवेनिया' अथवा 'शेवरी' मौसम्बी के बागों के चारों ओर लगायी जाती है। ये मौसम्बी के वृक्षों की अपेक्षया शीघ्र बढ़कर उनका गर्मों से बचाव करते हैं। इस उपाय से हवा के झोंकों से भी मौसम्बी की रक्षा होती है।

संतरा-मौसम्बी तथा इनके वर्ग के अन्य फल हलकी, पोची तथा नदी किनारे की भूमि में अच्छे होते हैं। अत्यन्त चिकनी भूमि में अथवा नितार-रहित भूमि में इस वर्ग के कोई फल अच्छे नहीं होते। उर्वर, परन्तु हलकी, थोड़ी चिकनी मिट्टी वाली अथवा पर्याप्त चूने वाली भूमि में भी ये वृक्ष अच्छी तरह लगते हैं। अत्यन्त बजरीली और सर्वथा सारहीन मिट्टी में मौसम्बी तथा उसके वर्ग के वृक्ष अच्छे नहीं होते। पृथ्वी के अन्दर थोड़ी नीचे ही पत्थर किंवा चिकनी मिट्टी हो, अथवा भूगर्भगत जल का प्रवाह बहुत ही ऊपर हो तो मौसम्बी की फसल कुछ काल अच्छी होकर पश्चात् निष्फल रहती है। थोड़ा खारा पानी भी मौसम्बी के वर्ग के वृक्षों को हानि पहुँचाता है। ऐसे पानीवाले स्थलों में संतरा-मौसम्बी के

बगीचे लगाना ठीक नहीं। आम काली मिट्टी को भली-भांति सहन कर सकता है। अतः ऐसी भूमि में उसको कृषि को उत्तेजन देने में कोई क्षति नहीं। परन्तु कझार की, नदी के आसपास की, उत्तम नितार वाली भूमि संतरा-मौसम्बी के लिए अनुकूल होने से आमों की अपेक्षया ऐसी भूमि में इनके बगीचे लगाना योग्य है। ऊपर की भूमि काली और थोड़ी चिकनी हो तथापि नीचे की परत (स्तर) खुली हो तथा भूमि में नितार उत्तम हो तो संतरा-मौसम्बी की कृषि करने में कोई हर्ज नहीं। भूमि चाहे कैसी हो, कझार की हो या मध्यम काली हो, उसका नितार तो अच्छा होना ही चाहिए। अन्यथा वृक्षों के मूल गहरे उतरते नहीं और ऊपर ही ऊपर चक्कर खाकर कुछ काल में वृक्ष मर जाते हैं। चौमासे में वृष्टि खूब हो, पहले से पानी निकास की व्यवस्था न की गयी हो तो वृक्षों को पानी लग जाता है और हानि होती है। ऐसी भूमि में पहले से ही पानी के निकास के लिये बड़ी-बड़ी नालियाँ बना रखी हों तो कठिनई का निवारण किया जा सकता है।

संतरा-मौसम्बी और इनके वर्ग के फल-वृक्ष बीज द्वारा, ढाल लगाकर, गुटी से अथवा आँख लगाकर तैयार किये जा सकते हैं। परन्तु बीज से वृक्ष उत्पन्न करने से फल बहुत देर से आते हैं। साथ ही इस वर्ग के फल-वृक्षों को होने वाले रोगों की प्रतिकार शक्ति भी न्यून रहती है। बीज से तैयार किये वृक्षों में काँटे बहुत लगते हैं, एवं वृक्ष ऊँचे बढ़कर योग्य प्रकार से फैलते नहीं। वृक्ष का विस्तार जितना अधिक होता है उसपर फल भी उसी प्रमाण में अधिक लगते हैं। अतः बीज से वृक्ष तैयार करने में वृक्ष का विस्तार अच्छा न होने से उसपर फल भी कम लगते हैं।

जम्भीरी अथवा मोटी छाल के निम्बू के पौधे पर

सन १९५१]

संतरा-मौसम्बी

८३१

संतरा-मौसम्बी की आँख लगा कर वृक्ष तैयार करने की पद्धति उत्तम सिद्ध हुई है। सम्प्रति यही पद्धति विशेष प्रचलित है। आँख लगाकर बड़ी संख्या में तैयार किये पौधे युद्ध के पूर्व के वर्षों में प्रतिशत १५ से २५ रुपये के हिसाब से मिलते थे। यह भाव अब बढ़कर ७५ से ८० रुपये हो गया है।

जम्भीरी अथवा मोटी छाल के निम्बू के फल वृक्ष पर लगे-लगे पक जायँ तो उतार कर उन्हें दो-चार दिन रहने देकर, वे नरम हो जायँ तो छुरी से उनके दो भाग कर अर्धों को निचोड़ कर बीज निकाल लेने चाहिये। बीज निकालने के लिए धारवाले शस्त्र का उपयोग न करना चाहिए। ये बीज यथासम्भव ताजे ही नर्सरी की क्यारियों में उगा देने चाहिए। बीज बोने के लिये धूप-छाया वाला स्थान पसन्द करके भूमि में उत्तम सड़ा हुआ खाद डाल कर, मिट्टी में मिला क्यारियाँ तैयार करनी चाहिए। क्यारियों में एक-एक बालिष्ठ के अन्तर की पंक्तियों में पाँच-पाँच, छः-छः इञ्च दूर बीज बो देने चाहिए। प्रत्येक बीज पृथक् भूमि में एक इञ्च गहरा लगाकर मिट्टी ढक देना चाहिए और नियमित पानी पिलाना चाहिये। पानी चौमासे में यथावश्यक देना चाहिए। बोने के बीस-बाईस दिन पीछे बीज उग निकलता है। पौधे नव से बारह इञ्च ऊँचे हो जायँ तो उन्हें क्यारी से हटा कर अन्य चार-चार फुट चौड़ी और बारह से पचीस फुट लम्बी क्यारियों में, प्रत्येक पौधा दूसरे पौधे से एक से डेढ़ फुट दूर रखते हुए बो देना चाहिए। इस पद्धति से आँख लगाने के कार्य में मुश्किल नहीं होती, तथा पौधे को स्थानान्तरित करते हुए उसे मिट्टी के पिण्ड के साथ बाहर निकाला जा सकता है। ऐसा करने से स्थायी जगह पर लगाने के लिये दृढ़ मूल सहित पौधे तैयार मिलते हैं। प्रारम्भ में छोटे पौधे को बड़ी क्यारियों में स्थानान्तरित

करते हुए पौधों के साथ यथासम्भव अधिक संख्या में मूल बोने का प्रयत्न करना चाहिए। जब बड़ी क्यारियों के पौधे लगभग दो फुट ऊँचे और सामान्यतया अनामिका अंगुली जितने मोटे तने-वाले हो जायँ तब आँख लगाने योग्य समझे जाते हैं। इन पौधों पर जब संतरा मौसम्बी अथवा तत्सम वर्ग के पौधे तैयार करने हों तब ऐसे फल वृक्ष जिस में बड़े और मधुर फल लगते हों पसन्द कर उनकी डालियों से ऐसे आँखें लें, जिनके पत्ते न फूटे हों। आँख में लगाने का सर्वोत्तम काल अगस्त, सितम्बर तथा फरवरी महीने का है। इन महीनों में वृक्षों के नये पल्लव निकलते होने से उन में जीवन रस के प्रवाह का वेग विशेष होता है। इस कारण आँखें जम्भीरी नीबू के पौधे पर एक जोव होकर पौधे से रस शीघ्र प्राप्त कर सकती हैं। अन्य कालों में आँखें लगायी जायँ तो वे सुगमता से लगती नहीं, एवं नये पत्ते फूटने में समय लगता है।

बीज से उगे पौधे में, भूमि से कोई एक फुट ऊपर, तेज धार वाले चक्कू से, अन्दर के काष्ठमय भाग को क्षति न हो इस प्रकार, त्वचा पर एक इञ्च लम्बा अंग्रेजी '1' अक्षर के आकार का काट बनाएँ। अब लकड़ी की खपची से त्वचा को काष्ठ से, हलके हाथ से पृथक् करें। फिर उसमें, त्वचा और काष्ठ के मध्य में सुगमता से रखा जा सके इतने माप की संतरे या मौसम्बी की आँख इस प्रकार आहिस्ते से लगा दें कि आँख वाला भाग खुला रहे। अब आँख के उस भाग को, जिस भाग को, जिस पर से पत्ते फूटते हैं, खुला रखते हुए ही सन की रस्सी, केले के रेशे अथवा सुतली से दृढ़ता से ऐसे बाँध दें कि छाल कटे नहीं और उसकी आर्द्रता जाय नहीं।

इस हेतु सम भाग गोबर और मिट्टी का मिश्रण या मोम लगा दें ।

आंखें किस तरहली जायँ इस विषय में कुछ अनुसंधान हुआ है । आंखें दो प्रकार से ली जा सकती हैं—केवल त्वचा और उसके ऊपर आंख लेकर, अथवा त्वचा के साथ थोड़ा काष्ठ भाग भी लेते हुए । अनुभव से विदित हुआ है कि, त्वचा के साथ काष्ठ भाग लेने से विशेष गुण नहीं होता, उल्टे श्रम ही होता है । इसके अतिरिक्त एक दिन में केवल त्वचायुक्त आंखों की अपेक्षया काष्ठ सहित आंखें कम संख्या में लगायी जा सकती हैं । दूसरे, केवल त्वचायुक्त आंखें लगाने में २५ प्रतिशत अधिक सफलता मिलती है ।

एक-दो सप्ताह में आंख के अंकुर फूटें, तब आंख के ऊपर का मूलदण्ड का भाग (तना) लगभग पौना फुट ऊपर काट डालें, जिससे लगायी आंख को रस अधिक मात्रा में मिले । आंख अच्छी तरह जम जाय अंकुर फूट कर चार अंगुल जितना हो जाय तब उसके ऊपर का एकाध इंच भाग रख कर मूल वृक्ष का शेष सार ऊपर का भाग काट डालें । नीचे के भाग से फूटे अंकुर भी तोड़ दें । ऐसा करने से पौधे का सारा बल आंख से निकलते अंकुर की पुष्टि में लग जाता है । इस प्रकार आंख से तय्यार किये पौधे दो-ढाई फुट के हो जाने पर काली भूमि में

बोने योग्य समझे जाते हैं । अमेरिका में, कैलीफोर्निया में, जहाँ लाखों बीघा जमीन में मौसंबी की कृषि की जाती है, पौधे को अंगूठे से भी अधिक स्थूल और दृढ़ होने देते हैं, एवं नर्सरी में ही दो-एक बार आवश्यकतानुसार तने और मूल को काट कर, एक-दो बार स्थानान्तर करते हैं । ऐसा करने से पौधे दृढ़ तथा नर्सरी से बाहर के जलवायु को सहन करने में समर्थ बनते हैं । आंख लगा कर पौधे तय्यार करने के लिये मूल वृक्ष जम्बूीर वर्ग की किस जाति के वृक्ष के लेने चाहिये इस विषय में भी बहुत संशोधन हुआ है । इस दृष्टि से निम्बू के वर्ग की लगभग चौदह जातियों पर तथा उसी के कुटुम्ब की तैतोस जातियों पर परीक्षण किये गये हैं । भारत की आवश्यकताओं को देखते हुए जम्बूीरी नीबू के पौधे मौसंबी के पौधे तय्यार करने के लिये उत्तम माने जाते हैं । संतरे के लिये मीठे नीबू के बीज के पौधे अच्छे सिद्ध हुए हैं । हाल ही में संतरा-मौसंबी की जातियों को कटिंग से अथवा दाल कलम से मूल प्रेरक रासायनिक द्रव्य लगा कर लाखों की संख्या में पौधे तय्यार करने के प्रयोग उड़ीसा के संबलपुर में चालू हुए हैं । ये प्रयोग सफल होने के चिह्न दीख रहे हैं ।

(शेष अगले अङ्क में)

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

कविराज श्रीकृष्ण पद भट्टाचार्य

४

[उत्तर प्रदेशीय सरकार के आयुर्वेद प्रेमी मेडीकल सेक्रेटरी मान्यवर एच० पी० पाण्डे महोदय की चेष्टा और उद्यम से ही उत्तर प्रदेश में आज आयुर्वेद की कुछ उन्नति हुई है। इस प्रदेश में यह बात आज छिपी नहीं। गतनवम्बर में जब पाण्डे जी से आयुर्वेदोन्नति मूलक एक योजना लेकर मैं मिला था तो प्रसंगवश उन्होंने मुझसे कहा था कि आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना भी उन्हें समर्पित करूँ तदनुसार इसी योजना को दिसम्बर में भेजा था। मध्य प्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री माननीय वारलिंगे महोदय एवं मोपाल सरकार के स्वास्थ्य पदाधिकारी कर्तल मिश्र महोदय के विशेष आग्रह से योजना की प्रतिलिपि भेज दी गई थी। आशा है 'सचित्र आयुर्वेद' के पाठक योजना पर अपनी २ राय प्रकट करने की कृपा करेंगे]

केन्द्रीय सरकार की माननीया स्वास्थ्य मन्त्रिणी द्वारा सामाजिक स्वास्थ्य सुधार अन्दोलन चालू करने का निर्णय किया जा रहा है। इस महान कार्य के लिए दो विशेष वस्तुओं की आवश्यकता है—

(१) नैतिक चरित्र में सुधार, (२) उपयुक्त भोजन प्राप्ति।

भोजन व्यवस्था के लिए सरकार उद्योगशील है और भविष्य में उसकी व्यवस्था हो भी सकती है। ऐसी आशा में ही जनता जीवित रहेगी परन्तु सामाजिक स्वास्थ्य सुधार केवल भोजन व्यवस्था से ही नहीं हो सकता; चारित्रिक शुद्धता भी इसके लिये आवश्यक है। क्योंकि नैतिक दृष्टि से चरित्रहीन समाज छेद किया हुआ घड़ा की भाँति सदैव शून्य ही रहेगा। इसलिए नैतिक दृष्टि से चरित्रका सुधार अनिवार्य है, परन्तु इस महान कार्य के लिए कर्णधार चाहिए। आयुर्वेदके महान चारों ग्रन्थ चरक, सुश्रुत अष्टांग हृदय और अष्टांग संप्रह के अनुसार सामाजिक चरित्र सुधार दो प्रकार के व्यक्तियों से ही हो सकता है—

(१) वे हैं अध्यापक और (२) चिकित्सक।

क्योंकि सदाचारी और चरित्रवान चिकित्सक और अध्यापक लोग ही समाज को चरित्रवान बना सकते हैं। क्योंकि राष्ट्र के शिशुओं और बालकों के साथ अध्यापक पिता से भी अधिक सम्बन्ध रखते हैं, और चिकित्सक के साथ तो समग्र समाज का ही सम्बन्ध है। क्योंकि गर्भस्थ शिशु से लेकर, मृत्यु पर्यन्त चिकित्सक के साथ ही सम्बन्ध रहता है, इसलिए “आतुरे च पिता व्रैद्यः” एवं “नात्माय नापि कामार्ममथ भूतदयां प्रति” की भावना वाले चिकित्सक देश में तैयार करने के लिए साधारण विद्यालय से उच्च विद्यालय तथा चिकित्सा विषयक महा विद्यालयों में शुरु से अन्त तक चरकादि महर्षियों द्वारा कथित नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। आज की पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली चाहे साधारण विद्यालयमें ही हो और चिकित्सा विषयक विद्यालयों में ही हो, बालक युवक सभी के लिए घातक हो रही हैं, क्योंकि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में हम दो वस्तु देखते हैं—नैतिक चरित्र का पतन और कर्म जीवन में अनैतिक दूकानदारी, जो कि हमारे लिए सांस्कृतिक, आर्थिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद हो रहा है।

भारत का सिद्धान्त अनादि काल से ही त्याग तपस्या और संयम पर आधारित रहा ; राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति आदि में त्याग और संयम को ही प्रधान माना जाता था। आज भी उसी परम्परा की क्षीण रेखा दिखायी देती है। परन्तु पाश्चात्य देशों में भोग के साधन जुटाकर सभी कार्य किये जाते हैं, इसलिये उन देशों की संस्कृति के साथ हमारा मौलिक भेद है। जबतक देश का नैतिक स्तर ऊँचा न होगा तबतक दुराचार नष्ट नहीं हो सकता, इस कार्य के लिए अध्यापक और चिकित्सक ही आचार्य हैं क्योंकि इस दिशा में उनकी उपयोगिता अधिक है। आज के बालक और युवक ही कल अध्यापक और चिकित्सक बनेंगे, परन्तु जिस प्रणाली से हमारी शिक्षा चल रही है इससे भावी भारत के लिए चरित्रवान, संयमशील अध्यापक और चिकित्सक की आशा करना व्यर्थ है। खासतौर से चिकित्सक के सम्बन्ध में तो निराशा ही दिखाई देती है, आयुर्वेद के सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय और सामाजिक चरित्र निर्माण और रक्षा में चिकित्सक का प्रमुख हाथ है। परन्तु आज के चिकित्सक त्यागव्रती न होकर दुकानदार बन गये हैं। इसका कारण हमारी शिक्षा-प्रणाली का त्रुटि पूर्ण होना है। जबतक साधारण शिक्षा एवं चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षालयों में भारत की प्राचीन नैतिक पवित्रता के सिद्धान्तों को उत्तम रीति से विद्यार्थियों के हृदय एवं मस्तिष्क में उतारा नहीं जायगा हमारा नैतिक स्तर ऊँचा हो नहीं सकता।

सरकार की ओर से कई बार रिपोर्ट प्रकाशित हो चुकी है, जिससे पता चलता है कि भारत की ८० फी सदी जनता का आज भी आयुर्वेद पर विश्वास है, परन्तु आयुर्वेदिक शिक्षा प्रणाली में जो त्रुटियाँ हैं उनमें यदि सुधार न हुआ तो इसका परिणाम हमारे

देश के लिए अनिष्टकारक होगा। दिल्ली स्वास्थ्य मन्त्री सम्मेलन में जो निर्णय लिया गया है उससे स्थिति और भी खराब होगी, क्योंकि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में आयुर्वेद के साथ तुलना या समन्वय की आशा से जो पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली चलाई जाती है, उसका परिणाम क्या निकला है, निम्न-लिखित उद्धरणों से ही प्रमाणित हो जायगा।

आयुर्वेदिक कालेजों में ब्रिटिश शासनकाल में कुछ ऐसे डाक्टरों ने, जो आयुर्वेद पढ़कर आयुर्वेद में प्रविष्ट हुए थे—वैद्योंकी उपेक्षणीय स्थिति देख कर यही सिद्धान्त स्थिर किया था कि डाक्टरों के समक्ष वैद्य लोग भी खड़े हो सकेंगे, जब कि दोनों शास्त्रों में वे पारंगत हो जायेंगे। उन लोगों की धारणा थी कि आयुर्वेद और एलोपैथी के विद्वान वैद्य संसार में आसन जमा पायेंगे। वास्तव में उनकी विचार-बुद्धि उस जमाने में प्रशंसनीय थी, परन्तु उन लोगों ने जो चाहा था, वैसा न होकर विपरीत ही हुआ।

आयुर्वेदिक कालेजों में पाश्चात्य फिजिक्स, केमिस्ट्री और बायोलॉजी प्रारम्भ से ही पढ़ाने के कारण, आयुर्वेदिक-पदार्थ विज्ञानादि विषय उपेक्षित ही रह जाता है। क्योंकि आयुर्वेद में आध्यात्मिक तत्वों का समावेश है, किन्तु दूसरी ओर भौतिकवाद सुगम, सरल और आकर्षक होने के कारण, आत्मा, मन, बुद्धि, पञ्चमहाभूत आदि दुरूह पाठ्य विषयों के प्रति विद्यार्थी उदासीन रहता है, मैट्रिक या इन्टर सायन्स छात्र के मस्तिष्क में आध्यात्मिक विषयों का प्रवेश उनकी शिक्षा के भी प्रतिकूल है। इसलिए वे पाश्चात्य विषयों की साधारण जानकारी तो प्राप्त कर लेते हैं परन्तु आयुर्वेद के सम्बन्ध में ज्ञान अधूरा ही रह जाता है।

आयुर्वेद में काय-चिकित्सा के लिए जितनी औषधियाँ हैं, संसार की किसी चिकित्सा प्रणाली

सन् १९५१]

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

८३५

में इतनी औषधियाँ नहीं हैं। परन्तु आयुर्वेदिक कालेजों में एलोपैथिक मेडोसिन मेटेरियामेडिका आदि के नाम से पढ़ाने का यह परिणाम निकलता है कि आयुर्वेदिक औषधियों के सम्बन्ध में छात्रों की उदासीनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, इससे आयुर्वेद की बड़ी क्षति हो रही है। आयुर्वेदिक औषधियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान एवं गवेषणा की आशा भी नष्ट हो गई है। छात्रों के मस्तिष्क में यही बात आती है कि उपाधि प्राप्ति के बाद उसे एलोपैथी चिकित्सा से ही लाभ उठाना होगा। इसलिए वे मेटेरियामेडिका पर ही अधिक ध्यान देते हैं। आयुर्वेदिक औषधि एवं द्रव्यगुण के सम्बन्ध में नवीन अनुसन्धान तो दूर की बात है, जो कुछ है उससे भी प्रायः छात्र अनभिज्ञ रहते हैं, एवं चिकित्सक बनने के लिए जहाँ गुरु से ही अस्पताल में क्रियात्मक निदान और चिकित्सा का ज्ञान होना चाहिए वहाँ प्रारम्भिक तीन वर्ष तक छात्र पाश्चात्य फिजिक्स, केमिस्ट्री, बायोलॉजी, पब्लिक सेनिटेशन, हायजीन, मेडिकल जुरिसप्रुडेंस और पाश्चात्य द्रव्यगुण या मेटेरिया मेडिका कण्ठस्थ करने में ही अपने को धन्य समझते हैं। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद के स्नातक क्या आयुर्वेद का ज्ञान और निदान के साथ चिकित्सा का ज्ञान कहाँ से प्राप्त करेंगे? अन्तिम दोनों वर्ष में भी वे पाश्चात्य चिकित्सा के क्रियात्मक ज्ञान के लिए व्यस्त रहते हैं। परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेदिक निदान और चिकित्सा के क्रियात्मक ज्ञान से वे परे रहते हैं। छात्रों के मस्तिष्क में भी यह बात बैठ गई है कि एलोपैथी ही सर्वाङ्ग सुन्दर शास्त्र है। जिस ढंग से वर्तमान आयुर्वेदिक शिक्षा प्रणाली चल रही है इससे अनिष्ट ही होगा। आयुर्वेदिक कालेजों में रोगी की परीक्षा के लिए पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से ही सहायता ली जाती है। यानी रोग और रोगी की

परीक्षा के लिए थर्मामीटर, स्टेथस्कोप, माइक्रोस्कोप डायथर्मियाँ, एक्स-रे आदि को ही प्रधान साधन माना जाता है। जिन संस्थाओं में उपर्युक्त साधन एवं अच्छे एलोपैथ अध्यापक प्राप्य हैं, वहाँ तो कुछ एलोपैथिक रोग निदान का ज्ञान हो जाता है और जहाँ नहीं है, वहाँ की स्थिति तो बोधगम्य है ही। कहीं-कहीं एलोपैथिक सरकारी अस्पतालों में भी जाकर छात्र एलोपैथिक ज्ञान प्राप्त करते हैं—फल यह हुआ कि आयुर्वेदिक निदान और चिकित्सा पूर्णतया उपेक्षित हो गई है।

शल्य शालाक्य एवं प्रसूतितन्त्र आदि शास्त्रकर्म विषयक निदान और चिकित्सा का ज्ञान एलोपैथिक ढंग से ही होता है, इसलिए एलोपैथिक सर्जरी, गाय-कोलजी एवं आँखें, कान, नाक या गलरोग चिकित्सा में न आयुर्वेदिक निदान का ही सम्बन्ध है न चिकित्सा का। वास्तव में जहाँ मेडिसिन, सर्जरी मिडवाइरी, गायनोकोलजी, आदि एलोपैथी के सभी विषय विद्यमान हैं वहाँ आयुर्वेद में छात्र की रुचि कैसे हो? फल यह हुआ कि सभी प्रधान २ विषयों का निदान और चिकित्सा एलोपैथिक प्रणाली से होने के कारण आयुर्वेदिक कालेजों में नाममात्र का आयुर्वेद रह गया है। शिक्षा संस्थाओं में एलोपैथिक लेबरेटरी के सभी साधन सुलभ हैं, परन्तु आयुर्वेदिक अनुसन्धान के लिए गवेषणागार और रसायनशाला की समुचित व्यवस्था नहीं है। अर्थ-रोजगार के लिए कहीं २ फार्मसी अवश्य है, जिसके साथ छात्रों का किसी प्रकार सम्बन्ध ही नहीं रहता। आयुर्वेदिक महाविद्यालयों में हाई स्कूल की भाँति मेज और बेंच पर छात्र और टेबिल कुर्सी पर अध्यापक बैठकर पढ़ाते रहते हैं—आयुर्वेदिक अस्पताल नाम के वास्ते रहता है, वहाँ न तो रोगी और न अन्य साधन ही हैं। यदि प्रथम वर्ष से तृतीय वर्ष तक अस्पताल लेबरेटरी में ही दिन व्यतीत हो जाय तो

रस, विपाक वीर्य प्रभाव का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार आयुर्वेदिक निदान और चिकित्सा भी अन्तर्धान है।

उत्तीर्ण स्नातक कर्मक्षेत्र में आधुनिक एलोपैथिक औषधियों और Injection के द्वारा ही चिकित्सा कार्य चलाते हैं। बी० आई० एम० एस० बी० ए० एम० एस०, बी० एम० बी० एस०, ए० एम० एस० आदि विदेशी उपाधि आयुर्वेदिक स्नातकों को देने के कारण छात्र और स्नातक वातावरण के अनुसार ही अपने को डाक्टर समझते हैं। क्योंकि आयुर्वेदीय शिक्षण प्रणाली की छाप स्नातकों पर नहीं होती है।

आयुर्वेद के नाम से जो लोग डाक्टर बनकर चिकित्सा कार्य कर रहे हैं उनकी जाँच यदि सरकार करावे तो आधुनिक कालेजों के स्नातकों में ६० प्रतिशत एलोपैथी के पक्के भक्त पाये जायेंगे।

प्रान्त में जो प्राचीन वैद्य लोग हैं वे ही आयुर्वेदिक ढंग से निदान और चिकित्सा करते हैं। आधुनिकों पर तो आयुर्वेद से कहीं अधिक असर एलोपैथी का ही रहता है।

विद्यापीठ आदि संस्थाओं में उत्तीर्ण वैद्यों के लिये सरकार द्वारा जो वैद्य सर्जरी ट्रेनिंग क्लास और कुछ अन्य संस्थाओं द्वारा सर्जरी और इन्जेक्शन ट्रेनिंग क्लास खोले गये हैं उनमें भी एलोपैथिक औषधियों का ही ज्ञान सर्जरी आदि में कराया जाता है।

परिणाम यह हुआ कि जो लोग पक्के आयुर्वेदज्ञ थे वे भी अब विदेशी औषधि पद्धति के भक्त बनकर देहाती जनता में एलोपैथी के प्रचार के द्वारा आयुर्वेद की हत्या कर देश के रुपये विदेश भेजने में सहायक बन रहे हैं।

ऐसी स्थिति में दिन दिन आयुर्वेद की प्राणशक्ति क्षीण होती जा रही है, और ऐसी स्थिति

रही तो आश्चर्य नहीं कि कुछ दिनों में पुराने वैद्य लोग—जिन ने हजार वर्ष की गुलामी में भी आयुर्वेद की स्वतन्त्र परम्परा को जीवित रखा है—के साथ आयुर्वेद का अन्त हो जायगा।

उत्तर प्रदेशीय सरकार के आयुर्वेद प्रेमी मेडिकल सेक्रेटरी आयुर्वेदिक औषधि निर्माण के लिए फार्मसी एवं आयुर्वेदिक अनुसन्धान के लिए गवेषणागार की स्थापना के लिए उद्योगी हैं। माननीय स्वास्थ्य मंत्री ने आयुर्वेद के लिए एक डाइरेक्टर की भी नियुक्ति की है। पर, उपरोक्त कारणों का जब तक निराकरण न होगा तबतक कोई आशा नहीं। फार्मसी की औषधि फार्मसी में ही रह जायगी और गवेषणा करेगा कौन ? गवेषणा का ढंग क्या होगा ? आयुर्वेद में क्या है जो स्नातक जान नहीं पायेंगे वे नवीन अनुसन्धान में सरकार का हाथ कैसे बटायेंगे, इसलिए सबसे पहले शिक्षा सुधार आवश्यक है।

आयुर्वेदिक शिक्षा संस्कार का उपाय

(२)

* चिकित्सा के लिए आयुर्वेदिक शिक्षा पद्धति में जो एलोपैथिक मेडीसिन पढ़ाया जाता है उसे पूर्णतया बन्द कर दिया जाय।

* अगस्त १९५० को आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर पं० गोविन्द मालवीय जी ने लेखक को बुलाया था। मैंने उनसे कहा था कि प्रारम्भिक वर्षों में एलोपैथिक का ज्ञान तथा विशेष रूप से एलोपैथिक मेडीसिन का पढ़ाया जाना पूर्णतया बन्द करना होगा, नहीं तो आयुर्वेदोन्नति असम्भव है। उन्होंने ध्यानपूर्वक सारी बातें सुनकर कहा था कि मेरे साथ उनकी सहमति है और वह प्रयत्न भी कर रहे हैं, धीरे-धीरे पाठ्य प्रणाली से उसे हटा दिया जायगा।

सन् १९५१]

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

८३७

सरकार शीघ्रातिशीघ्र आयुर्वेदिक गवेषणागार (Ayurvedic Research Institute) खोले और प्रमुख वैद्य महानुभाव तथा आयुर्वेद के जानकार वैज्ञानिक नियुक्त करे ताकि वे शीघ्रातिशीघ्र शलौषधि (Ayurvedic Surgical Medicines) शालाक्यौषधि (Ayurvedic medicine for Eye Ear Nose etc) के लिए अनुसन्धान के बाद एक निम्नदु या संग्रह पुस्तक बनावे, एवं उन औषधियों का प्रयोग सुगमता से कैसे हो इस पर गवेषणा करें और चिकित्सा के लिए प्रयोगशाला से अस्पतालों में भेजें।

आयुर्वेदिक शिक्षा संस्थाओं को सरकार की ओर से निर्देश दिया जावे कि निर्धारित समय के बाद शल्यदि कार्य में एलोपैथिक Surgical medicines का व्यवहार बन्द कर दिया जायगा।

रिसर्च विभाग में आयुर्वेदिक नवीन ग्रन्थ निर्माण, औषधि अनुसन्धान तथा प्राचीन शल्य शस्त्रों के सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान हो। आयुर्वेद के सभी ग्रन्थों के सम्बन्ध में आलोचना हो एवं प्रत्येक विषय जो कि भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बिखरा हुआ है, उसे सिलसिलेवार सजाया जाय।

शिक्षा संस्थाओं को साधारण विद्यालय के रूप में न रख कर व्यावहारिक रूप दिया जावे यानी शिक्षा संस्थाओं में अस्पताल को ही प्रधान साधन माना जाय, प्रत्येक विद्यालय में कम से कम १०० बेड का अस्पताल हो। छात्रों की शिक्षा हाई स्कूल की भाँति न होकर अस्पताल, गवेषणागार और रसायनशाला में ही हो। प्रथम वर्ष से अन्तिम वर्ष तक आयुर्वेदिक निदान और चिकित्सा का ज्ञान व्यावहारिक हो।

पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से केवल उन अंशों को ही पढ़ाया जाय जिससे आयुर्वेद की क्षति न हो

एवं छात्र ज्ञान को बढ़ा सकें, जसे फिजियाला जी— आयुर्वेद में शारीर क्रिया के सम्बन्ध में स्थूल अंग प्रत्यङ्ग की विचार धारा कम है, सूक्ष्म शारीर क्रिया जिस पर त्रिदोष सिद्धान्त के बिना विचार असंभव है, उस सम्बन्ध में विद्यार्थी को पूर्ण परिचित कराना होगा। दोष, धातु एवं मल विज्ञान पूर्णतया प्रारम्भिक वर्षों में पढ़ाना आवश्यक है, यदि प्रारम्भ में दोष, धातु, मल-विज्ञान पढ़ाया जाय एवं बाद को पाश्चात्य फिजियालाजी का ज्ञान हो तो आयुर्वेद का ज्ञान भी होगा और तुलनात्मक विवेचन भी होगा। वर्तमान काल में पाश्चात्य फिजियालाजी पर ही निर्भर किया जाता है एवं दोष धातु मल विज्ञान उपेक्षित है। सिलेक्स आदि में आयुर्वेद का ही प्रमुख स्थान रहे।

व्यावहारिक शिक्षा में आयुर्वेदिक निदान को ही प्रमुखता दी जावे। यांत्रिक परीक्षा प्रणाली की शिक्षा अन्तिम वर्षों में आयुर्वेद के साथ सहयोगी के रूप में रहे, यानी आवश्यकता हो तो यांत्रिक परीक्षा भी कर सके। वर्तमान समय की भाँति आयुर्वेदिक निदान के उपेक्षित होने से और यांत्रिक परीक्षा की प्रधानता के कारण छात्रों की बुद्धि का विकास तो होता नहीं, वे यन्त्र के अधीन हो जाते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि कर्म जीवन में स्वकीय विचार बुद्धि की दूरदर्शिता के अभाव में रोगी का जीवन यन्त्र के हाथों ही रह जाता है। आयुर्वेद के पञ्च निदान यानी निदान, (हेतु) पूर्व-रूप, रूप उपशय और सम्प्राप्ति के अनुसार छात्र व्यावहारिक ज्ञान को प्राप्त करें।

आयुर्वेद तथा आयुर्वेद सम्बन्धित वेद, उपनिषद् एवं तंत्रों में रोगी की परीक्षा के लिए परमावश्यक विषय बनाये गये हैं। उस सम्बन्ध में अनुसन्धान द्वारा बहु तत्त्व हमारे समक्ष आयेंगे।

वर्तमान समय में रोगी को परीक्षा के लिए आयुर्वेद में तीन मुख्य साधन हैं। जिन में पुनः पुनः अभ्यास और बुद्धिरूपी दीपक द्वारा ज्ञान लाभ करने की पद्धति है।

दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न द्वारा रोग निर्णय।

आप्त वचन या शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा पुनः पुनः मनन एवं स्मरण से जो ज्ञानमूलक दर्शन किया जाता है, उसे मानसिक दर्शन कहा जा सकता है। वास्तव में शास्त्रों में क्या है, उन तत्वों के पूर्ण ज्ञान के बिना इस प्रकार दर्शन हो नहीं सकता। इस लिये शास्त्र-दर्शन की आवश्यकता है। रोगी का दर्शन कर के शास्त्रीय प्रमाणों के साथ मिलान करने के लिए मानसिक या बौद्धिक दर्शन की बड़ी आवश्यकता है—इसलिए आयुर्वेद एवं आयुर्वेद से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों का अध्ययन उत्तम रीति से यदि न हो तो छात्र मानसिक दर्शन से बन्धित रह जायगा। वर्तमान समय में प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान भण्डार को एक साथ ग्रहण करने की जो चेष्टा होती है इससे न आयुर्वेदिक शास्त्रीय प्रमाणों से ही ज्ञानमूलक दर्शन होता है न पाश्चात्य प्रमाणों की ही सिद्धि होती है। इसलिए प्रारम्भ में आयुर्वेदिक आप्त वचनों की सिद्धि के लिये यत्न होना परमावश्यक है।

आप्तवचन के साथ प्रत्यक्षदर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान की आवश्यकता है। चक्षु आदि वहिरिन्द्रिय तथा मन बुद्धि आदि के सम्बन्ध में गम्भीर रूप से देख कर रोग और रोगी के सम्बन्ध में जो निश्चयात्मक ज्ञानगत दर्शन किया जाता है, उसे ज्ञानज प्रत्यक्ष दर्शन कहा जा सकता है। वास्तव में सूक्ष्म एवं कुशाग्र बुद्धि के बिना ज्ञान हो नहीं सकता। ज्ञानगत दर्शन के बाद स्थूल प्रत्यक्ष दर्शन की आवश्यकता है। शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग एवं वातादि प्रकृति का निर्धारण और मलमूत्रादि की

यन्त्रादि द्वारा परीक्षा इसके बाद आती है। यदि केवल स्थूलज्ञान से ही छात्र का परिचय रहे तो जहाँ यन्त्रादि द्वारा परीक्षा असफल होगी वहाँ रोगी का जीवन भी नष्ट हो जायगा। इसलिए ज्ञानमूलक प्रत्यक्ष दर्शन की शिक्षा अत्यावश्यक है।

अस्तु ; प्रत्यक्ष के बाद प्रत्यक्षमूलक अनुमान द्वारा रोग परीक्षा की आवश्यकता होती है, क्योंकि संसार में सभी वस्तु स्थूलदृश्य नहीं होता, सभी रोगों में कीटाणु या जीवाणु संस्पर्श भी नहीं होता, और न सभी जीवाणुओं का दर्शन हो सकता है। इसमें पूर्ण सफलता की ही आशा नहीं दीख रही है, इसलिए प्रत्यक्ष स्थूलदर्शन के बाद जहाँ रोग निर्णय के लिए कोई मार्ग रह नहीं जाता वहाँ ऋषियों ने प्रत्यक्ष मूलक अनुमान को ही साधन बनाया है। अनुमान लिङ्ग परामर्श को कहा जाता है, क्योंकि चिह्न द्वारा जो अनुमान लगाया जाता है, उस से भूत, वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित धारणा हो सकती है, और वास्तव में अनुमान ज्ञान में ही चिकित्सा के सारे तत्वों का समावेश है, शास्त्रीय प्रमाण, प्रत्यक्ष दर्शन एवं यन्त्रादि द्वारा परीक्षा से जहाँ रोग निर्णय नहीं हो पाता वहाँ यदि चिकित्सक कुशाग्र बुद्धि बहुदर्शी तथा अनेक रोगियों की परीक्षा किया हो तो अनुमान दर्शन द्वारा वह रोगी की जीवन रक्षा में सफल हो जाता है। क्योंकि, अनुमान में तर्क, युक्ति और बुद्धि का पूर्ण संयोग रहता है, इसलिए ही महर्षि चरक ने कहा कि जो तत्वज्ञ चिकित्सक बुद्धिरूपी दीपक को लेकर रोगी की अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं करता वह रोगों को हटाने में असमर्थ ही रहता है। महर्षि मनु महाराज ने भी कहा कि केवल शास्त्र द्वारा निर्णय न करे क्योंकि जहाँ तर्क युक्ति का अभाव

सन् १९५१]

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

८३६

है वहाँ सर्वनाश भी हो सकता है, इसका समर्थन चरक सिद्धिस्थान में भी किया गया है।

चिकित्सक केवल शास्त्र पर निर्भर न रहे अपनी प्रगाढ़ बुद्धि द्वारा तर्क युक्ति से रोगी को चिकित्सा में वह अप्रसर हो। आजकल चिकित्सक यान्त्रिक परीक्षा पर ही पूर्ण निर्भर करते हैं। इसलिए जहाँ यांत्रिक परीक्षा का अभाव या असफलता होती है, वहाँ रोग निर्णय हो नहीं पाता। एक जमाना ऐसा भी था जब प्रत्येक चिकित्सक अलग २ बुद्धिरूपी दीपक से नवीनता को सामने लाता था; पर आज एक व्यक्ति की बुद्धि पर लाखों करोड़ों व्यक्ति निर्भर रहते हैं। जैसे माइक्रोस्कोप को ही लीजिये—यह एक व्यक्ति की बुद्धि की उपज है। किसी रोग में यदि रक्त परीक्षा द्वारा जीवाणु का दर्शन या ज्ञान न हो तो चिकित्सक की चिकित्सा वहीं समाप्त हो जायगी? इसीलिए यन्त्र पर पूर्ण निर्भर न होकर अनुमान या ज्ञान बुद्धिरूपी दीपक पर ही अधिक निर्भरशील होना चाहिए। आयुर्वेद में जैसा कहा गया है, सभी चिकित्सक बनने वालों के लिये वही श्रेष्ठ मार्ग है।

आयुर्वेद में दर्शन की जो प्रणाली दी गई है, वास्तव में रोगी की परीक्षा के लिए उसकी ही आवश्यकता है। मानव बुद्धि से ही यन्त्र का आविष्कार होता है, इसलिये बुद्धि प्रधान है एवं यन्त्र गौण। इसे ध्यान में रखना होगा।

अस्तु, आप्तवचन, प्रत्यक्ष एवं अनुमान के अलावा उपमान मनस्तत्त्व विश्लेषण, एवं सम्मोहन द्वारा रोग निर्णय प्रणाली आयुर्वेद एवं तन्त्र में पाई जाती है। अन्य वस्तुओं के सदृशीकरण रोगी के मनस्तत्त्व के अध्ययन द्वारा तथा रोगी को तद्गत चित्त वताकर निविड दृष्टि से अध्ययन द्वारा भी रोग निर्णय होता है।

दर्शन के बाद स्पर्शन कहा गया है। स्पर्श भी दो

प्रकार के हैं। शरीर के तापादि एवं अंग प्रत्यंगादि की हाथ तथा यन्त्र के द्वारा परीक्षा एवं नाड़ी विज्ञान (Science of Pulse) द्वारा रोग निर्णय।

नाड़ी विज्ञान एक प्रकार का शारीरिक टेलीग्राफ है। जैसे टेलीग्राफ में कुछ सांकेतिक ध्वनियों द्वारा अग्निगुण और वायुगुण बहुल तान्त्रे के तार द्वारा शब्द का क्षेपण और बोध होता है, उसी प्रकार हमारे शरीर में सुषुम्ना नाड़ी भी ताने के तार सदृश है। शरीर में कुछ ऐसे स्टेशन बने हुए हैं। धमनियों में जो स्पन्दन होते हैं, उसका सम्बन्ध सुषुम्ना से है, उन धमनियों में हाथ में अंगूठे के नीचे जो रक्तवहा धमनी है जिसे हस्तस्थित नाड़ी कही गई है उसमें जो स्पन्दन होते हैं, उसका सम्बन्ध हृदययन्त्र से है एवं हृदययन्त्र के द्वारा मस्तिष्क स्थित सुषुम्नाचक्र में वार्ता पहुँचती है, वास्तव में वायु पित्त और कफ की शरीर में किस प्रकार गतिविधि हो रही है, नाड़ीज्ञान द्वारा उस तत्त्व की जानकारी के लिए दूसरा अनुभव योग्य उपाय और कुछ भी हमारे पास नहीं। जहाँ रोग-निर्णय के लिये प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्ति तर्क, आप्तवचन एवं यांत्रिक उपाय द्वारा भी सिद्धान्त पर पहुँचना असम्भव हो जाता है, रोग का निदान, पूर्वरूपादि का अनुभव भी प्रत्यक्षीकरण या अनुमान द्वारा नहीं होता वहाँ नाड़ी-विज्ञान द्वारा त्रिदोष की गतिविधि जानने के लिए प्राचीन आचार्यों ने तान्त्रिक युग में नाड़ी-विज्ञान का आविष्कार किया था। जैसे संप्र-हणी निदान में कहा गया कि कभी सहोने में १५ दिन में या दस दिन में यदि संप्रहणी के लक्षण उप-स्थित हों और ठीक हो जाय तो बाद को असाध्य संप्रहणी का रूप धारण कर सकता है। परन्तु मंदाग्नि, अजीर्ण आदि उदर सम्बन्धी रोगों में भी ऐसे ही लक्षण उपस्थित होते हैं फिर ठीक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अनुपान द्वारा भी प्रायः

संप्रहणी का अन्दाज लगाना कठिन हा जाता है, परन्तु नाड़ी-विज्ञान की जानकारी हो तो वायु, पित्तादि की गति द्वारा भविष्य में क्या स्थिति हो सकती है उसका अन्दाज लगाया जा सकता है। त्रिदोष के प्रत्यक्ष अनुभव के लिये नाड़ी विज्ञान के अलावा संसार को दिखलाने के योग्य दूसरा कोई उपाय और है भी नहीं।

*वास्तव में प्राचीन आचार्यों की यह गवेषणा अनूठी थी और वे लोग नाड़ी विज्ञान द्वारा सर्व प्रकार रोग-निर्णय करनेमें समर्थ थे। केवल यही नहीं, बहिर्जगत के सभी जन्तुओं की गति के साथ जो नाड़ी जाति की तुलना की गई थी, उसे अतुलनीय कहा जा सकता है। हंस, कौआ, हाथी, घोड़ा, मोर, लाव, सर्प मेढक आदि विभिन्न जीवों की गति के साथ नाड़ी की गति कैसे होती है और उसप्रकार किसी जीव की गति हो तो कौन सा रोग हुआ है, इसप्रकार अन्वेषण आज के भौतिकवादी संसार के समक्ष एक समस्या बन गयी है। परन्तु उस युग की यह सवश्रेष्ठ देन के

*आचार्य गङ्गाधर, महामहोपाध्याय स्व० द्वारकानाथ सेन आदि के नाड़ी ज्ञान के सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं परन्तु कविराज शिरोमणि श्यामादास वाचस्पति महाशय का नाड़ी ज्ञान देखकर मैं स्वयं आश्चर्य में पड़ गया था। पूज्य आचार्यदेव कविराज श्री मान् योगेन्द्रनाथ तर्कषड्दर्शन-तीर्थ महाशय ने एक बार एक रोगी को स्व० श्यामादास कविराजजी के पास भेजा था और उस रोगी को लेकर मैं ही गया था। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि श्यामादासजी ने उस रोगी से न कुछ पूछा और न अच्छी तरह देखा ही, केवल ५ मिनट तक नाड़ी परीक्षा की और रोगी के लिये औषधि निर्वाचन करके मेरे ही हाथों दिया। रोगी भी आश्चर्य में पड़ गया था कि असाध्य रोग का निदान बिला पूछताछ कैसे हो गया। व्यवस्थापत्र देखकर मेरे आचार्यजी ने कहा था कि निदान बिल्कुल ठीक है। इससे हो पता चल सकेगा कि कुछ दिन पहले भी आचार्य लोगों ने उसी परम्परा को जीवित रखा था।

लेखक

प्रति उपेक्षा के द्वारा हम रोग निदान के सर्वश्रेष्ठ उपाय से वंचित हो रहे हैं। नाड़ी विज्ञान के द्वारा भूत, वृत्तमान, भविष्य ही नहीं दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थान संश्रय, प्रगट और भेद जानने के लिए दूसरा कोई साधन भी नहीं है। वास्तव में त्रिदोष सिद्धान्त और त्रिदोष क्रियाशरीर को जानने के लिए यदि फिर से हम नाड़ी-विज्ञान की आलोचना न करें तो हमें त्रिदोष सिद्धान्त को भी छोड़ देना होगा, क्योंकि दोषों की गतिविधि का प्रत्यक्ष अनुभव दूसरे के समक्ष प्रतिष्ठित करने के लिए और क्या उपाय है?

आयुर्वेद में प्रश्न द्वारा भी रोग निर्णय के बहुत उपाय बताये गये हैं। अरिष्ट लक्षणों के सम्बन्ध में तो चरक इन्द्रिय स्थान एक विशिष्ट स्थान रखता है, वास्तव में पुनः पुनः अभ्यास रूप योग साधन के बिना इन तत्त्वों की जानकारी एवं उसमें प्रवेश लाभ असम्भव है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की यांत्रिकधारा पाश्चात्य देश के लिए हितकारी हो सकती है क्योंकि शीत प्रधान देशों में रोगों का आक्रमण प्राण प्रधान देश की भाँति द्रुतगति से नहीं होता। इस लिए जीवाणुओं की जाँति-पाँति की खबरे लेने का समय मिल ही जाता है, और वैज्ञानिक भी नित नवीन आविष्कार में संलग्न रहते हैं, परन्तु प्राण प्रधान दरिद्र भारत में रोगों के आक्रमण भी द्रुतगति से होते हैं एवं नवीन आविष्कार द्वारा प्रतिशोध शक्ति से शक्तिमान वैज्ञानिक भी यहाँ नहीं के बराबर हैं। दूसरी ओर प्राच्य पाश्चात्य की सम्मिलित प्रणाली की शिक्षा द्वारा वैज्ञानिक उत्पन्न नहीं होंगे, बल्कि पाश्चात्य देश के द्वारा जो भी आविष्कार होगा, उसका बिक्रीकेन्द्र भारत का बाजार होगा। अतः पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली में रोग निदान के लिए यांत्रिक परीक्षा अनिवार्य होने के कारण क्षत्र के

सन १९५१]

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

८४१

लिह रोगी-परीक्षा की अपेक्षा रक्तादि की परीक्षा की शिक्षा के लिए पैथालाजी और वैकटीरियालाजी के गवेषणागार में अधिक समय व्यतीत करना आवश्यक हो जाता है, परन्तु आयुर्वेद के अनुसार यांत्रिक ज्ञान वैकल्पिक है, बौद्धिक ज्ञान की अधिक आवश्यकता है। इसलिए आयुर्वेद के छात्रों के लिए प्रथम वर्ष से अन्तिम वर्ष तक निदान और चिकित्सा विषयक व्यावहारिक शिक्षा परमावश्यक है। वर्तमान समय में जिस ढङ्ग से अन्तिम वर्ष में चिकित्सा का खेल आयुर्वेदिक कालेजों में खेला जा रहा है इससे छात्र न तो सैद्धान्तिक ज्ञान पाता है और न व्यावहारिक ही। प्रायः कालेजों में अस्पताल का अभाव है, एवं जहाँ कुछ व्यवस्था है भी वहाँ शिक्षा प्रणाली के दोष के कारण छात्र जब स्नातक होकर निकलते हैं तो यही सोचते हैं कि आखिर हम कर्म जीवन में रोग और रोगी को कैसे संभालेंगे! परिणामस्वरूप आयुर्वेदिक निदान और चिकित्सा के ज्ञान के अभाव के कारण कर्मक्षेत्र में वे डाक्टरों के पदचिह्नों पर ही चलते हैं, Injection एवं रक्तादि की परीक्षा वहीं से करा लेते हैं, रोग निर्णय यदि भाग्यवश न हुआ तो Injection द्वारा चिकित्सा चलती है, और न हुआ तो भी नुकसान नहीं। पाश्चात्यों के द्वारा आविष्कृत औषधियों का अनुसन्धान तथा प्रयोग स्नातक करते रहते हैं। इसलिए शिक्षा सुधार की विशेष आवश्यकता है।

आयुर्वेदिक पाठ्यक्रम का सुधार

(३)

आयुर्वेद के अनुसार चिकित्सक की आवश्यकता इसलिए है कि चिकित्सक के प्रयत्नों से देशवासी नीरोग रहें, इस कारण नैतिक दृष्टि से चरित्रवान, आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों से परिचित, रसायन-

ज्ञानी, और रोग हो जाय तो निदान और चिकित्सा द्वारा रोग को दूर करने में समर्थ व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

अस्तु, प्रथमोक्त तीनों विषय राष्ट्रीय चरित्र के द्योतक हैं क्योंकि जिस देश में चरित्रवान, मौलिक सिद्धान्त के जानकार और नीरोग रखने के लिए प्रयत्नशील चिकित्सक न होंगे, उस राष्ट्र की उन्नति असंभव है। प्रथमोक्त विषय राष्ट्र की सम्पत्ति है, शेषोक्त विषय सामाजिक है, क्योंकि समाज में रहने वाले व्यक्तियों में यदि रोगों का प्रभाव रहे तो समाज-देह की शक्ति ही नष्ट हो जायगी। समाज से ही राष्ट्र बनता है, इसलिए समाज और राष्ट्र की रक्षा के लिए शिक्षा प्रणाली में सुधार अनिवार्य हो जाता है।

आयुर्वेद में इस कारण चारित्रिक शिक्षा, सैद्धान्तिक शिक्षा और रसायन सेवन द्वारा नीरोग रहने पर अधिक जोर दिया गया है। चरकादि ग्रंथों में शुरु से अन्त तक इस कारण चरित्र और सिद्धान्त का वर्णन है। ज्वरादि रोगों के वर्णन के पहले रसायन अधिकार कहा गया है। इसलिए पाठ्यक्रम की रचना में भी प्रारम्भ से ही तीनों विषयों का अध्ययन होना चाहिए।

चरित्र और सिद्धान्त के अन्दर आयुर्वेदिक स्वस्थवृत्त जिसे हम राष्ट्रीय और सामाजिक स्वास्थ्य-रक्षा का विधान कह सकते हैं, समाता है। इसलिए प्रथम वर्ष में ही पाठ्यक्रम के साथ नैतिक चरित्र रक्षा और मौलिक सिद्धान्त जोड़ देना होगा एवं उसके साथ स्वास्थ्य के लिए ओजस्कर उपायों की शिक्षा भी शुरु से ही होनी चाहिए। इसके बाद आता है रोग निदान और चिकित्सा। रोग निदान और चिकित्सा के दीर्घ अभ्यास

के लिए इन्हें भी प्रथम वर्ष से ही प्रारम्भ करना चाहिए। आयुर्वेदिक रोग निदान और चिकित्सा के लिए निदान के सर्व प्रकार के उपाय की, जिस से बुद्धि रूपी दीपक द्वारा रोगी की अन्तरात्मा में चिकित्सक प्रवेश कर सके, ऐसी शिक्षा देनी होगी।

निदान और चिकित्सा से सम्बन्धित विषयों के अध्ययन के लिए आयुर्वेदिक छात्रों को जिन प्रधान विषयों की आवश्यकता है, वे निम्नोक्त प्रकार हैं।—

निदान दो प्रकार के हैं—एक काय चिकित्सा के लिए, दूसरा शल्य चिकित्सा के लिए।

काय-चिकित्सा के निदान के लिए पहले कहे गये सभी विषय आते हैं, एवं चिकित्सा के लिए द्रव्य-गुण, औषधि निर्माण, पंचकर्म विधान, शरीर रचना, स्थूल शारीर और क्रिया शारीर का ज्ञान।

शल्य चिकित्सा के लिए शल्य-विज्ञान एवं शल्य सम्बन्धी हस्त कौशल (प्रसूति तन्त्र आदि भी इसके अन्तर्भूत हैं)। निदान और चिकित्सा के लिए उप-रोक्त विषय प्रधान एवं शेष अप्रधान हैं।

इस कारण पाठ्यक्रम निम्नोक्त प्रकार होना चाहिए।

प्रथम वर्ष—नैतिकचरित्रविषयक अध्याय, मौलिक सिद्धान्त, दीर्घ जीवन और स्वस्थ रहने के उपाय मूलक रसायन अधिकार, आयुर्वेदिक स्वस्थ वृत्त, निदान (आयुर्वेद के अनुसार सर्वप्रकार के उपाय सहित), चिकित्सा (सैद्धान्तिक और व्यावहारिक), औषधि निर्माण, द्रव्यगुण, शारीर रचना, शारीरक्रिया।

द्वितीय वर्ष—मौलिक सिद्धान्त, स्वस्थवृत्त, निदान, चिकित्सा, पाश्चात्य शारीर रचना,

शारीर क्रिया (दोष, धातु मल विज्ञान के अलावा पाश्चात्य शारीर क्रिया में जिन विषयों का वर्णन किया गया है, रस रसायन, आयुर्वेदिक शल्य विज्ञान (Scientific Surgery), द्रव्य-गुण, औषधि निर्माण।

तृतीय वर्ष—मौलिक सिद्धान्त, निदान चिकित्सा, वातरोग चिकित्सा, व्यवहार आयुर्वेद, अगदतन्त्र, आयुर्वेदिक नागरिक स्वास्थ्य, पाश्चात्य नागरिक स्वास्थ्य, आयुर्वेदिक प्रसूति निदान और चिकित्सा, पाश्चात्य शल्य विज्ञान का हस्त कौशल, आयुर्वेदिक शालाक्य-निदान और चिकित्सा, रस शास्त्र।

चतुर्थ वर्ष—निदान, चिकित्सा, आयुर्वेदिक शालाक्य-निदान व चिकित्सा, पाश्चात्य शालाक्य-विषयक शारीर रचना, और यांत्रिक हस्तकौशल, पाश्चात्य प्रसूतितंत्र विषयक यांत्रिक हस्त कौशल, (Midwifery & Gynecology), पाश्चात्य यांत्रिक परीक्षा (Pathology and Bacteriology)

पंचम वर्ष—पंचम वर्ष में भी चतुर्थ वर्ष के विषयों का अध्ययन होगा।

आयुर्वेदिक निदान और सिद्धान्त के अन्तर्भूत पदार्थ विज्ञान है, इसलिए उसे एक पृथक् विषय समझ कर पढ़ाना अनावश्यक है। पाश्चात्य Physics, Chemistry और Biology आयुर्वेदिक विद्यार्थियों के लिए एक अनावश्यक बोझ है। आयुर्वेदिक चिकित्सक के लिए कर्म-जीवन में इनकी आवश्यकता नहीं के बराबर है। यदि कोई अपने को विशेषज्ञ बनाने के लिए उत्सुक हो तो पंचम वर्ष में इन विषयों का साधारण ज्ञान करा दिया जावे, जैसे प्रथम वर्ष में आजकल कराया जाता है। पंच वर्ष के बाद एक

सन् १९५१]

आयुर्वेदिक शिक्षा सुधार योजना

८४३

वर्ष स्नातक लेवरेटरी में अपना ज्ञान बढ़ावे। इसके अलावा शल्य, शालाक्य, प्रसूति तंत्र, पाश्चात्य बाल-रोग चिकित्सा, पाश्चात्य निदान और यांत्रिक जीवाणु-परीक्षादि विषयों के विशेषज्ञ बनने के लिए पांच वर्ष के बाद एक वर्ष तक केवल उसी विषय का ही अध्ययन करें।

परन्तु प्रारम्भ से अन्ततक समग्र एलोपैथी शास्त्र और समग्र आयुर्वेद शास्त्र को पाठ्यक्रम के साथ जिस ढंग से जोड़ा गया है इससे आयुर्वेद और एलोपैथी दोनों का ही सत्यानाश हो रहा है। विशेष रूप से पाश्चात्य मेडीसिन पढ़ाने का परिणाम आयुर्वेद के लिए घातक ही रहा है। इसलिए पाश्चात्य विषयों के सैद्धांतिक अंशों का अध्ययन तो ठीक है, परन्तु ओषधि विषयक ज्ञान द्वारा कोमलमति छात्रों का दिमाग विगड़ता जा रहा है। इसलिए पाठ्यक्रम सावधानी से बनाना पड़ेगा। यदि दोनों विषयों का ज्ञाता चिकित्सक को बनाना हो तो सब से उत्तम यह मार्ग है कि पाठ्यक्रम आठ वर्ष का हो—प्रथम चार वर्ष आयुर्वेद, और शेष चार वर्ष तक एलोपैथी का अध्ययन हो। जबतक विषयों का पूर्ण अध्ययन न होता तबतक होनहार चिकित्सकों से क्या आशा की जा सकती है ?

आयुर्वेद पढ़ने के लिए छात्र की योग्यता एवं आयु पर विशेष ध्यान देना होगा—आयु १८ वर्ष से कम न हो।

योग्यता—

- (१) संस्कृत मध्यमा—भाषा परिच्छेद, तर्कसंग्रह और सांख्यकारिका का ज्ञान, हिन्दी का उत्तम ज्ञान एवं अंग्रेजी साधारण।
- (२) दर्शन की प्रथमा—हिन्दी का उत्तम ज्ञान, अंग्रेजी साधारण।

(३) मैट्रिक—

संस्कृत प्रथमा, भाषा परिच्छेद, तर्क संग्रह, सांख्यकारिका का ज्ञान, हिन्दी का उत्तम ज्ञान। भाषा परिच्छेद, तर्कसंग्रह, सांख्यकारिका का ज्ञान सहित।

(४) इन्टर—

(५) इन्टर सायन्स— " हिन्दी के ज्ञान सहित।

आयुर्वेद कालेजों में प्रवेश के लिए इच्छुक छात्र की योग्यता में संस्कृत और हिन्दी प्रधान हो, संस्कृत-ज्ञान में सांख्य एवं न्याय दर्शन की प्रवेशिका का ज्ञान अनिवार्य होना चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र से जो भी विषय पढ़ाया जाय उसे अंग्रेजी भाषा में न पढ़ाकर हिन्दी या संस्कृत में पढ़ाया जाय।

Medical Jurisprudence and Toxicology आदि के सम्बन्ध में पुस्तकें हिन्दी और संस्कृत में अनूदित हों।

यदि सरकार अनुसन्धान विभागमें ग्रन्थ रचना तथा ग्रन्थ सुधार का कार्य करे तो छात्रों को सरलता से आगे बढ़ने की सुविधा होगी।

आयुर्वेदिक शिक्षालयां से उत्तीर्ण स्नातकों को केवल आयुर्वेदीय उपाधि ही देनी चाहिए ताकि वे डाक्टर न बन जावें।

अयुर्वेदिक कालेजों में अध्यापकों को आजीविका के लिए जो वेतन दिया जाता है, उससे उत्तम व ज्ञानवान अध्यापक दुर्लभ ही हो रहे हैं। जो भी हैं, वे सुयोग पाते ही अन्यत्र दौड़ते हैं, इसलिए मेडीकल कालेजों की भांति अच्छा वेतन दिया जावे।

आयुर्वेदिक कालेजों में ऐसे डाक्टरों की नियुक्ति अध्यापनके लिए न हो जो आयुर्वेद से अपरिचित हों। विद्यापीठ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन अथवा अन्य संस्थाओंसे उत्तीर्ण तथा प्रमाणपत्र प्राप्त आयुर्वेदज्ञ ही नियुक्त हों।

राजस्थान में आयुर्वेद

कविराज माधव प्रसाद शास्त्री

❀

बृहद् राजस्थान के सब राजकीय विभागों का एकीकरण (Integration) हो रहा है और आयुर्वेद-विभाग का भी होनेवाला है। पहली अप्रैल सन् १९५१ से अगला आर्थिक वर्ष आरम्भ होगा। इससे पूर्व समस्त विभागों का एकीकरण समाप्त हो जायगा और उसी के अनुसार प्रत्येक विभाग का वार्षिक बजट सन् १९५१-५२ का निश्चित हो जायगा और कर्मचारियों के पद तथा संख्या भी।

किस-किस विभाग में कौन-कौन से पद रखे गये हैं और किस-किस श्रेणी की 'सर्विसेज' में रखे गये हैं इसका निर्णय राजस्थान सरकार के जनरल एडमिनिस्ट्रेशन विभाग ने ता० २० नवम्बर १९५० के गजट-विशेषाङ्क चतुर्थभाग 'आ' में अपनी विज्ञप्ति द्वारा प्रकाशित कर दिया है।

इस विज्ञप्ति के अनुसार राजस्थान सरकार ने भी सर्विसेज को चार विभागों में विभक्त किया है—

- १—स्टेट सर्विसेज,
- २—सबॉर्डिनेट सर्विसेज,
- ३—मिनिस्टोरियल सर्विसेज,
- ४—क्लास चार सर्विसेज।

इनमें संख्या तीन श्रेणी में क्लर्क, हैड क्लर्क, लेखक, मोहरिर, नाजिर, अकाउन्टेन्ट, दफ्तरी, आदि कमचारी रखे हैं। इसी प्रकार संख्या ४ में नौकर श्रेणी के कर्मचारियों की गणना की है, जैसे नाई, धोबी, भिखी, फरांस, बार्डबाम, हरिजन, दाई, ड्रायवर, चौकीदार, चपरासी, पाचक, जमादार,

सईस आदि। इनकी भी संख्या नियत नहीं की गई है और ये विभाग एवं कार्यालय की आवश्यकता-नुसार मिलेंगे ही परन्तु महत्वपूर्ण तो नं० १ और नं० २ सर्विसेज हैं जिनके कर्मचारियों की लग-भग संख्या नियत व निश्चित कर दी गई है और उन्हीं के अनुसार एकीकरण विभाग (Integration Department) अथवा पब्लिक सर्विस कमिशन कर्मचारियों की नियुक्तियां कर रहा है।

इन विज्ञप्तियों के अनुसार आयुर्वेदिक विभाग में नं० १ और नं० २ की सर्विसेज में निम्नोक्त पदों की स्वीकृतियां हुई हैं :—

१८—स्टेट सर्विसेज में

- (१) डायरेक्टर ऑफ आयुर्वेदिक डिपार्टमेंट
- (२) मैनेजर इन्चार्ज ऑफ फार्मसीज एण्ड रजिस्ट्रार कम सेक्रेटरी ऑफ दी बोर्ड ऑफ रजिस्ट्रेशन

२—सबॉर्डिनेट सर्विसेज—

- (१) इन्स्पेक्टर ऑफ आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी डिस्पेंसरीज
- (२) वैद्य और एसिस्टेन्ट वैद्य ऑफ फार्मसीज
- (३) वैद्य और हकीम डिस्पेंसरियों के लिये
- (४) कम्पाउण्डर

इसके अतिरिक्त 'शिक्षा विभाग' के अधीन आयुर्वेदिक शिक्षा को पृथक करके उसमें निम्नलिखित स्थान स्वीकृत किये गये हैं :—

- (१) सुपरिन्टेन्डेन्ट आयुर्वेदिक स्टडीज

सन् १९५१]

राजस्थान में आयुर्वेद

८४५

(२) प्रिन्सिपल आयुर्वेदिक कालेज

(३) अध्यापक

इसका अभिप्राय है कि आयुर्वेद के तीन स्वतंत्र विभाग होंगे :—

(१) डायरेक्टर—जिसके अधीन औषधालयों का कार्य होगा।

(२) फार्मसी—जिसका काम औषधियाँ बनाना और देना होगा।

(३) कालेज—जो आयुर्वेद की शिक्षा देगा, परन्तु नं० २ अर्थात् फार्मसी वालों को वैद्यों के रजिस्ट्रेशन का कार्य भी करना होगा।

इस नवीन एकीकरण के अनुसार सारे राजस्थान में केवल ३०० के लगभग औषधालय होंगे, जिनमें प्रायः एक वैद्य और कहीं-कहीं दो वैद्य तथा कम्पाउण्डर होंगे जो रोगियों में औषधियाँ वितरण करते रहेंगे। जोधपुर, जयपुर और उदयपुर में एक-एक इन्स्पेक्टर रख दिये जावेंगे जो इन-इन डिवीजनों के अन्तर्गत औषधालयों का समय-समय पर इन्स्पेक्शन करते रहेंगे और इन सब के ऊपर एक डायरेक्टर होंगे।

जयपुर, उदयपुर तथा बून्दी में आतुरालय (Hospitals) हैं जहाँ रोगी रखे जाते हैं (Indoor wards) और चिकित्सा होती है, परन्तु इन हास्पिटलों का कहीं पर भी नवीन व्यवस्था में नाम नहीं है। यह तो सम्भव है कि जयपुर का आतुरालय वहाँ के आयुर्वेदिक कालेज के साथ सम्बन्धित है अतः उसका उल्लेख डायरेक्टर-विभाग में न हो परन्तु आयुर्वेदिक शिक्षा-विभाग में भी नवीन व्यवस्था में उस आतुरालय का कहीं अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। उदयपुर तथा बून्दी के आतुरालय में दो-दो, तीन-तीन वैद्य कार्य करते हैं जो अह-

१ निश बारी-बारी से ड्यूटियाँ देते हैं और प्रत्येक समय ८ जटिल एवं आवश्यक आशु चिकित्स्य रोगियों को प्रविष्ट करके उनकी सेवा करते हैं। जिन लोगों और राज्याधिकारियों ने बून्दी का आयुर्वेदिक आतुरालय देखा है वे जानते हैं कि वह आधुनिक एलोपैथिक आतुरालय से किसी भी बात में कम नहीं है और रोगीसंख्या एवं चिकित्सालाभ में वह एलोपैथिक आतुरालय से अधिक जनप्रिय है। यह केवल कहने और प्रचार करने मात्र की बात नहीं है; इसकी सत्यता सरकारी या गैरसरकारी प्रमाणों और आँकड़ों से जानी जा सकती है। इन आतुरालयों में ४-५ कम्पाउण्डर और शल्य ढूँसर भी हैं तथा नर्स भी जिनकी संख्या यद्यपि वही के एलोपैथिक आतुरालय से आधी भी नहीं है, फिर भी उनका कार्य उन आतुरालयों से अधिक व्यवस्थित और योग्य है, परन्तु नवीन व्यवस्था में इन आतुरालयों, इनके वैद्य, ढूँसर और नर्सों का कहीं नाम भी नहीं है।

यद्यपि युग जनतन्त्रवाद कहलाता है परन्तु जनप्रिय बातें अमल में नहीं लायी जाती हैं अन्यथा क्या कारण है कि भारत की ६० फी सदी जनता जिस चिकित्सा से लाभ उठाती है और जिस चिकित्सा पद्धति को विकसित और पुष्ट करने की हामी है, उसकी यह दुर्दशा केवल गिने हुए अभारतीय मस्तिष्क वाले दो-चार अधिकारियों द्वारा हो रही है। इसी प्रकार सारे राजस्थान में इस समय तीन डिस्ट्रिक्ट आयुर्वेदिक आफीसर (बून्दी, मालावाड़ और हूँगरपुर) में हैं। तथा दो यूनिट आफीसर (धौलपुर और अलवर) में हैं जो अपने-अपने जिले अथवा इकाई में बड़ी योग्यता एवं परिश्रम-पूर्वक चिकित्सा-व्यवस्था (Medical relief) संगठन और जनसेवा कर रहे हैं। परन्तु नई व्यवस्था में उनका

भी लोप कर दिया गया है। वे या तो इन्सपेक्टर बना दिये जायेंगे या डिस्पेंसरी इञ्चार्ज दें।

इसके मुकाबिले में यदि हम मेडीकल विभाग के एकीकरण की नई व्यवस्था देखते हैं तो उसी जगह गजट में स्टेट सर्विसेज में निम्नलिखित पद हैं :—

नाम	संख्या
(१) डायरेक्टर	१
(२) डिप्टी डायरेक्टर	२
(३) एसिस्टेंट डायरेक्टर	६
(४) डिस्ट्रिक्ट मेडीकल आफीसर	२५
(५) हेल्थ आफीसर	३
(६) प्रिन्सिपल मेडीकल आफीसर	१३
(७) सुपरिण्टेण्डेंट हास्पिटल्स	३
(८) " टी० बी० सेनेटोरियम	१
(९) सीनियर फिजिशियन्स	३
(१०) फिजिशियन्स	६

इनके अतिरिक्त इसी श्रेणी में चीफ नर्सिंग सुपरिण्टेण्डेंट, वाइटल स्टेटिस्टिक आफीसर, एकाउण्ट्स आफीसर, स्टाफ मेडीकल आफीसर, सीनियर स्त्री-रोग चिकित्सक, सीनियर शालाक्य चिकित्सक, तथा नर्सिङ्ग सुपरिण्टेण्डेंट्स, मैट्रन्स, चीफ पब्लिक एनालिस्ट, केमीकल एक्जामिनर, एवं मैनेजर स्टोर हैं। इसमें सर्जिकल स्टाफ की गणना छोड़ दी है जो पृथक् है। इसी प्रकार सबोर्डिनेट सर्विसेज में—

१. एसिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेंट्स हास्पिटल्स,
२. " हेल्थ आफीसर्स,
३. " मैट्रन्स,
४. सिस्टर्स और जूनियर सिस्टर्स,
५. नर्सज एवं नर्सदाइयाँ,
६. कम्पाउण्डर्स आदि-आदि हैं।

अब पाठकगण जरा दोनों की तुलना करके देखें कि इनके विभाग में एक डायरेक्टर के नीचे दो डिप्टी

और छः असिस्टेंट डायरेक्टर हैं जब कि आयुर्वेद में यदि डायरेक्टर लम्बी छुट्टी पर जावे तो उसके स्थान पर कार्य करने वाला एक असिस्टेंट तक नहीं है। फिर एलोपैथिक विभाग में प्रान्त के जितने जिले हैं लगभग उतने ही डिस्ट्रिक्ट मेडीकल आफीसर हैं परन्तु आयुर्वेद विभाग में जो पांच डिस्ट्रिक्ट आफीसर थे उनकी भी इतिश्री कर दी गई है। बाकी प्रिन्सिपल मेडीकल आफीसर्स, हेल्थ आफीसर्स, सुपरिण्टेण्डेंट हास्पिटल आदि के मुकाबिले में तो वेबारे आयुर्वेद के पास कुछ है ही नहीं। एलोपैथी में तो मैट्रन, असिस्टेंट मैट्रन, सिस्टर्स, नर्सों और दाइयाँ की भरमार है परन्तु आयुर्वेद के आतुरालय में तो परिचारकों का नाम तक नहीं है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि स्वास्थ्य की व्यवस्था करने वालों के दिमाग में शायद हास्पिटल्स, आफीसर्स, मैट्रन्स और नर्सों आदि स्टाफ एवं प्रबन्ध पर केवल डाक्टरों और एलोपैथी का ही ठेका है। इस प्रकार के अधिकारियों से यह निवेदन है कि वह एक बार उदयपुर तथा वृन्दी के आयुर्वेदिक आतुरालयों (hospitals) का अवश्य निरीक्षण करें और अपनी गलतफहमी दूर करें।

जनता की अधिक सेवा आयुर्वेद से होती है इस सत्य को किसी भी कसौटी पर कसा जा सकता है परन्तु आश्चर्य यह है कि खर्च अधिक उस विभाग पर किया जाता है जिससे केवल २० फी सदी जनता को लाभ पहुंचता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण सामने उपस्थित है कि आयुर्वेद एक उपयोगी विज्ञान है और अधिकसंख्यक जनता इससे लाभ उठा रही है; जो कुछ कमी या त्रुटि है तो वह सरकार की घातक नीति के कारण है और फिर भी इस में कमी लाने और त्रुटि उत्पन्न करने के ही उपाय सरकार कर रही है, बजाय इसके कि

सन् १९५१]

राजस्थान में आयुर्वेद

८४७

इसको सहायता और प्रोत्साहन देकर जो कमी गुलामी ने थोप दी है उसको पूरा ही नहीं करे बल्कि अन्य विज्ञानों से भी उन्नत बनने का मौका दे।

अतः हम सरकार को यही सुझाव देंगे कि जो कुछ पहले चल रहा है उसको स्थिर रखने की कृपा करें और निम्नलिखित वृद्धि आगामी वर्ष से अवश्य करें ताकि हम यह बता सकें कि आयुर्वेद स्वास्थ्य-संरक्षण और रोगमोचन दोनों में कितना समर्थ है :—

१—एक डिप्टी या अतिस्टेन्ट डायरेक्टर की नियुक्ति।

२—जोधपुर, बीकानेर, अलवर और कोटा में एक एक सर्वाङ्गपूर्ण ५० बेड का हास्पिटल खोले।

३—जोधपुर, बीकानेर, अलवर, कोटा, वूँदी और उदयपुर में डिस्ट्रिक्ट आयुर्वेदिक आफीसर रहें जो उक्त आतुरालयों के आयुर्वेदिक सुपरिन्टेन्डेण्ट का कार्य भी फिलहाल करें।

४—डूंगरपुर, झालावाड तथा धौलपुर में भी डिस्ट्रिक्ट आयुर्वेदिक आफीसर कायम रखे जायें।

५—इनके अतिरिक्त फार्मसी विभाग में जो व्यवस्था

है उसमें भी निम्नलिखित सुधार की आवश्यकता है :—

मैनेजर फार्मसी और रजिस्ट्रार की पोस्ट अभी एक नहीं होनी चाहिए। प्रारम्भ में रजिस्ट्रेशन का कार्य बहुत भारी है क्योंकि यहाँ अभी तक वैद्यों के रजिस्ट्रेशन सम्बन्धी कोई कार्य नहीं हुआ है और उधर फार्मसी मैनेजर को सारे राजस्थान में औषधियाँ सप्लाई करनी हैं। दोनों गुरु कार्य एक व्यक्ति से नहीं हो सकते हैं अतः फिलहाल तो दोनों पोस्टें पृथक् ही रखी जानी चाहिए। रजिस्ट्रार पृथक् नियुक्त किया जावे तथा एक “रजिस्ट्रेशन बोर्ड” स्थापित किया जावे जो रजिस्ट्रेशन सम्बन्धी विधान एवं नियम बना कर शीघ्र वैद्यों के रजिस्ट्रेशन का कार्य प्रारम्भ करदे। फार्मसी विभाग में एक अनुसन्धान शाला अवश्य स्थापित करनी चाहिए। इसके बिना आयुर्वेद की आवश्यक प्रगति होना कठिन है।

आशा है सरकार इन सुझावों पर अवश्य ध्यान देगी।

‘फिरङ्ग’ और ‘उपदंश’ संज्ञाएँ

चिकित्सा-सम्बन्धी नित्य वर्धमान वाङ्मय के विषय में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। इनमें एक संज्ञाओं की शुद्धि है। यत्न यह होना चाहिए कि केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, समस्त भारत में, सभी विषयों की संज्ञाओं का ऐक्य रहे। इस दृष्टि से ‘फिरङ्ग, उपदंश और ध्वजभंग’ तीन शब्दों का शुद्ध्यर्थ इन पंक्तियों में बताना चाहता हूँ।

प्रायः फिरंग और उपदंश शब्द पर्याय रूप में तथा ध्वजभंग शब्द क्लैव्य के लिये प्रयुक्त होता है। आयुर्वेदाचार्य डॉ. घाणेकर ने अपनी सुश्रुत टीका में (नि. अ. १२) विस्तार से तीनों शब्दों का शुद्ध अर्थ बताया है। विशेष जिज्ञासुओं को वहीं मूल तथा टीका में यह विषय देखना चाहिये।

तुलना से विदित होता है कि, चरक ने चि० ३०। १६२—१७६ में ध्वजभंग नाम से जिस रोग का वर्णन किया है उसीका सुश्रुत ने उपदंश नाम से निर्देश किया है। ‘भङ्ग’ शब्द यहाँ नष्ट होकर गिर जाने के अर्थ में है। जहाँ-जहाँ साव जाता है उस-उस स्थान में पाक उत्पन्न कर अन्त में उस स्थान को गला देता है—विशौर्यते मणिश्चास्य मेढूँ मुष्कावथापि वा (चरक)। ‘उपदंश’ शब्द में ‘दंश’ इसी अर्थ में प्रयुक्त है। दोनों के कारणों में ‘योनिरोगपीडित’ स्त्री का सङ्वास परिगणित है। अंग्रेजी में जिसे ‘सौफ्ट शॅकर’ कहते हैं वह यह है। इसमें किनारी अस्पष्टतया फिरङ्ग के समान अकठिन होने से इसे यह नाम दिया गया है।

फिरङ्ग वह रोग है जिसे अंग्रेजी में ‘सिफिलिस’ या ‘हार्ड शॅकर’ कहते हैं। उपदंश के लक्षण अपने काल में प्रचलित हुए फिरङ्ग रोगपर घटित न होने से उसे नवीन रोग निश्चित करके ही भावमिश्र ने इसे नया ‘फिरङ्ग’ नाम दिया। दोनों रोगों के पार्थक्य का यह भी एक प्रमाण है। चिकित्सक तथा औषध-विक्रता इन तीनों शब्दों के इस शुद्ध्यर्थ को लक्ष्य में रखें।

—वैद्य रणजितराय

वैद्य-शिक्षण-शिविर, रानीखेत

हिमालय आयुर्वेद सम्मेलन रानीखेत के पूर्व निश्चयानुसार, पैरा ४ के अन्तर्गत रजिष्ट्रेशन के आवेदन कर्ता, युवक तथा प्रौढ़ (४० वर्ष तक की अवस्था के) वैद्यों का शिक्षण शिविर ता० १५ अप्रैल '५१ से प्रारम्भ होकर ता० १३ मई '५१ के दिन वार्षिक अधिवेशन के साथ समाप्त होगा। इस अवसर पर वैद्य बन्धुओं को प्रत्यक्ष शारीर, शरीर क्रिया विज्ञान, त्रिदोष विज्ञान, वनौषधि, खनिज, रोगविकृति, तथा चिकित्सा, रस, रसायन, व्यवहारायुर्वेद प्रभृति विषयों की क्रियात्मक शिक्षा दी जायेगी। शिक्षण वर्ग सफल होने वाले वैद्यों को उत्तर प्रदेश सरकार के डिप्टी डाइरेक्टर श्रीमान् दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी महोदय के करकमलों द्वारा प्रमाण पत्र दिये जायेंगे।

शिक्षण वर्ग में भाग लेने वाले वैद्यों को थाली, लोटा, गिलास, कटोरा तथा स्वतन्त्र विस्तरा, पहिने के वस्त्र धोती, कुर्ता प्रभृति, सामान लाना होगा। बौद्धिक में नोट्स लेने के लिये कॉपी तथा पेन्सिल अवश्य लाना चाहिये। एक महीने के शिक्षण वर्ग का शुल्क ५५) होगा, जिसमें २०) आवेदन पत्र के साथ मार्च '५१ के द्वितीय सप्ताह तक कार्यालय में अग्रिम भेज देना चाहिये और बाकी ३५) शिविर में प्रविष्ट होते समय जमा करना होगा।

भोजन, जलपान, निवास, प्रकाश का सामूहिक प्रबन्ध शिविराध्यक्ष की ओर से होगा।

निम्न प्रकार से आवेदन पत्र लिखकर अग्रिम शुल्क समेत शीघ्र भेज देंगे, जिससे कि स्थान का समुचित प्रबन्ध करने में सुविधा हो।

वैद्य गौरीदत्त पाण्डे
प्रबन्धक, शिक्षण शिविर, रानीखेत।

कविराज भोलादत्त पाण्डेय
मंत्री हि० आ० सम्मेलन।

आवेदन-पत्र

श्रीयुक्त विभागाध्यक्ष, वैद्य शिक्षण शिविर, रानीखेत।

महोदय, हिमालय आयुर्वेद सम्मेलन द्वारा आयोजित "वैद्य शिक्षण शिविर" में पैरा ४ के अन्तर्गत रजिष्ट्रेशन के इच्छुक वैद्य के नाते मैं भी सहर्ष भाग लेना चाहता हूं, अतएव मेरे लिये स्थान सुरक्षित कर अनुगृहीत करें। मैं ता० १४ अप्रैल '५१ को सायं-रानीखेत उपस्थित हो जाऊंगा।

शिक्षण शुल्क का अग्रिम २०) मनीआर्डर द्वारा भेज रहा हूं।

भवदीय—

तिथि

हस्ताक्षर

ग्राम

पोष्ट

हमारे कुछ वैद्योपयोगी प्रकाशन

आरोग्यप्रकाश—वैद्य और सर्वसाधारण सभी के लिए परम उपयोगी है। इस ग्रन्थ की ६८ हजार से अधिक प्रतियाँ छपकर हाथोंहाथ विक्रि चुकी हैं। ५१५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य प्रचार की दृष्टि से सिर्फ १॥॥) रखा गया है। डाकखर्च ॥८) है; परन्तु एक साथ तीन प्रति मँगाने पर डाकखर्च कार्यालय देगा।

आयुर्वेद-सारसंग्रह—विशेष रूप से वैद्यों के लिए ही वैद्योपयोगी ज्ञान का संकलन करवा कर इसको हमने प्रकाशित किया है। मूल्य—६) मात्र।

सिद्धयोग-संग्रह—आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के करकमलों द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न। मूल्य—२॥॥) मात्र।

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—त्रिदोष-सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण विवेचन।

मूल्य—२॥८) मात्र।

पदार्थविज्ञान—लेखक—पण्डित रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिंसिपल, अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कॉलेज, वेगूसराय। मूल्य—३॥॥) मात्र।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—लेखक—वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार। 'पदार्थ-विज्ञान' ग्रन्थ में आचार्य पाठकजी ने पदार्थविज्ञान पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार किया है। इस ग्रन्थ 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' में पाठकों को आचार्य रणजितराय के स्वतन्त्र मौलिक विचार मिलेंगे। मूल्य—५) मात्र।

मानसरोगविज्ञान—(पूर्वार्द्ध)—स्वर्गीय डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत। इस ग्रन्थरत्न में आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

मूल्य—५॥॥) मात्र।

शरीर-क्रिया-विज्ञान—(सचित्र; द्वितीय आवृत्ति)—समन्वय-पद्धति के इस ग्रन्थरत्न ने आयुर्वेदीय क्रिया शरीर के पाठ्यग्रन्थों का अभाव दूर कर दिया है।

मूल्य—६) मात्र।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर।

श्रेष्ठता और सस्तेपन का आधार

बड़े कारखानों की दवा क्योंकि सस्ती होती है इसीलिए वह नकली होगी ही इस प्रकार का वहम कुछ वैद्यों में फैला हुआ है। उनका ध्यान हम इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि व्यक्तिगत रूप से फुटकर दवा बनाने में और एक साथ बड़े पैमाने पर औषधों का निर्माण करने में लागत खर्च में कितना अन्तर पड़ जाता है। साथ ही, अनुभव तो यह भी कहता है कि आयुर्वेदीय औषधों की विशुद्धता की गारण्टी के लिए भी यह आवश्यक है कि उनका निर्माण बड़े पैमाने पर हो। कारण, बड़ी-बड़ी निर्माणशालाएँ यदि सच्चाई और जिम्मेदारी से काम करें तो उनके लिए यह बहुत ही आसान है कि वे बृहद् रूप से औषध-निर्माण के काम में आनेवाली जड़ी-बूटियों और खनिज द्रव्यों की खोज करें, उनका संग्रह करें और उनकी विशुद्धता की जाँच विशेषज्ञों द्वारा करा के शुद्ध औषधों का निर्माण करें। आज वैद्यनाथ दवाओं की श्रेष्ठता और सस्तेपन का यही आधार है।

हम आपको हजारों वैद्यों के उदाहरण दे सकते हैं जो पहले स्वयं ही थोड़ी मात्रा में दवा भी तैयार कर लेते थे, परन्तु अब अपने रोगियों को वैद्यनाथ दवाएँ देते हैं। उन्होंने अपने अनुभव से हमें बतलाया है कि दवा तैयार करने की दिक्त और भ्रमट से ही उन्हें छुटकारा नहीं मिला, बल्कि उनकी प्रैक्टिस भी बढ़ी है।

देशी दवाओं का संव से बड़ा विश्वासी कारखाना

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड

कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर



सांचित्र आयुर्वेद

कलकत्ता, जनवरी १९५१

[अङ्क]

आयुर्वेद - शास्त्रचर्चा - परिषद् - विशेषांक

अभिनन्दन

राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का युगानुरूप प्रति संस्कार करने के महद् उद्देश्य से नि० मा० आयुर्वेद महासम्मेलन के द्वारा समाहूत नि० मा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद्, पटना में सम्मिलित होने के लिए भारतवर्ष के सुदूर प्रान्तों से समागत विद्वद्बृन्द का श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के चारो निर्माण केन्द्रों, पचासो विकी केन्द्रों तथा १४ हजार से अधिक एजेन्सियों के सभी संचालकगण, कर्मचारीमण्डल तथा ग्राहकों-अनुयाहकों के उस विशाल जनसमुदाय की ओर से जिसका कि हम प्रतिनिधित्व करते हैं, हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। अपने पटना-निर्माणकेन्द्र के प्रांगण में आपका स्वागत करते हुए हमें आज जिस कल्पनातीत सुख का अनुभव हो रहा है, उसका वर्णन करने के लिए शब्द हमें ढूँढे नहीं मिल रहे हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि जिस महान् उद्देश्य के लिए आप आज यहां एकात्रित हुए हैं, उसमें आप पूर्ण सफल होंगे। पुनरपि आपका बारम्बार हार्दिक अभिनन्दन है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिः

सचित्र आयुर्वेद

निर्देशक

संदिग्धवनौषधि-निर्णायक, आयुर्वेद-महामहोपाध्याय, रसायनशास्त्री
श्री पं० भागीरथ स्वामी, आयुर्वेदाचार्य, मिषक्-चड़ामाणि

प्रधान सम्पादक

पं० रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

सहायक सम्पादक

पं० सभाकान्त झा, आयुर्वेदशास्त्री

वार्षिक मूल्य ४) साधारण अंक एक प्रति (=)

यकृत-अङ्क १) आयुर्वेद और सरकार अङ्क २)

प्राप्ति-स्थान

भारतवर्ष भर में सर्वत्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

के

४ निर्माणकेन्द्र * ५० बिक्रीकेन्द्र * १४ हजार से अधिक एजेंसियाँ

अथवा सीधे व्यवस्थापक, 'सचित्र आयुर्वेद', श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०,
कलकत्ता के पते पर अपना वार्षिक चन्दा ४) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

क्या आप अभी तक सचित्र आयुर्वेद के ग्राहक नहीं बने हैं? यदि नहीं, तो
आज ही ४) मनिआर्डर द्वारा भेजकर ग्राहक बन जाएँ।

आपका वार्षिक चन्दा इस अंक से समाप्त तो नहीं हो जाता? यदि हाँ, तो
अपना अगले वर्ष का चन्दा आज ही मनिआर्डर द्वारा भेज दें।

* सचित्र आयुर्वेद *

जनवरी—१९५१

नि० भा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद्, पटना की कार्यवाही
का सचित्र विस्तृत विवरण आगामी फरवरी अङ्क में पढ़ें ।

शास्त्र-चर्चा-परिषद्

विशेषांक

इस अङ्क का मूल्य—१) मात्र

चित्र निवेदन

सचित्र आयुर्वेद का प्रस्तुत अंक प्रेस में देने के समय तक भी जो लेख हमें शास्त्रचर्चा-परिषद् के लिए प्राप्त हुए हैं वे हमने अंक के अन्त में जोड़ दिये हैं। आशा है कि हमारे सम्मान्य पाठक इन सभी लेखों से लाभ उठाएँगे।

—स० सम्पादक



विषय-सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ
शास्त्रचर्चा परिषद्	५३०-५३९
पटना-शास्त्र चर्चा परिषद्	वैद्य रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य	... ५४०-५४४
त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसंधान योजना	डा० ए० लक्ष्मीपति	... ५५३-५६०
आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूल तरव	वैद्य पंचानन पं० गंगाधर शास्त्री गुणे	... ५६१-५६७
आसव, टिक्चर और मद्य	वैद्य पु० वि० धामणकर	... ५६८-५७४
हृदय-दौर्बल्य	प्रो० कृष्णा देवी वैद्या	... ५७४-५७७
दूसरोंके विचारोंका रोगीके मनपर प्रभाव	प्रो० लालजीराम शुक्ल, बी० ए०, बी० टी	... ५७८-५८६
कायाकल्प	क० राजेन्द्र प्रकाश आयुर्वेदाचार्य	... ५८०-५८४
सूतादि वटी बनाम अग्नि तुण्डी वटी	वैद्य रामनाथ प्रसाद गुप्त	... ५८५
स्वरभेद और ग्रहणी-रोग चिकित्सा	क० अमलाचरण सेन	... ५८६-५८७
मोतियाबिन्द की शल्य चिकित्सा	श्री सम्पति राय भटनागर	... ५८८-५९०
गर्भ का वर्ण और प्रकृति	क० अत्रिदेव गुप्त, आयुर्वेदालंकार	... ५९१-५९३
सरदियों में लहसुन का रसायन प्रयोग	वैद्य रामेशवेदी, आयुर्वेदालंकार	... ५९४-५९७
बकायन, स्पेथोडिया और खजूर	श्री भानुदेसाई	... ५९८-६०३
हृदय और रुधिर-प्रवाह	डा० रघुवीरशरण एम. ए., पी. एच. डी. (लंडन)	... ६०४-६०८
त्रिदोष का वैज्ञानिक विवेचन	डा० लक्ष्मीनारायण पचौरी ए.एम.एस. जबलपुर (म. प्रा.)	... ६०९-६१५
त्रिदोष का परिचय	डा० एन० एस० पराक्षपे	... ६१६-६१७
विवेच्य विषयों पर स्मृति पत्र	डा० डी० एन० वनर्जी	... ६१८-६१९
निर्दिष्ट विषयों पर संक्षिप्त वक्तव्य	वैद्य श्री भी० बी० डेवेंकर एम० ए० एम० एस० सी०	... ६२०-६२५
आलोचनात्मक वक्तव्य	क० कृष्णपद भट्टाचार्य	... ६२६-६३०

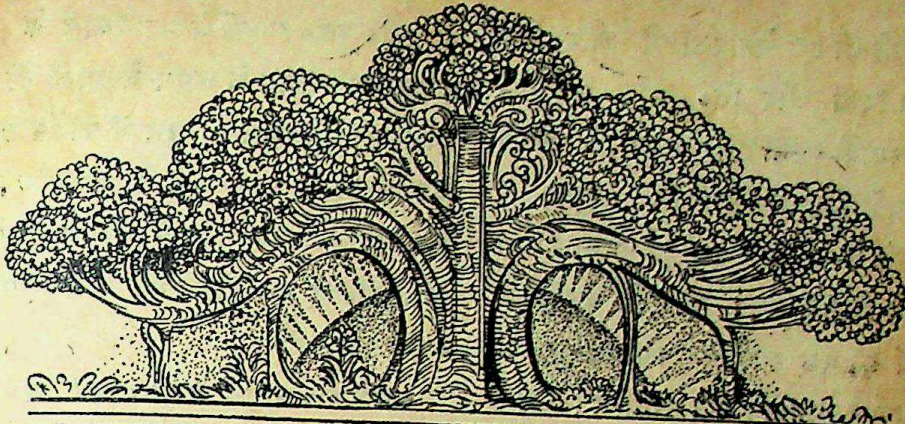
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के
नागपुर-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव



चित्र में—मध्यप्रदेश के स्वास्थ्यमंत्री माननीय श्री बालिंगे जी उद्बोधन-भाषण दे रहे हैं ; मंच पर उत्सव के अध्यक्ष पण्डित गोवर्धन शर्मा छांगाणी बैठे हैं ।

माननीय बालिंगे जी ने अपने उद्बोधक भाषण में आयुर्वेद को राज्य की ओर से अधिकाधिक सहयोग देने का आश्वासन दिया और दलबन्दी से अलग रहने की श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की नीति की प्रशंसा करते हुए आशा प्रकट की कि व्यापार करते हुए भी यह संस्था जिस प्रकार अब तक आयुर्वेद की सेवा करती रही है उसी प्रकार भविष्य में भी यह आयुर्वेद के अभ्युत्थान के लिए तत्पर रहेगी ।

* श्रीधन्वन्तरये नमः *



साधित आयुर्वेद

आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष ३

कलकत्ता, जनवरी १९५१

अङ्क ७

शास्त्रचर्चा-परिषद्

शुक्रत फरवरी १९५० के मध्य में भारत की केन्द्रनगरी दिल्ली में निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महा-मण्डल का सफल अधिवेशन हुआ था जिसका कि राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रहेगा। देश में स्वतन्त्र जनतन्त्र की स्थापना के साथ राष्ट्र की संस्कृति के पुनर्जागरण की जो सुनहली किरणें क्षितिज पर आ रही थीं वे इस संस्कृति के हृदयभूत जीवनशास्त्र आयुर्वेद को भी प्रकाशित करेंगी, इस की आशा वैद्यसमाज एवं आयुर्वेदप्रेमी जनता के हृदय में बलवती हो उठी थी। बहुत दिनों की उदासीनता के बाद एक बार फिर आयुर्वेद के अनेक विद्यावयोवृद्ध कर्णधार नवीन उत्साह के साथ रंगमंच पर आये और उन्होंने आयुर्वेद प्रेमियों का नेतृत्व ग्रहण किया। जो कार्यक्षेत्र में बराबर लगे हो थे उन में भी एक नवीन उमंग दिखायी पड़ी। राष्ट्रीय नेताओं एवं शिखरस्थ राजपुरुषों ने भी सम्मेलन में सौत्साह भाग लेकर आयुर्वेद के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया। महामण्डल के इस अधिवेशन में ही इस के विद्वान् अभ्यक्ष आयुर्वेद मार्तण्ड वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने अपने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाषण में वैद्यों को उन के इस प्रथम कर्तव्य के प्रति जागरूक किया था कि उन्हें आयुर्वेद का प्रतिसंस्कार यथाशीघ्र करने के लिए सचेष्ट होना चाहिए।

अपने सेनानी की इस चेतावनी की ओर वैद्य समाज ने ध्यान दिया और नि० भा० आयुर्वेद-महामण्डल की स्थायी समिति ने अपनी ७ अप्रैल १९५० की बैठक में निश्चय किया कि आयुर्वेद में प्रतिसंस्कार करने के उद्देश्य से इस वर्ष पटना में देश के कुछ चुने हुए विद्वान् वैद्यों, डाक्टरों, दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों की एक शास्त्रीय चर्चा-परिषद् की जाय। परिषद् में भाग लेने वाले सम्मान्य विद्वज्जनों के स्वागत-सत्कार का अवसर महामण्डल ने श्री वचनाथ आयुर्वेद भवन लि०, पटना को देकर हमें जो सेवा का अवसर दिया है उस से हमें बहुत ही प्रसन्नता है और हमारे सम्मान्य पाठकों को यह जान कर प्रसन्नता होगी कि 'सचित्र आयुर्वेद' का प्रस्तुत अंक जब उन के हाथों में पहुंचेगा तब तक परिषद् का अधिवेशन पटना में प्रारम्भ हो चुका होगा।

शुभ संयोग है कि पटना-शास्त्रचर्चा-परिषद् के अधिवेशन की तिथियों के मध्य में ही इस परिषद् की पूर्ववर्तिनी काशी-शास्त्रचर्चा-परिषद् के स्वागताध्यक्ष परम आयुर्वेदभक्त स्व० महर्षि पण्डित मदनमोहनजी मालवीय की पुण्य तिथि पड़ती है। वह पवित्र दिवस है १ जनवरी। भगवान् धन्वन्तरि से प्रार्थना है कि महर्षि मालवीय के स्मरण से इस अवसर पर हमें एक नवीन प्रेरणा प्राप्त हो।

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व नवम्बर १९३५ में काशी में आयुर्वेद के आधारभूत पंचमहाभूत और त्रिदोष सिद्धान्त के विषय में शास्त्रीय चर्चा करने के लिए एक सप्ताह तक विद्वानों की जो परिषद् समारोह-पूर्वक हुई थी वह अन्त में यह कहने की स्थिति तक ही पहुंची थी कि :—“इस परिषद् में विचार-विमर्श के बाद हम इस स्थिति तक पहुंच सके हैं कि भविष्य में इस प्रकार की परिषदों में अन्तिम निर्णय पर पहुंचने की आशा कर सकते हैं।” और जैसी कि वैद्यराज

डा० डी० एन० बनर्जी ने महामण्डल के १९५० के हरिद्वार-अधिवेशन के समय चेतावनी दी थी—“जब तक काशी-परिषद् के इतिवृत्त में वर्णित त्रिदोष-स्वल्प विषयक ५५ विभिन्न मतों का समन्वय नहीं किया जायगा तब तक आयुर्वेद के विरोधियों के हाथ में काशी-परिषद् का इतिवृत्त एक भयावह प्रमाण पत्र के रूप में रहेगा।”

और डा० बनर्जी के ही शब्दों में “हम नहीं समझते कि एक पटना परिषद् ही अन्तिम निर्णयों तक पहुंचने में समर्थ हो सकेगी ; तथापि हमें ठीक दिशा में आगे बढ़ना चाहिये।” इस ठीक दिशा के विषय में डा० बनर्जी के सुझाव मान्य पाठकों ने “सचित्र आयुर्वेद” के गत दिसम्बर अंक में पढ़े होंगे। हम आशा करते हैं कि पटना-परिषद् के संयोजक एवं सभ्यगण उन सुझावों से समुचित लाभ उठावेंगे और पटना में एकत्र होकर वे जो संवाद करेंगे उसके फलस्वरूप कोई ठोस चीज आयुर्वेद प्राप्त कर सकेगा, अपने अभ्युत्थान की दिशा में एक कदम और आगे वह बढ़ सकेगा।

डा० बनर्जी ने प्रत्येक विषय पर विचार-विमर्श कर के परिषद् में विचारार्थ उपस्थित करने के लिए मसविदा तैयार करने के उद्देश्य से चार-चार सुयोग्य अध्यापकों की एक-एक समिति बनाने का सुझाव दिया था। समयाभाव के कारण पटना-परिषद् से पूर्व यद्यपि इस प्रकार की व्यवस्था नहीं हो सकी, परन्तु हम समझते हैं परिषद् के अधिवेशन में ही ये समितियां बना दी जायें तो भविष्य में वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेंगी। हां, प्रत्येक समिति में सदस्य-रूप में चार से कम ही विद्वान् रहें, तो हमारे मत में उत्तम होगा। और यों विभिन्न माध्यमों द्वारा विचार-विमर्श करके एक-एक विषय पर पाठ्य ग्रन्थ बनाने की रूपरेखा तैयार करने के लिए

विद्वानों की उपसमिति सर्वोत्तम रहेगी। कारण, शास्त्रीय विषयों में जनतंत्रीय रीति से बहुमत को सब कुछ मान बैठना तो भयावह है और वास्तविक साहित्य संकलन, परीक्षण एवं समन्वय का कार्य कुछ गिने-चुने प्रतिभावन्तों को ही करना है। क्यों न ऐसे प्रतिभावन्तों को पूर्ण उत्तरदायित्व सौंप कर उनकी प्रतिभा का अधिकतम सम्भव लाभ उठाया जाय? और ये प्रतिभावन्त फिर जो निर्णय करें, उनसे हम साधारण जन अपने भ्रमों को दूर करें एवं आयुर्वेद के अभ्युत्थान में सहायक बनें।

यश की एक एषणा होती अवश्य है जिसके कारण हममें से प्रत्येक अपने-अपने विचार इसप्रकार की परिषदों या सम्मेलनों में अधिक से अधिक विस्तार के साथ उपस्थित करने को उत्सुक हो उठते हैं, और यह मानकर कि हमारे विचार नितान्त मौलिक, युक्तियुक्त एवं उपयोगी हैं, भले ही वास्तव में वे इसके विपरीत ही हों। इस प्रकार अनजाने ही हम बड़े कार्य सम्पन्न होनेमें बाधक बन बैठते हैं।

प्रवचन की यह अभिलाषा स्वाभाविक भी है, समाज के लिए उपयोगी भी, यदि अपने स्थान पर ही रहे। मानसशास्त्री जानते हैं कि विचारों की अभिव्यक्ति व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिए कितनी आवश्यक है। जो गुरुजनों के स्थान पर हैं, उनका कर्तव्य है कि छोटों को वे आत्माभिव्यक्ति के लिए समुचित अवसर दें। प्राचीन आचार्य अपने आश्रमों में छात्रों को इस प्रकार का अवसर देते थे जिस पर विस्तार से हमने “सचित्र आयुर्वेद” के गत अंक के ‘सम्पादकीय’ में लिखा है। इस प्रकार की विचाराभिव्यक्ति एवं संवाद के लिए छोटी-छोटी

गोष्ठियों का आयोजन उत्तम होगा। परन्तु महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय विषयों पर निर्णय देने का भार तो हमें इने-गिने प्रतिभाशालियों पर ही छोड़ देना चाहिए; अपने-अपने को आप्त नहीं मान बैठना चाहिए। इसीलिए हमने कहा है कि कम से कम सभ्यों से युक्त एक-एक समिति एक-एक विषय पर पाठ्यग्रन्थ की रूपरेखा बनाने के लिए नियुक्त की जाय। इनमें से प्रत्येक के मसविदे पर बाद में सामूहिक विचार-विमर्श भी हो जिससे तत्त्वबोध स्पष्ट हो जाय।

इस विचार-विमर्श के लिए एक महत्त्वपूर्ण माध्यम आधुनिक युग में पत्र-पत्रिकाएँ भी हैं। जैसा कि सहयोगी ‘जर्नल आफ आयुर्वेद’ ने अपने नवम्बर अंक में सुझाव दिया है, जो भी आयुर्वेदीय पत्र सहयोग देना चाहें, वे शास्त्रीय चर्चा के ही लिए एक स्वतन्त्र स्तम्भ चालू कर दें, जिसके अन्तर्गत वष भर शास्त्रीय चर्चा विषयक ही लेख छपा करें एवं शास्त्रीय विचार-विमर्श बारहो महीने अविराम चलता रहे। सहयोगी के समान ‘सचित्र आयुर्वेद’ ने तो बराबर ही इस विषय को प्रमुख स्थान दिया है और हम आशा करते हैं कि हमारे अन्य भी सहयोगी इस विषय को अधिकाधिक महत्त्व देंगे। “सचित्र आयुर्वेद” भी बराबर शास्त्रीय-चर्चा विषयक लेखों का स्वागत करता रहेगा।

अन्त में हम पुनरपि यह आशा एवं विश्वास करते हैं कि पटना में २४ दिसम्बर से २ जनवरी तक होनेवाली शास्त्रीय चर्चा परिषद् अपने उद्देश्य में सफल हो सकेगी, यानी इससे राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद एक कदम और आगे बढ़ सकेगा।

पटना-आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्

वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

विगत ३७ वर्षों से नि० भा० आ० महामण्डल आयुर्वेद के विकास एवं प्रचार के लिये सतत प्रयत्नशील है। प्रत्येक सम्मेलन में तदर्थ अनेक योजनाएँ बनती हैं और इन्हें कार्यान्वित करने के लिये यथासाध्य प्रयत्न भी होते हैं। ये सारे प्रयत्न विफल हुए हैं ऐसा हम नहीं कह सकते। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप आयुर्वेद के प्रचार के साथ-साथ कुछ अधिकार भी मिले हैं। प्रान्तीय सरकार द्वारा अनेक विद्यालय तथा महाविद्यालयों का संचालन तथा जिला एवं स्थानीय बोर्डों में वैद्यों की नियुक्ति आदि इसके प्रमाण के लिये पर्याप्त हैं। परन्तु ये सब बातें होने पर भी हमारे लक्ष्य की सिद्धि अभी बहुत दूर है। आयुर्वेद के विकास एवं प्रचार के लिये जिन-जिन बातों की आवश्यकता है, उन्हें हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) आयुर्वेद का विकास—आयुर्वेद के साहित्य सम्बर्द्धन तथा आयुर्वेद के शिक्षण संस्थाओं में उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्धारण एवं उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों के निर्माण करने का है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये हमें पाठ्यक्रम तथा पाठ्य पुस्तकों की रूप-रेखा का निरूपण सर्वप्रथम करना होगा। प्राचीन-संहिता ग्रन्थ प्राचीनकाल में हुए विविध परिषदों की कार्यवाहियाँ हैं। अतः इन कार्यवाहियों में प्रसंगवश अनेक विषयों का समावेश सम्भव है। यही कारण है कि संहिता ग्रन्थों के शरीर में चिकित्सा के विषय, और चिकित्सा में शरीर के विषय दृष्टिगोचर होते

हैं। इस प्रकार अष्टांग-आयुर्वेद के विषय आर्ष ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों में विकीर्ण पाये जाते हैं।

प्राचीन काल में अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था भी आज से भिन्न थी। जिज्ञासुजन गुरुकुल में रहने के कारण गुरु के निकट सम्पर्क में रहा करते थे और उनके मन में जब जो जिज्ञासा उत्पन्न होती थी उसका समाधान तत्काल गुरुमुख से कर लिया करते थे। आज की तरह शिक्षण की केन्द्रिय व्यवस्था नहीं थी। आज तो विद्यार्थी के बदले गुरु को ही जिज्ञासु बनना पड़ता है। गुरु सम्भाव्य समस्याओं को अपने जिज्ञासु मन में उपस्थित करता है और उसका समाधान-खोज उनका संकलन करता है। इस प्रकार उपस्थित सम्भाव्य समस्याओं के समाधान का संकलन कर विद्यालय में जा विद्यार्थियों के समक्ष उपस्थित करता है। अतः आज की परिस्थिति में आयुर्वेद के अध्यायनाध्यापन में भी हमें इस विधि का अनुसरण करना होगा। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद के विषयों के संहिताओं में विकीर्ण होने के कारण उनका विषयानुसार संकलन कर उन पर लिखे गये टीका ग्रन्थों या भाष्य ग्रन्थों से उनके वास्तविक अर्थ को निश्चित करना होगा। इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर आज से १५ वर्ष पूर्व दिवंगत महामना मालवीयजी के सत्ययत्न से अ० भा० आयुर्वेदीय शास्त्रचर्चा परिषद् का आयोजन हुआ था। इस सम्मेलन में आयुर्वेद शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त पञ्च महाभूत, आयुर्वेद के मूल

सन् १९५१]

पटना-आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्

५४१

भूत सिद्धान्त त्रिदोष सिद्धान्त पर विचार-विमर्श हुआ था। भारतवर्ष के अनेक प्रकाण्ड दार्शनिक वैज्ञानिक तथा आयुर्वेदीय विद्वानों ने उक्त विषय पर अपने विचार प्रगट किये थे, परन्तु ऐसे गहन विषय पर एक सम्मेलन में किसी निर्णय पर पहुँचना प्रायः असम्भव होता है। “वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः” इस आर्षोक्ति के अनुसार इस प्रकार के गहन विषयों पर निर्णय करने के लिए अनेक सन्धाय-सम्भाषा परिषदों की आवश्यकता होती है, इसमें सन्देह नहीं कि देश में अपनी सरकार स्थापित होने के बाद से आयुर्वेद के विकासार्थ अनेक छोटी-बड़ी उपसमिति तथा समितियाँ बनी हैं और उन लोगों ने भी इस दिशा में यथासाध्य प्रयत्न किया है।

गत नि० भा० आ० महासम्मेलन के ३७ वें अधिवेशन का सभापति आयुर्वेद के सौभाग्य से आयुर्वेद सर्वस्व ऋषिकल्प पूज्यपाद आचार्य यादवजी निर्वाचित हुए थे। आयुर्वेद के पुनरुद्धार के लिए अपना सतत प्रयत्न तथा तदर्थ आपकी चिन्ताशीलता किसी से अविदित नहीं है। फलस्वरूप उस सम्मेलन में पुनः आयुर्वेदीय शास्त्र चर्चा परिषद् के आयोजन का प्रस्ताव पूज्यपाद आचार्यजी द्वारा उपस्थित किया गया और सर्व सम्मति द्वारा अंगीकृत भी किया गया। पटना शास्त्र चर्चा परिषद् जो सम्प्रति चल रही है, उसी का परिणाम है।

इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए भारत के अनेक विचारशील विद्वानों को आमन्त्रित किया गया था और उनसे निम्न विवेच्य विषयों पर वक्तव्य के लिए प्रार्थना किया गया था। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने वक्तव्यों को भेज कर इस परिषद् को उपकृत किया है। इन वक्तव्यों में से कुछ वक्तव्य पाठकों को ‘सचित्र आयुर्वेद’ के इसी अंक (देखें पृष्ठ ६०९-६६०) में देखने का अवसर मिलेगा। आशा ही

नहीं हमें पूर्ण विश्वास है कि सभी विचारशील आयुर्वेद के विद्वान आयुर्वेद की इस संक्रान्तिकाल में आयुर्वेद के विचारार्थ इन विषयों पर विचार-विमर्श करेंगे और इस परिषद् के निर्णयों से अपने को लाभान्वित करेंगे।

आयुर्वेद की इमारत पंचभूत के आधारशिला पर त्रिदोष की ईंटों से खड़ी की गयी है। अतः आयुर्वेद जिज्ञासुओं को पंचमहाभूत और त्रिदोष का ज्ञान आयुर्वेद दृष्ट्या होना परमावश्यक है। अन्य-भारतीय दर्शनों के पंचभूत से आयुर्वेद का पंचभूत अपनी विशेषता रखता है। सुश्रुत के वचनानुसार आयुर्वेद की चिन्ता धारा पंचभूत से परे चिकित्सा में उपयोगी नहीं। अतः “भूतेभ्योहि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते” ऐसा उपदेश किया गया है।

वैदिक साहित्य तथा दर्शनों में पंचमहाभूत का वर्णन विश्व की सृष्टि को समझाने के लिए किया गया है। आयुर्वेद का पंचभूत विश्व के एक चेतन पदार्थ चिकित्स्य पुरुष (कर्म पुरुष) को समझाने के लिये तथा उसके स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उसके आवश्यक साधन आहार एवं औषध द्रव्यों को समझाने के लिए किया गया है। इस प्रकार आयुर्वेद का पंचभूत अन्य दर्शनों के पञ्चमहाभूतों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। यही कारण है कि आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में पञ्चभूतों के गुण वर्णन में विचित्रता देखी जाती है। जैसे—“खर द्रव चलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्। आकाशस्याप्रती-घातो लिंगं दृष्टं यथाक्रमम्॥” अर्थात् पृथ्वी का चिह्न खर—कठोरता, जल का द्रवता, वायु का चल, तेज का उष्णता, और आकाश का अप्रतिघात चिह्न माना गया है। अन्य दर्शनों की भाँति पृथिवी के विशिष्ट गुण गन्ध, जल के रस, वायु के स्पर्श, तेज के रूप तथा आकाश के शब्द का यहाँ वर्णन नहीं किया गया है। इसका मतलब यह नहीं कि आयुर्वेद के

आचार्यों को पृथिव्यादि के इन गुणों का ज्ञान नहीं था, परन्तु विज्ञान का कुछ अव्यावहारिक होने के कारण छोड़ दिये हैं। उक्त प्रत्येक भूत के विशिष्ट गुणों के दिग्दर्शन का एक मात्र लक्ष्य यह है कि वे उन गुणों को देख कर तत्तद्भूत विशिष्ट पञ्चभौतिक द्रव्यों का ज्ञान कर लें। जैसे—जहाँ जिस द्रव्य में खरत्व (कठोरता) को देखें उन्हें पार्थिव, जहाँ द्रव देखें उन्हें आप्य, चल गुण को देखकर वायव्य, उष्णगुण से तैजस तथा अप्रतिघात गुण से नाभस द्रव्यों का ज्ञान कर लें। चिकित्सा में कार्य द्रव्यों की आवश्यकता होती है अतः कारण द्रव्य के विशेष विवेचन में न जाकर कार्य द्रव्य में ही अपने विचार सीमित रखा है और रखने का उपदेश किया है। यों तो इन विषयों पर विचार करते हुए अन्य दर्शनों के एतत् सम्बन्धी विचारों का यत्र-तत्र दिग्दर्शन कराया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि चिकित्सा कार्य के लिए यह स्थूल विचार ही पर्याप्त है। बुद्धि विकासार्थ तथा मानव कर्त्तव्य पूर्यर्थ पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए इससे आगे भी जिज्ञासुजन विचार कर सकते हैं। दर्शनों का लक्ष्य भी प्रकृति के प्रपञ्च का दर्शन कर (ज्ञान प्राप्त कर) निःश्रेयस की प्राप्ति कराना ही है। यह तथ्य प्रत्येक भारतीय दर्शन के मूल लक्ष्य में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी संसार के नानाविध पदार्थों को समझने के लिए पर्याप्त प्रयत्न किये हैं और कर रहे हैं, इन्होंने उपलब्ध सभी पदार्थों के घटकों का ऊहापोह किया और अब तक इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि संसार के सभी पदार्थ ९२ तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् ये ९२ तत्त्व ही संसार के जड़-चेतन सभी पदार्थों के उत्पादक (घटक) हैं। आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्व (एलिमन) उसे कहते हैं, जिसमें एक ही तरह के अणु (एटम) हैं। अर्थात्

सोना, चाँदी प्रभृति तत्त्व सोना-चाँदी के परमाणुओं से ही बने हुए हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना होगा कि भारतीय दर्शनोक्त परमाणु और आधुनिक परमाणु में अन्तर है; क्योंकि आधुनिक परमाणु विभाज्य है, परन्तु भारतीय दर्शनों के परमाणु अविभाज्य है। आधुनिक परमाणु धन तथा ऋण विद्युत् के विभिन्न संख्या और विन्यास से उत्पन्न होते हैं। ऐसी परिस्थिति में भारतीय दर्शनों के पञ्चमहाभूत और आधुनिक ९२ तत्त्वों का सामञ्जस्य उपस्थित करना इन दोनों विचारों को समझने के लिए तथा सृष्टि के सभी सृष्ट-पदार्थों की उत्पत्ति को समझने के लिए परमावश्यक है। मेरे विचार से इन ९२ तत्त्वों को पार्थिववादि पाँच विभागों में हम बाँट सकते हैं। तत्त्वों के गुणकर्मों को देखकर जो गुणकर जिस महाभूत के गुणकर्मों के अन्दर आते हों, उन्हें उस वर्ग के अन्दर रख देना चाहिए।

यद्यपि मानव शरीर की उत्पत्ति में उक्त सभी ९२ तत्त्वों की आवश्यकता नहीं होती। प्रधानतः १३ तत्त्व तथा कुछ अन्य तत्त्व ही मानव शरीर के घटक बनते हैं, तथापि उक्त सभी ९२ तत्त्वों का पाँचभौतिक वर्गीकरण सृष्टि विषयक दोनों वर्णों को समझने में सहायक होगा। इस प्रकार पञ्चमहाभूत तथा आधुनिक ९२ तत्त्व दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए हम दोनों में सामञ्जस्य उपस्थित कर सकते हैं।

यह पहले कहा जा चुका है कि आयुर्वेद की आधारशिला पञ्चभूत हैं। ये पञ्चभूत पञ्चमहाभूत के ही भौतिक रूप हैं। आयुर्वेद के सारे विषय इस पञ्चभूत से ही प्रारम्भ होते हैं। अतः आयुर्वेद में इन पञ्चभूतों को छोड़कर हम कोई विचार नहीं कर सकते। आयुर्वेद का प्रधान लक्ष्य स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य की रक्षा तथा आर्त पुरुष के अर्ति (रोप)

सन् १९५१]

पटना-आयुर्वेद-शास्त्रचर्चा-परिषद्

५४३

का नाश करना है। इस उभयविधि सिद्धि के लक्ष्य के लिए मानव शरीर को पाँच भौतिक रूप में देखता है और पाँचभौतिक द्रव्यों से अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है। चिकित्स्य (कर्मपुरुष) पुरुष के निरूपण में पुनर्वसु आत्रेय ने स्पष्ट रूप से कहा है कि “सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् स पुमान्-इत्यादि ।” अर्थात् मन-आत्मा और शरीर ये तीनों अपने संयोग से तिपाई के समान चिकित्स्य पुरुष को निर्मित किये हुए हैं, “पञ्चमहाभूत शरीरी समवायः पुरुष इत्युच्यते” इस सूत्र के द्वारा सुश्रुत ने भी इसका समर्थन किया है, यहाँ शरीरी आत्मा के लिए और पञ्चमहाभूत शरीर के घटक होने के कारण शरीर के लिए आया है। अर्थात् इस पाञ्चभौतिक सेन्द्रिय शरीर और शरीरी (आत्मा) के समवाय से पुरुष (कर्म पुरुष या चिकित्स्य पुरुष) का निर्माण होता है। शरीर के कहने से ही इन्द्रिय तथा मन का ग्रहण इसलिए हो जाता है क्योंकि इन्द्रिय मन को भी आयुर्वेद में भौतिक ही माना गया है। जैसे “भौतिकानीन्द्रियाणि इन्द्रिया-र्थाश्च” (सुश्रुत)। चिकित्सा के साधन द्रव्य भी पाञ्चभौतिक हैं, “सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे” चरक का यह वाक्य इसके समर्थन के लिये पर्याप्त है। चिकित्सा सूत्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “चतुर्णां भिषगादीनां शास्त्राणां धातु वैकृते । प्रवृत्ति धातुसामर्था चिकित्सेत्यभिधीयते”। (चरक) अर्थात् धातुओं को साम्यावस्था में लाने की प्रवृत्ति को ही चिकित्सा कहते हैं। ये धातु क्या हैं ? पाञ्चभौतिक शारीरिक द्रव्य ही तो हैं। इन शारीरिक द्रव्यों को साम्यावस्था में लाने के लिये हमें तत्तुल्य गुण विशिष्ट द्रव्यों का उपयोग करना पड़ता है। देह द्रव्यों के अपनी मात्रा से अधिक या कम होने को ही वैषम्य कहते हैं। अतः साम्यावस्था में लाने के

लिये अधिक को घटाना तथा कम हुए को बढ़ाना पड़ता है। इसीसे चिकित्सा स्थान में लिखा है— “हृष्टावर्द्धयितव्या वृद्धा ह्रासयितव्या, समा पालयितव्या” (चरक)। यह कार्य द्रव्यगत गुण कर्मों के सामान्य और विशेष से सम्पन्न होता है। क्योंकि यह नियम है कि “सर्वथा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धि कारणम् । ह्रास हेतुर्विशेषश्च ।” (चरक) अर्थात् संसार के सभी भाव (सत्ताधारी द्रव्य) अपने समान भावों से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और विपरीत भावों (विशेष) से उनका ह्रास होता है। कहा भी है—“सामान्यं एकत्वकरं वृद्धि करं च, विशेषश्च पृथक्त्वकृत् ह्रासहेतुश्च ।” ये सामान्य और विशेष द्रव्य गोचर, गुण गोचर और कर्म गोचर के भेद से तीन प्रकार के होते हैं, जैसे मांस-मांस को बढ़ाता है क्योंकि इसके अन्दर द्रव्य सामान्य है, तथा घृतमग्निकर के अन्दर गुण सामान्य है, तथा धावनात् वायोवृद्धिः इसके अन्दर कर्म सामान्य है। इस प्रकार हमने देखा कि पंच महाभूत या पंचभूत की चिकित्सा शास्त्र में कितनी उपादेयता है।

आयुर्वेद की इमारत त्रिदोष से बनी हुई है ; यह मैं पहले कह चुका हूँ। ये तीनों दोष भी पाँच भौतिक हैं। अतः त्रिदोष पर विचार करने के पहले पंचमहाभूत का विचार करना अभीष्ट हुआ क्योंकि आयुर्वेद के मत से मनुष्य शरीर आत्मा और पंचमहाभूतों के संयोग से बना हुआ है। इसलिए आयुर्वेद में पहले पंचमहाभूतों का विवेचन कर पुनः त्रिदोष का विवेचन किया गया है। शरीर और शरीरोपयोगी सभी द्रव्य पाँचभौतिक हैं। जिस पुंबीज और स्त्रीबीज से मनुष्य शरीर की उत्पत्ति होती है वे बीज तथा स्थूल शरीर और इन्द्रिय आदि सब पंचमहाभूतों के विकार के ही विकार हैं। अर्थात् यह शरीर अनेक पाँचभौतिक द्रव्यों का विकार समिष्टरूप है। भगवान पुनर्वसु ने

स्पष्ट रूप से कहा है—“गर्भस्तु खलु अन्तरिक्षवाय्वग्नि
तोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठान भूतः, एवं अनया-
युक्त्या पञ्चमहाभूत विकार समुदायात्मकोगर्भश्चेतना-
धिष्ठानभूतः” (च० शा० अ० ४)

अतः इन अनेकभौतिक द्रव्यों को न समझ कर
शरीर की उत्पत्ति, स्थिति तथा शरीर की प्रकृत क्रिया
और शरीर के विकारादि का समझना असम्भव है।
साथ ही उन्हें पृथक्-पृथक् करके समझना भी अत्यन्त
कठिन है अतः ऋषियों ने शारीरिक अनेक द्रव्यों
को तीन वर्गों में विभक्त कर समझने और समझाने
का सफल प्रयत्न किया है। “दोषधातु मल मूलं हि
शरीरम्” इस सूत्र के द्वारा शरीर के सभी द्रव्यों को
तीन वर्गों में बाँटा है—(१) दोषवर्ग, (२) धातुवर्ग,
(३) मलवर्ग, दोषवर्ग में संक्षेप से वायु, पित्त, कफ
का ग्रहण किया जाता है, धातुवर्ग में रस, रक्त,
मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात द्रव्य हैं।
मलवर्ग में विट्, मूत्र, स्वेद, नख, रोम आदि हैं।
इन तीन वर्गों में भी दोष वर्ग अर्थात् वायु पित्त
और कफ ये तीन द्रव्य अधिक शक्ति सम्पन्न हैं।
ये तीनों अविकृत रहें, तो शरीर का धारण करते हैं
और विकृत हो जायँ तो शरीर को दूषित करके
विकार युक्त या नष्ट कर देते हैं।

सृष्टिकाल में किसी भूत या महाभूत से साक्षात्
रूप में कुछ उत्पन्न नहीं होता। सृष्टि के प्रारम्भ में
ही सूक्ष्म भूतों से महाभूत उत्पन्न होकर परस्पर मिल
जाते हैं। सृष्टि काल में इस तरह आपस में मिलित
पञ्च महाभूतों से ही भौतिक द्रव्यों की सृष्टि होती
है। शरीर भी अनेक द्रव्यों की समष्टि से बनता है।
इसलिये उसे “पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मक”
कहा गया है। किन्तु चेतन (सेन्द्रिय) सृष्टि में
पाँचों भूतों के अतिरिक्त छठी चेतना धातु (आत्मा)
भी मिली रहती है। अतः सामान्य चेतना विहीन

जड़ जगत् की अपेक्षया यहाँ का भौतिक संगठन
भी रचना और क्रिया की दृष्टि से कुछ विशेष प्रकार
का होता है। त्रिदोष की उत्पत्ति का मूल यह
विशेष संगठन ही है। क्योंकि इसमें सक्रिय रूप
से भाग लेने वाले तीन ही भूत प्रधान हैं। विभाजन
रूप गति, पाकादि रूप सन्ताप तथा संश्लेषणादि
रूप आर्लिगन, ये वायु, अग्नि और जल इन्हीं के
क्रमशः कार्य हैं। इससे सिद्ध होता है, कि प्रत्येक
सचेतन पाञ्चभौतिक द्रव्य में चाहे वह देह परमाणु
रूप में हो अथवा स्थूल धात्वादि रूप में हो, ये
त्रिदोष विद्यमान रहते हैं, और आयुर्वेद की दृष्टि
से इन पाञ्चभौतिक रचनाओं को हम त्रिधात्वात्मक
कहें, तो भी अयुक्ति युक्त नहीं होगा। इसी से
आचार्यों ने “वात पित्त श्लेष्माण एव देहसम्भव
हेतवः” ऐसा कहा है। शरीराम्भक शुक्र (पुं बीज)
और आर्तव (स्त्री बीज) जो स्वयं सचेतन पाञ्च-
भौतिक परमाणु विशेष (सेल) हैं, उनमें ये त्रिदोष
पहले से ही उपस्थित रहते हैं। इसीलिए कहा गया
है कि “शुक्र शोणित संयोगे यो भवेत् दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन” इत्यादि (सु० सू० अ० ४)। ये
दोष ही शुक्रार्तव संयोग में विशेष क्रिया शील होकर
विभाजन, पक्ति, संश्लेषण आदि क्रियाओं के द्वारा
असंख्य भौतिक या त्रिधात्वात्मक शरीर परमाणु
(सेल्स) का निर्माण करते हैं; जो आगे चलकर
स्वभाव या संस्कारानुवृत्ति के कारण भिन्न-भिन्न रस-
रक्तोदि धातुओं या अंग-प्रत्यंग तथा कोष्ठांगों के
रूप में व्यवस्थित हो जाते हैं। पुनः ये वातादि इन्हीं
को अधिष्ठान बनाकर शरीर की विभिन्न क्रियाओं
का सम्पादन करते हैं। इसीलिए शरीर के सम्पूर्ण
द्रव्यों तथा क्रियाओं को इन तीन दोषों पर ही
अवलम्बित कर आयुर्वेद शास्त्र में उनका वर्णन किया
गया है, अंग विशेष का कार्य मान कर नहीं। कार्य

निन्दक नियरे राखिये

वैद्य रणजितराय

शाकुन्तल का एक दृश्य है। प्रियतमा के प्रत्या-
ख्यान से अनुत्पन्न राजा उसके ध्यान में मग्न बैठता है—
चित्र-लिखित-सा—प्रतिमा-सा—जड़। सहसा
व्यस्य विदूषक की आर्तध्वनि उसके कान में पड़ती है
और वह जैसे विद्युद्द्वारा के स्पर्श से प्रतिबुद्ध हो
उठता है। इधर अशरीरी शत्रु पर सन्नपूत शर-
सन्धान के लिये वह उद्यत होता है और उधर इन्द्र-
दूत शरीर धारण कर, विदूषक को छोड़ उसके सामने
उपस्थित होता है तथा असुरों द्वारा देवों के पराजय
की वार्ता सुनाकर राजा की सहायता की याचनार्थ
देवराज का सन्देश प्रस्तुत करता है। सब तय्यारी
हो चुकने पर राजा पूछता है : मातलि, इसी काम के
लिये तू आया था तो बेचारे ब्राह्मण को दुःखी करने
में तेरा क्या प्रयोजन था ? मातलि कहता है, दुष्पन्त,
मैंने तुमको किसी गहरी चिन्ता में लीन देखा तो
निश्चय किया कि जब तक प्रबल क्षोभ उत्पन्न कर
तुम्हारे चित्त और चोले को झकझोर न दिया जायगा
तब तक तुम्हें किसी अन्य कार्य के प्रति आसक्त न
किया जा सकेगा—फिर वह कार्य चाहे कैसा भी
महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। लकड़ियों को थोड़ा हिलाया
जाय तभी अग्नि अच्छी तरह जलती है; नाग को
छेड़ा जाय तब ही वह अपनी फणा उठाता है; पुरुष
को भी क्षुभित किया जाय तभी वह अपना पराक्रम
प्रकट करने की स्थिति में आता है—

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते ।

प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते पुरुषः ॥

मुझे लगता है आयुर्वेद के उपासकों की प्रमोद-
निद्रा के भङ्ग के लिये ऐसे ही बलवान् और अविरत
प्रहारों की आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि
स्वपक्ष, विपक्ष और उसादीन तीनों ही पक्षों के प्रहर्ता
अच्छी संख्या में अपने-अपने शस्त्र सजाकर क्षेत्र में
उतर आये हैं। शासन के अङ्गभूत व्यक्ति—चाहे वे

आरोग्य-विभाग से सम्बद्ध हों किंवा अन्य विभागों
से, वे केन्द्रीय सरकार में हों अथवा प्रांतीय में,
विरोधी चिकित्सा-पद्धतियों के अग्रणी, जिनमें कुछ
सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति भी समाविष्ट हैं; आयुर्वेद-
जगत् के प्रवक्ता एवं जनता के नेता—सभी आयुर्वेद
की त्रुटियों के प्रति आये दिन अङ्गुलि-निर्देश करते
हैं। हमारे—आयुर्वेद के उपासक-मात्र के हृदय को
आघात-सा पहुँचता है—हम तिलमिला उठते हैं।
परन्तु मेरा नम्र मन्तव्य है—हमारे इस क्षोभ की
प्रतिक्रिया जिस रूप में होनी चाहिये, होती नहीं।
परिणाम में हमारा क्षोभ वन्ध्य (विफल) रह
जाता है।

वैद्य-वन्धुओं को इस स्थितिमें काम करना है।
समय प्रश्नोत्तर का—जवानी जमा - खर्चका अथवा
विरोधियों के प्रति रोष-प्रदर्शन का नहीं, क्रिया
का है। शासकों को मूर्तिमान् सत्य अपनी उप-
योगिता एवं स्पष्टता के कारण जितना प्रिय होता
है, सस्ती भावुकता के आधार पर की गयी लेक्चर-
वाजी उन्हें उतनी प्रभावित नहीं करती। खेद यह
है कि युग विपरीतप्राय होने पर भी हम भावुकता
को ही अपना परम आयुध मानकर व्यवहार कर
रहे हैं। क्रिया का क्षेत्र हमारा शून्य-सा पड़ा है।
इस क्षेत्र में हमारे कर्तव्य का दिग्दर्शन जिन स्वपक्ष,
विपक्ष या तटस्थ व्यक्तियों द्वारा किये गये दोषारोपो-
द्वारा होता है वे हमारे स्वागताह्व हैं—अभिनन्दनीय
हैं। कवीर के शब्दोंमें :

निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय ।

बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय ॥

जगन्नाथ पण्डितराज की पदावली का प्रयोग
करना हो तो इन गुरु-तुल्य महानुभावों की परस्य
वाणी से ताडित होकर परिणाम में हम उस गौरव को
प्राप्त करेंगे जो शिल्पी की छेनी के कठोर प्रहारों से
आघात हो अन्त में मुकुटों पर आरूढ़ होने वाले
रत्नों को प्राप्त होता है :

गोभिर्युक्तां परुषाक्षराभिः प्राताडिता यान्ति नरा महत्त्वम् ।
अलब्धशाणोत्कण्ठा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति ॥

नामूलं लिख्यते किञ्चिच्चानपेक्षितमुच्यते

६—छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

वैद्य रणजितराय

विषमज्वर संज्ञा का कारण^१—

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सततादि ज्वरों में परस्पर आरम्भ का कोई नियम न होना—किसी ज्वर का शिर से प्रारम्भ होना, किसी का पृष्ठ से, किसी का जङ्घा से, उनकी क्रिया का कोई नियम न होना—कोई शीतकारी और कोई दाहकारी होना; उनका कोई काल न होना—किसी का वेग पूर्वाह्न में होना, किसी का मध्याह्न में, किसी का अपराह्न में, किसी का मध्यरात्र में, ज्वर का दीर्घकालानुबन्धी होना, एवं ज्वर उतर जाने पर भी अन्य रोगों के विपरीत धातुओं में ही उसका लीन रहना (काल आने पर पुनः प्रकोप पाना) —ये विषमताएँ होती हैं। इनके कारण इन्हें विषमज्वर कहते हैं^२। इस वैषम्य का कारण यह है कि, सर्व विषम-

ज्वरों में वायु का प्राबल्य होता है। इसके बिना विषमज्वर हो ही नहीं सकता। वही निश्चेष्ट कफ तथा पित्त को उर्दी करता है^३।

सततादि विषमज्वर तथा संततज्वर दोषादि की प्रबलता अथवा अल्पबलता के अनुसार कभी-कभी एक-दूसरे में परिणत भी हो जाते हैं^४।

तृतीयक ज्वर जब कफ-पित्तप्रधान होता है तो वेग के समय प्रथम त्रिक में वेदना होती है; वात-कफात्मक हो तो वेदना प्रथम पृष्ठ में होती है; वात-पित्तात्मक हो तो प्रथम शिर में पीड़ा होती है। इस प्रकार तृतीयक ज्वर के तीन भेद हैं।

चतुर्थक के दो भेद हैं। वह कफ प्रधान हो तो वेग में प्रथम जंघा या अधःकाय में पीड़ा होती है, वातप्रधान हो तो शिर में या ऊर्ध्वकाय में पीड़ा होती है।

प्रलेपक और वातबलासक—

उत्पत्ति की दृष्टि से विषमज्वरों के सदृश^५ ही ये दो ज्वर

१—देखिये—माधव निदान, ज्वर निदान, श्लोक ४२-४५ की मधुकोष टीका।

२—च० चि० ३।७५; माधव निदान, ज्वर निदान श्लोक ४२-४७ पर मधुकोष।

३—प्रलेपक का विषमज्वर से साम्य यह है कि, अन्ये युष्क के समान यह अहोरात्र में (सायं) एक बार बढ़ता है और एक बार (रात्रि को स्वेदसहित) उतरता है। उतरे समय स्वेद से तथा सर्वदा गौरव और अवसाद से शरीर क्षिप्त होने से इसे प्रलेपक कहते हैं।

१—अ० सं० नि० २; अ० ह० नि० २।६८।

२—काश्यपसंहिता, खिलस्थान, प्रथम अध्याय में कहा है कि, हेतु की अल्पता, बहिर्गर्ग, ज्वर वैकृत तथा उपद्रव रहित होना, आश्रय (दूष्य) एक होना, सुखसाध्यता तथा शीघ्र-पाकिता—ये लक्षण जिस ज्वर में हों उसे समज्वर कहते हैं। संतत ज्वर इसके विपरीत—तीक्ष्ण-होता है, अतः उसे विषमज्वर कहते हैं। सततादि चारों की विषमता मुख्यतः काल-कृत है। धातु-वैषम्य (श्लोक २०) दोनों की विषमता का समान कारण है।

‘संतते विषमे वाऽपि (सु० उ० ३९।१४९)’ में सुश्रुत ने संतत की गणना सततादि विषमज्वरों से पृथक् की है। यह आचार्य के मत में दोनों के भिन्न होने का प्रमाण है।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

५४७

हैं। प्रलेपक^१ का लक्षण यह है^२। यह ज्वर राजयक्ष्मा में होता है। इसमें मन्दज्वर तथा शरीरावयवों की प्रस्वेद और गौरव से लितता (लित और व्याप्त होना) एवं शीतयुक्तता होती है। यह बड़ा ही कष्टसाध्य और घातक होता है। इसमें तीनों दोष विशेषतः कफ-पित्त कारणभूत होते हैं।

वात बलासक—इसमें सदा मन्द (धीमा) ज्वर रहता है। रोगी रूक्ष और शोथयुक्त, अवसाद-ग्रस्त तथा स्तब्ध शरीरवाला होता है। यह त्रिदोषज होने पर भी कफप्रधान और कष्टसाध्य है। कइयों के मत में यह कुम्भकामला का एक भेद है^३।

सततादि भदों का कारण^४—

सतत आदि विषमज्वरों एवं संतत में वेगोदय का काल भिन्न होने का कारण यह है कि, रोगारम्भक एक अथवा अनेक दोष भिन्न-भिन्न ज्वरों में भिन्न-भिन्न कफ-स्थानों से आमाशय में आकर भिन्न-भिन्न ज्वरों को उत्पन्न करते हैं। कफस्थान से आमाशय जितना दूर हो, ज्वर की उत्पत्ति में उतना ही काल लगता है। आमाशय, हृदय, कण्ठ, शिर और सन्धियाँ ये पाँच कफ के प्रधान स्थान हैं। दोष जब आमाशय में स्थित हो तो उससे सतत ज्वर होता है। हृदय (उरस्) में स्थित दोष आमाशय में आकर अन्येद्युष्क ज्वर उत्पन्न करता है। हृदय से आमाशय तक आने में दोष को कुछ समय लगता है। इसी से इसमें एक अहोरात्र में एक बार ज्वर चढ़ता है। तृतीयक में दोष कण्ठ-स्थित होता है। वहाँ से वह पहले दिन हृदय में आता है, तथा अगले दिन आमाशय में आकर ज्वर उत्पन्न करता है। एवं, चतुर्थक में शिर में स्थित दोष प्रथम दिन कण्ठ में तथा अगले दिन आमाशय में आकर ज्वर उत्पन्न करता है। प्रलेपक ज्वर में दोष संधियों से आता है। संधि शब्द यहाँ केवल अस्थि-

संधि के अर्थ में प्रयुक्त नहीं—अवयव-संधिमात्र के लिए आया है^१। ये संधियाँ आमाशय में भी होती हैं। अतः दोष को वहाँ से आमाशय में पहुँचने में समय नहीं लगता; अतः वह नित्य रहता है।

दोष जब दो कफ-स्थानों में—उरस् और आमाशय में—होता है तब अन्येद्युष्क-विपर्यय को उत्पन्न करता है। दोष जब एक साथ कण्ठ, उरस् और आमाशय तीन कफस्थानों में होता है तो तृतीयक-विपर्यय को उत्पन्न करता है। एवं, शिर, कण्ठ, उरस् और आमाशय इन चार कफस्थानों में दोष होता है तब चतुर्थक-विपर्यय को उत्पन्न करता है।

आगन्तु ज्वरों के लक्षण^२—

भिन्न-भिन्न आगन्तु ज्वरों में भिन्न-भिन्न दोष का प्रकोप होता है। उस-उस ज्वर में उस-उस दोष के विशिष्ट लक्षण होते हैं। साथ ही कारणानुरूप लक्षण भी होते हैं। यथा, काम-ज्वर में ध्यान (चिन्तामग्नता), निःश्वास, आलस्य, भ्रम, अरुचि, दाह, लजाशून्यता, तन्द्रा, निद्रानाश, बुद्धिनाश (किर्तव्यविमूढता), धृति (संयम) का नाश, हृदय में वेदना, शरीर की शुष्कता—ये लक्षण विशेषतः होते हैं। भय-ज्वर में भय और प्रलाप; शोकज में रोदन और प्रलाप; कोप-ज्वर में कम्प, शिरःशूल और अति संरम्भ (उत्पात); विषजन्य में मूर्च्छा, मोह, मद, ग्लानि (बलक्षय), अतिसार, मुख का श्याव (राख के रङ्ग का) होना^३, दाह, हृद्रोग (हृदय पर पीड़ा), अरुचि, पिपासा, तोद; ओषधिगन्धज्वर में मूर्च्छा, शिरःपीडा, वमन और छींक; ग्रहावेश (भूतवेश) जन्य ज्वर में अकस्मात् हास्य, रोदन, कम्प तथा उद्वेग; एवं अभिचार और अभिशप से हुए ज्वर में संनिपात ज्वर के समान तीव्र लक्षण होते हैं। इन कर्मों की भिन्नता के अनुसार लक्षण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अभिचार में प्रथम अति हृदय-दुःख, पश्चात् शरीर पर विस्फोट, तृषा, दाह, भ्रम और मूर्च्छा उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं।

१—Hectic fever—हेक्टिक फीवर।

२—सु० उ० ३९।५४, ५८; अ० सं० नि० अ० २; माधव निदान, ज्वर निदान, श्लोक ४१।

३—कई नव्य लेखक इसे बेरी-बेरी कहते हैं। पर बेरी-बेरी में ज्वर नहीं होता।

वातबलासक की विषमज्वर के साथ सदृशता केवल दारुण व्याधि होने से है, काल-कृत नहीं।

४—सु० उ० ३९।५२-५६; माधव निदान, ज्वर निदान, श्लोक ३७-३८, मधुकोष।

१—संधि शब्द का शास्त्र में व्यापक अर्थ जानने के लिए देखिये—सु० शा० ५।२८।

२—च० चि० ३।११८-१२८; सु० उ० ३९।७६-८२; अ० ह० नि० २।४०-४५।

३—Cynosis—सायनोसिस।

असाध्य तथा साध्य ज्वर—

रोग बली हो, दोष बहुत बलवान् न हों तथा उपद्रव न हों तो ज्वर सुखसाध्य होता है। ज्वर के उपद्रव निम्न दस होते हैं; कास, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, तृषा, अतिसार, विडग्रह (मल ग्रथित होना), दिक्का, श्वास, अङ्गभेद।

असाध्य ज्वरों के द्योतक कुछ लक्षण-समूह होते हैं। इनमें कुछ लक्षण-समूह उदाहरणार्थ दिये जाते हैं; जो ज्वर प्रबल अनेक हेतुओं से उत्पन्न हुआ हो, अनेक लक्षणों वाला हो तथा इन्द्रियों की विषय-ग्रहण शक्ति को शीघ्र ही नष्ट कर दे वह असाध्य होता है।

स्वभावतः सात दिन पीछे वात ज्वर, दस दिन पीछे पित्तज्वर तथा बारह दिन पीछे कफ ज्वर में मन्द प्रलाप, भ्रम और श्वास उत्पन्न हो तथा वेग तीक्ष्ण^२ हो जाय तो ज्वर असाध्य होता है।

रोगी क्षीण हो, शोथ आ गया हो, ज्वर गम्भीर (अन्तर्वेग या गम्भीर धातु-स्थित) हो, दीर्घकालानुबन्धी हो, वह असाध्य होता है।

जिस ज्वर में केशों में सीमन्त (माँग^३) उत्पन्न हो गया हो वह असाध्य होता है।

रोगी की कान्ति क्षीण हो गयी हो, वह क्षीण तथा अरुचि (या मन्दाग्नि) से पीडित हो तथा गम्भीर और तीक्ष्ण वेग से आक्रान्त हो तो ज्वर, असाध्य होता है।

ज्वर रोगी दिक्का, श्वास तथा तृषा से पीडित हो, इन्द्रियों की शक्ति मारी गयी हो, उसकी आँखें ऊपर चढ़ गयी हों, पुरुष क्षीण हो तथा निरन्तर खर श्वास चलता हो तो ज्वर असाध्य होता है।

ज्वर पूर्वाह्णमें आवे, बलवान् शुष्क कास हो, बल और मांस क्षीण हो गये हों तो ज्वर असाध्य होता है।

जो ज्वर प्रारम्भ से ही विषम हो तथा गम्भीर और जीर्ण हो गया हो, रोगी क्षीण तथा अतिरूक्ष हो वह असाध्य होता है।

रोगी विकल और नष्ट संज्ञ हो, लेट जाने पर उठ न सकता हो उसका ज्वर असाध्य होता है।

१—च० चि० ३।४७-५३; सु० उ० ३९।९२-९५; च० चि० ३।१०९; माधव निदान, ज्वर-निदान ६६-७४।

२—High Temperature—हाई टेम्परेचर।

३—गुजराती में सेंथा।

रोगी बाहर शीत से और अन्दर दाह से पीडित हो, रोमाञ्चयुक्त, रक्त नेत्र और हृदय में ऐसे शूल से पीडित हो जैसे उसमें कोई ठोस द्रव्य घुसेड़ दिया गया हो, तथा रोगी मुख से श्वास लेता हो तो ज्वर असाध्य होता है।

रोगी को अपराह्न में ज्वर का वेग हो तथा दारुण कफ प्रधान कास हो, उसके बल और मांस अति क्षीण हो गये हों तो उसका ज्वर असाध्य होता है।

प्रलेपक ज्वर में प्रभात में मुख पर अति स्वेद हो तो ज्वर असाध्य होता है।

ज्वर का वेग सहसा उत्पन्न हो जाना तथा साथ तृष्णा, मूर्च्छा, बलक्षय और संधियों की शिथिलता ये निकटभावी मृत्यु के चिह्न हैं।

रोगी शीत गात्र हो तथा उसके संपूर्ण शरीर पर अत्यधिक और पिच्छिल स्वेद का साव हो तो ज्वर असाध्य होता है^१।

ज्वर की असाध्यता के अन्य लक्षण अरिष्ट-प्रकरण में तथा नक्षत्र विद्या आदि से जानने चाहिए।

असाध्य संनिपात ज्वर का लक्षण^२—

मल विबद्ध हो, अग्नि नष्ट हो गया हो, रोग के सभी लक्षण विद्यमान हों और वे बलवान् हों तो संनिपात-ज्वर असाध्य होता है अन्यथा कष्ट साध्य।

संनिपात ज्वर के अन्त में कर्णमूल में अति दारुण शोथ^३ हो जाता है। यह बड़ा कष्ट साध्य है^४।

संनिपात ज्वर के मोक्ष के लक्षण—

ज्वर उतरते समय दाह, स्वेद, भ्रम, तृष्णा, कम्प, दोष सहित अतिसार (बार-बार मल प्रवृत्ति), संज्ञानाश, अन्तों में कुन्थन (चुमना) और कूजन, मुख-दौर्गन्ध्य, वमन, श्वास

१—च० चि० ३।१०९।

२—अंग्रेजी में इस स्थिति को Collapse कॉलेप्स कहते हैं।

३—कर्णमूलिक लाला ग्रन्थि (Parotid gland—पैरोटिड ग्लैण्ड) का शोथ; Parotitis—पैरोटाइटिस; Mumps—मम्प्स।

४—च० चि० ३।२२८ तथा च० सू० १८।२७ की चक्रपाणि की टीका में इस शोथ की साध्यासाध्यता का विचार देखिये।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

५४९

विवर्णता, प्रलाप, सर्वाङ्ग में उष्णता या शीतता ये लक्षण होते हैं।

संनिपात ज्वरों में ज्वर कभी सहसा उतर जाता है।

इस ज्वर मोक्ष को दारुण मोक्ष^१ कहते हैं। ज्वर क्रमशः उतरे तो अदारुण मोक्ष^२ कहते हैं।

ज्वर मुक्ति के लक्षण^३—

शरीर श्रम, मोह तथा तापरहित होना, मन प्रकृत (स्वस्थ) होना, शिर तथा शरीर में हलकापन, स्वेद, मुख में किंचित् पाण्डुता, मुखपाक^४, सिर में खाज, छोंक, अन्न की इच्छा—ये लक्षण ज्वर की मुक्ति होने (उतरने) पर होते हैं।

पुनरावर्तक ज्वर—

ज्वर की मुक्ति होने के पश्चात् बल उत्पन्न होने के पूर्व रोगी यदि चङ्क्रमण (भ्रमण), स्नान, ग्रामधर्म, व्यायाम, अत्यशन, अति चेष्टा तथा विदाही, गुरु, असात्म्य और विरुद्ध अन्नपान इन वर्ज्य पदार्थों का सेवन करे तो ज्वर पुनः लौट आता है। अथवा, दोषों का शोधन उत्तम न हुआ तो अल्पमात्र भी अपचार (अहिताहार विहार का सेवन) से ज्वर पुनः लौट आता है। इस प्रकार पुनः हुए ज्वर को (पुनरावर्तक ज्वर) कहते हैं।

रोगी यदि पूर्व ज्वर से चिरकाल पीड़ित रहा हो, दुर्बल और निस्तेज हो गया हो और ऐसी स्थिति में उसे पुनरावर्तक ज्वर हो जाय तो अल्पकाल में ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

कभी-कभी उल्लिखित परिस्थिति में ज्वर की पुनरावृत्त न हो तो भी दोष क्रमशः धातुओं में प्रविष्ट हो परिपाक को प्राप्त होते हुए दैन्य, शोथ, ग्लानि (हर्ष-आनन्द या मैथुनेच्छा का नाश) पाण्डुता, अरुचि, कण्ठ, कोष्ठ, पिडका और अग्निमान्द्य^५

१—Crisis—क्राइसिस। ४—Lysis—लायसिस।

२—सु० उ० ३९।३२२; अ० ह० नि० २।९९।

३—Herpes—हर्पीज़।

४—Relapsing fever—रिलैप्सिंग फीवर। देखिये—
च० चि० ३।३३०—३४३।

५—संतत ज्वर (टायफाइड आदि) के अनन्तर प्रायः योग्य पथ्य, विश्राम आदि के असेवन से अग्नि की मन्दता आदि ग्रहणी-विकार, दौर्बल्य, पाण्डुता दैन्य (Nervous ness) आदि पाये जाते हैं। इन रोगों के रोगी उपस्थित होने पर उनसे प्रश्न किया जाय कि कोई बड़ा रोग तो नहीं हुआ था, उत्तर में संतत ज्वर, प्रवाहिका आदि होने का इतिहास मिलता है।

इन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार दोषों की असम्यक् शुद्धि होनेपर अन्य रोगों की भी अल्पमात्र अपचार से पुनरावृत्ति होती है।

ज्वर-चिकित्सा^१

चिकित्सा-सूत्र

ज्वरादौ लङ्घनं कुर्यात् ज्वरमध्ये तु पाचनम्।

ज्वरान्ते भेषजं दद्यात् ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥

लङ्घन—क्योंकि ज्वर आमाशय-गत साम दोष से ऊष्मा के मार्ग के अवरोध से होता है, अतः ज्वर में प्रथम कर्तव्य सामान्यतः लङ्घन है—लङ्घनं दोष-पाचनम्—सु० उ० ३९।१०३। परन्तु, ज्वर यदि धातुक्षय, यक्ष्मा, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक या परिश्रम से हुआ तो लङ्घन वर्जित है।

ज्वरे लङ्घनमेवादौ उपदिष्टम् ऋते ज्वरान्।

क्षयानिलभयक्रोध कामशोकश्रमोद्भवात्॥

च० चि० ३।१३९

ज्वर के पूर्वरूप में भी लङ्घनादि उपचार करने से ज्वर आगे नहीं बढ़ता। लङ्घन से दोष सम होता है, अग्नि प्रदीप्त होती है, रुचि तथा क्षुधा-पिपासा उत्पन्न होते हैं, ज्वर का नाश, शरीर और मन में लघुता एवं पुरीष और मूत्र के वेग होते हैं।

लङ्घन यथायोग्य होने का चिह्न यह है कि (विरेचन दिये बिना ही) अधोवायु, मल और मूत्र की प्रवृत्ति; रुचि तथा क्षुधा और पिपासा के वेगों का एक साथ प्रादुर्भाव तथा उनके सहन की शक्ति न होना; हृदय, उदर, कण्ठ और मुख की शुद्धि; शरीर में हलकापन, स्वेद (स्वेदन के बिना भी) स्वेद की प्रवृत्ति; तन्द्रा और क्लम (अनायास श्रम) की निवृत्ति; क्षीणता (शरीर और मुख कुम्हला जाना) एवं आत्मा (मन) और इन्द्रियों की प्रफुल्लता। ये लक्षण उत्पन्न हो जाने पर लङ्घन बन्द कर देना चाहिए। अन्यथा अतिलघन से बलहानि, तृषा, शोष, तन्द्रा, निद्रा, भ्रम, क्लम श्वास, कास, स्वरक्षय, छर्दि, हिक्का, पर्वभेद (संघि, दृटना),

१—च० चि० ३।१३८—३४५; च० नि० १।३६
४०; सु० उ० ३९।७८—३२४; अ० ह० चि० १।१—
१७७।

क्षुधानाश, अरुचि, अङ्गमर्द, मन की अस्थिरता, निरन्तर ऊर्ध्ववात (अत्युद्गार), अग्निमान्द्य—ये लक्षण होते हैं।^१

सम्यक् लङ्घन के उक्त लक्षण देखने से ही विदित होगा कि प्रारम्भ में लङ्घन से ही ज्वर का नाश हो जाता है। शेष उपचार उसके समूलनाश के लिए होते हैं। लङ्घन शब्द से यहाँ यथावश्यक लघु भोजन या सर्वथा अनशन का ग्रहण है। वर्तमान वैद्य प्रायः, रोगियों की लङ्घन में निष्ठा न होने से तुलसी, पुदीना, जम्बीरतृण (हरी चा), आर्द्रक आदि डाल कर हलकी चाय का सेवन कराते हैं। दोष जितना ही अधिक होगा रोगी लङ्घन का उतने ही काल सहन कर सकेगा।

दोषाणामेव सा शक्तिर्लङ्घने या सहिष्णुता।

पाचन—लङ्घन से दोषों का पचन होता है, जिससे वे अपने-अपने मार्ग से स्वयं शरीर से बाहर प्रवृत्त होते हैं, और शरीर निर्दोष होकर रोगमुक्त होता है।

लङ्घन के अतिरिक्त स्नेहन, काल (अर्थात् अधिक से अधिक आठ दिन), यवागू और तिक्त रस ये भी दोषों का पाचन करते हैं। आयुर्वेद-मत से जबतक दोष साम हों, औषध न दे। औषधों के दो भेद हैं—शोधन और शमन। दोष साम हों तब शोधन (विरेचन) औषध दिया जाय तो वह ज्वर के वेग को और बढ़ा देता है। शमन औषध दिया जाय तो उससे सामान्य दोषज ज्वर विषमज्वर में परिणत हो जाता है।

भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्।

शोधनं, शमनीयं तु करोति विषमज्वरम्॥

सु० उ० ३१।१२१

सिद्धान्त नवीनों का भी यही है। उनका मत है कि प्रारम्भ में औषध न दे कर क्षमता (रोगप्रतिबन्धक स्वाभाविक शक्ति)^२ को कार्य करने का अवसर देना चाहिये। इस प्रकार क्षमता की वृद्धि होकर शरीर रोगों का प्रीतकार करने में विशेष समर्थ होता है।^३ सिद्धान्त यह होते हुए भी व्यवहार में सर्वथा विपरीत कीनाइन, सल्फा-ग्रुप, पेनीसिलिन आदि शमन औषध तथा मैगसल्फ आदि शोधन औषध डॉक्टर बन्धु देते हैं। कारण स्पष्ट है।

१—सु० उ० १।१०४—१०६; च० सू० २२।३४—३७।

२—Immunity—इम्युनिटी।

३—देखिये—चोपड़ा कमिटी की रिपोर्ट।

वमन—ज्वरारम्भ दोष यदि कफप्रधान हों, दोष यदि आमाशय में स्थित हों, तथा हृत्तास (लाला साव), कफज कास आदि के द्वारा उनका वहिर्गमनोन्मुखत्व प्रतीत हो—विशेषकर ज्वर भोजन खाने के पश्चात् तत्काल आया हो और रोगी वमन सहन कर सकता हो तो दोष का वमन द्वारा निर्हरण करे।^१

विरेचन—सामान्यतः ज्वर की तरुणावस्था में (नवज्वर में) विरेचन न देना चाहिए। दोष (मल) पक्क और विबद्ध हो गया हो तभी विरेचन दे। तथापि दोष कोष्ठ में आ गये हों, पक्क तथा बद्ध हों तो तरुण ज्वर में भी विरेचन दे।^२ संप्रति, प्रायः ज्वररोगी विबद्ध मलखले आते हैं। अतः यशस्वी वैद्य प्रथम विरेचन देना योग्य समझते हैं। अश्वककुचुकी^३ (प्रधान द्रव्य—जयपाल; मात्रा—१-२ गोली; अनुपान—शीतल जल) तथा विश्व-तापहरण^३ (प्रधान द्रव्य—जयपाल; मात्रा—१-२ गोली; अनुपान शीतल जल) और इच्छाभेदी (प्रधान द्रव्य—जयपाल) उत्तम हैं। प्रथम दो ज्वरहर भी हैं। कोष्ठ कू हो तो आवश्यकतानुसार प्रथम स्नेहन या वस्ति देकर मार्ग शुद्ध कर ले। विरेचन के लिए स्वादिष्ट विरेचन^३ तथा पञ्चसकार (दोनों का प्रधान द्रव्य—स्वर्णपत्रा; मात्रा—३ तोल) भी प्रसिद्ध हैं।

ज्वर में वमन की आवश्यकता प्रायः बच्चों में होती है।

१—अनुभव से विदित हुआ है कि, वमन भी अद्भुत ज्वरहर है। रोगी तय्यार हो तो इसका उपयोग करना चाहिये। तीक्ष्ण वामक द्रव्यों का उपयोग न कर केवल प्रभूत मात्रा में सुखोष्ण जल पिलाना अच्छा है। तीक्ष्ण द्रव्य (लवण, मदनफल आदि) में उत्क्लेश अधिक होता है—कभी रक्तवमन भी।

२—देखिये—सु० उ० ३१।१२३। विरेचन का निषेधक वचन उस युग का है जब वेगावरोध महान् प्रत्यापराध समझा जाता था। वेगावरोध न होने से मलसङ्घ भी उतना न होता था। अपरञ्च शरद् में विरेचन लेने की प्रथा थी; तथा अन्य ऋतुओं में अन्य प्रकार से दोष-शुद्धि का प्रचार था। इसी से प्राचीनों ने ज्वर में पाचन से ही दोष-प्रवृत्ति का आदेश दिया है, विरेचन का विधान ज्वर-मुक्ति के अनन्तर ही किया है।

३—इन कल्पों का पाठ सिद्धयोगसंग्रह (वैद्यनाथ प्रकाशन) में देखिये।

सन् १९५१]

निदान-चिकित्सा हस्तमलक

५५१

उनमें इसके लिए कंकुष्ठ (उसारे रेवन्द)^१, २-३ रत्ती टङ्गण के साथ दे यह रेचक भी है। बच्चों के कास-श्वास में उप-योगी है।^२ बच्चों में कृमिहर भी होनेसे विरेचनार्थ कम्पिलक उत्तम है।

उष्णादक—अर्धविशेष (उबालते-उबालते सम्पूर्ण का आधा रह जाय ऐसा) उष्णजल^३ दीपन, पाचन, कफ का लेखन, संचित पित्त, वात और मल का अनुलोमन, तृषा-शामक, श्रोतों का शोधन, मूत्रल, स्वेदन, रुचिकारक और बल्य है। रोगी को तृषा लगे तो थोड़ा-थोड़ा यही जल दे, विशेषकर कफ-वात ज्वर में। पित्तज्वरों तथा मद्य और विष से उत्पन्न ज्वर में मुस्ता, पर्पट, उशीर, चन्दन, हीवेर और गुण्ठी से साधित जल दें। ज्वरजन्य पिपासा में भी यही जल दें। इसे पटङ्गपानीय कहते हैं। शीत जल उलटा ज्वरकारक होता है।

यवागू—यथावश्यक वमन और लङ्घन कराने के पश्चात् ज्वर-रोगी को दोषानुसार पिप्पली, गुण्ठी आदि से साधित यवागू—मुख्यतया मण्ड^४ दे। ज्वर मृदु हो जाय तब तक अथवा छ दिवस यवागू देना चाहिए। औषध-सिद्ध होनेसे यवागू अग्नि-दीपक ; वात-मूत्र-पुरीष और दोषों की अनु-लोमन ; द्रव और उष्ण होने से स्वेदन ; द्रव होने से तृषा-शामक ; आहार होने से प्राणधारक ; सर होने से लाघवकर और ज्वरहर होने से ज्वरघ्न होती है। मद्य-जनित ज्वर, मदात्यय, नित्यमद्यसेवी, ग्रीष्म ऋतु ; पित्त तथा कफ की अधिकतावाले ज्वर और ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त में यवागू न दे। इन रोगों में लांजा (धाणी), सत्तू, ज्वरहर द्राक्षादि फलों के रस, सितोपला और मधु इनसे तर्पण करे।

१—गुजराती-रेवंचीनो शीरो।

२—इस ओर बच्चों के श्वास में नडियाद के एक वैद्य की औषध घरेलू औषध के रूप में प्रसिद्ध है। यह भी वामक और विरेचक है। इसका प्रधान द्रव्य जयपाल है, ऐसी ख्याति है।

३—उष्ण जल की यह परिभाषा द्रष्टव्य है। केवल एक उबाल आने से ही गरम जल नहीं कहाता, जैसा कि व्यवहार में माना जाता है। चतुर्भागांशेष और भी गुण-कारी कहा है। देखिये—सु० सू० ४५।३९-४०।

४—रोगियों में बालें-वॉटर देना प्रसिद्ध है। वह मण्ड ही है। वह औषध-साधित नहीं, यह सत्य है।

ज्वरघ्न कषाय—वमन, लङ्घन और यवागू से—अर्थात् यथायोग्य इन सब के अथवा किसी-किसी के यथावश्यक उपयोग से छ से आठ दिन में दोषों का पाचन होकर ज्वर मृदु हो जाता है और मल चलित हो जाते हैं। इसके पश्चात् आगे कहे शेष-दोष-पाचक या दोष-शामक ज्वरहर कषाय देने चाहिए। ये कषाय मुखवैरस्य-तृषा-अरुचिनाशक, पाचन, हृद्य तथा ज्वरघ्न होने चाहिये।

तरुण ज्वर (नवज्वर) में कषाय अर्थात् स्वरसादि कल्पनाओं का निषेध है। परन्तु उसका अर्थ यही है कि, कषाय-रस कल्पनाओं का उपयोग न करे। शेष तिक्त, कटु आदि रस वाली कल्पनाएँ ज्वरादि में उपयुक्त होने से दी जाती हैं। कषाय रस स्तम्भक होने से दोषों को विवद करके स्तब्ध (शरीर में स्थिर) कर देते हैं, पक्क नहीं करते। कषाय पित्तप्रधान ज्वरों में तिक्त तथा कफप्रधान में कटु होने चाहिये।

उष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्युष्मणा विना (अ० ह० चि० १।१६)—इस नियम से ज्वर में प्राधान्य पित्त का होने से और तिक्रस पित्तहर तथा दोष-पाचक होने से विशेषतः दिया जाता है। कृष्ण जीरक, कटुरोहिणी, गुडूची, दासहरिद्रा, रसाञ्जन, मामज्जक (नाई), सिंहलतिक्त (कलम्बा), किरात, सिनकोना, कालमेघ, निम्ब, पटोल, कुलमकातरी^१, प्रतिविषा^२, सप्तपर्ण, पारिजात, करञ्ज (फल और पत्र) आदि तिक्त ज्वरहर द्रव्य प्रसिद्ध हैं।

दस दिवस पीछे भोजन—यवागू के पश्चात् यथा-वश्यक अम्ल या निरम्ल यूप किंवा जात्रल रस^३ दे। पश्चात् लघु अन्न सहित यूप और रस दे।

१—गुजराती नाम।

२—गुजराती—वस्त्रमो।

३—यूप और रस—यथावश्यक जल लेकर उसमें द्रव्य डाल तत्-तत् प्रमाण में जल उड़ाने से जो कल्पनाएँ बनती हैं, उनके द्रव्यानुसार विभिन्न नाम हैं। औषधद्रव्य सिद्ध कल्पना को काथ कहते हैं। शूकधान्यों से बनी कल्पनाओं के धान्य की मात्रा की न्यूनाधिकता के अनुसार मण्ड, तिलेपी आदि नाम हैं। मांस की कल्पना रस (या मांसरस) कही जाती है। शिम्बीधान्य (मूँग, मोठ आदि) की कल्पना यूप ; फलों (टमाटर आदि) की खल (या खड) ; तथा तिल आदि डालकर कन्द-मूल की बनाई कल्पना काम्बलिक कहाती है। पिशितेन रसस्तत्र यूपो धान्यैः खलः फलैः। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायैः काम्बलिकः स्मृतः—च० चि० ८।११७ पर चक्रपाणि भूत वचन।

औषध की व्यवस्था इस प्रकार सात से दस दिन के पीछे करने की है। तथापि ज्वर पैत्तिक हो, उसे हुए अल्पकाल हुआ हो, दोष अल्प होने से उसका पाचन शीघ्र हो जाय तो इस अवधि के पूर्व भी औषध दे दे। ज्वर में यदि दोष (मलादि) ज्वर के कारण चलित होकर स्वयं प्रवृत्त हो तो उसकी उपेक्षा करे—उसे रोके नहीं। अति प्रवृत्त हो तो अतिसारवत् क्रिया करे।

ज्वर में घृतपान—दस दिन के पश्चात् कफ मन्द होने पर ज्वर वात-पित्तप्रधान हो ऐसी स्थिति में तथा दोषों की परिपक्वता होने पर घृत का सेवन अमृततुल्य है^१। परन्तु सम्यक् लङ्घन न हुआ हो, कफ का प्राधान्य हो तो घृत न दें।

जीर्ण ज्वर में घृत विशेषतया उपयोगी है। कषाय, वमन आदि से ज्वर शान्त न हुआ हो, रोगी रुक्ष हो तो घृत का सेवन खास करे। ऐसे रोगियों में तर्पण की भी आवश्यकता होती है। कई बार संतत ज्वर (टायफॉयड)

१—डॉक्टर बन्धु जीवनीय ए का आश्रय होने से क्षमता-वर्धक मक्खन और मच्छी के तलों का व्यवहार संतत-ज्वर (टायफॉयड) में करते हैं। इससे दौर्बल्य विशेष नहीं होने पाता—रोगी को ज्वर-मुक्ति के पीछे अधिक काल विश्राम नहीं लेना पड़ता। घी में भी यही गुण है—साथ ही आयुर्वेदानुसार अन्य विशेषताएँ भी।

में पुनरावर्तन अथवा रोग का सातत्य अपतर्पण के कारण ही होता है। ऐसी स्थिति में ज्वरहर औषध देने से भी ज्वर-मुक्ति नहीं होती। सात्त्विकानुसार यथावश्यक मात्रा में सुदृढ़ मांसरस आदि देने से औषध के बिना ही दो-तीन दिन में शनैः-शनैः ज्वर उतर जाता है। कई बार तो भूख लगने पर भी (अर्थात् प्रकृति का तर्पणार्थ सन्देश मिलने पर भी) चिकित्सक या परिचारक अन्न का सेवन नहीं कराते और ज्वर चालू रहता है^२।

ज्वरोष्मा (बुखार की गर्मी) स्वभावतः रुक्ष होता है। उसकी रुक्षता से शरीर में वात की वृद्धि होती है। इस अनुबन्ध-भूत वात तथा पित्त दोनों की घृत से शान्ति होती है। सो ज्वर जीर्ण हो गया हो तो ज्वरहर कषायों को घृत-साक्षित करके दे। पिप्पल्यादि घृत^३ जीर्णज्वर में विशेषतः यक्ष्मा के लक्षणों में विशेषतः उपयोगी है।^४

२—इस विषय के विशेष विचार के लिए देखिये 'सचित्र आयुर्वेद' अप्रैल, १९४९ में वैद्य रामशिरोमणिजी का लेख (पृ० ६५५१९, टिप्पणी)।

३—च० चि० ३।२१९—२२१; च० चि० १।८३६—३८। दोनों घृत भिन्न हैं। नाम एक है।

४—यक्ष्मा में अमृतप्राश घृत भी (च० चि० ११; तथा सिद्धयोगसंग्रह) उत्तम है।

शेषांश]

पटना-आयुर्वेद शास्त्रचर्चा-परिषद्

[पृष्ठ ५४४ का

की दृष्टि से अंग विशेषों की आयुर्वेद संहिताओं में जो उपेक्षा मिलती है, उसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है। फिर भी आश्रय आदि के भेद से होनेवाली क्रियाओं को समझाने के लिए इन दोषों के पंचधा प्रविभाग करके उनके विभिन्न अधिष्ठान का भी शास्त्र में वर्णन उपलब्ध होता है। इन उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम सरलता से सम्पूर्ण शारीर द्रव्यों को तथा उनके व्यापारों को इन तीन वर्गों के अन्दर प्रविभक्त कर सकते हैं।

आयुर्वेद के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में जो वर्णन हमें उपलब्ध आर्ष एवं निबन्ध ग्रन्थों में प्राप्त होता है, उनमें एक ही शब्द के अधिकरणानुसार अनेकार्थों में व्यवहृत होने के कारण आयुर्वेद

जिज्ञासुओं के मनमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है, अतः उन सभी पारिभाषिक शब्दों को संकलित कर उनके निश्चित अर्थ का निणय करना होगा, जिससे आयुर्वेद के भविष्य लेखकों, अध्यापकों तथा जिज्ञासुओं को भ्रम में पड़ने का अवसर न मिले। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में वर्णित ज्वर, प्रमेह, कुष्ठादि रोगों को भी वर्गबोधक ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इनका नाम करण अनेक रोगों के कारण उत्पन्न हुए शारीरिक-वैकृतिक लक्षणों के समूह को देख कर ही किया गया है। ऐसा करने से नवाविष्कृत रोगों को भी हम इनके अन्दर ले सकते हैं तथा इनके निदान तथा चिकित्सा की भी सफल व्यवस्था कर सकते हैं।

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान-योजना-ई

पाँचवाँ प्रकरण

डा० ए० लक्ष्मीपति

❀

त्रिदोष-सिद्धान्त की व्याख्या

त्रिधातु अथवा त्रिदोष के अनुसन्धान के विषय में सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वेदों से लेकर पुराणों तक में प्राप्त तथा जन-साधारण में व्याप्त त्रिधातु-विषयक समस्त ज्ञान को एकत्र किया जाए। 'त्रिदोष' यह शब्द आयुर्वेद में बहुधा विभिन्न प्रकरणों में प्रयुक्त हुआ है। इन प्रयोगों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। 'त्रिधातु सिद्धान्त' का अभिप्राय है आयुर्वेद में सर्व-संमति से स्वीकृत यह सिद्धान्त कि त्रिधातु (पोषक तरलों) का साम्य निरोगता का और वैषम्य रोगों का कारण है। शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा विकृति-विज्ञान में परस्पर सम्बन्ध

त्रिधातु का संबन्ध शरीर-क्रिया के साथ है और त्रिदोष का विकृति-विज्ञान के साथ। यद्यपि शरीर-क्रिया के प्रकरण में भी त्रिदोष शब्द का प्रयोग हुआ है। कहीं पर दुष्ट और कुपित शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसका अभिप्राय दोषों की विकृतावस्था को दर्शाना है। सर्व-प्रथम शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा विकृति-विज्ञान सम्यक्तया समझ लेना चाहिये। शरीर-क्रिया-विज्ञान हमें स्वस्थ शरीर की क्रियाओं के सम्बन्ध में जानकारी देता है जो हम शरीर (Anatomy) के (स्थूल तथा सूक्ष्म रचना ज्ञान के आधार पर समझते हैं। शरीर रचना तथा क्रिया का ज्ञान विकृति-

विज्ञान के लिये आधार का कार्य करता है। विकृति-विज्ञान हमें रूग्णावस्था में मन, शरीर तथा देह-तन्तुओं की दशा को समझने में सहायता देता है। शारीर रचना एवं क्रिया तथा विकृति-विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध हमें बताता है कि विकृत अवस्था से



लेखक

सम्बन्धित कथन को तब तक सत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता जबतक उसकी आधारभूत पृष्ठभूमि शारीर (सूक्ष्म तथा स्थूल) रचना एवं क्रिया द्वारा उसको पुष्टि न होती हो। इसके विपरीत विकृति-विज्ञान द्वारा शरीररचना तथा क्रिया को भी समझा जा सकता है। इस उपाय का सहारा आयुर्वेद में अनुसन्धान करने में लेना चाहिए। बहुधा हमें विकृति विज्ञान का अध्ययन करते हुए शरीर-क्रिया की कुञ्जी मिलने की संभावना रहती है।

त्रिधातु तथा त्रिदोष की स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाएँ

विभिन्न परिस्थितियों में त्रिधातु भी भिन्न-

भिन्न रूपों में रहते हैं। उनकी स्थूल तथा सूक्ष्म अवस्थाएँ होती हैं। स्थूल अवस्था में उन्हें देखा, छूभा तथा मापा भी जा सकता है। यथा महास्रोतस में पाचक रसों के रूप में। कफ का प्रमाण सात अंजलि (८४ औंस) और पित्त का छ अंजलि (७२ औंस) है चरक विमान)। वायु का सुगठित स्वरूप नहीं है किन्तु इसकी उपस्थिति का अनुभव किया जा सकता है और इसके स्थूल रूप में वायु का प्रभाव, वायु द्वारा घेरे गये स्थान, उदर में इसके दबाव, और उस दबाव से उत्पन्न वेदना तथा शरीर के अन्य अंगों पर इसके प्रभाव को माप कर स्थिर किया जा सकता है।

सूक्ष्मावस्था में ये त्रिधातु महास्रोतस में आचूषित होकर समस्त शरीर में भ्रमण करते रहते हैं तथा देह को स्वस्थ रखने में हेतुभूत होते हैं।

रोगों में ये त्रिदोष अपनी स्थूलावस्था में कफ, (थूक), पित्त तथा वायु (अफरा) एवं ऐसे ही दूसरे स्त्रावों के रूप में देखे, मापे तथा अनुभव किये जा सकते हैं।

सूक्ष्मावस्था में इनकी उपस्थिति का ज्ञान इनके द्वारा उत्पन्न किये गये शारीरिक परिवर्तनों तथा विकृतियों के लक्षणों से होता है। रोगों में होने वाले ये परिवर्तन एलोपैथी में देह के तन्तुओं के माने गये हैं; दोषों (कुपित पोषक तरलों) के नहीं, जो कि वास्तव में शारीरिक विकृतियों के कारण हैं।

व्याधिषों में त्रिदोषों की छः अवस्थाएँ

दुष्ट या कुपित त्रिदोषों द्वारा शरीर में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें छः दशाओं में विभक्त किया गया है। इस विभाजन का प्रयोजन चिकित्सा में सुविधा करना है। चिकित्सा के इन कालों को 'क्रिया काल' कहा गया है। ये छः दशाएँ आगे

लिखित हैं। (१) चय, (२) प्रकोप, (३) प्रसार, (४) स्थान-संश्रय, (५) व्यक्ति और (६) भेद।

त्रिदोष की विकृत दशाओं और त्रिधातु को शारीरिक क्रियाओं का तुलनात्मक सूक्ष्म अध्ययन करने से अनेकान् समानताएँ दोनों में मिलेंगी।

(१) चय—विकृति दशा का चय (एकत्र होना) क्रिया-शरीर के त्रिधातु संघात (आहार-रस का एकत्र होना,—अन्त्रों में,—भोजन करते समय) से समानता है।

(२) प्रकोप—विकृति विज्ञान का 'दोष-प्रकोप' स्वस्था-वस्था में आँतों में पाये जानेवाले त्रिधातु-वृद्धि (वृद्धि) से समानता रखता है।

(३) प्रसार—क्रियाशरीर के त्रिधातु-भ्रमण के साथ विकृति-दशा के त्रिदोष-प्रसार का साम्य स्पष्ट ही है।

(४) स्थान-संश्रय—विकृति-विज्ञान में दोषों का स्थान-भ्रंश तथा नये स्थान का आश्रय 'स्थानसंश्रय' इस शब्द का भावार्थ है। कुपित त्रिधातु (दोष) तथा दूष्यों (सप्तधातु) में जो परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है उसे 'दोषधातुसंमूर्च्छन' कहते हैं। यह दशा स्वस्थावस्था में त्रिधातु (तीन पोषक तरल) का धातुओं तथा घटकों (cells) के साथ के होनेवाले सम्बन्ध से साम्य रखती है।

(५) व्यक्ति—विकृति-विज्ञान की व्यक्तिदशा (व्याधि-दर्शन वा विद्रधि अवस्था (देखिये—लेखक का प्रिंसिपल्स ऑफ पैथोलॉजी भाग २ अध्याय ७) स्वस्थावस्था की धातुओं की तथा घटकों की वृद्धि-दशा से मिलती-जुलती है।

(६) भेद—विकृतावस्था में 'धातुओं' में व्रणोत्पत्ति, नाश तथा विश्लेषण ये प्राकृतिक दशा में आहार की पाचन दशा के समान हैं। इससे शरीर के अवयवों की क्रियाएँ प्राकृतिक अवस्था में रहती हैं।

सन् १९५१]

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान-योजना

५५५

विकृतावस्था की ये छहों दशायें रोगों में अप्राकृतिक वा विकृत प्राणिगत रासायनिक परिवर्तनों का परिणाम हैं; जब कि स्वस्थ दशा में उक्त छहों दशाओं का संचालन प्राकृतिक और स्वस्थ रूप में होनेवाले प्राणिगत रासायनिक परिवर्तनों (Biochemical changes) द्वारा होता है। इन रासायनिक परिवर्तनों को 'अग्निकर्म' संज्ञा आयुर्वेद में दी गई है। सामाग्निकर्म (Normal Metabolism) स्वस्थ का और विपमाग्निकर्म (Abnormal Metabolism) रोग का कारण है। उक्त तुलना एक उदाहरणमात्र है, जिसके द्वारा यह दर्शाया गया है कि आयुर्वेद में विकृति-विज्ञान का उपयोग 'शरीरक्रिया' सम्बन्धि ज्ञान को समझने में किस प्रकार किया जा सकता है। इसी ढंग पर एलोन्थी ऐसी संज्ञायेँ निकाले जिससे आयुर्वेदिक साहित्य को समझा जा सके।

मुख में पाचन

मुख में होनेवाली पाचन-विधि को हम एक उदाहरण द्वारा प्रथम समझने का यत्न करेंगे। यह प्रत्यक्ष ग्रह्य और अनुभव में आनेवाला परीक्षण है। इस परीक्षण को समझने के लिये आवश्यक और योग्य आयुर्वेदिक भाषा बनानी पड़ेगी। एतदर्थ विभिन्न पुस्तकों से अनेको उद्धरण एकत्र करने पड़ेंगे और इन संज्ञाओं को समझना पड़ेगा। तब ही अवस्थावाले इस परीक्षण को हम समझ सकेंगे। उदाहरणार्थ:—(१) नाना विधि आहारों का पाचन तथा उनका मल और सार रूप में पृथक्-पृथक् होना। विविधाशितपोतोय अध्याय चरक सूत्रस्थान २८।

(२) पंचकर्म—आयुर्वेद के अनुसार पाचन तथा सात्त्विकीकरण का वर्णन, चरक चिकित्सा अ० १५। आयुर्वेद में जो भी पदार्थ, पाचन तथा प्राणिगत रासायनिक परिवर्तनों का कारण है, उसे 'अग्नि'

संज्ञा दी गई है। कभी-कभी इसे 'ऊष्मा-पित्त' वा केवल उष्णता का नाम भी दिया गया है। 'दोषधातुमलादीनामूष्मा इति आत्रेयश'सनं।'

वाग्भट्ट शरीर ३-४६

त्रिधातु, सात धातुएँ, तथा तीन मल, इन तीनों देह-धातुएँ की अपनी-अपनी अग्नि है। उक्त उद्धरण में 'मलादीनामूष्मा' शब्द आया है। यहाँ पर 'आदि' शब्द का अभिप्राय है: शरीर में कहीं भी होनेवाले अन्य प्राणिगत रासायनिक परिवर्तन (Biochemical actions); उदाहरणार्थ त्वक्-स्थ अग्नि-त्वचा में होनेवाले रासायनिक परिवर्तन (सुश्रुत चिकित्सा अ० २४)। व्यायामोष्मा (व्यायाम द्वारा होनेवाले रासायनिक परिवर्तन) (सु० चि० १५-३५), जठराग्नि, कायाग्नि, दोषाग्नि इत्यादि सामान्य संज्ञायेँ हैं जिनके द्वारा सारे शरीर में होनेवाले रासायनिक परिवर्तनों का वर्णन किया जाता है। दोषाग्नि, धातुग्नि, भूताग्नि, ये संज्ञायेँ इस बात को दर्शाती हैं कि रासायनिक परिवर्तन किन्हीं विशेष धातुओं—दोषों, सप्तधातुओं, महा-भौतिक तत्त्वों—में हो रहे हैं। इसी प्रकार से पाचकाग्निका अभिप्राय है महास्रोत में हो रहे अन्न-पाचन सम्बन्धि रासायनिक परिवर्तन। शरीर की अन्य सब अग्नियों की शक्ति का आधार पाचकाग्नि है, जो महास्रोत में पाई जाती है। इस पाचकाग्निका प्रभाव स्वास्थ्य, वर्ण, कान्ति, शक्ति तथा दीर्घायु पर बहुत अधिक मात्रा में पड़ता है।

आयुवर्णों बल स्वास्थ्य, उत्साहोपचयप्रमा।

ओजस्तेजोऽन्यः प्राणाश्चोका देहाग्निहेतुकाः

चरक चि० १५२-

जीवन, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, शरीरवृद्धि, कान्ति, ओज, तेज, ये सब देहाग्नि पर निर्भर हैं, अर्थात् शरीर में हो रहे रासायनिक परिवर्तनों पर

निर्भर है। इस देहाग्नि पर ही जीवन तथा मृत्यु निर्भर है, अतः स्वस्थ और रुग्ण अवस्थाओं में इसका महत्त्व मानना ही पड़ेगा। ये देहाग्नियाँ चार प्रकार की मानी गई हैं। ये चार भेद अग्नि के अपने शक्ति-भेद के कारण होते हैं।

(१) तीक्ष्णाग्नि—मिथ्या आहार और विहार से भी इस देहाग्नि के कार्य में कोई गड़बड़ी नहीं होती। इसका कारण साधारणतः देह में पित्त-बाहुल्य होता है।

(२) मन्दान्नि—आहार में साधारण परिवर्तन से भी पाचन में बाधा आ जाती है। इसमें कफ की प्रधानता होती है।

(३) विषमान्नि—कभी आहार और विहार में साधारण परिवर्तन से भी यह गड़बड़ी हो जाती है और कभी कितने ही मिथ्याहार-विहार से भी इस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसमें वात की प्रधानता पाई जाती है।

(४) समान्नि—साधारण आहार-विहार से इसके कार्यों में कोई बाधा नहीं आती। इसका कारण त्रिदोष का साम्य है।

ये चार देह-अग्नियाँ न केवल पाचकाग्नि द्वारा क्रियमाण अन्त्रों तथा महास्रोतम् के आहार-पाचन को ही प्रभावित करती हैं अपितु अन्य अग्नियों को भी प्रभावित कर सकती हैं। ये चार अग्नियाँ शरीर की प्रकृति (स्वभाव) की द्योतक भी हैं। यथा-पित्त प्रकृति, कफ-प्रकृति, वात-प्रकृति आदि।

चरक विमानस्थान अध्याय पाँच में तेरह अग्नियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

पाँच महाभूताग्नियाँ, सात देहधात्वग्नियाँ, एक पाचकाग्नि।

रस-दोष-सन्निपात

रस तथा दोषों का संयोग 'रस दोष सन्निपात' संज्ञा से बताया गया है। इस प्रकरण में 'रस' शब्द का अर्थ है आहार द्रव्य—जिसमें कोई एक विशेष रस या अनेक रस पाये जाते हैं। दोष महास्रोतस् के स्त्राव हैं : कफ, पित्त और वात। इस दोष सन्निपात का अभिप्राय है : इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध। यह घनिष्ठ सम्बन्ध महास्रोतस् में होता है जहाँ रस और दोष परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। इसकी तीन अवस्थाएँ—जिन्हें अवस्था पाक कहा जाता है—देवी जाती हैं।

प्रथमावस्था—यह अवस्था आमाशय (मुख तथा आमाशय Stomach का ऊपर का भाग) में देवी जाती है। इस अवस्था में कफ की वृद्धि होती है। इसे मधुर विपाक कहते हैं।

द्वितीयावस्था—पच्यमानाशय (आमाशय का निचला भाग तथा क्षुद्रान्त्र का प्रथम भाग—संप्रहणी) में पित्त की वृद्धि होती है। इसे अम्ल विपाक संज्ञा दी जाती है।

तृतीयावस्था—यह पाक क्षुद्रान्त्र के निचले भाग तथा वृहदन्त्र में, जिन्हें 'पक्वाशय' संज्ञा दी जाती है, होता है। यह वात को बढ़ाता है। इसे कटु विपाक संज्ञा भी दी जाती है।

उक्त अवस्थापाकों के अतिरिक्त एक 'निष्ठापाक' बताया गया है : इसमें रस-दोष पुनः एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह निष्ठापाक उक्त त्रिविध पाक की तरह स्थान-विशेष में न होकर सारे महास्रोतस् में ही होता रहता है। यह निष्ठापाक आहार के सार तथा मल रूप में विभाजन होते समय होता रहता है। सामान्य सिद्धान्त यह है कि मधुर रस

सन् १९५१]

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान-योजना

५५०

लवण रसयुक्त पदार्थों का निष्ठापाक मधुर रस का, अम्ल रस का अम्ल त्रिपाक और कटु-तिक्त-कषाय का प्रायः कटु त्रिपाक होता है। (चरक सूत्र २८।३५)। दूसरा सिद्धान्त है कि मधुर त्रिपाक कफ को, अम्ल त्रिपाक पित्त की तथा कटु त्रिपाक वात को वृद्धि करता है। रस छद् हैं—मधुर-अम्ल-लवण-कटु-तिक्त-कषाय। इनमें क्रम से जो जिससे पूर्व स्थित है वह अधिक बलदायक होता है अर्थात् कषाय की अपेक्षा तिक्त, तिक्त की अपेक्षा कटु, इत्यादि। मधुर सबसे अधिक पौष्टिक है। (वाग्भट्ट सूत्रस्थान १-४)। इनमें अपवाद भी हो सकते हैं; उन्हें 'प्रभाव' कहा जाता है।

चिकित्सा-सम्बन्धी साक्षियाँ प्राणिगत रासायनिक परीक्षणों से उत्तम हैं। (Clinical evidence superior to Bio-Chemical experiments.)

एक विशेष बात जिस पर यहाँ ध्यान देना आवश्यक है वह यह है कि आयुर्वेद में केवल शर्करा को ही नहीं, अपितु विविध अन्नों, यथा चावल आदि, को भी जिन्हें एलोपैथी में कार्बोजीय (Carbohydrates) बताया गया है, मधुर वर्ग में सम्मिलित किया है। गेहूँ, दालें, बकरी का मांस, जिन्हें एलोपैथी में प्रोटीन-बहुल माना गया है, आयुर्वेदानुसार वे सब मधुर रस युक्त पदार्थ हैं जिनका त्रिपाक भी मधुर होता है। इसी प्रकार आयुर्वेद में घी को रस तथा त्रिपाक में कटु माना है। एलोपैथी में इसे जल और कार्बन (Hydro-Carbon) का मिश्रण माना गया है। इसी प्रकार, आयुर्वेद में, भेड़ का मांस बकरी के मांस की अपेक्षा अधिक मधुर तथा मनुष्य के मांस के अधिक समीप माना गया है।

शरीर-आनुसमान्यात्

अनभिष्यन्दि बृंहणम्। चरक सूत्र २७-६१

बकरी का मांस लघु, पौष्टिक व समशीतोष्ण बताया गया है किन्तु भेड़ का मांस गुरु पौष्टिक और शीतल बताया गया है, जब कि मूँग को कषाय-मधुर रस वाला, शीतवीर्य कटुत्रिपाकी माना गया है और चनों को कषाय-रस, प्रभावतः उष्ण तथा अम्लत्रिपाकी बताया गया है—चरक सूत्र २७-२३ तथा २६)। चनों की अपेक्षा मूँग को अधिक पौष्टिक माना गया है; मूँग शीतल है जब कि चना उष्ण है। अतः मधुर जंसी संज्ञाओं का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। आयुर्वेद में इनकी भौतिक तथा क्रिया-सम्बन्धी विशिष्टताओं के अनुसार इन संज्ञा शब्दों की निश्चित परिभाषा (व्याख्या) कर दी गई है। देखिये, चरक सूत्र २६-६६ है।

स्नेहनश्रीणनमाह्वदमादवैलपलभ्यते।

मुखस्थो मधुरश्चास्यं व्याप्नुवन्तिपतीव च ॥

जब कोई मधुररसवाला पदार्थ मुख में रक्खा जाता है तो वह मुख में क्लेद (स्नेहन) उत्पन्न करता है। मधु के समान यह मुख में फैल जाता है। इसी प्रकार की शरीरक्रिया-विज्ञान-सम्बन्धी परीक्षाएँ अन्य रसों के लिये भी दो गई हैं अतः आधुनिक अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिये यह अत्यन्त महत्त्व का अन्वेषणीय विषय बन जाता है।

आयुर्वेद में आहार के मानसिक गुण और प्रभाव भी बताए गये हैं। यथा सात्विक आहार, राजसिक आहार, तामसिक आहार। मनोवैज्ञानिकों के लिये यह भी एक अनुसन्धान का विषय है। उदाहरणार्थ गाय का दूध तथा दही भैंस के दूध तथा दही की अपेक्षा अधिक सात्विक बताया गया है। भैंस का दूध तथा दही तामसिक, बुद्धि

मन्द करनेवाला बताया गया है। पुनश्च तैल की अपेक्षा घी अधिक सात्विक है। तैल शारीरिक शक्ति को बढ़ाता है किन्तु घी मानसिक शक्ति को। देखिये लेखक की Mind in Health and Disease साईन्ड इन हेल्थ एण्ड डिज़ीज नामक पुस्तक को। उपर्युक्त निष्कर्ष रोगियों पर किये गए चिकित्सा-सम्बन्धी परीक्षणों का फल दीखते हैं, जो भारत के वैज्ञानिकों और वैद्यों ने शताब्दियों के परीक्षण और परिश्रम के पश्चात् प्राकृतिक तथ्यों को एकत्र कर और उनकी समीक्षा के बाद निकाले हैं। पुनः वे पुस्तकों में एकत्र कर दिये गए हैं। जीवों पर परीक्षण करनेवाले वैज्ञानिकों का कर्तव्य है कि वे इन निष्कर्षों पर परीक्षण करें तथा फलानुसार उन्हें प्रमाणित वा त्याज्य सिद्ध करें। अतः रोगियों पर परीक्षण से प्राप्त चिकित्सा सम्बन्धी साक्षियाँ, चाहे वे स्वस्थ जीवों पर किये गए रासायनिक परीक्षणों से सिद्ध प्रमाणित होती हों या न होती हों, एक चिकित्सक के लिये अधिक महत्त्व रखती हैं।

प्रकृति सम समवाय Normal General Combination, तथा विकृति-विषम समवाय Abnormal Special Combination.

जब दो पदार्थों में घनिष्ठता बढ़ती है तो दो प्रकार का संयोग हो सकता है। एक योग तो यान्त्रिक मिश्रण के समान होता है जिससे मिश्रण बनानेवाले दोनों पदार्थों के गुणों को देखा जा सकता है। न्यायशास्त्र में इसे पिठर पाक कहते हैं (जैसे एक काले घड़े का अग्नि में तपकर लाल हो जाना) इस प्रकार के संयोग को आयुर्वेदानुसार 'प्रकृति सम-समवाय' संयोग कहा जाता है।

दूसरे प्रकार के संयोग में, योग में भाग लेनेवाले दोनों मूल पदार्थों के गुणों को पृथक्-पृथक् नहीं पहचाना जा सकता। वे अपने पुराने रूप को

सर्वाथा छोड़कर एकदम नये स्वरूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा रासायनिक योगों में। उदाहरणार्थ जब हल्दी और चूना संयुक्त होते हैं तो उस संयोग से उत्पन्न वर्ण न तो पीला और न ही सफेद होता है अपितु लाल वर्ण का होता है। न्याय में इस प्रकार के संयोग को पीलुपाक (जिसमें संयोग बनानेवाले दोनों पदार्थों के अणुओं में परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है Atomic reaction) कहा जाता है। इस प्रकार के संयोग को विकृति-विषम-समवाय कहा जाता है।

[पदार्थों का संयोग दो प्रकार का होता है। (१) भौतिक संयोग या शारीरिक मिलन में संयोग बनानेवाले दोनों पदार्थों के स्थूल कण सूक्ष्म रूप में एक-दूसरे के साथ मिले हुए दीखते हैं। किन्तु वस्तुतः वे पृथक् ही रहते हैं। इस प्रकार के संयोग को वैज्ञानिक भाषा में मिश्रण Mixture) कहते हैं। सुवर्ण वंग में पारा और वंग को जब मिलाया जाता है तो मिश्रण तैयार होता है। पुनः घोटने तथा अग्नि पर चढ़ाने से योग बनता है। इसे प्रकृति-सम-समवाय संयोग कहा गया है। (२) रासायनिक संयोग को योग (Compound) कहा जाता है। यथा पारा गन्धक की कज्जली बनाकर ताप के संयोग से रससिन्दूर या मकरध्वज बनाया जाता है।—अनुवादक]

इस दूसरे प्रकार के संयोग को आयुर्वेद में विकृति-विषम-समवाय कहा गया है। ये दो प्रकार के संयोग केवल रसों और दोषों के ही नहीं दोषों और धातुओं के मिलने से भी बनते हैं। उदाहरण के लिये वातश्लेष्म-द्वन्द्व-ज्वर को लें। इसके प्रकृति-सम-समवाय प्रकार में दोनों ही दोषों के लक्षण उपस्थित होंगे, तथा वात और श्लेष्मा के पृथक्-पृथक् लक्षण देखे जायेंगे। किन्तु किन्ही विशेष

सन् १९५१]

त्रिदोष-सिद्धान्त में अनुसन्धान-योजना

५५६

ज्वरो (यथा प्रलेपक ज्वर) में हम अतिस्वेद को पाते हैं जो न तो वात का गुण है और न कफ का। इस प्रकार का संयोग दोष-द्रव्यों का 'विकृति विषम-समवाय' कहा जायगा। इस प्रकार द्रव्यों के विशिष्ट प्रभाव को इन दो प्रकार के संयोगों में विभक्त कर सकते हैं। यथा - रसप्रभाव, द्रव्यप्रभाव, दोष-प्रभाव और विकार-प्रभाव।—द्रव्य के रसों की विशिष्ट शक्ति अथवा गुणों की शक्ति; दोष उनकी मात्रा तथा स्थानगत शक्ति; विकार-प्रभाव रोग की प्रकृति; उसके विशिष्ट कारण (जो दोषों की उपेक्षा करके भी रोगों को उत्पन्न करते हैं) इन सब बातों पर उक्त दोनों प्रकार के संयोगों का परिणाम निर्भर है।

यह अत्यन्त महत्त्व का विषय है इस पर आधुनिक अन्वेषक, को पर्याप्त प्रकाश डालना चाहिये। देखिये चरक विमान अ० १ (रस-कलना व दोष-कलना) तथा लेखक की Principles of Treatment (प्रिन्सिपल्स आफ ट्रीटमेन्ट खण्ड १. अ० ४.)।

दोष-द्रव्य-सम्मूर्च्छना

दोष-द्रव्य-सम्मूर्च्छना का अभिप्राय है दोषों तथा धातुओं की परस्पर प्रतिक्रिया। दुष्ट दोषों की धातुओं के साथ होनेवाली प्रतिक्रिया का परिणाम रोग है। जब इस प्रकार की प्रतिक्रिया शरीर में होती है, तो सप्तधातुओं में या शरीर के तन्तुओं में भी कुछ प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। यह धातुओं की प्रतिक्रिया एलोपैथो में वर्णित शोथ उत्पन्न होने की प्रतिक्रिया (Inflammatory process) के समान है। भेद इतना ही है कि शोथ में धातुओं की प्रतिक्रिया बाह्य कारणों यथा संक्रमण वा आघात आदि के विरुद्ध होती है, किन्तु दोषद्रव्य-सम्मूर्च्छना किसी बाहरी कारणकी उपस्थिति

के अभाव में भी (धातुओं की प्रतिक्रिया) होती है, जैसा कि देहवर्द्धक क्रियाओं सम्बन्धी रोगों (Metabolic diseases) में मधुमेह में अथवा पोषणाभाव से उत्पन्न बेरोबेरी आदि व्याधियों में देखने में आता है। अतः एलोपैथीय शब्द-विधि की अपेक्षा दोषद्रव्य सम्मूर्च्छना का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। (देखिये लेखक की Principles of Pathology प्रिन्सिपल्स ऑफ पैथोलजी अध्याय २ और ३)

तद्विधदोषद्रव्यसम्मूर्च्छनविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः।

तत्कार्याश्चारुच्यादयः ॥

माधवनिदान अ० १. पृष्ठ ७ विजयरक्षित की टीका

अर्थात् कुपित त्रिदोषों तथा सप्तधातुओं के परस्पर संसर्ग और प्रतिक्रिया से रोग उत्पन्न होते हैं। इस त्रिदोष-धातु-संयोग का 'दोषद्रव्य सम्मूर्च्छना' कहा जाता है। ज्वर आदि रोग तथा अरुचि आदि लक्षण इस सम्मूर्च्छना के ही परिणाम हैं। इसे ही कभी-कभी 'दोषधातु-सम्मूर्च्छना' नाम भी दिया जाता है, अर्थात् दुष्ट दोषों और दूषित धातुओं का विकृत संयोग।

अभी तक हमने आयुर्वेद की कुछ संज्ञाओं का अभिप्राय समझाने का प्रयत्न किया है जो आहार-पाचन तथा रोगोत्पादन से सम्बन्ध रखती हैं।

आयुर्वेदानुसार आहार का पाचन

मुख में आहार-पाचन का प्रकार 'रसदोष सन्निपात' को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। दोषों में कुछ ऐसे विशिष्ट गुण होते हैं जो रसों (रस-युक्त द्रव्यों) के विशिष्ट गुणों से समानता रखते हैं। रसों के सम्पर्क में आने पर दोष इन रसस्य गुणों को अपनी ओर खींचते हैं और उनके कारण दोषों की वृद्धि हो जाती है, जैसा कि नियम है —

“वृद्धिः समानैः सर्वेषाम्।” इसे निम्न लिखित प्रयोग द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

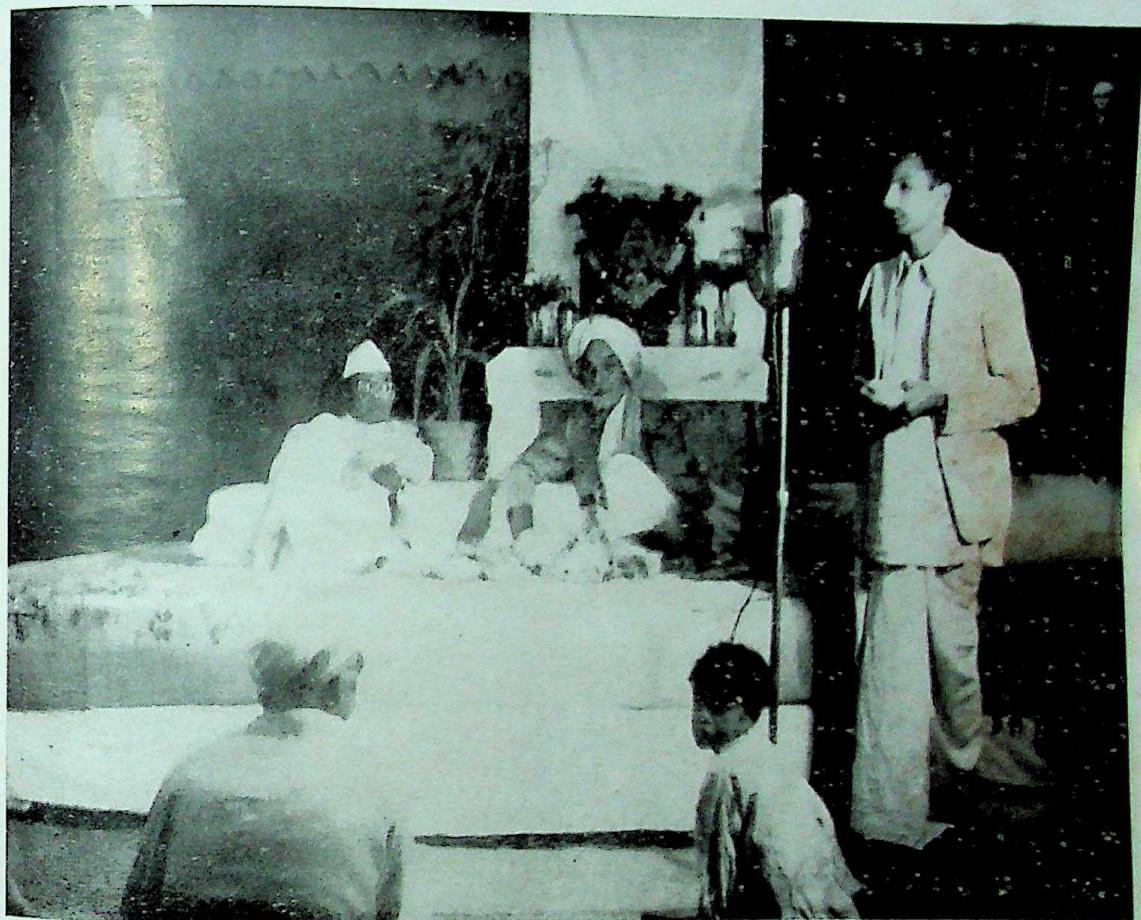
एक तोला रोटी का टुकड़ा लेकर मुख में चबाओ। यह दाँतों द्वारा छिन्न होकर लपसी-सा बन जाता है और मुख से निकलने वाला लाला द्वारा गीला हो जाता है; रोटी के टुकड़े का रूप बदल जाता है। इसे ‘रूपान्तर’ (भौतिक परिवर्तन, Physical change) कहते हैं। इस भौतिक परिवर्तन में यह टुकड़ा भागदार-श्वेत तथा मधुर रस वाला हो जाता है। यह ‘रूपान्तर’ किंवा रासायनिक परिवर्तन (Bio-chemical change) है। अब इस टुकड़े को निगलने के स्थान पर एक प्याले में भर दो। यह तरल मूल टुकड़े के भार की अपेक्षा तीन-गुणा होता है। भार में वृद्धि इस बात का प्रमाण है कि इसमें कोई नया पदार्थ मिला है। यह नया पदार्थ मुख से स्रवित होने वाला तरल है। इस तरल को आयुर्वेद में ‘क्लेदक कफ’ कहते हैं। यह उदाहरण पाचन विधि में उपयोगी स्त्रावों के विषय में कुछ प्रकाश डालता है। इस तरल में कुछ क्रियाशील तत्त्व रहते हैं जिन्हें हम उस तरल या स्त्राव की अग्नि कहते हैं। जैवरसायन (Bio-chemically) शास्त्र के अनुसार हम यही बात निम्न शब्दों में वर्णन कर सकते हैं कि कफ की अग्नि ने रोटी के टुकड़े के रूप और रस को बदल दिया है। इस प्रकार कफ ने अपने समान-धर्म अंश को रोटी में से ग्रहण कर अपनी वृद्धि कर ली है। यहाँ से मधुर विपाक तथा कफ का वृंहण प्रारम्भ होता है और यह विपाक अन्न में अन्न के जाने तक होता है। इस प्रकार रोटी का जितना अंश स्रवित तरल ग्रहण कर लेता है उतना अंश दूसरा ही द्रव्य बन जाता है। इसे ही ‘द्रव्यान्तर’ संज्ञा दी जाती है। ये तथा इसी प्रकार के अन्य परिवर्तन एक एलौपैथ अच्छी तरह से समझ सकता है क्योंकि उसे भौतिकी, रासायनिकी और प्राणिशास्त्र तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान का ज्ञान होता है। शरीर में

कहीं भी होने वाले भौतिक, रासायनिक और जैव-रासायनिक (Bio-chemical) परिवर्तनों को आयुर्वेद की भाषा में ‘अग्निकर्म’ कहा जाता है। पाचन-विधि का विस्तृत वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में, कफ के पश्चात् पित्त की वृद्धि पच्यमानाशय में, तथा वात की वृद्धि पक्वाशय में होती है।

पक्वाशय वात तथा वात-संस्थान में परस्पर सम्बन्ध

अनुसन्धानकर्त्ता के लिये जहाँ एक ओर वात तथा पक्वाशय का परस्पर सम्बन्ध जानना आवश्यक है वहाँ दूसरी ओर पक्वाशय और वात-संस्थान (Nervous system) का सम्बन्ध जानना भी रस का विषय होगा। चिकित्सा को दृष्टि से यह बात अच्छी तरह ज्ञात है कि वात की नवीन या पुरानी व्याधियों में क्वाथ तथा तैलों का वस्ति के रूप में प्रयोग अत्यधिक लाभप्रद है। अतः इस दृष्टि से महदन्त्र के निचले भाग तथा वात-संस्थान में घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। मूच्छ्रा-अपस्मार के वेग के लिये वस्ति-चिकित्सा बताई गई है। तीव्र तथा जीर्ण दोनों ही प्रकार के रोग वातहर द्रव्यों के क्वाथ से बनी वस्तियों द्वारा अत्यन्त चमत्कारिक रूप से ठीक होते देखे गये हैं। योग-शास्त्र तथा आयुर्वेद के अनुसार वस्ति-प्रदेश (प्रायः महदन्त्रों का प्रदेश) वात-नाड़ियों की क्रिया का अधिष्ठान है। आयुर्वेद में यह अपानवायु का स्थान है तथा योग-शास्त्र में इसे ‘मूलाधार-चक्र’ कहा जाता है। जिसे एलौपैथी में Auto-Intoxication आदि इन्टोक्सिकेशन कहा जाता है। वह एक प्रकार की वात-नाड़ियों की क्रिया के प्रति गलति ही है। यदि पक्वाशय, मस्तिष्क, केन्द्रोय तथा पिंगल नाड़ी मंडल में सम्बन्ध का प्रमाण मिल जाए तो आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त की प्रामाणिकता नव्य विज्ञान के अनुसार भी सिद्ध हो जायगी। (क्रमशः)

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के
नागपुर-निर्माणकेन्द्र में धन्वन्तरि जयन्ती-महोत्सव



चित्र में—निर्माणकेन्द्र के मैनेजर श्री घनश्यामदास चौवे स्वागत-भाषण कर रहे हैं ; मंच पर उत्सव के अध्यक्ष पण्डित गोवर्धन शर्मा छांगाणी तथा उद्बोधक माननीय श्री वाल्मीकि जी बैठे हैं ।

सायं ५ बजे उत्सव की कार्यवाही शुरू होने पर सर्वप्रथम निर्माणकेन्द्र के मैनेजर श्री घनश्यामदास चौवे ने समागत सज्जनों का स्वागत करते हुए एक संक्षिप्त भाषण दिया । आयुर्वेद के प्रवर्तक भगवान धन्वन्तरि को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आपने श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० की नीति पर भी प्रकाश डाला तथा यह विश्वास प्रकट किया कि विद्वान् वैद्यों के आशीर्वाद तथा मैनेजिंग डायरेक्टर्स पण्डित रामदयाल जोशी एवं पण्डित रामनारायणजी शर्मा के सुयोग्य नेतृत्व में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० आयुर्वेद की निरन्तर अधिकाधिक सेवा कर सकेगा ।

स
वि
स
में
वै
हु
व
र्य
ग
सं
क
पू
वि
श
श
में
अ
वि
सं
वृ
क
वि
अ

आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूल तत्त्व

वैद्यपद्मानन गङ्गाधर शास्त्री गुणे

ॐ

आयुर्वेद केवल रोगप्रतिपादक विज्ञान नहीं है। इसमें जीवन के सब पहलुओं पर सब ओर से विचार किया गया है, इसलिए जीवन-विज्ञान (Science of Life) इसको कह सकते हैं। इस जीवन-विज्ञान के विभिन्न भागों में एक है चिकित्सा (शास्त्र और पद्धति)।

ऋग्वेद या अथर्ववेद के इस उपवेद (आयुर्वेद) पर सनातन वैदिक संस्कृति का बहुत असर हुआ ही है। इस जीवन-विज्ञान के लिए लाभदायक तत्त्व (मीमांसा एवं प्रत्यक्ष उपयोगी भाग न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा योग से इसमें ले लिये गये हैं तथा बौद्ध शास्त्रों का भी सहारा आयुर्वेदीय संहिताकारों ने लिया है। सनातन वैदिक संस्कृति का तत्त्व जीवनविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; अतः इस व्यापक शास्त्र (आयुर्वेद) का विवेचन करने के लिए वैदिक वाङ्मय के विभिन्न शास्त्रों की मदद ली गयी है।

प्रथम इसका विचार करना आवश्यक है कि शरीर का तथा वह (शरीर) जिस बाह्य परिस्थिति में अपना जीवन बिता रहा है उस (परिस्थिति) का अन्योन्य सम्बन्ध क्या है। आयुर्वेद में बाह्य परिस्थिति को 'लोक' और सजीव शरीर को 'पुरुष' संज्ञा दी गयी है। लोक और पुरुष में साम्य है। बुद्धिमान पुरुष इस साम्य को समझने की कोशिश करते हैं। पुरुष और लोक समान इस प्रकार हैं कि जितने भावविशेष लोक में हैं, उतने पुरुष में हैं और जितने भावविशेष पुरुष में हैं, उतने लोक में

हैं। लोक और पुरुष के साम्य का यह वर्णन जब भगवान् आत्रेय कर रहे थे तो अग्निवेश ने उनसे कहा—आपके कथन का मर्म हमारी समझ में नहीं आया जिससे हम उसके रस का स्वाद नहीं ले सके; आप इसका सविस्तर वर्णन करेंगे तो बहुत अच्छा होगा; उसे सुनकर हम पवित्र होंगे, ज्ञान-विज्ञान में रत होंगे। आत्रेयजीने अग्निवेश से कहा—वत्स, सुन। लोक और पुरुष के अवयवविशेष (भाग, विभाग, प्रविभाग) तो अपरिसंख्येय (असंख्य) हैं, इसलिए सामान्यतः स्थूल रूपरेखा में ही वर्णन कर सकता हूँ^१।

'पुरुष' कहते हैं षड्धातुओं के समूह को। यानी पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश और अन्यक्त ब्रह्म जो षड्धातु हैं, इन के समूह को पुरुष कहते हैं^२। यह विचार या विवेक मोक्षार्थ है, ऐसा टीकाकार

१—एवमयं लोकसंमितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे, तावन्तो लोके, इति बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति ॥ च० शा० ४-१३

पुरुषोऽयं लोकसंमित इत्युवाच भगवान्पुनर्वसुः। यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके, इत्येवंवादिनं भगवन्मात्रेयमग्निवेश उवाच। नैतावता वाक्येनोक्तं वाक्यार्थमवगाहामहे, भगवता बुद्ध्या भूयस्तरमनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामह इति।

चरक शा० ५-४

२—षड्धातवः समुदिताः 'लोक' इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा पृथिवी वायुराकाशमास्तेजः ब्रह्म चाव्यक्तम् इत्येत एव च षड्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते।

चरक शा० ५-५।

कहते हैं (लोकपुरुषसाम्यकथनं च मोक्षार्थमेवेति—चक्रपाणि टीका) । किन्तु यह विषय केवल मोक्ष या अध्यात्म के लिए नहीं है । चिकित्सा शास्त्र और चिकित्सा पद्धति को अच्छी तरह समझ कर व्यवहार में उस का प्रत्यक्ष उपयोग करने के लिए लोक और पुरुष का अन्योन्य सम्बन्ध या साम्य जानना अत्यन्त उपयुक्त है । इस अत्यन्त श्रेष्ठ वाद को समझ कर आयुर्वेदीय चिकित्सक शास्त्र और पद्धति का विनियोग अच्छी तरह कर सकते हैं, यह हमारा मत है । यानी अध्यात्म के समान प्रत्यक्ष व्यवहार में भी यह वाद अत्यन्त उपयुक्त है ।

पुरुष (सजीव शरीर) जीव (आत्मा, ब्रह्म) तथा सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय द्रव्यों से बना है । लोक वैसा नहीं बना है । शरीर-यन्त्र के संचालन के लिए पुरुष (सजीव शरीर) और लोक (बाह्य जगत्) का दृढ़ सम्बन्ध रहता है । यहाँ तक कि यह शरीर बाह्य जगत् में उसी प्रकार निवास कर रहा है, जैसे कि एक जलचर प्राणी जल में निवास करता है । संसार में स्थावर-जंगम प्राणी सेन्द्रिय द्रव्य हैं और सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, अस्थिस्थ कैल-शियम, स्नायुस्थ मग्नेशिया आदि निरिन्द्रिय द्रव्य हैं । समस्त संसार पंच महाभूतों से भरा है । शरीर भी पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मक और चेतनाधिष्ठानभूत है । इस में चैतन्य अधिक है; अतएव पृथिवी आदि पंचमहाभूतों का वात-पित्त-कफ के रूप में परिवर्तन हुआ । वात-पित्त-कफ शरीर का धारण करते हैं; अतः इन को धातु कहते हैं । ये शरीर में स्थूल, सूक्ष्म तथा अति सूक्ष्म स्वरूप में रहते हैं । इन स्वरूपों में धातु शरीर में सर्वत्र पाये जाते हैं ।

लोक (बाह्य जगत्) और पुरुष (सजीव शरीर) का अन्योन्य सम्बन्ध इन्द्रियार्थसंयोग और काल से

हुआ है । सम या सात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग से धातुसाम्य या स्वास्थ्य कायम रहता है । कालका भी सम योग स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है । आसात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग से दोषैषम्य और दोषवैषम्य से रोग होते हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रियार्थों का ग्रहण कर्ण (कान), त्वचा, आँखें, जिह्वा, नासा आदि इन्द्रियाँ करती हैं । इस इन्द्रियार्थ-ग्रहण में मन सहायक रहता है । आयुर्वेदानुसार मन अतीन्द्रिय है । वह आत्मा का एवं चैतन्य का साधन है तथा इन्द्रियव्यापार में सहायक है । इन्द्रियार्थ ग्रहण करने में इन्द्रियाँ मन की सहायता से समर्थ होती हैं^१ । इन्द्रियद्रव्य पाँच हैं: वायु, तेज, आप, भू और आकाश^२ । इन्द्रियाधिष्ठान भी पाँचो इन्द्रियों के पाँच हैं: आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा^३ । पाँच ही इन्द्रियबुद्धि हैं, चक्षुर्बुद्धि, नासिका-बुद्धि, कर्णबुद्धि आदि । इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, सत्त्व (मन) और आत्मा के सन्निकर्ष से क्षणिक और निश्चयात्मिका इन्द्रियबुद्धि पैदा होती है । इन्द्रिय हैं बाह्य जगत् की जानकारी करने में शरीर की साधन । शरीरावयव केवल स्थूल शरीर के अलग-अलग भाग रहते हैं । उन से ज्ञानग्रहण का सामर्थ्य अधिकाधिक गहरा मन तक चला जाता है ।

१—तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पंचेन्द्रियाणि पंचेन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ च० सू० अ० ८, १०

२—अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वज्ञं चेत इत्याहुर्देहं । तदर्थ्यात्मसंपत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ च० सू० ८—४

३—मनःपुरस्सराणि चेन्द्रियाणि अर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति । च० सू०, ८—७

४—पंचेन्द्रियद्रव्याण्यपि एवमाकाशं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति । च० सू०, ८—८

५—पंचेन्द्रियाधिष्ठानानि अक्षिणी, कर्णौ, नासिके, जिह्वा

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूल तत्त्व

५६३

बाह्य कर्ण, कर्णत्रिवर, अन्तर्गत ड्रम, कर्णास्थि, कर्ण-
कंकाल, कर्णस्थ संज्ञाग्रह (वातवाहिनी), कर्णकेन्द्र
(नाडीकेन्द्र), आज्ञावाहिनी ये सब कर्ण के शारीरिक
अवयव हैं। इस अवयवसमुच्चय में रहने वाली
कर्णेन्द्रिय और मन के सन्निकर्ण सम्बन्ध से ही हम
सुन सकते हैं। सत्त्व (मन) आत्मसन्निधि है,
अतः उसे चेतना मिलती है। और तब क्षणिक
यानी तुरन्त नष्ट होने वाली और शब्द के स्वरूप का
निश्चय करने वाली कर्णबुद्धि पैदा होती है। यही
हालत अन्य इन्द्रियों, इन्द्रियाथों, मन और इन्द्रिय-
बुद्धियों के बारे में रहती है। अवयव, इन्द्रिय,
इन्द्रियाथ और मन का असर आकाश आदि इन्द्रिय-
द्रव्यों पर होता है तथा इस का असर शारीरिक
त्रिधातुओं पर होता है। यह असर यदि अतियोग,
हीनयोग या मिथ्यायोग के रूप में हो तो इसे
असात्म्य समझना चाहिए। समययोग से धातुसात्म्य
और स्वास्थ्य कायम रहता है, परन्तु हीन, मिथ्या
और अति योग से मनसहित इन्द्रियों में विकृति
पैदा होती है। फिर जैसा-जैसा विकृतिक्रम होगा
वैसा-वैसा इन्द्रियबुद्धि का उपघात होगा। इन्द्रियाथ-
संयोग का असर शरीर पर, विशेषतः त्रिधातुओं पर
होता है। सम योग प्रकृति (स्वाभाविक प्रवृत्ति)
उत्पन्न करता है, धातुसात्म्य कायम रखता है।

मन का कार्य है चिन्तन करना। मन और
उसके अर्थ (चिन्तन) के हीन, मिथ्या, अति व
समान योग का असर मन और मनोबुद्धि पर होता
है। समान योग से मानस और मनोबुद्धि स्वस्थ
(विकाररहित) रहती है। अति, मिथ्या और हीन
योग से विकार पैदा होते हैं, रजोगुण और तमोगुण
बढ़ते हैं मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता है, मानस राग
उत्पन्न होते हैं^१।

हीन, मिथ्या और अति इन्द्रियार्थसंयोग
असात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग है। पंचेन्द्रियों में
व्यापकता की दृष्टि से स्पर्शनेन्द्रिय प्रधान है। शेष
चार ज्ञानेन्द्रिय ऊर्ध्वजत्रुगत यानी शिरःसंस्थ हैं।
परन्तु स्पर्शनेन्द्रिय सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अतः
व्यापकत्व की दृष्टि से यह प्रमुख है। स्पर्शन सब
इन्द्रियों में रहता है^१। इस (स्पर्शन) से ही
इन्द्रिय इन्द्रियाथों को ग्रहण करती हैं। हम कान
से सुनते हैं। कर्णावयव में कर्णेन्द्रिय है। वह
(कर्णेन्द्रिय) आकाशरूप है। किन्तु सुनने की क्रिया
स्पर्शन से होती है।

शब्द हम कान से सुनते हैं। शब्द बाह्य
जगत् में होता है। उसके नादस्पन्द या नादलहरें
बाहर निकलती हैं। वे कर्ण पर आघात करती हैं :
कर्णेन्द्रिय और कर्णावयवस्थ आकाशद्रव्य पर आकर
गिरती हैं। उनका स्पर्श पहले भौतिक द्रव्य से होता
है। वहाँ से स्पन्दन रूप स्पर्श कर्णकुहरगत अवयव-
समूह पर और त्रिधातु पर जाकर गिरता है। उस
स्पर्श को कर्णेन्द्रिय ग्रहण करती है। वह (कर्णेन्द्रिय)
मन से संलग्न होगी, तो सुनने का कार्य अच्छा होगा।
स्पर्शकृत भावविशेष का कार्य कर्णेन्द्रिय, मन और
मनोबुद्धि तक हुआ। यह श्रवण-कार्य कुछ कम-
ज्यादा न होकर सात्म्य होगा तो श्रवणकार्य अच्छा
होगा। उससे धातुसात्म्य कायम रहेगा। कर्ण के
समान नाक, आंख, ज्वान और त्वचा का भी कार्य
चलता है। ये ज्ञानेन्द्रिय बाह्य जगत् का ज्ञान
(इन्द्रियाथ) ग्रहण करती हैं। इसे वे स्पर्श द्वारा
ग्रहण करती हैं। स्पर्श से उत्पन्न हुआ भावविशेष

१—स्पर्शनं हि सर्वेन्द्रियेष्वस्ति। अतएव सृष्ट्यै-
वार्थमिन्द्रियाणि गृह्णन्ति। श्रोत्रं चास्य पांचमौतिकं कर्ण-
शङ्कुकीगतं नभोरूपं तेन तस्यापि स्पर्शोऽस्ति ॥

१—मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसो मनोबुद्धेश्च
त एव समानयोगहीनमिथ्यातियोगाः प्रकृतिविकृतिहेतवः
भवन्ति। च० सु० ८—१६।

—चक्रपाणि

यदि असात्म्य होगा तो उसे असात्म्य इन्द्रियार्थ-संयोग कहते हैं। जो सात्म्य न हो, सहा न जा सके, वह असात्म्य। असात्म्य इन्द्रियार्थों का इन्द्रिय से, मन से, बुद्धि से, शरीरस्थ भौतिक द्रव्य से और सचेतन जीवनद्रव्य (धातु) से जो संयोग होता है, उसको असात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग कहते हैं। स्पर्शकृत भावविशेष के प्रमाण के अनुसार इस संयोग के तीन प्रकार होते हैं : हीन, मिथ्या और अति। इस संयोग का असर अत्यन्तात्यन्त सूक्ष्म वातादि त्रिधातुओं पर होकर इनमें वैषम्य पैदा होता है। और दोषवैषम्य याने रोग। हीन योग : इन्द्रियों का इन्द्रियार्थ से अत्यन्त अल्प संयोग होना या बिल्कुल ही संयोग न होना। अतियोग : अतिप्रवृत्ति। मिथ्या योग : मिथ्या प्रवृत्ति। दृष्टि का उपयोग ही न करना, नेत्र-इन्द्रिय और रूप-इन्द्रियार्थ का हीन योग है। इससे दृष्टिविघात होता है। दर्शन-क्रिया न करने से नेत्र को बाह्य जगत् का ज्ञान नहीं होता एवं दृष्टिमान्द्य पैदा होता है। नेत्र को सात्म्यता (Adaptability) प्राप्त करने के लिए समय नहीं मिलता। अत्यन्त प्रभावी-तेजस्वी चीजों की ओर एकटक देखना दर्शनेन्द्रिय का अतियोग है। सूरज की तरफ एकटक देखना दर्शन-इन्द्रिय और रूप-इन्द्रियार्थ का अति योग है। इसकी सात्म्यता प्राप्त होना और शरीर अर्थात् त्रिधातुओं का उस सात्म्यता में समरस होना अत्यन्त कठिन है। इसका असर दृष्टि पर होता है और दर्शनेन्द्रिय विकृत हो जाती है। अति सूक्ष्म, अत्यन्त नजदीक या दूर का, भयानक, दिल को चोट पहुंचानेवाला या न भानेवाला दृश्य देखना, दर्शन-इन्द्रिय और रूप-इन्द्रियार्थ का मिथ्या योग है। यह भी सात्म्य होना बिल्कुल अशक्य है। इस प्रकार के दृश्य को हम निरन्तर नहीं देख

सकते। इसी प्रकार अन्य भी इन्द्रियों और उनके इन्द्रियार्थों के हीन, मिथ्या और अति योग सात्म्यता उत्पन्न नहीं कर सकते। असात्म्यता का असर इन्द्रियद्रव्यों, इन्द्रियाधिष्ठानों, इन्द्रियबुद्धियाँ और त्रिधातुओं पर होता है। स्पर्शनेन्द्रिय और उसका संस्पर्श सर्वव्यापी है, इसलिए उसका असर शरीर भर में व्याप्त त्रिधातुओं पर होता है। उसके असात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग से त्रिधातुओं में विषमता पैदा होती है यानी रोग पैदा होते हैं।

काल के हीन, मिथ्या और अति योग का असर शरीरचष्टि पर स्पर्श से होता है। इसके तीन प्रमुख भेद हैं : शीत, वर्षा और धूपकाल। हरकाल में शरीर अपना सात्म्य और धातुसाम्य कायम रखने की कोशिश करता है। यह उपचार भी स्पर्श से ही होता है। धूपकाल में शीत उपचार करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। शीतकाल में उष्ण उपचार की इच्छा रहती है। यह सब उष्णता और शीत के अति स्पर्श से बचाव के लिए है, ताकि अति योग से बीमारी पैदा न हो। धूपकाल में अधिक उष्णता से लू (Sun stroke) लगती है। शीतकाल में (अत्यन्त शीत प्रदेश में) शीतबाधा (cold-stroke) होती है। इससे कुछ लोग बीमार पड़ते हैं, कुछ हमेशा के लिये चल बसते हैं। यह सब अत्यन्त तीव्र स्पर्श के कारण होता है। बरसात की आर्द्रता और शीतता का असर होकर कफ-बुद्धि होती है एवं जुकाम-खांसी हो जाती है। स्पर्शकृत भावविशेष से कफदोष में वैषम्य, चय और बुद्धि होकर कफस्थान दुष्ट हो जाता है जिससे जुकाम होता है, खांसी आती है। वय, अयन, ऋतु, वर्षा, मास, दिन, रात, भोजन आदि का काल इस प्रकार काल के कई भेद होते हैं। उस-उस काल में कालानुसार दोषों के चय आदि का क्रम चालू रहता है।

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूल तत्त्व

५६५

आहार आदि से भी दोषों के चय आदि का कम तुरन्त दिखायी पड़ता है। ये सब कार्य अन्तः-स्पर्श से होते हैं।

आयुर्वेद में प्रतिपादित तीसरा रोगकारण प्रज्ञा-पराध है। प्रज्ञापराध अन्तःस्थ मानसिक कार्य का परिपाक है, अतः इसका बाह्य स्वरूप नहीं दिखायी देता। प्रज्ञापराध माने जान-बूझ कर दुराचार पूर्णक वर्तन करना। बुद्धि, धृति और स्मृति में भ्रंश होकर, यानी इनसे पदच्युत होकर या इनका विचार छोड़ कर जो अशुभ कर्म किया जाता है, उसे प्रज्ञापराध कहते हैं^१। बुद्धि से अनुचित ज्ञान प्राप्त करके उसी के मुताबिक अनुचित आचार-विचार करने को भी प्रज्ञापराध कहते हैं^२। यह मनो-गोचर होने से मन पर इसका बुरा असर होता है; आचार-विचार और रहन-सहन पर भी अनुचित असर होता है। यह सब हीन-मिथ्या-अति योग से होता है। मन का कार्य है चिन्तन, यानी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान के व्यतिरिक्त विचार करना। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान पर पुनः स्वयं विचार करके उसके बारे में निश्चय करना मन का काम है। मन के विषय चिन्तन का सम योग प्रकृति को प्रकृत रखता है; उसके हीन-मिथ्या-अति योग प्रकृति में विकृति उत्पन्न करते हैं। अचिन्तन मानसिक हीन योग, अतिचिन्तन अति-योग और विकृत चिन्तन मिथ्या योग है; इनसे मन और मनोबुद्धि विकृति होती है। यह सब प्रज्ञा-पराध का कार्य है। मन कभी स्थिर नहीं रहता।

१—धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।

प्रज्ञापराधं तं वियात्सर्वदोषप्रकोपणम्॥

च०शा० १—१००

२—बुद्ध्या विषमविज्ञा विष च प्रवर्तनम्।

प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥

च० शा० १—१००

कुछ न कुछ विचार मन में आते ही रहते हैं। विचारों की लहरें नष्ट होकर मन की एकाग्रता प्राप्त होने पर एक प्रकार का परम सुख प्राप्त होता है। चिन्तन यदि सम होगा तो मन चंचल नहीं होगा; उसमें विचार की लहरें पैदा नहीं होंगी; वह स्थिर रहेगा; इधर-उधर घूमेगा नहीं।

आयुर्वेद ने मन के दो स्थान बताये हैं। इनमें आलोचक पित्त मन का नियन्त्रण करता है।

आलोचक पित्त के दो भेद हैं—चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धिर्वैशेषिक। एक का स्थान है हृदय, जहाँ चित्त निवास करता है। दूसरे का स्थान है शृङ्गाटी-मध्यस्थ शृङ्गाटक मर्म, जहाँ सत्व (मन) निवास करता है। स्थरनी और शृङ्गाटक मर्म बिल्कुल नजदीक हैं। आधुनिक शारीर में शृङ्गाटक समस्थ अमृतप्रस्थि को pituitary gland or body कहते हैं। चक्षुर्वैशेषिक से आत्मा और मन का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है; चित्त की एकाग्रता उत्पन्न होती है; बहिर्मुख मन अन्तर्मुख होता है; संसार की सब चीजों का निश्चित ज्ञान होता है। बुद्धिर्वैशेषिक आलोचक से इन्द्रियार्थ और मनोऽर्थ ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है; प्राप्त इन्द्रियार्थ का धारण होता है; धारणा-शक्ति पैदा होती है; इन्द्रियार्थ के अनुभव का स्मरण होता है; विस्मृत बातों की याद आती है; विविध विचार मन में आकर बार-बार विचार करने से मन में न हुई बात की अभिलाषा उत्पन्न होती है; बच्चे को पैदा होते ही स्तन्य की अभिलाषा उत्पन्न होती है; ध्यान और प्रत्याहार में विविध बुद्धिविशेषों से भिन्न भिन्न अनुभव प्राप्त होते हैं [देखिये भेल संहिता, कलकत्ता-विश्वविद्यालय-प्रकाशन, पृष्ठ ८०]।

भेल का मत कुछ लोगों ने ज्यों का त्यों प्राप्त

नहीं माना है। मन अणु और एक ही है^१। मन का कार्य विविध स्वरूप का है : ऊह यानी निर्विकल्पक ज्ञान ; विचार यानी इष्टानिष्टता का विवेक करने वाली कल्पना या विकल्पन ; इसके बाद उत्पन्न हुई विनिश्चयात्मिका बुद्धि। मन और मनोबुद्धि यदि किसी बात पर निरर्थक विचार करते रहते हैं, तो इस से मन का सत्त्वगुण नष्ट होता है और रज एवं तम दोष बढ़ते हैं। इसका असर शारीरिक वात-पित्त-कफ आदि पर होकर दोषवैषम्य पैदा होता है। इस प्रकार मानसिक दोष रोगोत्पत्ति करते हैं।

भेलसंहिता में आलोचक पित्त का जो विवेचन किया है उसे चरक आदि ने सम्पूर्णतः नहीं माना है। किन्तु आधुनिकों के अन्तःस्त्रावक ग्रन्थि तथा शारीरिक व मानसिक व्यापार विषयक विचार भेलाचार्यजी के मत से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। शृङ्गाटक ममैस्थ अमृतग्रन्थि (pituitary body) अन्तःस्त्रावक ग्रन्थियों में अत्यन्त प्रमुख है। इसके अग्रतः और पृष्ठतः इस प्रकार दो भिन्न स्त्राव हैं, जिन की सहायता से यह ग्रन्थि शरीर पर नियन्त्रण रखती है। शरीर में चल रहे इस अत्यन्त सूक्ष्म व्यापार से मानसिक व्यापारका अन्यान्याश्रय सम्बन्ध है। मन यद्यपि स्वतन्त्र है और केवल मानसिक क्षेत्र में कार्य करता है, परन्तु उस पर भी त्रिधातुओं का नियन्त्रण रहता है, जिन को सहायता से वह कार्य करता है।

मन के विषय में उपरोक्त प्रकार से दो भिन्न शास्त्रीय मत आयुर्वेदज्ञों में हैं। इन दोनों को ही यह स्वीकार है कि मन का कार्य चिन्तन करना है। मन और मनोबुद्धि का कार्य विकृत करने में

प्रज्ञापराध—चिन्तन के हीन-मिथ्या-अति योग—आदि कारण होते हैं। यह भी सर्वसम्मत है।

असात्म्य इन्द्रियार्थसंयोग का और इसी प्रकार काल का असर शरीर और त्रिधातुओं पर गहरा होता है। परन्तु प्रज्ञापराध का परिणाम पहले आभ्यन्तर भाग पर और बाद में बाह्य शरीर पर होता है। इन्द्रियार्थसंयोग और काल का यह असर स्पर्श से ही होता है। स्पर्शप्रकृति और शब्द-प्रकृति^१ तथा श्रोत्रस्पर्शन का मूल^२ (प्रधान कारण) ये दो काय वायु के दिये हैं। सर्वेन्द्रियव्यापक स्पर्शनेन्द्रिय वायुमय है, अतः स्पर्शकृत भावविशेष का असर वातधातु पर होता है। असात्म्य संयोग के असर से वायु के प्रस्पन्दन, उद्वहन, धारण, पूरण और विवेक में वैषम्य पैदा होता है। हीन योग से स्पन्दन आदि कम होते हैं; मिथ्या योग से अधिक और अनियमित होते हैं; अति योग से अत्यन्त जोरदार और असह्य होते हैं। प्रज्ञापराध से मनो-दोषों में वैषम्य पैदा होता है। रजोदोष के परिणाम से वात में और तमोदोष के परिणाम से कफपित्त में वैषम्य पैदा होता है। मनोऽथ (मनोरथ) का परिणाम भी स्पर्शकृत भावविशेष से होता है। रोगोत्पादक तीनों प्रमुख कारण (असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और काल के असर) एक साथ ही नहीं होते। पहले किसी एक कारण से दोषवैषम्य पैदा होकर क्रमशः रागावस्था बढ़ती है। क्रमशः चय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति (संरंभ, शोध, विद्रधि) और भेद (वर्ण, कोथ) होकर निज रोग की संप्राप्ति होती है।

आगन्तु रोग वेगोदीरण और वेगविधारण से

१—अणुत्वमथ चैकत्व द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ।

च० शा० १-१७

१—प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः ॥ च० सू० १२-६

२—श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम् ॥ च० सू० १२-६

सन् १९५१]

आयुर्वेदीय चिकित्सा के मूल तत्त्व

५३७

पैदा होते हैं। इन के अतिरिक्त—(१) भूत (Evil spirits, micro organisms, viruses) (२) विष (गर, कृत्रिम विष, सेन्द्रिय विष); (३) वायु का झोंका; (४) अग्नि; (५) क्षत-भंग, प्रहार आदि से हुआ शोथ; (६) ईर्ष्या, भय, क्रोध, दम्भवृत्ति, द्वेष, हिंसावृत्ति, लोभ, मत्सर आदि मनो-विकार—ये रोग के आगन्तु कारण हैं। मनोविकारों का मानसिक रोगों में और शेष आगन्तु कारणों का शेष रोगों में पहले शरीर पर असर हो कर फिर प्रज्ञा, बुद्धि, मन, मनोर्थ, इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों पर असर होता है जिससे दोषवैषम्य पैदा होकर रोग पैदा होता है। दोषवैषम्य के सिवा रोगका अनुबन्ध एकसरीखा कायम नहीं रहता—यह तत्त्व आगन्तु रोगों में भी ख्याल में रखें। आगन्तु कारणों का भी परिणाम शरीर पर स्पर्श से ही होता है।

भावार्थ यह है कि आगन्तु और निज रोगों के कारण यद्यपि विविध हैं, तथापि रोग पैदा दोषवैषम्य से ही होते हैं : यह तत्त्व ख्याल में रखकर ही

चिकित्सा करनी चाहिए।^१ चिकित्सा का तत्त्व है दोषवैषम्य नष्ट करके धातुसाम्य प्रस्थापित करना।^२ जो दोषवैषम्य निसर्गतः नष्ट होता है उसे स्वभावोपरम कहते हैं। परन्तु यह पुनः दोष-वैषम्य के ही रूप में पदा हो जाता है और चय, प्रकोप, प्रसर आदि अवस्थाओं के रूप में दिखायी पड़ता है। दोषवैषम्य की उत्पत्ति कारण के बिना नहीं होती, एवं धातुसाम्योत्पादक कारण धातुसाम्य उत्पन्न करते हैं। चिकित्सा (रोगप्रतिकार) की विधि का यह तत्त्व व्यवहार में लाने से ही रोग नष्ट होकर रोगी इससे मुक्त होता है। (क्रमशः)

१—रोग की भिन्न-भिन्न अवस्था में तदनुसर चिकित्सा करनी चाहिए। उनका विवरण आगे किया जायगा।

२—वयं शरीरे धातूनां वैषम्यं न भवेदिति।
समानां चानुबन्धः स्यादित्यर्थं क्रियते क्रियाः॥
त्यागाद्विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबन्धन्ति जायन्ते धातवः समाः॥
समैस्तु हेतुभिस्तस्माद्भातृ संजनयेत्समान्॥

च० सु० १६।३५-३७

त्रिफला-रसायन

चरक ने रसायन-प्रकरण में त्रिफला का रसायन रूप में चार प्रकार से उपयोग बताया है। परन्तु उतने ही गुणकारी दो प्रयोग नीचे लिखे हैं।

१—खाने के पूर्व घृत और मधु के साथ दो बहेड़े, खाने के अनन्तर इसी अनुपान से चार आमले और पचने के पश्चात् इसी प्रकार एक हरीतकी का एक वर्ष तक सेवन नीरोग और जरा-रहित रखता है।

२—लोहे की नयी थाली में त्रिफला के कल्क का लेपकर चौबीस घण्टे पड़े रहने दे। अनन्तर मधु और जल मिला सेवन करे। औषध पचने पर प्रभूत स्नेह-युक्त भोजन खाये। फलश्रुति इसकी भी प्रथम कल्प के समान ही है।

—वैद्य रणजितराय

आसव, टिंकचर और मद्य

वैद्य पु० वि० धामणकर

वर्तमान सरकार ने आसवारिष्टों और मद्यों को कल्पों की एक ही श्रेणी में मानकर कुछ आगवारिष्टों पर निर्वन्ध डाल ही दिये, यह सुविदित है। और यह भी सबका विदित ही है कि इस से आयुर्वेदीय औषध-निर्माण का तो बहुत सुकसा हुआ ही है, रोगियों को भी बहुत असुविधा हुई है। परन्तु वस्तुतः आयुर्वेदीय आसवारिष्टों और मद्यों की मूलभूत कल्पनामें तो बहुत अन्तर है। इस विषय में आयुर्वेद की भूमिका सरकार को समझा देने का प्रयत्न जनता की ओर से यथाशक्य आधार-भूत और दृढ हो, इस उद्देश्य से श्री धामणकर जी ने चार लेख 'आरोग्यमन्दिर' (मराठी) में प्रकाशित किये थे। उनमें से यह प्रस्तुत लेख अन्तिम है। यह श्री फार्मसिस्ट असोसिएशन की गत ३-७-५० की पूना-कान्फरन्स में पढ़ा गया था।

स० सम्पादक

टिंकचर एक एलोपैथिक औषधिकल्प

है। मद्यार्क के साहाय्य से यह तैयार होता है। द्रव के रूप में रहने से इसको औषधि-द्रव्योंका कोहलिक द्राव (An alcoholic solution of medicinal substances) कहते हैं।

टिंकचर्स प्रायः वनस्पतियों के अंगावयवों से बनते हैं। एक टिंकचर में एक या अनेक वनस्पतियाँ रहती हैं। तथा प्रक्रिया भेद से हिमविधि (Maceration), प्रस्रवण विधि (Percolation), मेलन विधि (Solution) ऐसे और भी तीन प्रकार होते हैं।

प्रक्रिया विवरण

हिमविधि—वनस्पति का जौकुट चूर्ण और विद्रावण इकट्ठा करके एक मुद्रित वर्तन में रखें। बीच में वर्तन हिलाते रहें। ऐसा सात दिन करें। आठवें दिन पहले ऊपर का पानी हलके हाथ से अलग निकालें। नीचे रहे हुए अवशेष को पीडन यन्त्र में रख कर पीडन करें। उसमें से निकाला हुआ द्रव और ऊपर का पानी इकट्ठा करें। प्रथम वस्त्र से, पश्चात् प्रस्रावक द्रव्य से यह द्रव छान लें। और उसका तौलमान यथायोग्य करें।

प्रस्रवण विधि—वनस्पति का जौकुट चूर्ण द्रावण में भिगा कर बंद बर्तन में चार घण्टा तक रखें। वह अच्छी तरह फूल जाय तो प्रस्रावक में बिठा दें। उसके ऊपर थोड़े प्रमाण में द्रावण डाल दें। प्रस्रावक में से द्रावण बून्दबून्द से गलने लग जाय तो टोटी बन्द कर चूरन डूबने तक फिरसे उसके ऊपर द्रावण डाल दें। और फिर गलाना शुरू कर दें। $\frac{3}{4}$ द्रव नीचे उतरे तब प्रस्रवण बन्द कर दें। प्रस्रावक में से कलक और द्रव इकट्ठा करके कपड़े से छान लें। नीचे रहा हुआ अवशेष पीडन यन्त्र से दबा कर उसमें से सब द्रावण अलग कर दें। तीनों द्रव इकट्ठा करके प्रस्रावक पदार्थ में से छान लें और पश्चात् उसका तौलमान यथायोग्य करें।

मेलन—कपूर और अफ'म सदृश अच्छेसार और निस्यंद कोहलिक द्रावण में विद्रावित करना। इसीको ही कोई विमर्दन (Dilution) कहते हैं। यह मिश्रण प्रसृत (Filtered) करके लिया जाता है।

विद्रावण—(Menstrum) वनस्पति में से सार भाग अलग करने के लिये उपयुज्यमान द्रव को विद्रावण कहते हैं। द्रव, द्राव और द्रावण इसके पर्याय शब्द हैं। टिंकचर विधि में यह विद्रावण

सन् १६५१]

आसव, टिंकचर और मद्य

१६६

कोहलिक रहता है। १०० प्रतिशत स्वच्छ कोहल को अच्छ कोहल कहते हैं। ६० भाग अच्छ कोहल और शेष १० भाग वाष्पोदक के मिश्रण को Rectified spirit कहते हैं। इसी तरह पानी अधिकाधिक प्रमाण में मिलाकर कम से कम शक्ति का कोहलिक द्रव तैयार करते हैं। कौन से दर्जे का कोहलिक द्रव उपयोग में लावें यह पदार्थ के स्वाभावानुसार निश्चित करते हैं। यह कोहलिक द्रव सार-निष्कासन, वीर्यरक्षण तथा वीर्यवर्धन के लिये उपयोग करते हैं। सामान्यतः ४५ से लेकर ६० श्रेणी का कोहल निःसारण के लिये उपयोग में लाते हैं। तैयार हुए टिंकचर में से कोहल का शतमान प्रायः ऊपर की श्रेणी के पास का रहता है। सबसे कम कोहल कथे के टिंकचर में (३७ प्रतिशत) व सबसे अधिक सोंठ के टिंकचर में (६० प्रतिशत) रहता है।

बाजार में मिलनेवाले टिंकचरों की संख्या बहुत है। किन्तु ब्रिटिश फार्माकोपिया में सिर्फ ३४ ही टिंकचर्स अधिकृत हैं। इनमें कुछ अफीम, कुचला आदिओं की विषारयुक्त, तो कुछ संत्रा, निम्बू की छाल, इलायची, जाफल आदिओं के टिंकचर सुगंधयुक्त व मनोरम रहते हैं।

क्या टिंकचरविधि आयुर्वेद में थी ?

चरकाचार्य ने कल्पस्थान में देवदाली आदिओं के कल्प तैयार करने के लिये मद्यतरल का उपयोग किया है। सुरामंड में वह पदार्थ रात में रखकर दूसरे दिन वह निचोड़ कर उसमें से द्रव प्रसृत कर लें। यह विधि है। इसके बारे में सूत्र 'आसुत्यच सुरामंडे मृदित्वा प्रसृतं पिवेत्' ऐसा है। चरकाचार्य के बाद के आयुर्वेद-विद्वानों ने भी मृतसंजीवनी-सुरामण्ड कुछ आसवों के लिये उपयोग किया है। उदाहरण के लिये कपूर, अफीम, कस्तूरी आदि पदार्थ

सुरामण्ड में उपरोक्त विधि से मिश्र करें और छान लें। टिंकचरों के तीसरे प्रकार में यह विधि आ सकती है। किन्तु सुरामण्ड अम्ल रहता है, और टिंकचरों में कोहलिक द्रव अम्लरसयुक्त नहीं रहता। इस भेद के कारण कपूर-आसव, अहि-फेनासव, मृगमदासव आदि आसव या टिंकचर हैं ऐसा नहीं कह सकते। इसलिये आयुर्वेद-वाङ्मय में इनको सुरासव संज्ञा दी है।

आसव और टिंकचर

आसव और टिंकचर में कोहल का अस्तित्व रहता है इतना दोनों में साम्य है। शेष सब भिन्नता ही है।

परिवर्तन—आसव में परिवर्तन (Fermentation process) विधि। इस विधि में कोहल निर्माण होता है। उसको स्वयंभू, सहज, नैसर्गिक परिवर्तित कोहल कहते हैं। इस कोहल को अंग्रेजी में fermented self generated natural कहते हैं। आसव में परिवर्तन नैसर्गिक रहता है। आसव में १२ से १४ प्रतिशत कोहल निर्माण हुआ तो यह परिवर्तन स्वयमेव रुक जाता है, और बाद में कोहल का मान या दर्जा बढ़ता नहीं। टिंकचर विधि में परिवर्तनक्रम नहीं रहता है।

कोहल—आसव में का कोहल नैसर्गिक और अधिक से अधिक १२ से १४ शतमान तक रहता है। उसकी श्रेणी ४५ से ६० शतमान तक रहती है। टिंकचर में कोहल उद्धरित (distilled) रहता है।

रस—आसव में एक रस मूल वनस्पतियों का रहता है। साथ ही मधुर रस पूर्णतया और अम्ल अल्प प्रमाण में रहता है। इस तरह आसव में तीन रस रहते हैं। टिंकचर में मूल वनस्पति का ही एकमेव रस रहता है।

सुगन्धिद्रव्य—यह द्रव्य प्रायः दीपक, पाचक, पूतिहर, मल-मूत्र-वातानुलोमक, जंतुनाशक, दुर्गन्धि-नाशक, शरीर को ताकत और मन को आह्लाद देने-वाले रहते हैं। आसवों में यह द्रव्य रहते ही हैं। इसलिये उपरिनिर्दिष्ट धर्म आसव के सामान्य गुण होते हैं। टिंचर में यह पदार्थ नहीं रहते हैं। अतएव उनके गुण भी नहीं रहते हैं, यह स्पष्ट है।

परिणाम—आसव में अधिक से अधिक मधुर-रस रहता है। मधुर रस कोहल का उत्पादक भी तथा प्रतिबंधक-प्रतिहारक भी है। एक तो आसव में कोहल का मान सिर्फ १२ से १४ रहता है। तो भी सामर्थ्यायुक्त कोहल के कुछ बुरे असर शरीर पर और मन पर होने लगे तो उनको मधुर रस परावृत्त करता है। टिंचर में ऐसी युक्ति न होने से, और उसमें कोहल अधिकतया होने से उसकी मादकता का असर होना सुलभतया शक्य है। इसलिये टिंचर कार्डममको, टिंचर ऑरंटी, टिंचर लेमोनिस आदि टिंचर्स मद्य के अभाव में सेवन किये जाते हैं। किन्तु ऐसा आसव के बारे में कभी नहीं होता। और प्रत्यक्ष प्रमाण में भी कभी देखने में नहीं आया।

आसव में सुगन्धि द्रव्य डालना, मधुर रस का परिमाण अधिक रखना, कोहलका मान कम रखना आदि उपकारक और निश्चित युक्तियाँ समाविष्ट हैं। ऐसी योजना टिंचरों में नहीं है। इसीलिये टिंचर से मानवी शरीर को और मन को तकलीफ होती है। और अपाय भी होता है। कोहलकी तीक्ष्णता, तीव्रता, तन-मन को हानिप्रद होती है। इसलिये आसव कभी अपायकारक नहीं होते हैं। ऐसी निर्भयता टिंचरों के बारे में नहीं दे सकते।

टिंचरों से तन और मन को आघात हो जाता है। उसका परिणाम अल्पकाल के लिये ही क्यों

न हो हानिप्रद होता ही है, यह निश्चित है। आसवों का कार्य इनसे विपरीत स्वरूप का होता है। अवयवों की विकलता को दूर करने का कार्य आसव करता है। इसीलिये उसके कार्य के प्रत्यन्तर को विलम्ब लगता है।

एक ही वनस्पति के पृथक् कल

१. अशोक का क्वाथ किया। उसमें खांड ढाल कर चांचणी या शुष्क शर्करा तैयार की तो अशोक के गुण चिरस्थायी होंगे। किन्तु अपेक्षित प्रमाण में गुण आने के लिये औषधि की मात्रा और काल अधिक आवश्यक है। बाद में तो कार्य चिर-स्थायी होगा ही।

२. अशोक का टिंचर किया तो अल्प मात्रा में भी गुण जल्दी आता है। परन्तु उतनी ही जल्दी प्रतिक्रिया आ सकती है। इसलिये इसका कार्य चिरस्थायी नहीं हो सकता। और कोहलकी तीव्रता सुकुमार स्त्रियों को सह्य न होने से अशोक का टिंचर उतना उपयुक्त नहीं होता यह एक अलग बात है।

३. अशोक का आसव किया तो अल्प मात्रा में गुण मन्द, किन्तु चिरस्थायी। इससे तन व मन को आह्लाद होता; प्रतिक्रिया, विनाश, मद, मोह आदि का कुछ भी भय नहीं रहता।

टिंचर और मद्य

परिवर्तन—टिंचर में यह नहीं होता। परन्तु मद्य में होता है। साथ ही मद्य में उद्धरण (distillation) भी होता है। उसका भी टिंचर में अभाव रहता है।

कोहल—अन्य स्थानमें तैयार हुआ कोहल अपेक्षा के अनुसार टिंचर में डालते हैं। मद्य में कोहल उसी में ही परिवर्तन से निर्माण हुआ और उद्धरण से बढ़ा हुआ रहता है। और कोहल को आव-श्यकता नहीं होती।

सन १९५१]

आसव, टिंचर और मद्य

५७१

टिंचर में कोहल अकेला ही रहता है। इस वजह से उसके नैसर्गिक गुणों का ही लाभ होता है। किन्तु मद्य में के कोहल को आम्लों का सहकार्य मिलने से उसमें कोहल के गुणदोषों का उत्कर्ष होता रहता है।

टिंचर और मद्य में कोहल शतमान करीबन समान ही रहता है। सिर्फ उसकी कार्यकारी शक्ति में फरक रहता है। मद्य में बना हुआ कोहल अम्ल संयोग से अधिक बलशाली, तीक्ष्ण, तीव्र होता है।

मद—मद्य टिंचर से भी जल्दी मद लाता है। और यह मद आता भी है तीव्रतया। मद्यमद का असर अधिक गंभीर और दूरगामी होता है। टिंचर की स्थिति उस तरह नहीं है।

रस—टिंचर में पड़ी वनस्पति का जो रस, वही टिंचर का रस होता है। मद्य में वैसा नहीं। मद्य का प्रधान रस अम्ल होता है। किसी प्रकार का मद्य क्यों न हो, प्रायः उसका रस अम्ल ही रहता है।

स्पर्श—उपरोक्त वजह से टिंचर से मद्य का बाह्य स्पर्श अधिक शीत, और आंतरिक स्पर्श अधिक दाहकारक और तीक्ष्ण रहता है।

गंध—मद्य का गन्ध बढ़ाने के लिये हर तरह के गन्धद्रव्यों का सुगन्ध उपयोग में लाते हैं। वैसा ही मनोरम रंग भी देते हैं। यह दोनों बातें टिंचर में नहीं होतीं। वनस्पति का जो गन्ध और वर्ण हो वही टिंचर का रहता है। मद्य का वर्ण और गन्ध यथायोग्य करने का प्रयत्न होता है।

टिंचर और मद्य में सादृश्य होता है कोहल। और भेद जो होता है वह ऊपर दिया ही है। टिंचर जैसे औषधि-कल्प समझा जाता है वैसी मद्य की स्थिति नहीं है। मद्य यदि कुछ समय औषधि के नाते से उपयोग में लाते हैं तो भी उसकी

निर्मिति जो होती है वह मादक पेय के नाते से ही। इसलिये मद्य औषधिवर्ग में नहीं आ सकता।

आसव और मद्य

उद्धरण—पुरातन काल में आसवों को भी उद्धरित करते थे। परन्तु उसमें उद्देश्य कोहल का मान बढ़ाने का न होते हुए औषधियाँ गुणयुक्त करने का हेतु रहता था। अंग्रेजों के राज्य-शासनकाल में उद्धरण कानून से बन्द हुआ जो अभी भी वैसा ही है। मद्य में कोहल परिमाण से और कार्यकारीशक्ति से बढ़ाया जाता है। उससे उद्धरण मद्य-संधान में एक आवश्यक विधि हुआ। इसके लिए सरकार की अनुमति आवश्यक है। परन्तु मद्य की भट्टियाँ सरकार ही चलाती है। इसलिये और विदेशी मद्य का आना डटकर होने से देशी मद्य गलाने की अनुमति कोई लेता नहीं।

कोहल—आसव में नैसर्गिक परिवर्तन में १२ से १४ प्रतिशत से अधिक कोहल कभी निर्माण नहीं होता। और इस मान से तनमन को क्षोभ भी नहीं होता। कोहल का मद आने के लिये कम से कम ३० से ३५ तक कोहलमान आवश्यक है। आसव में कोहल विमर्दित (diluted) और मधुर द्रव्य के संयोग से निर्बलित रहता है। इसलिये आसव कितना ही पिया जाय तो भी कोहल का तीक्ष्णोष्णत्व, उग्रत्व, अपायकारकत्व नहीं होता और उससे मद भी आता नहीं।

मद्य में कोहल का सामर्थ्य अम्लसंयोगसे बढ़ाया जाता है। इसलिये मद्य सावधानी से उपयोग में लाने की आवश्यकता है। आसव को एकांतिक हित कहा तो मद्य को एकांताहित वर्ग में डालना होगा।

रस—आसव में कोहल-प्रतिबन्ध के लिये मधुर द्रव्य प्रभूत प्रमाण में डालते हैं। यह मधुर

द्रव्य कोहलसंजनन, कोहलनियमन, पोषण, बलवर्द्धन, शरीर-रक्षण, और मनोल्हादन को प्राप्त कर देता है। ऐसी संरक्षकयुक्ति मद्य में नहीं है इसलिये आसव निर्मद और अनपायी होता है। मद्य तो इससे विपरीत ही होता है। इस लिये भीतिप्रद होता है। वह भय आसव में नहीं है।

मद्य में कोहल प्रभूत प्रमाण में रहता है। वह अम्ल से संयोजित रहता है। इस वजह से वह अधिक शक्तिमान, तीव्र, और तीक्ष्णतम हुआ रहता है। मद्य मोहोत्पादक, मादक रहता है। भूल से भी उसका उपयोग किया जाय तो भी अनजान में जैसे पग अग्नि के ऊपर पड़ा तो भी वह दाहकर तो होगा ही ऐसी स्थिति हो जाती है। इसलिये मद्य से उपायों के बदले अपायों का ही संभव अधिक है। उसकी सातत्यसेवन की आदत पड़ने की शक्यता बहुत रहती है। इसलिये मद्य को काम में लाने के लिये तज्ज्ञ भी सहसा आगे नहीं बढ़ते। तो इतरजनों की क्या बात ? इसलिये यह कोहलकल्प कनिष्ठ दर्जे का होता है।

टिंचरों में कोहल अकेला है ही। मद्य या आसव के सहश विरोधक या सहायक पदार्थ उसके साथ

में नहीं रहते हैं। इसलिये उस अकेले से ही गुण या दोष उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु टिंचर भी मद्य के सहश तीक्ष्ण, उष्ण, तीव्र होने से अपायकारक होते हैं। इस वजह से तज्ज्ञों के बिना टिंचर काम में लाने में भय है। टिंचर का कोहल अनिर्वधित रहने से टिंचर-कल्प मध्यम दर्जे में आते हैं।

आसव में कोहल अत्यल्प प्रमाण में रहता है। वह भी विमर्दित (diluted) रहता है। इतना होते हुए भी उससे तन को या मन को तनिक भी तकलीफ न होने पावे इस उद्देश्यसे आसव में करीबन २० से ४० शतमान तक मधुरद्रव्य नियुक्त होता है। इस वजह से आसव निर्भय और अनपायी होते हैं। इसलिये वह कोहलकल्प प्रथमोच्च श्रेणी का है, यह कहना स्वाभाविक है ही। इन कारणों से अनपढ़ आदमी भी आसवारिष्टों को निर्भयता काम में ला सकते हैं। इसी तरह से एक-एक मुद्दे को विचार में लेकर निर्णय दे तो इन कल्पों का यथार्थ ज्ञान होने में देर नहीं लगेगी। इसलिये आसव, टिंचर और मद्य के बारे में सम्भाव्य मुद्दों को एकत्रितकर सुखावबोधार्थ प्रमाणपत्रक के रूप में यहाँ देता हूँ।

आसव, मद्य और टिंचर में साम्य, भेद और विरोध प्रदर्शक तालिका

दृष्टि	आसव	मद्य	टिंचर
निर्माणहेतु	तन-मन और अग्नि को, शक्ति-प्रद तथा रोगहर औषधि द्रव	अल्पमात्रासे त्वरित मोहो-त्पादक, मादक पेय	अल्पमात्रासे रोगहर औषधिद्रव
विधि	१ निष्कासन, २ सन्धान, ३ विमर्दन	१ निष्कासन, २ संधान, ३ उद्धरण	१ निष्कासन, २ विमर्दन, ३ प्रामाण्यसाधन
आधार	१ पानी, २ वनस्पतिद्रव	१ पानी, २ वनस्पतिद्रव, ३ धान्यद्रव	कोहलिक द्रव
आधेय	१ उद्भिज्ज, २ प्राणिज, ३ खनिज	१ उद्भिज्ज	उद्भिज्ज

सन् १८५१]

आसव, टिक्चर और मद्य

१७३

दृष्टि	आसव	मद्य	टिक्चर
साधन	परिवर्तन	परिवर्तन	उद्भिज
साधक	उत्कृष्ट और अनम्ल—गुड़, मधु, खांड, किण्व, धातकीपुष्प	गुडादि मधुर पदार्थ, खर्जूर, अथवा इन द्रव्यों का कल्क, फाणित महुवे के फूल स्वयंभू और उद्धरित ३५ से ६०	...
कोहलजाति	स्वयंभू	स्वयंभू और उद्धरित	उद्धरित
कोहलशतमान	५ से १४	३५ से ६०	३५ से ६०
कोहलकार्य	१ निष्कासन, २ वीर्यरक्षण, ३ वीर्यसंवर्धन, ४ संहर्षण, ५ बलप्रदान	१, २, ३, आसव सदृश ४ उत्तेजन, ५ मादन	मद्य के सदृश
सिद्धौषधिमेंमधुद्रव्य का शतमान	मधु २०, गुड़ ४०, खांड ३०	०	०
मधुरद्रव्यप्रयोजन	१ कोहलसंजनन, २ शरीररक्षण ३ बलप्रदान, ४ आह्लादन	१ कोहलसंजनन, २ अम्लसंजनन	...
अम्लरस	अग्निदीपन, स्वादजनन	अग्निउत्तेजक, कोहलसहायक, काश्यजनक
बाह्यस्पर्श	शीतोष्ण	शीततम	शीततर
अंतःस्पर्श	उष्ण	दाहकर, तीव्र, तीक्ष्ण	तीक्ष्ण
रूप और गन्ध	मनोज्ञ	मनोज्ञ	...
रस	तीन	पांच	एक
प्रधानरस	मधुर	अम्ल	औषधिद्रव्यज
अनुरस	कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल	कटु, तिक्त, कषाय, मधुर	
रुचि	स्वादु, प्रिय	अम्ल, अप्रिय	अप्रिय
वीर्य	शीत, उष्ण	उष्ण	उष्ण
विपाक	मधुर	अम्ल
नैसर्गिक क्रिया	दीपन, पाचन, आह्लादन, संहर्षण	तीव्र, दीपन, पाचन, उत्तेजक, मादक, जजरकर	उत्तेजक, मादक, जर्जरकर
प्रभाव	व्यामोहन
प्रतिक्रिया	अवसादक	अवसादक
असर	हितावह, चिरस्थायी व्यसन नहीं लगता ।	अहितावह, चिरस्थायी व्यसन लगता है ।	मद्यके सदृश

दृष्टि	आसव	मद्य	टिंकचर
स्वास्थ्य लाभ	रक्षक, प्राप्तिकर	विध्वंसक	मद्य के सदृश
मद	आरोग्य, शांति, वृत्ति निर्मद	अनारोग्य, मद, दारिद्र्य	"
सेवनहेतु	निर्मद	तीव्रतया मदकर	मदकर
सेवनविधि	स्वास्थ्यरक्षण, रोगप्रतिकार	आनन्दोपभोग	रोगनाशक, आनंदोपभोग
जीवन में स्थान	सुख से, प्रसन्न मुख से और प्रसन्न मन से	दुःख से, मुखवैकृतिपूर्णतया	मद्य सदृश
	रोगप्रतिकारक होने के नाते से आवश्यक	पुष्टिकारक, स्निग्धाहारी, आत्मवान और संयमी आदमी को जीवनीय, स्वास्थ्यरक्षक, बल्य, उत्तेजक, पहले मददायक, इतरजनों को इससे विपरीत	रोगप्रतिकारक, संमोहक
मनपर असर	आह्लादन, बलप्रदान	क्षोभक, सत्वगुण-नाशक, रजोगुणवर्धक, (अति) तमोगुणवर्धक	मद्य सदृश
वैकल्य	दूर करना	समीप करना	"
ओज	वर्धक	विध्वंसक	"
दोषों पर असर	औषधिद्रव्यों के अनुसार	कफोच्छेदक, पित्तोत्तेजक, वातानुलोमक	औषधिद्रव्यों के अनुसार
अग्नि पर "	दीपन, पाचन, बल्य	उत्तेजक, अवसादक	मद्य सदृश
रसादि धातुओं पर असर	बल्य, वर्धक, तर्पक	क्षीणन, क्षपण, पीडन	"
मस्तिष्क, हृदय, यकृत	बल्य	उत्तेजक, क्षोभक, अवसादक, वृत्तिकारक	"
व अन्नमार्ग के लिए	...	मोह, भय, शोक, क्रोध, स्मृति-विभ्रम, मृत्यु, अपराधप्रवृत्ति आदि	"
स्वाभाविक दोष	...	बाल, वृद्ध, स्त्री, क्षतक्षीण, व्रती, यति, उपवासी, उपासक, साधक, असंयमी, उपदंश और पूयप्रमेह रोगी, क्षयी	"
वर्ज्य	बल्य, रोगहर	"
मात्रा अल्प	अकार्यकर	क्षोभक, उत्तेजक	"
मात्रा मध्यम	अपेक्षित कार्यकर	मादक	"
मात्रा बड़ी	तापदायक	अवसादक, मरणावह	"
मात्रा अधिक	व्याधिजनक		"

हृदय-दौर्बल्य

प्रो० कृष्णादेवी वैद्या

आजकल कई कारणों से हृद-दौर्बल्य रोग देखने में अधिक आ रहा है। हृद-दौर्बल्य के प्रमुख कारणों में चिन्ता और आहार में पोषक-तत्त्वों का अभाव है। आहार तत्त्वों के सम्बन्ध में आयुर्वेद में विस्तृत वर्णन मिलता है। फिर भी आज इस बात की आवश्यकता है कि आयुर्वेद में वर्णित प्रत्येक शब्द की व्याख्या की जाय और शास्त्रीय आधार पर आयुर्वेदीय सिद्धांतों का निरूपण हो। आज तो कुछ अशिक्षित वैद्य यथामति रोग के कारण ढूँढ़ते और उसकी चिकित्सा करते हैं। इस सम्बन्ध में मैं एक नवीन दृष्टिकोण रखती हूँ, जिसका यहाँ पर उल्लेख करना समीचीन होगा।

चिकित्सा करते करते मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह रोग शारीरिक नहीं, प्रत्युत मानसिक है और इसका सम्बन्ध जितना मन से है, उतना शरीर से नहीं। किसी स्वस्थ तथा तन्दुरुस्त व्यक्ति के मन की भावनाओं पर गहरी ठेस लगने से भी यह रोग उत्पन्न होते देखा गया है। भावनाओं पर आघात होना मानसिक क्षेत्र में आता है। मानापमान के भाव भी शुद्ध मानसिक हैं और ऐसा देखा गया है कि कोई व्यक्ति अपमान या तिरस्कार को सहन कर लेता है—उसमें मानसिक-क्षोभ अधिक उत्पन्न नहीं होता। परन्तु अपमान का तीखा घूँट हरएक आदमी आसानी से नहीं पी लेता और देखा गया है कि साधारण-सा असद्-व्यवहार और मन के प्रतिकूल

वात होने पर व्यक्ति आपे से बाहर हो जाता है और क्रोध से जलने लगता है। क्रोध की अधिकता तो शारीरिक ओज की कमी और निर्बल होने का परिणाम है।

अनुभव बताता है कि शारीरिक कमजोरी विलकुल नहीं रहने पर भी व्यक्ति व्याधि-कल्पना या Neurasthenia (बहम) का शिकार हो जाता है। न्यूरेस्थोनिया या ओजक्षय में रोगी को बेचैनी अधिक होती है—और लोग प्रायः उसको हृदय की दुर्बलता का रोग बता देते हैं—रोगी भी ऐसा ही मानने लगता है।

“श्रीभूलाभाई देसाई की मृत्यु हृदय-गति रुक जाने के कारण हो गयी”—यह समाचार कुछ साल पहले एक बहन ने समाचार-पत्र में पढ़ा। यह बहन जरूरत होने पर अपने रोगों की चिकित्सा कराने मेरे पास आती रही है। किसी समय उस बहन के एक आत्मीय ने उसके किसी सम्बन्धी की मृत्यु के अवसर पर उसको रोते हुए देखकर सान्त्वना के रूप में कह दिया था कि उसका दिल बहुत ही कमजोर है। इस कथन मात्र ने उस बहन पर बड़ा असर किया। श्रीभूलाभाई की मृत्यु का समाचार सुनकर वह तुरत आयी और अपनी मृत्यु की संभावना प्रकट करने लगी। मेरे द्वारा हर प्रकार समझाये जाने पर भी उसके पास केवल यही तर्क था कि वह कमजोर तो है ही—और कमजोर दिलवाले हार्टफेल हो जाने से मर जाते हैं, अतः वह भी नहीं बचेगी।

उस बहन को हृदय-रोग नहीं था, और उसमें इस रोग के लक्षण भी नहीं दिखाई देते थे। किन्तु श्रीदेसाई की मृत्यु के समाचार ने उस बहन के शरीर में वातज हृद्रोग के कुछ लक्षण उत्पन्न कर दिए। उसके कोष्ठ में कृमि भी न थे, तो भी हृदय में सूई चुभने जैसी पीड़ा वह बता रही थी। हृदय को शक्ति पहुंचाने के लिये मुक्ताद्यबलेह की २ मात्रा भी उसे दी गयी थी; किन्तु कुछ फल नहीं निकला। किसी भी प्रकार उसकी दशा को सुधरते न देखकर मैंने एक युक्ति से काम लिया। मैंने उससे कहा कि निर्वल हृदय वाले केवल वही व्यक्ति अचानक हृदय की गति रुक जाने से मरते हैं, जो मांसाहारी हैं। वह शाकाहारी थी इसलिये मेरे इस कथन से उसे काफी बल मिला। इससे बड़ा लाभ हुआ और प्रथम दिन ही पीड़ा की अनुभूति जाती रही।

सन् १९३० ई० के कांग्रेस आन्दोलन की बात है। आन्दोलन के दौरान में एक ऐसे व्यक्ति को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया था जिन्हें न तो कांग्रेस के प्रति श्रद्धा थी और न वह खादीधारी ही थे। उस समय की सरकार की निगाह में 'भले लोगो' में से वह भी एक थे। लेकिन एक कान्स्टेबल ने कोई बैर सधाने के लिये उनको भी कांग्रेसी कार्यकर्त्ता बताकर जेल भिजवा दिया। उस व्यक्ति ने अपना बारीक मलमल का कुर्ता, धोती और दुपली टोपी मैजिस्ट्रेट को दिखाते हुए गिड़गिड़ाकर निवेदन किया—“हुजूर मैंने कभी भी खादी नहीं पहनी—मैं कांग्रेसी भी नहीं हूँ”। जांच करने पर वह निर्दोष पाया गया और जेल से मुक्त कर दिया गया। वह कैद से छूट तो गया लेकिन यह साधारण सी घटना उसके दिल पर गहरी छाप छोड़ गयी। वह अपने आपको इतना तिरस्कृत एवं लांछित समझने लगा कि किसी के सामने होने में उसे लज्जा

का अनुभव होता था। घर से बाहर निकलना भी उसने बन्द कर दिया और वह मनस्ताप में घुलने लगा। फलतः वह हृद्-रोग का शिकार हो गया। इन्जेक्शन, टॉनिक, स्पर्ण मुक्तादि सेवन सभी उपचार बेकार साबित हुए।

कुछ समय बाद वह मेरे पिता जी पं० वासीराम जी मिश्र, जो एक पुराने वैद्य और कांग्रेस कार्यकर्त्ता हैं, के प्रभाव से धीरे-धीरे कांग्रेस की विचारधारा और इसके कार्यक्रमों के प्रशंसक बन गये और धीरे-धीरे उनका रोग भी दूर होता गया। फिर जब एकबार वह पिकेटिङ्ग करके कुछ मास की जेल काट आये तो उनका हृदय-दौर्गल्य रोग पूर्णतः दूर हो गया। जब किसी वैद्य अथवा डाक्टर के पास वह सज्जन बैठे होते और कोई हृद्रोगी वहां आ जाता तो वह यह विनोद किये बिना कभी नहीं चूकते थे कि इस बीमारी की अच्छूक दवा है जेल जाना। इस तरह कई दृष्टान्त दिए जा सकते हैं किन्तु स्थानाभाव के कारण संभव नहीं।

इन सबसे यही निष्कर्ष निकलता है कि शरीर के अवयव रूप हृदय की दुर्बलता मात्र को ही हृद्-दौर्गल्य मानना इस रोग की पूर्ण विवेचना नहीं, किन्तु वास्तविक हृद्-दौर्गल्य मन की निर्बलता और मन के विकारों के कारण उत्पन्न होती है—क्योंकि व्यानवायु का सञ्चार नाड़ी-मण्डल से होता है, और व्यानवायु का प्रेरक मन है। जब कि वायु के कामों में प्रसारण और संकोचन दोनों ही हैं, तब यदि वायु के कारण “वेगसनर्व” (Vagus nerve) अर्थात् हृदय की गति की अनियमितता का रोकनेवाली ‘नर्व’ में फैलाव हो गया है, तो वायु की अधिकता के रोग होंगे और यदि संकोच हो गया है तो वायु-हीनता के कारण अंग संकोची और निष्क्रिय हो जायगा। इसके अनुसार “वेगस नर्व” का प्रसारण

सन् १९११]

हृदय-दौर्बल्य

१७७

हृदय की गति में वृद्धि का कारण होता है और संकोचन मन्द गति का। मूलतः हृदय-दौर्बल्य का कारण "वेगसनर्व" और इसमें कार्य करनेवाला व्यानवायु और व्यान वायु को प्रेरणा देनेवाला मन ही प्रधान कारण है। चाहे हृत्-स्पन्दन अधिक हो या न्यून दोनों ही हृद-दौर्बल्य के बोधक हैं। इसलिये neurasthenia को "ओजक्षय" माननेवाले महानुभाव यह क्यों नहीं सोचते कि "ओजक्षय" मारक है। इसे तो ओजोविस्त्रांस अथवा ओजोव्याप्ति नाम दिया जाय तो समीचीन होगा। क्योंकि neurasthenia से लोग मरते देखे नहीं जाते।

हमारे प्राचीन व नवीन वैद्याचार्यों तथा योगियों की दृष्टि में वायु एक दाष विशेष है और आधुनिक ऐलोपैथिक की दृष्टि में वायु कोई दोष-विशेष नहीं है। उधर डाक्टर वसन्तजी रेले (Dr. Vasant G. Rele) महोदय की दृष्टि में वेगसनर्व (vagus nerve) ही कुण्डलिनी शक्ति है। भारतीय महर्षियों तथा योगियों ने कुण्डलिनी शक्ति को शक्ति माना है, नाड़ी नहीं। इसकी महत्ता को प्रकट करने के लिए इस शक्ति को योग द्वार की कुंजी कहते हैं, नाड़ी नहीं। ऐलोपैथी की अमान्यता तथा मान्यता ने भी स्थिति को बिगाड़ रक्खा है। भारतीय योगियों के सर्वसम्मत सिद्धांतों के प्रति उन्हीं के वंशजों के भाव अप्रच्छन्न ही हैं किन्तु इङ्ग्लैण्ड के चिकित्सा-नभ के जाज्वल्यमान नक्षत्र डा० अलक-जैण्डर कैनान महोदय (Dr. Alexander Canon) ने स्वलिखित पुस्तक The Invisible Influence "दी इन बिजिविल इनफ्लुएन्स" में भारतीय योगियों के लोकोत्तर ज्ञान की भूरिभूरि प्रशंसा में

कई अध्याय लिखे हैं। एक स्थलपर वह लिखते हैं—
"पाश्चात्य विधियाँ जैसी भी हैं, अच्छी हैं, किन्तु भारतीय आचार्यों की विधियों से, तुलनात्मक दृष्टि में वे कहीं भी समानता नहीं कर सकतीं। उन आर्य हिन्दू आचार्यों के समक्ष हम केवल अवोध शिशु हैं, जिनके अधिकार में मानव द्वारा अद्यावधि अन्वेषित मानसोज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी समस्त रहस्य हस्ता-मलकवत् थे। भाग्यविधायिनी वह महान शक्ति भी उनकी चेरी थी जो राज्यसिंहासनो' पर महाराजाओं को चक्र खिला देती है और जिसके समक्ष सेनायें भी निस्तेज हो जाती हैं। वास्तव में यह योगी अद्भुत व्यक्ति हैं।"

वेगसनर्व ही कुण्डलिनी शक्ति है, यह मान्यता देते हुए कदाचित् वसन्तजी रेले साहब ने यह भी नहीं सोचा कि बहुत ऊँचे पावर के माइक्रोस्कोप (Microscope) से भी शक्ति को देखा नहीं जा सकता। इसलिये, यदि वह इसे कुण्डलिनी नाड़ी अथवा उसका एक भाग कहते तो किसी हृद तक ठीक होता। शायद इसी कारण कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जज सर जॉनबुडराफ महोदय ने वेगसनर्व (vagus nerve) को श्री रेले के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति स्वीकार नहीं किया—वे भी उस शक्ति का वाहनमात्र ही vagus nerve को मानते हैं।

मानसिक विकार जन्य हृद-दौर्बल्य स्थूल हृदय की पुष्टि से दूर नहीं होता। उसके लिए तो महर्षि चरकोक्त "मानसो ज्ञान-विज्ञान धैर्य स्मृतिसमाधिभिः" ही उचित उपचार है—अथवा सबल तन में सविशेष विमल मन ही अत्यन्त अपेक्षित है।

दूसरों के विचारों का रोगी के मन पर प्रभाव

श्री लालजीराम शुक्ल

❀

रोगी के मन पर उसके आसपास रहने वाले व्यक्तियों के विचारों का अनिवार्यतः भारी प्रभाव पड़ता है। यदि आसपास रहने वालों के विचार भले हैं तो रोगी शीघ्रता से स्वास्थ्य लाभ कर लेता है। और यदि लोगों के विचार दूषित हैं, तो रोगी का रोग बढ़ जाता है और कभी कभी उस रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। रोगी को रोगसे मुक्त करनेके लिये शुभ और उदार विचारों की आवश्यकता होती है। क्रोधजनित विचार चाहे रोगी के मन में हों अथवा उस के आस-पास रहने वाले व्यक्ति के मन में, रोगी के लिये हानिकारक ही होते हैं। इसी प्रकार निराशाजनक विचार भी रोगी को जीवन से निराश बना देते हैं। क्रोध और निराशा एक दूसरे के पूरक हैं। जिस व्यक्ति को जितना ही क्रोध आता है उसे निराशा भी उतनी ही अधिक होती है।

रोगी का मन निर्बल होता है। अतएव बुरे विचार सरलता से उस के मन में पैठ जाते हैं और कठिनता से बाहर निकलते हैं। कभी-कभी निराशा-जनक विचार जान-बूझ कर वातावरण में रहने वाले व्यक्ति से ग्रहण कर लिये जाते हैं और अनजाने ही ऐसे विचार रोगी के मन में प्रवेश कर जाते हैं। अपने सम्बन्धियों और सेवा करने वालों के विचारों से रोगी बहुत प्रभावित होता है।

मान लीजिये अपने घर में कोई सगा सम्बन्धी बीमार पड़ा है। उसकी अस्वस्थता की दशा में हम

किसी व्यक्ति के प्रति अन्याय कर बैठते हैं अथवा उसके प्रति क्रोध दिखाते हैं। इस काम से अनेक प्रकार के अवांछनीय विचार हमारे मन में उत्पन्न हो जाते हैं। इन विचारों के कारण हम रोगी को सन्निर्देश देने में असमर्थ हो जाते हैं और रोगी हमारे बिगड़े हुए विचारों को हम से ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार वह जीवन से निराश हो जाता है। कभी कभी हमारे इस प्रकार के विचार रोगी के लिये घातक सिद्ध होते हैं।

बालकों के ऊपर माता-पिता के भले अथवा बुरे विचारों का प्रभाव बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। देखा गया है कि ऐसे माता-पिता जिनके विचार सदा निर्दयता पूर्ण रहते हैं, उनके बच्चे सर-सर जाते हैं। कभी-कभी हमारे क्रुद्ध होने से घर का नन्हा बच्चा तुरन्त ही बीमार पड़ जाता है। इस का एक अनुभव लेखक को हाल ही में हुआ। लेखक के पास उस का भतीजा एक नाई के लड़के को साथ लेकर घर से आया। उसके कुछ अनुचित काम के लिये उसे दोनों पर क्रुद्ध होना पड़ा पर नाई के लड़के पर क्रोध करना उचित न था। इसके थोड़े समय बाद ही लेखक की एक वर्ष की बालिका बीमार हो गई। उसकी बीमारी उस समय तक बनी रही, जब तक भूल की आत्मस्वीकृति नहीं की गई और प्रति-भावना का अभ्यास नहीं किया गया।

लेखक के एक मित्र की स्त्री का हाल ही में देहान्त हो गया। वह कुछ दिनों से बीमार थी।

परन्तु इस काल में इस मित्र के विचार भी बहुत ही बिगड़े हुए थे। वे उच्च पद पर हैं और उनकी सहनशीलता इस समय बहुत ही कम हो गई थी। उन्होंने क्रोधावेश में एक परीक्षार्थी को साधारण भूल के लिये परीक्षा देने से वंचित कर दिया। जब से यह घटना घटी उन की स्त्री का रोग बढ़ता ही गया और अन्त में उसका देहान्त भी हो गया।

प्रत्येक प्रकार के रोग की उत्पत्ति के तीन कारण होते हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। शारीरिक विकार रोग का शारीरिक कारण, मानसिक विकार रोग का मानसिक कारण और आध्यात्मिक पतन रोग का आध्यात्मिक कारण होता है। किसी भी प्रकार का अनाचरण-दुराचरण मनुष्य की इच्छा शक्तिको निबल बना देता है। इस कारण कोई भी रोग व्यक्ति को सरलता से पकड़ लेता है। जब रोगी के द्वारा दान-पुण्य कराया जाता है, और आत्मशुद्धि की जाती है तो उस के जीवन में आध्यात्मिक सुधार-हो जाता है। इससे रोगी का रोग छूट जाता है। उस की चिकित्सा उचित रूप से होने लगती है और मानसिक-वातावरण भी अनुकूल बनजाता है।

लेखक के एक वयोवृद्ध-मित्र हाल ही में अपने देहात के मकान से काशी आये। वे जिस समय काशी पहुंचे, उठबैठ भी नहीं सकते थे। उन्हें दो बार लू लग चुकी थी। अवस्था करीब छेहत्तर वर्ष की होने के कारण वे एक ही महीने में दो बार बीमार पड़ने से हिल गये। उन के शरीर का रुधिर सूख गया। वे अपने साथ एक डाक्टर, और अपने लड़के और भतीजे को भी लेते आये थे। जब वे घर से चले थे तो घर के और गांव के लोगों ने उन से अन्तिम-विदाई ले ली थी। उन के बड़े भाई हालही में सर चुके थे, लोगों को इन की शारीरिक दशा देख कर ऐसा लगता था कि वे अब नहीं बचेंगे। अतएव

काशी में ही उनका देहावसान होना अच्छा समझकर उनका डाक्टर भी उन्हें इसी दृष्टि से काशी ले आया था। पर काशी पहुंचते ही उनके आस-पास का मानसिक वातावरण बदल गया। पहले उनके मन में मृत्यु के विचार आने लगे थे किन्तु अब इन विचारों का भी अन्त हो गया। वह दस-बारह दिन में चलने-फिरने लगे और अब उन्होंने पर्याप्त स्वास्थ्य लाभ कर लिया है। एक दिन जब ये बीमार ही थे, लेखक ने उनसे कहा था कि काशी में जो आता है, उसका जीवनकाल बढ़ जाता है। आशामय विचार हो जाने से मनुष्य का जीवनकाल स्वतः ही बढ़ जाता है। जो व्यक्ति मृत्यु के लिये पूरी तैयारी कर लेता है और मृत्यु से नहीं डरता, वह भी अपने जीवनकाल को बढ़ा लेता है। इससे मनुष्य में त्याग बुद्धि आ जाती है और उसकी बहुत सी मानसिक परेशानियों का अन्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसका मानसिक बल बढ़ जाता है और उसका जीवनकाल भी इस तरह बढ़ जाता है।

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति मरने के पूर्व निराशावादी हो जाता है। वह मृत्यु का आवाहन करने लगता है। उसका बाहरी मन ता संसार में फंसा रहता है, पर अव्यक्त मन उससे छुटकारा पाना चाहता है। उस अवस्था में मनुष्य के समक्ष इतनी समस्याएँ एक साथ आ जाती हैं कि वह उनसे छुटकारा पाने के लिये मृत्यु का आवाहन करने लगता है। यदि वह इस समय सांसारिक भ्रमों से मुक्त हो जाय तो उसकी आयु बढ़ जाती है, नहीं तो आन्तरिक मन की मृत्यु की इच्छा किसी न किसी प्रकार पूरी हो जाती है।

सांसारिक त्याग से जीवनकाल किस प्रकार बढ़ जाता है इसका एक उदाहरण डा० भगवानदास के (शेष आगे पृष्ठ पर)

कायाकल्प

(Rejuvenation, Reactivation or Prolongation of life)

कविराज राजेन्द्र प्रकाश आयुर्वेदाचार्य

४४

‘काया’ शरीर वाचक है। और ‘कल्प’ शब्द ‘कृपु सामर्थ्य’ इस धातु से निष्पन्न सामर्थ्य, शक्ति, नवयौवन का द्योतक है। इस प्रकार शरीर के जीर्ण-शीर्ण रूप का त्याग कर उसके सामर्थ्यशाली अभिनव स्वरूप की प्राप्ति ही कायाकल्प का तात्पर्य है।

वास्तव में कायाकल्प शब्द का प्रयोग सिद्ध-सम्प्रदाय-काल से एक रूढ़ि संज्ञा प्राप्त कर गया है जिसका शास्त्रीय परिभाषा में ‘रसायन-चिकित्सा’ हाल में रोग से स्वास्थ्य लाभ करने में देखा जाता है। कुछ दिन पूर्व डा० भगवानदास बीमार पड़े। आसपास के लोग तथा वह स्वयं भी सोचने लगे कि अब उन्हें परलोक जाना है। इस कारण उन्होंने अपनी जिम्मेदारियों को अपने बेटे और अन्य सम्बन्धियों में बांट दिया। अपनी पुस्तकों की तथा अपनी अन्य सम्पत्ति की भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार अपनी जिम्मेदारियों से जब उनका मन मुक्त हो गया तो उनका जीवन काल भी बढ़ गया। धीरे-धीरे उन्होंने स्वास्थ्य लाभ कर लिया और अब वे मृत्यु के लिये सदा तैयार बैठे हैं, पर मृत्यु ही स्वयं सहम गई और उनसे अपना मुँह मोड़ लिया। वास्तव में जो मृत्यु को भी अपना कल्याणकारी मानता है और उससे डरता नहीं, उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। जब उसका काम पूरा हो जाता है, तभी उसकी इच्छा से पास आती है।

नाम से उल्लेख मिलता है, जो कि पञ्च-कर्म-चिकित्सा का ही अनुकल्प मात्र है।

यह एक चिकित्सा क्रम है जिसके नियमित व्यवहार से, संयम पूर्वक रह कर, विविध पथ्य एवं औषधि सेवन कर मानवीय शरीर व मस्तिष्क एक नूतन स्वरूप को प्राप्त होता है।

‘RASAYAN’ (Rejuvenation) has for its object the prolongation of human life, and the refreshment and invigoration of the memory and the vital organs of man. It deals with recipes which enable a man to retain his manhood or youthful vigour up to a good old age, and which generally serves to make the human system invulnerable to disease and decay.

(The System of Ayurveda)

सुश्रुत ने ‘रसायन’ का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—“रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मधो-बलकरं रोगापहरणसमर्थ च”।

अर्थात् युवावस्था के स्थापनार्थ, आयु, बुद्धि एवं बल की वृद्धि करने के हेतु तथा शरीर की स्वाभाविक रोग-प्रतिरोधक शक्ति के वर्द्धनार्थ चिकित्साशास्त्र का जो अङ्ग है उसे रसायन-तन्त्र कहते हैं।

महर्षि चरक ने ‘लोभोपायो हि शस्तीनां रसादीनां रसायनम्’ इन शब्दों में रसायन का उल्लेख किया है।

शार्ङ्गधर ने तो और भी सरल एवं स्पष्ट शब्दों में रसायन की परिभाषा की है जो इस प्रकार है ‘रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिविनाशनम्’।

योग-शास्त्र में भी दीर्घ जीवन एवं पुनर्जावन का विस्तृत क्रियात्मक विवरण उपलब्ध होता है तथा आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में भी इस सम्बन्ध में रूस आदि देशों में पर्याप्त अनुसन्धान हो रहे हैं। किन्तु आयुर्वेद की विचार-प्रणाली, योग-शास्त्र की विचार-सरणी एवं आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान की विचार-पद्धति में मौलिक भेद है।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान निःस्रोतस ग्रन्थियों पर लट्टू हो उनके द्वारा दीर्घ जीवन की प्राप्ति का प्रयत्न कर रहा है। योग-शास्त्र नाडी-शुद्धि, षट्-क्रिया आदि के अनन्तर चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा आन्तरिक शरीर पर कार्य करने वाले वायु-संयम से दीर्घायु की प्राप्ति का वर्णन करता है। इसी प्रकार आयुर्वेद-शास्त्र भी पञ्च कर्म द्वारा संशोधनान्तर रसायन-सेवन से दीर्घायु का दावा करता है।

सृष्टि के प्रारम्भ काल से 'वृद्धावस्था' मनुष्य के स्वाभाविक भय का विषय रही है और मानव इससे छुटकारा पाने के लिये अहर्निश प्रयास कर रहा है।

"So long as the human race has existed, it has looked with considerable aversion and fear at the steady decline of faculties and decay of powers caused by old age, leading ultimately to death. Man has ever been busy in endeavouring to devise measures in order to delay the onset of decline and decay and, if possible, to encompass their defeat".

(Historical Regeneration in Man)

भारद्वाज ऋषि का चरक में इस संबंध में स्पष्ट वर्णन मिलता है।

इससे पूर्व कि जरावस्था से मुक्ति के विषय की चर्चा की जाये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वृद्धावस्था क्या है, इस सम्बन्ध में ऊहापोह करें।

उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचने का दम भरने वाला आधुनिक विज्ञान आज के अपने स्वर्णिम युग में भी वृद्धावस्था की समस्या को नहीं सुलझा सका है। किन्तु इसका यह आशय नहीं कि वह इस सम्बन्ध में मौन बैठा हो। इस विषय में सतत प्रयत्न हो रहे हैं। हां, किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्णय अभी नहीं हो सका है। कुछ सिद्धान्तों का वर्णन नीचे किया जाता है।

(अ) Bitchsli नामक वैज्ञानिक का मत है कि मनुष्य-शरीर में एक विशेष जीवनीय शक्ति का भण्डार होता है। उस शक्ति के प्रभाव से कोषों (cells) की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। उस शक्ति विशेष के श्रमित होने पर वृद्धावस्था का आगमन होता है। जीवन-चक्र में विकास एवं हास का क्रम एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।

To explain the retrogressive processes normal in old age, it has been assumed that the body cells are endowed with a certain store of vitality and that as this becomes exhausted the process of involution begins."

(ब) कुछ शास्त्रज्ञों का मत है कि शरीर के प्रत्येक अङ्ग में जो विशेष-कार्य-कर कोष (Specialised functional cells) होते हैं इन (कोषों) का कार्याभाव एवं शरीर कोषों में संयोजक तन्तु और अन्त में तान्त्व धातु की उत्पत्ति एवं वृद्धि वृद्धावस्था का कारण होती है।

"The atrophy of the organs is due to diminution of the specialised functional cells of each organ, and hypertrophy and increase of the connective tissue cells, and later, of the fibrous tissue cells.

(स) Bechhold, Ruzicka एवं Marin-esco आदि के मतानुसार सैल के जीवोज (protoplasm) के शुष्कीभवन (Dehydration) का नाम वृद्धावस्था है।

(द) Lumiere का विचार है कि शरीर में सतत होने वाली उपचयापचय-क्रिया (Metabolic function) के कारण कुछ विजातीय द्रव्य पैदा होते हैं जो शनैः २ सैलों में एकत्रित होकर उनकी इस क्रिया में बाधक होते हैं और इसी Metabolic function के अभाव के परिणाम-स्वरूप वृद्धावस्था आती है।

(फ) वृद्धावस्था के सम्बन्ध में सबसे आधुनिक एवं माननीय मत यह है कि शरीर में अण्डकोषीय उद्वेचन (Testicular Hormone) से प्रत्येक सैल को उत्तेजना मिलती है जिससे कि शारीरिक उपाचयापचय क्रिया सुचारु रूप से होती रहती है एवं शारीरिक वृद्धि व विकास अबाध रूप से होता है। युवावस्था में इस की साव की प्रचुरता होने से शरीर नियमित रूप से बढ़ता रहता है किन्तु वृद्धावस्था में इसका हास होकर वृद्धता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। [इन के अतिरिक्त मैचनो-कांफ आदि विद्वानों ने भी इस संबन्ध में पर्याप्त अन्वेषण किये हैं]

उपरोक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त कहां तक सत्य हैं इसका निश्चय तो भविष्य ही करेगा। चाहे कोई भी सिद्धान्त वृद्धावस्था के सम्बन्ध में क्यों न लागू हो किन्तु कुछ निश्चित चिह्न एवं परिवर्तन इस अवस्था में ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जिनको देख कर साधारण मनुष्य भी इसका अनुमान लगा लेता है। यथा शरीर का कृश होना, नेत्र शक्ति का हास, स्मृति का विकृत होना, त्वचा में सलबटं पड़ना, कानों से कम सुनाई देना, केशों का श्वेत वर्ण होना, मांसपेशियों का दुर्बल होना, उत्साह का मन्द पड़ना आदि।

"As the prime of life is past, signs of old age begin to appear. The eyes become feeble,

hair become grey, the cartilages calcify, the muscles become weaker, digestion gets feeble and metabolism in every way more and more imperfect." (Physiology by Halliburton)

यह लक्षण समूह जिस अवस्था में भी उत्पन्न हो जाय उसे ही हम वृद्धावस्था कहते हैं। किन्तु प्रायः बड़ी उम्र में यह नियमित रूप से होता है अतः यह शब्द इस उम्र के लिए रूढ़ हो गया है।

Progeria नामक बालरोग में जब दो वर्ष की वय में ही बालक में वृद्धावस्था के सम्पूर्ण लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं हम वृद्धावस्था कह सकते हैं।

वास्तव में शरीर के अङ्गों का सबल-स्वस्थ होना या न होना ही युवा या वृद्धावस्था कहलाता है। आयुर्वेद-मतानुसार इस अवस्था का मूलभूत कारण धातु-परिपोषण का ठीक न होना है।

इस प्रकार वृद्धावस्था के शुष्कोद्यान में भ्रमणान्तर यह विचार आना स्वाभाविक है कि इसका कुछ उपाय किया जाये। यदि कोई ऐसा विधान निकाले जिससे कि वृद्ध अवस्था में उत्पन्न विजातीय द्रव्य निकाल कर श्रमित होनेवाली विशेष जीवनीय शक्ति को रोका जा सके और इस प्रकार सैल के जीवोज (Protoplasm) को स्वभाविकावस्था में रखा जा सके तो निश्चय ही हम वृद्धावस्था पर विजय पा सकते हैं। इस प्रकार विचार करते करते प्राचीन ऋषियों ने पञ्च कर्म द्वारा विजातीय द्रव्य के निर्गमन एवं रसायन-सेवन द्वारा जीवनीय शक्ति को टिकाऊ बनाने का सुन्दर सिद्धान्त निकाल लिया जो कालान्तर में जाकर 'कायाकल्प' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी विचारा कि यदि किसी प्रकार वृद्धावस्था में नष्ट हुए अण्डकोषीय उद्वेचन (Testicular Hormone) को सुरक्षित

सन् १९५१]

कायाकल्प

१८३

रखा जाये और इस प्रकार शरीर के प्रत्येक सेल को उसके द्वारा शक्ति प्राप्त होती रहे तो निश्चय ही दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है।

"A great number of the functional cells in our body remain active up to extreme old age and if it were possible for them to receive the tonic effect of the sexual gland secretions, which would stimulate their weakened but not yet abolished potentialities, our bodies would remain young much longer; for these cells would then be able to function and to multiply and to replace cells that are worn out"

(Study of Regeneration Page 23)

इस विषय को जाधारभूत रखकर ही दीर्घ जीवन के लिये किये गए प्रयत्नों के रूप में हम आधुनिक विज्ञान के Glands grafting Vasoligation or Vasectomy, Anti reticular Cyto toxic Syrum आदि नवीन आकर्षक आविष्कारों का दर्शन करते हैं।

कायाकल्प का योग्य काल

प्रत्येक वस्तु की ह्रास की एक निश्चित अवधि होती है जहाँ से कि उसका पुनर्निर्माण किया जा सकता है। उस निश्चित अवधि की सीमा का उल्लंघन करने के उपरान्त उसका नाश अवश्य-म्भावी है। यह दशा हमारे शरीर की भी है। सुश्रुत ने तथ्य का निर्देश निम्न शब्दों में किया है।

पूर्वे वयसि मध्ये वा मनुष्यस्य रसायनम्।

प्रयुज्जीत भिषक् प्राज्ञः स्निग्धशुद्धतनो सदा॥

अर्थात् यदि पूर्वावस्था (युवावस्था) अथवा मध्यमावस्था में रसायन का प्रयोग कराया जाये तो अवश्य ही दीर्घायु की प्राप्ति होती है। साधारण-तया बाल्यावस्था १६ वर्ष, युवावस्था ३२ वर्ष, प्रौढा-वस्था ४८ वर्ष एवं उसके पश्चात् वृद्धावस्था का काल है। इस प्रकार कायाकल्प की निश्चित अवधि ४८ वर्ष तक की है। इस अवधि से परे कायाकल्प

कराने पर परिणाम सन्तोषजनक नहीं मिले हैं। महामना मालवीयजी का उदाहरण इसका स्पष्टी-करण करने का पर्याप्त है।

आधुनिक वैज्ञानिक भी सुश्रुत के निश्चित अवधि के सिद्धान्त के हामी हैं।

(i) "One can only rejuvenate tissues which are still rejuvenable", (Brown Sequard)

(ii) "We reach an impassable boundary where we have to do with irreparably damaged tissues. The best period for rejuvenation both in men and women is at about fifty. (Dr. Ansari)

इतना ही नहीं, डा० अन्सारी ने पुनर्यौवन के सम्बन्ध में किये गए कार्य का लेखा वर्णन करते हुए यह परिणाम बताया है—

"I have obtained 68. 75 p.c of successes and 31. 25 p.c of failures in cases of Physiological senility, i. e. patients between 65 to 95 years whereas in cases of premature senility, i.e. between 35 and 65, the results obtained were 87.64 p.c. of successes and 12.35 p.c. of failures"

इस पर से ही विद्वद्बृन्द स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि सुश्रुत का उपरोक्त कथन कितना वैज्ञानिक है।

कायाकल्प के भेद—

क्रिया-विधि दृष्ट्याशास्त्र में भेद मिलते हैं। प्रथम कुटीप्रावेशिक जिसमें रोगी को एक निश्चित अवधि तक नियमित आहार-विहार एवं संयम के साथ त्रिगर्भाकृति कुटी में रखा जाता है। द्वितीय वातातपिक जिसमें कि बिना किसी विशेष बन्धन के साधारण दैनिक जीवन यापन करता हुआ पुरुष औषध का सेवन करता है।

रसायनानां त्रिविधं प्रयोगमृषयो विदुः।

कुटीप्रावेशिकं च वातातपिकमेव च ॥ चरक चि० १

इनका विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन आगे किया जायेगा। इसके पुनः काम्य, नैमित्तिक एवं आज-स्त्रिक करके तीन भेद शास्त्रों में उपलब्ध हैं। मेधा-कामादि के लिए काम्य, वाधि निमित्त (शिलाजतु, तुवरक भल्लातक आदि) नैमित्तिक और क्षीरादि का अभ्यास करना आजस्त्रिक कहलाता है।

गुण दृष्ट्या—इसके निम्न प्रकार किये जा सकते हैं—

(अ) अङ्गविशेष-पोषक कल्प—किसी भी कान्ति-हीन निर्बल अङ्ग को औषध-कल्प से पुनः नवीन बना देना। यथा भृङ्गराज-कल्प विविध कल्पनाओं द्वारा विकृतवर्ण केशों में लाभकर होता है।

(ब) रोगविशेष-निवारक कल्प—अर्थात् किसी रोगविशेष में किया गया कल्प। यथा ग्रहणी में पर्पटी-कल्प।

(स) सर्व-देह-पोषक कल्प या कायाकल्प—इसमें संशोधनोपरान्त रसायन-प्रयोग अभीष्ट होता है। यही हमारे इस निबन्ध का प्रतिपाद्य अंश है।

काल-दृष्ट्या—इसके तीन भेद कर सकते हैं—

(अ) वैदिककालीन रसायन-विधि

(ब) रसतन्त्रकालीन रसायन-विधि

(स) सिद्धसाम्प्रदायिक कायाकल्प

कायाकल्प से पूर्व पञ्च कर्म की अनिवार्यता एवं महत्त्व—

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है रसायन-प्रयोग से पूर्व पञ्चकर्म कराकर विजातीय द्रव्यों का निगमन किया जाता है। वास्तव में रसायन तो इस पञ्चकर्म चिकित्सा का ही एक अङ्गमात्र है। बिना पञ्चकर्म किये रसायन-प्रयोग निष्फल एवं व्यर्थ होता है जैसा कि सुश्रुताचार्य के निम्न उद्धरण से स्पष्ट होता है—

नाविशुद्धशरीरस्य युक्तो रसायनो विधिः।

न भाति वाससि क्लिष्टेर ज्ञयोग इवाहितः ॥

चरक में भी कहा है, 'तस्या संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः रसायनं प्रयुज्जीत'।

पञ्चकर्म भी एक प्रकार का कल्प ही है। वाग्भट्ट के टीकाकार ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

‘यद्यप्येवम् वमनविरेचनास्थापनानुवासनानावैः पञ्चभिरपि कर्मीनः। संस्कृतोऽर्वाधः सफल कायः तथाप्येष रसायनिको भूयः शरीरसंस्कारकरणीयः’ ॥

स्वयम् वाग्भट्ट ने भी पञ्चकर्म का महत्त्व बताते हुये कहा है—

यतेत च यथाकालं मालानां शोधनं प्रति।

अत्यर्थसंचितास्ते हि क्रुद्धाः स्युः जीवितच्छिदाः ॥

दोषा कदाचिद् कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः।

ये तु संशोधनैः शुद्धाः न तेषां पुनरुद्भवः ॥

यथाक्रमं यथायोगं अतोर्ध्वम् प्रयोजयेत्।

रसायनानि सिद्धानि वृष्यरोगाश्च कालवित् ॥

वाग्भट्ट

आधुनिक शास्त्रियों का भी इस सन्बन्ध में यही मत है।

Frequent washings to remove waste products tissue cells can be cultivated indefinitely for years and have an unlimited capacity for multiplication. (A. Carrel)

कहना न होगा कि पञ्चकर्म से पूर्व उसकी आतु-पूर्वी क्रिया स्नेहन-स्वेदन करना भी आवश्यक विधान है।

इस स्थल पर पञ्चकर्म क्रिया का विस्तृत विवेचन करना मेरा तात्पर्य नहीं है क्योंकि यह स्वयं ही एक पृथक गहन विषय है जिसका उल्लेख इस निबन्ध की सीमा से परे है। यहां मेरा आशय केवल पञ्चकर्म की रसायन-प्रयोग में महत्ता दर्शाने का ही है।

(क्रमशः)

सूतादि वटी वनाम अग्नितुण्डी वटी

वैद्य रामनाथ प्रसाद गुप्त

ॐ

शाङ्गधर संहिता खण्ड २ अध्याय १२ में सूतादिवटी का पाठ निम्नोक्त है—

शुद्धं सूतं विषं गन्धमजमोदां फलत्रयम्
सज्जिहारं यवक्षारं वह्निसैन्धवं जीरकम् ॥
सौवर्चलं विडंगानि सामुद्रं त्र्यूषणं समम्
विषमुष्टिं सर्वतुल्यं जम्बीराम्लेन मर्दयेत् ॥
मरिचामां वटीं खादेद्वह्निमान्यप्रशान्तये ॥

—शुद्ध पारा, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक, अजमोदा, त्रिफला, सजीखार, यवक्षार, चित्रक की जड़, सेंधा नमक, जीरा, काला नमक, विड नमक, सामुद्रनमक, सौंठ, पीपल और मिर्च सब समान प्रमाण तथा इन सबके बराबर शुद्ध कुचला मिलाकर जम्बीरी नीबू के रस में मर्दन करके काली मिर्च बराबर गोलो बना, सुखा रख ले। अग्निमान्य को शान्ति के लिए इसका सेवन करे।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित सिद्धयोग-संग्रह में उसके विद्वान लेखक पूज्य आचार्य यादवजी ने 'अग्नितुण्डीवटी' के प्रसंग में ऊपरवाले श्लोक को उद्धृत किया है। शाङ्गधर संहिता के अन्य टीकाकारों ने 'विडंगानि' का अर्थ 'विडनमक' किया है, परन्तु पूज्य यादवजी ने इसका अर्थ 'वायविडंग' किया है, जो कि हमें भी उपयुक्त प्रतीत होता है। अस्तु।

प्रश्न यह है कि क्या 'सूतादि वटी' और 'अग्नितुण्डी वटी' एक ही वस्तु के दो नाम हैं, या दो पृथक्-पृथक् वस्तुओं के नाम हैं। ये पंक्तियाँ लिखते समय लेखक के सामने शाङ्गधर की तीन प्रतियाँ हैं। इनमें से पं० खूबचन्द शर्मा कृत भाषा टीका सहित वाली प्रति में तथा बेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित मूल गुटका में केवल 'सूतादिवटी' नाम

मिलता है। श्री प्रयागदत्त शर्माकृत भाषा टीका सहित तथा श्री लक्ष्मीपति त्रिपाठी द्वारा संशोधित प्रति में 'सूतादिवटी' नाम न देकर अग्नितुण्डीवटी नाम दिया है। भा० भै० रत्नाकर में अग्नितुण्डी वटी तथा सूतादिवटी दोनों का पृथक्-पृथक् पाठों सहित नामोल्लेख है। 'अग्नितुण्डीवटी' का पाठ जहाँ अग्निमान्य रोगाधिकार में दिया है, वहाँ 'सूतादिवटी' का पाठ 'रसचण्डांशु' के उपदंशाधिकार में दिया है। इस प्रकार दोनों के गुण-धर्म में महान अन्तर दिया है। परन्तु इसमें सूतादिवटी पर शाङ्गधर का पाठ दिया ही नहीं है। उसके अतिरिक्त तीन पाठ उसमें दिये हैं—१ सूतादिगुटिका (यो० २०, २० च०), २ सूतादिवटी (२० चं, उपदंश), ३ सूतादिवटी (२० रा० सु०, ४० रि० २०, अतिसार)। इस पुस्तक में अग्नितुण्डी वटी के पाठ के नीचे दिये हुए 'भै० २०, अ० मान्य' से स्पष्ट होता है कि कविराज विनोदलाल सेन ने शाङ्गधर संहिताकृत 'सूतादिवटी' को ही जिस 'अग्नितुण्डीवटी' नाम से ग्रहण किया है, उसे ही इस पुस्तक के लेखक ने अपने संग्रह में ले लिया है।

ऐसी स्थिति में शंका होती है कि क्या सूतादिवटी और अग्नितुण्डीवटी एक ही हैं, जैसा कि शाङ्गधर, भैषज्यरत्नावली तथा सिद्धयोग-संग्रह के देखने से मालूम पड़ता है? या ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं, जैसा कि अन्यो का मत है? यदि दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं, तो नामभेद का क्या अभिप्राय है?

आशा है, सचित्र आयुर्वेद के मनीषी पाठक इस विषय पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करके भ्रम निवारण करने का प्रयास करेंगे।

स्वानुभूत चिकित्सा

स्वरभेद और ग्रहणी-रोग : चिकित्सा

कविराज अमलाचरण सेन

स्वरभेद-चिकित्सा

वचपन से ही अमु तथा अजीर्ण रोग ग्रसिता एक ४६ वर्षीय रोगिणी को कोष्ठकाठिन्य तथा मूत्राल्पता साथ-साथ थी। ५-७ वर्ष पहले विषमज्वर (मलेरिया) हुआ था, परन्तु समुचित चिकित्सा से रोगमुक्त हुई थी। प्रायः डेढ़ वर्ष से अम्लाजीर्ण रोग बढ़ गया था, जिससे विशेष कष्ट पा रही थी। इस समय उसे नीचे लिखी शिकायतें थीं—कलेजा, पीठ तथा गले में दर्द; कण्ठ में जड़ता; इसी समय एक दिन हठात् ठण्ड लग जाने के कारण छाती तथा पेट में दर्द होने लगा और साथ-साथ स्वरभंग भी हो गया। जब रुग्णालय में प्रविष्ट हुई तब नीचे लिखे लक्षण प्रबल रूप में विद्यमान थे—कण्ठ में दर्द, स्वरभंग, समस्त शरीर में, विशेषतः गले, छाती आर पेट में दर्द, खट्टी डकार, पेट तथा गर्दन में जलन, सामान्य ज्वरभाव, हृदय की धड़कन, कोष्ठकाठिन्य, शिर में दर्द आदि। दिन में कुछ बातचीत कर सकती थी, परन्तु संध्या के बाद तमाम रात कुछ भी नहीं बोल पाती थी। समय-समय पर सूखी खांसी का दौरा होता था। बीच-बीच में लालास्राव था। ठण्ड लगने पर गले के भीतर गलगुण्डि रोग मालूम पड़ता था।

व्यवस्था—गले की वेदना, कफ तथा वायु की शान्ति के लिए सुबह मधु के साथ कफ केतु आदि रस, चार बजे त्रिकटु चूर्ण एवं मधु के साथ महालक्ष्मीविलास रस तथा बीच-बीच में चाटने के लिए मधु के साथ कल्याणावलेह दिया

गया। इस प्रयोग से गले, तालू, जीभ तथा मसूरे का आश्रित कफ निकल गया और कण्ठ-स्वर भी स्पष्ट हो गया। धीरे-धीरे गले की जड़ता तथा दर्द शान्त होता गया। किन्तु पांच दिन तक यह व्यवस्था चालू रहने पर भी जब अम्ल, पेट की जलन, अंगों का दर्द आदि शान्त नहीं हुए तो सुबह कफकेतु देकर दशमूल पाचन दिया। दोपहर को भोजन के बाद जल के साथ अम्लपित्तान्तक चूर्ण—॥ आ० वज्रक्षार —) आ० एकत्र मिलाकर दिया। पेट साफ करने के लिये रात को गरम जल के साथ वेश्वार चूर्ण दिया गया। अन्यान्य दवाएँ पहले की तरह चालू रहीं। यह व्यवस्था अन्यथा गुणकारी सिद्ध हुई, परन्तु हृदय की धड़कन तथा पेट की जलन में विशेष आराम नहीं मालूम पड़ा। अतः १५ दिन बाद दोपहर में भोजन से पहले द्राक्षा =) आ०, हरद =) आ०, मधु =) आ० तथा चीनी =) आ० एकत्र मिला कर चाटने के लिए दिया जाने लगा। महालक्ष्मीविलास रस बन्द करके ३-४ दिन तुलसीपत्र के रस तथा मधु के साथ कफचिन्तामणि दिया गया। तीन सप्ताह की इस सम्पूर्ण व्यवस्था के बाद स्वरभेद तथा सर्वाङ्ग पीड़ा आदि शिकायतें तो दूर हो गयीं। तब अन्य औषधें बन्द करके खांसी, दिल की धड़कन और पेट की जलन के लिए सुबह जल के साथ मृगशृङ्ग भस्म तथा सितोपलानि, दोपहर को भोजन के बाद द्राक्षा, हरीतकी आदि तथा भोजन के बाद अम्लपित्तान्तक और वज्रक्षार

सन् १९५१]

स्वरभेद और ग्रहणी रोग : चिकित्सा ।

५८७

एवं चार बजे जल के साथ ।) आ० खण्डामलकी दी गयी । इस प्रकार एक महीने की चिकित्सा से रोगिणी का स्वरभेद शान्त हो गया और वह स्पष्ट बोलने लगी । अन्य शिकायतें भी दूर हो गयीं । और कुछ दिन बाद वह स्वस्थ होकर घर चली गयी ।

ग्रहणी रोग चिकित्सा

इस रोगी को दस वरस पहले विषम-ज्वर (मलेरिया) हुआ था । कभी-कभी पतले दस्त भी हुआ करते थे । ६ मास हुए, तब ग्रहणी रोग हुआ गया था । इस समय भी महीने में तीन-चार बार पतले दस्त होते थे । ३-४ दिन अच्छा रहता, फिर ३-४ दिन दस्त होते । धीरे-धीरे रोग बढ़ता गया और प्रतिदिन १०-१२ दस्त होने लगे । अग्नि-मांघ, खट्टी डकार, बीच-बीच में कै, हाथ-पांव में जलन, हृत्कम्प, द्वापहर के बाद सामान्य ज्वरभाव आदि शिकायतें रहने लगीं । पेट बराबर फूला ही रहता और दस्त का वेग होने से पहले पेट के अन्दर गुड़-गुड़ शब्द हाता था । प्यास बहुत थी ।

व्यवस्था—इसे ग्रहणी का रागी निर्णय करके व्यवस्था दी गयी । प्रातः—जीराचूर्ण और मधु के साथ रस-पपटी । द्वापहर—चूने के पानी के साथ रामबाण और श्वेतचूर्ण मिलाकर । संध्या—मोथा-रस के साथ नृपतिवल्लभ ।

व्यवस्था के हेतु—पपटी आमदोष का नष्ट कर मल को घनीभूत करने एवं अग्नि को दीप्त कर शारीरिक बल बढ़ाने के लिये । रामबाण प्रभृति, आमपाक वायु का अनुलोमन कर अग्नि प्रदीप्त करने के लिये ।

२ सप्ताह यह व्यवस्था जारी रहने पर रोगी को कुछ फायदा हुआ । मल पहले की अपेक्षा घनीभूत हो गया और दस्त दस-बारह के बजाय दिन में ४-५ बार होने लगा । क्रमशः भूख भी लगी । चौदह दिन की चिकित्सा के बाद दस्त दिन में केवल एक होने लगा ।

अब नृपतिवल्लभ के स्थान पर तण्डुलोदक के साथ सर्वाङ्ग सुन्दर मोथा रस की व्यवस्था की गयी । अन्य औषध में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी ।

पथ्य—पहले प्रतिदिन चार बार बाली का पानी दिया गया । एक सप्ताह बाद दिन में लाई का माँड़ आध पाव और दूध पाव भर, रात्रि में बाली का पानी । दो सप्ताह बाद दिन में दूध भात, रात में चिष्टान्न (चूड़ा धान) सिद्ध मिसरी के साथ दूध । चौथे सप्ताह दोनों समय भात, मछली का भोल, व दूध दिया गया ।

इस प्रकार एक मास की चिकित्सा के बाद रागी पूर्ण स्वस्थ हो गया ।

रसायन तक्र

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः । तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रद्विषचोपजायते ॥

च० चि० १४८७

वात का प्राधान्य होनेपर स्निग्ध (मक्खन जिसमें से न निकाला हो ऐसे), पित्त का प्राधान्य होने पर अर्घ स्निग्ध तथा कफ का प्राधान्य होनेपर रुक्ष (सर्वथा नवनीत रहित) तक्र का सेवन करे । तक्र दोषों की दुष्टि से हुए स्रोतों के (केशिका आदि के) अवरोध को नष्ट कर रस-रक्तादि के वहन को सम कर देता है । अवयवों को इस प्रकार पोषक रस समुचित प्रमाण में मिलने से उनकी पुष्टि, बल, कान्ति और आनन्द (आरोग्य का एकमात्र लक्षण) होता है । वैद्य रणजितराय

मोतियाबिन्द की शल्य-चिकित्सा

श्री सम्प्रतिराय भटनागर

❀

मोतियाबिन्द एक ऐसा नेत्र-रोग है जिसमें आँख की पुतली के पीछे एक सफेद-सा पर्दा उतर आता है और फलतः आँख की रोशनी जाने का क्रम धीरे-धीरे चलता है। और अन्त में जाकर मनुष्य अंधा हो जाता है। इस सम्पूर्ण क्रम में साधारणतया ३-४ वर्ष लग जाते हैं और मोतियाबिन्द जब पक जाता है, तब आँख की पुतली के पीछे पुतली के बराबर ही एक सफेद गोल टिकड़ी चमकने लग जाती है, जैसे किसी कमरे की खिड़की पर भीतर से एक मोटा सा पर्दा डाल दिया गया हो, और प्रकाश की किरणों का प्रवेश वहाँ रुक जाता है।

मोतियाबिन्द की साधारणतया एक मोटी पहचान यह है कि यदि आप रोगी की आँख बन्द करके उसकी पलक को जरा सा दबाते हुए फिर से खोलेंगे तो पुतली के पीछे वाली सफेद टिकड़ी क्षण भरके लिए रबर की तरह थोड़ी सी फैल कर फिर सिकुड़ जायगी और उसके पूर्वरूप में उसे आप फिर देखने लगेंगे। रोगी को कोई भी वस्तु दिखाई नहीं देगी, लेकिन पुतली के पर्दे के भीतर से भी इसे इतना अवश्य भान होता रहेगा कि अमुक दिशा में प्रकाश है और अमुक में अंधेरा है।

कई बार आँख की पुतली पर अचानक कोई तेज चोट लग जाने के परिणाम-स्वरूप भी पुतली के पीछे एक सफेद-सा पर्दा छा जाता है। आँखको दबाने पर वह भी मोतियाबिन्द की टिकड़ी की ही तरह फैलता और सिकुड़ता रहता है, लेकिन उसमें फक

यह पड़ता है कि ऐसी स्थिति में नेत्र-ज्योति से विहीन ऐसे व्यक्ति की आँखों के सामने सर्वथा अंधेरा छाया रहता है और उसे किसी एक तरफ प्रकाश अथवा किसी दूसरी तरफ अंधकार होने का जरा भी भान नहीं हो पाता। मोतियाबिन्द की परीक्षा करते वक्त किसी भी विशेषज्ञ के लिए इस अन्तर को समझ लेना जरा भी मुश्किल नहीं है।

मोतियाबिन्द जब आँखमें उतरना प्रारंभ होता है, तब भले उसकी रोक-थाम की जा सके, लेकिन काफी उतर आने के बाद तो रोगी के लिए केवल एक ही रास्ता रह जाता है और वह यह कि पहले नेत्र की सम्पूर्ण ज्योति जाती रहे। उसके बाद ही रोग का उपयुक्त इलाज हो सकता है। मोतियाबिन्द कभी-कभी रोगी की दोनों आँखों में एकसाथ पक जाता है, और कभी कभी यह भी होता है कि रोगी की एक आँख में वह पक आया और दूसरी में नहीं। ऐसी स्थिति में रोगी की एक आँख का आप-रेशन पहले हो जाता है और दूसरी का, समय आने पर, बाद में।

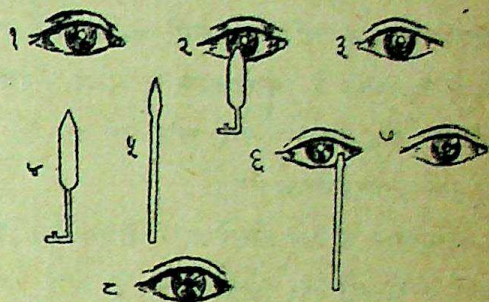
मोतियाबिन्द को अंग्रेजी में CATARACT कहते हैं। एलोपैथिक अथवा आयुर्वेदिक दोनों तरह की चिकित्साओं में इसका इलाज एक ही है—सर्जिकल आपरेशन अथवा शल्य-चिकित्सा। लेकिन एलोपैथिक पद्धति के आपरेशन और आयुर्वेदिक पद्धति की शल्य-चिकित्सा का अलग-अलग है, दोनोंमें काफी अन्तर है।

काई भी एलोपैथिक डाक्टर अथवा नेत्र-चिकित्सक सर्जन पहले मोतियाबिन्द के रोगी की आँख को औषधि डालकर सुन्नकर देगा, ताकि आपरेशन के समय रोगी को कोई कष्ट न हो। इसके बाद वह आँख की पुतली के ऊपर आँख के सफेद कोये में आपरेशन की सीधी रेखा खींच कर एक दूसरे औजार से मोतियाबिन्द की सफेद टिकड़ी के नीचे के भाग को इस तरह धीरे से दबायेगा ताकि वह टिकड़ी आपरेशन वाले भाग से होकर बाहर निकलने लगेगी और तब डाक्टर, उसे अपनी पकड़ में लेकर काट लेगा। बस, आँख की पुतली के पीछे का वह सफेद पर्दा काट दिया गया और रोगी के रोग का इलाज हो गया। एलोपैथिक डाक्टर आँख का यह आपरेशन रोगी को सुला कर ही करते हैं। आपरेशन के बाद दवा लगा कर मरीज की आँख पर पट्टी बांध दी जाती है और उसे देर तक हिलने-डुलने की जरा भी इजाजत नहीं दी जाती।

लेकिन आयुर्वेदिक पद्धति से की गयी शल्य-चिकित्सा में यह बन्दिश अनिवार्य नहीं। आयुर्वेदिक नेत्र-चिकित्सक मोतियाबिन्द का आपरेशन रोगी को बिठाकर ही करेंगे। एलोपैथिक ढंग से किया गया आपरेशन आँख के ऊपर के हिस्से में होता है, लेकिन आयुर्वेदिक पद्धति से किया गया आपरेशन आँख के नीचे के एक किनारे के भाग में होता है। डाक्टर लोग मोतियाबिन्द की सफेद टिकड़ी को काटकर फेंक देते हैं, लेकिन आयुर्वेदिक नेत्र-चिकित्सक उसे काटने के बजाय नीचे की ओर उतरा देते हैं जहाँ पानी के साथ साथ वह भी चिकना तरल द्रव्य बनकर आँख से बाहर निकल जाता है।

अब आप थोड़ी देर चित्रों की ओर ध्यान

दीजिये। नं० १ में एक ऐसी आँख का चित्र है जिसमें मोतियाबिन्द पक चुका है और पुतली के पीछे एक गोल और सफेद टिकड़ी चमक रही है।



नं० २ से एक दाहिनी आँख के उस स्थान का आपको पता चलेगा जिस स्थान पर आपरेशन करना है। नं० ३ में वही चित्र बाईं आँख का है। नं० ४ में उस औजार (surgical instrument) का चित्र है जिससे कि प्रारम्भ में आपरेशन किया जाता है। नं० ५ में शलाख की तरह लम्बे तार के उस अस्त्र का चित्र है जिसकी सहायता से मोतियाबिन्द की टिकड़ी आँख के भीतर पुतली के नीचे उतारी जायगी। इस अस्त्र की लम्बाई साधारणतया ४ इंच रहती है और आकृति गोल। इसके अग्र भाग में जौ की लम्बाई के बराबर एक अंश ऐसा रहता है जो कि गोल और पतले मुँह के आगे तिकोना होता है जैसा कि चित्र में बतलाया गया है। नं० ६ में प्रथम शल्य क्रिया के बाद, नं० ५ में बतलाये गये अस्त्र को आँख के भीतर घुसा हुआ दिखाया गया है। इसको आँख की पुतली के साथ-साथ भीतर के भाग में इस तरह गोल घुमाया जाता है ताकि मोतियाबिन्द की सफेद टिकड़ी नीचे उतर आये। आपरेशन की द्वितीय प्रक्रिया के समय (चित्र नं० ७) उस गोल टिकड़ी की आकृति बदल रही है और नं० ८ में आँख फिर से साफ नजर आ

रही है। आंख का ऑपरेशन अब पूर्ण हो गया है। आंख के ऑपरेशनवाले भाग से कुछ चिकना द्रव्य निकल रहा है जिसे आप रुई से पोंछ सकते हैं।

आयुर्वेदिक पद्धति से की गयी इस शल्य-चिकित्सा के बाद चिकित्सक रोगी का आंख में दवा डाल देंगे, आंख के चारों तरफ साधारण खिंचाव करनेवाला कोई लेप लगा देंगे, और उस पर रुई के फाहे रखकर पट्टी बान्ध देंगे।

आपरेशन के बाद तीसरे और पांचवें दिन रोगी की आंख की पट्टी फिर खोली जाती है और उसमें दवा डालकर वह फिर बान्ध दी जाती है। साधारणतया सातवें दिन आखिरी पट्टी खुल जाती है और इसके बाद आंख पर कपड़े का हरा पर्दा डाल दिया जाता है जो कम-से-कम १॥ मास तक रहता है। आपरेशन के सात दिन बाद तक रोगी को केवल दूध, दलिया अथवा आटे से बना हलवा खाने की इजाजत रहती है। उसके बाद भी उसे १-१॥ मास तक, जब तक कि आंख का कच्चापन दूर नहीं हो जाय और आंख का जरूम ठीक नहीं हो जाय तब तक, हलका ही खाना खाना चाहिये। इस बीच वह साधारण दाल-रोटी भी खा सकता है।

यों तो आंख का आपरेशन होते ही रोगी को

उसी वक्त दिखाई देने लग जाता है, उसकी आंख की रोशनी लौट आती है, फिर भी सातवें दिन की आखिरी पट्टी उतर जाने के बाद भी इस बात की आवश्यकता होती है कि कि जब तक आंख का जरूम ठीक न हो जाय, तब तक रोगी आंख से देखने का काम जहां तक बन सके वहां तक कम ही करे। इसीलिए कपड़े का हरा पर्दा उसके बाद भी आंख पर रखा जाता है ताकि किसी भी तेज प्रकाश की चकाचौंध कच्ची आंख के लिए हानिकारक न सिद्ध हो और कहीं आंख की लाली न बढ़ जाय। आंख का कच्चापन और जरूम के पूर्णतया ठीक होने में साधारणतया लगभग १॥-२ मास तो लग ही जाते हैं और तब तक रोगी के लिए यह जरूरी होता है कि वह चिकित्सक के आदेशानुसार आंख में औषधि-उपचार जारी रखे।

आपरेशन के सफल हो जाने के बाद भी कभी-कभी यह होता है कि यदि पूर्ण सावधानी से काम नहीं लिया गया तो आंख में फिर नये सिरों से खराबी आनी प्रारम्भ होती है और तब फिर उसकी चिकित्सा और भी कठिन हो जाती है। इसीलिए आंख के ऑपरेशन में बहुत अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है।

अखिल भारतीय वन-प्रेमी संघ

अखिल भारतीय वन-प्रेमी संघ के संगठन का निश्चय हुआ है जिस का संरक्षक बनना भारतीय जनतन्त्र के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने स्वीकार कर लिया है। इस संघ की कार्यपालिका प्रति वर्ष वन-महोत्सव का संगठन करेगी; समय समय पर वन-प्रेमियों के सभा-सम्मेलन करेगी; वन-सम्बन्धी साहित्य तथा बीज आदि के विनिमय द्वारा भारत तथा विदेशों की वन-संस्थाओं को इस विषय में सहयोग प्रदान करेगी; स्कूलों, कालेजों तथा जनता के लिए लोकप्रिय भाषणों एवं सिनेमा आदि के प्रदर्शनों की व्यवस्था करेगी; ग्रामीणों के द्वारा वृक्षों के आरोपण तथा इन के संरक्षण की व्यवस्था करेगी; वन-विज्ञान विषयक पुस्तकों, पुस्तिकाओं, पत्रिकाओं आदि के प्रकाशन की व्यवस्था करेगी।

नारी-स्वास्थ्य

गर्भ का वर्ण और प्रकृति

कविराज अत्रिदेव गुप्त

✽

कुछ और आर्तव के मिश्रण से गर्भ रहता है,

उनके द्वारा ही इस में पृथ्वी, जल, तेज और वायु (तथा आकाश *) का संयोग होता है तथा वे ही गर्भस्थ बच्चे के शरीर का वर्ण और प्रकृति बनाने में कारण होते हैं ।

श्याम वर्ण श्रीकृष्ण का क्यों हुआ, जब कि माता-पिता गौर वर्ण के थे ? बलराम के कहने से ग्वाल गण श्रीकृष्ण को छेड़ते हैं कि तुम कहाँ से काले हो गये जब कि माता-पिता गौर हैं ? इस प्रश्न का उत्तर न तो सूर ने ही दिया और न महर्षि व्यास ही इस विषय में कुछ कह गये । हाँ, बाहट (वाग्भट्ट) अन्धकार में पड़े हुए इस विषय को प्रकाश में लाये । कहने को लोकमें यह प्रचलित है कि श्रीकृष्ण का रङ्ग पहले गौर था परन्तु कालियदमन के समय सर्प के विष के कारण उनका शरीर श्याम हो गया । परन्तु इस कथन में सत्यता नहीं । जिस महायोगी के शरीर ने पूतना और कंस जैसे महाबली राक्षसों पर विजय प्राप्त की, उसका यह सर्प-विष क्या बिगाड़ सकता था ? फिर, राम और कृष्ण एक ही हैं और राम का भी वर्ण रामायण में श्याम ही वर्णित है ।

बाहट (वाग्भट्ट) ने जो वात अष्टांगसंग्रह में कह दी है, वही ठीक जंचती है —

* सर्वत्र व्याप्य होने के कारण आकाश को यहाँ पर कृष्णात्रेय ने नहीं गिना है ; देखिये — भूतैश्चतुर्भिः सूक्ष्म आदि श्लोक, अ० २, शा०, चरक ।

तेजोधातोरुदकाकाशधातुसम्पर्काद् गौरता, भूवायु-सम्पर्कात् कृष्णता, सर्वधातुसाम्ये श्यामता ।

— तेजधातु जल और आकाश के साथ मिलकर शरीर में गौर वर्ण लाता है ; पृथ्वी और वायु के साथ मिलकर कृष्णता लाता है ; पंचभूतों की समता होने पर श्यामता होती है ।

पंचभूतों की समता से सम-प्रकृति होती है जिसे चरक ने नीरोग और सबसे अधिक प्रशस्त कहा है । वात-पित्त-कफ प्रकृतियों के लक्षण देकर सुश्रुत ने लिखा है:—

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकं केचिदाहुः,
पवनदहनतौयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्,
शुचिरथ चिरजीवी नामसः खैः मद्भिः ॥

सु० शा०

— कुछ आचार्यों ने प्रकृतियों को भौतिक कहा है । इनमेंसे वायु (वात), अग्नि (पित्त) और जल (कफ) प्रकृति का वर्णन कर ही चुके हैं । पार्थिव और आकाशीय प्रकृति का वर्णन अब करते हैं । पृथ्वी-प्रकृति का मनुष्य स्थिर-विपुल शरीर वाला और सहनशील होता है ; आकाश-प्रकृति का मनुष्य पवित्र और दीर्घजीवी होता है । इन पञ्चभूतों के सम होने पर जो सम प्रकृति होगी, वही इष्ट है । प्रकृति सम होने पर मनुष्य शारीरिक दृष्टि से नीरोग होगा और मानसिक दृष्टि से रागद्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में अविचल रहेगा । यही भगवान् का

गीता में इष्ट है। समबुद्धि रहना मनुष्य का धर्म है और समबुद्धि वही रहेगा जिसकी प्रकृति में पञ्च भूत सम होंगे। पञ्चभूत सम रहने पर वर्ण स्वयं श्याम आयेगा। वही श्याम वर्ण समप्रकृति श्रीकृष्ण का था। बौद्ध वाहट ने इस प्रकार श्रीकृष्ण के श्यामवर्ण होने का रहस्य पा लिया। इसीलिए काश्यप संहिता में कहा है कि वेद भी इस उपवेद आयुर्वेद का आश्रय लेते हैं।

रंग का निर्माण सामान्यतः शुक्र और शोणित दोनों पर और मुख्यतः शुक्र पर निर्भर है। शुद्ध शुक्रका रंग तैल, घृत या मधु के समान होता है। शुक्र में घृतमण्ड की भाँई होने पर गर्भ का रंग गौर, तैल की भाँई होने पर कृष्ण तथा मधु की भाँई होने पर श्याम होगा। इस प्रकार गर्भ के रंग का प्रायः पूरा दारमदार पिता के ऊपर है। यह बात साधारण अनपढ़ गँवार भी भली प्रकार जानता है कि घोड़े के बछेड़े का रंग घोड़े पर निर्भर करता है, घोड़ी पर नहीं। घोड़े, गाय आदि में रंग की ही विशेष कीमत है। विशेषकर बड़ा खरीदने में रंग का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए घोड़ी को मिलाते समय भी अच्छे रंग का घोड़ा लोग चाहते हैं। कहने का सारांश यह कि रंग जितना पिता पर निर्भर करता है, उतना माता पर नहीं। यही बात कृष्णात्रेय के आधार पर वाहट ने कही है।

गर्भवती होने के बाद माता के आहार-विहार का असर गर्भवती के रंग पर पड़ता अवश्य है, पर अधिक नहीं। कारण, मनुष्य की प्रकृति तथा कर्म तो गर्भधारण के समय ही बन जाते हैं। इसीसे कहा है :

आयुः कर्म च कित्तं च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतानि च संज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

पञ्चतन्त्र ।

गर्भधारण के समय ही बच्चे का रंग और प्रकृति स्थिर हो जाती है। गर्भवती होने के बाद माता यदि दूध तथा अंगूर आदि फलों का सेवन विशेष करे, तो रङ्ग में कुछ अन्तर आ सकता है। इसीलिए विवाह संस्कार में 'गोदान' एक धार्मिक क्रिया रखी गयी है। 'गोदान' का अर्थ है कि गाय का दूध-घी खाओ; गाय के घी-दूध से शुक्र में घृतमण्ड की भाँई आयेगी और सन्तान गौरवर्ण होगी।

शारीरिक और मानसिक दृष्टि से क्रमशः त्रिदोष और त्रिगुण के रूप में प्रकृति का विचार किया गया है। त्रिदोषों की दृष्टि से प्रकृतियाँ तीन हैं—वात-प्रकृति, पित्तप्रकृति, कफप्रकृति। चरक की दृष्टि से इनको प्रकृति शब्द से कहना ठीक नहीं। अन्य आचार्य जिन पुरुषों को वातप्रकृति, पित्तप्रकृति या कफप्रकृति कहते हैं, उनको चरक के अनुसार केवल वातल, पित्तल या श्लेष्मल पुरुष कहना चाहिए। ये वातल आदि पुरुष सदा रोगी रहते हैं, अर्थात् विकृत। परन्तु लोक-व्यवहार में इन विकृतियों को भी प्रकृति कहा ही जाता है। यहाँ पर वे प्रकृति का अर्थ 'स्वभाव' लेते हैं, जो कि जन्म-जात होता है। वास्तव में प्रकृति (अविकृति) तो यह है नहीं।

इसी प्रकार मानसिक दृष्टि से सात्विक, राजस और तामस प्रकृतियाँ हैं। वाहट ने इन प्रकृतियों को बनाने वाले सत्व, रज और तम को 'महागुण' नाम दिया है। यही नाम सुश्रुत में आया है। चरक में सत्व-रज-तम के लिये 'महागुण' शब्द हमें नहीं मिलता। इनको महागुण इसलिए कहा है कि गुणों को ये पैदा करते हैं। आयुर्वेद में जो महत्त्व वात, पित्त, कफ का है, गीता में वही महत्त्व सत्व, रज, तम का है। आहार, मन, बुद्धि, कर्ता आदि

सन् १९५१]

गर्भका वर्ण और प्रकृति

५६३

की विवेचना गीता में हमें सत्व, रज, तम की दृष्टि से मिलती है। सुश्रुत और चरक में इन सत्व, रज, तम के भेद से कुछ भेद शरीरों के कहे हैं।

शुक्र-आर्तव के अतिरिक्त इन वर्ण-प्रकृति को देनेवाले प्राक्तन कर्म भी हैं, जिनसे प्रेरित हुआ आत्मा अनुकूल क्षेत्र में उतरता है। इस क्षेत्र को उत्तम बनाना आहार और सत्व (मन) के ऊपर निर्भर है। शुक्र की उत्पत्ति ही आहार से है। इस विषय में एक उल्लेखनीय बात चरक में कही है, जिसकी ओर पूज्य यादवजी महाराज ने मेरा ध्यान खींचा था वह निम्नोक्त है।

समान धातु समान धातु को बढ़ाती है ; रक्त को रक्त ; मांस को मांस ; इसी प्रकार शुक्र को शुक्र बढ़ाता है। इसी से नक्ररेत को उत्तम शुक्रवर्धक कहा है। हम देखते भी हैं—मछली जितने अण्डे देती हैं, इतने और कोई प्राणी इस संसार में नहीं देता और इसमें भी नक्रजाति से जितने अण्डे पैदा होते हैं उतने दूसरी मछली से नहीं होते। परन्तु नक्ररेत प्राप्त करना कठिन है। अतः एक सूत्र दिया है :

यत्र तु एवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवताम्

आहार-विहाराणामसान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां चाभ्यवहरणमशक्यं, विरुद्धत्वात् घृणित्वाद्, अरुचिरन्यस्माद् वा कारणान्तरात् तत्र समानगुण-भूयिष्ठानामन्यप्रकृतिनामाहार-विहाराणामभ्यवहारः श्रेयान्। तद्यथा शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगः ॥

संग्रह

इस सूत्र के आधार पर शुक्रवर्धक दूध और घी का उपयोग श्रेयस्कर है। इसी से क्षेत्रीकरण में पुरुष को कम से कम एक मास तक दूध-घी से उप-स्कृत करने को कहा है। दूध सात्विक आहार है ; ओज और मनोबल बढ़ायेगा ; साथ ही शुक्र में घृत-मण्डता पैदा करेगा।

इन शुक्र-आर्तव, प्राक्तन कर्म तथा आहार के अतिरिक्त देश-काल भी वर्ण के बनाने में कारण हैं। इसीलिए कृष्णात्रेय ने कहा है कि गर्भवती होने पर स्त्री जैसी सन्तान चाहे उसी के अनुरूप जनपदों का ध्यान करे और वहाँ के निवासियों के समान आहार-विहार रखे।

इस प्रकार वर्ण और प्रकृति के बनाने में शुक्र-आर्तव मुख्य हैं एवं गौण रूप में अन्य भी कारण रहते हैं।

१९५१ की जनगणना

१९५१ की जनगणना से हम यह जान सकेंगे कि १९४१ के बाद से हमारे देश में प्राकृतिक कारणों से कितनी वृद्धि हुई ; विभाजन के परिणामस्वरूप स्थिति में कितना परिवर्तन हुआ ; लिंग, अवस्था, प्रादेशिक एकक और आर्थिक धन्यों के अनुसार आबादी का विभाजन किस प्रकार है ; मृत्युसंख्या का अनुपात किन प्रदेशों में अधिक है और क्यों ; विभिन्न प्रदेशों में पुरुषों और स्त्रियों की संख्या के अनुपात में विषमता क्यों है, इसका क्या महत्त्व है और इस विषय में भूतकाल की प्रवृत्तियाँ वर्तमान काल में भी कहाँ तक काम कर रही हैं , इत्यादि ; अतएव इस जनगणना से हमारे आर्थिक इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हो सकेगा।

—डा० ज्ञानचन्द्र

सरदियों में लहसुन का रसायन प्रयोग

वैद्य रामेश वेदी, आयुर्वेदालङ्कार



मूहर्षि मारीच, कश्यप तथा आयुर्वेद के अन्य दिव्यदृष्टि-ऋषियों ने पौष, माघ तथा सामान्यतया सरदियों के चारों महीनों में लशुन का विशेष प्रयोग करने की कुछ विधियाँ बताई हैं। इन के अनुसार लशुन का सेवन सरदियों में अद्भुत शक्तिजनक और रसायन का काम करता है।

लशुन कल्प

आयुर्वेदिक साहित्य में यह श्रेष्ठ रसायन माना गया है। सरदी, हवा, वारिश और पाले से मारे हुए शरीर वालों के लिये टूटे हुए, टेढ़े-मेढ़े, निष्क्रिय तथा वेदनायुक्त हड्डियों वालों के लिये और वायु से पीड़ित लोगों के लिये यहाँ हम कश्यप, वाग्भट्ट शोढल आदि चिकित्सकों द्वारा प्रतिपादित लशुन कल्प का उल्लेख करते हैं। नाजुक तबीयत वालों को कराया जाने वाला यह लशुन प्रयोग पहले बात रोग से आक्रान्त उद्धव को नारद ने करवाया था ऐसी जन श्रुति है।

शीत और वसन्त ऋतु में, अत्यन्त घने बादलों से घिरी हुई वर्षा ऋतु में और आवश्यकता होने पर ग्रीष्म ऋतु में भी या सदा ही वायु और कफ के रोगी सामर्थ्य के अनुसार लहसुन का सेवन कर सकते हैं।

कश्यप का रसोन कल्प

कश्यप की सम्मति में लशुन कल्प में पूरी आयु के पके हुए सुन्दर कन्द को बिना शुद्ध किये ही छिलके उतार कर पौष अथवा माघ महीनों में प्रयोग कराना

चाहिये। उन्होंने ताजे लशुन की सब से छोटी मात्रा बत्तीस तोला बतायी है, मध्यम मात्रा अड़तालीस तोला और अधिकतम मात्रा चौंसठ तोला या अस्सी तोला है। ताजे लहसुन न मिलने पर सूखे कन्दों का प्रयोग कराना हो तो तुरियों को गिनती में सौ, साठ या पचास लिया जाता था। शरीर की अग्नि, समय और अनुकूलता को देख कर साधारणतया मात्रा का निश्चय किया जाता था। रोगी को खाने में उत्साह होता तो जब तक वह मूर्च्छित न हो जाता तब तक खिलाया जाता था।

तेजअग्निवाला, शान्त मनवाला, धैर्यवान् सुवी पुरुष, प्रचण्ड वायु से रहित कमरे में रहता हुआ पुण्य दिन में लशुन का प्रयोग करे। सरदी से बचने के लिये उस के पास हिरण या बाघ की खालों के कम्बल, कपास की रजाई और रेशमी कपड़े आवश्यकता के अनुसार काफी होने चाहिये। स्नान निर्मल वस्त्रों को अगरु की धूनी दे देनी चाहिये। कमरे की हवा को स्वच्छ रखने के लिये धूप जलती हो। सुगन्ध वाले द्रव्यों से बनाये डस्टिंग-पौडर को उस के शरीर पर मलना चाहिए। वह सदा खड़ाऊँ पहन कर रहे नंगे पैर न चले।

लशुन लाने का काम एक नौकर के जिम्मे हो और उन्हें खाने के लिये ठीक करने का दूसरे के जिम्मे। पत्तों को छोड़ दे, तुरियाँ और नाल लें। कुन्डी सोटे में रगड़ कर और खूब घी मिला कर खिलाएँ।

चिन्ता, दिन का सोना और दातुन का परित्याग कर देने वाला पुरुष भोजन पच जाने पर सुबह सुख पूर्वक उठे, ब्राह्मणों को पूजे, कल्याणकारी मंत्रों का पाठ करे, और तब बैठ कर लशुन खाये। लशुन का प्रयोग करने वाला सदा गरम पानी पीये।

अदरक, नीबू या अनारदाने के साथ लशुन की चटनी बना कर रोगी को दें। मूली को छोड़ कर हरितक वर्ग के सब पदार्थ उसे खाने को दिये जा सकते हैं।

भूने हुए लशुन में निम्नलिखित चीजों के कूटे हुए मसाले को बुरकें। दालचीनी, तेजपत्र, सोंठ, कालीमिरच, छोटी इलायची, जायफल और सब नमक। आग के पास सुख से बैठा हुआ अच्छो बनी हुई शराब का घूँट पीने के बाद लशुन खाये, फिर शराब पिये। इस तरह बीच-बीच में शराब पीता हुआ धीरे-धीरे लशुन खा कर तृप्त हो जाय। अनुपान में गरम पानी, शराब या ठण्डा पानी पिये। रोग का कारण, जठराग्नि का बल, और अनुकूल आहार-विहार को जानने वाला रोगी कोई दूसरी चीज न खाये।

उसके बाद मटर के बटन से मुँह और ओठों को गरम पानी के साथ धोकर अच्छे गुरुओं और उत्तम जठराग्नि वाला रोगी जायफल, लताकस्तूरी, लौंग, कपूर, शीतलचीनी आदि सुगन्धित मसालों से भरे पान को मुँह में रखे ; पहला रस थूक दे। दिन में नींद न भोगे। इससे श्लेष्मा बिलीन हो जाती है और बेहोशी दूर हो जाती है। मुख की दुर्गन्ध नष्ट हो कर सुगन्ध आती है।

प्यास लगने पर दीपक पदार्थों से पकाये हुये गरम पानी को पीये। अत्यन्त पैत्तिक प्रकृति का गरम तबियत वाला आदमी भी कवोष्ण पानी पी सकता है। मोथे और सोंठ से या सोंठ और सुगन्ध-

वाला से या केवल सोंठ से पकाया हुआ कवोष्ण पानी रात को पीकर आराम से सो जाय।

इन्द्रियों को वश में रखता हुआ समझदार पुरुष इसविधि से पन्द्रह दिन, महीने, दो महीने, तीन महीने या सरदियों के चार महीने तक इसे खाये।

लशुन कल्प में पथ्य

स्वभाव में रुक्ष पदाथ पित्त को प्रकुपित करते हैं इस लिये वे नहीं खाने चाहिये। अन्न थोड़ा खाना चाहिए और वह कैसा हो यह बताया जाता है :—सुगन्धित, हृदय के लिये हितकर, नमकीन व्यंजनों के साथ, जौ और गेहूँ की तवे पर पकाई अनचोपड़ी रोटियां, शाली चावलों से बनाई गरम रोटियां, मूँग और जौ के पदार्थ सत्तू की कम घी वाली नमकीन पिन्जियां, बटेर, तीतर, सफेद तीतर, चकोर, खरगोश, और दूसरे जंगली पशु तथा पक्षियों के मांस ; बेर, आंवला, अनारदाना, नमक या घी और मसालों के साथ पका कर स्वादु बनाये हुए मांस ; चांगेरी, आंवला तथा अनारदाने के साथ पकाया हुआ बथुए का शाक और छोटी मूली को भुजी।

जो पुरुष वैसे ही घी पी लेता हो उसे अन्न में घी न डालकर खाना अच्छा होता है। कम घी खाने वालों को खाद्य पदार्थों के साथ खूब घी खिलाएँ।

कुष्ठ, दमा, तमकश्वास, खांसी, प्रमेह, तिड्डी, बवासीर और गुल्म के रोगी तथा चिन्ता शील पुरुष लशुन खाने के साथ पानी न पियें। लशुन खाने के बाद इन्हें कुछ दिनों तक भारी भोजन देकर रसे (यूष) पिलाने चाहिये। जब इन्हें खूब भूख लगने लगे तो पिसे हुए लशुन, अनार का रस, मांस, घी और तेल को खूब मसाले तथा नमक के साथ पका कर गरम गरम खिलाएँ। शाली और साठी के सफेद चावलों का भोजन थोड़ा-थोड़ा दें। दही, छाछ और रसों

के साथ तीन दिन तक चावल दें। फिर सिरके और मूंग की दाल के साथ फुलका दें। वासी चीज न दें। रसे भी रोज ताजे बनायें। विरुद्धगुण, देर से हजम होने वाले शाको और दूध से बने पक्वान्तों को, सोतों को बन्द कर देने वाले अन्न, मांस और गन्ने से बनने वाले पदार्थ को न दें। हवा के झोंकों से बच कर सोने वाले ये रोगी रास्ता चलना, मैथुन, चिन्ता, शोक, व्यायाम और अहितकर पदार्थ सब कुछ छोड़ दें।

लशुन का प्रयोग करनेवाला शीतोपचारोंसे बच कर रहे; शीतोपचार से पाण्डु, शोथ आदि उसे होने का भय रहता है। शक्ति से अधिक चिकनाई या भारी अन्न का पेय लेने से ग्रहणी के विकार और कामला हो जाता है। खराब शराब, मछली और गन्दा घी-दूध खाने से बुखार, कोढ़ और क्षय रोग दबा सकता है। स्वभाव में रूखे पदार्थों को विशेषतः गरमी के मौसम में खाने से पित्त के सब रोग होने का डर रहता है, और निम्नलिखित उपद्रव भी पैदा हो सकते हैं :—शूल, दस्त, अफारा, छाती की जलन, उलटी, अरुचि, हिचकी, हैजा, साँस की नली के रोग और निद्रा-नाश। चिकित्सा से इन उपद्रवों का प्रतिकार करना चाहिये। उलटी, बद्धजमी, जलन और कफ की अधिकता के कारण तबियत भारी हो तो कुछ समय उपवास करने के बाद पथ्य भोजन का सेवन करता हुआ विरेचन, वमन तथा नस्य ले और मुख में कवल धारण करे। देह तथा रोग के बल को ध्यान में रखता हुआ तीक्ष्ण पदार्थों को त्याग दे। शरीर में पुनः पूर्ण बल आ जाने में विश्वास रखता हुआ उतावला न हो और जल्दी न करे। पथ्य भोजन पर रहते हुए उपद्रवों के शान्त हो जाने पर एक सप्ताह तक सब प्रकार का भोजन (मिक्सड डाइट) देने के बाद ढाढ़स दिलाते

हुए बलवान् लशुन-सेवी को घी में त्रिफला और जरा-सा नमक मिलाकर तीन दिन तक खिलायें। इसकी मात्रा इतनी होनी चाहिये जिससे भूख न मरे और भोजन में कमी न आये। पकाया हुआ अन्न खिलाये। शरीर में जो-जो दोष रह गये हैं वे इससे शीघ्र शान्त हो जाते हैं और उसके बाद उसे स्नेह से होने वाले विकार नहीं सताते। यदि विरेचन न दिया जाय तो पामा, फोड़े-खुजली, वहिरापन, जड़ता, अङ्गों का सो जाना ये उपद्रव तंग करते हैं। इसलिये त्रिवृत और त्रिफला को घी से चिकना कर के हलका जुलाव देना चाहिये। इसमें जरा-सा नमक मिलाकर गरम-गरम खिलाना चाहिये और ऊपर से गरम पानी पिला देना चाहिये। उपद्रवों से बचे हुए रोगी को चाहिये कि खाने के बाद गुरु, देव और अग्नि की पूजा न करे। नहा कर सुगन्धित वातावरण में—विशुद्ध हृदय से, खाने से पूर्व ही गुरु और अपने इष्टदेव की पूजा कर ले। कश्यप की बताई विधि द्वारा अमृत से उत्पन्न लशुनों की रसायन को सेवन करने से स्त्रियों की शुद्धि होती है, मुख की विरसता हटकर वह सुगन्धित होता है, शरीर कोमल बनता है, बाल बढ़ते हैं, आयु स्थिर होती है, दाँत, मसूड़े, नाखून तथा बाल स्वस्थ रहते हैं और रंग निखरता है। लशुन खाने वाला आयुष्मान् और बलवान् होता है।

शोढल और नावनीतकम् का लशुन कल्प

शुद्ध शरीर वाला, पवित्र मन वाला पुरुष एकान्त में अग्निहोत्र करने के बाद देवों और ब्राह्मणों की पूजा कर शुभ नक्षत्र में साफ-सुथरे घर में कपड़े में छाने हुए रस को पिये। रस की मात्रा निर्धारित नहीं की गई। शरीर के दोष, बल और रोग की अवस्था को देखकर बत्तीस तोले या सोलह तोले रस एक बार में पी लिया जाता था। नावनीतकम् लिखा

सन् १९५१]

सरदियों में लशुन का रसायन प्रयोग

५६७

जाने के समय भी इतने परिमाण को रोगी सहन नहीं कर सकता था, और पीते के साथ ही बेहोश हो जाता था, तब उसे चन्दन घुले हुए ठण्डे पानी के छींटे दिये जाते थे और ताड़ की डन्डीवाले पंखे से ठण्डी हवा दी जाती थी। रस में एक तिहाई शराब मिलाकर बेहोशी में ही एक घूँट और पिला देते थे। पल भर ठहर कर बचा हुआ सारा रस पिला देते थे।

निर्वल व्यक्ति अपनी शक्ति से अधिक मात्रा में सेवन करे तो जलन, दस्त, खाने-पीने में इच्छा न होना, किसी काम में मन न लगना आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं, इसलिये इसके सेवन में जल्दी नहीं करनी चाहिये और मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिये।

शोढल कहते हैं कि लशुन के रस और कल्प को एक महीना सेवन करना काफी होता है। रोगी की अवस्था को देखकर चिकित्सक स्वयं प्रयोग की अवधि को निश्चित करता है। हितकर अन्न पर रहने वाले के लिए छः महीने का प्रयोग प्रशस्त है। पन्द्रह दिन का प्रयोग हीन प्रयोग है।

कल्प करते हुए पथ्यापथ्य

रस के पच जाने पर दूध, पुराने शालि चावलों की खीर, जंगली पशु-पक्षियों के शोरवे के साथ शालि चावल या दूसरे अन्नो का भोजन और हृदय को शक्ति देने वाले रसों के साथ घी दिया जाता था। प्यास लगे तो अंगूरी शराब या किसी दूसरी बढ़िया शराब को पानी में मिलाकर पिलाते थे। मदिरा न पीने वाले को काँजी, तुषोदक, परिसिथिक या कुपूँ का ताजा सुगन्धित ठण्डा पानी पीने को दिया जाता था।

स्नेह वाले पदार्थों के साथ खाने से लशुन अधिक लाभ करता है। लशुन कल्प में इसके कल्क को घी या तेल के साथ पकाकर या ऐसे ही

खिलाया जाता है। लशुन का प्रयोग करने वाले के लिये शराब, मांस तथा खट्टे रस वाले पदार्थों का उपयोग करना हितकर होता है और इनका सेवन न करने से हानि हो सकती है। अनेक प्रकार की शराबों और मांसों का आहार करने वालों को और जौ, गेहूँ तथा खूब घी खाने वालों को सरदियों में चैत्र और वैशाख महीनों में लशुन का प्रयोग करना चाहिये।

अमृतकणों से उत्पन्न लशुन को सरदियों में जो नियम से विधिपूर्वक खा लेता है वह निरोग, दृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न-वदन, सोने के समान कान्तियुक्त और सुन्दर गोरे रंग का होता है। स्त्रियों के साथ रहता हुआ भी वह सौ साल तक जीता रहता है और बुढ़ापा उसके पास नहीं आता।

भावमिश्र का लशुन प्रयोग

अन्न तथा मांस से बने पदार्थों के साथ गेहूँ से बनाये हुए पदार्थों अथवा जौ के सत्तुओं के साथ लवा, तीतर, संवर्तक, हिरण, सुर्गा, सूअर, बटेर आदि के अच्छी तरह पकाये मांसों के साथ मेदे की अग्नि और बल के अनुसार भावमिश्र सरदियों में लशुन का सेवन कराते थे। दूध, तेल, घी, मांस, शाली और साठी चावल के भात के साथ सात दिन तक लशुन खाया जाय तो वातजन्य रोग, विषम ज्वर, शूल, वायुगोला, हाजमे की कमजोरी, बहुत बढ़ी हुई तिल्ली, हाथ तथा फ्सलियों की पीड़ा, सिर दर्द तथा शुक्र के दोष दूर हो जाते हैं। भावमिश्र कहते हैं कि लशुन की मात्रा प्रतिदिन चार तोला बढ़ा लेनी चाहिये। इससे सातवें दिन की मात्रा अट्ठाईस तोला हो जायगी।

१९४४ में मुझे एक आश्रम में महीना भर रहने का संयोग मिला, जहाँ कुछ लोग ऐसे थे जिन्होंने (शेष पृष्ठ ५९८ पर)

बकायन, स्पेथोडिया और खजूर

श्री भानु देसाई



बकायन

भारत में 'नीम' नाम से प्रसिद्ध दो-तीन वृक्षों में बकायन सबसे सुन्दर है, ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। संस्कृत वाङ्मय में, विशेषतः आयुर्वेदीय ग्रन्थों में, आया 'महानिम्ब' बकायन ही है, यह अब सिद्ध हो गया है। यों बकायन को देखने पर इसे 'महा' विशेषण देने योग्य कोई अपूर्वता मालूम नहीं होती। अलबत्ता, हमारी ओर गुजरात में 'लिम्बाडो' नामसे प्रसिद्ध एक वृक्ष होता है, जिसकी ऊँचाई नीमसे सवाई-ड्योढ़ी, पत्र भी नीम-जैसे, परन्तु उससे कहीं बड़े, फल भी तीन-चार गुणा बड़े और अतितिक्त होते हैं। इसकी घटा विशेष नहीं होती। इसका उपयोग ग्रामीण और वनवासी

(५९७ का शेषांश)

अपना बौद्धिक विकास तथा मानसिक उन्नति तो बहुत की थी परन्तु शरीर की ओर से वे उदासीन वृत्ति वाले प्रतीत होते थे। एक सज्जन ने मुझे बताया कि वे बीस तोला तक लशुन रोज खाते रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके पेशाब-के साथ खून आने लगा। तब कहीं उनसे लहसुन खाना छुड़वाया गया। इस उदाहरण से पता चलता है कि आजकल कश्यप, शोढल, भावमिश्र आदि के समय की मात्रा में लशुन का खाना शक्य नहीं। बीस तोले के स्थान पर अब बीस माशों का ग्रहण करें तो उपयुक्त प्रतीत होता है।

लोग ऊँचर में ही करते हैं। सम्भव है, यह आयुर्वेद का महानिम्ब हो।

बकायन का उत्पत्तिस्थान बहुत करके बलोचिस्तान है। कश्मीर में, मैलम के मुख के आसपास तथा हिमालय की अधित्यका (उच्च प्रदेश) पर भी बकायन मिलता है। अब तो यह भारत में सर्वत्र प्रसृत हो गया है। इससे स्वभावतः अनुमान होता है कि इसका मूल स्थान भारत ही है।

बकायन का पेड़ बड़ा सुहावना होता है। इसकी ऊँचाई मध्यम तथा तने की छाल हल्के नसवारी रङ्ग की और तरेड़ोंवाली होती है। इसके पत्ते बड़े होते हैं, जिनमें दो से तीन उपपत्रों के गुग्म लगे होते हैं। मध्यवर्ती उपपत्र मध्यस्थ सिरा से निकला होता है। उपपत्रों की जोड़ी अनियमित न निकल कर आमने-सामने डंडी से लगी होती है।

बकायन के फूल श्वेत और फीके जामुनी रङ्गके अति सुन्दर, छोटे-छोटे, सुगन्धित और डंडीदार गुच्छों के रूप में निकलते हैं। ये गुच्छ बहुधा पत्तों की डण्डी के नीचे से निकलते हैं। फूलों की डंडी (पुष्प-वृन्त) छोटी होने के कारण प्रायः ये गुच्छे पत्तों के समूह से थोड़े बहुत ढके रहते हैं, जिससे इसकी रमणीयता बढ़ जाती है।

स्वभावतः ही बकायन के फल भी गुच्छों में ही लगते हैं। फल गोल और हरे रङ्ग के बेर-सरीखे होते हैं। ये लटकते हुए फल पकने पर पीले हो जाते हैं। शिशिर ऋतु में जब पत्ते झड़ने लगते हैं, छोटी-

सन् १९५१]

बकायन, स्पेथोडिया और खजूर

१६६

छोटी डंडियों से लटकनेवाले इन फलों का दृश्य रमणीय होता है।

बकायन के दो-तीन भेद हैं। इनमें जिनमें सबसे जल्दी फूल आते हैं वे वृक्ष पाँच-छः फुट से अधिक ऊँचे नहीं होते। दूसरे प्रकार का बकायन शाभास्पद तथा आङ्गन में लगाने योग्य होता है। उसकी घटा बहुत सुन्दर होती है। तना भी सीधा निकलता है और शाखायें भी नियमित फैलती हैं। तीसरे प्रकार के बकायन में शाखाओं का विस्तार एक-सरीखा न होने से वह आँखों को जँचता नहीं। अमरीका में जो प्रथम कोटिका बकायन पाया जाता है उसकी शाखाएँ एक-समान फैलती हैं। पत्तों के लटकने का प्रकार भी लुभावना होता है। उस देश में इसे 'टेक्स का छत्र-वृक्ष' कहते हैं।

बकायन में फरवरी या मार्च महीने के आस-पास फूल आने लगते हैं। फूल निकलने के दिनों में पेड़ पर पत्ते थोड़े होते हैं। परन्तु कुछ ही काल में कड़ुए नीम से मिलते-जुलते पत्ते फूटकर सारा पेड़ फूलों और पत्तों से भर जाता है। कई पेड़ों में दिसम्बर में भी फूल आते हैं। नये पत्ते भी अक्तूबर में निकल आते हैं। बकायन में जब फूल लग जाते हैं तो रात को वातावरण इनके सौरभ से महक उठता है।

बकायन का मुख्य उपयोगी अङ्ग इसके फल हैं। निमोरियों (नीमकी गिरियों) के समान इनका आभ्यन्तर उपयोग अर्शस के लिए होता है। फूलों की माला बनाकर लोग पहनते हैं। ये मालाएँ बाजार में कभी-कभी बिकती भी हैं। अमेरिका में पत्ते और फल जन्तु दूर करने के लिए काम में लाये जाते हैं।

बकायन की लकड़ी बहुत नरम होती है। तथापि इसके अन्दर सुन्दर रेखाएँ होने से फर्नीचर बनाने में प्रयुक्त होती है।

वैद्यक में बकायन के गुण-धर्म कड़ुए नीम जैसे ही बताये हैं। यह कुमिन्न, त्वचा के रोगों में हितकर तथा अमुक परिस्थिति में जन्तुनाशक होता है। रक्तपित्त एवं कण्ठमाला के कारण विकृत हुई त्वचा के लिए बीज या पत्तों का रस उपयोगी है। मन्दाग्नि पर इसके मूल की त्वचा का क्वाथ देते हैं। शोथल ने इसके मूल की त्वचा का कल्क गृध्रसी पर अत्युपयोगी कहा है। कहते हैं, आमवात पर इसके फल एवं अपतन्त्रक और शिरोवेदना में इसके पत्ते गुणकारी हैं। कइयाँ का कहना है कि इसकी त्वचा बल्य है।

इस प्रकार बकायन उद्यान-कला (बागवानी) के रसिकों के लिए अति सुन्दर और जनता के लिए अति उपयोगी वृक्ष है। इसकी वृद्धि बीजों से होती है। हमारे देश की सर्व प्रकार की भूमि तथा सर्व प्रकार के जलवायु में यह बहुत ही सरलता और शीघ्रता से उगता और बढ़ता है। नयनाभिराम तथा अल्पकाल में बढ़कर बड़े होनेवाले वृक्षों में बकायन एक है।

स्पेथोडिया

दक्षिण अमेरिका के कई सुन्दर वृक्षों ने भारत आकर इसे अपनी भूमि बना लिया है। अफ्रीका के भी कुछ वृक्ष, वहाँ को तथा भारत की जलवायु के अंशतः समान होने के कारण यहाँ आकर अच्छो तरह जम गये हैं। ऐसे आगन्तुक वृक्षों में स्पेथोडिया का भी समावेश है।

अपने बड़े, गहरे नारंगी किंवा सिन्दूरिया रंग के, घण्टी की आकृति के एवं सुदूर से भी आँखों को

आकृष्ट करने वाले पुष्पों तथा उगने के वेग के कारण नगरों में और कई स्थानों में धनपतियों के उद्यानों में स्पेथोडिया ने अपना स्थान बना लिया है। यह वेग से बढ़नेवाला होने पर भी इस की आयु बहुत होती है।

स्पेथोडिया का काण्ड भी खूब विस्तृत होकर बढ़ता है। इसकी त्वचा धूसर-वर्ण होती है। शाखाओं का विस्तार लम्बाई में अधिक नहीं होता; अतः वृक्ष की घटा बहुत नहीं होती। इस कारण दूरसे यह सुकुमार देख पड़ता है।

स्पेथोडिया के पत्ते भी बड़े होते हैं। उनमें दोनों ओर उपपत्रों की पंक्ति होती है। उपपत्र बहुत पास-पास नहीं होते, किन्तु मध्यवर्ती उण्डीपर पृथक्-पृथक् लगे होते हैं। पत्तों के सिरेपर मध्य में भी एक उपपत्र होता है। उपपत्र जब तरुण होते हैं तब उनके नीचेके पृष्ठपर रोमावली होती है।

स्पेथोडिया के फूलों की कलियाँ कुछ चपटी तथा गहरे मटियाले रंग की होती हैं। इनकी आकृति के कारण ग्रीक शब्द 'स्पेथ' से वृक्ष का नाम भी स्पेथोडिया रखा गया है। वृक्ष विदेशी होने के कारण इसका देशी नाम नहीं है। इसे फूलों के रंग किंवा आकृतिको दृष्टिगत रखते हुए 'सिन्दूर-घण्टिका' अथवा 'घण्टमाल' नाम दिया जा सकता है। शीत-काल में, विशेषतः जनवरी से फरवरी के अन्त तक, स्पेथोडिया अपने फूलों के कारण उद्भासित हो उठता है। इसमें पत्ते न हों तथा यह ऊँचा हो तो अति दूरसे देखने पर यही भ्रान्ति होना संभव है कि कदाचित् यह ढाक है। कारण, प्रकाश और छाया के मिश्रण में फूलों का रंग दूरसे टेसूसे बहुत मेल खाता है। स्पेथोडिया और ढाक में यों कोई साम्य नहीं। दोनों के वर्ग भी भिन्न हैं।

स्पेथोडिया का फूल पाससे देखें तो उसमें चार

बड़े, मुड़े हुए पुंकेसर दिखाई देते हैं। पंखड़ियाँ पृथक् न होकर परस्पर जुड़ी होती हैं। उनके जुड़े से बनी हुई वणिटियों की किनारी झालरवाली होती है। दूरसे फूल एक रंग के दिखाई देते हैं; परन्तु उनमें अन्य रंगों की भी छाया होती है। बाहर से फूल नारंगी, गहरे पीले अथवा रक्तवर्ण होते हैं तथा अन्दर के भागमें उनमें पोली पट्टियाँ और बीच में ललाई लिये रंग होता है।

स्पेथोडिया के फूलों का देखाव जितना रम्य होता है वैसी उनमें गन्ध नहीं होती। कड़ियों को तो इसी कारण इनके प्रति अनास्था भी होगी। कलियों को दबाने से उनमें से पानी की धार छूटती है। इस कारण ये बच्चों के विनोद का भी उत्तम साधन होती हैं।

इस वृक्षमें एक से सवा फुट लम्बी, एकाध इंच मोटा, लकड़ी के रंग की तथा कठिन झालरवाली फलियाँ लगती हैं। जून या जुलाई में वे पकती हैं तथा अन्दर से हवा में उड़ने वाले बीज निकल कर प्रसृत होते हैं।

स्पेथोडिया की लकड़ी सफेद रङ्ग की और बहुत मृदु होती है। बर्दईगीरी में इसका पुष्कल उपयोग होता है। अफ्रीका में लुहारों की धौंकनी बनाने में काम आने वाली लकड़ी स्पेथोडिया की ही होती है। भारत में अभी इसका प्रसार इतना नहीं हुआ है कि इसका उपयोग धौंकनी बनाने में किया जा सके।

अफ्रीका के जंगली लोग स्पेथोडिया के फूलोंको उबालकर एक प्रकारका रस निकालते हैं। इस रसको शिकार में काम आने वाले तीरोंपर लगाते हैं। शिकार को विष देने के काम में भी यह रस आता है।

सन् १९५१ ।

वकायन, स्पेथोडिया और खजूर

६०१

इस सुशोभित वृक्षका प्रसार भारत में अबतक जितना चाहिये उतना नहीं हो पाया है। सच पूछो तो, उद्यानों में, मार्गों पर तथा क्रीडाङ्गनों में इस वृक्षको खूब उगाना चाहिये। इसे बीजद्वारा लगाया जाय तो वृक्ष उगाने में समय अधिक लगता है। परन्तु चौमासे में इस की साधारण गुट्टाई की शाखा काटकर गाड़ दें, अथवा इसके मूल से फूटने वाले अंकुर निकालकर लगा दें तो नये वृक्ष तय्यार किये जा सकते हैं। इसे गढ़ा करके स्थायी जगह पर ही गाड़ दिया जाय तो तुरन्त जड़ पकड़ लेता है। हमारी ओर गुजरात और सौराष्ट्र का जलवायु इसके लिए बहुत अनुकूल देखा गया है। भारत के अन्य प्रान्तों में भी यह अच्छी तरह लगाया जा सकता है।

खजूर

खजूर कब और कहाँ से इस देश में आया, अथवा यह आदिकाल से भारत का ही वृक्ष है इस विषय के निर्णय का कोई प्रमाण नहीं मिलता। तथापि, आयुर्वेदीय ग्रन्थों में हुए इसके प्रचुर उल्लेख, जिनमें इसे तथा इसके फलों को विट् खजूर, खजूर आदि नाम दिये गये हैं, इस बात के अनुमापक हैं कि खजूर के वृक्ष, फल एवं उसकी अहारौषध-विषयक उपयोगिता का ज्ञान प्राचीन काल से ही इस देश के लोगों को था।

भारत के सिवाय खजूर के वृक्ष उत्तर अफ्रीका, वेस्ट इंडीज, मोरक्को, मिस्र, मेसोपोटामिया, पेलो-स्टाइन, ईरान, अरबस्तान और अमेरिका में कैली-फोर्निया तथा एरीजाना में भी बड़ी संख्या में होते हैं।

खजूर का वृक्ष इतना प्रसिद्ध है तथा इतनी सुगन्ध से उगता है कि इसके लिये कोई विशेष सूचनाएँ देने की आवश्यकता नहीं। तथापि इस वृक्षसे सर्वथा अपरिचित को इसकी कुछ विशिष्टताएँ बताना उचित है।

जहाँ वृष्टि न्यून हो, भूमि सरस तथा उर्वर न हो, वायुमण्डल सदा उष्ण रहता हो, संक्षेप में जिस भूमि में और कोई वृक्ष उगाने की कोई संभावना न हो, वहाँ भी खजूर का ऊषड़खाबड़ वृक्ष अवश्य देखा जा सकता है। ऐसे दृढकाय और उपयोगी वृक्ष की अच्छी जातियाँ उगाकर उनके मधुर फलों का सेवन करने के स्थान पर उससे प्राप्त होने वाले मादक पेय (वारुणी, ताड़ी) का ही उपयोग हमारे यहाँ अब तक होता रहा है, यह शोचनीय है। भारत में परदेश से अच्छी खजूरों का आयात हो तथा वन्य खजूर के स्थान पर पिण्डखजूर और लुहारों के उत्पादन को उत्तेजन दिया जाय तो हाल में लुहारों की जो तंगी देखी जाती है उसका कुछ निवारण हो। साथ ही अंशतः भोजन की तंगी की समस्या का भी समाधान हो।

भारत में खारी, जंगली एवं खाली (परती) भूमि का तोड़ा नहीं है। खजूर की अच्छी जातियाँ भी सर्वथैव न हों सो भी नहीं। ऐसी परती तथा अन्य फल उगाने के काम में न आ सके ऐसी सम्पूर्ण भूमि का उपयोग खजूर उगाने में हो सकता है। असहयोग के दिनों में ताड़ी का उपयोग अटकाने के प्रयोजन से 'मूलं नास्ति कुतः शास्त्रा' न्याय से हजारों खजूरों काट गिरायी गयी थी। ताड़ी न पीने देनी थी तो नीरा पीने अथवा खजूर के रस का गुड़ बनाने के काम को प्रोत्साहन देना उचित था। सो न करके खजूरों के ही समूल नाश में अर्थशास्त्र के किस नियम का अनुसरण किया गया यह उस काल समझा न जा सका था।

१—या तालखजूर रसैरासुता सा हि वारुणी—शार्ङ्ग-धर । संधान न किये रस का 'नीरा' नाम प्रसिद्ध है।

२—गुजराती में खलेली।

खजूर यों कैसी भी भूमिमें उग सकता है, परन्तु इसकी अच्छी जातियाँ लाकर उर्वर और पानीवाली भूमि में बोया जाय एवं अन्य फल-वृक्षों के समान इसे भी यथेष्ट जल और खाद पहुँचाई जाय तो इसकी सरस और प्रभूत फल देने की शक्ति प्रकट होती है, यह परीक्षणों से सिद्ध हुआ है।

खजूर के वृक्षों का जिन्हें परिचय है वे जानते हैं कि ताड़ी के लिये छेदनेवालों के हाथ से इन्हें बचाया जाय तो ये चालीस से पचास फुट ऊँचे जाते हैं। ताड़ी या नीरा के लिये इसे बार-बार छेदा जाय तो वृक्ष टेढ़ा-मेढ़ा, वेडौल और ठिगना रह जाता है।

सामान्यतः खजूर के शाखाएँ नहीं होतीं। परन्तु लेखक ने कलकत्ता में अनेक शाखाओं वाला एक खजूर का वृक्ष देखा है। कुरुक्षेत्र के पास एक बारह शाखाओं का खजूर था, जिसे देखने दूर-दूर से लोग आते थे। परन्तु यह अपवाद ही है। खजूर के बड़े-बड़े पत्ते तथा उपपर्ण वृक्ष के ठेठ शिखर पर ही लगते हैं। उपपर्णों की अणी पर तीक्ष्ण काँटे तो किसीने न देखे होंगे? पत्रों के मूल भाग की ओर जो उपपर्ण होते हैं वे दृढ और कण्टकमय होते हैं।

खजूर में नर तथा मादा पुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर लगते हैं। अच्छे फल उत्पन्न करने हों तो नर-पुष्प के झुण्डोंवाला दण्ड काटकर मादा पुष्पोंवाले वृक्ष पर लटकाया जाता है। मैसोपोटामिया के कृषक नर पुष्पों को मादा पुष्पों पर ले जाकर उन्हें झाड़ते हैं, जिससे उनके रजःकण मादा पुष्पों पर बिखर जाते हैं। कई स्थानों पर नर पुष्पों के पुंकेसर काचकी नलियों अथवा शीशियों में भर कर जहाँ-जहाँ मादा पुष्पों के दण्ड खुले दिखाई दें वहाँ-वहाँ उन्हें पतली कूची या ब्रश से छिड़कते हैं। सभी मादा पुष्पों के दण्ड एक साथ नहीं खुलते। अतः मादा खजूर के वृक्षों का प्रतिदिन निरीक्षण करते रह कर

रजःकण छिड़कते रहते हैं। इस क्रिया के पाँच मास बाद परिपक्व और उतारने योग्य खजूर तैयार हो जाती हैं।

नर पुष्प श्वेत वर्ण के, गुच्छमय और छोटे-छोटे वृन्त पर लगे होते हैं। इनमें सुगन्ध भी होती है। नारी पुष्प लम्बे वृन्त पर तथा गुच्छों में विविक्त (पृथक्-पृथक्) होते हैं। खजूर पकती तो पीली या गहरे मटियाले रङ्ग की और चमकदार होती है। चमकीली और मस्तूण (चिकनी) छाल के नीचे मीठा गूदा और एक गुठली होती है। सितम्बर-अक्तूबर में खजूर के फूल आने लगते हैं।

फूलों की इस अद्भुत व्यवस्था के कारण जब तक फूल आ न जायं तबतक खजूर मादा है या नहीं, यह मालूम नहीं होता। जो लोग खजूर की उत्पत्ति बीज लगाकर करते हैं उनके लिये यह अड़चन कठिनाई पैदा करनेवाली है। कारण, यह पहले से जानना सम्भव नहीं होता कि कितने वृक्ष नर होंगे और कितने मादा?

कुछ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड में क्यू नाम के उद्यान में परीक्षणों द्वारा जाना गया था कि, जो वृक्ष देखने में बलवान् हो तथा जिसके पत्ते अधिक सीधे मालूम हों वह नर होता है। इसके विवाय ये वृक्ष मादा वृक्षों की अपेक्षया अधिक वेग से उगते हैं। अतः जिस नर्सरी में बीज से पौधे तैयार किये गए हों वहाँ से खजूर के पौधे खरीदने हों तो इन चिन्हों से परीक्षा कर एक या दो प्रतिशत से अधिक नर वृक्ष न लेने चाहिये।

बीजों से तैयार हुए वृक्षों के फल बहुत देर से आते हैं। इसलिए जिन्हें थोड़े पर अच्छे खजूर के वृक्षों की आवश्यकता हो उन्हें खजूर के तने के पास से निकले अंकुर ही लेकर उगाने चाहिये। इन अंकुरों से तैयार हुए वृक्षों में पाँच वर्ष में ही फल लगने लगते हैं और दसक वर्ष में उनकी सम्पूर्ण

सन् १९५१]

वकायन, स्पेथोडिया और खजूर

६०३

वृद्धि होकर फल अच्छे और अधिक प्रमाण में आते जाते हैं।

खजूर की कई जातियाँ हैं। इनमें मैसोपोटामिया की 'हलवी'-'बधरवी' मिसर की 'एमरी' उत्तर अफ्रीका की 'नाफिलात' और ईरान की 'जहीदी' मुख्य हैं। इन सब से छुहारा और खजूर (पिण्ड-खजूर) उत्पन्न होती हैं। शेष हलकी जातियों में मिसर की 'सईदी' तथा भारत की जंगली खजूर के फल पकने पर ताजे ही खाये जा सकते हैं।

आयुर्वेद में 'खजूरत्रितय' नाम से खजूर के तीन भेद कहे गये हैं। १—प्रसिद्ध 'देशी खजूर' जो पकने पर ताजी ही खायी जाती है। इसके 'भूमिखजूर' आदि नाम हैं। २—पिण्ड खजूर खजूर नाम से पंसारियों के यहाँ मिलती है। चिपकनी होने से कई खजूरें मिलकर एक पिण्ड बनता है, जिससे इस खजूर को यह नाम दिया है। ३—छुहारा। पिण्ड खजूर तथा छुहारा पश्चिम देशों से भारत में आती है, ऐसा प्राचीनों ने उल्लेख किया है। तीनों खजूरों के गुण समान कहे हैं। देशी खजूर शेष दो से अल्प गुण वाला होती है। पिण्डखजूर का एक भेद सुलेमानो खजूर है। देशी खजूर कभी-कभी एकदम काले फलोंवाली भी देखी जाती है। ये फल मीठे विशेष होते हैं।

खजूर के रसका गुड़ बनाया जाता है। गुड़ बनाने की विधि सरल है। गन्ने के रस के समान ही भट्ठीपर रख, उबाल कर गुड़ बनाया जाता है। इन दिनों गृह-उद्योग के रूप में इस काम को कहीं-कहीं उत्तेजन दिया जा रहा है। ताजे रस (नीरा) का उपयोग पीने के रूप में किया जाता है। मुंबई राज्य में मद्य-प्रतिबन्धक कानून अमलमें आनेपर सरकार की ओर से नीरा केन्द्र खोले गए हैं। निषण्डुओं में नीरा को मढ़कर, पित्तकर, वातश्लेष्महर, रुच्य, दीपन, बल्य और शुक्ल कहा है।

खजूर जिन देशों में होती है वहाँ इसका आहार के रूप में पुष्कल उपयोग होता है। पिण्डखजूर तथा छुहारा दोनों उत्तम बल्य और वाजीकर के रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रायः घी में कुछ दिन रख-

कर खजूर के सेवन की पद्धति सुप्रचलित है। छुहारे में अन्य बल्य द्रव्य डालकर खाने का प्रचार है। सतत ज्वर में एक व्यक्ति ज्वर आने के एक घण्टा पूर्व छुहारे की तीन-चार गुठलियाँ सुपारी के समान काटकर खिलाता था। इससे या तो उस दिन ज्वर पूर्वापेक्षया तीव्र आता और फिर सदा के लिए चला जाता, अथवा उसी दिन से ज्वर टूट जाता था। खजूर के कांटों (पत्तों के मूल में लगे) की भरम १ से १॥ माषा, बच्चों में $\frac{1}{2}$ माषा की मात्रा में मण्डूकपर्णी के स्वरस के अनुपान से सरक्त या रक्तहीन प्रवाहिका में दी जाती है। यह गुप्त प्रयोग है और आजमाने योग्य है। मण्डूकपर्णी स्वरस के दो तोले की मात्रा में देशी खांड के साथ देना भी गुणकारी है। उदर रोगों में उष्ण और रेचक होने से खजूर का सेवन कराया जाता है।

अन्य प्रकार से भी खजूर का उपयोग होता है। इसके पत्ते भोंपड़ी छाने के काम आते हैं। पत्तों से चटाई, आसन, टोकरीयाँ तथा पंखे भी बनाये जाते हैं। चतुर शिल्पी इनसे रंगीन टोपी एवं विविध खिलौने बनाते हैं। इनकी रस्सी भी बटी जाती है। खजूर के तने खेत आदि में पानी देने की नाली बनाने के काम आते हैं। गरीब लोग अपने भोंपड़ों थम्भे आदि बनाने में भी इनका उपयोग करते हैं।

भारत में अलम आयास से होनेवाले खिरनी, जामुन, देशी आम, इमली, आमला, ककरोँदा, बेर आदि फलवृक्षों में खजूर की भी गणना है।

१—इस लेखमाला में पत्र शब्द उद्भिद-विद्या के अनुसार व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नीम, खजूर, श्योनाक आदि वृक्षों के जिस भाग को एक-एक पत्ता समझा जाता है, वह वस्तुतः पत्र का एक भाग है। खजूर की तने से निकली समूचा शाखा ही एक पत्ता होती है। यही स्थिति नीम आदि में भी समझनी चाहिये।

२—मण्डूकपर्णी और ब्राह्मी के पत्र आकृति में समान होते हैं। दोनों की परीक्षा यह है कि, मण्डूकपर्णी में एक मूल से एक पत्र निकलता है, जब कि ब्राह्मी में एक मूल से अनेक पत्र फूटते हैं।

हृदय और रुधिर-प्रवाह

डा० रघुवीरशरण एम० ए०, पी० एच० डी० (लंदन)

❀

देखना यह है कि हृदय वास्तव में है क्या, इसके सम्बन्ध में जो कुछ सुनते हैं वह कहां तक सत्य है। इसे जानने के लिए हृदय का वैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है। मर्ग-स्थान की दृष्टि से मस्तिष्क के उपरान्त हृदय का ही स्थान है। जिस प्रकार मस्तिष्क को खोपड़ी में सुरक्षित रूप से रखा गया है उसी प्रकार वक्षःस्थलके सुदृढ़ ढाँचे के भीतर हृदय सुरक्षित है। मनुष्य की छाती में बाईं ओर हृदय का स्थान है।

यदि किसी प्राणी का हृदय उसकी मृत्यु होते ही तुरन्त निकाल लिया जाय तो हम देखेंगे कि वह मृत्यु के पश्चात् भी कुछ देर तक धड़कता रहता है। यदि हम अब इसकी नलियों के मार्ग से पोषक द्रव इसमें पहुंचा दें तो पर्याप्त समय तक इसका धड़कना चालू रह सकता है और हम उतनी ही सुविधा से इसका अध्ययन कर सकते हैं जितना कि किसी साधारण यान्त्रिक कल-पुर्जे का। हृदय दो भागों में विभक्त है—दक्षिण और वाम। हृदय के बीच में ऊपर से नीचे तक एक पट्टी के द्वारा ये दोनों भाग पृथक् किये गए हैं। इन दो भागों में भी प्रत्येक के दो-दो भाग हैं; ऊपर वालों को हृदयालिन्द और नीचे वालों को हृद्वेश्म कहते हैं। हृदयालिन्द पतली भित्तिवाले पैशिक वेश्म होते हैं किन्तु हृद्वेश्म की भित्तियां मोटी और पेशियां सुदृढ़ होती हैं। दाहिने हृदयालिन्द में दो बड़े-बड़े द्वार हैं जो बड़ी महानीला और छोटी महानीला के नाम से प्रसिद्ध

हैं। इनके साथ ही एक छोटा द्वार भी है जिसे बलयकोटर कहते हैं।

यह प्रायः सभी जानते हैं कि हृदय का मुख्य कार्य रुधिर को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुंचाना है। यह शरीर का उदंचन-केन्द्र है। यहीं से केशाल और केशिकाओं के अन्तिम छोर तक समस्त शरीर में रुधिर भेजा जाता है और हृदय के द्वारा ही रुधिर का अजस्र प्रवाह प्राणी के जन्म से लेकर मृत्यु तक चालू रहता है।

नीला के मार्ग से पहले रुधिर हृदयालिन्दों में आता है और वहां से हृद्वेश्मों में चला जाता है। हृद्वेश्म उसे फिर सारे शरीर में भेजते हैं। हृदयालिन्द से जो रुधिर हृद्वेश्म में जाता है वह त्रिदली कपाट में से होकर जाता है। यह कपाट रुधिर को पीछे नहीं लौटने देता। इसमें पतली फिल्ली के तीन टुकड़े होते हैं; कपाट जब बन्द होता है तब इन तीनों टुकड़ों के किनारे एक दूसरे के साथ ठीक ठीक मिल जाते हैं। इनके जोड़ इतने सही बैठते हैं कि उनमें कहीं से भी एक बूंद जल तक नहीं रिस सकता। इन टुकड़ों को दल कहते हैं। प्रत्येक दल छाते के समान होता है और इसका उन्नतोदर तल ऊपर की ओर होता है जिससे रुधिर इस पर से भली भाँति बह सके। किन्तु हृद्वेश्म की ओर से नतोदर होने के कारण दल रुधिर के दबाव से बंद हो जाता है। कपाट के खुलने व बन्द होने की क्रिया स्वतः होती है। इस पर किसी का नियन्त्रण

सन् १९५१]

हृदय और रुधिर-प्रवाह

६०५

नहीं है। पूर्ण रूप से वेश्मों के निपीड़ की विभिन्नता पर निर्भर है। इस समूची क्रिया का क्रम निम्नोक्त प्रकार से है।

नीला के मार्ग से रुधिर हृदयालिन्द में आता है। रुधिर के आने से अलिन्द पहले फैलता है और फिर संकुचित होने लगता है। इस संकोचन से अलिन्द में हृद्वेश्म की अपेक्षा निपीड़ इतना अधिक हो जाता है कि उससे कपाट खुल जाता है और हृदयालिन्द का रुधिर हृद्वेश्म में चला जाता है। अब हृद्वेश्म में संकोचन होता है। इस संकोचन से हृद्वेश्म में हृदयालिन्द की अपेक्षा निपीड़ अधिक हो जाता है जिसके कारण कपाट बन्द हो जाता है और रुधिर हृदयालिन्द में लौट नहीं सकता।

दाहिने हृदयालिन्द के संकोचन से रुधिर दाहिने हृद्वेश्म में जाता है। हृद्वेश्म संकुचित होकर दूसरा कपाट खोल देता है और रुधिर को क्लोम-रोहिणी के द्वारा फेफड़ों में भेज देता है। क्लोम-रोहिणी एक नाड़ी है जो हृद्वेश्म से फेफड़ों तक गई है। वहाँ पहुँच कर यह अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो जाती है। ये शाखाएँ आगे-आगे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती हैं एवं केशाल और केशिकाओं के रूप में फेफड़ों के असंख्य वायु-स्यूनों तक जा पहुँचती हैं और उनकी भित्तियों में केशिकाओं का एक जाल सा फैल जाता है। ये वायु-स्यून शुद्ध वायु से भरे रहते हैं क्योंकि केशाल रोहिणी के समान ही सूक्ष्म क्लोम-नाल की एक शाखा प्रत्येक स्यून में आती है। जब हम श्वास अन्दर खींचते हैं तो शुद्ध वायु इसी मार्ग से स्यून में जाती है, जहाँ वह रुधिर को आत्मसात् कर उसकी प्रांगजारेय या अशुद्धियाँ स्वयं ले लेती है और जब हम सांस बाहर फेकते हैं तो फेफड़ों के सिकुड़ने से

स्यून भी सिकुड़ते हैं और प्रांगजारेय या अशुद्ध वायु इसी मार्ग से बाहर निकल जाती है। यही कारण है कि सांस लेने से बन्द कमरे की हवा अशुद्ध हो जाती है। इस प्रकार हृदय के दाहिने वेश्म से रुधिर क्लोम रोहिणी के द्वारा फेफड़ों के इन असंख्य वायु-स्यूनों में पहुँचता है जहाँ वह शुद्ध होकर क्लोम-नीला नाड़ी के द्वारा पुनः हृदय में चला जाता है। इस बार रुधिर बाएँ हृदयालिन्द में जाता है और दाहिने हृदयालिन्द के समान ही यहाँ भी क्रिया होने पर वह बाएँ हृद्वेश्म में पहुँचता है। इस हृद्वेश्म की भित्तियाँ दक्षिण हृद्वेश्म से कई गुना अधिक मोटी होती हैं क्योंकि इस वेश्म का कार्य दाहिने हृद्वेश्म से अधिक कठिन है। दाहिना हृद्वेश्म तो रुधिर को हृदय से फेफड़ों तक ही भेजता है किन्तु बाएँ हृद्वेश्म को पूरे शरीर में रुधिर भेजना पड़ता है। इसलिए कार्य के अनुरूप ही उसकी भित्तियाँ अधिक पुष्ट और सुदृढ़ होती हैं।

बाएँ हृद्वेश्म में से निपीड़ के कारण रुधिर महारोहिणी में जाता है। यह बड़ी और प्रमुख रोहिणी है। हृदय से सारे शरीर में रुधिर इसी के द्वारा पहुँचता है।

हृदय के भीतर होने वाली जिस क्रिया का वर्णन ऊपर किया गया है, उसके बताने में जितना समय लगा है क्या उतना ही समय उसके होने में भी लगता है? हृदय के दाएँ और बाएँ दोनों अलिन्द पहले नीलाओं के द्वारा रुधिर से भरे जाते हैं तब दोनों अलिन्दाँ में एक साथ आकोचन होता है जो रुधिर को कपाटों के मार्ग से दोनों हृद्वेश्मों में भेज देता है। इसके $\frac{1}{4}$ काष्ठा (सेकंड) पश्चात् दोनों हृद्वेश्मों में एक साथ ही आकोचन होता है और रुधिर रोहिणियों में चला जाता है। हृदय के भीतर

होने वाली इस पूरी क्रिया में $1\frac{1}{2}$ काष्ठा से अधिक समय नहीं लगता।

हृदय के जिस स्थान से महारोहिणी निकलती है ठीक उसी स्थान से साधारण आकार की दो रोहिणियाँ और निकलती हैं। शरीर में ये दोनों सबसे अधिक महत्त्व रखती हैं। ये हृदय के शिखर के चारों ओर जाती हैं और एक बलय के समान प्रतीत होती हैं। इसीलिए इन्हें बलय-रोहिणी कहते हैं। यदि इनमें से एक भी रोहिणी सहसा अवरुद्ध हो जाय तो मृत्यु तुरंत हो जाती है। सड़क पर या गली में किसी मनुष्य के सहसा भर कर गिर जाने का प्रायः यही कारण होता है। मस्तिष्क की कुछ रोहिणियों के अवरुद्ध होने से मनुष्य तुरन्त बेहोश हो जाता है और मृत्यु आगे किसी दिन हो सकती है। किन्तु हृदय की उक्त दो रोहिणियों के अवरुद्ध हो जाने से अधिक कोई अन्य ऐसी भयंकर वस्तु नहीं जिससे मनुष्य की मृत्यु इतनी शीघ्र हो जाय। यह तो वास्तव में यमराज के अचानक आगमन के समान है।

महारोहिणी में से पहले दोनों हाथों के लिए शाखाएँ निकलती हैं, फिर शिर और मस्तिष्क के लिए। पहली को अधोक्षक रोहिणी और दूसरी को मातृका कहते हैं। इसके पश्चात् यह नीचे को घूम जाती है और छाती के पिछली ओर से होती हुई पृष्ठ वंश के सामने से बाईं ओर को जाकर उदर में प्रवेश करती है। यहां इसमें से लम्बी लम्बी शाखाएँ निकल कर यकृत (जिगर) और आंतों में पहुंचती हैं। फिर इस महारोहिणी के दो भाग हो जाते हैं और प्रत्येक एक-एक पैर में चला जाता है। इनको उरु रोहिणी कहते हैं।

जिस रोहिणी से हम लोग सबसे अधिक

परिचित हैं उसे नाड़ी कहते हैं। हृदय की गति और शरीर का ताप चिकित्सक इसी पर उंगलियाँ रखकर परखता है। हाथ के अंगूठे के मूल में उङ्गलियाँ रखकर कोई भी व्यक्ति इसके स्पन्दन का अनुभव कर सकता है। हृदय से ही इसको स्पन्दन मिलता है, इसलिए इसके स्पर्श से हृदय का स्पन्दन सरलतापूर्वक जाना जा सकता है। हृदय या शरीर में किसी प्रकार का कष्ट या व्यतिक्रम होने से हृदय के स्पन्दन में अन्तर पड़ जाता है। अनुभवी चिकित्सक स्पन्दन की इसी घटा-बढ़ी से अनेक रोगों का निदान करते हैं। नाड़ी के कई पारखी तो ऐसे भी देखे गए हैं जो नाड़ी की चाल से यह भी बता देते हैं कि कुछ देर पहले आपने क्या खाया या पिया था। कई इसीसे यहां तक बता सकते हैं कि वर्षों पहले आपको अमुक रोग हुआ था और वह इतने दिन तक रहा था।

वास्तव में यह नाड़ी हृदय का दूसरा धेर (गियर) है। कठिन परिस्थितियों में कार्य करते समय हृदय के स्पन्दन की गति बढ़ जाती है किन्तु इस स्थिति में प्रत्येक स्पन्दन के साथ रुधिर का उदंचन आवश्यक नहीं। यही कारण है कि कठिन परिस्थिति में काम करने पर भी हृदय पर विशेष भार नहीं पड़ता। एक स्वस्थ वयस्क व्यक्ति के हृदय का स्पन्दन ७० से ८० तक प्रतिकला होता है। इससे अधिक अर्थात् ६० या और भी अधिक होने पर समझा जाता है कि हृदय कठिन परिस्थिति में है और उसे विश्राम देने के लिए मनुष्य को शय्या पर शान्ति से लेट जाना चाहिए।

हृदय की क्रिया ठीक-ठीक होते रहने के लिए दो बातें बड़ी आवश्यक हैं। एक तो यह कि हृदय के पेशी-तन्तुओं का पूरा अधिक से अधिक आकोचन

होना चाहिए। इसलिए हृदय के तन्तु का यह

सन १९५१]

हृदय और रुधिर-प्रवाह

६०७

स्वभाव है कि यदि यह आकोचित होगा तो पूर्ण रूप से, अन्यथा होगा ही नहीं। इन तन्तुओं में अधूरा आकोचन नहीं होता। दूसरी बात यह है कि पेशी-तन्तु जितना ही अधिक लम्बा फैलेगा उतने ही अधिक बल और वेग से आकोचित भी होगा। तन्तुओं के इस प्रकार लम्बाई में बढ़ सकने के कारण हृदय के कोटरों में रक्त के लिए अधिक स्थान हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर उनमें अधिक रुधिर समा सकता है। तन्तु यदि अधिक लम्बा हो सकता है तो उतने ही अधिक वेग से वह आकोचित भी होगा और जितना भी रुधिर समा सका था उतना सब अपने कोटर से दूसरे कोटर या धमनी में भेजने की सामर्थ्य उस आकोचन में होगी। यही कारण है कि यदि किसी कारण साधारण परिमाण से अधिक रुधिर हृदय में नीला के द्वारा आता है तो उससे वह फट नहीं जाता और न उसमें अन्य किसी प्रकार का कोई व्यतिक्रम होता है। अधिकतम प्रसार और अधिकतम आकोचन के कारण उसे इसमें कोई असुविधा नहीं होती। यह एक प्रकार से हृदय की सुरक्षा का प्रबन्ध है। इससे वह कभी असमर्थ नहीं हो पाता और इस बात का भरोसा रहता है कि जो भी कार्य इससे लिया जायगा उसमें यह धोखा न देगा।

ऊपर हमने बड़ी-बड़ी रोहिणियों की चर्चा की है। ये रोहिणियाँ शाखा-प्रशाखाओं में बँटती हुई अतिसूक्ष्म हो जाती हैं और सूक्ष्म होती-होती अन्त में केशाल और केशिका का रूप धारण कर लेती हैं, जो अणुवीक्षण की सहायता के बिना दिखाई नहीं देती। यही इनके अन्तिम छोर होते हैं जिनसे रुधिर बाहर निकल कर ऊतियों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इतनी सूक्ष्म शाखाओं में विभाजित होने का अभिप्राय यह है कि जब ऊतियों को जारक

देने और उनसे प्रांग-जारेय लेने आदि के लिये रुधिर का उपयोग होता है उस समय उसका तल बहुत विस्तृत हो जाता है। द्विशिर जैसी मध्यम आकार की पेशी में फैली हुई केशालों में रुधिर का तल (सरफेस) "हिन्दुस्तान टाइम्स" समाचार पत्र के समूचे दस पृष्ठों के बराबर विस्तृत होता है। ऊतियों को जारक प्रदान करने के पश्चात् रुधिर अशुद्ध हो जाता है और नीला-केशालों से नीला की बड़ी शाखाओं में और वहाँ से महानीला के द्वारा फिर हृदय के दक्षिण भाग में जा पहुँचता है, जहाँ से यह शुद्ध होने के लिये फेफड़ों में भेज दिया जाता है और वहाँ से शुद्ध होकर हृदय के बाएँ भाग में आता है। हृदय के वाम भाग से रुधिर महारोहिणी के मार्ग से फिर सारे शरीर में भेज दिया जाता है। शरीर के अधिकांश भाग में शुद्ध रुधिर ले जानेवाली रोहिणी है और शुद्ध रुधिर को पुनः हृदय में पहुँचानेवाली नीला है। रोहिणी की तुलना शुद्ध जल के नलों से और नीला की गन्दे नालों से की जा सकती है। किन्तु शरीर के एक छोटे से भाग में जहाँ कि फेफड़े अवस्थित हैं यह मार्ग सर्वथा उलट जाता है। यहाँ हृदय से अशुद्ध रक्त रोहिणी फेफड़ों में पहुँचाती है और फेफड़ों से शुद्ध रक्त नीला द्वारा हृदय में आता है।

रुधिर-परिवहन के इस प्रकार दो वृत्त हैं। इनमें एक छोटा है और दूसरा बड़ा। एक हृदय से शिर तक है और दूसरे में शेष सारा शरीर सम्मिलित है। दोनों वृत्तों के बीच में हृदय है। अंग्रेजी के ४ अंककी आकृति में किन्तु ऊपर का वृत्त छोटा, नीचे का बड़ा होता है। ये दोनों वृत्त जहाँ एक-दूसरे से मिलते हैं वही शरीर में हृदय का स्थान है। रुधिर-परिवहन का इसे भवर (वोर्टेक्स) कह सकते हैं। इन दो वृत्तों के अतिरिक्त हृदय से फेफड़ों तक और

फेफड़ों से हृदय तक का एक छोटा वृत्त और भी है। हम चाहें तो हृदय के भीतरी भागमें होनेवाले रुधिर-प्रवाह को भी पृथक् मान सकते हैं।

हृदय के भीतर जो रुधिर का परिवहण होता है उसमें केवल १॥ काष्ठा (सेकण्ड) लगती है। हृदय से फेफड़ों तक जाने और फेफड़ों से पुनः हृदय में लौट आने में रुधिर को केवल ५ काष्ठा लगती हैं। हृदय से मस्तिष्क तक जाने-आने में ८ काष्ठा और हृदय से पैर के अंगूठे तक एक चक्कर लगाने में १८ काष्ठा समय लगता है।

दाहिने हृदयालिन्द की भित्ति में चेता-कोशाओं का संग्रह रहता है। यहीं से हृदय का आकोचन आरम्भ होता है और लहर के समान सारे हृदय में फैल जाता है। चेता-कोशाओं के इस संग्रह के कारण ही शरीर से पृथक् कर लेने पर भी हृदय का स्पन्दन कुछ समय तक चालू रहता है। चेता-कोशाओं का यह संग्रह एक प्रकार की ग्रन्थि है जिसका संचालन केन्द्रीय चेता-संहति के दो चेता-तन्तु करते हैं। इनमें एक तो प्राणेशा-चेता-तन्तु मस्तिष्क से आता है और दूसरा स्वायत्त चेता तन्तु पृष्ठ-रज्जु से। ये दोनों तन्तु हृदय की स्पन्दन-गति को प्रभावित करते हैं। यह बात इनको बारी-बारी से काटकर सिद्ध की जा सकती है। यदि प्राणेशा-चेता-तन्तु काटा जायगा तो हृदय की गति बढ़ जायगी; क्योंकि जो तन्तु गति को कम करने का कार्य करता था उसे काट दिया गया। यदि कटे हुए उस भाग को जो हृदय से सम्बद्ध है विद्युत्-धारा से शक्ति पहुंचाई जाय तो हृदय की गति और भी मन्द हो जायगी। यदि स्वायत्त चेता तन्तु काटा जाय तो हृदय की गति और भी मन्द पड़ जायगी। किन्तु यदि इसके कटे हुए छोर को शक्ति पहुंचाई जाय तो हृदय की गति बढ़ जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राणेशा तन्तु हृदय की गति को कम करता है और स्वायत्त चेता तन्तु बढ़ा देता है।

बड़ी-बड़ी नीलाओं की भित्तियों में कुछ ऐसे चेता-तन्तु होते हैं जो विस्तार के प्रति बड़े हृष्ट होते

हैं। ये बहुत से एकत्र होकर प्राणेशा-चेता और स्वायत्त चेता से सम्बद्ध रहते हैं। किसी कारण नीलाओं में अधिक रुधिर आते ही स्वायत्त चेता को इन तन्तुओं के द्वारा समाचार मिल जाता है और वह अपने प्रक्षेप द्वारा हृदय की गति को बढ़ा देती है। हृदय के दूसरी ओर महारोहिणी की भित्तियों में भी कुछ चेता-तन्तु होते हैं जो प्राणेशा से सम्बद्ध होते हैं और महारोहिणी में रुधिर का दबाव अधिक होते ही प्राणेशा को सूचित करते हैं और वह अपने प्रक्षेप के द्वारा हृदय की गति कम कर देती है। यह वास्तव में सुरक्षा के लिए एक प्रकार का यान्त्रिक प्रबन्ध है, जिससे रुधिर निपीड़ बहुत अधिक नहीं बढ़ पाता। यह घटा-बढ़ी की दोनों क्रियायें स्वतः ही होती रहती हैं। हमें इनका कुछ भी पता नहीं चलता, क्योंकि इन क्रियाओं की सूचना कभी मस्तिष्क के ज्ञान-विभाग तक नहीं पहुंचती।

हम देखते हैं कि मनुष्य कठोर से कठोर परिश्रम करता है, दौड़ें दौड़ता है, पत्थर तोड़ता है, फावड़ा चलाकर कड़ी भूमि खोदता है; किन्तु उसके हृदय पर इसकी शक्ति से अधिक आयास नहीं पड़ने पाता। इसका कारण यह है कि कितना ही बलवान् मनुष्य क्यों न हो और वह कितना ही कठोर परिश्रम करना चाहे, हृदय को आयासित नहीं कर सकता। हृदय पर किसी प्रकार का आयास पड़ने के पूर्व मनुष्य के बलिष्ठ से भी बलिष्ठ अंग थक कर निष्क्रिय हो जाते हैं, आगे काम नहीं कर सकते। वह मनुष्य को काम छोड़कर बैठ जाना पड़ता है और कभी लेटना भी पड़ जाता है। इसका अर्थ यह है कि शरीर में सबसे अधिक शक्तिशाली अंग हृदय ही है। अन्य अंगों की पेशियां हृदय की शक्ति से अधिक काम नहीं कर सकतीं। जिस शरीर में हृदय रुग्ण होता है और अन्य अंगों की पेशियों की शक्ति हृदय की शक्ति से बड़ी होती है वहीं पर अधिक कार्य से हृदय को हानि पहुंचती है। हृदय के रोगियों को इसीलिए कड़े परिश्रम से रोक

शास्त्रचर्चा-परिषद् के अध्यक्ष
वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य



निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल के अध्यक्ष आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य की प्रेरणा से एवं आपकी ही अध्यक्षता में २४ दिसम्बर १९५० से २ जनवरी १९५१ तक पटना में आयुर्वेद शास्त्रचर्चा-परिषद् हो रही है। गत २६ नवम्बर को काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयके दीक्षान्त समारोह के अवसर पर विश्वविद्यालय ने आपको 'वैद्यवाचस्पति' की सम्मानपूर्ण पदवी दी है। इससे पूर्व निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल ने आपको 'आयुर्वेदमार्तण्ड' की सम्मानपूर्ण पदवी दी थी। पिछले दिनों आप कलकत्ता पधारे थे, तब नगर की समस्त आयुर्वेदीय संस्थाओं ने आपका हार्दिक अभिनन्दन किया था एवं आपकी दीर्घायु के लिए मंगलकामना की थी।

शास्त्रचर्चा - परिषद् - विशेषांक

त्रिदोष का वैज्ञानिक विवेचन

लेखक—डा० लक्ष्मीनारायण पचौरी ए० एम० एस०, जबलपुर (म० प्र०)

इस लेख में निम्नलिखित बिन्दुओं (Points) को आधार मान कर विचार व्यक्त किये गये हैं :—

- | | |
|---|--|
| (१) भूमिका | (२) व्याख्या |
| (३) संज्ञा-विमर्श | (४) त्रिदोष शारीर-रचना-विज्ञान |
| (क) निर्माण | (ख) स्वरूप |
| (ग) गुण-धर्म | (घ) प्रमाण |
| (च) भेद तथा कोषाणु विज्ञान | (छ) स्थान |
| (५) गर्भ विज्ञान सहित प्राकृत दोषों के कर्म या त्रिदोष क्रिया विज्ञान | |
| (६) दोष-प्रकोपक कारण या हेतु विज्ञान | (७) त्रिदोष विकृति-विज्ञान |
| (८) प्रकुपित दोषों के कर्म | (९) प्रकुपित दोषों की शान्ति के उपाय |
| (१०) पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से समन्वय | (११) उपसंहार, आधार और आमार |

त्रिदोष का वैज्ञानिक विवेचन

(१) भूमिका (Introduction)—

त्रिदोष सिद्धान्त आयुर्वेद का प्रधान सिद्धान्त है जिसपर समग्र आयुर्वेद आधारित है, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि कुछ अवाञ्छित कारणों से यह अभी तक विवाद का विषय बना है और अन्धगज-न्याय जैसी अवस्था हो रही है।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि त्रिदोष जैसे कोई पदार्थ शरीर में हैं; जिनकी उपस्थिति से शरीर की उपस्थिति; जिनकी विकृति से शरीर की विकृति और जिनके नाश से शरीर का नाश हो जाता है। इसी-लिये कहा है—

“नर्ते देहः कफादस्ति न पित्ताच्च माहतात्।”

—सु० सू० २१।४

“दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्।” —सु० सू० १५।३

शरीर में क्षण-प्रतिक्षण नाश और निर्माण की क्रिया होती रहती है। उत्पत्ति-विनाश अथवा वृद्धि-क्षय के इस सातत्य को ही जीर्म्म कहते हैं। यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि आखिर इस जीवन-व्यापार का कर्त्ता है कौन, तो उत्तर मिलता है—

‘त्रिदोष’। जीवन व्यापार रूपी प्रधान कर्म के अन्तर्गत तीन विशेष कर्म आते हैं—संयोग, वियोग और विक्षेप। इनके कर्त्ता के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होनेपर पुनः उत्तर प्राप्त होता है—क्रमशः ‘कफ’ ‘पित्त’ और ‘वात’। कहा भी है—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिता यथा।

धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

—सु० सू० २१।८

शरीर में उत्पत्ति, पुष्टि और क्षतिपूर्ति के लिए कफ आवश्यक है। इस कार्य के लिए शरीरानुरूप

यथायोग्य परिवर्तन करनेवाला पित्त है, तथा इन दोनों के कार्यों का संचालक व नियंत्रक और शरीर की समस्त भौतिक क्रियाओं का सम्पादक जो पदार्थ है वह वायु है।

दोषधातु मलसंज्ञक शरीर के त्रयोदश मूलतत्त्वों में से ‘दोष’ नामक तीन तत्त्वों का इस लेख में विवेचन किया जायगा। यह विवेचन पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान* की विभिन्न शाखाओं के अनुसार आयुर्वेदोक्त वर्णन के आधार पर है तथा अन्त में त्रिदोष का पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है।

(२) व्याख्या (Definition)—

शरीरस्थ जो वस्तु प्राणियों की भिन्न-भिन्न प्रकृतियों की जननी, प्राकृत अवस्था में शरीर को धारण करनेवाली और विकृत अवस्था में स्वतन्त्ररूप से शरीर के अन्यतम विभाग को दूषित करने की शक्ति से सम्पन्न हो उसे ‘दोषः’ कहते हैं। त्रिदोष नित्य उत्पत्तिशील, वृद्धिक्षयगुणयुक्त, प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध,

* पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान—यद्यपि होमियोपैथी, वायोकेमिक आदि चिकित्सा-पद्धतियों का उद्भव भी पश्चिम से हुआ है, तथापि यहांपर पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान से एलोपैथी ही अभिप्रेत है।

† दोष—मधुकोषकार ने “स्वातन्त्र्येण दुष्टिर्तृत्वं दोषत्वम्” को गलत तथा “प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिर्तृत्वं दोषत्वम्” को ही सही माना है। चरक की जल्पकल्पतरु टीका में कविराज गंगाधर ने एक स्थान पर इसका खण्डन किया है। कविराज गणनाथ सेन ने सिद्धान्त निदान में दोनों का उल्लेख किया है। मैंने इस व्याख्या में दोनों का संयोग कर दिया है। अस्तु, स्थानाभाव के कारण यहाँ शास्त्रीय विवेचन करना आवश्यक नहीं है।

सन् १९२१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६११

दूषण स्वभावविशिष्ट, आहार परिणामावस्था तथा आहार परिणामजन्यावस्था में दृष्ट, स्थूलशरीरमूल, पाञ्चभौतिकद्रव्य हैं। 'दोष' संज्ञा आयुर्वेद शास्त्र में दी गई पारिभाषिक (स्व, रुद्ध, विशिष्ट, अन्यशास्त्राऽसामान्या technical) संज्ञा है जो वात, पित्त और कफ नामक तीन शरीर द्रव्यों को दी गई है। इन्हें ही क्रमशः वायु, अग्नि और श्लेष्मा के नाम से सम्बोधन करते हैं। तीनों दोषों के समूह को त्रिदोष कहते हैं, चाहे वे धातुरूप हों, दोषरूप हों अथवा मलरूप। इनकी निरुक्ति इस प्रकार है—

वातीति वायुः प्राणाऽपानादिः ।

तपतीति पित्तं पाचकोऽग्निः ।

के जले फलतीति कफः श्लेष्मा ।

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोरिति धातुः, 'तप' सन्तापे, 'श्लिष' आलिङ्गने पुतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययेवांतः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ।

सु० सू० २१।५

यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रसयति प्रीणयति सोऽयं कफः ॥

—तीसटाचार्य

(३) संज्ञा विमर्श (Nomenclature) —

शरीरदूषणादोषा धातवो देहधारणात् ।

वात पित्त कफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः ॥

—शा० पू० ५।२४

वात-पित्त-कफ के लिए उनकी अवस्थानुसार दोष, धातु और मल तीन सार्थक संज्ञाएँ हैं, जो शास्त्र में प्रयुक्त होती हैं। किन्तु फिर भी दोष शब्द ही उनकी प्रधान अथवा पारिभाषिकी अनन्य साधारणी संज्ञा है, क्योंकि स्वयं दुष्ट होना तथा दूषित करने का कार्य सिवा इनके रस-रक्तादि धातु तथा पुरीषादि मलों में नहीं है; इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे सदैव दूषण कार्य करते रहते हैं किन्तु अर्थ यह है कि वे दूषण स्वभाव विशिष्ट हैं। रसादि सप्त धातुएँ धातु कहलाती हैं और पुरीष-मूत्र तथा स्वेद और मल के नाम से व्यवहृत होते हैं। फिर भी प्रयुक्त स्थान को देख कर यह निश्चय कर लेना चाहिये कि धातु और मल

शब्द स्व-संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुए हैं अथवा वातादि की आवश्यक स्थिति के निर्देशक हैं। दो दोषों के संयोग के लिये 'संसर्ग' तथा तीनों के संयोग के लिए 'सन्निपात' शब्द आयुर्वेद-शास्त्र की संज्ञायें हैं।

(४) त्रिदोष शरीर-रचना-विज्ञान

(Tridosh Anatomy) —

इस प्रकरण में त्रिदोष के निर्माण, स्वरूप, गुण-धर्म, प्रमाण, भेद, कोषाणु विज्ञान तथा स्थान का अलग-अलग विशद विवेचन किया जायगा।

(क) निर्माण (Origin and Development)

त्रिदोष के निर्माण के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण से विचार करना है, एक दार्शनिक और दूसरा शारीरिक। दर्शनशास्त्र इस सिद्धान्त का मूलाधार है, इसलिए उससे अलग इसका विचार नहीं हो सकता।

दार्शनिक दृष्टिकोण—

सम्पूर्ण जगत् पञ्चभूतात्मक है, तद्वत् यह मानव शरीर भी है। संसार में पञ्चभूतों में से सिर्फ तीन—वायु, अग्नि और जल—में ही प्रकृतित्व तथा स्वतन्त्र कर्तृत्व दोनों शक्तियाँ हैं, इसलिये ये तीन भूत ही चेतन संयोग से दोषों के प्रधान उपादान हैं। अन्य दो भूतों का सहयोग मात्र है। ये तीन भूत ही प्रधान उपादान क्यों हैं? इसका विशद विवेचन आगे किया है। ये भूत पञ्चीकृत होने से दोष भी पञ्चीकृत हैं तथापि उनका निर्माण निम्नानुसार विशेष रूप से हुआ है :—

वात—वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः ।

वायु प्रधान और आकाश सहयोगी है। वात के गुणों में लघु और सूक्ष्म गुण विशेषकर आकाश के हैं और शेष वायु के।

पित्त—आग्नेयं पित्तं ।

पित्त को विशेषकर अग्नि तत्त्व निर्मित माना है, किन्तु उसमें कुछ जल तत्त्व का भी अंश रहता है। पित्त में स्निग्धता और द्रवता जल के गुण हैं तथा शेष अग्नि के।

कफ—अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा ।

कफ में गुरुता और स्थिरता विशेषकर पृथिवी तत्त्व के गुण हैं तथा शेष गुण जल तत्त्व के हैं।

वात-पित्त-कफ के गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन इसी बिन्दु के 'ग' खण्ड के अन्तर्गत दिया है।

दोषों का निर्माण पञ्चीकृत भूतों से ही हुआ है जैसा कि ऊपर कहा गया है। तन्मात्रा स्वरूप या परमाणुरूप तत्त्वों से मानने पर शास्त्र में वर्णित गुण और कर्म का आरोप उन पर नहीं हो सकता, क्योंकि पञ्चभूतों के ये सूक्ष्म स्वरूप सृष्टि के आदि में ही कार्यकर रहते हैं, पीछे नहीं। सृष्टि के आदि नियमों का प्रयोग सृष्टि हो जाने पर दुबारा नहीं होता। द्वितीयतः, यह त्रिदोषात्मक शरीर अनित्य है जब कि परमाणुरूप तत्त्व नित्य है, अतः वे वातादि दोषों के उपादान नहीं हो सकते। यह माना जा सकता है कि नित्यत्वेन परमाणुरूप तत्त्व व्यापक हैं, एतस्मात् इस शरीर में भी वे उपस्थित हैं किन्तु चिकित्सा शास्त्र में उनसे कोई प्रयोजन नहीं है।

शारीरिक दृष्टिकोण—

(१) गार्भिक (Embryological)—

कहा है—“वातपित्तश्लेष्माण एव देह सम्भव हेतवः” तदनुसार शुक्र व रज जिनसे गर्भ स्थिति होती है त्रिदोष स्वरूप ही हैं। तत्पश्चात् गर्भनाल से जो माता का रक्त शिशु में प्रवेश कर शिशु का पोषण करता है वह भी त्रिदोषात्मक है। इस तरह शरीर मूलतः पूर्णरूप से त्रिदोषयुक्त होता है। तीनों दोष उपादान रूप से प्राप्त होते हैं अतः गर्भावस्था में

स्वतन्त्रतया उनके निर्माण का प्रश्न नहीं उठता। आगे जाकर गर्भकालीन क्रिया विज्ञान में जो वात-पित्त-कफ के स्थान तथा कार्यों का वर्णन किया है; उससे इनकी मौलिक स्वतःसिद्ध स्थिति का और भी निर्णय हो जाता है।

(२) जन्मोत्तर (Post-natal)—

जन्म के पश्चात् शरीरस्थ त्रिदोष की प्राकृत मात्रा रखने के लिये एवं शरीर की वृद्धि के लिये मुख द्वारा आहार की व्यवस्था निर्यात के द्वारा की गयी है। इस पाञ्चभौतिक षड्रसात्मक आहार से अन्न परिपाक होकर पूर्व दोषों के पोषणार्थ नव्य दोषों का निर्माण जिस प्रक्रिया से होता है; इसका वर्णन चरकसंहिता ग्रहणी-चिकित्सा अध्याय में इस तरह से किया गया है—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।

मधुरात्प्राक्फोद्भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥

परन्तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावात् ।

आशयाच्छयवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥

पक्वाशयन्तु प्रासस्य शोध्यमाणस्य वह्निना ।

परिपिडित पक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावात् ॥

च० चि० १५।९, १०, ११

उपर्युक्त विधि से दोषों का नवीन निर्माण बराबर होता रहता है। पञ्चभूतात्मक निर्जीव आहार में सजीवता अभिव्यक्त होने से त्रिदोष का निर्माण होता है; जिससे वह शरीर जातीय पदार्थ हो जाता है, एवं उसका शोषण तथा शरीर का पोषण और वर्धन होता है। इनके उत्पादन में सहायक भी महास्रोतस्थ तीन दोष हैं, यद्यपि उनमें पित्त सबसे प्रधान है। कुछ विद्वान् पाचन कार्य जाठराग्नि द्वारा मानते हुए उसके अन्तर्भूत तीन भेद मानते हैं—कफाग्नि, पित्ताग्नि और वाताग्नि। ये दोष अन्न परिपाक कर आहार रस निर्माण द्वारा, अपिच स्वयं भी उसमें कुछ मिश्रित होकर शरीरस्थ दोषों का

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६१३

अनुग्रह करते हैं। चक्रपौणि ने उपर्युक्त श्लोकों की टीका पर जो श्लोक उद्धृत किये हैं; उनसे भी यही भावार्थ निकलता है :—

मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः ।
ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरं बलवर्धनः ॥
नाभी हृदयमध्ये च रसस्त्वम्बलो व्यवस्थितः ।
स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते ॥
अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः ।
प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः ॥

षड् रसात्मक आहार से वात-पित्त-कफ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है—

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोप-
शमयन्ति । तद्यथा—कटुतिक्त कषाया वातं जनयन्ति,
मधुराम्ललवणास्त्वेन शमयन्ति; कट्वम्ललवणाः पित्तं
जनयन्ति, मधुरतिक्त कषायास्त्वेन च्छमयन्ति; मधुराम्ल-
लवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेन शमयन्ति ॥

च० वि० १।६

विपाक में बताया गया है—

कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः ।
अम्लोऽम्लं पच्यते, स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥

च० सु० २६।५५

तदनन्तर ५८ व ५९ वें श्लोक में बताया है कि मधुर विपाक से कफ, अम्ल से पित्त और कटु से वात उत्पन्न होता है। इस तरह अन्न प्रणाली में ही षड् रस आहार से क्रमशः कफ-पित्त और वात का निर्माण होता है। कहा भी है—“भुक्तानां तेऽन्त-
मध्यादिगाः क्रमात्” अर्थात् भोजन के पश्चात् कफ, पच्यमानावस्था में पित्त और परिपाक के पश्चात् वात की वृद्धि होती है। प्रत्यक्ष में भी भोजन के पश्चात् गौरव, आलस्य, निद्रा आदि की अनुभूति कफ वृद्धि के ही द्योतक हैं। निबन्ध शास्त्र में जो वात-पित्त कफ वर्धक द्रव्यों का विवेचन किया है; उससे स्पष्ट है कि आहार से महास्रोत में तीन दोषों का निर्माण होता है। सुश्रुत संहिता में दिये हुए निम्नलिखित श्लोक से यह बात स्पष्ट होती है कि आहार परिपाक

की किस अवस्था में किस दोष की उत्पत्ति होती है—

अविदग्धः कफं पित्तं विदग्धः पवनं पुनः ।
सम्यग्विवपको निःसार आहार परिवृद्ध्यैत् ॥

सु० सु० ४६।५२५

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पचन क्रिया से महास्रोत में दोषों का निर्माण होता है। त्रिदोषात्मक आहार रस का शक्त्युत्कर्ष सम्पन्न भाग त्रिदोष का तथा शक्तिहीन भाग सप्तधातु का निर्माण करते हैं। ये धातुएँ त्रिदोष का ही शक्तिहीन अंश हैं जो शरीर रचना में भाग लेती हैं, ऐसा आगे स्पष्ट किया जावेगा।

विशेष वक्तव्य

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार महास्रोत में आहार के प्रसाद भाग से तीन दोषों की उत्पत्ति प्रदर्शित की है किन्तु शास्त्र में कहीं-कहीं अन्न के किट्ट भाग से वायु, रस के किट्ट से कफ और रक्त के किट्ट से पित्त का उद्गम बताया है, यथा—

अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ।

च० सु० २८।४ पर चक्रपाणि

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽमृजः ।

पित्तं, मांसस्य खमलाः, मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥

स्यात् किट्टं केशलोमास्थनो, मज्जः स्नेहोर्गर्श विट्त्वचाम् ॥

च० चि० १५।१८, १९

त्रिदोष के समान शक्ति सम्पन्न पदार्थ जिन्हें भगवान् कह के सम्बोधन किया गया हो (जाँठरो भगवान् गिरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । तथा—स्वयंभूरुष भगवान् वायुरित्यभिश्चिदितः इत्यादि) तथा जो शरीर में वायु, सूर्य और चन्द्र की कोटि के समझे गये हों, (विसर्गादान विक्षेपैः सोम सूर्यानि ला यथा । धार-
यन्ति जगद्देहं कफ-पित्तानिलास्तथा ॥), वे न तो किसी चीज के मल हो सकते हैं और न शक्तिहीन किट्ट भाग से उनकी उत्पत्ति हो सकती है। अपिच आहार के तथा रस और रक्त के प्रसाद भाग में तथा

प्रसाद भाग से बननेवाली धातुओं में भी वह शक्ति नहीं है जो तीन दोषों में है, तब इनका उद्गम उनके किट्ट भाग से होना कैसे संभव है ? अर्थात् नहीं । एक बात और है कि शोणित का अन्तर्भाव पित्त वर्ग में किया गया है (कफवर्गभवेच्छुक्रं पित्त वर्गे तु शोणितम्) अतः पित्त व्यापक और शोणित व्याप्य है । ऐसी अवस्था में पित्त को रक्त का मल मानना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् कदापि नहीं ।

यदि यह कहा जावे कि शक्ति सम्पन्न प्रसादरूप दोष दूसरे हैं और यह स्थूल मलरूप दोषों की उत्पत्ति है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि दोषों के दोनों प्रकारों की उत्पत्ति अलग-अलग नहीं होती । प्रसाद रूप दोष ही जब अधिक दूषित एवं कुपित हो जाते हैं तथा शरीर के लिये हानिकर होते हैं तो वे ही मल संज्ञा से व्यवहृत होने लगते हैं ।

यथार्थ बात यह है कि जिस तरह धातुओं में निरन्तर वृद्धि और क्षय होता रहता है तथैव दोषों की प्राकृत अवस्था में भी उनको शुद्ध और साम्य स्थिति में रखने के लिये उनसे क्षीण, शक्तिहीन और अनुप-योगी भाग मल के रूप में निकलता रहता है । यह उसी मल का वर्णन है । किन्तु चूँकि वातादि के दूषित या विकृत होने से ये मल नहीं बने हैं तथा दोष विकृतिजन्य मलों से पार्थक्य बना रहे इसलिये इनका उद्गम वातादि दोष न बताकर उनके उन प्रधान आश्रित स्थानों को बताया है जहाँ वे अधिक उत्पन्न होते हैं । यह संशोधन की एक स्वाभाविक क्रिया है जो दिन प्रतिदिन होती रहती है तथा जिससे दोष दुष्ट होने की स्थिति में नहीं आ पाते और शरीर स्वस्थ रहता है । यह क्रिया प्रत्यक्ष में भी देखी जाती है यथा वायु का अधोभाग से निस्सरण, कफ का मुँह या नासिका से निकलना तथा पित्त का मल मूत्र के साथ निष्क्रमण । इन क्रियाओं के पश्चात् मनुष्य स्वभावतः अपने को स्वस्थ अनुभव करता है ।

Bile, अंशतः, पित्त का एक प्रकार का मल है तथा उसके कार्य बताते हुए Halliburton ने सर्वप्रथम लिखा है :—

Bile is doubtless, to a certain extent, an excretion. Its principal action is as a co-adjutor to the pancreatic juice especially in the digestion of fat.

मल तथा मूत्र में जो रंग रहता है ; वह bile के रञ्जक तत्त्वों के कारण है जो क्रमशः stercobilin तथा urobilin या urobilinogen कहलाते हैं । यह विवेचन bile के मलरूपी त्याज्यांश का है । मूत्र द्वारा जो bile का अंश परित्यक्त होता है वह रक्त से आता है क्योंकि वृक्क रक्त से ही निस्स्यन्दन क्रिया द्वारा मूत्र का निर्माण करते हैं । इसीलिये पित्त को रक्त का मल बताया है । इसी प्रकार वायु और कफ के उद्गम अन्न और रस के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये ।

दार्शनिक दृष्टिकोण

(ख) स्वरूप (Classical outlook)—

त्रिदोष सचेतन अथवा जीवाधिष्ठित द्रव्य हैं । नैयायिकों के मत से सात पदार्थ हैं । शक्ति एक अष्टम माना जाय, इस बात का नैयायिकों ने खण्डन करके उसका अन्तर्भाव गुण में ही किया है । त्रिदोष ऐसे शक्ति सम्पन्न द्रव्य हैं कि कई विद्वान् उन्हें शक्ति रूप ही मानने लगे हैं । किन्तु शक्ति गुण से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने उसे गुण स्वरूप माना है । इतर विद्वान् दोषों को द्रव्यस्वरूप मानते हैं । गम्भीरता से देखा जाय तो गुण और गुणी (द्रव्य) में कोई विशेष भेद नहीं है अतः उन्हें कुछ भी कह सकते हैं फिर भी दोनोंमें द्रव्य की प्रधानता है ; क्योंकि द्रव्य में गुण से

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६१५

सापेक्ष नित्यता है तथा गुण बिना द्रव्याधार के नहीं रह सकते ।

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् तद्रव्यम् ।

—चरक ।

द्रव्यत्व जातिमत्त्वं, गुणवत्त्वं समवायिकारणत्वं वा द्रव्य सामान्य लक्षणम् ।

—तर्क संग्रह ।

द्रव्य गुणों का समूह है । आयुर्वेदोक्त बीस गुणों के तीन समुदायों से श्लेष्मादि तीन दोषकृ बने हैं । इस तरह प्रत्येक दोष में कई गुण हैं अतः उन्हें द्रव्य मानना ही उचित है । इसके अतिरिक्त दोषों में द्रव्य के उपर्युक्त लक्षण ठीक जमते हैं इसलिये दोष द्रव्य स्वरूप ही हैं । तीन दोषों के कारण जो पञ्च-महाभूत हैं वे द्रव्य हैं । कारणानुरूप कार्य होता है, इसलिये कार्य भी द्रव्य होना चाहिये ।

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्य संग्रहः ।

—चरक ।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यज्ञेजो वाय्वाकाश काल दिगात्म मनांसि नवेव ।

—तर्क संग्रह ।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जब द्रव्य नौ हैं तो दोष तीन ही क्यों माने गये । यद्यपि इस शंका का विवेचन यहां आवश्यक नहीं है, तथापि संक्षेप में इसका समाधान कर दिया जाता है । द्रव्यों के सम्बन्ध में कहा है—“तत्र सक्रियाणि वायुतेजोऽम्बु पृथिवी मनांसि स्वभावसिद्धानि, खात्मकालदिशश्च निष्क्रिय स्वभावसिद्धः ।” चार निष्क्रिय द्रव्यों में दोष की पूर्वोक्त व्याख्या के अनुसार स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति न होने से दोषत्व नहीं हो सकता । शेष पांच सक्रिय द्रव्यों में मन का कार्य इन्द्रिय मार्ग द्वारा होने के कारण उन्हीं के अधीन है जो आयुर्वेद, न्याय तथा

* तीन दोष—यद्यपि इनके गुणों का अन्तर्भाव बीस गुणों में हो जाता है तथापि उनके नामकरण में किञ्चित् भिन्न है ।

वेदान्तानुसार पांचभौतिक हैं । इसलिये पंचभूत से अतिरिक्त मन की कल्पना दोष समवाय के लिये करना आवश्यक है । इसके सिवा ज्ञान और कर्म सम्पादनार्थ द्विविध इन्द्रियाधीन रहने के कारण मन की गणना सक्रिय द्रव्यों में होने पर भी वह स्वतन्त्र कर्तृत्व शक्ति से हीन है अतः दोष होने का अधिकारी नहीं है । पृथ्वी की गणना सक्रिय द्रव्यों में अवश्य की है किन्तु वह अन्य भूतों का आधार भूत है तथा उसकी क्रिया नहीं के बराबर है । कहा है—“स्थिरगतिः पृथिव्याः कर्म ।” जब कि कर्म की व्याख्या में बताया है—“चलनात्मकं कर्म ।” दूसरी बात यह है कि पृथ्वी की तथाकथित क्रिया स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र है—“अग्नेरुर्ध्वं ज्वलनं निम्नगमनं चापां कर्म । नोदनादभिघातात् संयुक्त संयोगाच्च पृथिव्यः कर्म ।”—कणाद । इसलिये पृथ्वी तत्त्व दोष नहीं हो सकता । पंच महाभूतों में से पृथ्वी इस तरह बहिष्कृत हो गया । आकाश तत्त्व शून्य होने से निष्क्रिय है ही । इसके सिवा वह परमाणु रूप और नित्य है जब कि अन्य भूत नित्यानित्य तथा परमाणुरूप और कार्यरूप दो तरह के होते हैं । रोग उत्पन्न करने के लिये दोष में विकृति होना आवश्यक है । (विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च) जब कि नित्य परमाणुरूप होने के कारण आकाश में कोई विकृति नहीं होती अतः वह दोष नहीं हो सकता ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वायु, अग्नि और जल प्रधान रूप से क्रमशः वात-पित्त और कफके उपादान हैं । पृथ्वी और आकाश का केवल सहयोग मात्र अपेक्षित है जैसा कि ‘निर्माण’ के अन्तर्गत बताया है । त्रिदोष जीवित शरीर में ही क्रियाशील होते हैं अतः आत्मा की अवस्थिति उनके लिये आवश्यक है । काल और दिशा सब के समान दोषों के साथ

भी नित्य सम्बन्धी हैं तथा सब कार्यों के समान इन के प्रति निमित्त कारण हैं किन्तु इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

भौतिक एवं शारीरिक दृष्टिकोण —

अधिकतर वात का स्वरूप वायवीय (Gaseous), पित्त का अर्धद्रव या तरल (Liquid) तथा कफ का अर्धघन या सान्द्र (Solid) है। किन्तु यह परिवर्तनशील तथा भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता है।

प्रसाद और मल भेद से इनके दो स्वरूप हैं—

अथादौ द्विविधा एते प्रसाद मल भेदतः

सारभूतोः प्रसादाः स्युः किट्टभूता मलाः स्मृताः ॥

सि० नि० अ० ११६

मलावस्था में शरीर के लिये अनुपयोगी होने के कारण ये त्याज्य होते हैं। प्रसादरूप के पुनः सूक्ष्म और स्थूल नाम से दो स्वरूप हैं। तद्यथा—

ते च प्रसादा द्विविधा सूक्ष्म स्थूल विभेदतः।

तत्र वायुः सदा सूक्ष्म इतरौ तु द्रव्यात्मकौ ॥

सि० नि० अ० ११७

त्रिदोष अन्न प्रणाली में अपेक्षातर स्थूल हैं, यथा क्लेदक कफ और पाचक पित्त। पश्चात् उनका रूपान्तर होने से वे प्रायः सूक्ष्म रहते हैं, तथा कहीं-कहीं स्थूल स्वरूप दिखाई देता है। वायु पूर्णतया सूक्ष्म रूप है और उसकी सूक्ष्मता उसके गुणों में भी स्पष्ट कही गई है—“तत्र रुक्षोलघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।” तथा “रौक्ष्यंलाघवं वैशद्यं शैत्यं गतिर-मूर्त्तत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि।” कविराज श्रीगण नाथ सेन ने सूक्ष्म याने अतीन्द्रिय और स्थूल याने इन्द्रियगोचर कहा है, किन्तु टीकाकार तथा कुछ अन्य विद्वान् सूक्ष्म का अर्थ अदृश्य अर्थात् सिर्फ चक्षु-रिन्द्रिय के लिये ही अतीन्द्रिय मानते हैं। वायु अदृश्य अवश्य है किन्तु स्पर्शेन्द्रिय प्राप्य होने से अतीन्द्रिय नहीं मानी जा सकती।

(ग) गुण-धर्म (Physico-Chemical Form)—

शरीर व्यूह घटक के रूप में पूर्णतया और व्यापार घटक के रूप में अंशतः दोष सूक्ष्म ही हैं, इसलिये चरक ने सर्वप्रथम सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में प्रत्यक्षतः वातादि के गुण न कहकर वातादि को ज्ञान करने वाले द्रव्यों के विपरीत गुणों का उल्लेख किया है, जिससे वातादि के गुणों का अनुमान कर लेना चाहिये। इस तरह उल्लेख करने के पश्चात् चरक ने अन्य स्थानों पर दोषों के स्पष्ट गुण लिखे हैं। वाग्भट ने जो गुण लिखे हैं वे चरक के आधार पर हो सकते हैं। इस तरह दोषों के गुण, द्रव्य प्रभाव को देख कर अनुमान पर, अथवा स्थूल और मलरूप दोषों के प्रत्यक्ष पर आधारित हैं।

रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।

विपरीत गुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटुः।

विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुरस्थिर पिच्छिलाः।

श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः ॥

च० सू० ११५-१०-६१

तत्र रुक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः।

पित्तं सस्नेह तीक्ष्णोष्णं लघु विघ्नं सरं द्रवम्।

स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्तनः स्थिरः कफः।

अ० ह० सू० ११७-१३

वायु का स्पर्श शीत, रुक्ष एवं खर तथा स्वाद कषाय है। पित्त का स्पर्श उष्ण तथा स्निग्ध और स्वाद अम्ल एवं कटु है। उसका वर्ण अपक्वावस्था में नील तथा पक्वावस्था में पीत है। कफ का स्पर्श शीत स्निग्ध और श्लक्ष्ण तथा स्वाद पक्वावस्था में मधुर और अपक्वावस्था में लवण है। वर्ण श्वेत है। पित्त विस्रगन्धी अर्थात् रक्त की गन्ध सदृश या आमगन्धी होता है। वात और कफ की गन्ध का शास्त्र में

सन १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिपद् के निबन्ध

६१७

कोई उल्लेख नहीं है। तीनों दोषों के नाड़ीगत विविध स्पर्श का वर्णन नाड़ी विज्ञान (Science of Pulse-feeling) का विषय है। वायु योग बाही होने से पित्त के संयोग से उष्ण भी हो जाता है। वायु रजोगुणयुक्त, पित्त सतोगुणयुक्त तथा कफ तमोगुणयुक्त रहता है। वात-पित्त में लघुगुण का, वात-कफ में शीत गुण का और पित्त-कफ में स्निग्धगुण का साधर्म्य है। अन्य गुणों का तीनों दोषों में वैधर्म्य है।

(घ) प्रमाण (Measurement)

सुश्रुत ने दोषों का प्रमाण देना अशक्य बताया है—

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च ।

दोषधातुमलानान्तु परिमाणं न विद्यते ॥

सु० सू० १५-४०

किन्तु चरकादि ग्रन्थों ने दोषों का परिमाण दिया है। यह परिमाण उनकी साम्यावस्था या प्राकृतावस्था का है। प्रायः विकृत होने पर ही उनमें अस्थायित्व होता है। यद्यपि प्राकृत अवस्था में भी कुछ कमी-वेशी होती है किन्तु वह अत्यल्प और क्षणिक रहती है। शास्त्रों ने जो यत्किञ्चित् प्रमाण दिये हैं वे दोषों के स्थूल अंश के ही सम्भव हैं, सूक्ष्म के नहीं। चरकादि ग्रन्थों के प्रमाण स्वहस्त द्वारा (स्वेनाञ्जलि प्रमाणेन) होने से दीर्घ-ह्रस्व रूपी जो शरीर वैलक्षण्य है वह तिरस्कृत हो जाता है। फिर भी चरक ने लिख दिया है—“तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयं तच्च वृद्धिहास योगि, तर्क्यमेव ।” चरक ने पित्त के लिये अपने हाथ से ५ अञ्जलि और कफ के लिये ६ अञ्जलि दिया है—

* अञ्जलि—युवा पुरुष की एक अञ्जलि में लगभग १॥ पाव जल आता है अर्थात् एक अञ्जलि १॥ पाव या १२ औंस के बराबर हुई। इस तरह पित्त ६० औंस और कफ ७२ औंस हुआ।

षट्श्लेष्मणः पञ्चपित्तस्य ।

च० शा० ७।१७

अग्न्याशय पित्त का माप

अग्न्याशये भवेत्पित्तमग्नि रूपं तिलोन्मितम् ।

शाङ्ग० प्र० खं० ५ अ०

पाचक पित्त के लिये भेल संहिता के शरीर स्थान में निम्नोक्त प्रमाण मिलता है :—

स्थूल कायेषु सत्त्वेषु यवमात्र प्रमाणतः ।

ह्रस्व कायेषु सत्त्वेषु त्रुटिमात्र प्रमाणतः ॥

चरक ने मस्तिष्क का माप अर्द्धाञ्जलि (मस्तिष्क-स्यार्द्धाञ्जलिः—च० शा० ७) अर्थात् ६ औंस या १८० घन सेंटीमीटर (C. C.) दिया है। चूँकि मस्तिष्क एक ठोस पदार्थ है तथा प्रत्यक्ष में भी उसका अर्द्धाञ्जलि होना सम्भव नहीं है अतः यह निश्चित है कि नाप मस्तिष्क का नहीं बल्कि मस्तिष्कान्तर्गत तर्पक कफ (Cerebrospinal fluid) का है। यहाँ एक अलंकार है जिसमें वस्तु के बदले में उसके अधिष्ठान का प्रयोग किया है। इस अलंकार को अंग्रेजी में Metonymy कहते हैं। आधुनिक मत से तर्पक कफ (C. S. Fluid) का माप ५ औंस या १५० घन सेंटीमीटर है जो प्राच्य मत से मिलता जुलता है तथा ऋषियों के गंभीर ज्ञान का परिचायक है।

वायु की सूक्ष्मावस्था के कारण उसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया। किन्तु एक जैन ग्रन्थ में वायु का प्रमाण मिलता है जो कहाँ तक उपयुक्त है, विचारणीय है—“वातावुद पलं ज्ञेयमिति ।” बाह्य वायु एवं विद्युत शक्ति के समान वात के अच्छे बुरे कार्य देखे जाते हैं, तथा यदि उसका कोई मीटर याने मापक यन्त्र भविष्य में बन सका तो विद्युत के समान यूनियों में अथवा वायु मण्डल के वायु दाब के समान (Milimeter of mercury) में उसका माप किया जा सकेगा, ऐसी आशा है। (Sphygmomanometer) के द्वारा जो रक्त चाप नापा

जाता है वह रक्तस्थ वात का ही नाप है जो प्राकृत और विकृत अवस्था में भिन्न-भिन्न रहता है।

(च) भेद तथा कोषाणु विज्ञान (Kinds and cytology)

दोषों के मुख्य दो प्रकार हैं :—

(१) शरीर व्यूहघटक याने शरीर के उपादान रूप

(२) शरीर व्यापार घटक याने शारीरिक क्रियाओं के कर्त्ता रूप।

पंचभूतात्मक आहार रस से प्रसाद रूप त्रिदोषों का निर्माण होने के पश्चात् उनका कुछ भाग साधारण शक्ति युक्त और कुछ विशेष शक्ति सम्पन्न हो जाता है। प्रथम भाग शरीर-रचना में और दूसरा शरीर-क्रियाओं के करने में भाग लेता है। तद्वत् कुछ भाग सूक्ष्म व कुछ स्थूल रहता है। शरीर व्यूह घटक विभाग सप्त धातुओं में रूपान्तरित हो जाने से प्रायः सूक्ष्म ही है, क्योंकि यद्यपि सप्त धातुएँ दृश्यमान हैं किन्तु वहाँ त्रिदोष स्पष्ट नहीं दिखाई देते। गुण और कर्मों के द्वारा दोषों की उपस्थिति का अनुमान होता है। शरीर व्यूह घटक दोषों के निर्माण में पृथ्वी और आकाश तत्त्व का भाग इतर की अपेक्षा अधिक रहता है क्योंकि ये निष्क्रिय महाभूत हैं और इसीलिये दोषों का यह विभाग साधारण शक्ति युक्त रहता है।

प्रसाद रूप त्रिदोष का वह भाग जो शक्ति सम्पन्न और शरीरव्यापक घटक के रूप में रहता है, सूक्ष्म व स्थूल दो प्रकार का है। सूक्ष्म का अनुमान क्रियाओं के द्वारा हो जाता है। स्थूल में क्रियाएँ भी होती हैं और वह दृश्यमान भी है। सप्त धातुएँ शक्ति सम्पन्न स्थूल व सूक्ष्म दोनों प्रकार के दोषों के लिये मार्ग साधन का कार्य करती हैं तथा प्रधानतया नाड़ी धातु (Nervous tissue) वायु प्रतान (Nerves) द्वारा वातार्थ, रक्त धातु रक्त प्रणालियों

(Blood vessels) द्वारा पित्तार्थ तथा रस धातु रसायनियों (Lymphatics) द्वारा कफार्थ मार्ग साधन करते हैं तथा तद्-तद् दोष भूयिष्ठ रहते हैं। ये धातुएँ एवं उनकी प्रणालियाँ सर्व शरीरव्यापी होने से, त्रिदोष शरीर व्यापार घटक की अवस्था में भी व्यापक हैं; यद्यपि शरीर व्यूह घटक त्रिदोष की अपेक्षाकृत व्याप्य हैं। उनका व्यापकत्व सर्व शरीरस्थ होने की अपेक्षा सर्व शरीरचरत्व होने के कारण विशेष है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि शरीर व्यापार घटक त्रिदोष, क्रिया शरीर दृष्ट्या (Physiologically) व्यापक हैं और शरीर व्यूह घटक त्रिदोष, रचना शरीर दृष्ट्या (Anatomically) व्यापक हैं।

व्यूहघटक दोषों का वर्णन आयुर्वेद में सप्त धातुओं के रूप में है। व्यापार घटक दोष ही दोषों के नाम से यथार्थ में व्यवहृत होते हैं, अतः अब उसके भेदों का वर्णन करते हैं। स्वरूप के अनुसार इसके प्रसाद और मल तथा सूक्ष्म और स्थूल भेद इसी बिन्दु के 'ख' खण्ड में बता दिये गये हैं। अब स्थान व कर्म के अनुसार विभक्त प्रत्येक दोष के पाँच-पाँच भेदों का उनके सूक्ष्म और स्थूल स्वरूपों सहित निरूपण करते हैं :—

(१) पाँच-पाँच भेदों का निरूपण

वायु—प्राणापान समानोदान व्यानभेदात्।

पित्त—आलोचक रञ्जक सधक पाचक आजक भेदात्।

आलोचक के चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धिवैशेषिक दो भेद भेलसंहिता में और दिये हैं।

कफ—अवलम्बक क्लेदकबोधक तर्पक श्लेष्मक भेदात्।

(२) सूक्ष्म और स्थूल का निरूपण

वायु-सूक्ष्म—पाँचों भेद सूक्ष्म हैं

स्थूल—कोई नहीं।

(अधोऽंश पृष्ठ ६२० पर देखें)

सन् १९५१]

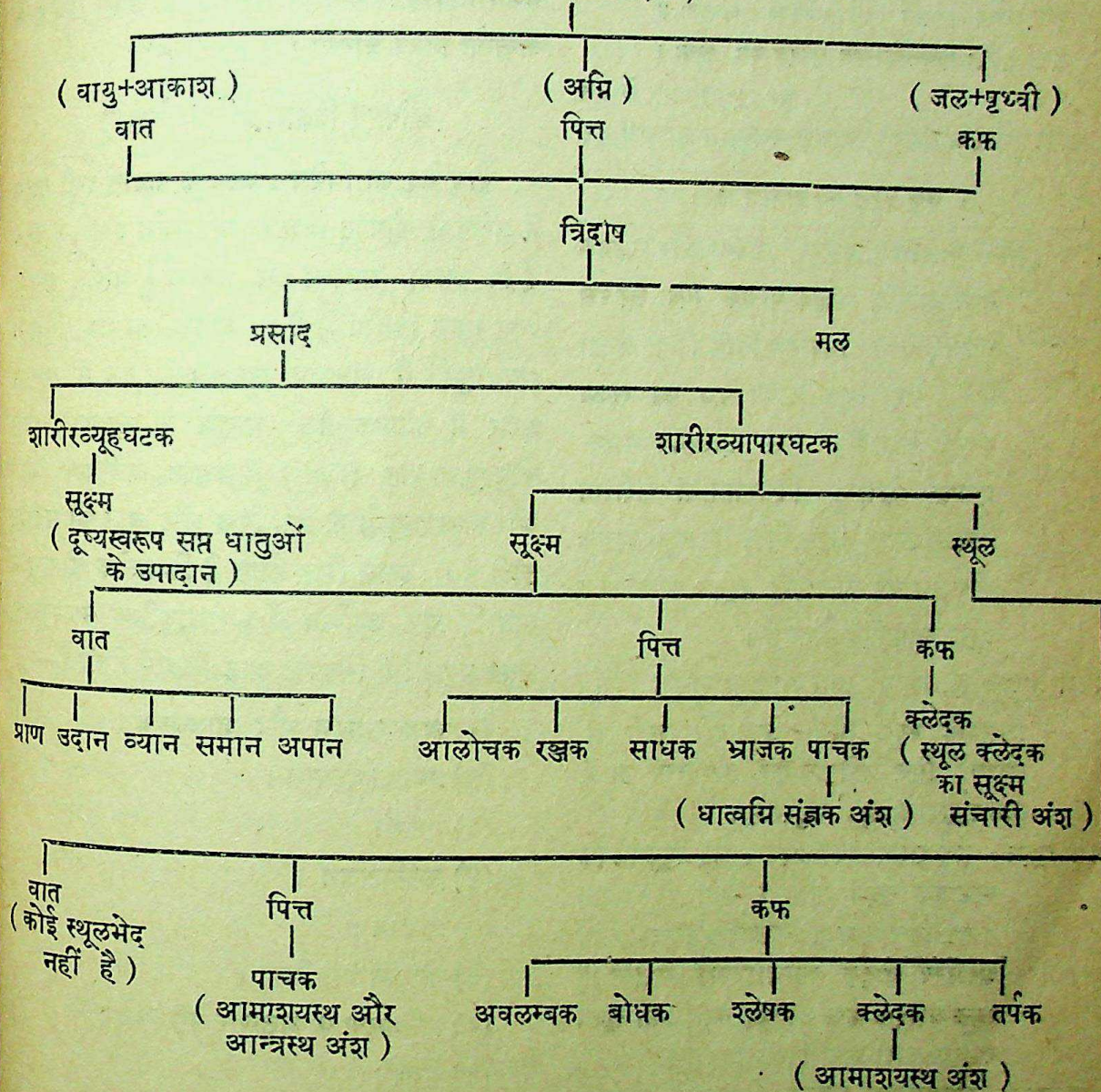
शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६१९

उपरिनिर्दिष्ट दोषों के निर्माण, स्वरूप और भेदों का स्पष्ट परिज्ञान कराने के लिये नीचे एक तालिका बनायी जाती है :—

पंचमहाभूत

(पंचीकृत या कार्यरूप)



वस्तुतः दोषों के अपरिसंख्येय भेद हैं किन्तु ऊपर प्रधान भेदों का वर्णन किया है। कहीं-कहीं वायु के ४९ भेद बताये हैं। उपर्युक्त पांच वायु और ये पांच उपवायु कहलाती हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। धनञ्जय मृतक अवस्था में भी रहती है। इसी तरह पित्त के कहीं-कहीं तेरह भेद बताये हैं—१ जाठराग्नि, ७ धात्वग्नि और ५ भूताग्नि। चरक ने वृद्धिक्षय भेद से दोषों के ६२ भेद गिनाये हैं, यथा :—

द्व्युल्वणैः कोल्वणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् ।
 समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश ॥
 संसर्गे नव षट् तेभ्य एक वृद्ध्या, समैश्चयः ।
 पृथक् त्रयः स्युस्तेर्द्वैर्व्याधयः पञ्चविंशतिः ॥
 वृद्धिः क्षयकृतश्चान्यो विकल्प उपदेक्ष्यते ।
 वृद्धिरेकस्य समता त्वैकस्यैकस्य संक्षयः ॥
 द्वन्द्व वृद्धिः क्षयश्चैकस्यैक वृद्धिर्द्वयोः क्षयः ।

च० सू० १७।४२ से ४५

इसी प्रकार अष्टांगहृदयकार ने सूत्रस्थान अध्याय १२

(पृष्ठ ६१८ का शेषांश)

पित्त-सूक्ष्म—आलोचक, रञ्जक, साधक और भ्राजक तथा धात्वग्नि संज्ञक पाचक पित्त जो रस रक्तादि धातु विपरिणामिनी क्रिया करता है। यह स्थूल पाचकपित्त का सूक्ष्म संचारी भाग है। “स तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निर्मणानुग्रहं करोति ।” स्थूल पाचक पित्त का यह कार्य इसी सूक्ष्म पाचकपित्त द्वारा सम्पादित होता है।

पित्त स्थूल—आमाशय तथा आन्त्रस्थ पाचक पित्त ।

त्रिरूपं हि स्थूल पित्तं—आमाशये अम्लं रसं, ग्रहण्यां पित्तं कोषादागतं कटुतिक्तं प्रायं, अग्न्याशयान्निःसृतं कटुरसम् ।

कफ-सूक्ष्म—सर्व शरीर चर क्लेदक । यह स्थूलक्लेदक कफ का सूक्ष्म संचारी भाग है। “स तत्रस्थमेव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदकं कर्मणानुग्रहं करोति ।” स्थूल क्लेदक कफ का यह कार्य इसी सूक्ष्म क्लेदक द्वारा सम्पादित होता है।

कफ स्थूल—आमाशयस्थ क्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक* और श्लेषक ।

* तर्पक—कविराज श्री गणनाथ सेन ने क्लेदक के समान तर्पक के भी सूक्ष्म और स्थूल दो भेद माने हैं। “इन्द्रियाणामात्मवीर्येण-अनुग्रहं करोति-इति कृत्वा शिरसि सौम्य गुणाधानकरः सूक्ष्मः । नासाचक्षुरादीनामार्द्रताप्रदः स्थूलः ।”

में वृद्धिक्षयात्मक ६२ भेद बताये हैं, जो रोगों के कारण हैं तथा स्वास्थ्यहेतु सामान्यावस्थित दोषों को मिलाकर उनके कुल ६३ भेद हो जाते हैं। विकृतावस्था में दोषों के जो और भी भेद होते हैं; उनका वर्णन त्रिदोष विकृति विज्ञान नामक सप्तम बिन्दु के अन्तर्गत किया जायगा।

कोषाणु विज्ञान (Cytology)

दोष भेद का विवेचन करने के पश्चात् इसी सप्तम में संक्षेप से कोषाणु विज्ञान का वर्णन इसलिये करते हैं कि उसका सम्बन्ध इस प्रकरण में वर्णित शरीर व्यूह घटक त्रिदोष से है। त्रिदोष का यह विभाग सप्तधातुओं से समवाय सम्बन्ध के रूप में सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है। धातुओं के सूक्ष्मतम अंश कोषाणु या सेल (Cell) में क्रमशः जलीयत्व, ताप और चलत्व गुणों से कफ पित्त और वात की प्रतीति होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक कोषाणु में वातादि त्रय उपस्थित हैं। आधुनिक मतानुसार चेतन पदार्थों में निम्नोक्त आठ क्रियाएँ होती हैं—

- (१) आहार ग्रहण और आत्मसादन ।
- (२) श्वासोच्छ्वास ।
- (३) गमन ।
- (४) मलविसर्जन ।
- (५) प्रजनन ।
- (६) आघात प्रतिक्रिया ।
- (७) वातावरण के अनुसार परिवर्तन ।
- (८) मरण ।

ये क्रियाएँ कुल-न-कुल अंश में शरीर के प्रत्येक कोषाणु में पायी जाती हैं, जिसकी पुष्टि प्रायोगिक परीक्षाओं द्वारा हो चुकी है। इनका सम्बन्ध त्रिदोष के भावाभाव तथा उसके विभिन्न अवयवों से है, अतः इससे भी निश्चित होता है कि प्रत्येक कोषाणु में

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६२१

त्रिदोष अवस्थित हैं। कोषाणु का कौन-सा भाग किस दोष का है इसका निर्देश दशम बिन्दु में किया है। ये कोषाणु शरीर निर्माण की इकाई (Unit) हैं। इन ईंट रूपी इकाइयों के संयोग से अंग, संस्थान तथा धातुओं (Organs, systems and tissues) का निर्माण होकर शरीर रूपी भवन तैयार होता है। ये कोषाणु गतिहीन और गतिमान दो प्रकार के होते हैं। रक्त, लसीका, शुक्र आदि द्रव धातुओं में उपस्थित कोषाणु गतिमान तथा अस्थिमांसादि ठोस धातुओं में गतिहीन हैं। गम्भीरता से देखा जावे तो इन गतिहीन सेलों में भी अपने स्थान पर कुछ-न-कुछ गति होती ही रहती है किन्तु वे गतियुक्त कोषाणु के समान भ्रमणशील नहीं हैं।

यहाँ पर एक शंका होती है कि गति वायु का धर्म है तथा वायु का स्थान इतर धातुओं की अपेक्षा अस्थि में विशेष है (तत्राऽस्थि स्थितो वायुः)। रस और शुक्र कफ प्रधान तथा रक्त पित्त प्रधान धातुएँ हैं। ऐसी अवस्था में अस्थि के कोषाणुओं का स्थिर रहना और रस-रक्त तथा शुक्र के अणुओं का गतियुक्त होना कैसे सम्भव है? इसका समाधान इस प्रकार है—

प्रत्येक दोष में अनेक गुण हैं (चौथे बिन्दु के 'ग' खण्ड में वर्णित)। उनमें से दोषों में सब गुणों का एक साथ तथा एक प्रमाण में होना आवश्यक नहीं है। गुणों के संख्या भेद और विकल्प याने उनकी अंशांश कल्पना से एक ही दोष में भिन्न-भिन्न स्थानों पर वैचित्र्य हो जाता है। यद्यपि रस, रक्त और शुक्र वात प्रधान धातुएँ नहीं हैं तथापि तत्रस्थ वायु में उसके अन्य गुणों की अपेक्षा लघुत्व और चलत्वगुण सर्वाधिक रहते हैं, इसलिये इन द्रव धातुओं के अणु गतिशील होते हैं। अस्थि में पित्त और कफ की अपेक्षा वायु का आधिक्य होने से वह वात प्रधान

धातु है किन्तु तत्रस्थ वायु में चलत्वगुण बहुत कम तथा वायु के शेष गुण—रुक्षता, खरता आदि विशेष रहने से उसके अणु रस रक्तादि के समान गतिशील नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि अस्थिमांसादि ठोस धातुओं में त्रिदोष के अतिरिक्त पृथ्वी तत्त्व तथा रस रक्तादि द्रव धातुओं में आकाश तत्त्व अधिक रहने से, ठोस धातुएँ गुरु और स्थिर तथा द्रव धातुएँ लघु और चल हैं। गुरु धातुएँ पृथ्वी तत्त्व के आधिक्य के कारण स्वभावतः स्थिर हैं तथा उनपर वायु के चलत्वगुण का प्रभाव भी कम होता है। द्रव धातुएँ जल तत्त्व के कारण स्वभावतः गतिशील हैं तथा आकाश तत्त्व के आधिक्य के कारण उनके लघु होने से वायु के चलत्व गुण का प्रभाव गुरु धातुओं की अपेक्षा उन पर अधिक होता है।

(छ) स्थान (Sites)

ऊपर किये गये विवेचन से सिद्ध होता है कि प्रत्येक कोषाणु या सेल त्रिदोष का स्थान है किन्तु यह बात व्यूह घटक त्रिदोष के लिये विशेष लागू होती है। व्यवहार और उपयोग की दृष्टि से व्यापारघटक त्रिदोष अधिक महत्त्व के हैं अतः अब उसके प्रधान स्थानों का वर्णन किया जाता है—

(अ) तीन दोषों के स्थान

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।

अ० ह० सू० १।७

यद्यपि ये सम्पूर्ण शरीर में व्यापक अथवा सर्व-शरीर चर हैं तथापि वात-पित्त और कफ के विशिष्ट स्थान क्रमशः हृदय और नाभि के नीचे, मध्य और ऊपर हैं। स्थान के सम्बन्ध में चरक महारोगाध्याय में निम्नलिखित वर्णन दिया है—

तेषां त्रयाणामपि दोषाणां शरीरे स्थानविभागमनु-
व्याख्यायमानः । तथा-तस्मिन् पुरीषाधानं कटिः सक्थिनि

पादावस्थीनि च वातस्थानानि, तत्रापि पकाशयो विशेषेण वातस्थानम् । स्वेदोरसोलसीका रुधिरमामाशयश्चेति पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् । उरः शिरोग्रीवा पर्वाण्यामाशयोमेदश्चश्लेष्मणः स्थानानि, तत्रापि उरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम् ॥ च० सू० २०।८

त्रिदोष सर्व शरीर व्यापक तथा सर्व शरीर चर होने पर भी वात-पित्त और कफ के उपर्युक्त मुख्य तीन स्थान बताने के कारण—

(१) पचन क्रिया के समय अन्न प्रणाली में इन्हीं तीन स्थानों में उनका उद्गम होता है ।

(२) दोष जब वृद्ध एवं कुपित होते हैं तो इन्हीं स्थानों पर संचित होकर विभिन्न भागों में प्रसृत होते हैं ।

(३) निदानार्थ, दोषों के व्यवहारोपयोगी मल परिणाम या विकृत स्वरूप का दर्शन यहीं से निकले हुए कफ, पित्त और वायु से होता है । पित्त ज्वर व अम्लपित्त में आमाशय एवं ग्रहणी में पित्त का संचय हो वमन में हरा, नीला, पीला कट्वम्ल रस युक्त द्रवरूप पित्त प्रत्यक्ष गिरता है । निमोनिया व कासश्वासादि में श्वेत-पिच्छिल मल रूप कफ फुफ्फुस व श्वास मार्ग से गिरता है । आध्मान, ग्रहणी आदि में मल रूप अधोवायु पकाशय में कुपित हो गुदद्वार से सशब्द बाहिर आती है । प्रत्यक्ष शारीर में लिखा है—

यत्र-यत्र कायांशे विशेषेण मल परिणामो वैकृत लक्षण दर्शनं वा वातादीनां, तत्रैव तेषामवस्थान विशेषः कल्प्यते स्थूलबुद्धीनां बोधसौकर्याय ।

त्रिदोषों के मल उनके कार्य अथवा परिणाम हैं, इसलिये यदि कारणरूप सूक्ष्म दोषों के स्थान न बता कर कार्यरूप स्थूल मलों के स्थान बता दिये गये तो यह अनुचित नहीं है ।

(४) चिकित्सा में दोष शान्ति के लिये जो वमन-विरेचन व बस्ति का प्रयोग होता है उसके द्वारा

तत्स्थानीय प्रकुपित कफ, पित्त व वायु निष्कासित होते हैं और प्रत्यक्षरूप से तत्जन्य रोगों की शान्ति देली जाती है ।

(५) वात संस्थान का केन्द्र शिरस्थ मस्तिष्क होने के कारण वायु का प्रधान स्थान मस्तिष्क बताना चाहिये था ; ऐसी एक शंका होती है । किन्तु उपरि निर्दिष्ट कारणों से इसका समाधान हो जाता है । इसके सिवा शरीर के हृदय, फुफ्फुसादि आन्तरिक अंगों की क्रिया के लिये मस्तिष्क, सौषुम्निक नाड़ी संस्थान की अपेक्षा स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का विशेष महत्त्व है । इसका मस्तिष्क जिसे उदर्य मस्तिष्क (Abdominal brain) कहते हैं, वह, तथा सुषुम्नामूल पकाशय के समीप है ; इसलिये भी वात का प्रधान स्थान पकाशय कहना अनुचित नहीं है । तथाच पाँचों वायुओं में प्राण और अपान प्रधान हैं जिनमें शेष तीन का अन्तर्भाव हो जाता है । इन दोनों में भी अपान प्रधान वायु है क्योंकि प्राण तो सिर्फ अन्न-जल और वायु का प्रवेश शरीर में करती है किन्तु अपान के द्वारा ही नूतन रसोत्पत्ति तथा रसमल विवेक और मल निष्कासन की क्रिया सम्पादित होती है । अतः अपान प्रधान वायु तथा उसका स्थान पकाशय प्रधान वात स्थान है ।

आशयों की दृष्टि से दोषों का स्थान—

सुश्रुत शारीर पाँचवें अध्याय में वाताशय, पित्ताशय और कफाशय के नाम से तीन दोषों के तीन आशय बताये गये हैं और इनसे उपर्युक्त तीन स्थान ही इंगित होते हैं । पचन संस्थान की दृष्टि से आमाशय, पच्यमानाशय और पकाशय क्रमशः कफाशय, पित्ताशय और वाताशय हैं ।

यहाँ पर दो शंकाएँ होती हैं—(१) कफाशय और वाताशय के अतिरिक्त आमाशय और पकाशय का निर्देश आशयों में अलग से किया है तब ये इनके

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिपद् के निबन्ध

६२३

समानार्थक कैसे हैं ? इसका उत्तर यह है कि आशयों का जो निर्देश वहाँ पर है। वह आशय संज्ञा सामान्य की दृष्टि से है, न कि आशय गणना की दृष्टि से। अर्थात् शरीर में आशय के नाम से आठ नामों का उपयोग होता है जिनका भिन्न-भिन्न होना आवश्यक नहीं है। (२) दूसरी शंका यह होती है कि 'तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्त स्थानम्' ऐसा निर्देश चरक सूत्रस्थान में है तब फिर उसे कफाशय क्यों माना ? इसका उत्तर यह है कि आमाशय (Stomach) में क्लेदक कफ तथा अम्ल रस पाचक पित्त दोनों रहते हैं, इसलिये वह कफ स्थान तथा पित्त स्थान दोनों है। जैसा चरक ने भी लिखा है। यथार्थ में आमाशय का अधोभाग पित्तस्थान तथा ऊर्ध्वभाग कफस्थान है। शाब्दिक दृष्ट्या मुँह से लेकर आमाशय (Stomach) के ऊर्ध्वार्ध तक शुद्ध आम का स्थान है। जो सम्पूर्ण आमाशय या कफाशय कहा जा सकता है, तथा चरक द्वारा 'उरो-विशेषेण श्लेष्मस्थानम्' ऐसा कहने से यही निष्कर्ष निकलता है। सुश्रुत ने सूत्रस्थान २१ के ६, १२ और १३ वें श्लोक में स्पष्ट रूप से आमाशय को श्लेष्मा का स्थान लिखा है। पित्ताशय में आमाशय (Stomach) का आधा भाग, ग्रहणी (Duodenum) तथा क्षुद्र अन्त्र हैं जहाँ पर आहार पच्यमानावस्था में रहता है। यह भी संभव है कि चूँकि यहाँ पर आहार अर्ध आमावस्था में रहता है इसलिये चरक ने इसे भी आम का स्थान मानकर 'तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्' ऐसा लिख दिया हो। शास्त्र में पच्यमानाशय का अलग निर्देश न होने से तथा वहाँ पर आहार के अर्ध आमावस्था में रहने के कारण उसका अन्तर्भाव चरक ने आमाशय में कर दिया है। मैंने जो कफाशय को आमाशय माना है उससे आमाशय का पूर्व निर्दिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत है जो सुश्रुत द्वारा

मान्य है। पच्यमानाशय के लिये प्रयुक्त चरकोक्त अर्थ नहीं।

वाताशय के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं हो सकती क्योंकि 'पकाशयो विशेषेण वातस्थानम्' ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। कुछ विद्वानों के मत से महास्रोत के उपर्युक्त भागों के अतिरिक्त कफाशय में फुफ्फुस का तथा पित्ताशय में पित्ताशय (gallbladder) युक्त यकृत और अग्न्याशय (Pancreas) का भी अन्तर्भाव किया जाता है जो ठीक ही है।

धातुओं की दृष्टि से दोषों के स्थान—

तत्राऽस्थित स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेद रक्तयोः ।

श्लेष्मा शेषेषु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः ॥

अ० ह० सू० ११।२६

जिस धातु में जो दोष अधिक रहता है; वह उस दोष का स्थान मान लिया गया है क्योंकि 'वाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सिद्धान्त है। यथार्थ में दोष सब धातुओं में व्याप्त और सर्व शरीर व्यापक हैं— 'पञ्चभूतानीव च ते शरीरे व्यापिनः।' च० सू० २०।

यद्यपि लसीका और रस* कफ प्रधान धातुएँ हैं तथापि चरक ने सूत्रस्थान बीस में (जैसा कि ऊपर उद्धृत किया है) रक्त के साथ इनका भी पित्त स्थानों में समावेश कर दिया है। इसका कारण इन धातुओं का तथा पित्त का द्रवत्वगुण सामान्य है (पित्त के गुण देखिये)। इसके सिवा पाँचभौतिक आहार से द्रवरूप रस-धातु का निर्माण पाचक पित्त के द्वारा होता है तथा इनके द्रवस्वरूप में स्थायित्व पित्त के कारण

*रस—रस धातु के दो प्रकार हैं—(१) पोषक रस और (२) पोष्य या स्थायी रस। यहाँ पर रस शब्द पोषक रस के लिये और लसीका पोष्य या स्थायी रस के लिये आया है। शास्त्रोक्त केदारकुल्यान्याय द्वारा स्थायी रस से सप्त धातुओं का (रस वर्ज्य) क्रमशः उत्तरोत्तर निर्माण होता है तथा खल्लेकपोतन्याय द्वारा पोषक रस से युगपत् सप्त धातुओं का पोषण होता है।

है। ऊष्मा अर्थात् पित्तहीन अवस्था में वे द्रवत्वहीन होकर रक्तके समान जम जाती हैं। जैसा कि जीवित शरीर से बाहर निष्कासित होने पर तथा मृत शरीर के अन्दर रहने पर उनमें प्रत्यक्ष देखा जाता है। मृत्युत्तर संकोच (Rigor mortis) में मांसपेशियों के साथ इनका सहयोग भी रहता है। इस तरह इनके द्रवत्व का कारण भले ही पित्त हो किन्तु द्रवत्व जल तत्त्व का गुण होने से इनके घटकों में कफ का प्राधान्य है अतः इन्हें कफ का स्थान मानना उचित है, तथा वाग्भट के उपर्युक्त श्लोक से लसीका और रस का कफाधिष्ठान होना ही सिद्ध होता है। रस के सम्बन्ध में सुश्रुत में लिखा है—

स.....कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्द्धयतिधारयति
यापयति चादृष्ट हेतुकेन कर्मणा ।.....। अत्रोच्यते-स खलु
द्रवानुसारी स्नेहन जीवन तर्पण धारणादिभिर्विशेषैः सौम्य
इत्यवगम्यते ॥

सु० सू० १४।३

इस प्रकार सौम्य गुण एवं वृद्धि गुणयुक्त होने के कारण रस को कफ का स्थान मानना ही उचित है। रस वृद्धि और श्लेष्म वृद्धि जन्य रोगों में समानता होने के कारण भी रस का कफ भूयिष्ठ होना सिद्ध होता है।

श्लेष्मा (वृद्धो) ऽग्निसदन प्रसेकालस्य गौरवम् ।

श्वेत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः ॥

रसोऽपि श्लेष्मवत्—

॥

अ० ह० सू० ११।७-८

यद्यपि रस शरीरवर्धक प्रधान एवं आद्य धातु है तथापि उसकी वृद्धि से रोगोत्पत्ति होने का कारण उसकी अमावस्था अर्थात् पित्तहीनावस्था है। यदि रस धातु धात्वग्नि संज्ञक पाचक पित्त समान्वित हो तो उसकी वृद्धि से रोगोत्पत्ति न होकर अन्य धातुओं का पोषण होकर शरीर की पुष्टि एवं वृद्धि होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रस के साथ पित्त का सहयोगी के रूप में रहना आवश्यक है। इस-

लिये भी शायद चरक ने रस और लसीका की गणना पित्तस्थानों में कर दी है। वैसे तो प्रत्येक धातु में तीनों दोष हैं ही किन्तु रस और लसीका में कफ प्रधान तथा अन्य दोष गौण हैं।

(आ) दोषों के पांच-पांच भेदों के स्थान :—

तीनों दोषों के जो पांच-पांच भेद व उनके स्थान प्रदर्शित किये हैं वे उनके प्राकृत क्रियाधिक्य के कारण हैं।

पंच वायु के स्थान—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि संस्थितः ।

उदानः कण्ठदेशे च व्यानः सर्वशरीरगः ॥

पंच पित्त के स्थान—

आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृतहृद्गोः, साधकं हृदि,

पाचकं पक्वामाशययोर्मध्ये, आजकं त्वचि ।

रञ्जक पित्त का स्थान वाग्भट ने आमाशय माना है—

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रस रञ्जनात् ।

अ० ह० सू० १२।१३

शाङ्ग धर ने हृदय को रञ्जक पित्त का स्थान कहा है—

रसस्तु हृदयं याति समानं मस्तेरितः ॥

रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ॥

शा० प्र० ६।८

पंच कफ के स्थान—

हृदयामाशय जिह्वा शिरः सन्धिषु क्रमेणावलम्बक क्लेश-
कबोधक तर्पक श्लेष्मक भेदात् ।

(५) गर्भ विज्ञान सहित प्राकृत दोषों के कर्म
या त्रिदोष-क्रिया-विज्ञान (Tridosh Physio-
logy with Embryology)—

इस प्रकार के दो विभाग किये जा सकते हैं—

(१) गर्भ कालीन क्रिया विज्ञान (Embryo-

logical Physiology)

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६२५

(२) जन्मोत्तर क्रिया विज्ञान (Postnatal कफ के कार्य—
Physiology)

(१) गर्भकालीन क्रिया-विज्ञान—

वात, पित्त और कफ शुक्रकीट और डिम्ब में उपस्थित रहते हुए अपनी गति, उष्णता और श्लेषण गुणों द्वारा भ्रूण या गर्भ का निर्माण करते हैं। इस अवस्था में इनके भिन्न-भिन्न मुख्य कार्यों का दिग्दर्शन नीचे करते हैं।

वायु के कार्य—

मैथुन क्रिया तथा शुक्र स्खलन में तीनों दोषों की उपस्थिति रहते हुए भी वायु का प्राधान्य रहता है—

“तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीरात् वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते आर्तवेण। ततोऽग्नि सोम संयोगात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते। श्वेतश्चो.....वायुनाभि-प्रेषमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते। सु० शा० ३।४

शुक्रकीट का चलकर डिम्ब से मिलना, पकडिम्ब को Epiderm, Mesoderm और Hypoderm नामक भागों में विभक्त करना तथा गर्भ में विभिन्न आकार, स्वरूप और इन्द्रियों का निर्माण करना, उस में हलचल या गति पैदा करना इत्यादि कार्य वायु द्वारा होते हैं। उपर्युक्त तीन भागों में से Epiderm या Ectoderm. संज्ञक बाह्य भाग वायु का मुख्य स्थान है और उसके द्वारा त्वचा तथा नाड़ी संस्थान का निर्माण होता है।

पित्त के कार्य—

गर्भ में जो रासायनिक (Chemical) क्रियाएँ होकर विभिन्न अंगप्रत्यंग और धातुएं (Organs and tissues) बनती हैं वे क्रियाएँ पित्त द्वारा होती हैं। Mesoderm संज्ञक मध्य भाग पित्त का प्रमुख स्थान है। शरीर के प्रायः सब प्रधान कोष्ठांग (Viscera) इसीसे बनते हैं।

१२

उक्त क्रियाओं में मौलिक उदापान की पूर्ति तथा कोषाणुओं को संयुक्त रखने का कार्य कफ द्वारा होता है। कफ के द्वारा ही गर्भ माता के गर्भाशय से संलग्न रहता है अर्थात् अपरा और गर्भाशय संयोग का कारण कफ है। कफ, वर्धक द्रव्य होने से Epiderm, Mesoderm और Hypoderm तीनों में उपस्थित रहता है। तथापि Hypoderm या Endoderm नामक अन्तः विभाग में इसका आधिक्य रहता है।

(२) जन्मोत्तर क्रिया-विज्ञान

संक्षेप में वात, पित्त और कफ के प्रधान कार्य क्रमशः गति, पचन और पोषण हैं जो त्रिधातु परिभ्रमण के द्वारा सम्पादित होते हैं। त्रिधातु परिभ्रमण का वर्णन दसव बिन्दु के अन्तर्गत किया गया है। दोषों के विशेष कार्य शास्त्रों में यत्र-तत्र अनेक स्थानों में वर्णित हैं, जिनमें से कुछ यहां उद्धृत करते हैं। इन उद्धरणों में कहीं-कहीं प्राकृत तथा विकृत दोषों के कार्य साथ-साथ दिये हैं किन्तु इस प्रकरण में केवल प्राकृत दोषों के कर्म ही ग्राह्य हैं।

वायु के कर्म—

उत्साहोच्छ्वास निश्वास चेष्टा धातुगतिः समा।

समोमोक्षोगतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम् ॥

च० सू० १८।२

अपिचं,

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीर-धातुन्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोतस्पर्शनयोर्मूलं, हृषोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, श्लेष्मा बहिर्मलानां, स्थूलाणु-क्षोतसां भेत्ता, कर्तागर्भाकृतीनां आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो-भ्रवत्यकुपितः।

च० सू० १२।८

यद्यपि पचन कार्य मुख्य रूप से पाचन रसों द्वारा होता है, तथापि वायु और कफ उसके आवश्यक सहयोगी हैं। प्रत्येक तत्त्व होने के कारण इनमें वायु प्रधान है, क्योंकि वह पचन संस्थान में पित्त और कफ का स्राव कराती है तथा आमाशय और आन्त्र में पचन सहायक विविध गतियाँ (Churning movement of the stomach and peristaltic, pendular and segmental movements of the intestine) पैदा करती हैं।

पित्त के कर्म—

दर्शनं पक्तिरूपमा च क्षुत् तृष्णादेह मर्दवम् ।

प्रभा प्रसादो मेधा च पित्त कर्माऽविकारजम् ॥

च० सू० १८।५३

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा--पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिं वर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ॥

च० सू० १२।११

पचन क्रिया प्रधानतया पित्त के द्वारा होती है। बिना पचन के कोई भी बाह्य वस्तु शरीर में आत्मसात् नहीं हो सकती और न दोष, धातु तथा मलों का निर्माण हो सकता है, इसलिये पित्त का कार्य भी बड़े महत्त्व का है।

कफ के कर्म—

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वञ्च गौरवं वृषता बलम् ।

क्षमाधृतिरलोभश्च कफ कर्माऽविकारजम् ॥

च० सू० १८।५४

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा दाढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्रीवतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति ।

च० सू० १२।१२

कफ यदि शरीर में न हो तो पित्त सब धातुओं को भस्म कर दे। कुदक कफ की कमी के कारण ही आमाशयिक प्रदाह या व्रण हो जाते हैं। यह इस कफ की ही कृपा है। जिससे पाचक पित्त द्वारा

आमाशयस्थ शाकमांसादि का पाचन होता है, किन्तु आमाशय जो स्वयं मांस निर्मित है उसका पाक नहीं होता। इसीलिये कहा है—

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मास्थानान्यनु व्याख्यास्यामः । तत्र आमाशयः (कफाशयः) पित्ताशयस्य उपरिष्ठात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात्तेजसश्चन्द्र इव आदित्यस्य, ... इत्यादि ।

सु० सू० २१।११

जिस तरह संसार में सूर्य की ऊष्मा को चन्द्रमा अपने शैत्य से शान्त रखता है, उसी प्रकार शरीर में कफ, पित्त के ऊपर स्थिति उसके दुष्परिणामों से शरीर को बचाता है। यद्यपि प्रकृति में स्थिति की दृष्टि से ऐसा न होकर कार्य की दृष्टि से है क्योंकि स्थिति दृष्ट्या चन्द्र सूर्य के ऊपर नहीं है तथापि शरीर में पित्ताशय के ऊपर कफाशय तथा सौर मण्डल (Solar plexus) के ऊपर चन्द्रमण्डल (Semilunar plexus) स्थित रहने से यह उपमा स्थिति और कार्य दोनों की दृष्टि से उपयुक्त है।

इस तरह तीनों दोषों के कार्य बताने के पश्चात् प्रत्येक के जो पाँच-पाँच भेद हैं; उनके कर्म सुश्रुतानुसार उद्धृत किये जाते हैं :—

पञ्च वायु—

प्राणोदान समानश्च व्यानश्चापान एव च ।

स्थानस्थामास्ताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणाम् ॥

वायु यौ वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् ।

सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणाश्चाप्यवलम्बते ॥

प्रायशः कुस्ते दुष्टो ह्रिकाश्वासादिकान् गदान् ।

उदानो नाम यस्तूर्ध्वं उपैति पवनोत्तमः ॥

तेन भाषित गीतादि-विशेषोऽभि प्रवर्तते ।

ऊर्ध्वजन्तुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥

आम पक्काशय चरः समानो बहिः संगतः ।

सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥

गुल्माग्निसंगातीसार प्रभृतीन् कुस्ते गदान् ।

कृत्स्नदेह चरो व्यानो रस संवहनोद्यतः ॥

स्वेदासक स्रावणो वापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ।

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिपद् के निबन्ध

६२७

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वं देहगान् ॥

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् ।

समीरणः शङ्खन्मूत्रं शुक्रं गर्भातिवान्यधः ॥

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान् ।

सु० नि० ११२ से १९ तक

इसी प्रकरण में अन्यत्र उपलब्ध पाँच उपवायु के कार्य भी लिख दिये जाते हैं—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।

कृकरः क्षुत्कृत्त्रेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ॥

पंचपित्त —

रागपक्त्योऽस्त्येजोभेदोऽप्यकृत्पित्तं पञ्चधाप्रविभक्तमग्नि कर्मणाऽनुग्रहं करोति ।

सु० सु० १५५

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निर्कर्मणाऽनुग्रहं करोति-तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा । यत्तु यकृत्क्रीन्होः पित्तं तस्मिन् रज्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्यरागकृदुक्तः । यत् पित्तं हृदयसंस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभि-प्रार्थित मनोरथ साधनकृदुक्तः । यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूप ग्रहणाधिकृतः । यत्तु त्वचि पित्तं, तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाह लेपनादीनां क्रिया द्रव्याणां पक्ता, छायाणाञ्च प्रकाशकः । इति

सु० सु० २११०

पंचकफ —

संधिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणवलस्थैर्यकृत्-श्लेष्मापञ्चधा प्रविभक्तः उदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति ।

सु० सु० १५६

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रवलेदित्वात्तथैव च ।

आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुर शीतलः ॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति—तत्र 'वलेदक' इति संज्ञा । उरस्थस्त्रिकसन्धारणमात्मवीर्येणान्नरस सहितेन हृदयावलम्बनं करोति तस्मिन् 'अवलम्बक' इति संज्ञा । आसपथादीनां किञ्चित् श्लेष्मणाऽलेपनं स्वाभाविकमस्यैव

श्लेष्मणः कर्म । जिह्वामूलकगठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्य-त्वत् सम्यग्रसंज्ञाने वर्तते—तस्मिन् 'रसक' इति 'बोधक' इति वा संज्ञा । शिरस्थस्नेहसन्तर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणा-मात्मवीर्येणानुग्रहं करोति—तस्मिन् 'तर्पक' इति संज्ञा । सन्धिस्थस्य श्लेष्मा सर्वसन्धिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति—तस्मिन् 'श्लेषक' इति संज्ञा ।

सु० सु० ३११३-१४

(६) दोष प्रकोपक का गुण या हेतु विज्ञान (Etiology of abnormal tridosh)

तद् तद् प्रकार के आम दोष का निर्माण होकर तद् तद् दोष दूषित व प्रकुपित होते हैं । कहा है—

जठरानलदौर्बल्यात्-अविपकस्तु यो रसः ।

स आम संज्ञको देहे सर्वदोष प्रकोपणः ॥

दोष प्रकोपक बाह्य कारणों के तीन प्रधान विभाग किये गये हैं—(१) असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग (२) प्रज्ञापराध और (३) परिणाम । चरक ने कहा है—“इत्यसात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः प्रज्ञापराधः परिणा-मश्च त्रयस्त्रिविधविकल्पा हेतवो विकाराणाम् ।” चूँकि दोष वैषम्य ही रोग है (रोगस्तु दोषवैषम्यं दोष साम्यमरोगता) इसलिये ये रोगोत्पादक कारण दोष प्रकोपक कारण भी हैं । इन प्रकोपक कारणों का वर्णन विस्तार से इस प्रकार है—

वात प्रकोपक—

व्यायामादपतर्पणा प्रपत्नान्नाद्व्याज्जागरात्, वेगानां च विधारणादति शुचः श्लेष्मादतित्रासतः । रुक्षक्षोभ कषायतिक्त कटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेत्, वायुवैरिधरागमे परिणते चान्नेऽपराहोऽपि च ॥

पित्त प्रकोपक—

कट्वम्लोष्ण विदाहि तीक्ष्णलवण क्रोधोपवासात्प, स्त्रोसम्पर्क तिलातसी दधिसुरा शुक्रारनालादिभिः । भुक्ते ज्ञोर्यति भोजने च शर्षाद ग्रीष्मे सति प्राणिनां, मध्याह्ने च तथाऽर्वरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत् ॥

कफ प्रकोपक—

गुल्मधुररसातिस्निग्ध दुग्धेक्षुभक्ष्य,
द्रवदधिदिननिद्रा पूय सर्पिष्प्रपूरैः ।
तुहिनपतन काले श्लेष्मणः संप्रकोपः,
प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते ॥

—तीसटाचार्य

(७) त्रिदोष विकृति-विज्ञान (Tridosh Pathology)

विकृत दोष की कौन-सी अवस्थाएँ हैं, वे कब और कैसे प्राप्त होती हैं तथा कैसे रोगोत्पन्न करती हैं यह विकृति-विज्ञान का विषय है। विकृत वात पित्त कफ से जो विकृतियाँ होती हैं उनमें क्रमशः शोष, कोथ और क्लेद संक्षेप में प्रधान हैं। दूषित या विकृत दोषों के प्रसार से जिस प्रकार रोगोत्पत्ति होती है; उसे सम्प्राप्ति कहते हैं—

यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निवृत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥

मा० नि० १११०

वृद्ध दोषों की क्रमागत निम्नलिखित छः अवस्थाएँ विकृति-विज्ञान अथवा रोग सम्प्राप्ति के अन्तर्गत आती हैं जिनका वर्णन आगे किया गया है—

संचयञ्च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम् ।

व्यक्ति भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥

सु० सु० २११३६

विकृत दोष की इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कौन-कौन से लक्षण होते हैं ये सुश्रुत सूत्र-स्थान २१ वें अध्याय में दिये हैं। लेख का कलेवर बढ़ जाने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जाता।

ऋतुभेद के अनुसार दोषों का स्वाभाविक संचय, प्रकोप और प्रशम होता रहता है जिसके लिये कहा है—

चय प्रकोपप्रशमा वयोर्ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।

वर्षादिषु च पित्तस्य श्लेष्मणः शिशिरादिषु ॥

अ० ह० सू० १२१२४ तथा च० सू० १७११२

उपर्युक्त ऋतुओं में दोषों का संचय और प्रकोप प्राकृत कहलाता है तथा इतर ऋतुओं में वैकृत। यदि उनका स्वाभावतः शमन नहीं हुआ तो वे प्रसृत होकर रोग के कारण बन जाते हैं।

प्रसर के प्रश्नात् स्थान संश्रय की अवस्था होती है। स्थान-संश्रय के लिये स्थान वैगुण्य आवश्यक है जहाँ पर दोष आश्रय लेते हैं; तदनन्तर रोग की अभिव्यक्ति या रोगोत्पत्ति होती है। कहा भी है—
“कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगस्तु स्व वैगुण्यात् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥” सु० सु० २४११० ॥ अतः रोग का चित्र विकृत दोष और स्थान वैगुण्य के संयोग से बनता है। आजकल रोग की व्याख्या की जाती है कि लक्षणों के समूह को रोग कहते हैं। किन्तु यह बात गलत है। दोष वैगुण्य तथा स्थान वैगुण्य के संयोग के कारण शरीर में जो विकृति होती है वह रोग है। लक्षण-समूह व्याधि चित्र के निदर्शक परिणाम हैं; जिनसे व्याधि का अनुमान होता है।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति के लिये समवायि, असमवायि और निमित्त तीनों कारण आवश्यक होते हैं; किन्तु उसके नाश के लिये निमित्त कारण का नाश आवश्यक नहीं होता। शेष दो में से किसी एक के नाश से कार्य का नाश हो जाता है, किन्तु प्रत्येक अवस्था में आसमवायि कारण का नाश होता ही है। रोग के प्रति मिथ्याहार-विहारादि समवायि कारण हैं तथा दोष-दूष्य और संयोगरूपी सम्प्राप्ति कारण हैं एवं दोष निमित्त कारण हैं। इनमें से किसी एक के अभाव में रोगरूपी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्य के निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है, किन्तु इस प्रकरण में दोषरूपी निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश हो जाता है, यह विशेषता है। इसका कारण

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६२९

यह है कि दोष, सम्प्राप्तिरूपी असमवायि कारण में भी भाग लेते हैं। मधुकोषकार ने इसका कारण यह बताया है कि दोष आधारभूत अथवा स्थायी निमित्त कारण हैं, जैसे दीपक के प्रति वर्ति और तैल। वर्ति और तैल निमित्त कारण होते हुए भी उनके नाश से दीपक का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जल-पंक भी आधारभूत निमित्त कारण है तथा उसके नाश से कमल का नाश हो जाता है। कुछ विद्वान् दोषों को समवायि कारण मानते हैं किन्तु यह विवाद इस लेख की सीमा के बाहिर होने से अविचार्य है।

विकृत स्थिति में दोषों के जो भेद होते हैं, उनके सम्बन्ध में मधुकोषकार ने निम्नलिखित संग्रह श्लोक दिया है—

दोषस्य च प्राकृत वैकृताभ्यां भेदोऽनुबन्ध्यादपिचानुबन्धात् ।
तथा प्रकृत्यप्रकृतित्वे योगात्तथाऽऽशयाकर्षवशाद्गतेश्च ॥

मा० नि० १।५ की मधुकोष टीका

विस्तार भय सं सब का वर्णन न करके गतिभेद से दोषों का वर्णन देते हैं—

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधागतिः ।

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यग् च विज्ञेया त्रिविधा परा ॥

त्रिविधा चापरा कोष्ठ शाखा मर्मास्थि सन्धिषु ।

इत्युक्ता विधि भेदेन दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥

च० सू० १७।११४, ११५

दोषों के वृद्धि क्षयात्मक ६२ भेदों का निरूपण चौथे विन्दु के 'च' खण्ड में कर दिया गया है। ज्यादातर दोषों की वृद्धि या प्रकोप से ही रोग उत्पन्न होते हैं। दोषों के क्षय से रोगोत्पत्ति न होकर उनके प्राकृतिक कार्यों में न्यूनता हो जाती है तथापि कुछ सामान्य रोगों की सम्भावना रहती है और बहुधा क्षीणतर शेष दोष साम्य रहने पर भी प्रायः उनकी वृद्धि के लक्षण मालूम होते हैं।

मधुकोष के संग्रह श्लोक में वर्णित भेदों के अतिरिक्त दोषों के साम और निराम दो प्रधान भेद

और हैं जिसका ज्ञान चिकित्सक के लिये आवश्यक है। इसका वर्णन इस प्रकार है—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।

दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥

आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः ।

सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥

अ० ह० सू० १३।२५-२७

स्रोतरोध बलभ्रंश गौरवानिलमूढताः ।

आलस्यापक्ति निष्टीव मलभेदाहचिक्रमाः ॥

लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ।

वातादि प्रत्येक दोष के साम-निराम गुणों का वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध है किन्तु विस्तार भय से उन्हें नहीं दिया जाता। सर्वप्रथम निर्दिष्ट संचय प्रकोपादि ६ अवस्थाएँ इसी साम दोष की होती हैं। आम दोष के कारण व्याधि की ३ अवस्थाएँ होती हैं—सामावस्था, पच्यमानावस्था और निरामावस्था।

सम्प्राप्ति की क्रमागत ६ अवस्थाएँ तथा विकृत दोष के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् सम्प्राप्ति के भेदों का उल्लेख करते हैं—

संख्या विकल्प प्राधान्य बल काल विशेषतः ।

सा भिद्यते.....॥

मा० नि० १।११

(८) प्रकुपित दोषों के कर्म (Symptomatology and Nosology)

इस विवरण के दो विभाग हैं, पहिला लक्षण-विज्ञान और दूसरा व्याधि-विज्ञान। इनमें क्रमशः प्रकुपित वातादि के लक्षण तथा दोषानुसार व्याधियों का वर्गीकरण किया गया है।

(१) लक्षण-विज्ञान (Symptomatology)—

वात-पित्त-कफ से उद्भूत लक्षणों के अपरिसंख्येय होते हुए भी उनमें क्रमशः शूल, दाह और शोथ मुख्य हैं। पूना-परिषद् ने शोथ के स्थान में गौरव को विकृत कफ का प्रधान लक्षण दिया है जो अधिक

व्यापक है किन्तु अष्टाङ्गहृदय का यह श्लोक शोफ
अथवा शोथ के पक्ष में है—

शूलं नर्तेऽनिलाद्वाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् ।

अ० ह० सू० २९।६

अब प्रकुपित वातादि के लक्षण अथवा कर्मों का
विस्तृत विवरण दिया जाता है। यद्यपि इसमें प्रत्येक
लक्षण का वर्णन न करके सिर्फ उनका नाम निर्देश है
इसलिये इसे विस्तृत विवरण नहीं कहना चाहिये
तथापि अनेक लक्षणों का निर्देश होने से, पूर्व निर्दिष्ट
एक-एक लक्षण की तुलना में यह विस्तृत विवरण
ही है।

वात लक्षण—

आध्मानस्तंभरौदयस्फुटनविमथन क्षोभ कम्प प्रतोदः,
कंठध्वंसावसादौ श्रमक विलपनं स्रंस शूल प्रभेदाः ॥
पारुष्यं कर्णनादो विषम परिणति भ्रंश दृष्टि प्रमोहा,
विस्पन्दोद्धट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥
नामोन्नामो विषादो भ्रम परिपतनं जृम्भणं रोमहर्षो,
विक्षेपाक्षेप शोष ग्रहण शुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च ।
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा,
विद्यात्कर्माण्यमूनि प्रकुपित मरुतः स्यात्कपायो रसश्च ॥

पित्त लक्षण—

विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं,
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ।
ऊष्माऽनृसितमः प्रवेशदहनं कट्वम्लतित्ता रसाः,
वर्णः पाण्डु विवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥

कफ लक्षण—

तृप्तिस्तन्द्रागुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्,
स्नेहापक्त्व्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ।
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू,
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥

संसर्ग तथा सन्निपात लक्षण—

द्विदोष लिङ्गः संसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः ॥

—सुदान्तसेन

(२) व्याधि विज्ञान (Nosology)

वातादिजन्य विकार अनेक हैं तथापि निदान
और चिकित्सा सौकर्य के लिये शास्त्रों में उनकी संख्या
क्रमशः ८०, ४० और २० के हिसाब से दी गई है।
भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में प्रायः नामान्तर तथा पाठान्तर
पाया जाता है। च० सू० २० अ० में यह गणना
गद्य रूप में है। शार्ङ्गधर ने पूर्वखण्ड सप्तम अध्याय
में इसे पद्य रूप में दिया है तथा दोनों की नामावली
में काफी अन्तर है। माधव निदान के परिशिष्ट में
यह गणना पद्य रूप में दी गई है जो शार्ङ्गधर से
मिलती-जुलती है। यह कुछ व्यावहारिक तथा प्रसिद्ध
होने के कारण इसे उद्धृत किया जाता है—

वातरोग—

अशोतिर्वातजारोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः ।
प्रस्वप्नस्वेदयोर्नाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥१॥
कम्पः कार्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्तमूर्त्ता ।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥२॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युदगारोऽन्त्र कूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं शिराणां पूरणं तथा ॥३॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।
अङ्गपीडाङ्गशूलञ्च सङ्कोचस्तम्भ रुक्षता ॥४॥
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विडग्रहो बद्ध विट्कृता ।
दण्डापतनकः खल्ली जिह्वास्तम्भस्तथादितम् ॥५॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च कल्लता ।
प्रत्यष्टीला तथाऽष्टीला वामनत्वं च कुञ्जता ॥६॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पंगुता ।
अपतन्नो व्रणायामो वातकण्ठोऽपतन्त्रकः ॥७॥
गृध्रसी पादहर्षश्च विश्वाची चापवाहुकः ।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥८॥
रेतः प्रवर्तनं चाति न वा स्यात् कृशता तथा ।
चेतसश्चानवस्थानं काठिन्यं विरसास्यता ॥९॥
कषायमुखताऽऽध्मानं प्रत्याध्मानञ्च शीतता ।
भीरुत्वं रोमहर्षश्च तोदः कण्डू रसाञ्जता ॥१०॥
बधिरता प्रसृष्टिश्च गन्धाज्ञानं दृशो क्षयः ।
इमे नानात्मजा रोगा वायोऽरुता मुनीश्वरैः ॥११॥

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६३१

पित्तरोग—

चत्वारिंशद्गदाः पित्तजन्याः प्रोक्ता मुनीश्वरैः ।
 धूमोद्गारो विदाहश्चोष्णाङ्गत्वं मतिविभ्रमः ॥१॥
 छविहासो गलेशोपो मुखशोपोऽल्पशुक्रता ।
 तिक्तास्यताम्लवक्त्रत्वं धर्मन्नावोऽङ्गपाकता ॥२॥
 क्लमोहरित्त्वर्णत्वमृत्तिः पीतगात्रता ।
 तमसोदरं पीतमण्डलानाञ्च दर्शनम् ॥३॥
 उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ।
 शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्प निद्रता ॥४॥
 कोपश्चगात्रसादृश्यं भिन्नविदकत्वसन्धता ।
 दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविदकता ॥५॥
 पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ।
 रक्तद्रावोद्गदशं लोहगन्धास्यता तथा ॥६॥
 निस्सरत्वञ्च पित्तस्य चत्वारिंशद्गदः स्मृताः ।

श्लेष्म रोग—

कफस्य विंशती रोगास्तृप्ति तन्द्राऽतिनिद्रता ।
 स्तेमित्यं गुरुगात्रत्वमालस्यं मुखमिष्टता ॥ १ ॥
 मुखन्नावो बलासस्योद्गिरणं मलभूरिता ।
 कण्ठदुपलेपश्च धराचयो बलासकः ॥ २ ॥
 गलगण्डोऽति च स्थौल्यं शीताग्नित्वमुद्वेगता ।
 श्वेतावभासता श्वेतविगमूत्र नेत्रता तथा ॥ ३ ॥

ऊपर दोषानुसार रोगों का वर्गीकरण दिया है किन्तु इनमें रोगों के अनेक नाम ऐसे हैं जो लक्षण-मात्र हैं। शास्त्र में यह रोगावली होने के कारण तथा स्थानाभाव के कारण उस पर कोई टीका टिप्पणी न कर उसे मूलरूप में उद्धृत कर दिया है। इनके अतिरिक्त और भी ज्ञात एवं अज्ञात अनेक रोग हैं जिनका वर्गीकरण निदान तथा चिकित्सा के लिये दोषानुसार कर लेना चाहिये। इसीलिये कहा है—

विकारनामा कुशलो न जिहीयात् कदाचन ।
 न हि सर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः ॥
 स एव कुपितो दोषः समुत्थान विशेषतः ।
 स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥
 तस्मात् विकार प्रकृतिरधिष्ठानान्तराणि च ।
 समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत् ॥

(६) प्रकुपित दोषों की शान्ति के उपाय

विकृति विज्ञान के अन्तर्गत सम्प्राप्ति की जो क्रमागत छः अवस्थाएँ कही हैं उनके लक्षण देते हुए सुश्रुताचार्य ने उन्हें छः क्रियाकाल करके वर्णन किया है। अर्थात् सम्प्राप्ति की प्रत्येक अवस्था में चिकित्सा हो सकती है और जितनी जल्दी चिकित्सा की जाय उतनी ही जल्दी रोग निरोध या रोगशमन होगा। स्थान-संश्रय होने पर व्याधि के पूर्वरूप दिखने लगते हैं। आयुर्वेद की कितनी विशेषता है कि रोगोत्पत्ति के पहिले सिर्फ पूर्वरूप में ही नहीं किन्तु दोषों के संचय, प्रकोप और प्रसर की अवस्था में ही चिकित्सा करके रोगों का आगमन रोका जा सकता है। रोग-प्रतिषेध की दृष्टि से यह मत कितना प्राकृतिक और वैज्ञानिक है, जबकि आयुर्वेद के सन्बन्ध में यह आक्षेप किया जाता है कि उसमें प्रतिषेधक चिकित्सा (Preventive Medicine) का अभाव है। एलोपैथिक में सिर्फ औपसर्गिक रोगोंका सञ्चयकाल (Incubation period) दिया है किन्तु उसके कोई लक्षण अथवा उस अवस्था में रोग को रोक देने के कोई उपाय नहीं दिये। विपरीत इसके यदि इस उस अवस्था में रोग प्रतिषेधक वेक्सीन का प्रयोग किया जाय तो रोग प्रायः अधिक भयङ्कर होता है। किस ऋतुमें किस दोष का स्वाभाविक संचय-प्रकोप

* ऋतु—ज्योतिष शास्त्र में तथा दोष संशोधन की दृष्टि से वैद्यक शास्त्र में षड्ऋतुओं का निम्न क्रमानुसार वर्णन लिखा है—

“वर्षा-शरद्-हेमन्त-वसन्त-ग्रीष्म-प्रावृद्ध”

धर्मशास्त्र में तथा दोषों के स्वाभाविक चय-प्रकोप और प्रशम की दृष्टि से वैद्यक शास्त्र में ऋतुओं का यह क्रम है—

“वर्षा-शरद्-हेमन्त-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म”

ऋतुओं के दो प्रकार के विभागों पर काश्यप संहिता का मत है कि गंगा के दक्षिण भाग में वर्षा अधिक होने से वर्षा ऋतु के साथ प्रावृद्ध ऋतु की कल्पना की गई है। तथा गंगा के उत्तर में शीत अधिक होने के कारण हेमन्त के साथ शिशिर ऋतु की कल्पना की गई है।

और प्रशम होता है तथा कब अर्थात् किस ऋतु में उसका शोधन अथवा निर्हरण करना चाहिये इसके सम्बन्ध में आयुर्वेद में कहा है।

तत्र वषहिमन्तग्रीष्मेषु सञ्चितानां दोषाणां शरद्वसन्त-
प्रावृद्धच प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्। तत्र पैत्तिकानां
व्याधोनामुपशमा हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां
बनात्यये स्वभावत एव, त एते सञ्चयप्रकोपोपशमा व्या-
ख्याताः।

सु० सू० ६।१३-१४

अपिच—

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षाद्यं शमयेद् वायुं प्राग् विकारं समुच्छ्रयात्॥

सु० सू० ६।३९

दोषों की चिकित्सा के सम्बन्ध में सुश्रुताचार्य ने
निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादन किया है—

दोषाः क्षोणाः बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः,
वृद्धाः निर्हर्तव्याः, समाः परिपालया इति सिद्धान्तः॥

सु० चि० ३३।३

तथैव—

तत्र (दोषक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतिकारः। तेषां
(अतिवृद्धानां दोषादीनां) यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षया-
दविरुद्धैः क्रियाविशेषैः कुर्वीत॥

सु० सू० १।५।१०, १९

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।

शेषदोषाविरोधनं सन्निपाते तथैव च॥

सु० सू० २।१।३९

दोषों के संशोधन व संशमन के लिये वाग्भट ने
निम्नोक्त प्रधान सूत्र दिया है—

शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।

वस्तिविरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु॥

अ० ह० सू० १।२५

दोषों की शाम तथा निरामावस्था के लिये कहा है—

सामे पाचनं निरामे शमनम्॥

अब वातादि शामक तथा वर्धक रस, गुण और
भूतों का जो वर्णन आगे दिया जाता है उसका

* तैल—तैलों में एरण्ड तैल प्रधान वातशामक है।

अन्तर्भाव चिकित्सा विज्ञान के सिवा त्रिदोष के द्रव्य
गुण विज्ञान (Pharmacology of Tridosh) में
भी किया जा सकता है।

वातादि के शामक-वर्धक रस—

रसाः स्वादुःस्ललवण तित्कोपणकपायकाः,
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते तु यथापूर्वं बलावहाः।
तत्राद्या मास्तं घ्नन्ति त्रयस्तित्कादयः कफम्,
कपायतित्कमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते॥

अ० ह० सू० १।१४, १५

ताथच—

तत्र मधुरास्ललवणाः वातघ्नाः, मधुरतित्कपायाः
पित्तघ्नाः, कटुतित्कपायाः श्लेष्मघ्नाः।

सु० सू० ४२।४

अब दोषों के शामक-वर्धक भूत तथा प्रशामक
द्रव्यों के गुण और कतिपय संशमन द्रव्यों की सूची
देते हैं—

वात—

(१) शामक वर्धक भूत

भूतेजो वारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।

वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मास्तः॥

सु० सू० ४।१।७८

(२) शामक गुण

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।

विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मास्तः सम्प्रशाम्यति॥

च० सू० १।५९

(३) संशमन वर्ग

भद्रदास्कुष्ठहरिद्रावरुणमेपशृङ्गीबलातिबलार्तगलकच्युराशो-
ल्लुकीकुवेराक्षोवीरतल्लसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरशमभेदकाल-
कर्कशतावरीपुनर्नवावसृक्वशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पातोवृश्चिका-
लीपत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च हे
चाद्ये पञ्चमूल्यो समासेन वातसंशमनो वर्गः॥

सु० सू० ३।१७

जीवनीय द्रव्य बी (Vitamin B.) तथा विशेष-
कर बी, (B.) और उसके आश्रयभूत द्रव्य सब वात
शामक हैं।

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६३३

पित्त—

(१) शामक-वर्धक भूत

भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृत्तिम् ।
आग्नेयमेव यद्द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते ॥

सु० सू० ४११७, ९

(२) शामक गुण

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु ।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥

च० सू० ११६०

(३) संशमन वर्ग

चन्दनकुचन्दनहीरेरोक्षीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरी-
गुन्दाशैवलकलहारकुमुदोत्पलकन्द (द) लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि
काकोल्यादिः सारिवादिरेवनादिस्तपलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्च-
मूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः ॥

सु० सू० ३९१८

कफ—

(१) शामक वर्धक भूत

खतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम् ॥
वृद्धाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ।

सु० सू० ४११८, ९

(२) शामक गुण

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः ।

श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः ॥

च० सू० ११६१

(३) संशमन वर्ग

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारा-
त्नाप्रकीर्योदकीयंजः दीघमनःकाकादनोलाङ्गलकीहस्तिकर्णमु-
जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौपिप्पल्यादिर्वृ-
त्त्यादिर्मुष्णकादिर्वचादिः छरसादिसर्गवधादिरिति समासेन
कैमसंशमनो वर्गः ॥

सु० सू० ३९१९

जीवन द्रव्य ए डी और ई (Vitamins
A, D. and E.) तथा उनके आश्रयभूत एवं प्रोटीन
और शर्करायुक्त द्रव्य कफवर्धक हैं । इनके विपरीत
अथवा इनसे रहित कफशामक समझना चाहिये ।

सूचना —

अष्टांग हृदय सूत्र स्थान १३ अर्थात् दोषोपक्र-
मणीय अध्याय में वातादि दोषों को शान्त करने का
अच्छा वर्णन दिया है जो दृष्टव्य है ।

(१०) पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से समन्वय*
(Co-ordination with the Western
Medical Science.)

कुछ विद्वानों का मत है कि भावावेश में आकर
त्रिदोष का पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के पारिभाषिक
शब्दों से समन्वय करना एक बड़ी भूल है, जिसके ये
कारण हैं—

(१) सजीव वस्तु का सिद्धान्त होने से त्रिदोष,
प्राणि विज्ञान का विषय है जब कि पाश्चात्य चिकित्सा
विज्ञान के अधिकांश सिद्धान्त भौतिक और रासा-
यनिक शास्त्र (Physics and Chemistry)
नामक जड़ विज्ञान पर आधारित हैं ।

(२) त्रिदोष सिद्धान्त का आधार पंचमहाभूतात्मक
दार्शनिक सिद्धान्त है जहां तक आधुनिक विज्ञान
अभी नहीं पहुंच पाया है ।

(३) त्रिदोष एक सजीव यौगिक (Vital Comp-
ound) है जिसमें सर्वशरीरचरत्व और व्यापकत्व
दोनों हैं । पाश्चात्य विज्ञान में ऐसे शक्ति सम्पन्न
किसी भी सजीव यौगिक की कल्पनातक नहीं है
अतः त्रिदोष का उससे समन्वय करने का प्रश्न ही
अनुचित है ।

उपर्युक्त कारणों में काफी सत्यांश है तथा यही

* पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान से समन्वय—इस प्रकरण में
अनेक स्थानों पर पारिभाषिक अंगरेजी शब्द निश्चित सर्वमान्य
अनुवाद के अभाव के कारण हिन्दी में न लिख कर, समझने
की सुविधा के लिये जैसे के तैसे रख दिये हैं । कृपया
पाठकगण क्षमा करें ।

कारण है कि अनेक विद्वानों के समन्वय करने के प्रयत्न प्रायः अन्धगजन्याय के समान ही रहे और एक निश्चित सर्वमान्य मत अभी तक निर्धारित नहीं हो सका। फिर भी आधुनिक विज्ञान की गति कुछ गम्भीरता की ओर प्रविष्ट हो रही है जिससे यह आशा की जाती है कि भविष्य में सम्भवतः वह महाभूत सिद्धान्त और त्रिदोषवाद के निकट आ जावे। दोनों पद्धतियों में तथाकथित मौलिक भिन्नता रहते हुए भी चिकित्साशास्त्र के उद्देश्य तथा निदान एवं चिकित्सा के अन्तर्भूत सिद्धान्तों की अनेक समानताएँ हैं, जिनके आधार पर तथा शरीर-शास्त्र की अभिन्नता के कारण तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है। यह सिर्फ कल्पना है, एक रेखाचित्र है। उसकी यथार्थता की पुष्टि विद्वानों के द्वारा भविष्य में हो सकेगी।

वर्णन सौकर्य के लिये इसके तीन विभाग किये गये हैं—

- (१) त्रिदोष का सामूहिक विवेचन।
 - (२) त्रिदोष का विभागशः अर्थात् वात, पित्त और कफ का एकैकशः विवेचन।
 - (३) वात-पित्त-कफ का विभागशः अर्थात् प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों का विवेचन।
- (१) त्रिदोष का सामूहिक विवेचन—

त्रिदोष एक सर्वशरीर-व्यापी तथा सर्वशरीरचर पोषक, धारक तथा क्रिया-शक्ति-सम्पन्न सजीव पदार्थ (Circulating free protoplasmic nutrient material) है जो कहीं सूक्ष्म और कहीं स्थूल अवस्था में पाया जाता है। यह एक यौगिक है

जिसके वात-पित्त-कफात्मक अंगों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। वात-पित्त-कफ का विशिष्ट प्रयोग उस विशिष्ट अंश के आधिक्य के कारण होता है। शरीर के सूक्ष्मतम भाग जिसे सेल या कोषण कहते हैं उसमें भी यह स्थित है। उसका Nucleus वात-प्रधान, Cytoplasm कफ-प्रधान और उसमें उपस्थित Enzymes पित्त-प्रधान हैं। इन सूक्ष्म अणुओं के रूप में ही यह शरीर में भ्रमण करता है तथा अवस्थित रहता है। इस तरह इसकी चल और अचल दो अवस्थाएँ हैं तथापि त्रिदोष के अचल अणुओं में भी वात के कारण अपने ही स्थान में कुछ न कुछ गति होती रहती है।

त्रिधातु*—परिभ्रमण---

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।

च० चि० २८५९

वातपित्तश्लेष्मणां सर्वशरीरचराणां पुनः सर्वाणि स्रोतांस्यनभूतानि ॥

च० वि० ५५

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताऽकुपिताः शुभाऽशुभानि कुर्वन्ति।

च० सू० २०९

संतत्याभोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्।

च० चि० १५११

शास्त्रकथित इन वाक्यों से सिद्ध है कि त्रिधातु परिभ्रमणशील पदार्थ है। इसका परिभ्रमण रस और रक्त परिभ्रमण (Lymph and blood circulation) से भी अधिक व्यापक है। यह महास्रोतस् (Alimentary canal) से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में होता हुआ वहीं समाप्त होता है। त्रिदोष महास्रोतस् में उत्पन्न होकर अन्नपरिपाक से पुष्ट हो

* समानताएँ—सन् १९४९ में फरवरी से सितम्बर माह तक की महासम्मेलन-पत्रिका में प्रकाशित “चिकित्सा पद्धतियों का समन्वय” शीर्षक लेख में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६३५

कर शोषित होते और शरीरस्थ दोष तथा सप्त धातुओं का पोषण करते हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में निर्माणप्रकरण के अन्तर्गत विवेचन कर दिया है। क्लेदक, पाचक और अपान* नामक प्रधान कफ, पित्त और वात पचनसंस्थान में रहते हुए अपने पुष्ट किन्तु सूक्ष्म संचारी अंशों द्वारा शेष चार-चार विभागों का पोषण करते हैं।

क्लेदक कफ के लिये कहा है—

माधुर्यात् पिच्छिलत्वात्प्रह्वेदित्वात्तथैव च।

आमाशये संभवति श्लेष्मा, मधुरशीतलः ॥

स तत्रस्थमेव शेषाणां श्लेष्मस्थानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति। सु० सू० २१।१३, १४

पाचकपित्त के लिए कहा है—

पकामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च रसदोषमूत्र पुरीषाणि; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाद्रिकर्मणाऽनुग्रहं करोति।

सु० सू० २१।१०

तात्पर्य यह है कि ये अन्नपरिपाक में सहायक हो उसके प्रसाद भाग से पुष्ट होकर पूर्ण कफत्व, पित्तत्व और वातत्व को प्राप्त होते हैं तथा शोषित होकर परिभ्रमण करते हुए तद् तद् दोष की पुष्टि करते हैं।

“वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैः विपर्ययः” इस नियमानुसार क्लेदक, पाचक और अपान नामक अंश शेष विभिन्न अंशों का पोषण नहीं कर सकते जब तक कि वे आहार के प्रसाद भाग से पूर्णता को प्राप्त न हो जावें। इसलिये वे पूर्णत्वप्राप्ति के पश्चात् दोषों की पुष्टि करते हैं। क्लेदक कफ और पाचक पित्त के लिये जो ‘तत्रस्थमेव’ शब्द का उपयोग किया है

* अपान—इसके द्वारा शेष चार वायुओं के पोषण के सम्बन्ध में शास्त्र में कोई प्रमाण मेरे देखने में नहीं आया। तथापि अपान वायु के पक्काशय में रहने के कारण जहाँ पर कि अन्नपरिपाकक्रिया में वायु की उत्पत्ति होती है तथा जो प्रधान वातस्थान है, अन्य चार भेदों के पोषण की जिम्मेदारी इसी पर हो सकती है। ऐसी सम्भावना है।

इसका तात्पर्य भी यही है कि वे अपनी स्थूल तथा शुद्ध अवस्था में नहीं रहते हैं। तत्पश्चात् अपनी अपनी शक्ति द्वारा आहार सहयोग से दोष के समस्त भेदों से समन्वित हो अर्थात् पूर्णत्व को प्राप्त हो शरीरस्थ दोषों की पुष्टि करते हैं। वात-पित्त-कफ अपने चार-चार विभागों का पोषण करने के बाद पुनः क्लेदक, पाचक और अपान रूप में अवशिष्ट रहकर महास्रोत को प्राप्त होते हैं। इस तरह यह चक्र चलता रहता है। यहाँ यह मान्य तथ्य है कि सप्त धातुएँ त्रिदोषात्मक हैं अतः उनकी पुष्टि भी इस परिभ्रमण त्रिदोष के द्वारा होती रहती है।

संक्षेप में त्रिदोष या त्रिधातु परिभ्रमण का मार्ग

इस प्रकार है :—

महास्रोत से जो केशिकाएँ तथा रसायनियाँ (Capillaries and lacteals) प्रारम्भ होती हैं उनसे परिपुष्ट त्रिधातु का शोषण होता है। केशिकाएँ इसे अधरा महासिरा (Inferior Venacava) में तथा रसायनियाँ महती रसकल्या (Thoracic duct) के द्वारा उत्तरामहासिरा (Superior Venacava) में ले जाती हैं, जहाँ से त्रिधातुएँ हृदय में पहुँचकर रक्त से सम्मिश्रित हो जाती हैं। तत्पश्चात् रक्तवाहिनी केशिका, रसायनी, कोष्ठ, धातु और अंग-प्रत्यंग में प्रविष्ट होकर उन्हें पुष्टकर, स्वयं क्षीण हो महास्रोत में साव के रूप में आती हैं जहाँ से अन्न-परिपाक क्रिया में सहयोग दे पुनः परिपुष्ट और शोषित होती हैं। इस प्रकार त्रिधातु परिभ्रमण चलता रहता है। यह चक्र रसायनी और रक्तवाहिनियों के अतिरिक्त शरीर के समस्त स्रोतों में चलता है तथा शरीर की सातों धातुओं, कोष्ठों और अंग-प्रत्यंगों में इसका प्रवेश होने के कारण त्रिधातु-परिभ्रमण का क्षेत्र रसपरिभ्रमण और रक्तपरिभ्रमण की अपेक्षा व्यापक कहा गया है।

Bile जो कि एक प्रकार का पित्त है यकृत एवं पित्ताशय (Gall-bladder) से आंत्र में स्रवित होता है तथा पाचन कार्य में सहायता देकर रक्तवाहिनियों से शोषित होकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ पुनः यकृत को पहुँच जाता है। इसे Bile-circulation या Eutero-hepatic cycle of bile कहते हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित यह मत त्रिधातु परिभ्रमण का ही एक अंश है, और सम्भव है कि वे भविष्य में हमारे और भी निकट आ जावें।

(२) त्रिदोष का विभागशः याने वात-पित्त-कफ का एकैकशः विवेचन

यह पहले बताया जा चुका है कि वात, पित्त, कफ प्रत्येक की स्वतन्त्र स्थिति शरीर में नहीं है। शरीर क्रियासम्पादनार्थ कार्य की दृष्टि से उनके अपने-अपने मुख्य कार्य होते हुए भी वे एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं अतः संयुक्त अवस्था में रहते हैं। फिर भी “प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति” इति न्यायात् जहाँ जिसका आधिक्य रहता है वहाँ उसी को प्रधान समझा जाता है। अतः सुविधा की दृष्टि से एक-एक का अलग-अलग विवेचन शास्त्रों में किया गया है। दूसरी एक और महत्त्व की बात यह है कि वात, पित्त, कफ एक-एक निश्चित वस्तु नहीं हैं किन्तु ये एक-एक प्रकार के द्रव्यों के तीन समूह हैं जैसा कि हरिवंश पुराण से व्यक्त होता है—“कफवर्गे भवेत् शुक्रं पित्तवर्गे तु शोणितम्।” कफ और पित्त के समान वात को भी वर्ग मानना चाहिये।

वात—

यह एक प्राणशक्तिसम्पन्न द्रव्य है तथा शरीर की समस्त जैव-भौतिक क्रियाओं (Bio-physical process) का कर्त्ता है। यह प्रायः वायवीय अवस्था में रहता है तथा सर्वशरीरव्यापक होते हुए

भी इसका कार्य प्रधान रूप से मस्तिष्क-सौषुम्नीय तथा स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल (Cerebro-spinal and autonomic nervous system) के माध्यम से होता है। यह समझना भूल होगी कि नाड़ीसंस्थान सिर्फ वायु से ही सम्बन्धित है। उसमें कुछ Ketabolic तथा कुछ Anabolic nerves हैं जो क्रमशः पित्त तथा कफ के स्राव के लिये जिम्मेदार हैं। इसलिये कहा है—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृतः।

दाहकृत्तेजसायुक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥

च० चि० ३३८

वायु अपनी सूक्ष्मावस्था के कारण दृश्यमान नहीं है तथापि आजकल प्रयुक्त Electro cardio-gram, Electro-encaphelogram, Sphygmogram आदि यन्त्रों से उसकी गति को स्पष्ट ज्ञान हो जाता है जो क्रमशः मस्तिष्क, हृदय और नाड़ी की वातगति निदर्शक यन्त्र हैं। Sphygmomanometer का उल्लेख पहिले हो ही चुका है जो रक्तस्थ वात के दबाव को बताता है।

पित्त—

यह एक पाकशक्ति-सम्पन्न जैव-रासायनिक (Bio-chemic) द्रव्य है जो अधिकतर द्रवावस्था में रहता है। शरीर में दो प्रकार की रासायनिक क्रियाएं (Bio-chemical processes) होती हैं। एक पचनात्मक क्रिया (Ketabolic process or Ketabolism) और दूसरी उपचयात्मक क्रिया (Anabolic process or anabolism) कहलाती है। आंग्ल भाषा में दोनों की संयुक्त संज्ञा Metabolism है। प्रथम क्रिया पित्त के द्वारा और दूसरी कफ के द्वारा सम्पादित होती है। पित्त के निर्माण याने स्राव के लिये मध्य स्वतन्त्र नाड़ीमण्डल (Sympathetic nervous system) विशेष रूप से जिम्मेदार है। कहा भी है—

सन् १९५१]

पित्तं पंगु कफः पंगुः पंगवो मल धातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥

ये नाड़ियाँ शरीर के अन्य भागों में और विशेष कर पचन संस्थान में स्थित असंख्य पित्त निर्मापक ग्रन्थियों का स्राव कराती हैं। प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (Ductless glands) कुछ पित्तस्राव प्रधान तथा कुछ कफ स्राव प्रधान रहती हैं, यद्यपि उनके स्राव में पित्त और कफ मिश्रित स्वरूप में रहता है। अधिवृक्क (Adrenal or suprarenal gland) और अग्न्याशय (Pancreas) पित्त प्रधान ग्रन्थियाँ हैं। इनमें भी अधिवृक्क प्रमुख पित्त ग्रन्थि है इसलिये पित्तवर्ग को (Adrenal group) भी कह सकते हैं। Adrenal ग्रन्थि के medulla भाग में Sympathetic cells पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं जो Sympathetic nerves और Adrenaline के निकट सम्बन्ध के सूचक हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि Sympathetic nerves सीधा कार्य न करके उनके प्रान्तस्थ भागों (nerve ends) से adrenaline अथवा तत्सम Sympathin नामक रासायनिक पदार्थ का स्राव होता है, जिसके द्वारा तदधिकृत क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। यह Sympathin नामक स्राव पित्त ही कहा जा सकता है।

मुख, जठर तथा शरीर परमाणुओं में जो पाचक रस (Enzymes) आहार को रस के रूप में एवं रसादि को उत्तरोत्तर रक्तादि धातुओं के रूप में परिवर्तित कर शरीर के उपयोग के योग्य बनाते हैं; वे सब पित्त अथवा अग्नि के नाम से कहे जाते हैं। इस क्रिया में अनुपयोगी भाग नष्ट हो जाता है जो शरीर के बाहिर मल के रूप में निष्कासित होता है।

Sympathetic nerves या Adrenaline हृदय की गति को उत्तेजित कर समग्र शरीर में रक्त

परिभ्रमण की गति व दबाव को बढ़ाकर धातुओं में पाक क्रिया (Ketabolic Process) को बढ़ाते हैं। जिस प्रकार नाड़ी संस्थान तीनों दोषों का प्रवाहक होते हुए भी वायु का प्रधान मार्ग है; तद्वत् रक्तवह संस्थान तीनों दोषों का संचरण करते हुए भी पित्त संचार के लिये प्रमुख रूप से जिम्मेदार है।

कफ—

यह एक वृद्धिशक्तिसम्पन्न जैव रासायनिक द्रव्य है जो कहीं सान्द्र और कहीं द्रवावस्था में रहता है। यह शरीर की उपचयात्मक क्रियाओं (Anabolism) का कर्त्ता है। इसका निर्माण प्रायः परिस्वतंत्र नाड़ी मण्डल (Parasympathetic nervous system) की उत्तेजना से होता है। इन नाड़ियों के प्रान्तस्थ भागों (Nerve-endings) से Acetylcholine नामक स्राव होता है जिसके द्वारा वे कार्य सम्पादन करती हैं अतः इसे Acetylcholine group भी कहते हैं।

शरीर के अधिकांश जलीय भागों, श्लैष्मिक स्राव, लसीका और रस-रक्त (Mucus, lymph and plasma) में यह सूक्ष्म अथवा स्थूल अवस्था में मौजूद है और इसका स्राव शरीर की श्लेष्म ग्रन्थियों (Mucous glands) से होता रहता है। यह पहिले कह ही दिया है कि निस्स्रोतस् ग्रन्थियों का स्राव कफ-पित्तयुक्त होते हुए भी किसी में कफ व किसी में पित्त का आधिक्य रहता है। कफ प्रधान ग्रन्थियाँ शरीर की वृद्धि के लिये विशेष जिम्मेदार हैं। उनमें पित्त का अनुबन्ध रहता ही है क्योंकि पाकान्तर जो वृद्धि होती है वह स्वाभाविक है। साम कफ के स्राव से myoxedema के समान होने वाली शारीरिक वृद्धि अस्वाभाविक, विकृति उत्पादक और कुरूप बनानेवाली है। इन निस्स्रोतस् ग्रन्थियों में

ओजोऽशनानां रजनीचराणाम् ॥

च० शा० २१०

जो कफ-प्रधान है तथा शारीरिक वृद्धि के लिये जिम्मेदार हैं, ये प्रमुख हैं—

Thyroid, Pituitary anterior lobe, Testes (ये स्रोतस्त्रावी और निस्स्रोतस्त्रावी दोनों हैं) और Corpora lutea, Thymus और Pineal भी कफ-प्रधान ग्रन्थियाँ हैं किन्तु कार्य की दृष्टि से ये उतनी महत्त्व की नहीं हैं। इन सब में पीयूष ग्रन्थि या पोषणिका (Pituitary) प्रधान कफ ग्रन्थि है। उसमें पित्त के अतिरिक्त वात का भी विशेष अनुबन्ध है, जो गर्भाशय के ऊपर उसके संकोचक प्रभाव (Oxytocic action) से ज्ञात होता है। उसका स्त्राव अष्टविन्द्वात्मक पर या प्रधान ओज है जो कफ-वर्गीय महत्त्वशील द्रव्य है। कविराज श्री गणनाथ सेन ने प्रत्यक्ष शरीर में इस ग्रन्थि को ही योगियों का सुधास्त्रावि सोम मण्डल माना है। प्रधान ओज के अतिरिक्त अपर या साधारण ओज भी होता है। ओज कफ का ही परिष्कृत विशिष्ट शक्ति सम्पन्न स्वरूप है तथा कोई एक वस्तु न होते हुए कफवर्ग के अन्तर्गत एक उपवर्ग है जिसमें शरीर रक्षक कई द्रव्य आ जाते हैं। यह सम्पूर्ण धातुओं का स्नेहरूपी तेजस्वी भाग है जो सम्पूर्ण शरीर में रहते हुए भी हृदयस्थ रक्त में विशेष रूप से रहता है। ओज के सम्बन्ध में कहा है :—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खलु ओजः । तदेव बलमित्युच्यते । सु० सू० १५१२१

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् ।

विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनं मुत्तमम् ॥

देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनाम् ।

तद्भावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥

सु० सू० १५१२३-२४

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।

ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्नाविनश्यति ॥

च० सू० १७१७५

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि ओज ही शारीरिक क्षमता का हेतु है तथा उसमें रोग के जीवाणुनाशक, जीवाणुद्रावक तथा जीवाणुस्तम्भक (Bactericidal, bacteriolytic and bacteriostatic) गुण विद्यमान हैं। आधुनिक शारीरिक क्रियाशास्त्र में वर्णित रक्तस्थ antibodies, phagocytes, bacteriolysins, antitoxins, agglutinins, precipitins, opsonins इत्यादि अनेक अज्ञात पदार्थों में से कुछ हैं जो ओज के अन्तर्गत आते हैं। इस सम्बन्ध में आयुर्वेद का वैशिष्ट्य और गाम्भीर्य यह है कि वह ऐसे शरीररक्षक द्रव्यों की उपस्थिति आधुनिक मतानुसार रक्त में मानते हुए हृदयस्थ-रक्त में विशेष तथा रक्तातिरिक्त अन्य धातुओं में भी मानता है। ओज की एक और विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण रोगमात्र के प्रति क्षमता का हेतु है जिसमें जीवाणुजन्य रोग आ ही जाते हैं। एलोपेथी में वर्णित रोग क्षमता का सम्बन्ध सिर्फ जीवाणुजन्य रोगों से ही है।

* रजनीचराणाम्—‘रजनीचर’ राक्षस और रोग-जीवाणु दोनों के लिये प्रयुक्त होता है।

+ हृदयस्थ रक्त में—यहां यह शंका हो सकती है कि हृदयस्थ रक्त शरीर के रक्त से भिन्न नहीं है क्योंकि वही शरीर में भ्रमण करता है फिर यह वैशिष्ट्य कैसे कहा गया? किन्तु अनावश्यक विस्तार एवं विषय बाह्य हो जाने के कारण इसका स्पष्टीकरण नहीं किया जाता।

॥ रक्तातिरिक्त अन्य धातुओं में—इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक प्रयत्न कर रहे हैं। Halliburton Physiology में लिखा है—Upto this point I have spoken only of the blood, but workers are steadily bringing forward evidence to show that other cells of the body may by similar measures be rendered capable of producing corresponding protective mechanism. आयुर्वेद के मत से यह बात प्रकृत रूप से होती ही है।

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६३९

जिस प्रकार रक्तवह संस्थान प्रधान पित्त-मार्ग है तथा Sympathetic nerves की उत्तेजना से हृद्गति बढ़कर रक्त परिभ्रमण बढ़ जाता है, तथैव लसीका संस्थान प्रधान कफवाहक संस्थान है। Parasympathetic की उत्तेजना से पचन संस्थान का कार्य बढ़कर आहाररस का अधिक निर्माण होता है। कफ के प्रधान स्थान उरो विभाग में स्थित महती रसकुल्या (Great lymphatic duct or Thoracic duct) पोषक रस से परिप्लावित हो जाती है और अन्य रसायनियों से भी स्थायी रस अथवा लसीका का संचरण बढ़ जाता है, तथा शरीर की उपचयात्मक क्रिया (anabolism) में वृद्धि हो जाती है। यदि यह कहा जावे कि आहाररस तो त्रिदोषात्मक है तो उसका उत्तर यह है कि ऐसा होते हुए भी पोषण तथा वृद्धिगुणसम्पन्न होने के कारण यह कफ-प्रधान है।

वायु के भेद—

वायु के जो पाँच भेद किये गये हैं उनका वर्णन करते हैं। वे विद्युत के धन-ऋण अथवा बाह्य वायु के carbon dioxide, oxygen, Nitrogen, Hydrogen, Halogen आदि के समान हैं। आधुनिक नाड़ीशास्त्र (Neurology) में वर्णित नाड़ी चक्र (Nerve plexuses) तथा योगतन्त्र में षट् पद्म या षट् चक्र पंच वायु के विशिष्ट स्थान हैं तथा यह संभव है कि तत्रस्थ शक्ति सम्पन्न अज्ञात द्रव्य ही भिन्न-भिन्न वायु हों। अज्ञात शब्द इसलिये कहा कि अभीतक आधुनिक विज्ञान में अथवा प्राचीन साहित्य में इसकी खोज नहीं हो सकी है कि इन पाँचों का यथार्थ स्वरूप क्या है। कौन-सी वायु किस चक्र से विशेष सम्बन्धित है इसे नीचे प्रदर्शित करते हैं।

वायु के प्रकार-योगतन्त्रोक्त चक्र-आधुनिक-

विज्ञानोक्त चक्र

प्राण वायु आज्ञा चक्र* बहिर्मातृक (Cavernous plexus)

विशुद्ध चक्र अन्तर्मातृक चक्र (Carotid plexus)

उदान वायु अनाहत चक्र हार्दिक नाड़ी चक्र (Cardiac plexus)

व्यान वायु स्वाधिष्ठानचक्र+ अधिवस्तिष्क नाड़ी चक्र (Hypogastric plexus)

* आज्ञा चक्र—प्रत्यक्षशरीर में आज्ञा चक्र को एक स्थान पर Optic Thalamic मानकर उसकी 'आज्ञा कन्द' संज्ञा दी है और दूसरे स्थान पर उपरिनिर्दिष्ट बहिर्मातृक चक्र लिखा है।

+ स्वाधिष्ठान चक्र—प्रत्यक्ष शरीर में एक स्थान पर स्वाधिष्ठान चक्र को अधरान्त्रिक नाड़ी चक्र (Inferior mesenteric plexus) भी लिखा है। दोनों नाड़ी चक्र एक दूसरे के सन्निकट होने से दोनों सम्भावनायें हैं अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र अधिवस्तिष्क अथवा अधरान्त्रिक नाड़ी चक्रों में से कोई भी हो सकता है।

(३) वात पित्त कफ का विभागशः अर्थात् प्रत्येक के पाँच-पाँच भेदों का विवेचन

यह पहिले कहा जा चुका है कि वातादि वर्ग हैं जिनमें एक जातीय अनेक पदार्थों का समावेश होता है। प्रत्येक में पाँच-पाँच भेद प्रधान हैं। यथार्थ में ये भी एक जातीय अनेक पदार्थों के समूह हैं इसलिये इन्हें उपवर्ग कहा जा सकता है। यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र में ऐसा कोई वर्णन नहीं है तथापि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से तुलनात्मक विवेचन करने में ऐसी प्रतीति होती है जो आगे पित्त और कफ के कुछ भेदों से और भी स्पष्ट हो जाती है। पहिले जो वायु के ४९ भेद कहे गये हैं वे वायु के इन्हीं पाँच भेदों के अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः ये पाँच भेद वात वर्ग के अन्तर्गत उपवर्ग ही हैं।

समान वायु मणिपूर चक्र सौरमण्डल या उदर्य-
मस्तिष्क* (Solar epi-
gastric or coeliac
plexus or abdominal
brain)

अपान वायु मूलाधार चक्र वस्ति गुहान्तरीय नाड़ी
चक्र (Pelvic plexus)

ऊपर चक्रों में पांच वायुओं का सम्बन्ध प्रदर्शित
किया गया है। अब उनके शास्त्रोक्त कार्य और स्थान के
आधार पर आधुनिक नाड़ीविज्ञान के अनुसार मार्गों
तथा आश्रय स्थानों का विशद वर्णन करते हैं :—

वायु के प्रकार स्थान और मार्ग

प्राण वायु मस्तिष्क (brain), मस्तिष्कीय नाड़ियाँ
(cranial nerves), परिस्वतन्त्र नाड़ी-
मण्डल का ऊर्ध्व भाग (Upper part
of the parasympathetic ner-
vous system), ऊर्ध्व और अधः
ग्रैवेयक ग्रन्थि (Superior and In-
ferior Cervical ganglia).

उदान वायु सुषुम्ना का ग्रैवेयक विभाग (Cer-
vical part of the spinal cord)

* उदर्य मस्तिष्क—इसका नाम उदर्य मस्तिष्क रखना
सिद्ध करता है कि कार्य की दृष्टि से इसका महत्त्व शिरस्थ
मस्तिष्क के समान होना चाहिए। और यदि ऐसा है तो अन्य
चक्रों का भी कार्य दृष्ट्या कुछ महत्त्व होना चाहिए। यद्यपि
आधुनिक शास्त्रों में ऐसा कोई वर्णन नहीं है। यह सम्भव है
है कि आधुनिक नाड़ीविज्ञान वेत्ताओं को अभी इन चक्रों के
विशिष्ट कार्यों का ज्ञान न हो पाया हो।

+ मूलाधार चक्र—प्रत्यक्ष शारीर ने मूलाधार चक्र को
एक स्थान पर Ganglion Coccygenum Impar ध्वजाधो-
गुदोर्ध्व या कन्दमूल माना है और एक अन्य स्थान पर उपरि-
निर्दिष्ट वस्तिगुहान्तरीय चक्र लिखा है। किन्तु यह ग्रन्थि
(Ganglion) नहीं है, चक्र है इसलिए उपर्युक्त मत ही
ठीक है।

और सुषुम्ना के औरस विभाग का
ऊर्ध्वार्ध (Upper half of the
thoracic part of the spinal
cord) तथा तज्जन्य नाड़ियाँ।

समान वायु सुषुम्ना के औरस विभाग का निम्नार्ध
(Lower half of the thoracic
part of the spinal cord)
ग्रन्थियों सहित मध्य स्वतन्त्र नाड़ी-
मण्डल (Sympathetic nervous
system including sympathe-
tic ganglia), सौर मण्डल या उदर्य
मस्तिष्क (Solar plexus or abdo-
minal brain), चन्द्रमण्डल (Semi-
lunar ganglion), ऊर्ध्व और अधः
आन्त्रिक नाड़ी चक्र (Superior and
Inferior mesenteric plexus),
पचन संस्थान नियामक सौषुम्नीय
नाड़ियाँ (Spinal nerves gover-
ning the digestive system).

अपान वायु—सुषुम्ना का कटि और त्रिक विभाग
(Lumbar and Sacral part of
the spinal Cord), परिस्वतन्त्र
नाड़ी मण्डल का अधोभाग (Lower
part of the parasympathetic
nervous system), अधिवस्ति
नाड़ी चक्र (Hypogastric plexus)

व्यान वायु—चेष्टावह और संज्ञावह नाड़ियाँ
(Motor and Sensory nerves
including vasomotor and
pilomotor nerves).

इन वायुओं का भिन्न-भिन्न निक्षेप प्रणियों

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

६४१

के स्त्रावों तथा अन्य स्त्रावों से भी विशिष्ट सम्बन्ध है जो नीचे प्रदर्शित किया जाता है :—

वायु के प्रकार स्त्राव
प्राण वायु—पीयूष या पोषणिका ग्रन्थि (Pituitary gland) का स्त्राव ।

उदान वायु—प्रैवेयक या चुल्लिका ग्रन्थि (Thyroid gland) का स्त्राव ।

व्यान वायु—मज्जान्तःस्त्राव (nerve-end secretion i. e. choline hydrochlore)

समान वायु—आमाशयिक स्त्राव और आन्त्रिक उद्ग्रेचन (Gastric juice and succus entericus)

अपान वायु—उपवृक्कोद्रेक (Adrenal secretion)

कुछ विद्वानों का प्राण और अपान वायु के सम्बन्ध में अपना एक विशेष मत है जिसके पक्ष विपक्ष का विवेचन यहाँ संक्षेप में किया जाता है :—

वे बाह्य वायु और आभ्यन्तरिक वायु को एक मानते हुए अपान वायु को कारबन डाय आक्साइड और प्राणवायु को आक्सीजन मानते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के पांचवें अध्याय के २७ वें श्लोक में कहा है—“प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।” जो वायु अन्दर जाती है वह प्राण अथवा आक्सीजन और जो बाहिर आती है वह अपान अथवा कारबन डाय आक्साइड है । पक्वाशय में आहार पाक की अन्तिम अवस्था में जो वायु की उत्पत्ति बतायी गयी है (वायुः स्यात् कटुभावतः) वह भी गुदमार्ग से निकलनेवाली कारबन डाय आक्साइड अथवा अपान वायु है । जिस तरह महास्रोतस्थ क्लेदक कफ तथा पाचक पित्त अन्य शेष चार-चार कफ व पित्त का अनुग्रह या पोषण करते हैं तद्वत् यह अपान वायु भी शेष चार वायुओं का पोषण करती तथा उनके कार्य में सहायक होती है । प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि

वायुमण्डल में अथवा शरीर में कारबन डाय आक्साइड याने अपान वायु के आधिक्य से श्वास-क्रिया उत्तेजित होकर प्राणवायु याने आक्सीजन का कार्य बढ़ जाता है । यह पूर्वपक्ष है ।

यह मत सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु इस मत के प्रतिपादन में प्रारम्भ से ही बड़ी भारी भूल हो गई है क्योंकि श्वास प्रश्वास क्रिया में वर्णित प्राण वायु कारबन डायआक्साइड तथा अपान वायु आक्सीजन हैं न कि इसके विपरीत जैसा कि मिथ्या लौकिक प्रचार के आधार पर पूर्वपक्ष में विवेचन किया गया है । इस सम्बन्ध में गीता के उपर्युक्त श्लोक की टीका पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी । श्रीधर ने इसकी टीका में लिखा है—

उच्छ्वासनिच्छ्वास रूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगति निरोधेन समौ कृत्वा । कुम्भायत्वा इत्यर्थः । यद्वा प्राणो यथा बहिर्न निर्याति यथा चापानोऽन्तर्न प्रविशति किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतः तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिच्छ्वासाभ्यां समौ कृत्वेति ।

इसके सिवा श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में उन्तीसवें श्लोक की टीका से भी प्राण वायु का कारबनडायआक्साइड तथा अपान वायु का आक्सीजन होना सिद्ध होता है । श्रीधर ने लिखा है—

अपाने अधो वृत्तौ प्राणमूर्ध्व वृत्ति पूरकेण जुहति पूरक काले प्राणमपाने नैकी कुर्वन्ति । तथा कुम्भकेन प्राणापानयो रूर्ध्वाधोगती रूद्ध्वा रेचक कालेऽपान प्राणे जुहति । एवं पूरक कुम्भकरेचकैः प्राणायाम परायणाः अपरे इत्यर्थः । प्राणानां दशानां कर्माणि, प्राणस्य बहिर्गमनम्, अपानस्याधेगमनम् ।

* उपर्युक्त श्लोक—प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ ।

+ श्रीमद्भगवद्गीता का चौथे अध्याय का उन्तीसवां अपाने जुहति प्राणे प्राणेऽपानं तथाऽपरे । प्राणापानगती रूद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

इसी श्लोक की टीका में भगवान् शङ्कराचार्य ने लिखा है—

“प्राणापान गती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिः तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते प्राणापान गती ।”

श्रीमती एनीबीसेंट तथा डा० भगवान दास ने भगवद्गीता के आंग्ल अनुवाद में इस श्लोक की टीका में प्राण के लिये ‘Outgoing breath’ तथा अपान के लिये ‘Ingoing breath’ का प्रयोग किया है ।

इनके अतिरिक्त कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, वेदान्त सूत्र, योग सूत्र आदि से भी प्रमाण दिये जा सकते हैं जो इसी मत के सूचक हैं । यह प्राणापान संज्ञा धर्म अथवा दर्शन शास्त्र की पारिभाषिकी संज्ञा है जो आयुर्वेदोक्त प्राणापान से भिन्न है । अतः इस मत के आधार पर तथा उसे भी विपरीत जान कर आयुर्वेदीय मत की सिद्धि करना अभीष्ट नहीं है । तथा च आयुर्वेदोक्त अपान वायु का स्थान तथा कार्य क्षेत्र आयुर्वेद शास्त्र में नासा व मुख कहीं भी वर्णित नहीं है ।

पित्त के भेद—

अब पित्त के जो पाँच भेद किये गये हैं उनका तुलनात्मक विवेचन किया जायगा ।

पाचक पित्त—

इसमें आधुनिक शास्त्रोक्त निम्नलिखित वस्तुओं का समावेश होता है :—

लालास्रावः (Saliva) का Ptyalin नामक Enzyme, आमाशयिक स्रावः (Gastric juice) का अम्ल भाग तथा Rennet या Rennin और Pepsin नामक Enzymes, अग्न्याशयिक स्राव (Pancreatic juice), आन्त्रिक स्राव

* लालास्राव—इसका शेष भाग बोधक कफ का है ।

+ आमाशयिक स्राव—इसका शेष भाग क्लेदक कफ का है ।

(Succus entericus) और Bile । अग्न्याशय के दो प्रकार के स्राव हैं—बहिः स्राव और अन्तः स्राव । उसका बहिःस्राव Pancreatic juice कहलाता है जिसका उल्लेख अभी किया गया है । अन्तःस्राव Insulin कहलाता है जो एक प्रकार का सर्व शरीर चर सूक्ष्म पाचक पित्त अथवा प्रधान धात्वमि है । रज्जक पित्त—

आयुर्वेद में रज्जक पित्त के स्थान आमाशय, यकृत और प्लीहा बतलाये गये हैं । इसका कार्य रसधातु को रञ्जित करने का अथवा दूसरे शब्दों में रस से रक्त बनाने का है । यह कार्य जिस द्रव्य से होता है उसे Erythrocyte maturing factor, P. A. factor अथवा Haemopoietic principle कहते हैं । यही आयुर्वेदोक्त रज्जक पित्त है । आहारस्थ Extrinsic factor तथा आमाशयस्थ intrinsic factor के संयोग से इसका निर्माण आमाशय में होकर यकृत में सञ्चय होता है । इसीलिये यकृत और आमाशय रज्जक पित्त के स्थान बताये गये हैं । यद्यपि रक्त के लाल कणों का निर्माण इनमें न होकर अस्थि-मज्जा (Bone-marrow) में होता है तथापि एतदर्थे यकृतस्थ E. M. F. अथवा Haemopoietic principle परमावश्यक है । आजकल पाण्डु रोग (Anaemia) में प्रयुक्त यकृत सत्त्व Liver extract के इन्जेक्शनों का प्रभाव रक्तवृद्धि में स्पष्ट देखा जाता है जो प्राच्यमत की पुष्टि करता है तथा ऋषियों की तीक्ष्ण वैज्ञानिक बुद्धि पर हमें आश्चर्य में डाल देता है । इसी प्रकार आमाशयिक सत्त्व (Gastric or Stomach extract) का प्रयोग भी पाण्डु रोग में आजकल मुख द्वारा किया जाता है जो वाग्मट के इस मत की पुष्टि करता है कि आमाशय भी रज्जक पित्त का स्थान है । प्लीहा में भ्रूणावस्था तथा शैशवावस्था में रक्ताणु बनते हैं तथा उसमें आवश्यकता के

सन् १९५१]

शास्त्रचर्चा-परिपद के निबन्ध

६४३

लिये रक्त का संचय रहता है इसलिये ग्रीहा का निर्देश भी रक्तक पित्त के स्थानों में कर दिया है। शैशवावस्था के पश्चात् उसमें रक्त के केवल श्वेताणु बनते हैं।

रक्त में जो लाल वर्ण रहता है वह रक्ताणुओं में स्थित Haemoglobin के कारण है इसलिये Haemoglobin भी रक्तक पित्त है।

साधक पित्त—

कुछ लोगों का मत है कि यह हृद्रत Sympathetic nerves द्वारा संचित adrenaline अथवा तत्सम कोई स्राव है। किन्तु मेरा अनुमान है कि यह हृदय का ही कोई स्राव है जिसका अधुनिक वैज्ञानिकों को अभी तक पता नहीं लगता है। हृत्मांसपेशी की विशिष्ट रचना और उसका किसी नाड़ी द्वारा उत्तेजना (nervous stimulus) पाये बिना अविरत गति से कार्य करते रहना यह सूचित करता है कि उसका कोई स्राव है जो यह कार्य नियमित रूप से करता है। Sympathetic या vagus nerves का नियामक प्रभाव हृदय की गति को आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा करने में अवश्य होता है किन्तु इनकी उत्तेजना के अभाव में जो स्पन्दन कार्य होता है वह हृदय का स्वाभाविक है। आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा इस तरह के प्रयोग किये जा चुके हैं और यह सिद्ध हो चुका है कि हृत्पेशी का कार्यक नाड़ी जन्य (Neurogenic) न होकर पेशीजन्य (Myogenic and myodromic) है। आधुनिक हृदय विशेषज्ञ (cardiologists) हृद्गोमों में

*हृत्पेशी का कार्य—Handbook of Physiology में लिखा है।

At one time the rhythm which cardiac muscle exhibits was supposed to be due to the action upon it of the nerves which are present. We now know that the property of rhythmical contraction resides in the muscular tissue itself, though normally during life it is controlled and regulated by the nerves which supply it. This conclusion may be expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic not neurogenic.

हृद्रस (cardiac extract) का प्रयोग करते हैं। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि हृदय का अवश्य कोई स्राव होना चाहिये जो हृदय का पोषक तो है ही किन्तु मन तथा शरीर की उच्चतम क्रियाओं का उत्तेजक भी है। हृत्पेशी का यह स्राव (Hormone or internal secretion of the heart) हृत्कार्य सम्पादन करता हुआ मन तथा शरीर को उत्साहित कर अभिवांछित मनोरथ की पूर्ति करता है यही साधकपित्त है।

आलोचक पित्त—

यह नेत्र के Retina नामक अन्तः पटल का Visual purple (Rhodopsin) नामक रक्तक पदार्थ है जो Rods के बाह्य अंग में स्थित रहता है। यह रक्त वर्ण का होता है। केमरे के निगेटिव प्लेट के समान वस्तु का जो चित्र Retina पर बनता है वह इसी द्रव्य के रासायनिक परिवर्तनों के कारण बनता है। Blind spot पर जहाँ कि rods नहीं रहते visual purple की अनुपस्थिति के कारण कोई प्रतिच्छाया नहीं दिखाई देती। नेत्र में इस रक्तक द्रव्य के अतिरिक्त और भी रक्तक द्रव्य हैं, जिनके सम्बन्ध में अभी विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है यथा पीत बिन्दु (yellow spot or Macula lutea) में स्थिति पीत द्रव्य।

भ्रजक पित्त

यह एक त्वग्कोष्ठस्थ द्रव्य (Intracellular substance of the skin) है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में तापनियमन, शोषण, और तैल तथा स्वेद प्रस्रवण त्वग्गत प्रधान कार्य बताये गये हैं, किन्तु इनके कर्त्ता का वर्णन नहीं दिया है। नाड़ी संस्थान में तैल ग्रन्थियों और स्वेद ग्रन्थियों को प्रेरित करने वाले केन्द्र हैं तथापि सामान्य दशा में इनका नियमन तथा त्वचा द्वारा लेपादि का पाचन और शोषण कार्य त्वग्कोष्ठस्थ द्रव्य एवं तन्निष्ठ ऊष्मा द्वारा होता है जो

आयुर्वेदोक्त भ्राजक पित्त है। त्वचा की यह स्थिति नाड़ी प्रभाव के अन्तर्गत होते हुए भी हृदय के तन्निष्ठ स्फुरण गुण के समान स्वकीय एवं स्वतन्त्र है। तथा जिस प्रकार हृदय में साधक पित्त के द्वारा कार्य सम्पादन होता है उसी प्रकार त्वचा में उसके कार्य भ्राजक पित्त के अधीन हैं।

कफ के भेद

वात तथा पित्त के समान कफ के भी पाँच प्रकार या उपवर्ग हैं तथा पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान के किन द्रव्यों से उनकी तुलना की जा सकती है यह निम्न लिखित सारिणी में बताया गया है—

क्लेदक कफ

आमाशय की उपचयात्मक ग्रन्थियों का स्राव (Gastric mucuous secretion excluding hydrochloric acid and enzymes named pepsin and rennin), आमाशय में Rennin तथा pepsin नामक पित्त वर्गीय enzymes के अतिरिक्त enterogastrone नामक Protective enzyme होता है जो आमाशय की श्लैष्मिक कला को पूर्वोक्त enzymes के तीक्ष्ण प्रभाव द्वारा विनष्ट होने से बचाता है। यह रक्षक enzyme क्लेदक कफ का ही भाग है।

अवलम्बक-कफ

हृदयावरण और फुफ्फुसावरण में स्थित द्रव (Serous fluid in pleurae and pericardium), श्वास संस्थान का श्लैष्मिक द्रव्य (Tissue fluid of the respiratory system), महती रसकुल्या में स्थित रस (Lymph and chyle in the great lymphatic duct called thoracic duct), चुल्लिका, उपचुल्लिका और औरस ग्रन्थियों का अन्तःस्राव (Internal secretion of the thyroid, parathyroid and thymus glands)

बोधक या रसक कफ---

मुख और गले का श्लैष्मिक स्राव (Mucuous secretion of the mucus glands in the mouth and pharynx), लाला ग्रन्थियों का लाला स्राव Salivary secretion of the salivary glands excluding ptylin, श्लेष्मभूक्ष अथवा उपजिह्विका नामक दो रसग्रन्थियाँ (Lymphoid glands) जिन्हें अंगरेजी में tonsil कहते हैं, उनका स्राव।

तर्पक कफ---

मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव (Cerebrospinal fluid which is nutritive to the nerve tissues), नेत्र गोलक में स्थित द्रव (Aqueous and Vitreous humours in the eyeballs), अश्रुग्रन्थि का स्राव (Lacrymal secretion), तथा अन्तःकर्ण में स्थित द्रव (Fluids inside the internal ears called endolymph and perilymph).

श्लेषक कफ---

अस्थि सन्धियों में स्थित श्लेष्मा (Synovia i. e. synovial fluid in the joints), अणु-श्लेष्मा या कोषाणुओं की सन्धियों में स्थित श्लेष्मा (Intercellular substance).

(११) उपसंहार, आधार और आभार

(Conclusion, Reference and Obligation)

त्रिदोष के आवश्यक विषयों पर इस लेख में प्रकाश डाला गया है। इसमें प्राचीन शास्त्रोपलब्ध विषय तथा विद्वानों द्वारा पुरस्कृत एवं कुछ नित्य

* श्लेष्मभू—चरक ने लिखा है—“द्वैश्लेष्मभुवौ” जिसकी टीका में चक्रदत्त लिखते हैं—“श्लेष्मभुवौ कण्ठस्थपार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ।” चरक में ही अन्य स्थान पर इनके लिये ‘उपजिह्विका’ शब्द आया है। ये वर्तमान में ‘प्रजिह्विका’ ‘टान्सिल’ हैं तथा इनके लिये आजकल हिन्दी में ‘गलग्रन्थि’ शब्द का प्रयोग करते हैं।

शास्त्रचर्चा-परिषद् के निबन्ध

सन् १९५१]

विचारों का संग्रह है। इसमें प्रस्तुत विषय भी अभी तक लिखे गये त्रिदोष सम्बन्धी लेखों के समान एक अन्तिम निर्णीत विचार नहीं कहा जा सकता तथा विमर्श और अनुसन्धान के लिये पर्याप्त स्थान है।

उपर्युक्त बिन्दुओं के अतिरिक्त त्रिदोष सम्बन्धी अनेक विषय हैं जिन पर प्रकाश डाला जा सकता था किन्तु निरपेक्ष विस्तार के कारण उन्हें छोड़ दिया है, यथा—ओज और रक्त दोष क्यों नहीं हैं, वातादि प्रकृति के लक्षण और आधुनिक मत, त्रिदोष और नाड़ी विज्ञान, त्रिदोष और जीवाणुवाद, मानस दोष और मानस विकार का त्रिदोष से सम्बन्ध, मृत्यु के पश्चात् त्रिदोष की स्थिति इत्यादि-इत्यादि।

अन्त में प्रधान आधारभूत ग्रन्थों, पत्रिकाओं तथा पत्रकों की सूची देते हुए मैं उनके लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ :—

- (१) चरक संहिता
- (२) सुश्रुत संहिता
- (३) अष्टाङ्ग हृदय
- (४) अष्टाङ्ग संग्रह
- (५) शाङ्गधर
- (६) भेल संहिता
- (७) श्रीमद्भगवद्गीता
- (८) हरिवंश पुराण
- (९) माधव निदान
- (१०) सिद्धान्त निदान (प्रथम खण्ड)
- (११) रसयोग सागर का उपोद्घात
- (१२) प्रत्यक्ष शारीर (तृतीय खण्ड)

- (१३) शारीरं तत्त्व दर्शनम्
- (१४) शारीर क्रिया विज्ञान
- (१५) त्रिदोष सिद्धान्त
- (१६) त्रिदोष की आधुनिक व्याख्या
- (१७) त्रिदोषालोक
- (१८) त्रिदोष विमर्श
- (१९) त्रिदोष मीमांसा
- (२०) आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका—

नवम्बर, दिसम्बर १९४५

नवम्बर, दिसम्बर १९४७

मार्च, अप्रैल १९५०

- (२१) संस्कृत रत्नाकर का आयुर्वेदाङ्क १९३४
- (२२) आयुर्वेद कालेज पत्रिका (का० वि० वि०)
अक्तूबर १९४१

- (२३) Handbook of Physiology.
- (२४) Gray's Anatomy.
- (२५) Report of the Chopra Committee
on Indigenous System of Medicine. Part II.
- (२६) Indian Medical Record.
June—1944.
March—1945.
- (२७) Literature on 'Digene'
Boots Pure Drug Co.
- (२८) Literature on 'Folinate'
and 'Livibee'
Alembio Chemical Works.
- (२९) Literature on 'Cardeon'
Anglo French Drug Co.

❀ ॐ शान्तिः ❀

त्रिदोष का परिचय

डा० एन० एस० पराज्पे



त्रिदोष का निम्न वर्णन चरक, सुश्रुत और वाग्भट्ट के आधार पर किया गया है। आयुर्वेद के मूलभूत एवं मुख्य वर्णन में कहा गया है—“दोषधातु मलमूलं हि शरीरम्”। इन उक्त तीन वर्गों में दूसरा वर्ग शरीर धातुओं के लिये तथा तीसरा शरीर से निकलनेवाले मलों के लिये कहा गया है। प्रथम वर्ग के सम्बन्ध में विचारना है कि वह क्या है। निम्न वर्णन से जो विभिन्न शीर्षकों के अन्दर किया गया है, इस वर्ग का उपयुक्त परिचय मिल जाता है।

१. शरीर रचना सम्बन्धी वर्णन

(१) त्रिदोष शरीर के मूलभूत उपादान हैं। वे पंचमहाभूतों से उत्पन्न होते हैं अर्थात् पांचभौतिक द्रव्य हैं।

(२) आयुर्वेद में दोषों के वर्णों का वर्णन मिलता है।

(३) आयुर्वेद में दोषों का परिमाण भी कहा गया है।

(४) प्रत्येक दोष का अलग-अलग परिमाण बतलाया गया है।

(५) त्रिदोष को शरीर का अवयव कहा गया है।

(६) त्रिदोष को इन्द्रियग्राह्य कहा गया है।

(७) त्रिदोष शरीर में स्थान ग्रहण करते हैं। ऐसा वर्णन मिलता है।

(८) त्रिदोष के स्थान और कर्म के अनुसार पाँच भेदों का वर्णन मिलता है।

(९) शरीर में स्राव के रूप में ये निकलते हैं। ऐसा वर्णन मिलता है।

(१०) ये त्रिदोष उदर में स्थूल रूप में तथा सम्पूर्ण शरीर में सूक्ष्म रूप में पाये जाते हैं।

२. शरीर क्रिया सम्बन्धी वर्णन

(१) सम्यक् आहार-विहार इन दोषों को सामान्य-वस्था में रखता है, जो स्वास्थ्य का कारण है।

(२) ये दोष स्वास्थ्य-वस्था (प्रकृतरूप) में देह का धारण करने से धातु कहलाते हैं।

(३) अन्न परिपचन के समय ये तीनों दोष महास्रोत में स्राव के रूप में निकलते हैं।

(४) महास्रोत में आये हुए स्राव के रूप में ये तीनों दोष आहार के द्वारा परिपुष्ट होते हैं।

(५) ये तीनों उक्त प्रकार से उपचित होकर शरीर में परिशोषित होते हैं।

(६) इस प्रकार ये परिशोषित होकर सामान्य रक्त प्रवाह में जाकर शरीर के सप्तधातुओं को पुष्ट करते हैं।

(७) ये दोष सङ्घात रूप में शरीर द्रव्य बनकर अन्य शरीरावयवों की तरह रहते हैं।

(८) शरीर के अन्य विभिन्न अंगों की तरह प्रत्येक दोष पाँच विभागों में विभक्त हो जाता है।

(९) वे पूर्ण स्वतन्त्र रहते हैं और धातुओं का पोषण करते हैं। इसलिये शरीर के सभी व्यापारों का वर्णन त्रिदोष के वर्णन में ही अन्तर्भूत कर दिया गया है।

(१०) शरीर-धातुओं का पोषण करने के बाद ये पुनः स्राव के रूप में महास्रोत में आते हैं।

३. विकृति विज्ञान सम्बन्धी वर्णन

(१) मिथ्या आहार-विहार से ये दोष अपनी

साम्यावस्था को छोड़कर विषमावस्था में चले जाते हैं।

(२) इस प्रकार बड़े हुए दोषों के व्यापार को आयुर्वेद में संचय अवस्था कहा गया है।

(३) इस प्रकार बड़े हुए दोष (प्रतीकार नहीं किये जाने पर) प्रकोपावस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

(४) इसके बाद उक्त संचित एवं प्रकुपित दोष शरीर में फैलने लगते हैं जिसे प्रसरावस्था कहा गया है।

(५) ये फैलते हुए दोष किसी स्थान में अनुकूल परिस्थिति को पाकर बैठ जाते हैं; इसे स्थान संश्रय कहा गया है।

(६) इस प्रकार स्थान संश्रित दोष, स्थानीय विकृति को उत्पन्न करते हुए शरीर धातुओं में ऐन्द्रियक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, जिसे व्यक्ति अवस्था कहते हैं।

(७) जब स्थानीय संश्रित दोषों के कारण उस स्थान में द्रव-अंश संचित हो जाते हैं, तो वहाँ शोथ उत्पन्न हो जाता है।

(८) इस शोथ का प्रतीकार नहीं होने से वह विद्रधि का रूप धारण कर लेता है।

(९) विद्रधिका प्रतीकार न होने से व्रण बन जाता है।

(१०) यदि व्रण की उपेक्षा की गयी तो वह कोथ का रूप धारण कर लेता है। यह अवस्था बढ़कर मृत्यु का कारण बन जाती है। इस प्रकार ये कफ-पित्त-वात तीनों दोष क्रमशः २०, ४० तथा ८० प्रकार के लक्षण शरीर के अन्दर उत्पन्न करते हैं।

४. चिकित्सा सम्बन्धी वर्णन

(१) सम्यक् आहार और विहार दोषों को साम्यावस्था में लाता है।

(२) अजीर्ण से उत्पन्न अनेक लक्षणों की शान्ति उपवास से भी होती है।

(३) कफ के विकार में वामक द्रव्य से लाभ होता है।

(४) पित्त के विकार रेचन से शान्त होते हैं।

(५) वात विकार में वस्ति से आरोग्य लाभ होता है।

(६) शोथों की शान्ति के लिये दोषों के अनुसार उनके विपरीत गुणवाले औषध द्रव्यों के लेप से लाभ होता है।

(७) विद्रधि के पक जाने के बाद शस्त्रक्रिया की जाती है, परन्तु उसकी चिकित्सा के लिये दोषों के अनुसार विचार करना होता है।

(८) व्रण के पाटन क्रिया के बाद भी उनमें होने वाले लक्षणों को उक्त तीन दोषों के अन्दर बाँटा गया है।

(९) कोथ की अवस्था को भी दोषों के अनुसार बाँटा गया है और उनकी चिकित्सा की भी दोषानुसार व्यवस्था की गयी है।

(१०) विभिन्न प्रकार के प्रतीकारों की आवश्यकता होती है। जैसे—पंचकर्म, वस्ति, अपतर्पण, सन्तर्पण आदि।

नि० भा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद् में विवेच्य विषयों पर स्मृति-पत्र

डा० डी० एन० बनर्जी, एम० बी० (कलकत्ता), एम० डी० (बर्लिन), प्रोफेसर—विकृति विज्ञान, आर० जो०
कर मेडिकल कालेज कलकत्ता ।

ॐ

परिषद् ने आयुर्वेद के सत्य एवं समुचित ज्ञान सम्बर्धन के लिये परमावश्यक कदम उठाया है । इस परिषद् में उपस्थित किये जाने वाले विषयों को देख कर मैं यह कह सकता हूँ, कि परिषद् तथ्यों का निर्णय तथा आयुर्वेद साहित्य के अन्दर क्या है और क्या नहीं है, इस को स्पष्ट करने के लिये प्रयत्नशील है । इस तथ्यान्वेषण का लक्ष्य यही है कि आयुर्वेद शिक्षण में होने वाली कठिनाइयों का निराकरण हो जिस से आयुर्वेद महाविद्यालयों में उपयुक्त और याग्य आयुर्वेद का शिक्षण हो सके । इस कार्य का सम्पादन बृद्ध वैद्यों के अनुभव के आधार पर तथा आधुनिक विज्ञान से आवश्यक एवं उपादेय विषयों को अपनाकर ही किया जा सकता है ।

उपर्युक्त बातों को दृष्टि में रख कर हम यह कह सकते हैं कि यह परिषद् आयुर्वेद-शास्त्र के प्रतिसंस्कृत मण्डल का आयोजन करना चाहती है । इस ध्येय को देख कर चरक का निम्न उपदेश मानसपटके समक्ष उपस्थित हो आता है—

“विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यति विस्तरम् ।

संस्कर्त्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्णवम्” ॥

च० सि० १२।६६

अर्थात् प्रति संस्कर्त्ता सूत्र रूप में (लेशोक्त) कहे हुए तथ्यों की विस्तृत व्याख्या करता है और विस्तार से कहे हुए विषयों को संक्षिप्त करता है । इस

प्रकार वह प्राचीन विषयों या शास्त्रों को पुनः नये रूप में ढालता है ।

आधुनिक महाविद्यालयों से निकले हुए स्नातकों की आयुर्वेद विरोधिनी मनोवृत्ति को देख कर एक ही तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट होता है, कि यह कुपरिणाम एक मात्र उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों के अभाव के कारण ही हुआ है । (देखें सभापति का भाषण— १६५०-पेज ४) । अतः इस परिषद् का सर्वप्रथम एवं मुख्य कार्य उक्तदोष को दूर करना होना चाहिये । इस तथ्य को दृष्टिमें रख कर मैं इस परिषद् के समक्ष उपर्युक्त दोषों के निराकरणार्थ तथा उक्त त्रुटियों के सम्मार्जनार्थ एक निर्णय पर पहुँचने के लिये अपनी सम्मति उपस्थित करता हूँ ।

इस कार्य को हमें दो दृष्टिकोणों से सम्पन्न करना होगा । जैसे :—

(१) सामान्य स्नातक शिक्षण के लिये उपयुक्त पुस्तकों एवं पाठ्यक्रम के स्वरूप का निर्णय ।

(२) उच्च शिक्षण तथा स्नातकोत्तर शिक्षण के लिये पाठ्य क्रम तथा पुस्तकों की रूपरेखा का निर्णय ।

इन आवश्यक विषयों को उपस्थित करने का मेरा ध्येय यह है कि सम्प्रति हम उच्च साहित्यिक अन्वेषणों के पचड़ेमें न पड़ इस परिषद् को उक्त विवेच्य विषयों के लिये ही सीमित रखें । ‘अल्पारम्भः क्षेमकरः’ के

सन् १९५१

स्मृति-पत्र

६४६

अनुसार सम्प्रति हम स्नातक परीक्षा के लिये पाठ्य क्रम तथा पुस्तकों के निर्माण की रूपरेखा बनावें। विद्यालयों में पढ़ाने के लिये पाठ्यक्रम तथा पाठ्य पुस्तकों का सर्व प्रथम निर्णय कर लें, पश्चात् महा विद्यालयों में तथा स्नातकोत्तर परीक्षा के लिये पाठ्य क्रम तथा पुस्तकों का निर्णय करना हमारे लिये श्रेयस्कर होगा। यदि इस परिषद् में भी हमने उच्च शास्त्रीय चर्चा का श्रोगणेश किया तो मुझे शंका है कि इस परिषद् में भी हम कुछ न कर पायेंगे। यह मैं अपने विगत परिषदों के अनुभव के आधार पर कह रहा हूँ।

यही कारण है कि मैं यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि इस परिषद् में उक्त विषयों का निर्धारण कर एक ठोस कार्य हम करने में समर्थ हो सकें। यह कार्य उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों के निर्माण से ही सम्पन्न हो सकता है। हमें विषयों का वर्गीकरण कर पुस्तकों का निर्माण करना पड़ेगा।

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों का अध्ययन इस प्रसंग में सर्व प्रथम आता है, अतः इस सम्बन्ध के अनेक प्रश्न उपस्थित हो रहे हैं। मैं समझता हूँ कि इस तरह के प्रश्न मेरे अतिरिक्त अन्य भी शिक्षकों एवं आयुर्वेद जिज्ञासुओं के मन में उपस्थित होते होंगे। अतः उन्हें परिषद् के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर रहा हूँ। इस विषय को मैं निम्न विभागों में विभक्त कर उपस्थित करना चाहता हूँ।

१—आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त।

२—महाभूत सिद्धान्त (सैद्धान्तिक)

३—पंच महाभूत सिद्धान्त (व्यावहारिक)

४—त्रिदोष सिद्धान्त।

५—शारीर - रचना - विज्ञान, शारीर-क्रिया-विज्ञान, विकृति-विज्ञान और व्यावहारिक-चिकित्सा-विज्ञान।

१—आयुर्वेद का मूलभूत सिद्धान्त

पदार्थ-विज्ञान, जिसके अन्दर पदार्थ निर्णय (द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष), द्रव्य निरूपण, (पंचमहाभूत, आत्मा, दिक् और काल) इन विषयों को यद्यपि दर्शन शास्त्र से आयुर्वेद में लिया गया है, तथापि आयुर्वेद का अपना भी दृष्टिकोण है। अतः उनका प्रतिपादन इसमें होना चाहिए। क्योंकि एक ही समय में दोनों दृष्टिकोणों का बिना कोई पार्थक्य दिखाए हुए अध्यापन जिज्ञासुओं के मनमें भ्रम पैदा कर देता है। यह भ्रम और भी सम्पुष्ट तब हो जाता है, जब आयुर्वेद के संहिताग्रन्थों (चरक-सुश्रुत) में उक्त विभिन्न मर्तों का प्रतिपादन देखते हैं। एतदर्थ निम्नकतिपय उदाहरण सूचनार्थ पर्याप्त होंगे। जैसे—पुरुष के वर्णन में षड्धातुज पुरुष, चतुर्विंशतिक पुरुष, पंचविंशतिक पुरुष, चेतना धातुरूप पुरुष, राशि पुरुष आदिका वर्णन। ये सब वर्णन विभिन्न दर्शनों के दृष्टिकोण को समझाने के लिए उपस्थित किए गए हैं। आयुर्वेद का दृष्टिकोण इनसे भिन्न है। जैसे—आयुर्वेद के आत्मा को वैशेषिक में नौ आदि कारण द्रव्यों के अन्दर ग्रहण किया गया है, वहाँ चतुर्विंशतिक पुरुष का कोई वर्णन नहीं है। इस प्रकार आयुर्वेद संहिताओं में आत्मा, परमात्मा, भूतात्मा आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। अतः सांख्य आदि दर्शनों से इन तीनों के वर्णन में आयुर्वेद में क्या विशेषता पाई जाती है और उसकी क्या उपयोगिता है, तथा उनके वर्णन में क्या साधर्म्य और वैधर्म्य है इत्यादि विषयों का विवेचन करना होगा। मन, इन्द्रियां तथा पंचभूतों का उत्पादक कौन है और आयुर्वेद में इन्हें भौतिक क्यों कहा गया है, इत्यादि विषयों का युक्ति युक्त समाधान देना होगा। अन्य दर्शनों से आयुर्वेद में इन विषयों के विभिन्न वर्णन

का कारण भी भ्रम को दूर करने के लिए समझाना होगा। यह विषय आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में प्रथम कक्षा का विषय होगा, अतः किसी प्रकार का इस विषय में भ्रमोत्पादक चर्चा अश्रेयस्कर होगा। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के सामने आयुर्वेद के दृष्टिकोण को स्पष्ट और संशय रहित रूप में उपस्थित करना होगा। इन विषयों के आलोचनात्मक अध्ययन को उच्च शिक्षण के पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है। प्रारम्भमें नहीं।

यह व्यवस्था में आयुर्वेदिक संस्थाओं में अध्यापनार्थ करना चाहता हूँ। देखने में आता है कि ऐसे अधिक विद्यार्थियों का प्रवेश आयुर्वेदिक संस्थाओं में होता है, जिन्हें इन सब विषयों की कोई जानकारी नहीं होती। प्रथम वर्ष में ही इन सब विषयों का आलोचनात्मक ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि उन विद्यार्थियों को आयुर्वेद के अन्य मूल सिद्धान्तों की भी जानकारी करना होती है, जो अपने आपमें स्वयं एक विस्तृत विषय है। जैसे—रसगुण-वीर्य-विपाक सिद्धान्त, शारीर रचना, शारीर क्रिया-विज्ञान प्रभृति। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि दर्शनके उन अंशों को ही आयुर्वेद दृष्ट्या अपनाने की आवश्यकता है, जिनकी आयुर्वेद में उपादेयता है। विद्यार्थियों पर अनावश्यक दर्शन का बोझ लादने की कोई आवश्यकता नहीं। अतः पटना परिषद् को इस सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक निर्णय देना चाहिए। विवेच्य विषय संख्या एक में अभी उलझने का समय नहीं।

२—महाभूत सिद्धान्त (सिद्धान्तिक)

(१)—महाभूत, सूक्ष्म भूत, भूत और स्थूल भूत में क्या भेद है।

(२)—जब मैं यह कहता हूँ कि वायु में आकाश भूत का अनुप्रवेश है, और तेज में आकाश और

वायु का अनुप्रवेश है इत्यादि, तब ये सब भौतिक बन जाते हैं। अर्थात् ये वातादि भौतिक हैं, आद्यभूत नहीं।

(३)—“भूतेभ्योहि परं यस्मा त्नास्ति चिन्ता चिकित्सते” सुश्रुत के इस वाक्य के अनुसार चिकित्सक स्थूलदर्शी होते हैं, इसका तात्पर्य यह है, कि आयुर्वेदज्ञ वैशेषिकानुमत नौ नित्य द्रव्यों को ही आदिकारण मानते हैं। इस प्रकार वे भूत जो तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं, अनित्य हैं; अतः विकार हैं। आयुर्वेद में इन्द्रियों को भी भौतिक कहा है, जो सांख्य के विरुद्ध है।

आयुर्वेद के इस मूलभूत सिद्धान्त का सप्रमाण एवं युक्ति पूर्ण प्रतिपादन करना होगा, साथ ही यह भी देखना होगा कि अन्य दर्शनों से इनके वर्णन में पदार्थक्य क्यों आया है, और इनकी चिकित्सा में क्या उपादेयता है।

(४)—यदि इन्द्रियां भौतिक हैं, तब यह पूर्णरूप से सम्भव है, कि शरीर के अन्दर पाञ्चभौतिक कोई इन्द्रिय द्रव्य है। आत्मा या अन्य आद्य उपादान द्रव्य उसके साथ संयुक्त हों या नहीं, ऐसी अवस्था में उस आत्म विरहित द्रव्य को हम चेतन कहेंगे या नहीं इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कि इन्द्रियां का प्रथम गुण ज्ञान (विषयों) का ग्रहण करना है इसका विवेचना करना होगा। इस विचार विमर्श में हमें इस बात का ध्यान रखना होगा, कि ये पंच महाभूत, आत्मा, मन, दिक् और काल पृथक्-पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, जो सांख्य के पंचमहाभूतादि से भिन्न हैं।

(५)—पुनर्जन्म को दृष्टि में रखते हुए सूक्ष्म शरीर क्या है इसका निर्णय करना होगा। क्या आयुर्वेद आत्मा के पुनर्जन्म को स्वीकार करता है? यदि स्वीकार करता है तो पुनर्जन्म का क्या क्रम है

सन् १९५१]

स्मृति-पत्र

६५१

और तब उक्त नौनित्य द्रव्यों का उनके साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है ?

(६)—मन को उपपादक कहा गया है। उपपादक शब्द का क्या अभिप्राय है ? मन किस प्रकार गर्भ में प्रवेश करता है और शरीर से बाहर वह कहाँ रहता है ?

(७)—आयुर्वेद उक्त नौ द्रव्य के सिद्धान्त का पंचविंशतिक तत्त्व के सिद्धान्त के साथ किस प्रकार सम्बन्ध उपस्थित करता है ? यदि अव्यक्त को सृष्टि (चेतन-अचेतन) का आदि स्रोत मानें और अंत में सबों का लय अपने-अपने पूर्वोत्तर कारणों में मानें तो इस भौतिक शरीर का तथा भौतिक इन्द्रियों का आत्मा से अलग होने पर कहाँ पर्यवसान होगा और आत्मा तथा मन पुनः शरीर में किस प्रकार प्रवेश करेगा ?

(८)—मृत्यु के उपरान्त विशेषकर ऐसे मृत्युओं में जिनमें अन्त काल तक चेतना बनी रहती है मन किस प्रकार शरीर से अलग होता है और शरीर से अलग होने पर उसका क्या स्वरूप होता है ?

(९)—सत्त्वादि तीन गुणों का पञ्चभूतों से क्या सम्बन्ध है ? ये कहाँ और किस प्रकार सम्बन्धित होते हैं ? क्या यह सत्य है, कि ये पञ्चभूत उक्त त्रिगुणों से उत्पन्न होते हैं ? यदि हाँ, तो किस प्रकार ?

(१०)—आयुर्वेद में लिङ्ग शरीर किसे कहते हैं ?

(११)—निम्न पदों से आयुर्वेद का क्या अभिप्राय है ? गुरु-लघु आदि बीस गुणों से। क्या ये भौतिक द्रव्यों के अर्थात् वात-पित्त-कफ, रसादि धातु, मल, ओषध तथा आहार द्रव्यों के वास्तविक गुण हैं ? क्या इसका यह अभिप्राय है, कि सूक्ष्मभूत पृथ्वी भारी (गुरु) है ? वर्षा कालीन जल क्यों और किस प्रकार गुरु और शरत्कालीन लघु तथा हेमन्त-

कालीन स्निग्ध एवं वसन्त कालीन रुक्ष समझा गया है ? इसी प्रकार दुग्धों में गाय का दूध मृदु और स्निग्ध इत्यादि ऊँटनो का दूध रुक्ष और लघु तथा बकरी का दूध लघु क्यों कहा गया है ? उड़द को गुरु और मूँग को क्यों लघु कहा गया है।

(१२)—क्या ये पञ्च महाभूत संसार के जड़ पदार्थों की पांच विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं ? ऐसा नहीं प्रतीत होता। ये पांच विभिन्न अवस्थाएँ क्या हैं ? क्या इनका अर्थ ठोस (Solid), तरल (liquid), तैजस (fiery), वायवीय (graseous), तथा नाभस (Etherial) है ? जल सामान्यतः प्रकृति में ठोस रूप (बरफ) में तरल रूप (जल) में तथा वायवीय रूप (वाष्प-गैस) में देखने में आता है। एक इसका वह भी रूप पाया जाता है, जो आँखों के द्वारा नहीं देखा जा सकता, तब क्या हम यह कहेंगे कि अपभूत उक्त पार्थिवादि रूप में बदलता रहता है।

३—पञ्चमहाभूत सिद्धान्त (न्यावहारिक)

(१)—पथ्य तथा औषधों का शरीर पर इसलिए क्रिया या प्रभाव होता है, क्योंकि ये तीनों (पथ्य-औषध और शरीर) पांच भौतिक हैं। आयुर्वेद शास्त्र में पार्थिव, आप्यादि द्रव्यों के गुणों के विस्तृत वर्णन उपलब्ध होते हैं। हम उन्हें किस प्रकार जान सकते हैं ? यदि हमारे सामने कोई अज्ञात द्रव्य आ जाय तो उसके गुणों की जानकारी हम किस प्रकार करेंगे ? कौन-सा आहार द्रव्य रस, रक्त तथा अन्य धातुओं पर वैयक्तिक रूप से कार्य करता—प्रभाव डालता है और क्यों डालता है ? दोषों के सम्बन्ध में इस प्रकार के गुणों का वर्णन शास्त्रों में हमें मिलता है। यह हम जानते हैं कि कुछ द्रव्य दोषों का उप-शमन करते हैं, कुछ प्रकुपित करते हैं, तथा कुछ उनकी साम्यावस्था को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। वे

इस कार्य (शमन-प्रकोपन तथा स्वास्थ्यहित) को किस प्रकार करते हैं ? क्या इन्हें हम प्रयोगों द्वारा दिखा सकते हैं ?

(२)—रसों में मधुर रस के अन्दर क्षिति और अपभूत का बाहुल्य ; अम्ल में अप और अग्नि का बाहुल्य ; लवण में क्षिति और अग्नि का बाहुल्य इत्यादि तथा वायु को कटु, तिक्त एवं कषाय रस, पित्त को कटु, अम्ल और लवण रस; तथा कफ को मधुर, अम्ल और लवण रस विशिष्ट द्रव्य उत्पन्न करते हैं, ऐसा वर्णन शास्त्रों में मिलता है। ये किस प्रकार उक्त कार्यों को करते हैं। क्या इन्हें प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है ?

(३)—आहार तथा औषध द्रव्यों में विभिन्न भूतों के तथा किसी एक भूत के बाहुल्य को हम कैसे जान सकते हैं ? किसी एक धातु में अमुक भूत का बाहुल्य है, इसका परिचय हमें कैसे हो सकता है ? धातुओं के अन्दर विशेषकर बीमारी की अवस्था में अमुक महाभूत की कमा या वेशी हो गयी है, इसका ज्ञान हमें कैसे हो सकता है; जिससे हम उनके सामान्य तथा विपरीत गुणवाले द्रव्यों को देकर उनकी पूर्ति या हास कर सकें।

(४)—अस्थि, दन्त, मांसपेशियाँ, त्वचा प्रभृति को पार्थिव कहा गया है। परन्तु इनमें अस्थि कठिन होती है, मांसपेशियाँ मृदु होती हैं। ये वैषम्य कैसे और क्यों उत्पन्न होता है ? इनमें अस्थि सफेद वर्ण का तथा मांसपेशियाँ रक्त वर्ण की क्यों हो जाती हैं ?

(५)—पित्त आग्नेय है, इसे आप्य और विस्रगन्धी क्यों कहा गया ? गन्ध तो पृथ्वी का गुण है।

(६)—इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ दोनों ही आयुर्वेद में भौतिक माने गए हैं। इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क (संयोग) में आने का क्या क्रम है, ये

विषयोंका ग्रहण किस प्रकार करती हैं और उनका ज्ञान उन्हें कैसे होता है ?

(७)—वायुभूत, भौतिक वायु, शारीर वायु (दोष) और बाह्य वायु में क्या अन्तर है ?

(८)—चरक में कहा गया है कि पञ्चमहाभूतों की पाँच प्रकार की अग्नियों से आहार द्रव्यों का परिपाचन होता है, इन पंचोष्माओं का क्या स्वरूप और गुण है ? ये किस प्रकार पांचभौतिक आहार द्रव्य को पचाते हैं ? तथा किस प्रकार उन्हें शारीर द्रव्य में परिवर्तित कर आत्मसात् (सात्मीकरण) करते हैं और पुनः उन्हें किस प्रकार सप्तधातुओं में परिवर्तित कर उनका पोषण करते हैं ?

(९)—पांचभौतिक आहार द्रव्यों का मिथ्याआहार किस प्रकार धातुविकृति (वैषम्य) उत्पन्न कर रोगोत्पत्ति करते हैं ? प्रकृतिभूत तथा विकृतिभूत पञ्चमहाभूतों का परिचय किस प्रकार हो सकता है ?

(१०)—पंचभूताग्नि (देखें प्रश्न ८) ही हमलों के शरीर की अग्नि है, जिसकी पारिभाषिक संज्ञा पित्त है। ये सभी अग्नि चाहे वे तेरह हों या अधिक संख्या में हों, सब भूताग्नि हैं। यहाँ भूताग्नि का क्या अभिप्राय है ?

(११)—चिकित्सा में सभी चिकित्सा के द्रव्यों (आहार, औषध) द्रव्यों तथा दोषों के वैषम्य के कारण के भूतों के उक्त बीस गुणों को ही रूप में बतलाया गया है। द्रव्य में रसोत्पत्ति का कारण भी भूत ही माना गया है, वीर्य का कारण भी भूत ही है, जैसे—उष्णवीर्य अग्निप्रधान होने के कारण शीत वीर्य अम्बुगुण प्रधान होने के कारण होता है। विपाक को भी लघु आदि शब्दों से संज्ञित किया गया है; जो भूतों के ही गुण हैं। इस प्रकार द्रव्य के विपाक को भी जैसे—पार्थिव और अम्बुगुण के बाहुल्य से गुरु तथा अग्नि, वायु और आकाशगुण के बाहुल्य

सन् १९५१ ।

स्मृति-पत्र

६५३

से लघु का व्यपदेश किया गया है। द्रव्यों के प्रभाव के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि आकाश-बाहुल्य द्रव्य संशमन, अनिल-बाहुल्य द्रव्य संग्राहक, अग्निबाहुल्य द्रव्य दीपन, अपवाहुल्य द्रव्य ह्लादन तथा पृथ्वीबाहुल्य द्रव्य वृंहण होता है इत्यादि। इस प्रकार चिकित्सा का प्रत्येक विषय पञ्चभूत सिद्धान्त तथा पञ्चभूत के गुणों से भरा पड़ा है; इसलिये रस-गुण-वीर्य आदि पञ्चमहाभूतों से आक्रान्त हैं; इसकी जानकारी परमावश्यक है।

(१२)—शरीर के अङ्ग तथा प्रत्यंगों पर आहार तथा औषध द्रव्यों का प्रकृत तथा विकृत अवस्था में क्या प्रभाव होता है, तथा उनका कार्यकारण सम्बन्ध क्या है अर्थात् कोई भी बाह्यविजातीय द्रव्य शरीर के दोषों तथा धातुओं के साम्य को बनाए रखने में तथा बढ़ाने या घटाने में क्या भाग लेते हैं, उन्हें पांच भौतिक दृष्टिकोणों से उभयविध (प्रायोगिक और व्यावहारिक) से निश्चय करना होगा।

४—त्रिदोष सिद्धान्त

यह एक अत्यन्त गहन एवं विस्तृत विषय है; जिस का अध्ययन पूर्ण सावधानी एवं व्यापक रूपसे करना है। इनका अध्ययन निम्न वर्गीकरणों के अनुसार हम कर सकते हैं। जैसे—

(१) त्रिदोष का स्वरूप निर्णय।

(२) त्रिदोष के स्वरूप आदि वर्णन में विभिन्न मतभेदों का निर्णय करना।

(३) ये दोष प्रकृत तथा विकृत दशा में किन यन्त्रों की सहायता से अपने कार्य को सम्पन्न करते हैं?

(४) दोष-विकृति का अभिप्राय क्या है और ये विकृत लक्षण क्यों और कैसे उत्पन्न होते हैं?

(५) दोषों के वैषम्य होने से शरीर के विभिन्न अवयवों में क्या परिवर्तन हो जाता है? इत्यादि।

५—शरीर-रचना, शरीर-क्रिया, विकृति-विज्ञान तथा व्यावहारिक चिकित्सा-विज्ञान

मैंने इस विषय पर अपने मन्तव्य को परिषद् में उपस्थित करने के लिये प्रसिद्ध कर दिया है, जो 'सचित्र आयुर्वेद' के दिसम्बर अङ्क में पाठकों को देखने को मिला होगा। सभी विवेचक विद्वानों का ध्यान इस तथ्य पर आकृष्ट करना चाहता हूँ, कि उपर्युक्त चारों विषयों का विचार एक साथ और एक समय में करना होगा। कहने का तात्पर्य यह कि जब हम शरीर-रचना के सम्बन्ध में विचार करने लगे, तो हमें उस अवयव के व्यापार, प्रकृत तथा विकृत अवस्था का तथा उनमें उपस्थित विकृति एवं उनसे उत्पन्न होने वाले विकारों (रोगों) का भी हमें वर्णन करना होगा। साथ ही विकृत अङ्ग का प्रभाव अन्य अवयवों पर क्या होगा यह भी करना होगा। यद्यपि ये सभी वर्णन अपने-अपने विभाग के अनुसार विभिन्न ग्रन्थों का रूप-धारण कर लेंगे तथापि इनका विचार हमें एक साथ करना होगा। जैसे—विकृत विज्ञान के वर्णन में उनके विकृत रूप के वर्णनों के साथ-साथ उसके प्रकृति रूप का भी ध्यान हमें दिलाना होगा। विकृतियों के स्वरूप एवं चिह्न को विकृति विज्ञान की पारिभाषिक संज्ञाओं में विस्तृत रूपसे वर्णन करना होगा।

इस सम्बन्ध में अपने आदरणीय सभापतिजी को खुले पत्र के रूपमें जो मैंने विषयों को समुपस्थित किया है, उससे यह उद्धृत कर देना आवश्यक समझता हूँ।

लगभग २५ वर्षों से भी अधिक से विषयों के अनुसार आयुर्वेद का अध्यापन प्रारम्भ हो गया है, और सैकड़ों शिक्षक उस समय से इस कार्य को कर

रहे हैं, परन्तु आज तक विषयानुसार पुस्तकों का निर्माण न हो सका। यह समय उपस्थित हो गया है कि आयुर्वेद महाविद्यालयों में विषयों के अनुसार अध्यापन के लिए प्रत्येक विषय को अलग-अलग पुस्तक हो। जैसा कि पूज्य आचार्य यादवजी ने कहा है, कि “आयुर्वेद के आठ विभागों में केवल काय चिकित्सा का विभाग आयुर्वेदोपजीवियों के पास शेष रह गया है जिसमें भी अनुसन्धान कर अनेक सुधारों की आवश्यकता है, अर्थात्-उनका भी कायाकल्प करना है।” (सभापति का भाषण पृ. ४) इस सम्बन्ध में एक और तथ्यका मैं उद्घाटन करना चाहता हूँ, वह यह कि काय चिकित्सा के अन्दर भी अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनका हमें सम्मार्जन करना है। उदाहरणार्थ हृदय रोग ही लीजिए चरक संहिता में इसका वर्णन कुल्लपक्तियों में समाप्त कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त हृदय रोग के लक्षणों को देखने से भ्रम में पड़ जाना पड़ता है, कि वे लक्षण वस्तुतः में हृदय के विकार से सम्बन्ध रखते हैं या नहीं। कभी-कभी तो ऐसा भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि हृदय रोग का वर्णन आयुर्वेदोक्त हृदय के विकार का वर्णन है या नहीं। इसी प्रकार फेफड़े के वर्णन में भी अनेक भ्रमावह बातों का दिग्दर्शन हाता है। जैसे—चरक में क्लोम और सुश्रुत में फुफ्फुस का वर्णन फेफड़े के वर्णन से मिलता है। लेकिन फेफड़े के विकार कौन-कौन हैं? उनके लक्षण क्या हैं? उनके स्वरूप तथा विकृति विज्ञान इत्यादिका कोई संकेत नहीं मिलता। कभी-कभी श्वास-कास आदि लक्षणों का कोई सम्बन्ध फेफड़े से है या नहीं; यह भी समझ में नहीं आता। ये सब बातें शिक्षकों को रोग सम्बन्धी वर्णनों में तथा शरीर सम्बन्धी वर्गीकरणों में अत्यन्त काठिन्य उत्पन्न कर देती हैं। इसका निराकरण एक मात्र उपर्युक्त

प्रकार से पाठ्य पुस्तकों के निर्माण से ही सम्भव है।
शारीर-क्रिया-विज्ञान

इसके अन्दर निम्न बातों का विवरण होना चाहिए।

(१) प्रत्येक अंग के व्यापार का वर्णन।

(२) उपर्युक्त व्यापारों में त्रिदोष का सम्बन्ध। ये दोष किस प्रकार प्रकृत और विकृत अवस्था में अपने कार्यों या व्यापारों को करते हैं?

(३) क्या यह सत्य है, कि पचन प्रक्रिया में उत्पन्न कफ, पित्त और वात का समुदाय ही आहार है? आहार रस किस प्रकार रस धातु को उत्पन्न करता है? रस धातु क्या है? धातु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चक्रपाणि द्वारा वर्णित केदार कुल्या न्याय, खले कपोत न्याय तथा क्षीर दधि न्याय इन तीनों में किसे स्वीकृत किया जाए?

(४) “दोष धातु मल मूलं हि शरीरम्” क्या यह सत्य है? इन्हें कैसे समझाया जा सकता है।

विकृति-विज्ञान

इस सम्बन्ध में ज्वर निदान की प्रथम पंक्ति उदाहरणार्थ में उपस्थित करता हूँ—

मिथ्याहार विहाराभ्यां दोषाह्वामाशयाश्रयाः।

बहिनिरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदा स्यू रसानुगाः॥

अर्थात् मिथ्या आहार और विहार से दोष (वात, पित्त, कफ) आमाशय में प्रवेश करते हैं और कोष्ठाग्नि को निकाल कर रस के पीछे लगा देते हैं; जो ज्वर को उत्पन्न करता है।

यहाँ तीन शारीर संज्ञाओं पर जैसे—दोष, आमाशय और कोष्ठ तथा तीन शारीर व्यापार सम्बन्धी संज्ञाओं पर जैसे—दोष, अग्नि, और रस पर विचार करना होगा। इसके अतिरिक्त अनेक विकृत अवस्थाओं पर जैसे मिथ्याहार-विहार का

सन १९५१]

स्मृति-पत्र

६५५

क्या अथ है तथा प्रकोष का क्या अर्थ हैं एवं प्रकुपित दोष कैसे ज्वर को उत्पन्न करते हैं। तथा प्रकुपित दोष आमाशय में किस प्रकार प्रवेश करते हैं ? और आमाशय में उपस्थित दोष किस प्रकार कोष्ठाग्नि को बाहर निकालते हैं ? कोष्ठाग्नि और आमाशय का क्या सम्बन्ध है तथा कोष्ठाग्नि रस का ही पीछा क्यों करती है और किस प्रकार ज्वर को उत्पन्न करती है इत्यादि बातों पर विचार करना होगा। इसके अतिरिक्त इनका प्रकृत अवस्था में क्या स्वरूप और कैसा व्यापार रहता है, इस पर भी प्रकाश डालना होगा।

उपसंहार

पटना परिषद् का प्रधान लक्ष्य आयुर्वेद जिज्ञासुओं के समक्ष पंचमहाभूत एवं त्रिदोष प्रभृति के निश्चित स्वरूप को उपस्थित करना है, जिससे जिज्ञासुओं के मन में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो और वे अपनी इष्ट सिद्धि में कृतकार्य हों। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए चरक भगवान के उपदिष्ट चार ज्ञान के साधनों (प्रमाणों) को हमें अपनाना होगा, न कि केवल आत्मोपदेश को। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा

युक्ति इस प्रमा (सत्यज्ञान) के साधन में प्रधान साधक हैं। शारीर-रचना, शारीर-क्रिया तथा विकृति विज्ञान आदि ज्ञानोपलब्धि के लिये चरकोक्त उपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन त्रिविध प्रमाणों का हमें अनुसरण करना होगा, अतः हमारे लिए यह परमावश्यक है कि हम इस सम्बन्ध के जितने भी साहित्य हों, उनका वर्गीकरण कर तथा सावधानी पूर्वक उनका परीक्षण कर जहाँ से सत्य की प्राप्ति हो, उनका संकलन करें। इसमें हमें वैज्ञानिक मनोवृत्तियों का दर्शनिक मनोवृत्तियों की अपेक्षा अधिक परिचय मिलेगा। अन्त में मेरी विनीत प्रार्थना है कि परिषद् के निर्णय को आयुर्वेद के सभी जिज्ञासु एवं शिक्षक निम्न उपदेश को ध्यान में रखते हुए अवश्य अपनाएँगे।

अध्यापयन्तु यदि दर्शयितुं क्षमन्ते
सूतेन्द्र कर्म गुरवो गुरवस्त एव ।
शिष्यास्त एव रचयन्ति गुरोः पुरो ये
शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते ॥

रसेन्द्र चिन्तामणि

निर्दिष्ट विषयों पर संक्षिप्त वक्तव्य.

वैद्य श्री भी० बी० डेग्वेकर एम० ए०, एम० एस० सी०, एल० एल० बी०

❀

(१) वैदिक साहित्य, दर्शनों और आयुर्वेद में प्रतिपादित पञ्चमहाभूतों का वास्तविक यथार्थ स्वरूप—

आयुर्वेद एवं दर्शनों में प्रतिपादित द्रव्य की व्याख्या (यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । तद्द्रव्यं) के अनुसार पञ्चमहाभूत सूक्ष्म द्रव्य हैं। वे स्वतन्त्र (एकाकी) हैं। वे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा दिखाये नहीं जा सकते। अनुमान द्वारा निश्चित किये जाते हैं। शब्दादि इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय विषय हैं। ये विषय बाह्य जड सृष्टि (Matter) में उपलब्ध होते हैं। इस जड सृष्टि के जिन अंशों में इन विषयों का अस्तित्व होता है उन्हीं अंशों को पञ्च महाभूत संज्ञा दी गई है, ये अंश किसी भी सृष्टि वस्तु से अलग करके नहीं दिखाये जा सकते। कारण, बाह्य जड सृष्टि का प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश पाँच-भौतिक—एवं पाँचही महाभूतों के समुदाय से बना हुआ है। कोई भी कितना ही सूक्ष्म अंश—जिसे आधुनिक विज्ञान element कहता है—वह भी पाँच भौतिक ही होता है। पञ्चमहाभूतों के समुदाय से ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है। अतः पञ्चमहाभूत प्राचीन विज्ञान के अनुसार सूक्ष्म द्रव्य कहे जा सकते हैं।

(२) आधुनिक विज्ञान संमत ६२ तत्त्वों (elements) में से प्रत्येक तत्त्व पाँचभौतिक द्रव्य है। तत्तद्महाभूत के अधिकांश के कारण पार्थिवादि द्रव्यों के जो गुणधर्म शास्त्र में वर्णित हैं उनके

अनुसार स्वाभाविक उष्णतामान तथा दबाव (Normal temperature & pressure) में जो इन तत्त्वों (elements) में गुणधर्म पाये जायें तदनुसार इन ६२ तत्त्वों का वर्गीकरण हो सकता है।

(३) (क) पञ्चमहाभूत स्वतन्त्र किन्तु सूक्ष्म द्रव्य हैं।

(ख) वे जडद्रव्यों की अवस्था विशेष नहीं हैं। कारण, अवस्था विशेष में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणमन किया जा सकता है; इन महाभूतों में ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता।

(ग) पञ्चमहाभूतों का वर्गीकरण नहीं हो सकता। पाँचभौतिक द्रव्यों का वर्गीकरण हो सकता है। ६२ तत्त्व पाँचभौतिक द्रव्य होनेके कारण उनका वर्गीकरण अवश्य होता है। यह वर्गीकरण गुण और कर्मों के अनुसार किया जा सकता है। उसकी पद्धति आयुर्वेदीय तथा रासायनिक (Chemical) एवं पदार्थवैज्ञानिक (Physical) गुणधर्मों का विचार करते हुए निश्चित करनी होगी जिसके लिये निश्चित पद्धति से संशोधन करना होगा।

(४) समग्र चिकित्सा-शास्त्र ही इस सिद्धांत पर अधिष्ठित है, शरीर में पार्थिवादि द्रव्य हैं। उनकी वृद्धि या क्षय बाह्यसृष्टि गत पार्थिवादि पदार्थों के सेवन से हुआ करती है। 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः', यह तो चिकित्सा-शास्त्र का आधार-भूत सूत्र है। अतः पाँचभौतिक सिद्धांत का यही प्रयोजन व उपादेयता है।

सन् १९५१]

निर्दिष्ट विषयों पर सक्षिप्त विचार

६५७

(५) तीनों दोष शारीर द्रव्य (पांचभौतिक) हैं। वे केवल पांचभौतिक ही नहीं किन्तु सजीव (Biological) सचेतन द्रव्य हैं, वे प्रतिक्षण शरीर से उत्पन्न होते रहते हैं। कफ और पित्त द्रव द्रव्य (Liquid) हैं किन्तु वात वायुरूप (Gaseous) द्रव्य है यही त्रिदोषों का वास्तविक स्वरूप है। त्रिदोष सचेतन शरीर से भिन्न कोई द्रव्य नहीं हैं, किन्तु प्राणिशरीरस्थ आधुनिक क्रिया-शरीर में वर्णित आमाशयगत, आमपक्वाशय-मध्यगत तथा पक्वाशयगत प्रत्यक्ष ज्ञेय द्रव्य हैं। क्रमशः कफ, पित्त, वात द्रव्यों के ये तीन स्थान हैं। इन्हीं के अंश शरीरांतर्गत अन्य स्थानों में भी रहा करते हैं अतः उन्हें वर्गरूप भी समझा जा सकता है।

प्राणवायु—शुद्ध बाह्य वायु है जिसमें Oxygen का प्रमाण अधिक है, Carbon dioxide का कम है; Nitrogen आदि भी विशिष्ट प्रमाण में हैं।

अपानवायु—Carbon dioxide.

व्यान, उदान और समान—Oxygen तथा carbon dioxide एवं सूक्ष्म प्रमाण में Nitrogen आदि भी। इसकी निश्चिति संशोधन द्वारा करनी होगी।

पाचकादि पित्त तथा क्लेदकादि कफों का अंतर्भाव देखें—चोप्रा कमेटी रिपोर्ट भाग-दो, पृ० १६२

(६) समन्वयात्मक पाठ्यग्रन्थों का निर्माण किया जावे, परन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा के लिये उसकी आवश्यकता नहीं है। केवल ज्ञान वृद्धि का वह साधन होगा।

(७) आयुर्वेद में ही क्या, प्रत्येक चिकित्सा शास्त्र में ज्वरादि रोग भिन्न-भिन्न अनेक रोगों के वर्ग ही हैं। अवयव-विकृतिके अनुसार उनका स्वतन्त्र निदान लिखा जाने से वैद्यक निदान शास्त्र की वृद्धि अवश्य होगी, परन्तु आयुर्वेदीय चिकित्साकी दृष्टि से उससे कोई लाभ नहीं होगा। कारण, आयुर्वेद मूलदोष की चिकित्सा करता है—अवयव की नहीं; वह दोष किसी

अवयवमें विकृति उत्पन्न करे, दोष समावस्थामें आते ही अवयव-विकृति स्वयं नष्ट होगी। यही आयुर्वेद का मूलग्राही सिद्धान्त है। अवयव विकृति के विज्ञान से तत्तत्स्थानीय चिकित्सा करने में कुछ सुविधा अवश्य होती है। परन्तु यह बात मुख्य (primary) नहीं है, गौण (secondary) है। अतएव उसकी आयुर्वेद-सिद्धान्तानुसार कोई भी उपादेयता नहीं है।

नवाविकृत रोगों का निदान एवं चिकित्सा केवल आयुर्वेदीय त्रिदोषात्मक सिद्धान्त पर अधिष्ठित होनी चाहिये, अवयव-विकृति पर नहीं।

(८) निर्णय करने का प्रयत्न अवश्य किया जाय।

(९) जीवाणु दोष विकृति के पश्चात् उत्पन्न होने-वाली वस्तु है। Bacteria are results and not causes. वे परिणाम रूप हैं, न कि कारण-रूप। अतः आयुर्वेददृष्ट्या यह उपेक्षणीय हैं, मूल-ग्राही नहीं हैं।

(१०) (अ) रस जिह्वेन्द्रियग्राह्य विषय है। भोज्य द्रव्यों पर शारीर स्रावों का संस्कार (chemical action) होने के पश्चात् उनका जिन रसों में परिणमन होता है वही विपाक का वास्तविक स्वरूप है। इन विपाकों का शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाओं पर जो परिणाम होता है वही वीर्य का वास्तविक स्वरूप है। रस और विपाक गुण हैं, किन्तु वीर्य क्रिया है।

नवीन द्रव्य के गुण-कर्मों का निर्णय करने के लिये प्रत्यक्षानुभव (clinically) द्वारा रसवीर्य-विपाकज्ञान करना चाहिये।

केवल विज्ञान की दृष्टि से आधुनिक द्रव्यगुण विज्ञान का अन्तर्भाव आयुर्वेदीय द्रव्य-गुण-विज्ञान में करने में कोई हर्ज नहीं। परन्तु आयुर्वेदीय चिकित्सा की दृष्टि से वह जरा भी उपयोगी न होगा। आयुर्वेद के लिये केवल दोषैकदृष्टि से हरएक विवरण किया जाना चाहिये, और वही पर्याप्त है।

कविराज श्री कृष्णपद भट्टाचार्य, आयुर्वेदाचार्य (भांसी) का आलोचनात्मक

वक्तव्य

❀

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार सभी रोगों में जीवाणु, भूताणु या कीटाणुओं को रोगों के कारण नहीं माना जाता है। कुछ रोगों में ही कारणत्व स्वीकार किया गया है। शेष रोगों में आयुर्वेद की भाँति ही वहिर्जगत् के जल, भूमि, वायु तथा मिथ्या-आहार-विहारादि द्वारा रोगोत्पत्ति होती है, ऐसा मानते हैं। साधारण ज्वर, वाताधिक्य रोग, उन्माद, अपस्मारादि बहुरोगों की प्रारंभिक अवस्था में जीवाणुओं का प्रायः संस्पर्श नहीं होता है, फिर पाश्चात्य विकृति विज्ञान शास्त्र के अनुसार सभी जीवाणु रोगोत्पादक भी नहीं होते। जीवाणु और कीटाणुओं में अन्तरंग और बहिरंग दो भेद हैं। कुछ रोगों में अन्तरङ्ग या अन्तः प्रविष्ट जीवाणु पूर्वोक्त दूषित अवस्था से लाभ उठाते हुए रक्त, मूत्र, मूत्र एवं कफादि में जमकर रोग को नवीन ढंग से आगे बढ़ाते हैं, वहिरंग जीवाणुओं में अवश्य ऐसे जीवाणु हैं जो कि अपने विषद्वारा धातुओं में विकृति उत्पन्न कर रोगोत्पत्ति करते हैं।

आयुर्वेद में विकृति का कारण दोष कहा जाता है, बिना दोष प्रकोप या विकृति के रोगोत्पत्ति हो नहीं सकती। परन्तु आधुनिक विकृति विज्ञान में जीवाणुओं को रोग के मुख्य कारण के रूप में कहीं भी चित्रण नहीं किया गया है। जीवाणुओं के बिना रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती; ऐसी प्रतिज्ञा भी कहीं नहीं है।

जीवाणुओं की जानकारी और रोगशक्ति रक्त, मूत्र, और कफ में ही होती है। इसके अतिरिक्त जीवाणुओं का संक्रमण क्षेत्र भी प्रायः रक्त और कफ से ही सम्बन्धित रहता है। केवल वातज रोगों में जीवाणु संक्रमण प्रायः दुर्लभ ही है, बाकी वातज रोगों में भी कफ के बन्धनस्थान में ही वे आक्रमण करते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान ने मुख्य धातु के रूप में रक्त का ग्रहण किया है, परन्तु आयुर्वेद में मुख्य धातु वात, पित्त और कफ है, इसलिए रक्त, मूत्र, मूत्र और बलगम स्थित जीवाणुओं का प्रकोप वायु, पित्त और कफ पर पड़ने के पश्चात् रोगोत्पत्ति होती है; ऐसा कहना मेरी राय में कुछ असंभव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि त्रिधातु के अलावा हमारे शरीर में सभी शाखा उपशाखा रूप धातुएँ हैं, यदि हम आयुर्वेद के सिद्धान्तों को स्थिर रखना चाहें तो हमें यही कहना पड़ेगा कि, दोष प्रकोप से विकृति और विकृति से जीवाणुओं की उत्पत्ति तथा प्रवेश होता है और रोग को कठिन बनाने के लिए वे विकृति के सहचर ही बनते हैं तो आयुर्वेदोक्त का पक्ष दुर्बल नहीं हो सकता। यदि पाश्चात्य विकृति विज्ञान शास्त्रकार आयुर्वेदोक्त दोषों की भाँति जोर देकर प्रत्येक रोग के कारणों में जीवाणुओं को ही मुख्य कारण मानते तो, आयुर्वेद को दोष-विकृति के सिद्धान्त के साथ जीवाणुओं के वर्गभेद के लिए सोचना अवश्यम्भावी होता।

पाश्चात्य विकृति-विज्ञान-शास्त्र के अनुसार

रक्त में दोषों की विकृति तभी पाई जाती है जब

गया है। प्रत्येक महीनेके लिये अलग-अलग पन्नोंपर बड़े-बड़े टाइपोंमें राष्ट्रभाषा, हिन्दीमें छपायी गयी है। हमें विश्वास है कि हमारे एजेण्टगण तथा सर्वसाधारण जनता इसे बहुत पसन्द करेगी।

इस सालकी डायरी और कैलेंडरकी रिआयतके नियम नीचे लिखे अनुसार हैं :-

- १- यह रिआयत २० दिसम्बर १९५० से ३१ जनवरी १९५१ तक लागू रहेगी।
- २- उपरोक्त समयके भीतर जिस एजेण्टका जितने रुपयोंका आर्डर आयगा, उतने ही आनेकी डायरियाँ उनके पर्सलके साथ १०० आने अर्थात् ६।) की ८ सजिल्द या १२ अजिल्द डायरियाँ और उतने ही कैलेंडर मुफ्त भेजे जायंगे। एजेण्टोंको अपने आर्डरमें यह स्पष्ट लिख देना चाहिये कि उन्हें रिआयतमें मिलनेवाली डायरियाँ सजिल्द भेजी जावें या अजिल्द ? यह ध्यान रहे कि एजेण्टोंके लिखनेके बावजूद रिआयतमें सजिल्द डायरी भेजना कार्यालयकी सुविधापर निर्भर रहेगा। भरसक एजेण्टोंके लिखे मुताबिक ही सजिल्द या अजिल्द डायरी भेजनेकी चेष्टा की जायगी। परन्तु उस समय स्टॉकमें सजिल्द डायरी नहीं रहनेकी वजहसे वा समाप्त हो जानेसे अजिल्द भेज दी जायगी या अजिल्द स्टॉकमें नहीं रहनेसे या समाप्त हो जानेसे सजिल्द भेज दी जायगी।
- ३- रिआयतके समय याने ३१ जनवरी १९५१ के भीतर कोई एजेण्ट एकसे अधिक बार अर्थात् दो या चार बार भी पर्सल मंगायेंगे तो भी हर पर्सलके साथ उपरोक्त नियमके मुताबिक उनको डायरी और कैलेंडर मुफ्त भेजे जायंगे।
- ४- रिआयतमें सिर्फ दवाओंकी कीमतके रुपये ही जोड़े जायंगे—बोतलवाले सुगन्धित तैल शर्वत अर्क, थैला, डायरी आदिकी कीमतके रुपये नहीं। यह भी ध्यान रहे कि दवाओंकी नेट कीमतपर ही रिआयत मिलेगी अर्थात् दवाओंके पूरे मूल में नियमानुसार कमीशन काटकर बाकी नेट कीमत ही रिआयतमें जोड़ी जायगी।
- ५- यह रिआयत २० दिसम्बर १९५० से ३१ जनवरी १९५१ तक हमें जो आर्डर प्राप्त होंगे उन्हींपर दी जायगी। ३१ जनवरीके बाद प्राप्त हुए आर्डरपर किसी भी हालतमें रिआयत नहीं मिल सकेगी।

इस रिआयतके अलावे सिर्फ एकवार सभी एजेण्टोंको उनकी श्रेणीके मुताबिक नीचे लिखे अनुसार भी डायरी और कैलेंडर मुफ्त भेजे जायंगे। अर्थात् जितनेका उनका आर्डर आयगा उसके मुताबिक डायरी और कैलेंडर तो भेजे ही जायंगे साथ ही एजेण्टोंकी श्रेणीके अनुसार नीचे लिखे मुताबिक डायरी कैलेंडर भी सिर्फ एकवार उनके पास भेजे जायंगे :-

	डायरी	कैलैण्डर		डायरी	कैलेण्डर
चिकित्सक एजेण्टको	१	१	मान्य एजेण्टको	४	२५
सब एजेण्टको	१	२	सम्मान्य एजेण्टको	५	२५
साधारण एजेण्टको	२	५	चीफ एजेण्टको	७	५०
कार्यकर्ता एजेण्टको	३	१०	सोल एजेण्टको	१०	१००

नोट—(१) इस साल डायरी कम ही छपी है। अतः एजेण्टोंको शीघ्रातिशीघ्र आर्डर भेजकर डायरी-कैलेंडर प्राप्त कर लेना चाहिये। निश्चित अवधिके भीतर ही डायरी समाप्त हो जानेपर बिना सूचना रिआयतमें डायरी भेजना बन्द कर देनेका कार्यालयको अधिकार रहेगा।

(२) चिकित्सक और सब एजेण्टोंका सम्बन्ध हमारे बिक्री-केन्द्र या सोल एजेण्टोंसे रहता है अतः उन्हें डायरी और कैलेंडर उनसे ही प्राप्त होंगे।

व्यवस्थापक—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद मन्त्र लिमिटेड

कलकत्ता, पटना, झाँसी और नागपुर।

अभिनव वैद्यनाथ प्रकाशन

त्रिदोषतत्त्व-विमर्श

लेखक—वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

वर्तमानकालिक विभिन्न आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों तथा पाठनशैलियों के कारण एवं आयुर्वेद के इस मूलभूत सिद्धान्त—त्रिदोष के अध्यापनार्थ उपयुक्त ग्रन्थ के अभाव के कारण आयुर्वेद के विद्यार्थियों की मनोवृत्ति को आयुर्वेद के स्तम्भभूत त्रिधातु-सिद्धान्त से विचलित होते देख यह आवश्यकता प्रतीत हो रही थी कि इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला जाय। इस 'त्रिदोषतत्त्व-विमर्श' का प्रणयन करके आयुर्वेद-संसार के सुप्रसिद्ध विद्वान्, शिक्षक, ग्रन्थकार और कर्मठ कार्यकर्ता वैद्यराज पं० रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल, श्री अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कालेज, बेगूसराय, ने उस महती आवश्यकता की पूर्ति की है। आयुर्वेद के विद्यार्थियों और विद्वत्समाज के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकम जी आचार्य इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—“इस ग्रन्थ में वात-पित्त-कफ—ये मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—इस तथ्य को ध्यान में रख कर वात-पित्त-कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्त भेद, प्रत्येक भेद का प्रधान स्थान (कार्यक्षेत्र) और उनकी क्रियाओं का सविस्तर वर्णन किया गया है। साथ-साथ में विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजियोलोजी) के साथ तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं, वे उस समय में विशेष रूप से आविष्कृत (ज्ञात) हुए भेद हैं। आधुनिक क्रिया-शरीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं, परन्तु अनेक अवान्तर भेदों के वर्ग हैं। जैसे—पाचक पित्त दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं विभिन्नता पायी जाती है। इन सब विषयों का भी इस ग्रन्थ में विचार किया गया है। पाठक जी का यह ग्रन्थ त्रिदोषतत्त्व के जिज्ञासु वैद्यों, आयुर्वेदाध्यापकों और आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त होगा, ऐसी आशा है।” मूल्य २॥=)

हमारे कुछ वैद्योपयोगी प्रकाशन

आरोग्यप्रकाश—वैद्य और सर्वसाधारण सभी के लिए परम उपयोगी है। इस ग्रन्थ की ६८ हजार से अधिक प्रतियाँ छपकर हाथोंहाथ विक्रि चुकी हैं। ५१५ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य प्रचार की दृष्टि से सिर्फ १॥॥ रखा गया है। डाकखर्च ॥=) है, परन्तु एक साथ तीन प्रति मँगाने पर डाकखर्च कार्यालय देगा।

आयुर्वेद-सारसंग्रह—विशेष रूप से वैद्यों के लिए ही वैद्योपयोगी ज्ञान का संकलन करवा कर इसको हमने प्रकाशित किया है। मूल्य—६) मात्र।

सिद्धयोग संग्रह—आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के करकमलों द्वारा लिखित ग्रन्थरत्न। मूल्य—२॥॥ मात्र।

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—त्रिदोष-सिद्धान्त का विद्वत्तापूर्ण विवेचन।

मूल्य—२॥=) मात्र।

पदार्थविज्ञान—लेखक—पण्डित रामरक्ष जी पाठक, आयुर्वेदाचार्य, प्रिंसिपल, अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेदिक कॉलेज, बेगूसराय। मूल्य—३॥॥ मात्र।

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान—लेखक—वैद्य रणजितराय आयुर्वेदालंकार। 'पदार्थ-विज्ञान' ग्रन्थ में आचार्य पाठकजी ने पदार्थविज्ञान पर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार किया है। इस ग्रन्थ 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' में पाठकों को आचार्य रणजितराय के स्वतन्त्र मौलिक विचार मिलेंगे। मूल्य—५) मात्र।

मानसरोगविज्ञान—(पूर्वार्द्ध)—स्वर्गीय डा० बालकृष्ण अमर जी पाठक कृत। इस ग्रन्थरत्न में आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन हुआ है।

मूल्य—५॥॥ मात्र।

शरीर-क्रिया-विज्ञान—(सचित्र; द्वितीय आवृत्ति)—'प्रत्यक्षशारीरम्' के साथ इस ग्रन्थरत्न ने आयुर्वेदीय शरीर के पाठ्यग्रन्थों का अभाव दूर कर दिया है।

मूल्य—६) मात्र।

समय का तकाजा

समय का तकाजा है कि योग्य और अच्छे वैद्य रोग की पूरी जाँच-पड़ताल करके निदान करें व नुस्खा लिखें तथा सच्ची और जिम्मेदार निर्माणशालाएँ असली औषधों का निर्माण करें। आयुर्वेदीय चिकित्सक तथा औषध-निर्माता के कार्य का जब इस प्रकार विभाजन हो जायगा, तभी आयुर्वेद आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के मुकाबले उन्नति कर सकेगा और तब राजकीय मान्यता मिलने में देर न लगेगी। कल्पना कीजिये कि युद्धक्षेत्र में डटे हुए वीर सैनिकों से कहा जाय कि अस्त्र-शस्त्र भी तुम्ही बनाओ और तब उनसे लड़ो; तो ऐसी स्थितिमें उनसे युद्ध जीतने की आशा करना क्या व्यर्थ न होगा? वीर सैनिकों को तो आप बाढ़िया अस्त्र-शस्त्र दीजिए, और तब वे आप को विजय सौंप देंगे। ठीक यही बात चिकित्सा के क्षेत्र में भी है। रोग-रूपी शत्रु को पराजित करने के लिए वैद्य को सर्वोत्तम दवा रूपी शस्त्रास्त्र चाहिए। सभी जानते हैं कि गत ३२ वर्षों से “श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०” हिन्दुस्तान के कोने-कोने में चिकित्सक वैद्यों के पास सर्वोत्तम आयुर्वेदीय औषधें पहुँचा रहा है जिन के द्वारा वैद्यगण रोगों पर विजय प्राप्त कर रहे हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
कलकत्ता • पटना • झाँसी • नागपुर

Handwritten text in Devanagari script, likely a title or chapter heading, written in blue ink. The text is somewhat faded and difficult to read due to the age of the manuscript.



